॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१५८



महामतिश्रीमाधवकरविरचितं

माधवनिदानम्

महामहोपाध्याय-श्रीविजयरक्षित-श्रीकण्ठदत्ताभ्यां विरचितया

'मधुकोश'-व्याख्यया विभूषितम्

तथा

ग्वालियर-शासकीयायुर्वेदिककालेजाध्यापक-

आयुर्वेदाचार्य श्री सुदर्शनशास्त्रि

ए. एम. एस. कृतया

'विद्योतिनी'-हिन्दीटीकया नवीनवैज्ञानिक 'विमर्शेन'

च समुल्लसितम्

तच्चेदम्

आयुर्वेदाचार्य श्री यदुनन्दनोपाध्याय

बी. ए., ए. एम. एस., भिषग्वरेण सुसंस्कृत्य सम्पादितम्

(पूर्वार्द्ध)



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

१९७६

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : षष्ठ, वि० संवत् २०३३

हमारे प्रकाशनों की एकमात्र वितरक संस्था :—
चौखम्भा ओरियन्टालिया
प्राच्यविद्या एवं दुर्लभ ग्रन्थों के प्रकाशक तथा विक्रेता
पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० ३२
गोकुल भवन, के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लैन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ६३०२२ टेलीग्राम : गोकुलोत्सव

प्रधान शाखा :—
चौखम्भा विश्वभारती
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी
फोन : ६५४४४

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

158

*****

MĀDHAVANIDĀNAM

OF

ŚRĪ MĀDHAVA KARA

With

The 'Madhukośa' Sanskrit Commentary

By

Śrī Vijayarakṣita and Śrīkaṇṭhadatta

With

The 'Vidyotinī' Hindī Commentary and Notes

By

ŚRĪ SUDARŚANA ŚĀSTRĪ, A. M. S.
Reader in Shārīra, Govt. Ayurvedic College, Gwalior

Revised & Edited By

Prof. YADUNANDANA UPĀDHYĀYA, B. A., A. M. S.
Head of the Department of Kāyachikitsā
Post Graduate Institute of Indian Medicine
Banaras Hindu University

(PART I)

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publisher and Seller of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)

Also can be had of
CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI-221001

Sole Distributors
CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-221001 (India)
Telephone : 63022 Telegram : Gokulotsav
Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar
DELHI-110007 (India)

भूमिका

आयुर्वेद का चरम लक्ष्य स्वस्थजनों के स्वास्थ्य की रक्षा एवं रुग्णप्राणियों के रोगों का प्रतिकार करते हुए आयु या जीवन की वृद्धि एवं रक्षा करना ही है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये तीन महत्त्व के साधन या सूत्र हैं। (१) हेतुज्ञान (२) लिंगज्ञान (३) औषध ज्ञान। इन्हीं तीनों सूत्रों के आधार पर अनादिकाल से स्वास्थ्य-रक्षा एवं चिकित्सा होती चली आयी है। प्रारम्भ में ये सूत्र विभिन्न व्यक्तियों की स्मृतिमात्र में विकीर्ण थे किन्तु सुविधा की दृष्टि से इनका संकलन करने के लिए विभिन्न आयुर्वेद-संहिताओं का निर्माण हुआ। युगानुरूपविद्यार्थियों की बुद्धि एवं प्रवृत्ति के अनुसार तथा प्रत्येक अंग के विशेष अध्ययन के लिए आयुर्वेद को आठ अङ्गों में विभक्त कर विभिन्न अङ्गों पर अलग २ संहिताओं की भी रचना हुई। उसी प्रकार कालान्तर में प्रत्यङ्ग-विभाग करने की भी आवश्यकता प्रतीत हुई और निदान, चिकित्सा, द्रव्य-गुण, भैषज्यकल्पना, रसशास्त्र आदि विषयों पर विभिन्न ग्रन्थों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। आज तो एक-एक रोगों पर भी पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना हो रही है एवं आयुर्वेद के विभिन्न अंग या प्रत्यंग ही नहीं एक एक रोग के विशेषज्ञ उत्पन्न हो रहे हैं। इतना ही नहीं आयुर्वेद के एक-एक सूत्र या सूत्रावयव के आधार पर विभिन्न देशों में विकसित अनेक चिकित्सा पद्धतियाँ का भी आविर्भाव हुआ और उनमें भी पूर्वोक्त रीति से ही अंग-प्रत्यङ्ग विभाग हुए। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि विश्व के किसी भी देश मे व्याप्त कोई भी चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद का ही अङ्ग है भले वह मायामुग्ध जीवात्मा के समान परमात्मरूप मूलतत्त्व से पृथक् अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर अपने मूल की उपेक्षा करे। किन्तु किसी भी पद्धति की सत्ता पूर्वोक्त तीन प्रधान सूत्र (हेतुलिङ्गौषधज्ञान) के बिना वैसे ही नहीं हो सकती जैसे त्रिगुण (सत्व, रज और तम) के बिना संसार के किसी भी पदार्थ की।

पूर्वोक्त तीनों सूत्रों में लिङ्गज्ञान सर्वाधिक महत्त्व का है क्योंकि रोग के स्वरूप ज्ञान के पश्चात् ही हेतु और औषध की समीक्षा तथा व्यवस्था होती है और तभी चिकित्सा भी सफल होती है। इसीलिए शास्त्रों में कहा है-'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्' अतएव रोगज्ञान के साधनों की पर्य्यालोचना पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता का अनुभव वैद्य-समाज ने किया तथा तत्कालीन सद्वैद्यों के आग्रह से महामति आचार्य माधवकर ने 'रोगविनिश्चिय' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया जो 'माधवनिदान' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

'माधवनिदान' में आयुर्वेद के प्रायः सभी अङ्गों में वर्णित रोगों के हेतु, लक्षण, सम्प्राप्ति आदि का मुख्यतया चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट के वचनों में संग्रह किया गया है। इस प्रकार समस्त रोगों के—जिनका उस समय तक आविष्कार तथा व्यवस्थाकरण हो चुका था-लक्षणादि इस एक ग्रन्थ में ही प्राप्त हो जाते हैं। चरक आदि में वर्णित रोगों का क्रम भी इस ग्रन्थ में परिवर्तित कर दिया गया है, तथा मसूरिका आदि कतिपय रोगों पर स्वतन्त्र अध्याय देकर उनका अधिक विवेचन किया गया है। इन विशेषताओं के कारण यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और उसके लिए 'निदाने माधवः श्रेष्ठः' कहा जाने

लगा। इतना ही नहीं, बाद के विद्वानों में प्रधानतः वृन्द, चक्रपाणि, वंगसेन, गोविन्ददास आदि ने निज निज ग्रन्थों में माधवोक्त क्रम से ही रोगों की चिकित्सा का वर्णन किया है।

मूल ग्रन्थकार का परिचय—

आचार्य माधव कर श्री इन्दु कर के पुत्र थे, इसका उल्लेख तो उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में स्वयं किया है—'श्रीमाधवेन्दुकरात्मजेन'। 'कर' उपाधि से यह वंगप्रदेशीय प्रतीत होते हैं। वंगप्रदेशीय वैद्यों के ग्रन्थों पर इनके ग्रन्थ के क्रम का अधिक प्रभाव तथा वंगप्रदेशीयों द्वारा आरम्भ में इस ग्रन्थ की टीका होने से एवं इस ग्रन्थ का वहाँ सर्वप्रथम प्रचार होने से भी इनका वंगप्रदेशीय होना प्रमाणित होता है। कीथ (Keith) इनका समय ईशवीय ८ वीं या ९ वीं शताब्दी मानते हैं तो जौली (Jolly) सातवीं और कविराज गणनाथसेन जी छठी शताब्दी। हेस (Haas) ने तो बिना किसी विशिष्ट प्रमाण के ही इन्हें सुश्रुत से भी पूर्व का माना है, जो प्रामादिक ही है। इनके काल-निर्णय के सम्बन्ध में विवेचन करने के लिए निम्नांकित तथ्यों पर ध्यान देना उपयोगी होगा।

(१) माधवनिदान में मुख्यतः चरक, सुश्रुत और वाग्भट के वचनों का प्रायः अविकल संग्रह किया गया है। वाग्भट अपने ग्रन्थ में चरक और सुश्रुत का स्पष्ट उल्लेख करते हैं 'यदि चरकमधीते तद्ध्रुव सुश्रुतादि-प्रणिगदितगदाना नाममात्रेऽपि बाह्य.' अतः यह चरक और सुश्रुत के परवर्ती हैं तथा वाग्भटोक्त श्लोकों का भी संग्रह करने से माधवकर इनसे भी परवर्ती प्रमाणित होते हैं। वाग्भट का काल तीसरी शताब्दी का अन्त या चौथी का आरम्भ है (विशेष विवेचन मेरे द्वारा सम्पादित और चौखम्भा संस्कृत सीरीज काशी से प्रकाशित 'अष्टाङ्गहृदय' की प्रस्तावना में देखें)।

(२) मुद्रण एवं यातायात के साधनों के अभाव से उस समय की किसी भी रचना का प्रसार देश के एक कोने से दूसरे कोने तक होने के लिए सौ, दो सौ वर्षों का काल मानना पड़ेगा। इस प्रकार सिन्धुदेश के वाग्भट का प्रचार वंग देश में पाँचवीं शताब्दी में ही सम्भावित है। अतः माधवकाल भी पाँचवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता?

(३) आठवीं या नौवीं शताब्दी में 'वृन्द' ने माधवोक्त क्रम से अध्याय क्रम रखकर 'सिद्धयोग या वृन्दमाधव' ग्रन्थ की रचना की। कुछ लोग 'रोगविनिश्चय' कार माधव का असली नाम वृन्द ही मानते हैं तथा माधवनिदान एवं वृन्दमाधव दोनों को एक ही व्यक्ति की रचना तथा उसका काल ८–९ वीं शताब्दी मानते हैं, किन्तु ११ वीं शताब्दी में चक्रपाणि और वंगसेन ने अपने ग्रन्थों में वृन्द और माधव दोनों का उल्लेख किया है, अतः दोनों एक नहीं प्रतीत होते।

(४) आठवीं शताब्दी में 'हारूँ-अल-रशीद' ने कतिपय आयुर्वेद-ग्रन्थों का अरबी अनुवाद कराया था, उनमें निदान भी था। उच्चारण और लिपि के दोष से चरक का सरक, सुश्रुत का ससरद तथा निदान का बदान या यादान हो गया था। वाग्भट की तरह वंगप्रदेश से समस्त भारत में माधवनिदान के प्रचार में, विशेषतः इतनी ख्याति प्राप्त करने में कि एक विदेशी उसका अनुवाद करने को आकर्षित हो, एक-दो सौ वर्ष लगे ही होंगे।

(५) ग्रन्थ के मंगलाचरण से माधव स्पष्ट रूप से शैव प्रतीत होते हैं। बौद्धधर्म के ह्रास के बाद शैव सम्प्रदाय ही विशेष रूप से व्यापक हुआ था। वैष्णव सम्प्रदाय का व्यापक प्रसार तो बाद में हुआ।

अतः वाग्भट के २०० वर्ष बाद तथा वृन्द और हारुनुल रसीद के २०० वर्ष पूर्व का काल अर्थात् छठी शताब्दी माधव का युक्तसंगत काल प्रतीत होता है।

आचार्य माधव के कतिपय अन्य ग्रन्थों का उल्लेख कुछ विद्वानों ने किया है, पर उनका माधवकर लिखित होने का सुस्पष्ट कोई प्रमाण नहीं है। केवल एक 'रत्नमाला' नामक ग्रन्थ के सम्बन्ध में श्री गोपीमोहन कविराज ने अपने मुक्तावली ग्रन्थ में 'पूर्व लोकहिताय माधवकराभिख्या भिषक् केवलम् माला रत्नमयी चकार', ऐसा उल्लेख किया है।

इस ग्रन्थ की अनेक टीकाओं में मधुकोष और आतङ्कदर्पण नामक दो प्राचीन टीकाएँ अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त संस्कृत और हिन्दी की कई टीकाएँ भी हैं। किन्तु अश्मरी-निदानान्त विजयरक्षित कृत तथा उनके स्वर्गवासी होने पर शेष भाग पर श्रीविजयरक्षित महोदय के ही शिष्य श्रीकण्ठदत्तकृत 'मधुकोष' टीका बड़े महत्त्व की है और आज तक विद्वन्मण्डली में इसका परम आदर है। तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार केवल प्राच्य दृष्टिकोण से इस टीका में माधव-संगृहीत मूल श्लोकों का स्पष्टीकरण उत्तम रीति से करने के साथ ही मूलग्रन्थ में अनुल्लिखित किन्तु प्रसङ्गतः आवश्यक अन्य आर्षवचनों का भी समावेश कर सोने में सुगन्ध डाल दिया गया है। इसके लिए टीका के आदि में ही सुस्पष्ट शब्दों में कहा है :—

उपयुक्तमिहानुक्तं निदानं माधवेन यत्।
ग्रन्थव्याख्याप्रसङ्गेन मया तदपि लिख्यते ॥

मधुकोष में उल्लिखित संहिताएँ तो दूर रहीं, उनकी टीकाओं में भी जिनका उल्लेख मधुकोष में है—बहुतों का हमें आज दर्शन भी दुर्लभ है।

'मधुकोष' टीका के रचयिता श्रीविजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त कृत और कोई अन्य टीका या मूलग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। 'मधुकोष' में भी इन्होंने अपना अधिक परिचय और काल नहीं दिया है किन्तु नाम से ये दोनों सुस्पष्ट रूप से वंगीय हैं। इनकी टीका से ही इनके प्रखर पाण्डित्य का परिचय प्राप्त होता है। ये दोनों ही आयुर्वेद के अतिरिक्त व्याकरण, साहित्य, मीमांसा और न्यायशास्त्र में भी पटु थे। इनके समय के सम्बन्ध में कुछ विचारकों ने १२ वीं शताब्दी और कुछ ने (जैसे कीथ ने) इन्हें १४ वीं या १५ वीं शताब्दी का माना है। मधुकोष में चक्रपाणिदत्त आदि ११ वीं शताब्दी के टीकाकारों के मत उद्धृत होने से ये उनसे अर्वाचीन तो हैं ही किन्तु बहुत बाद के भी नहीं प्रतीत होते, क्योंकि मधुकोष की टीका में निर्दिष्ट ग्रन्थों और टीकाओं का (जो उनके काल में अवश्य ही उपलब्ध थीं) अब दर्शन भी दुर्लभ हैं। १२ वीं शताब्दी के द्वितीय चरण में ही बंगाल पर इल्तुतमिश आदि मुसलिम शासकों के कारण हिन्दू धर्म और संस्कृति के ऊपर प्रहार आरम्भ हुए और कई सौ वर्षों तक शान्ति नहीं स्थापित हो पायी। इसी बीच पूर्वोक्त ग्रन्थ लुप्त हो गए होंगे। अतः विजयरक्षित और श्रीकण्ठदत्त का काल १२ वीं शताब्दी ही उचित प्रतीत होता है।

आज के युग में जब कि हम स्वतन्त्र हैं लेकिन दुर्भाग्य से हमारी मानसिक दासता समाप्त नहीं हुई है। सदियों की गुलामी और पाश्चात्य भौतिकवाद का चकाचौंध में भ्रान्त जनों के मार्ग-प्रदर्शनार्थ तथा आयुर्वेद को व्यापक बनाने, आयुर्वेद की विशेषताओं को प्रकाशित करने एवं विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियों में एकता स्थापित करने के लिये आयुर्वेदीय सूत्रों का आधुनिक वैज्ञानिक भाषा में विशद एवं तुलनात्मक विवेचन आवश्यक है। गुरुवर आयुर्वेदाचार्य डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर जी ने सुश्रुतसंहिता की पूर्वोक्त दृष्टिकोण से ही रहस्यदीपिका नाम की टीका लिखकर एक नवीन युग और नयी प्रणाली की नींव डाल दी है। उनका यह क्रम अत्यन्त लोकप्रिय हुआ तथा उन्हीं की प्रणाली पर आयुर्वेद ग्रन्थों की नवीन टीकाएँ प्रारम्भ हो गयी हैं।

भगवान् विश्वनाथ की अनुकम्पा से सद्वैद्यवृन्दवंदितपद गुरुवर श्रीसत्यनारायण शास्त्री एवं श्रद्धेय डा० मुकुन्दस्वरूपजी वर्मा प्रभृति उद्भट विद्वज्जनों से आयुर्वेद और पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति की शिक्षा प्राप्त कर, उन्हीं गुरुजनों की छत्रच्छाया में काशी विश्वविद्यालय में सर सुन्दरलाल आतुरालय के आयुर्वेद विभाग में चिकित्सा करने एवं आयुर्वेद विद्यालय में निदान व चिकित्सा विषयों का अध्यापन करने का सौभाग्य गत १६ वर्षों से मुझे भी प्राप्त है। गुरुजनों के आदेश, मित्रों के निर्देश एवं विद्यार्थियों के अनुरोध पर इस टीका को लिखने का बार-बार विचार हुआ, किन्तु आतुरालय एवं विद्यालय के कार्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र व्यवसाय तथा पारिवारिक झंझटों से अति व्यस्त होने के कारण सदा असमर्थ रहा। इस सम्बन्ध में चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस के अध्यक्ष श्रीयुत बाबू जयकृष्णदास जी गुप्त का अनुरोध सर्वोपरि था। वस्तुतः उनका साहस एवं धैर्य प्रशंसनीय है। ये महोदय शताधिक बार मेरे पास आकर मुझे प्रोत्साहित कर हर प्रकार की सुविधा देकर आवश्यकता होने पर शीघ्रलिपिक को नियुक्त करने तक का आश्वासन देकर लिखने या लिखाने का अनुरोध करते रहे पर यहाँ तो अवकाश का समय ही नहीं निश्चित था; न जाने कब कहाँ किस रोगी के यहाँ जाना पड़े आदि। अन्ततोगत्वा यह निर्णीत हुआ कि किसी योग्य व्यक्ति को निर्देश कर दिया जाय और वह लिखकर मुझे संशोधनार्थ दें। दैवात् मेरे प्रिय और योग्यतम शिष्य श्री सुदर्शन शास्त्री ए. एम. एस. ने इस कार्य को करना स्वीकार कर लिया और भगवत्-कृपा से उसे पूरा भी किया। श्री सुदर्शन शास्त्री ने मेरे निदिष्ट सूत्रों का विस्तृत व्याख्यान अन्य अनेक विद्वानों से भी परामर्श कर बड़ी ही योग्यता से किया है। मुझे संशोधन कार्य में आशातीत कम प्रयास करना पड़ा है। इसी बीच आपकी नियुक्ति पहले कान्यकुब्ज आयुर्वेद विद्यालय, लखनऊ और बाद में ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरद्वार में प्राध्यापक पद पर हो जाने से कुछ बाधा अवश्य आयी फिर भी कार्य चलता रहा और पूरा भी हुआ। यथासम्भव मैंने उन्हीं के लेखों में घटा-बढ़ाकर संशोधन करने का प्रयास किया है, किन्तु कतिपय स्थलों पर मुझे स्वतन्त्र विमर्श तथा टिप्पणी भी देनी पड़ी है। यदि इतनी दूरी का व्यवधान न होता तो सम्भवतः उसकी भी आवश्यकता न होती।

पहिले तो विचार था कि मूलपाठ के बाद भाषार्थ फिर मधुकोष और उसका भाषार्थ और अन्त में प्राच्य और पाश्चात्य विवरण का तुलनात्मक विवेचन और विशिष्ट विमर्श किया जाय, किन्तु ग्रन्थ का कलेवर बढ़ जाने एवं पिष्टपेषण दोष की आशंका से मधुकोष

का अविकल अनुवाद न देकर विमर्श में ही उसके महत्त्वपूर्ण एवं क्लिष्ट अंशों को सम्मिलित कर लिया गया है। अतः विमर्श में यथासम्भव मधुकोष का सारा सार तो आ ही गया है, प्रसंगतः अन्य भी अनेक विशेषताओं को प्राच्य दृष्टि से सम्मिलित कर उनका आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान से तुलनात्मक विवेचन किया गया है। आज की आवश्यकतानुसार प्राचीन और अर्वाचीन अथवा प्राच्य और पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धतियों के बीच की कृत्रिम खाई को पाटकर इन दोनों ही पद्धतियों में एकरूपता (Synthesis) स्थापित कराना ही हमारा उद्देश्य रहा है। प्रस्तुत टीका से प्राचीन वैद्यों को अनुभव होगा कि नवीन विचार प्राचीन सूत्रों की विशद व्याख्यामात्र है एवं सहृदय डाक्टर बन्धु भी अनुभव करेंगे कि उनके सभी विचार सूत्ररूप में पूर्णतया प्राचीन शास्त्रों में वर्णित हैं। रोग विज्ञान में हेतु (Causes), लक्षण (Signs & symptoms), सम्प्राप्ति (Pathogenesis), उपशय (Therapeutic test) एवं साध्यासाध्यत्व (Prognosis) के विवेचन का दोनों ही पद्धति में समान महत्त्व है। उनके साधनों एवं रूपों में देशकालानुसार अन्तर हो सकता है। किन्तु विभिन्न देश और काल के अनुसार वेश, भूषा, भाषा और आचार में अन्तर होते हुये भी क्या विश्वमात्र के मनुष्य एक नहीं? क्या द्रव्यान्तर संयोगादि रूप संस्कार के विना हरीतकी या अन्य द्रव्य का उपयोग वैद्य, हकीम या डाक्टर द्वारा करने पर गुण या परिणाम में कोई अन्तर आ जायेगा? नहीं। अतएव आचार्य वाग्भट ने कहा है कि—

अभिधातृवशात् किंवा द्रव्यशक्तिर्विशिष्यते।
अतो मत्सरमुत्सृज्य माध्यस्थ्यमवलम्बताम्॥

मुझे विश्वास है कि शान्त और स्थिर चित्त से एवं सत्यान्वेषण की भावना से प्राच्य और पाश्चात्य दोनों पद्धतियों का मनन करने पर दोनों में एकरूपता ही प्रमाणित होगी। हमारा प्रयास इसी लक्ष्य को लेकर रहा है। इसमें हमें कहाँ तक सफलता मिली है, इसका विवेचन तो विज्ञ पाठक ही करेंगे।

इस टीका के लिखने में अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों की सहायता ली गयी है, अतः मैं उनके माननीय रचयितागण का आभारी हूँ। तथा परम श्रद्धेय गुरुवर्य राष्ट्रवैद्य श्री सत्यनारायणजी शास्त्री, गुरुवर डा० घाणेकरजी, श्रद्धेय डा० मुकुन्द स्वरूप वर्माजी एवं श्री पं० राजेश्वरदत्तजी शास्त्री, बन्धुवर श्री पं० दामोदर शर्मा गौड़, श्री पं० रमानाथजी द्विवेदी, श्री डा० शिवनाथजी खन्ना एवं श्री पं० शिवदत्तजी शुक्ल आदि विद्वानों से भी समय-समय पर सत्परामर्श प्राप्त होते रहे हैं अतः उनका भी आभार मानता हूँ।

इस ग्रन्थ के निर्माण की कल्पना से लेकर प्रकाशन पर्यन्त मेरे मित्र श्री पं० गंगासहाय जी पाण्डेय से प्रतिपद सहायता प्राप्त होती रही है, अतः उनके इस सौजन्य के लिये धन्यवाद देना मात्र पर्याप्त न होगा। श्री सुदर्शन शास्त्री ने तो जिस लगन और परिश्रम से इस कार्य को पूरा करने का सुकृत किया है, उसके सुफल स्वरूप आपकी उत्तरोत्तर उन्नति और सफलता के लिये मेरा हार्दिक आशीर्वाद है। भगवान् ऐसे सुशील, नम्र, उत्साही और परिश्रमी नवयुवक को यश और सफलता देंगे ही क्योंकि—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं, गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षादनुरज्यते जनो, जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः॥

श्री बाबू जयकृष्णदासजी गुप्त को इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये मैं क्या वे सभी धन्यवाद देंगे जो इस पुस्तक से लाभान्वित होंगे। वस्तुतः यह ग्रन्थ उन्हीं के धैर्यपूर्वक सतत प्रोत्साहन से प्रकाशित हुआ है। हाँ, सम्पादन और प्रकाशन-कार्य में योग्यता एवं कुशलतापूर्वक पूर्ण सहायता के लिये श्री पं० ब्रह्मशंकरजी मिश्र एवं श्री पं० रामचन्द्र झा का उपकार न मानना कृतघ्नता होगी।

माधव की कृति की यह व्याख्या माधव की ही कृपा से यथाबुद्धि सम्पादित कर माधव को ही समर्पित करता हूँ। इस कृति से यदि चिकित्सक समाज एवं छात्रों का लेशमात्र भी उपकार होगा तो हम अपने को कृतकृत्य समझेंगे।

अन्त में विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि मेरी अल्पज्ञता और प्रमाद से जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उनका उचित समाधान कर त्रुटियों पर मेरा ध्यान आकृष्ट कर, मुझे अनुगृहीत करेंगे; जिससे कि भविष्य में उनका सम्मार्जन हो जाय।

द्वितीय संस्करण

'प्रथम संस्करण' जिन परिस्थितियों में प्रकाशित हुआ था उनके कारण उसमें कतिपय त्रुटियों एवं कुछ न्यूनाधिक्य का रह जाना असम्भव नहीं था। फिर भी विद्वान् वैद्यों, छात्रों एवं जिज्ञासु पाठकों ने जिस प्रकार उसे अपनाया है उससे हमें अत्यन्त प्रोत्साहन मिला है। भारत के प्रत्येक प्रदेश के आयुर्वेद विद्यालयों के अतिरिक्त अनेक मेडिकल कालेजों के छात्रों एवं वैद्यों और डाक्टरों ने भी इसकी माँग की है।

स्व० गुरुवर श्री यादवजी महाराज तथा चि० चू० श्री पं० रामेश्वरजी मिश्र कानपुर, श्री विश्वनाथजी द्विवेदी जामनगर, कविराज श्री जगदीशचन्द्र भट्टाचार्य गौहाटी प्रभृति विद्वानों ने अनेक उपयोगी सुझाव दिये हैं एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ। यथासम्भव इन सुझावों का उपयोग कर इस संस्करण में पर्याप्त सुधार किया गया है, जिससे ग्रंथ के कलेवर में कुछ वृद्धि भी हो गयी है। अनेक विद्वानों एवं मित्रों के परामर्श के अनुसार निकट भविष्य में ही इसका अंग्रेजी संस्करण भी निकालने का प्रयास किया जा रहा है।

आशा है कि विद्वज्जनों का समुचित परामर्श पूर्ववत् प्राप्त होता रहा तो अगला संस्करण सर्वतोभावेन पूर्ण और त्रुटिरहित होगा।

तृतीय संस्करण

प्रस्तुत संस्करण में पूर्व संस्करण का ही परिष्कार इस प्रकार किया गया है कि सामान्य दृष्टि में कुछ भी परिवर्तन नहीं प्रतीत होता है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने से ज्ञात होगा कि स्थल-स्थल पर परिष्कार के साथ शास्त्र के पुनर्मनन, शोध एवं तद्विद्य संभाषाओं से प्रसूत नवीन विचारों के संमिश्रण से यह संस्करण पूर्णतया नवीन हो गया है। विद्वान् वैद्यों का पूर्ण सहयोग एवं सत्परामर्श पूर्ववत् प्राप्त होता रहेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

श्री विजयादशमी
संवत् २०२३ वै०

विदुषां विधेयः
वैद्य यदुनन्दन उपाध्याय

विषयानुक्रमणिका

३ अतीसारनिदानम्

४ ग्रहणीरोगनिदानम्

५ अर्शोनिदानम्

६ अग्निमान्द्यादिनिदानम्

१२ हिक्काश्वासनिदानम्

१३ स्वरभेदनिदानम्

१४ अरोचकनिदानम्

१५ छर्दिनिदानम्

१६ तृष्णानिदानम्

१७ मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासन्यास-निदानम्

१८ पानात्ययपरमदपानाजीर्ण-पानविभ्रमनिदानम्

१९ दाहनिदानम्

२० उन्मादनिदानम्

२१ अपस्मारनिदानम्

२२ वातव्याधिनिदानम्

२३ वातरक्तनिदानम्

२४ ऊरुस्तम्भनिदानम्

२५ आमवातनिदानम्

२६ शूलपरिणामशूलान्नद्रव-शूलनिदानम्

२७ उदावर्तानाहनिदानम्

२८ गुल्मनिदानम्

२९ हृद्रोगनिदानम्

३० मूत्रकृच्छ्रनिदानम्



॥ श्रीः ॥

रोगविनिश्चयापरनामकं

माधवनिदानम्

सविमर्श 'मधुकोश' 'विद्योतिनी' टीकाद्वयोपेतम्

पञ्चनिदानलक्षणम्

प्रणम्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं त्रैलोक्यशरणं शिवम् ॥ १ ॥

संसार की उत्पत्ति, स्थिति (पोषण) तथा विनाश को करने वाले, स्वर्ग (सुख) एवं अपवर्ग (मोक्ष) के प्रदाता तथा भूलोक, पाताललोक एवं स्वर्गलोक के रक्षक भगवान् शिव को मैं प्रणाम कर [उपद्रव आदि के ज्ञान से युक्त रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ ।] ॥ १ ॥

❀ मधुकोशः ❀

शशिरुचिरहरार्धव्यक्तसक्तार्धदेहो दिशतु घनघनाभः पद्मनाभः श्रियं वः ।
त्रिदशसरिदशीतद्योतजावारिमध्य-भ्रमिभवमिव नाभौ वारिजं यस्य रेजे ॥ १ ॥
भट्टारजेज्जटगदाधरवाप्यचन्द्र-श्रीचक्रपाणिबकुलेश्वरसेनभोजैः ।
ईशानकार्तिकसुकीरसुधीरवद्यैर्मैत्रेगमाधवमुखैर्लिखितं विचिन्त्य ॥ २ ॥
तन्त्रान्तराण्यपि विलोक्य ममैष यत्नः सद्भिर्विधेय इह दोषविधौ समाधिः ।
मर्त्यैरसर्वविदुरैर्विहिते क्व नाम ग्रन्थेऽस्ति दोषविरहः सुचिरन्तनेऽपि ॥ ३ ॥
तत्तद्ग्रन्थतरुभ्यो व्याख्याकुसुमरसलेशमाहृत्य ।
भ्रमरेणेव मयाऽयं व्याख्यामधुकोश आरब्धः ॥ ४ ॥
उपयुक्तमिहानुक्तं निदानं माधवेन यत् ।
ग्रन्थव्याख्याप्रसङ्गेन मया तदपि लिख्यते ॥ ५ ॥

अथ प्रथितसर्वायुर्वेदबोधविशुद्धबुद्धिः श्रीमाधवकरो विकारनिकरहेत्वादितत्त्वबुभुत्सोत्सुकचिकित्सकजनानुजिघृक्षया विधित्सितग्रन्थसंदर्भारम्भे तत्प्रत्यूहव्यूहव्यपोहहेतुं परमाप्ताचारपरम्परापरिप्राप्तं स्वेष्टदेवताप्रणामं प्राक् प्राणैषीत; ग्रन्थश्रोतॄणामपि विश्वेश्वरमहेश्वरस्य प्रणामानुवादमात्रादपि सर्वविघ्नोपशमो भवतीत्यभिप्रायेण तं ग्रन्थादौ निबद्धवान्—प्रणम्येत्यादि । अत्र प्रशब्दो भक्त्यतिशयख्यापकः । निबन्धनक्रियापेक्षया प्रणामस्य पूर्वकालभावित्वात् प्रणमेः क्त्वाप्रत्ययः । जगच्छब्देनोत्पत्तिमन्तः पृथिव्यादयोऽभिधीयन्ते; तेषामुत्पत्तौ स्वकारणसमवाये, स्थितौ कतिचित्कालावस्थाने, संहारे प्रध्वंसे, कारणं कर्तारम् । स्वर्गः सुखम्, अपवर्गो मोक्ष आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिलक्षणः, तयोर्द्वारमुपायं प्रधानकारणम् ।

एतेन सकलपुरुषार्थहेतुत्वमुक्तं सुखावाप्तिदुःखहानिव्यतिरिक्तस्य पुरुषार्थस्याभावात्। अत एव त्रैलोक्यशरणं त्रैलोक्यरक्षितारम्। न चोक्तजगत्स्थितिकारणत्वेन पौनरुक्त्यं, जगच्छब्देनोत्पत्तिमतामेवाभिधानात्। अत्र तु त्रैलोक्यशब्दो भुवनत्रयवर्तिचेनाचेतनसमूहवाची, लोकशब्दस्य भुवनजनयोरभिधायकत्वात्। तथा चाऽमरः,—'लोकस्तु भुवने जने (अ. को. ३ का. ३ व. ।' इति। त्रैलोक्यमिति स्वार्थे ष्यञ्, चातुर्वर्ण्यवत्। हरादिपर्यायान् परित्यज्य शिवकारित्वेनैव महेश्वरस्य शिवपदाभिधानमिति ॥ १ ॥

❀ विद्योतिनी ❀

आयुर्वेदपयोधिमन्थनपरैर्याः सूक्तिमुक्ताश्रिता-
स्ताभिर्व्याधिनिबन्धनाय कृतवान् हारावलिं माधवः।
तस्याः कोशसुबन्धरक्षणपरं यो रक्षितं रक्षति,
सोऽव्यान्नोऽपि विमर्शवृत्तिनिरतान् श्रीमाधवो माधवः॥

विमर्श—प्रत्येक ग्रथ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये मङ्गलाचरण करने की पुरातन प्रथा है। इस प्रथा का निर्वाह प्रत्येक विद्वान् स्वमनोऽनुकूल विधि से करता है। वे अपने इष्टदेव को स्मरण या नमस्कार करके ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ करते है। यद्यपि लेखक यह मङ्गल मन में भी कर सकते है, तथापि ग्रन्थ के अध्येताओं को भी मङ्गलार्थी बनाने के लिये ग्रन्थ के आदि में मङ्गल करना परमावश्यक है। मंगलाचरण आस्तिक बुद्धि का निदर्शक है, वह रुचि के अनुसार देवतानमस्कारात्मक अथवा 'अथ' आदि माङ्गलिक शब्दों के द्वारा किया जा सकता है। धर्मशास्त्रों में 'अथातो धर्मजिज्ञासा' (मीमांसा), 'अथ शब्दानुशासनम्' (महाभाष्य) इत्यादि के समान अथ शब्द को मङ्गलाचरणार्थ प्रयुक्त किया गया है। आस्तिक बुद्धि रखने वाले विद्वान् अपनी धी, धृति एवं स्मृति को परिपूत तथा अक्षुण्ण बनाये रखने के निमित्त ग्रन्थ के आदि मे मङ्गलाचरण द्वारा अपने धार्मिक मन्तव्य का भी दिग्दर्शन कराते हैं।

यद्यपि जगत् की स्थिति करने वाला एवं त्रैलोक्यशरण दोनों के पर्यायवाची होने से पुनरुक्ति दोष की प्रतीति होती है तथापि उक्त दोष की प्रकृत में सम्भावना नहीं है, क्योंकि दोनों का अर्थक्षेत्र भिन्न है। लोकशब्द से सम्पूर्ण चेतन और अचेतन सृष्टि का बोध होता है किन्तु जगत् शब्द केवल चेतन सृष्टि का बोध कराता है। अतः परस्पर विभेद होने से पुनरुक्तिता नही रहती। शिव का अर्थ कल्याण है, अतः अन्य पर्यायवाची शब्दों के होने पर भी शिव शब्द का प्रयोग किया गया॥ १॥

अनुबन्धचतुष्टयोपादानाय श्लोकद्वयमाह—

नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात्।
सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्॥ २॥
नानातन्त्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्।
सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति॥ ३॥

---

१. वस्तुतः प्रकृति परिणामिनी है, उसके प्रत्येक चेतन एवं अचेतन शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहते हैं। उक्त परिवर्तन ही उत्पत्ति शब्द से व्यवहृत होता है। परमार्थतः संसार में किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। उपचार से अभिव्यक्ति को ही उत्पत्ति शब्द से व्यवहार किया जाता है। क्योंकि—असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ (सां० का०)

सद्वैद्यों की प्रेरणा अथवा आज्ञा से अब मैं अनेक ऋषि-मुनियोंके माननीय वचनों के आधार पर संक्षेप में उपद्रव, अरिष्ट, निदान एवं लिङ्ग से युक्त रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ। अनेक शास्त्रों के ज्ञान से शून्य अल्प बुद्धि वाले वैद्यों को रोगों (आतङ्कों) का ज्ञान सुगमता से कराने के निमित्त यही रोगविनिश्चय नामक ग्रन्थ सहायक होगा ॥ २-३ ॥

अभिधेयसम्बन्धप्रयोजनोपदेशमन्तरेण प्रेक्षावतां न प्रवृत्तिः, अतस्तदभिधानार्थं श्लोकद्वयमाह—नानेत्यादि। रोगाणां विशेषेण वातजत्वादिसाध्यासाध्यत्वादिरूपेण निश्चयो ज्ञानं येन स रोगविनिश्चयो ग्रन्थो निबध्यतेऽभिधीयते, 'अस्माभिः' इति शेषः। तस्य विशेषणं-सोपद्रवेत्यादि। सह उपद्रवादिभिर्वर्तते यः स तथा; एतेनास्य विशेषणद्वारा उपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गस्वरूपमभिधेयमुक्तं भवति, एतद्व्यतिरिक्तस्याभिधेयस्याभावात्; तथोपद्रवादिभिरभिधेयैः सह ग्रन्थस्य वाच्यवाचकलक्षणः सम्बन्धोऽप्यभिहितः। तत्र, उपद्रवो रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकारः, उक्तं च चरके—'व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः। उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते' इति; नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टं; निदानं रोगोत्पादको हेतुः; लिङ्गं रोगख्यापको हेतुः। तेन 'लिङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते व्याधयोऽनेन' इति व्युत्पत्त्या पूर्वरूपरूपोपशयसंप्राप्तयोऽभिधीयन्ते। यद्यपि निदानमपि रोगविशेषं बोधयति, तथाऽप्युत्पत्तिज्ञप्तिहेतुत्वेन कारणद्वैविध्यप्रतिपादनार्थं तस्य पृथगभिधानम्। एषां चोपद्रवादीनां विस्तराभिधानं यथावसरं करिष्यते, ननु, रोगनिदानादितत्त्वमतिसूक्ष्मत्वेन नासर्वज्ञस्य ज्ञानविषयं, तत् कथं तदुपदेशे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरित्यत आह—नानामुनीनां वचनैरिति। एतेन ग्रन्थस्य प्रामाण्यं प्रवृत्त्यङ्गत्वमुक्तं भवति; मुनयो हि तपोयोगर्धिबलात्त्रैकालिकनिखिलज्ञानशालिनः पुरुषातिशया उच्यन्ते। ननु, यद्येवंभूतः कस्यचिद् ग्रन्थोऽन्योऽप्यस्ति, तेनैव व्यवहारसिद्धेः कृतकार्यत्वेनास्य निष्प्रयोजनता स्यादित्यत आह—इदानीमिति। इदानीमस्माभिरेव प्रथमं नानामुनीनां वचनैरेवंविधो निबन्धः क्रियते। समासत इति संक्षेपतः। एतेनाल्पबुद्धीनामतिविस्तरत्वेनाप्रवृत्त्यङ्गतादोषः परिहृतो भवति। ननु, कृतेऽपि ग्रन्थेऽनुपादेयपुरुषप्रणीतत्वेन न किञ्चिद्भिषक् प्रवर्तिष्यत इति ग्रन्थस्य वैयर्थ्यं स्यादित्यत आह—सद्भिषजां नियोगादिति। नियोगो नियोजनं 'अस्मदुपकाराय ग्रन्थः क्रियताम्' इत्येवं प्रार्थनेत्यर्थः; अथवा नियोग आज्ञा, एतेनात्मनः सविनयत्वमुक्तं भवतीत्यर्थः। ननु, नानामुनिवचनबाहुल्यादल्पमेधसां कथं प्रवृत्तिरित्यत आह—नानातन्त्रेत्यादि। सुखं यथा भवति तथा आतङ्कं रोगं विज्ञातुमयमेव ग्रन्थो भविष्यति, 'कारणम्' इति शेषः। एतेन रोगज्ञानं प्रयोजनमित्युक्तं, फलं चास्य चिकित्सितमिति मन्तव्यम्। यदुक्तं चरके—'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्' इति (च. सू. अ. २०) ननु, नानामुनीनां वचनैरेव रोगज्ञानं भविष्यति, किमनेन तदुपजीविना ग्रन्थेनेत्यत आह—अल्पमेधसामिति। अल्पबुद्धीनामित्यर्थः; महाबुद्धयो हि अतिविस्तरदुरधिगमनानातन्त्राध्ययनक्षमा भवन्ति न त्वल्पबुद्धय. इति. । महाधियामप्यालस्यानासादितदुरुपपादाशेषसंहितानामयमेव रोगज्ञानाय भविष्यतीत्याह—नानातन्त्रविहीनानामिति ॥ २-३ ॥

विमर्श—अभिधेय (ग्रन्थ का विषय), सम्बन्ध (ग्रन्थ एवं अभिधेय का पारस्परिक संबन्ध), प्रयोजन (ग्रन्थनिर्माणप्रयोजन), एवं अधिकारी (रचित ग्रन्थ का अध्येता), इन चारों को **अनुबन्धचतुष्टय** कहते हैं। इनके ज्ञान के बिना किसी ग्रन्थ की रचना एवं अध्ययन में बुद्धिमानों की प्रवृत्ति नहीं होती। **'न कुर्यान्निष्फलं कर्म'** के अनुसार तृणभक्षण एवं जलताडन जैसे निष्फल

कर्मों में बुद्धिमान प्रवृत्त नहीं होते। प्रकृत में भी इन चारों के ज्ञान के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इन्हीं का प्रतिपादन इन दोनों श्लोकों में किया गया है।

उपद्रव आदि का व्याख्यान ग्रन्थ का अभिधेय है, इन उपद्रव आदि का ग्रन्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, रोग ज्ञान करने में अल्पबुद्धि वाले वैद्यों के लिए भी उपयोगी है, यही इसका प्रयोजन है। नानातन्त्रविहीन वैद्य इसके अधिकारी है। इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टय का ज्ञान होनेपर बुद्धिमानों की इसमें प्रवृत्ति होती है। कुछ लोग चतुर्थ अनुबन्ध 'फल' मानते हैं। प्रकृत में इस ग्रन्थ का 'फल' चिकित्सा है अर्थात् इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से रोग, उसके विशिष्ट भेद, निदान, लक्षण, उपद्रव एवं अरिष्ट आदि का ज्ञान प्राप्त कर अल्पबुद्धि वाले भी चिकित्सा कार्य में प्रवृत्त हो सकते हैं।

रोगविनिश्चय :—रोगों का वातादि भेद से तथा साध्यता एवं असाध्यता की दृष्टि से पूर्णतया ज्ञान कराने वाले ग्रन्थको रोगविनिश्चय कहते है। मधुकोशकार ने कहा भी है-**'रोगाणां विशेषेण वातादिजत्वादिसाध्यासाध्यत्वादिरूपेण निश्चयो ज्ञानं येन क्रियते स रोगविनिश्चयो ग्रन्थः।'**

सोपद्रवेति—उपद्रव, अरिष्ट, निदान एवं लिङ्ग से युक्त-**(सहउपद्रवादिभिर्वर्तते यः स तथा)**

उपद्रव :—रोग को उत्पन्न करने वाले दोषों के अत्यन्त प्रकोप से उत्पन्न होने वाला अन्य विकार ही उपद्रव नाम से ख्यात है।[1] चरक ने भी कहा है—

व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः। उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते॥

जिस दोष से व्याधि उत्पन्न हो उसी दोषसे मुख्य व्याधि के पश्चात् उत्पन्न होने वाला विकारान्तर ही उपद्रव कहा जाता है। यथा रक्तपित्त के उपद्रवों का वर्णन करते हुए कहा है—

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुतादाहमूर्च्छा-
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा।
तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरसि च तपनं पूतिनिष्ठीवनत्वम्
भक्तद्वेषाविपाकौ विकृतिरपि भवेद् रक्तपित्तोपसर्गाः॥

इसी प्रकार ज्वर के भी दस उपद्रव वर्णित है[2]।

अरिष्टम्—साध्य और असाध्य भेद से व्याधियां दो प्रकार की होती हैं। साध्य भी सुसाध्य एवं कृच्छ्रसाध्य भेद से दो प्रकार का है। असाध्य भी याप्य और असाध्य दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। इनमें असाध्य की चिकित्सा न करनी चाहिये; क्योंकि वह सद्योमारक या कालान्तरमारक होता है। इन सद्यः या कालान्तर में अवश्यम्भावी मृत्यु के निदर्शक लक्षणों को ही अरिष्ट कहते हैं[3]। यह अधिष्ठान भेद से दो प्रकार का होता है पुरुषाश्रित (रोगी में पाया जानेवाला), पुरुषानाश्रित (रोगी से सम्बन्धित अन्य भावों में पाया जानेवाला)। पुष्पितक इन्द्रिय में भगवान् चरक ने मृत्यु के पूर्व अरिष्ट की अवश्यम्भाविता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि—'जिस प्रकार पुष्प भावी फल का नियत-ज्ञापक होता है वैसे ही अरिष्टनामक लिङ्ग भी आसन्न मृत्यु का पूर्वरूप होता है[4]।' फलविहीन पुष्पों की उत्पत्ति हो सकती है, पुष्पविहीन फल भी हो सकते है, किन्तु उत्पन्न अरिष्ट की मृत्यु के बिना निवृत्ति नहीं हो सकती है। कोई मृत्यु भी ऐसा नहीं होती जिसका पूर्ववर्ती अरिष्ट न हो[5]।

---

१. 'रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकारः' (मधुकोशः)

२. कासो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिस्तृष्णातीऽसारविड्ग्रहाः। हिक्काश्वासाङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश॥

३. नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टम्।

४. पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येह भविष्यतः। तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः॥

५. अप्येवं तु भवेत् पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत्। फलं चापि भवेत् किञ्चिद् यस्य पुष्पं न विद्यते॥
न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते। मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम्॥

प्रकृत में अरिष्ट को केवल नियतमरणख्यापक कहा है किन्तु भट्टारक हरिचन्द्र आदि विद्वान अरिष्ट को नियत और अनियत भेद से दो प्रकार का मानते है। इसकी पुष्टि के लिये **'मृतमेव तमात्रेयो व्याचचक्षे पुनर्वसुः'** इस वचन को नियतपक्ष में तथा **'संशयप्राप्तमात्रे यो जीवितं तस्य मन्यते'** इस वचन को अनियतपक्ष में उपस्थित करते है। किन्तु—

न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽपि मरणादृते। मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥

इस वचन के अनुसार उनका पक्ष माननीय नहीं है। इसके अतिरिक्त जहां अनियतता प्रतीत होती है वहां प्रज्ञापराधजन्य ही समझनी चाहिये। कहा भी है—

मिथ्यादृष्टमरिष्टाभमनरिष्टमजानता। अरिष्टं नापि सम्बुद्धमेतत् प्रज्ञापराधजम् ॥

इस प्रकार अरिष्ट नियत मृत्यु का ही सूचक होता है। यथा—

योऽग्निं प्रकृतिवर्णस्थं नीलं पश्यति निष्प्रभम्। कृष्णं वा यदि वा शुक्लं निशां व्रजति सप्तमीम्।

निदानम्—रोग को उत्पन्न करने वाला हेतु निदान कहा जाता है[1]। यथा मृत्तिकाभक्षण पाण्डुरोग का तथा मिथ्या आहार-विहार ज्वर का निदान है। आधुनिक दृष्टि से गुह्यगोलाणु (Gonococcus) पूयमेह रोग का निदान है। इसी प्रकार तत्तद्रोगोत्पादक विभिन्न जीवाणु भी परम्परया निदान की कोटि में समझे जाते हैं। यद्यपि कुछ प्राचीन विद्वान् रोगों के प्रति जीवाणुओं की कारणता स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं है तथाऽपि आधुनिक साधनों के द्वारा प्रत्यक्ष हो जाने से उनकी सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है। इसके अतिरिक्त अन्वयव्यतिरेक[2] से भी यह सिद्ध है। फिर भी जीवाणुओं की रोगों के प्रति साक्षात् कारणता विचारणीय ही है। वस्तुतः अन्य निदानों के समान जीवाणुरूप निदान भी दोषों को प्रकुपित करके ही रोग को उत्पन्न करते हैं, स्वतन्त्रतया नहीं। अत एव **'सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्'** यह निदान का लक्षण किया गया है। दोषप्रकोपणपूर्वक ही रोग को उत्पन्न करने वाला हेतु निदान कहलाता है। इस प्रकार जीवाणु तथा मिथ्या आहार-विहार दोषों को प्रकुपित करके ही रोगों को उत्पन्न करते है। अत एव दोषों के प्रकोप को ही रोगों के प्रति साक्षात् कारण प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि—**'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः'**। प्राचीन तथा अर्वाचीन दृष्टि से रोगों के प्रति जीवाणुओं की कारणता का विशद वर्णन ज्वर-निदान में किया जायगा।

लिङ्गम्—रोग का ज्ञान कराने वाला हेतु लिङ्ग कहा जाता है[3]। जिसको देखकर व्याधि के स्वरूप एवं नाम का यथावत् ज्ञान हो उसे लिङ्ग या चिह्न और लक्षण (Signs and Symptoms) कहते हैं। ज्वर का तीक्ष्ण वेग, अतिसार, निद्राल्पता तथा वमन आदि पित्तज्वर के निर्णायक होने से लिङ्ग कहे जाते हैं। जिससे व्याधि का ज्ञान हो उसको लिङ्ग कहते है[4]। इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्याधिज्ञापकत्व सामान्य के कारण पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं सम्प्राप्ति का भी लिङ्ग शब्द से ही ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार श्रम, अरति आदि ज्वर के सामान्य पूर्वरूप, जृम्भा, नयनदाह आदि विशिष्ट पूर्वरूप एवं स्वेदावरोधादि सदृश रूप व्याधिज्ञापक होने से लिङ्गपदवाच्य होते है। ये प्रायः प्रत्येक व्याधि के पृथक् पृथक् होते हैं। सन्दिग्ध व्याधियों में इनसे ज्ञान न होने पर उपशय (Therapeutic test) को शरण लेनी पड़ती है। साधारणतया सज्वर सन्धिशोथ एवं अङ्गमर्द

१. 'निदानं रोगोत्पादको हेतुः' 'निदानकारणमित्युक्तमग्रे' चरकः।

२. 'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः' 'यदभावे यदभावो व्यतिरेकः'। यथा—अग्नि के रहने पर धूम की सत्ता का होना अन्वय है। अग्नि के अभाव होने पर धूम का भी अभाव होना व्यतिरेक कहलाता है।

३. 'लिङ्गं रोगख्यापको हेतुः' (मधुकोशः)।

४. 'लिङ्ग्यते ज्ञायते व्याधिरनेनेति'।

होनेपर सन्धिगत अनेक रोगों की सम्भावना होती है। इस अवस्था में तैलाभ्यग से हानि एवं रूक्षस्वेद और गुग्गुल या आधुनिक वैद्यक के आधार पर सैलीसिलेट के प्रयोग से लाभ होने पर आमवात का अनुमान सहज ही कर लिया जाता है। इस प्रकार उक्त औषधों से होनेवाला लाभ उपशयात्मक निदान (Therapeutic test) कहलाता है और विशिष्ट व्याधि का बोधक होने से लिङ्ग शब्द के द्वारा गृहीत भी होता है। इसी प्रकार अज्ञातज्वर में क्विनीन प्रयोग से लाभ या हानि होने पर मलेरिया की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का ज्ञान हो जाता है।

पञ्चविध (वाग्भटानुसार) या षड्विध (चरकानुसार) सम्प्राप्ति भी व्याधिविशेष का ज्ञापक होने से लिङ्गशब्द का ही वाच्य है। निदानसेवन के अनन्तर पूर्वरूप एवं रूप पर्यन्त शरीरान्तर्गत होनेवाले सकल परिवर्तनों की शृङ्खला ही शास्त्र में सम्प्राप्ति नाम से ख्यात है। यह क्रिया प्रत्येक व्याधि में विशिष्ट ही होती है। इसे व्याध्युत्पत्ति की परम्परा भी कह सकते हैं। इस परम्परा का यथावत् ज्ञान विशिष्ट व्याधि का परिचायक होने से लिङ्ग शब्द से भी व्यवहार होता है। आधुनिक दृष्टिकोण से इसे Pathogenesis संज्ञा प्रदान की जा सकती है। निदान आदि प्रत्येक का प्राचीन एवं अर्वाचीन दृष्टि से विशद विवेचन प्रकरणानुसार किया जायगा।

प्रकृत में रोगज्ञापक हेतु को लिङ्ग कहा गया है। इस व्याख्या के आधार पर निदान भी लिङ्ग शब्द से व्यवहृत हो सकता है; क्योंकि **'पञ्चमो भक्षणान्मृदः'** इस वचन के अनुसार मृत्तिका-भक्षणरूप निदान भी पाण्डुरोग का ज्ञान कराता ही है। इस प्रकार ज्ञापकत्व सामान्य के कारण निदान भी लिङ्ग के अन्तर्गत ही समझा जा सकता है। उसका पृथक् कथन अनावश्यक है। तथापि व्याधि के उत्पादक एवं ज्ञापक भेद से हेतु दो प्रकार के होने से दोनों हेतुओं का वर्णन पृथक्-पृथक् किया गया है। यदि केवल व्याधिबोधकत्वरूप स्वभाव के कारण निदान का अन्तर्भाव लिङ्ग में कर लिया जाय तो व्याधि का उत्पादक हेतु किसको माना जायगा। लिङ्गमें उत्पादक हेतु की क्षमता नहीं है, अतः निदान का पृथक् कथन किया गया। उत्पादक और ज्ञापक भेद से निदान दो प्रकार का होता है। हेतु और निदान शब्द भी समानार्थक ही है, अतः ज्ञापक हेतु लिङ्ग का अन्तर्भाव निदान में हो जाने से केवल निदान शब्द से भी निदानपञ्चक का ग्रहण हो जाता है। फिर भी अज्ञात निदान एवं मिश्रस्वरूप के लक्षणों से युक्त अनेकों व्याधियों को उत्पन्न करने वाला ज्ञात निदान भी विशिष्ट व्याधि का ज्ञान न कराने के कारण ज्ञापक कोटि में नहीं आ सकता। अतः सभी निदानों की सर्वदा ज्ञापकता सिद्ध न होने के कारण व्याधि-ज्ञापनार्थ लिङ्ग शब्द का उपादान किया गया। इस प्रकार जिन व्यक्तियों का ज्ञान केवल निदान से नहीं होता उनका ज्ञान पूर्वरूप आदि से किया जाता है।

रोगनिदान और चिकित्सा का तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म होता है, जिसको असर्वज्ञ व्यक्ति नहीं जान सकता। अतः असर्वज्ञ व्यक्ति द्वारा रचित इस ग्रन्थ मे बुद्धिमानों की प्रवृत्ति भी नही हो सकती, अतः इसका बनाना ही व्यर्थ है। उक्त सन्देह का निवारण **'नानामुनीनाम्'** इत्यादि वाक्य के द्वारा करते हैं। विभिन्न मुनियों ने सहस्रावधि वर्षोंपर्यन्त तपस्या करने के उपरान्त जिस तत्त्व का साक्षात्कार कर संसार को प्रदान किया, उसी तत्त्व का प्रतिपादन प्रस्तुत ग्रन्थ में संग्रह रूप में किया जाता है। मुनि भी **'मन्तारः वेदशास्त्रतत्त्वावगन्तार, इति मुनयः'** अनवरत मनन करने वाले तथा वेद एवं शास्त्रों के निखिल ज्ञान से परिपूतात्मा पुरुषविशेष ही मुनि कहे जाते हैं। इसलिये तप, योग की ऋद्धि के बल से भूत, भविष्य तथा वर्तमान के पूर्णज्ञान से युक्त व्यक्तिविशेष ही मुनि होते हैं। ये रोग के सूक्ष्माति-सूक्ष्म तत्त्व को भी भली-भाँति जान सकते हैं। इन्हीं के प्रमाणभूत वचनों के बल पर इस ग्रन्थ की रचना की जा रही है, अतः बुद्धिमानों के लिए ग्रन्थ अवश्य ही उपादेय होगा। तात्पर्य यह है कि अनवरत परिश्रम एवं

मनोयोग से जो कार्य करते है उन्हीं को तत्त्व का साक्षात्कार भी होता है। साधारण मनुष्य को न तो वह ऊहापोहवती बुद्धि होती है और न साधन ही उपलब्ध होते है। उन प्राचीन मुनियों को समयानुसार सभी आवश्यक साधन उपलब्ध थे, बुद्धि थी एव श्रम की भी विपुलता थी। इस प्रकार उन्होंने प्रायोगिक पद्धति के आधार पर रोगविज्ञान-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार कर उपदेश के व्याज से सम्पूर्ण ससार को प्रदान किया। आधुनिक युग में भी अनेकों वैज्ञानिक अहर्निश परिश्रम के उपरान्त नूतनतम तत्त्वों का दर्शन करके विश्व के सम्मुख अनोखा आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। इनके ही प्रामाणिक वचनों के आधार पर अनेकों ग्रन्थों की रचना होती है। ऐसे विशेष व्यक्तियों को आप्त भी कह सकते हैं क्योंकि—**'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेश'** यह आप्त की परिभाषा करते हुए न्यायदर्शन के भाष्य में भगवान् वात्स्यायन ने प्रतिपादित किया है।

अब सन्देह होता है कि यद्यपि ग्रन्थ की प्रामाणिकता सिद्ध है तथापि अन्य अनेक ग्रन्थों के रहते हुए पुनः ऐसे ग्रन्थ का निर्माण पिष्टपेषण ही कहा जायगा। इसका उत्तर माधवकर **'इदानीम्'** आदि से देते हुए कहते हैं कि सर्वप्रथम हम ही ऐसे ग्रंथ का निर्माण कर रहे है, इससे पूर्व एतद्विषयक किसी ग्रन्थ का निर्माण नही हुआ। पुनः शका होती है कि ग्रन्थ-रचना हो जाने पर भी अप्रामाणिक पुरुष द्वारा प्रणीत प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन मे बुद्धिमान प्रवृत्त नहीं होंगे इसका उत्तर **'सद्भिषजां नियोगात्'** से देते हैं। अर्थात् बडे बड़े वैद्यों ने मुझे योग्य समझकर इस कार्य के लिए नियुक्त किया या आदेश दिया कि हमारे कार्य के लिए इस प्रकार के ग्रन्थ की रचना करो। इस प्रकार लेखक की योग्यता सिद्ध हो जाने से ग्रन्थ की प्रामाणिकता भी सिद्ध हो जाती है।

नानातन्त्रेति—प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वारा सौकर्य से रोगों का ज्ञान हो सकता है, इससे रोगज्ञान का होना ही इस ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन। चिकित्सा ही फल है। महर्षि चरक ने कहा भी है—**'रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्। ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत ॥'**

सर्वप्रथम रोग की परीक्षा करें, इसके पश्चात् औषध की परीक्षा करनी चाहिये। औषधि की परीक्षा के बाद उसे उपादेय देखकर विभिन्न कल्पनाओं द्वारा उनका प्रयोग करना चाहिये। औषधचिकित्सा से सफलता न मिलने पर शल्यकर्मादि का आश्रय लेना चाहिये।

यद्यपि चरक, सुश्रुत आदि मुनियों के सहिता-ग्रन्थों से ही निर्वाह हो सकता है तथापि अल्पबुद्धि वाले एवं आलस्य अथवा साधनहीनता के कारण सम्पूर्ण सहिता-ग्रन्थों को आद्योपान्त पढने में असमर्थ महाबुद्धियों के लिये भी यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा।

ज्ञातव्यस्य व्याधेः पञ्चविधज्ञानोपायानाह—

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।
संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥४॥ (वा. नि. अ. १)

निदान पूर्वरूप, रूप, उपशय एव सम्प्राप्ति इन पांच उपायों से व्याधि का विशिष्ट (यथावत्) ज्ञान होना है ॥ ४ ॥

व्याधेर्ज्ञातव्यस्य पञ्च ज्ञानोपाया भवन्तीति तानाह-निदानमित्यादि। एते पञ्च व्यस्ताः समस्ताश्च व्याधिबोधकाः। न च समस्तपक्षे कृतकरणत्वं वाच्यं, प्रमाणसंप्लवस्यापि दृष्टत्वात। न यो ह्यनुमानेन प्रतीतो वह्निः स एव प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपलभ्यते। न वा निदानादीनि प्रेक्षावन्तो ये नैवमालोचयेयुः; एकेनैव प्रतिपादितो व्याधिरिति वयमिहोदास्महे। किंच एकेन प्रतिपादितेऽपि व्याधावपरेऽवश्यमभिधातव्याः, भिन्नप्रयोजनत्वाद्। तथाहि—यदि निदानं नोच्यते तदा तत्परिवर्जनं कथं लभ्यते। उक्तं हि सुश्रुते—'वातादीनां प्रतीकारः प्रोक्तो विस्तरतः पुनः। संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्—' इति (सु. उ. अ. १)।

किंच, यथा—मृद्भक्षणात् पाण्डुरोगः, मक्षिकाभक्षणाच्च छर्दिरवसीयते; न तु तथा निदानेन सर्वत्र नियतरोगाध्यवसायः ज्वरगुल्मादीनामेककारणत्वात्। यदाह चरकः—'एको हेतुरनेकस्य तथकस्यैक एव हि। व्याधेरेकस्य बहवो बहूनां बहवस्तथा'—इति (च. नि. अ. ८)। अपिच कदाचित् प्रत्यासन्नं निदानं बाधित्वा विप्रकृष्टनिदानकृतो दोषसंचयो व्याधिं कुर्यात्, तस्मात् केवलान्निदानान्न व्याधिज्ञानं भवतीति पूर्वरूपादीनामुपादानमिति वाप्यचन्द्रः। असति पूर्वरूपाभिधाने तत्रोक्तः क्रियाविशेषो न संगच्छते। उक्तं हि चरके—'ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं वा'-इति (च. नि. अ. १) तथा च सुश्रुते—वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानमिति। तथा असाध्यत्वं च नोपलभ्येत। उक्तं च चरके—'पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः॥ अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि य नरम्। विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्'-(च. इ. अ. ५) इति। तथा रक्तपित्तप्रमेहयोर्विशेषज्ञानं च न जायते। उक्तं च चरके—'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः। यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः'—इति (च. चि. अ. ६)। असति रूपाभिधाने व्याधेरशेषविशेषेण स्वरूपमेव न व्यवच्छिद्यते; किंच साध्यासाध्यत्वं च न ज्ञायते। तथाहि सुखसाध्यलक्षणे चरकः—'हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य वै। न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्'—इति (च. सू. अ. १०)। कष्टसाध्यलक्षणे चरकः—'निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले' (च सू. अ. १०) इति; तथा—'सर्वसम्पूर्णलक्षणाः'। 'सन्निपातज्वरोऽसाध्यः' (च. वि. अ. ३) इति। असत्युपशयाभिधाने संकीर्णलक्षणेऽनभिव्यक्तलक्षणे वा व्याधौ विशेषबोधो न स्यात्। तदुक्तं चरके—'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां'—(परीक्षेत) (च. वि. अ. ४) इति। असत्यां च संप्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोंऽशांशविकल्पनाबलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात्। तस्मात् पञ्चापि निदानादयो वक्तव्याः। पञ्चविधमप्येतद् व्याध्युत्पत्तिज्ञप्तिहेतुभूतं निदानशब्देनोच्यते। यदाह सुश्रुतः-'हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानि'-(सु. सू. अ. ३) इति। तत्रैवं निदानशब्दनिरुक्तिः,—'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानं'; 'दिशेः पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः'—इति गदाधरः, 'निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्'-इति जेज्जटः। भट्टारहरिचन्द्रेणापि तन्त्रयुक्त्यादिविवरणप्रस्तावे एषैव निरुक्तिरुक्ता। निशब्दो निश्चये। तथा च वररुचेरुपसर्गसूत्रं-'नि निश्चयनिषेधयोः' इति। लोकेऽपि 'अद्य ते निदानं करिष्यामि' इत्युक्ते निश्चयं करिष्यामीत्यवगम्यते। निदानमिति करणे ल्युट्; तेन 'व्याधिनिश्चयकरणं निदानम्' इति निदानादिपञ्चकसामान्यलक्षणम्। निदानशब्दोऽयं निदानविशेषे जातौ च वर्तते; यथा—तृणशब्दः तृणविशेषे तृणजातौ च वर्तते। यत्तु, भट्टारहरिचन्द्रेण निदानस्थाने-'या गौः सुदोहा भवति न तां निदद्दीत'-इति व्यासप्रयोगमुपन्यस्य निबन्धार्थो निदानशब्दो व्याख्यातः 'निदीयते निबध्यते हेत्वादिसंबद्धो व्याधिरनेन' इति कृत्वा; तत्तु निदानस्थानरूपग्रन्थाभिप्रायेण, नहि हेत्वादयो हेत्वादिसम्बद्धं व्याधिं प्रतिपादयन्ति ॥ ४ ॥

विमर्श—पूर्वोक्त श्लोक में ग्रंथ का प्रयोजन रोगज्ञान कहा गया है, अत एव उसके उपायों का यहां वर्णन किया जाता है ये निदान आदि पाचों व्यस्त एवं समस्त रूप में व्याधि का ज्ञान कराते हैं अर्थात् इनमें से प्रत्येक (निदान या पूर्वरूप आदि) पृथक् २ रूप में तथा पांचों एक साथ मिलकर भी व्याधि का बोधन कराते है। जिस व्याधि में केवल निदान की ही उपलब्धि हो अन्यों की न हों वहांपर व्यस्त रूप में केवल निदान ही रोगज्ञापक होता है। इसी प्रकार उपलब्धि के अनुसार कहीं दो और कहीं तीन, चार या पांचों भी व्याधि के बोधक हो सकते हैं। अत एव विजय-

रक्षितजी ने कहा है—**'एते पञ्च व्यस्ताः समस्ताश्च व्याधिबोधकाः'**। यद्यपि कतिपय विद्वानों का कथन है कि एक उपाय से ही व्याधि का ज्ञान हो जाने पर पुनः दूसरे उपायों से भी उसीका ज्ञान करने से कृतकरणत्व या पिष्टपेषण दोष की सम्भावना है, तथापि एक प्रमाण से किसी वस्तु का ज्ञान हो जानेपर पुनः प्रमाणसमूह से भी उसका ज्ञान किया जाता है। इस प्रकार किया हुआ ज्ञान कदापि मिथ्या नहीं होता। रोगी की परीक्षाविधि का वर्णन करते समय कहा गया है कि—

'दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्'। तथा—

'रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्। नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती ॥'

इसी प्रकार रोग-परीक्षा-क्रम में भी बताया गया है **'रोगं निदानपूर्वरूपलक्षणोपशयाप्तिभिः'** तथा—**'षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः-पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति'**।

उक्त सभी उपायों से रोगी और रोग की परीक्षा करने का उपदेश किया गया है। लोक में भी देखा जाता है कि अनुमान से प्रतीत अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं आप्तोपदेश से भी हो जाता है।

जो लोग निदानपञ्चक को अनुमान आदि के समान नहीं स्वीकार करते, उन्हें प्रकृष्टबुद्धि नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह कि जिस प्रकार अनुमान से प्रतीत अग्नि का ज्ञान प्रत्यक्ष एवं साक्षात् द्रष्टा आप्त के वाक्य से भी किया जाता है, वैसे ही निदानादि पांचों में से किसी एक के द्वारा व्याधि का ज्ञान हो जाने के उपरान्त भी अन्य कतिपय एवं अन्य सबके द्वारा विशिष्ट ज्ञान हो ही सकता है। फिर भी जो हठवादिता के कारण ऐसा मानते है कि 'व्याधि का ज्ञान किसी एक के द्वारा ही होता है' उनके इस मन्तव्य के प्रति विजयरक्षितजी अपनी उदासीनता या असहमति प्रकट करते है। इसके अतिरिक्त निदानादि पाचों की अलग-अलग विशेष आवश्यकता भी होती है। जैसे जहाँ अनेक रोगों के निदान आदि समान होते है वहाँ किसी एक से व्याधि का ज्ञान हो जाने पर शेष सब भी पीछे से व्याधिबोधक हो जाते है। रक्तमेह एवं रक्तपित्त के लक्षण-निदान तथा सहायक कारण समान होने के कारण सापेक्ष रोगनिदान (Differential diagnosis) में कठिनाई होती है। किन्तु—

'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ॥'

चरक के उक्त वचन के अनुसार पूर्वरूप के द्वारा रक्तपित्त का निश्चय कर लेने के उपरान्त प्रमेह और रक्तपित्त के निदान तथा रूप समान होने पर भी रक्तपित्त का ही निर्णय कराते है। इसी प्रकार ऊरुस्तम्भ होने पर पीडा-सामान्य तथा निदान आदि समान होने के कारण वातव्याधि का भी सन्देह होता है। इस अवस्था में तैलाभ्यंगरूप अनुपशय से व्याधि का बढना ऊरुस्तम्भ का निर्णायक होता है। कहा भी है—

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात् स्नेहनात् पुनः। पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥
जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने। पादं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥
(ऊरुस्तम्भनिदानम्)

इस प्रकार अनुपशय से ही व्याधि का ज्ञान हो जाने पर अन्य निदान आदि भी ऊरुस्तम्भ के ही निर्णायक हो जाते है।

इसके अतिरिक्त एक उपाय से व्याधि का ज्ञान हो जाने पर भी अन्यों का कथन करना परमावश्यक है; क्योंकि सबका प्रयोजन भिन्न है। तात्पर्य यह है कि किसी रोग में केवल निदान-से ही व्याधि का ज्ञान हो जाता है और किसी में पूर्वरूप आदि किसी एक से व्याधिज्ञान मे विशेष सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक का प्रयोजन पृथक् २ भी होता है—**तथाहीत्यादि।**

निदानकथनप्रयोजनम्—निदानपरिवर्जन—यदि निदान का वर्णन न किया जाय तो **"संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्'** इस सुश्रुतोक्त चिकित्सा सूत्र के अनुसार सभी

व्याधियों की सामान्य चिकित्सा 'निदान का परित्याग' कैसे किया जा सकता है। निदान का कथन न होने पर उसका ज्ञान भी न होगा एव ज्ञान के अभाव में परित्याग भी असम्भव ही है।

इस प्रकार निदान आवश्यक होते हुए भी केवल निदान से रोग विशेष का निश्चित ज्ञान एवं चिकित्साविशेष सम्भव नहीं है। क्योंकि—(१) निदान से सर्वत्र नियत रोग के निश्चय का अभाव— जिस प्रकार मृत्तिकाभक्षण से पाण्डुरोग और मक्षिकाभक्षण से वमन होता है वैसे सर्वत्र एक निदान से किसी विशिष्ट रोग का होना निश्चित नहीं है; क्योंकि समान कारण से ज्वर और गुल्म की उत्पत्ति होती है[1]। ऐसी अवस्था में केवल निदान से रोग का निर्णय करना कठिन हो जाता है। सापेक्ष रोग निश्चिति पूर्वरूप तथा रूप के द्वारा होती है। चरक ने इस अनियतता का वर्णन निम्न रीति से किया है—

'एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि। व्याधेरेकस्य बहवो बहूनां बहवस्तथा ॥'

(२) कदाचित् व्याधि के समकालीन निदान को दबा कर विप्रकृष्ट निदान से किया हुआ दोषसंचय भी व्याधि को उत्पन्न कर देता है। सन्निकृष्ट एव विप्रकृष्ट भेद से निदान दो प्रकार का होता है। **'वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्'** इस वाग्भट के वचन के अनुसार वसन्त में कफ रोग का सन्निकृष्ट प्रकोपक कारण प्रभात तथा विप्रकृष्ट कारण हेमन्त में संचित हुआ श्लेष्मा होता है। इसी प्रकार तत्तद्दोष के सन्निकृष्ट एव विप्रकृष्ट कारणों का निर्णय कर लेना चाहिये। कदाचित् विप्रकृष्ट निदान सन्निकृष्ट निदानजन्य रोग से भिन्न रोग का उत्पादक होता है, ऐसे स्थल पर यदि विप्रकृष्ट निदान सन्निकृष्ट से बलवान होता है तो रोग भी विप्रकृष्ट निदान के समान ही उत्पन्न होगा। जैसे—निकटवर्ती (सनिकृष्ट) निदान ज्वर का है और दूरवर्ती ऊरुस्तम्भ का। इस अवस्था में यदि दूरवर्ती निदान समीपवर्ती निदान से बलवान होगा तो ज्वर न होकर ऊरुस्तम्भ की ही उत्पत्ति होगी। इसी प्रकार **'हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्तेऽर्कतापतापितः। कफरोगकृत्'** यहां सन्निकृष्ट निदान अर्कताप और विप्रकृष्ट हेमन्त में सञ्चित कफ है। यद्यपि सन्निकृष्ट निदान सूर्यसन्ताप से पित्त का प्रकोप होना चाहिये तथापि विप्रकृष्ट निदान कफ समीपस्थ निदान को बाधकर (दबाकर) कफज रोग की ही उत्पत्ति करता है। सूर्यसन्ताप भी इसी का सहायक कारण बनता है। यहा चिकित्सा भी कफ की ही की जाती है। ऐसे स्थलों पर वास्तविक निदान का प्रत्यक्ष होने से पूर्वरूप आदि के अभाव मे व्याधि का मिथ्या ज्ञान होगा। अतः व्याधि का यथावत् ज्ञान करने के लिए पूर्वरूप आदि का ज्ञान करना भी परमावश्यक है। इसीलिए वाप्यचन्द्रजी कहते हैं—**'तस्मात् केवलान्निदानादपि न व्याधिज्ञानं भवतीति पूर्वरूपादीनामुपादानम्'**। वाप्यचन्द्रजी के उपर्युक्त दो प्रयोजन सप्रमाण उद्धृत किये गये हैं।

पूर्वरूप आदि का अभाव होने पर रोग-विज्ञानसम्बन्धी अनेक मौलिक दोषों के यथास्थित रहने से चिकित्सा में विशेषता न हो सकेगी। केवल निदान पर निर्भर न रहकर प्रत्येक रोग का परस्पर विभेद करने के निमित्त पूर्वरूप आदि का कथन तथा ज्ञान करना परमावश्यक है। अज्ञात निदान अथवा अयथार्थज्ञात निदान की अवस्था में पूर्वरूप, आदि के द्वारा व्याधि का यथावत् ज्ञान होने से चिकित्सा में भी सौकर्य लाभ होता है। ये पङ्क्तियां भी वाप्यचन्द्रजी के प्रयोजनों की पोषक ही हैं। सम्प्रति मधुकोषकारोक्त प्रयोजनों का उल्लेख किया जाता है—

---

१. मिथ्याहारविहाराभ्या दोषा ह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः ॥ (ज्वरनिदानम्)
दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ॥ (गुल्मनिदानम्)

१. पूर्वरूपाभिधानप्रयोजनम्—पूर्वरूपावस्थाकर्तव्य चिकित्साकर्म—यदि पूर्वरूप का कथन न किया जाय तो पूर्वरूपावस्था से वर्णित विशिष्ट उपचार भी न किये जा सकेंगे। चरक ने कहा भी है—**'ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं वा'** अर्थात् ज्वर के पूर्वरूप—श्रम, अरति तथा जृम्भा आदि होने पर लघु भोजन अथवा अपतर्पण (लंघन) कराना चाहिये। इसी प्रकार सुश्रुत भी **'वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानम्'** वातिक ज्वर के पूर्वरूप मे घृतपान का उपदेश करते है।

२. साध्यासाध्यता का ज्ञान—रोग की साध्यता एवं असाध्यता का ज्ञान करने के लिये भी पूर्वरूप का कथन आवश्यक है। इसका पाठ न होने पर असाध्यता की प्रतीति भी न होगी। चरक ने कहा भी है—

'पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः॥
अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्। विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्॥'

अर्थात् ज्वर में या अन्य रोगों में बताये गये पूर्वरूप के सम्पूर्ण लक्षण पूर्ववेग के साथ जिस व्यक्ति में पाये जाते है उसकी मृत्यु निश्चित समझनी चाहिये। रोगी में पूर्वरूपावस्था के अधिक लक्षणों का होना रोग की गम्भीरता का सूचक होता है।

३. सापेक्षरोगनिश्चिति—सन्दिग्ध दो या अधिक रोगों के साक्षेप निदान के लिए पूर्वरूप-का कथन आवश्यक है। पूर्वरूप के अभाव में रक्तपित्त एव प्रमेह का सापेक्ष निदान न हो सकेगा। इन दोनों का परस्पर विभेद कराने वाला पूर्वरूप ही है। चरक ने कहा भी है—

'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥'

अर्थात् जो मनुष्य प्रमेहोक्त पूर्वरूप के बिना ही हरिद्रावर्ण तथा रक्तवर्ण का मूत्रत्याग करता है उसे प्रमेह न समझ कर रक्तपित्तजन्य ही विकार समझना चाहिये। ऐसे स्थलों पर जहाँ दो व्याधियों के लक्षण समान हों वहाँ विभेद करने के निमित्त पूर्वरूप समर्थ होता है। अतः पूर्वरूप का कथन आवश्यक है।

१. रूपाभिधान का प्रयोजन—व्याधि का स्वरूपज्ञान—निदान तथा पूर्वरूप के रहते हुये भी यदि रूप का वर्णन न किया जाय तो व्याधि के सम्पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता। रोग के कुछ लक्षण पूर्वरूपावस्था में अव्यक्त (अस्पष्ट) रहते है, वे ही व्यक्त होने पर तथा बाद में उत्पन्न कुछ और लक्षण रूप कहे जाते हैं। व्याधि का यही वास्तविक 'स्वरूप' है। इसके द्वारा ही व्याधि का यथार्थ ज्ञान होता है। रूप अभिधान न करने से उसका ज्ञान भी न होगा और ज्ञानाभाव से व्याधि एवं उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने से चिकित्सावैशिष्ट्य भी न किया जा सकेगा।

२. व्याधि की साध्यासाध्यता का ज्ञान—रूप का कथन न करने पर शास्त्रोक्त साध्यासाध्यता का ज्ञान भी नही हो सकता; क्योंकि चरक ने रूप के आधार पर सुखसाध्य का लक्षण करते हुए कहा है—

'हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य वै। न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्॥'

अर्थात् जिस रोग के हेतु, पूर्वरूप तथा रूप अल्प हो, दूष्य (रसादि) दोष (वातादि) के तुल्य गुणों वाला न हो (रस और मेद धातु कफदोष के समान गुण होते हैं, अतः व्याधि का कारण कफ तुल्य गुण दूष्य रस या मेद के आश्रित न हो), रोगी की प्रकृति रोगजनक दोष के समान न हो तो वह रोग सुखसाध्य होता है। इसी प्रकार व्याधि की कष्टसाध्यता का वर्णन करते हुए चरक ने कहा है—

'निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले। कालप्रकृतिदूष्याणां सामान्येऽन्यतमस्य च॥'

इत्यादि॥ च० सू० १०।१४

अर्थात् व्याधि के निदान, पूर्वरूप और रूप यदि मध्यबल हों तथा काल, प्रकृति और दूष्य दोष के समान हों तो व्याधि कष्टसाध्य होती है। किन्तु **'सर्वसम्पूर्णलक्षणः सन्निपातज्वरोऽसाध्यः'** इस वचन के द्वारा चरक ने रूप के आधार पर सन्निपातज्वर की असाध्यता का प्रतिपादन किया है। उपर्युक्त सन्दर्भ से यह सुनिश्चित हो गया कि साध्यासाध्यता का ज्ञान करने के निमित्त पूर्वरूप के समान रूप का कथन भी परमावश्यक है।

उपशय-कथन का प्रयोजन—सदृश लक्षणों से युक्त अनेक व्याधियों मे से किसी एक का अथवा अस्पष्ट लक्षणों से युक्त किसी एक ही व्याधि का यथावत् ज्ञान करने के लिये उपशय का ज्ञान करना आवश्यक है। उपशय का वर्णन न होने पर ऐसे स्थलों पर व्याधि-विनिश्चय नहीं हो सकता। इसलिये गूढलिङ्ग व्याधि का ज्ञान करने के लिये उपशय का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। अत एव चरक ने कहा है—**'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत।'** उपशय कथन से उसके अभाव अनुपशय का भी ग्रहण हो जाता है। वातव्याधि और ऊरुस्तम्भ का सन्देह होने पर उपशयभूत तैलाभ्यग से ऊरुस्तम्भ का निश्चय किया जाता है। इसी प्रकार ज्वरों का सन्देह होने पर उपशयभूत क्विनीन से मलेरिया का निर्णय सहज ही हो जाता है। अतः सन्दिग्ध व्याधियों का निर्णय करने के निमित्त उपशय का कथन भी कर्तव्य है।

सम्प्राप्तिकथन का प्रयोजन—चिकित्साविशेष—निदान आदि सबका कथन करने पर भी चिकित्सा-वैशिष्ट्य के लिये सम्प्राप्ति का कथन अनिवार्य है, क्योंकि यदि सम्प्राप्ति का कथन न किया गया तो दोषों की अशांशकल्पना,[1] बल (व्याधि की तीव्रता और मृदुता अर्थात् सकल हेतु, पूर्वरूपों से बलवत्ता एवं उनकी अल्पता से अबलवत्ता होती है), ऋतु एवं अहोरात्र-सम्बन्धी काल का व्याधि से सम्बन्ध ज्ञात न होने से विशिष्ट चिकित्साकर्म भी न हो सकेगा। अत एव मधुकोशकार ने कहा है—**'असत्यां च सम्प्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोंऽशांशविकल्पनाबलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात्।'** इसलिये निदान आदि पांचों का कथन अनिवार्य है। एक का भी अभाव होने पर व्याधि का पूर्णतया ज्ञान नहीं हो सकता।

निदान पञ्चक के अतिरिक्त शास्त्रों में रोगविज्ञानसम्बन्धी अन्य उपायों का भी वर्णन मिलता है। यथा सुश्रुत ने **'षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः, पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति'** इस प्रकार रोग-विज्ञान के ६ उपायों का अधिक वर्णन किया है। अतः माधवोक्त केवल निदानपञ्चक का वर्णन अपूर्ण होने से अप्रामाणिक है ? इस पर कहते है कि वस्तुतः निदानपञ्चक रोग के ज्ञापक होते हुए स्वयं भी प्रश्नादि द्वारा ज्ञेय होते हैं अर्थात् उनके यथावत् ज्ञान के लिए स्वतन्त्र या यन्त्रादि साधनों से शक्ति बढ़ाकर नेत्रादि द्वारा रोग की परीक्षा करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ-किसी कामला रोगी के नेत्रादि की पीतता उसका रूप होते हुए भी उसका ज्ञान वैद्यचक्षु के बिना नहीं हो सकता। लिङ्ग भी लिङ्गिज्ञान का साधन होता है, किन्तु लिङ्गों के ज्ञानके

---

१. वातादिदोषगत रूक्षता आदि प्रत्येक गुण अंश कहे जाते हैं। दोष के प्रकोपक अंशों के निर्धारण को अंशांश विकल्पना कहते हैं। तात्पर्य यह है कि व्याधिजनक वात आदि दोष के प्रकोपक द्रव्य में दोष-प्रकोपणार्थ रौक्ष्य आदि गुणों में से कितने गुण विद्यमान हैं इसका यथावत् ज्ञान ही अंशांशविकल्पना है। 'तैरेकद्वित्र्यादिभिः समस्तैर्वा वातादिकोपावधारणं विकल्पना।' यदुक्तं सुश्रुते—'सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वापि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः।
संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति ॥' (मधुकोशव्याख्या।)

साधन इन्द्रियां है इतना ही नहीं इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान के अतिरिक्त अनुमान, युक्ति और आप्तोपदेश भी रोग-परीक्षा के साधन हैं जैसा कि महर्षि चरकने कहा है— **'द्विविधा परीक्षा प्रत्यक्षमनुमानञ्च त्रिविधा वा सहोपदेशेन ।'** इस प्रकार निदानादि रोगपरीक्षा के और प्रश्नादि-षट्क, प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश रोगी की परीक्षा के साधन है । आधुनिक विद्वान रोगी की परीक्षा निम्न पद्धति से करते हैः—

१. प्रश्न—प्रश्न करने पर रोगी अपनी मुख्य व्यथाओं के साथ २ रोग का काल, पारिवारिक इतिहास, रोगाक्रमण की विधि तथा चिकित्सा द्वारा होने वाले लाभ-हानि का भी वर्णन करता है। इससे सेवित निदान, पूर्वरूप, उपशय तथा कुछ रूपों का भी ज्ञान हो जाता है, यथा प्रश्न करने पर रोगी ने उत्तर दिया कि उसने मिट्टी खाई है तो **'पञ्चमो भक्षणान्मृदः'** इस आप्तवाक्य के बल पर मिट्टीरूप निदान से पाण्डुरोग का ज्ञान होता है। प्रमेह के पूर्वरूप दन्त आदि का मलावृत होना[1] प्रश्न के द्वारा ही ज्ञात होता है। यहां प्रमेह के **'सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता'** आदि रूपों का ज्ञान भी प्रश्न से होता है। कफ-बहुल पदार्थों के सेवन से प्रमेह बढ़ता है और रूक्षान्न-पान से कम होता है। इस उपाय तथा अनुपशय का ज्ञान भी प्रश्न द्वारा होता है। इसी प्रकार प्रश्न करने पर रोगी रोगवृद्धि का काल उसकी तीव्रता और मृदुता का वर्णन करता है। एवं प्रश्न से ज्ञात दोषप्रकोपक निदान की अशांशकल्पना भी ज्ञात हो जाती है। इसी को सम्प्राप्ति कहते है। इस प्रकार प्रश्न निदानपञ्चक का ही ज्ञापक होता है—रोग का नही, अतः निदानपञ्चक ही रोग का साक्षात् ज्ञापक सिद्ध हुआ। प्रश्न की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए सुश्रुत कहते हैं—**'प्रश्नेन च विजानीयाद्देशं कालं जातिं वातमूत्रपुरीषाणां प्रवृत्त्यप्रवृत्ती कालप्रकर्षादींश्च विशेषान्'** आदि शब्द से उपर्युक्त सभी भावों का ग्रहण कर लेना चाहिये।

२. दर्शन (Inspection) यह कार्य वैद्य स्वयं करता है। उदर, वक्ष, मुख, आंख आदि अङ्ग-प्रत्यङ्गों की आकृति, क्रिया एवं वर्ण का यथासम्भव ज्ञान उक्त उपाय से होता है। इससे भी रोग के विशिष्ट रूपों का ही ज्ञान होता है। अतः यह भी रूपादि का बोधक होता है। इस विषय में सुश्रुत कहते है—**'चक्षुरिन्द्रियविज्ञेयाः शरीरोपचयापचयायुर्लक्षणबलवर्णविकारादयः ।'**

उदर की विस्तृति एवं क्रियाहीनता को देखकर जलोदर, उदरकलाशोथ (Peritonitis) तथा आध्मान आदि का अनुमान हो जाता है। नाभिपरिवृत्ति (Everted umbilicus) जलोदर की नियत ज्ञापिका (Cardinal point) है। केवल उदरविस्तृति से उदरगत अनेक रोगों का सन्देह होने पर अन्य उपायों से विशिष्ट रोग का निश्चय हो जाता है।

वक्षःस्थल की विस्तृति तथा क्रियाहीनता के दर्शन से उरस्तोय (Hydrothorax) तथा उरःपूय (Pyothorax) का अनुमान होता है। इसी प्रकार मुख की विशिष्ट आकृतियां तथा नेत्रगत सभी असामान्य परिवर्तन रोगविशेष के ज्ञापक होते हैं। यथा मुखपरिवृत्ति से अर्दित (Facial paralysis) तथा नेत्रों की पीतिमा से कामला का ज्ञान होता है। रोगी का विकट हास्य तथा हाथ–पैरों के आक्षेप और धनुषाकार हो जाना धनुःस्तम्भ (Tetanus) का सूचक है। उपर्युक्त व्याधियों के अतिरिक्त अन्य अनेक व्याधियों का पर्याप्त ज्ञान दर्शन द्वारा ही हो जाता है। विस्तारभयात् सबके उदाहरण प्रस्तुत में अपेक्षित नही।

३. स्पर्शन (Palpation)—यह कार्य भी वैद्य स्वयं करता है। उक्त विधि के द्वारा विकृत-

---

१. 'दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः। दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते ॥' तथा—'तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिः' सुश्रुतः ॥

स्थान की सीमा, मृदुता[1] कठिनता[2] स्पर्शनासहता[3] (Tenderness) जलपूर्णता (जलोदर) तथा अगों की असामान्य वृद्धि[4] स्थानविच्युति तथा अस्थिभग्नता[5] और शारीरिक तापक्रम[6] का ज्ञान किया जाता है। इन भावों से व्याधिविशेष का निश्चय होता है। ये विभिन्न व्याधियों के लक्षण (रूप) ही हैं। अतः स्पर्शन भी लक्षणों के ज्ञान का साधन ही है। स्पर्शज्ञेय लक्षणों का वर्णन सुश्रुत ने निम्न रीति से किया है-**'स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयाः शीतोष्णश्लक्ष्णकर्कशमृदुकठिनत्वादयः स्पर्शविशेषा ज्वरशोफादिषु।'**

४. **श्रवण** (Auscultation) स्टेथेस्कोप की सहायता से हृदय एव फुफ्फुस गत शब्दों की प्रकृति का ज्ञान किया जाता है। इन अङ्गों की वर्तमान दशा तथा तद्गत लक्षणों का बोध करने के लिये उक्त विधि कार्यकर होती है। इससे रुग्णावस्था में हृत्प्रदेश की विशिष्ट ध्वनियों (मर्मर तथा हृदयावरणसंघर्षजन्यध्वनि) तथा फुफ्फुस की विशिष्ट ध्वनियों (आर्द्र एवं शुष्क ध्वनि–Rales and Rhonchi) का ज्ञान किया जाता है। ये ध्वनियां रोगविशेष की ज्ञापक होने से रूप कही जाती हैं। एव परम्परया निदान (Mitral regurgitation आमवात तथा Aortic regurgitation फिरङ्गजनक निदान) का भी बोधन कराती हैं। अतः उक्त विधि को रूपग्रहण तथा निदानग्रहण में सहायक ही समझना चाहिये। श्रवणेन्द्रिय से रोगज्ञान का वर्णन करते हुए सुश्रुत कहते हैं - **'तत्र श्रोत्रेन्द्रियविज्ञेया विशेषा रोगेषु व्रणस्रावविज्ञानीयादिषु वक्ष्यन्ते, तत्र सफेन रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दो निर्गच्छति'**। पुरातन काल में उरःश्रवणयन्त्र का आविष्कार न होने से केवल श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ही उदरगत तथा अन्य विशिष्ट शब्दों का श्रवण किया जाता था।

५. **अङ्गुलिताडन** (Percussion) यह स्पर्शन एव यन्त्ररहित श्रवण का सम्मिलित रूप है। अङ्गुलि के ताडन से ताड्यमान अङ्ग की प्रकृति के अनुसार विभिन्न प्रकार की ध्वनिया (Resonant Hyperresonant & Dall.) उत्पन्न होती है। इन ध्वनियों की प्रकृति के अनुसार ही रोगी की स्वस्थता-अस्वस्थता, विशिष्ट रोग तथा निदान का भी ज्ञान होता है। फुफ्फुसगत तथा उदरगत रोगों के ज्ञान में यह विधि विशेष सहायक होती है। इसका अन्तर्भाव भी रूप एवं निदान में किया जा सकता है। प्राचीन ग्रन्थों मे साधारणतया इस विधि का पृथक् वर्णन नहीं मिलता है, किन्तु फिर भी वातोदर एव जलोदर का लक्षण करते हुए **'आध्मातदृतिवच्छब्दम्'** तथा **'यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्'** इन पक्तियो में उक्त विधि की ओर निर्देश है।

गन्धपरीक्षा रोग के रूप और साध्यासाध्यता का ज्ञान करने के लिये उपयोगी होती है। सुश्रुत ने कहा भी है—**'घ्राणेन्द्रियविज्ञेया अरिष्टलिङ्गादिषु व्रणानामव्रणानां च गन्धविशेषाः'** रक्तपित्त का कुणपगन्धित्व असाध्यता का द्योतक है।

प्राचीन की भांति पाश्चात्य वैद्यक में भी रसना को रोगज्ञान में प्रत्यक्ष कारण नहीं माना है। चरकने भी अन्य साधनों का वर्णन करते हुए—**'प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्त्वं बुभुत्समानः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्'** इस वाक्य के द्वारा जिह्वा के द्वारा

---

१. मृदुता—शोक या Oedema का यह विशिष्ट चिह्न है।

२. कठिनता—कफजगुल्म, कफज अर्श तथा अस्थिगत अर्बुद और Fibroid में यह विशेषता पाई जाती है।

३. स्पर्शनासहता—शोथयुक्त या Inflammatory रोगों का यह विशेष लक्षण है।

४. अंगों की असामान्यवृद्धि—यकृत तथा प्लीहा की वृद्धि विशेष महत्त्व के उदाहरण हैं।

५. स्थानविच्युति तथा अस्थिभग्नता—प्लवमान वृक्क (Floating kidney), सन्धिच्युति (Displacement) तथा भग्नोत्तर अस्थिविच्युति भी स्पर्शज्ञेय ही होते हैं।

६. शारीरिक तापक्रम—इसका बढ़ना शोथ तथा ज्वरों का निदर्शक है।

रोगज्ञान करना निषिद्ध माना है। फिर भी मधुमेह में पिपीलिकाभिसर्पण रोगज्ञान कराता ही है। अर्थात् चीटियों की जिह्वा रोग का ज्ञान कराती है—परीक्षक की नही।

उपर्युक्त व्याख्यान के अनुसार यह सिद्ध हो गया है कि परीक्षा दो प्रकार की होती है—रोगपरीक्षा तथा रोगिपरीक्षा। प्रश्न आदि से रोगी की परीक्षा होती है और निदानपञ्चक से रोग की। इसी का वर्णन वाग्भट ने निम्न रीति से किया है—

'दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्। रोगं निदानप्रागूरूपलक्षणोपशयाप्तिभिः॥'

दर्शन आदि निदानपञ्चक के ज्ञापक है, एव इनमें परस्पर बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध है। ये रोग के परम्परया ज्ञापक हैं। रोग का साक्षात् ज्ञान तो निदान आदि के द्वारा ही होता है-दर्शन आदि से नहीं। अतः माधवकरोक्त पञ्चनिदानलक्षण सदोष नही कहा जा सकता।

चरक ने प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आप्तोपदेश से व्याधि का ज्ञान करने का उपदेश किया है[१]। रोगिपरीक्षा के पूर्वोक्त ६ भेद ही प्रत्यक्षपरीक्षा है। प्रत्यक्ष वह है जो मन और इन्द्रियों की सहायता से जाना जाय[२]। षड्विध प्रत्यक्ष परीक्षा से रोग के लक्षणों का ही ज्ञान होता है, लक्षण और रूप एकार्थवाची ही है, अतः प्रत्यक्ष भी रूप का बोधक ही होता है।

'अग्निं जरणशक्त्या परीक्षेत बलं व्यायामशक्त्या' ये अनुमान के उदाहरण है। अग्नि की परीक्षा पाचन से होती है। पाचन का अभाव मन्दाग्निता, कादाचित्क पाचन विषमाग्निता तथा अतिमात्र भोजन का भी परिपाक हो जाना तीक्ष्णाग्नि का अनुमान कराता है। सम मात्रा मे भुक्त भोजन का सम्यक् विपाक समाग्नि का अनुमापक होता है[३]। इसी प्रकार व्यायाम की शक्ति से बल का अनुमान होता है। व्यायाम के अल्पप्रमाण से श्रान्त हो जाना दुर्बलता का परिचायक है। अपेक्षाकृत अधिक व्यायाम से भी प्रकृतिस्थ रहना सबलता का द्योतक है। पाचन शक्तिकी अल्पता से मन्दाग्निता तथा शीघ्रश्रान्तता से दुर्बलता का रूप ही व्यक्त होता है।

आप्तोपदेश भी रोग के निदानादि के ज्ञान में सहायक होता है। यथा—दोष इस प्रकार प्रकुपित होते हैं, उनके अमुक लक्षण हैं तथा उनकी शान्ति का अमुक उपाय है इत्यादि ज्ञान का साधन आप्तोपदेश[४] ही है। निदानपञ्चक के अध्ययन में आप्तोपदेश के विना प्रवृत्ति ही सम्भव नही अथवा अनवस्था की सम्भावना होगी। कतिपय विद्वान—

रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्। नाडीं मूत्रं मलं जिह्वां शब्दं स्पर्शं दृगाकृती॥

इन आठ स्थानों की परीक्षा का उपदेश करते है। वस्तुतः ये आठो भी निदानपञ्चक के ही बोधक हैं। इन सबसे सर्वप्रथम रोग के रूप का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् रोग का। यथा **'मन्दाग्नेः क्षीणधातोश्च नाडी मन्दतरा भवेत्'** यहां नाडी का मन्दतरत्व, मन्दाग्निता या क्षीणधातुता का द्योतक है। इसी प्रकार मूत्र और मल आदि के विशिष्ट वर्ण तथा अन्य स्वभाव विभिन्न रोगो के

---

१. 'द्विविधा खलु परीक्षा, प्रत्यक्षमनुमानञ्च, त्रिविधा वा सहोपदेशेन।' (च० वि० ८)

२. 'प्रत्यक्षं खलु तद् यत्स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते' (च० वि० ८)।

३. 'समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग् विपच्यते। स्वल्पापि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः। कदाचित् पच्यते सम्यक् कदाचिन्न विपच्यते। मात्रातिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते। तीक्ष्णाग्निरिति त विद्यात् ··· ॥'

४. तत्रेदमुपदिशन्ति बुद्धिमन्तः—रोगमेकैकमेवंप्रकोपणमेवंयोनिमेवमात्मानमेवमधिष्ठानमेवंवेदनमेवंसंस्थानमेवंशब्दस्पर्शरूपरसगन्धमेवमुपद्रवमेववृद्धिस्थानक्षयसमन्वितमेवमुदर्कमेवंनामानं विद्यात्, तस्मिन्निय़ं प्रतीकारार्था प्रवृत्तिरित्युपदेशाज्ज्ञायते। (च. वि. अ. ४)

रूपों का वर्णन करते हैं। यथा—मूत्र का गदलापन और प्राचुर्य प्रमेह का एवं पुनः पुनः अपक्व मल का निकलना ग्रहणी का रूप है।

'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥

उक्त स्थल पर मूत्र का हरिद्रा-सदृश वर्ण रक्तपित्त रोग के रूप का ही द्योतक है और वह रूप रक्तपित्त रोग का। मल, जिह्वा आदि विभिन्न रोग के रूपों का ज्ञान कराते है एवं रोगी की आन्तरिक अवस्था के द्योतक हैं तथा परम्परया रोग के भी। किन्तु रोगों की साक्षात् ज्ञापकता निदान-पञ्चक को ही है—यह निर्विवाद सिद्ध है। इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि रोगविनिश्चय के लिये निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति का ज्ञान कराना आवश्यक है। रोग का उत्पादक कारण होने से सर्वप्रथम अब निदान की व्याख्या की जाती है।

हेतु उत्पादक एव ज्ञापक भेद से दो प्रकार का होता है। निदान आदि पांचों में से निदान उत्पादक हेतु तथा पूर्वरूप आदि सब ज्ञापक हेतु कहे जाते हैं। सामान्य से दोनों प्रकार के हेतु (निदानादि पांचों) निदान शब्द से भी व्यवहृत होते हैं; क्योंकि निदान का अर्थ भी सामान्यरूप से हेतु या कारण ही होता है। इसी अभिप्राय से सुश्रुत ने भी कहा है–**'हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानि'**। अर्थात् हेतु (उत्पादक हेतु) और लक्षण (ज्ञापक हेतु पूर्वरूप आदि) का निर्देश करने के कारण इन (सोलह अध्यायों) को निदान कहते है। वहाँ निदान शब्द की निरुक्ति निम्न प्रकार से की गई है—**'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानम्—'** जिससे व्याधि का पूर्णतः ज्ञान हो उसे निदान कहते है। अतिसर्जनार्थक दिश् धातु से **'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'** इस सूत्र के द्वारा निपातन से निदान शब्द की सिद्धि होती है। **'निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानम्'** जिससे व्याधि का ज्ञान कराया जाय उसे निदान कहते हैं, यह जेज्जटोक्त निरुक्ति है। भट्टार हरिचन्द्र ने भी यही निरुक्ति स्वीकार की है। नि उपसर्ग है एवं यह निश्चयार्थक और निषेधार्थक होता है। प्रकृत में नि शब्द को निश्चयपरक ही समझना चाहिये। 'आज आप का निदान किया जायगा' इस लौकिक वाक्य का अर्थ व्याधिविनिश्चय ही समझा जाता है। इससे यह सिद्ध हो गया कि **'व्याधिनिश्चयकरणं निदानम्'** जिस उपाय से व्याधि का निश्चय किया जाय उसी को निदान कहते हैं। निदान शब्द की उपर्युक्त निरुक्ति से निदान आदि पाँचों का ज्ञान हो जाता है यह निदान शब्द व्यक्ति (उत्पादक निदान) तथा जाति (निदान पञ्चक) वाचक होने से दोनों पदार्थों में प्रयुक्त होता है। यथा तृण कथन से तृणविशेष तथा सामान्य तृण का भी बोध होता है। भट्टार हरिचन्द्र ने **'या गौः सुदोहा भवति न तां निदद्दीत'** 'अर्थात् जो गाय सरलता से दुही जा सके उसे न बांधना चाहिये।' इस व्यासवचन के अनुसार निदान शब्द को निबन्धनार्थक बताया है। तात्पर्य यह कि जिसके द्वारा हेतु पूर्व रूप आदि से युक्त व्याधियों का निबन्धन हो उसे निदान कहते हैं। यह अर्थ ग्रन्थोक्त निदानस्थान को लक्ष्य कर किया गया है। किन्तु वहां निदान, शब्द का अर्थ हेतु-पूर्वरूप आदि नहीं किया जा सकता; क्योंकि हेतु आदि पांचों 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' दोष होने से स्वसम्बद्धव्याधि का प्रतिपादन नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि कोई भी वस्तु अपने लिये ज्ञापक नहीं हो सकती, उसके लिये ज्ञापकान्तर की आवश्यकता पड़ती ही है। यथा—दीपक सम्पूर्ण वस्तुसमूह का ज्ञापक होते हुए भी स्वज्ञापन के लिये ज्ञापकान्तररूप चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा रखता ही है। इसी प्रकार हेतु-पूर्वरूप आदि का समुदायरूप निदान व्याधिज्ञापक होते हुए भी हेतु आदि का प्रतिपादक नहीं हो सकता। उसके प्रतिपादन के लिये प्रतिपादकान्तररूप निदानस्थान नामक प्रकरणविशेष अपेक्षित है। इस प्रकार अपना प्रतिपादन न करना ही 'स्वात्मनि क्रियाविरोध' कहलाता है।

व्याध्यारम्भकत्वात् प्रथमं निदानलक्षणमाह—

निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः ।
निदानमाहुः पर्यायैः, (वा. नि. अ. १)

निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान तथा कारण इन पर्यायों से निदान कहा जाता है अर्थात् निमित्त आदि शब्दों से जिस एक ही वस्तु का बोध होता है वही निदान है।

एषां निदानादीनां मध्ये समानासमानजातीयव्यावर्तककारणरूपनिदानस्य लक्षणमाह—निमित्तेत्यादिना पर्यायैरित्यन्तेन। एतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते तन्निदानं; यथा—'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्' (न्या. द. प्र. आ. सू. १५) इति। ननु किं मिलितैरेकैकशो वा ? नाद्यः, एकार्थाभिधायिनां शब्दानां मिलितानामप्रयोगात्; द्वितीयश्चेत्तदा सव्यभिचारः, निमित्तस्य शकुनादौ, हेतोः प्रयोजके कर्तरि, आयतनस्य स्थाने, प्रत्ययस्य लब्धादौ, उत्थानस्य उद्गमनोत्सर्गयोश्च दर्शनात्। नैवं, शकुनादीनां निमित्तादिभिः सर्वैरन, भिधानात्। अत एवाह-पर्यायैरिति। नहि तेषां ते पर्यायाः, यतः क्रमेणैकार्थवाचका शब्दाः परस्परं पर्याया उच्यन्ते। तस्मान्निमित्तादिशब्दैः पर्यायैरभिधीयमानत्वं निदानत्वम्। एतच्च पर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहारार्थम्। इदं तु संक्षेपतो लक्षणं—'सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्' इति। यन्मते दोषेतिकर्तव्यतारूपा संप्राप्तिरिष्यते तन्मते संप्राप्तिव्युदासार्थं 'सेतिकर्तव्यताक' इति पदं, तस्या, दोषोतिकर्तव्यतारूपाया इतिकर्तव्यतान्तराभावात्। यन्मते व्याधिजन्म संप्राप्तिः, तन्मते 'व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्' इति लक्षणम्। उभयत्रापि 'उत्पत्ति' पदं ज्ञप्तिहेतुपूर्वरूपादिव्यवच्छेदार्थम्। स च हेतुरनेकधाः; तत्र प्रथमं चतुर्विधः, यदाह उपकल्पनीयाध्याये हरिचन्द्रः—'सन्निकृष्ट-विप्रकृष्टव्यभिचारि-प्राधानिकभेदाच्चतुर्धा' इति। सन्निकृष्टो यथा—नक्तंदिनर्तुभुक्तांशा दोषप्रकोपस्य हेतवः, न ते चयादिकमपेक्षन्ते। विप्रकृष्टो यथा—'हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्' (सु. उ. अ. ६४); किंवा सन्निकृष्टो ज्वरस्य रूक्षादिसेवा, विप्रकृष्टो रुद्रकोपः। व्यभिचारी यथा—यो दुर्बलत्वाद् व्याधिकरणासमर्थः। यदाह चरकः-'(यदैते निदानादिविशेषाः) अबलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति, न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः' इति (च. नि. अ. ४)। प्राधानिको यथा—विषादिः। त्रिविधो वा, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-प्रज्ञापराध-परिणामभेदात्। तत्र, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगोऽयोगातियोगमिथ्यायोगयुक्ता रूपरसादयः, प्रज्ञापराधो मिथ्याज्ञानादिः, परिणामोऽयोगादियुक्ता ऋतुस्वभावजाः शीतादयः। 'अधर्मस्य च रोगहेतोरत्रैवान्तर्भावः' इति भट्टारहरिचन्द्रः, तस्यापि कालान्तरपरिणतस्य दुःखकर्तृत्वात्। चक्रस्तु प्रज्ञापराधे तस्यान्तर्भावमाह; मिथ्याज्ञानकृतब्रह्मवधादिजन्मनोऽधर्मस्य प्रज्ञापराध एव मूलं; बलाबलं त्वत्र न निरूप्यते, रोगकारणत्वेनाधर्मस्य सर्वथा सिद्धत्वादिति। दोषव्याध्युभयहेतुभेदाच्च स त्रिविधः। दोषहेतवे यथा—चयप्रकोपप्रशमनिमित्ता यथर्तूत्पन्ना मधुरादयः। व्याधिहेतवो यथा-मृद्भक्षणं पाण्डुरोगस्य कारणम्। यद्यपि मृदपि दोषं प्रकोपयत्येव; यदुक्तं चरके—'कषाया मारुतं, पित्तमूषरा, मधुरा कफम्' इति (च. चि. अ. १६) तथाऽपि तज्जैर्दोषैः पाण्डुरोग एवारभ्यते न त्वन्यो विकार इति व्याधिहेतुता भवति। उभयहेतुर्यथा वातरक्ते—'हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छताश्नतश्च' (सु. नि. अ. १) इत्यादि। तत्र यद्यपि दोषप्रकोपपूर्वकमेव व्याधिजननं, तथाऽपि दोषवद् व्याधावपि तस्य कारणत्वमिति बोधयति। तेन तत्र न व्याधिहरमात्रं भेषजं प्रयोज्यं, किंतूभयप्रत्यनीकम्। न च वाच्यं कारणभूतदोषनिवृत्त्यैव कार्यभूतस्य व्याधेर्निवृत्तिरिति; यतः प्रतिनियतशक्तिकानि भेषजद्रव्याणि भवन्ति; कथमन्यथा श्लैष्मिकतिमिरे श्लेष्मिहरमेव वमनं न प्रयुज्यते। यदुक्तं

सुश्रुते-'न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्' (सु. चि. अ. ३३) इति। स एवोत्पादकव्यञ्जकभेदाच्च द्विधा। तत्रोत्पादको यथा—हेमन्तजो मधुररसः कफस्य। व्यञ्जको यथा-तस्यैव कफस्य व्यञ्जको वसन्ते सूर्यसन्तापः इति भट्टारहरिचन्द्रः। तत्र व्यञ्जकः प्रेरक इत्यर्थः। बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च द्विधा। तत्र बाह्या आहाराचारकालादयः। एतदभिप्रायेण तीसटाचार्यः-'व्यायामादपतर्पणात् प्रपतनाद्भङ्गात् क्षयाज्जागराद्वेगानां च विधारणादतिशुचः शैत्यादतित्रासतः। रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभिः प्रकोपं व्रजेद्वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च॥ कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातपस्त्रीसंपर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभिः। भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां मध्याह्ने च तथाऽर्धरात्रिसमये पित्तं प्रकोपं व्रजेत्॥ गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्यद्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिष्प्रपूरैः। तुहिनपतनकाले श्लेष्मणः संप्रकोपः प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते' (चि. क. श्लो. २९-३१) इति। आभ्यन्तरा यथा-दोषा दूष्याश्च। तत्र,,दोषोऽपि प्रकुपितः प्राकृतादिभेदादनेकधा। प्राकृतो यथा-वसन्ते श्लेष्मा, शरदि पित्तं, प्रावृषि वायुः। वैकृतस्तु यथा-वसन्ते पित्तं वायुर्वा, वर्षासु कफः पित्तं वा, शरदि कफो वायुर्वा। अस्य प्रयोजनं सुखसाध्यत्वादि। यदुक्तं चरके— प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः' (च. चि. अ. ३) इत्यादि। अनुबन्ध्यानुबन्धभेदाच्च द्विधा। अनुबन्ध्यः प्रधानम्, अनुबन्धोऽप्रधानम्। यदाह चरकः-'स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः' (च. वि. अ. ६)। इति। अस्य प्रयोजनं संसर्गजे व्याधावनुबन्ध्यो विशेषेण चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधेन। तदुक्तं चरके-'तत्रोपद्रवस्य प्रायः प्रधानप्रशमात् प्रशमः' (च. चि. अ. २१) इति। उपद्रवोऽनुबन्धः। प्रकृतिविकृतितो यथा—वातप्रकृतेर्वातरोगः कष्टसाध्यो भवति, कफपित्तप्रकृतेस्तु सुखसाध्यः। यदाह सुखसाध्यलक्षणे चरकः-'न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत् (च. सू. अ. १०) इति। आशयापकर्षतो यथा—यदा स्वमानस्थितमेव दोषं स्वाशयादाकृष्य वायुः स्थानान्तरं गमयति तदा स्वमानस्थोऽपि स विकारं जनयति। यदाह चरकः-'प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये। स्थानादादाय गात्रेषु यत्र तत्र विसर्पति॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः। गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च' इति (च. सू. अ. १७)। अस्य प्रयोजनं वातस्यैव तत्र विगुणस्य स्वस्थानानयनं कार्यं, नतु पित्तस्य ह्रासनं; 'ये त्वेनां पित्तस्य स्थानाकृष्टिं न विदन्ति, ते दाहोपलम्भेन पित्तवृद्धिं मन्यमानाः पित्तं ह्रासयन्तः पित्तक्षयलक्षणं रोगान्तरमेवोत्पादन्त आतुरमतिपातयन्ति' इति भट्टारहरिचन्द्रः अन्ये त्वाहुः-भ्राजकादिभेदेन सर्वदेहस्थिते पित्ते यदा स्वाशयाकृष्टं पित्तमवयवान्तरमनिलेन प्रापितं तदा तदवयवान्तरस्थं पित्तमागन्तुपित्तसंबन्धेनाधिकमेव जातं, ततो वृद्धिलक्षणैवेयं दुष्टिर्न दुष्ट्यन्तरम्, अन्यथा दाह एव न स्यात्; नहि स्वमानस्थो दोषो विकारं जनयतीति। भट्टारहरिचन्द्रस्य त्वयमभिप्रायः-यद्यप्येवं तथाऽपि चिकित्साभेदार्थं वृद्धिक्षयव्यतिरिक्तस्थानान्तरगतिरूपो दुष्टिविशेषोऽवश्यमेवैष्टव्यः, अन्यथा वृद्धं पित्तमिति मत्वा विरेचनं पित्तह्रासनं वा कार्यं नच तत्तत्र योग्यं, किं तु स्वस्थानानयनम्। यच्चोक्तं चरकेण-'क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः' (च. सू. अ. १७) इत्यादि, तत् प्रायिकमिति। गतितो यथा—गतिर्दोषाणां क्षीणवृद्धत्वादयः। यदुक्तं चरके-'क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गतिः। ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च विज्ञेया त्रिविधा परा॥ त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु' (च. सू. अ. १७) इति। अत्र स्थानमिति समत्वम्। तत्र क्षयादिलक्षणं यथा-'दोषाः प्रवृद्धा स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्। क्षीणा जहति स्वं लिङ्गं, समा स्वं कर्म कुर्वते'

(च. सू. अ. १७) इति। एवं लिङ्गमिति कुपितस्य वायौ शैत्यादयो धर्माः, कर्माणि च; स्रंसशूलादीनि। यदाह चरकपाठसंवादी सुदान्तसेनः-'आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रतोदाः, कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपनं स्रंसशूलप्रभेदाः। पारुष्यं कर्णनादो विषमपरिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहाः विस्पन्दोद्वेष्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च॥ नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षौ, विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणशुषिरताच्छेदनं वेष्टनं च। वर्णः श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविश्लेषसङ्गा, विद्यात् कर्माण्यमूनि प्रकुपितमरुतः स्यात् कषायो रसश्च॥ विस्फोटाम्लकधूमकाः प्रलपं स्वेदस्रुतिर्मूर्च्छनं दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ। ऊष्माऽतृप्तितमःप्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्ता रसा, वर्णः पाण्डुविवर्जितः क्वथितता कर्माणि पित्तस्य वै। तृप्तिस्तन्द्रा गुरुता स्तैमित्यं कठिनता मलाधिक्यम्। स्नेहापक्त्युपलेपाः शैत्यं कण्डूः प्रसेकश्च॥ चिरकर्तृत्वं शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू। वर्णः श्वेतोऽलसता कर्माणि कफस्य जानीयात्॥ द्विदोषलिङ्गः संसर्गः सन्निपातस्त्रिलिङ्गकः'-इति। लिङ्गज्ञानप्रयोजनं च चिकित्साभेदार्थम्। यदाह सुश्रुतः-'क्षीणा वर्धयितव्याः, वृद्धा ह्रासयितव्याः, समाः पालयितव्याः' (सु. चि. अ. ३३) इति। ऊर्ध्वादिगतिर्यथा-ऊर्ध्वगं रक्तपित्तमित्यादि। अस्य प्रयोजनं रक्तपित्तस्योर्ध्वगस्य विरेचनम्, अधोगस्य वमनम्। यथोक्तं चरके-'प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते'-(च. नि. अ. २) इति। यस्तु गतिभेदानभिज्ञः सः 'विरेकः पित्तहराणां' (च. सू. अ. २५) इति वचनादधोगे रक्तपित्ते विरेकं प्रयुञ्जान आतुरस्यानर्थमेवापादयति; ज्वरादिषु तिर्यग्दोषगतिषु यथोक्तं चिकित्सितमिति। वृद्धा दोषाः कदाचित् कोष्ठं कदाचिच्छाखाः कदाचिन्मर्मास्थिसन्धीनाश्रित्य रुजन्ति; मर्मास्थिसन्धिषु गतिः कृच्छ्रसाध्यत्वापादकत्वादेकत्वेन निर्दिष्टा। कोष्ठ आमाशयादि; शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक्चेति, चरककृता एवताः संज्ञाः। कोष्ठाद्यभिधानप्रयोजनं चिकित्साभेदार्थम्। यथोक्तं चरके-'आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते। रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च' (च. सू. अ. १४); तथा—'सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः' (सु. उ. अ. ३९) इत्यादिः तथा—'नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च' (च. चि. अ. २५) इति। एते च दोषाः सामत्वनिरामत्वाभ्यामपि ज्ञातव्याः। यदुक्तं—'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥ आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः। सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥ स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः। आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलभेदारुचिक्लमाः। लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः।' (वा. सू. अ. १३)। वायुः सामो विबन्धाग्निसादतन्द्रान्त्रकूजनैः॥ वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत्। विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम्। स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि। निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः॥ विपरीतगुणैः शान्तिं स्निग्धैर्याति विशेषतः। दुर्गन्धं हरितं श्यामं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु॥ अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत्। आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम्॥ पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचिपक्तृबलप्रदम्। आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते। सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविघातकृत्॥ फेनवान् पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च। पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान् वक्त्रशुद्धिकृत्' इति। अस्य प्रयोजनं सामे पाचनं, निरामे शमनमिति। एते च दोषाः परस्परसंबद्धास्तरतमादिभेदेन द्विषष्टिधा भवन्ति। तदुदाहरणानि विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिख्यन्ते, सौश्रुतदोषभेदविकल्पाध्याये (उ. त. अ. ६६) द्रष्टव्यानि। उक्तहेतुदोषभेदयोः संग्रहश्लोकौ—'चत्वारो व्यभिचारिदूरनिकटप्राधानिकत्वात् पुनः, तेऽसात्म्येन्द्रियकार्थयुक्परिणतिप्रज्ञापराधास्त्रिधा। तद्दोषोभयकारणादपि तथा, द्वौ व्यञ्जकोत्पादकौ,

बाह्याभ्यन्तरभेदतोऽपि कथिता हेतोः प्रभेदा अमी॥ दोषस्य च प्राकृतवैकृताभ्यां, भेदोऽनुबन्ध्यादपि चानुबन्धात्। तथा प्रकृत्यप्रकृतित्वयोगात्तथाऽऽशयाकर्षवशाद्गतेश्च' इति निदानम्।

विमर्श—सम्प्रति समानजाति (ज्ञापक-निदान) तथा असमानजाति (पूर्वरूप आदि) से पार्थक्य करानेवाला कारणरूप निदान का लक्षण कहते हैं। निमित्त आदि शब्दों से प्रतिपादित अर्थ ही निदान है। **'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्'** न्यायदर्शन के इस सूत्र के समान शास्त्र में पर्यायवाचक शब्दों से भी लक्षण कथन की प्रथा है।

यहां सन्देह होता है कि क्या निमित्त आदि सब शब्द मिलकर निदान का बोध कराते हैं या पृथक्-पृथक्? क्योंकि लोक में एक ही अर्थ का प्रतिपादन करने वाले अनेक शब्दों का एकत्र प्रयोग नहीं किया जाता, अतः वे सब मिलकर तो निदान का बोध नहीं करा सकते। यदि कहा जाय कि वे पृथक्-पृथक् निदान के बोधक हैं तो व्यभिचार[1] (अतिव्याप्ति) के भय से ऐसा कहना भी उपयुक्त नहीं। यथा निमित्त के कथन से शकुन, हेतु से प्रयोजककर्ता, आयतन से स्थान, प्रत्यय से लट् आदि तथा उत्थान शब्द से उद्गमन और उत्सर्ग का बोध होता है। अतः अलक्ष्य में लक्षण जाने से अतिव्याप्ति दोष आता है। इस दोष के निराकरणार्थ पर्याय शब्द का उपादान किया गया है। अर्थात् निमित्त आदि पर्यायवाची शब्दों से कथित अर्थविशेष ही निदान कहा जाता है। इस प्रकार अतिव्याप्ति दोष नहीं रहता, क्योंकि शकुन आदि सभी निमित्त आदि शब्दों के पर्यायवाची नहीं होते। पर्यायवाचक शब्दों का प्रयोग लक्षण के अतिरिक्त शास्त्र में वर्णन-सौकर्य के लिये भी किया जाता है। निदान का वास्तविक लक्षण नीचे दिया जा रहा है।

निदान के लक्षण—

'सेतिकर्तव्यताकः[2] रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्'

पूर्वोक्त 'निमित्तादिपर्य्यायैरभिधीयमानत्वं निदानत्वम्' अर्थात् निमित्त आदि शब्दों से जिस किसी भी एक ही पदार्थ का बोध होता है उसे निदान कहते हैं। इस लक्षण से किसी विशिष्ट वस्तु का स्पष्ट निर्देश न होने से 'सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्' यह लक्षण ठीक है। जिसका अर्थ है 'कर्तव्य की अनेकताओं से युक्त अर्थात् दोषप्रकोपाणादि अनेक कार्यों को करते हुए जो रोग को उत्पन्न करता है उसे निदान कहते हैं। इस प्रकार विविध **अहित आहार विहार** जिनके सेवन से दोषों का प्रकोप होता है तथा वे दोष जो स्वयं दूषित होकर दूष्यों को दूषित कर रोग को उत्पन्न करते हैं, निदान कहलाते हैं। किन्तु 'दोष-दूष्य-संमूर्च्छन' जिसमें रोगोत्पत्ति के अतिरिक्त अन्य इतिकर्तव्यता नहीं होती उसे निदान नहीं कह सकते, वह तो सम्प्राप्ति है। इसी सम्प्राप्ति में निदान का लक्षण अतिव्याप्त न हो जाय इसलिये निदान के लक्षण में 'सेतिकर्तव्यताकः' पद दे दिया गया है। सम्प्राप्ति में रोगोत्पत्ति के अतिरिक्त इतिकर्तव्यता न होने से उसमें यह लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता। किन्तु जो लोग 'व्याधिजन्म' को ही सम्प्राप्ति मानते हैं उनके मत से **'रोगोत्पादकहेतुर्निदानम्'** इतना ही लक्षण पर्याप्त होता है। पूर्वोक्त वर्णन का स्पष्टार्थ यह है कि सम्प्राप्ति के सम्बन्ध में आचार्यों में थोड़ा-सा

---

१. 'एकस्यैकत्र नियतस्य लक्षणस्य लक्ष्येतरेऽपि गमनं व्यभिचारः।'

२. 'सेतिकर्तव्यताकः—कर्तव्यस्य इतिः (प्रकारः) इतिकर्तव्यम् तस्य भावः इतिकर्त्तव्यता तया सहितः सेतिकर्तव्यताकः, व्यापारवैविध्ययुक्तो हेतुर्निदानम्। एवं सति रूक्षादीनां भावानां वातादिप्रकोपणं दूष्याणामाशयानाञ्च दूषणादिरूपा च इतिकर्त्तव्यता वातादीनाञ्च चयप्रकोप-प्रसरस्थानसंश्रयदूष्यादिदूषणरूपाः' तस्माद्रूक्षादीनां वातादीनाञ्च निदानत्वम्।

मतभेद है। अहित आहार-विहार सेवन से प्रकुपित दोषों की विविध गति एवं उनके द्वारा दूष्यों का दूषित होना तथा उनका स्थानविशेष में आश्रित होकर उस स्थानविशेष या अवयव विशेष को विकृत करना ही सम्प्राप्ति है। इस विकृति के कारण ही ज्वरादि लक्षणसमूह उत्पन्न होते हैं जिन्हें रोग कहते हैं। यदि केवल रोगोत्पादक हेतु को निदान कहा जाय तो पूर्वोक्त भी निदान के अन्तर्गत आ जायगी। किन्तु 'सेतिकर्तव्यताक' विशेषण देने से अहित आहार-विहार एवं उनके द्वारा प्रकोपित दोष ही निदान के अन्तर्गत आते हैं क्योंकि उनमें इतिकर्तव्यता (अनेक व्यापार) होती हैं। सम्प्राप्ति में रोगोत्पादनमात्र व्यापार होता है विविध व्यापार नहीं अतः वह निदान में अन्तर्भूत नहीं होती।

दूसरे विद्वान् दोष-दूष्य-संमूर्च्छनादि जनित विकारों को ही रोग और विकारोत्पत्ति को सम्प्राप्ति मानते हैं, ज्वरादि तो विकृति के निदर्शक लक्षण या कार्यमात्र होते हैं। इनके मत से रोगोत्पादक हेतु मात्र को निदान मानने से कोई आपत्ति नहीं।

निदान का लक्षण रोगज्ञापक हेतु-पूर्वरूप आदि भी अतिव्याप्त न हो जाय अतः 'उत्पत्ति' शब्द भी लक्षण में सम्मिलित कर लिया गया है। पूर्वरूप आदि रोगज्ञान में कारण होते हैं रोग की उत्पत्ति में नहीं, अतः उनमें निदान के पूर्वोक्त लक्षण अतिव्याप्त नहीं होते हैं।

महर्षि चरक ने **'तत्र निदानं कारणमित्युक्तमग्रे'** निदान का यह लक्षण किया है। इसपर चक्रपाणि टीका करते हुए कहते हैं कि **तत्र निदानं कारणमिहोच्यते तच्चेह व्याधिजनकं व्याधिबोधकं च, तत्र व्याधिजनकं निदानं हेतुः, व्याधिबोधकं पञ्चकम्, किं वा निदान-शब्दो जनककारणवचन एव'** इस प्रकार व्याधि के सन्निकृष्ट कारण वातादि प्रकोप, विप्रकृष्ट कारण असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि एवं अपथ्य आहार-विहार सेवन रूप व्याधिजनक सकल कारणों का ग्रहण हो जाता है। वस्तुतः **'व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानम्'** यह लक्षण उक्त सूत्र का अनुवादमात्र ही है।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर रोगोत्पादक सकल बाह्य निमित्त-जीवाणु तथा मिथ्या आहार-विहार एवं आभ्यन्तर कारण दोषवैषम्य एवं दुष्ट दोष से दूषित-रसादि का भी निदान शब्द से ग्रहण हो जाता है। किन्तु श्री कविराज गणनाथसेन जी सरस्वती बाह्य निमित्त को ही निदान स्वीकार करते हुए कहते हैं—

'बाह्यं निमित्तं रोगाणां निदानमिति कीर्तितम्।
विधाय धातुवैषम्यं साक्षाद् वा रोगकारि तत्॥'

तात्पर्य यह है कि किसी बाह्य कारण आघात, जीवाणु एवं मिथ्या आहार-विहार आदि का शरीर से सम्पर्क हुए बिना रोगोत्पत्ति नहीं देखी जाती। अतः **'निदानं त्वादिकारणम्'** के आधार पर कविराज जी बाह्य निमित्त को ही निदान स्वीकार करते हुए रोग के समवायि कारण (दोष तथा दूष्य) एवं असमवायि कारण (दोषदूष्य-संयोग) के निदानत्व का खण्डन भी स्पष्ट भाषा में सिद्धान्तनिदान की टीका में निम्न रीति से करते हैं-**निमित्तपदं समवायि कारणानां दोषदूष्याणामसमवायिकारणस्य दोषदूष्यसंयोगस्य च वारणार्थम्'**। सर्वत्र ही रोगों में दोष एवं दूष्य को विकृत करने वाले आघात, जीवाणु एवं मिथ्या आहार-विहार ही होते है, ये बाह्य निमित्त ही हैं, अतः बाह्य निमित्त को ही निदान कहना चाहिये। यदि दोष एवं दूष्य को भी निदान स्वीकार किया जाय तो उसके आगे होने वाली सम्पूर्ण शृङ्खला को भी निदान स्वीकार करने में आपत्ति न होनी चाहिए क्योंकि वह भी रोगोत्पत्ति का कारण है। अतः केवल निमित्त कारण को ही निदान मानना ठीक है।

बाह्य निमित्त को ही निदान मानने पर सम्पूर्ण रोगों को आगन्तुज ही स्वीकार करना पड़ेगा एवं **'निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः'** का शास्त्रीय सिद्धान्त भी खण्डित हो

जायेगा ? इस शंका के निरासार्थ ही लक्षण में स्पष्ट किया गया है कि **'विधाय धातुवैषम्य साक्षाद्वा रोगकारि तत्'**। निज रोग दोषप्रकोपणपूर्वक तथा आगन्तुज दोषप्रकोप के बिना ही उत्पन्न हो जाते हैं। इस भेद से स्पष्ट है कि लूतादिघर्षणजन्य या शस्त्रादि-प्रहारजन्य रोग आगन्तुज एवं बाह्य निमित्त से दोषप्रकोपणपूर्वक होने वाले ज्वर आदि रोग निज कहे जाते हैं।

इस प्रकार आपाततः उक्त लक्षण में अनुपपत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती किन्तु विचार करने से इसकी अपूर्णता, युक्तिविरुद्धता एवं शास्त्रविरुद्धता स्पष्ट प्रतीत हो जाती है।

१. अधिष्ठान भेद से रोगों के मानसिक और शारीरिक दो प्रकार होते हैं। कारणभेद से भी निज और आगन्तुज दो भेद किये जाते हैं। आगन्तुज रोग प्रथम सर्वत्र ही बाह्य कारण-जन्य होते हैं, पश्चात् काल में ये भी दोषदुष्टि के कारण निजरूप धारण कर सकते हैं[1]। निज रोग दोष-प्रकोपजन्य ही होते हैं, यही आगन्तुज से इसकी विशेषता है, इस प्रकार निज रोगों को आभ्यन्तर प्रकोपजन्य कह सकते हैं। कविराज जी को भी **'विधाय धातुवैषम्यम्'** इस वचन के अनुसार आभ्यन्तर कारण दोष को भी मूक भाषा में रोग के प्रति मुख्य कारण स्वीकार करना पड़ा है। रोग के उत्पादक मुख्य कारण ही निदान हैं।

२. सम्प्रति सन्दिग्ध बाह्यनिमित्त शब्द का स्पष्टतया तात्पर्यज्ञान कर लेना भी आवश्यक है। शरीर से पृथक् किन्तु विशिष्ट काल में शरीर से संयुक्त होकर रोगोत्पादक जीवाणु, मिथ्या आहार आदि अथवा शरीरान्तर्गत अनावश्यक एवं असात्म्य पदार्थों में से किस को बाह्य स्वीकार करना अभिप्रेत है। प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर वेगविधारणजन्य सदृश शारीरिक रोगों को साक्षात् बाह्य निमित्त उपलब्ध न होने से अनिमित्त (निदान रहित) ही मानना पड़ेगा। द्वितीय अर्थ करने पर यद्यपि वेगविधारणजन्य कुछ रोगों में त्याज्यपुरीषादि का संचय बाह्य निमित्त माना जा सकता है तथापि तृष्णा एवं बुभुक्षा के वेगविधारण से उत्पन्न रोगों का कोई बाह्य निमित्त दृष्टिगोचर नहीं होता। परम्परासम्बन्ध से इनकी भी बाह्यकारणजन्यता स्वीकार करना चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से अनुपयोगी है। चिकित्सा में सहायक साधकों को ही रोगज्ञान में उपयोगी माना जाता है; क्योंकि चिकित्सा ही रोगज्ञान का फल है।

३. पित्तवर्धक वस्तु पित्तप्रकृति व्यक्ति में रोगोत्पत्ति तथा कफप्रकृतिक व्यक्ति में रोग शान्ति करती है। केवल बाह्यनिमित्त को निदान स्वीकार करने वाला पक्ष इस वैषम्य के कारण का स्पष्ट सन्तोषप्रद तथा चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी उत्तर नहीं दे सकता। आभ्यन्तर कारण मानने पर इसका स्पष्ट समाधान किया जा सकता है।

४. काम, क्रोध आदि मानसिक रोग हैं। एक ही वस्तु से विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न भावों की उत्पत्ति होती है। यथा—वस्तु का प्राप्तिकर्ता प्रसन्न, वञ्चित रहने वाला दुःखी या क्रुद्ध एवं उदासीन व्यक्ति उसके प्रति मूढ़ रहता है। यदि बाह्य निमित्त को ही विकृति का कारण माना जाय तो उक्त विभिन्न भावोदयता के कारण का प्रतिपादन करना दुष्कर है। आन्तरिक कारण को भी निदान स्वीकार करने पर इसके कारण को खोज निकालना कठिन नहीं है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसकी प्रत्येक जड़ तथा चेतन वस्तु भी त्रिगुणात्मक है। बाह्य त्रिगुणात्मक वस्तु के दर्शन से चेतन शरीरान्तर्गत विद्यमान गुणत्रय के विशिष्ट तत्त्व के अनुसार विभिन्न भावों का उदय होता है। अर्थात् सत्त्व प्रकृति वाला व्यक्ति सत्व गुण का ही ग्रहण करने से प्रसन्न, रज-प्रकृति दुःखी अथवा क्रुद्ध एवं तमःप्रकृति पुरुष उस वस्तु में मूढ़ रहता है। इस प्रकार बाह्य वस्तु आन्तरिक तत्त्वों की अपेक्षा करके ही विभिन्न भावों की उत्पत्ति करती है। इसी को आभ्यन्तर कारण कहते हैं। शारीरिक रोगों में भी विभिन्न व्यक्तियों द्वारा एक ही वस्तु के सेवन से विभिन्न परिणामों की उत्पत्ति प्रत्येक व्यक्ति में आन्तरिक कारण (दोष तथा दूष्य) भेद से होती है।

---

१. 'आगन्तुरन्वेति निजं विकारम्'।

५. वाग्भट ने प्रकुपित दोषों को ही रोग का साक्षात् निदान स्वीकार करते हुए स्पष्ट कहा है कि '**सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः**' । इसके अतिरिक्त चरक ने भी रोगों के आगन्तु एवं निज भेद करके निज रोग का कारण त्रिदोषवैषम्य को ही कहा है[१] । '**सर्वेषाञ्च व्याधिनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलम्**' वाक्य के द्वारा सुश्रुत सभी व्याधियों का मूल कारण त्रिदोष-वैषम्य को ही मानते हैं । इस प्रकार आयुर्वेद की बृहत्त्रयी के विरुद्ध होने से कविराज जी का बाह्यनिमित्त-वाद शास्त्रविरुद्ध भी प्रतीत होता है । अतएव विजयरक्षित जी ने '**बाह्याभ्यन्तर-भेदाच्च द्विधा-बाह्या आहाराचारकालादयः, आभ्यन्तरा दोषा दूष्याश्च**' वाक्य के द्वारा निदान के बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद को स्पष्ट कर दिया है । युक्तिसंगत एवं शास्त्रसम्मत होने से उक्त मत ही माननीय है ।

वस्तुतः प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के लिये समवायि, निमित्त और असमवायि तीन प्रकार के कारणों की अपेक्षा होती है । रोग भी एक कार्य है, अतः उसकी उत्पत्ति में दोषवैषम्य समवायि कारण, बाह्य आहार-आचार आदि निमित्त कारण तथा विकृत दोष एवं दूष्य का संयोग ही असमवायि कारण कहा जाता है । इस प्रकार रोग की उत्पत्ति में इन तीनों की उपस्थिति अनिवार्य है । तीनों की स्वतन्त्र सत्ता है तथा तीनों अन्योन्यप्रेरित भी हैं । ये परस्पर प्रतिद्वन्द्वी नहीं हैं, अतः सामान्यतः तीनों ही रोगोत्पत्ति में कारण माने जाते हैं । रोगविशेष के अनुसार इनमें प्रधानता या अप्रधानता हो सकती है । इस प्रधानाप्रधानता के आधार पर ही चिकित्सावैशिष्ट्य होता है । केवल बाह्यनिमित्त को निदान–मानना अपूर्ण, युक्तिविरुद्ध एवं शास्त्रविरुद्ध है ।

सम्प्रति निदान का विस्तार से निरूपण करते है । निदान विभिन्न विधियों से अनेक प्रकार का होता है—

(क) सर्वप्रथम इसके चार भेद हैं—१. सन्निकृष्ट । २. विप्रकृष्ट । ३. व्यभिचारी । ४. प्राधानिक । हरिश्चन्द्र ने इनका वर्णन उपकल्पनीय अध्याय में किया है ।

१. सन्निकृष्ट—रात्रि, दिन तथा भोजन के तीन-तीन विभाग दोष-प्रकोप के हेतु होते हैं । दिन के आदि में कफ, मध्य में पित्त तथा अन्त (सायंकाल) में वात का प्रकोप होता है । इसी प्रकार रात्रि के आदि, मध्य और अन्त एवं भोजन के भी तीन विभाग (आम, पच्यमान और पक्व) क्रमशः दोष–प्रकोप के हेतु होते है । इस प्रकोप के लिये सञ्चय की आवश्यकता नहीं होती । इसका यही स्वभाव है ।

२. विप्रकृष्ट—हेमन्त में सञ्चित कफ वसन्त में प्रकुपित होकर कफज रोगों को उत्पन्न करता है । यह विप्रकृष्ट अथवा दूरस्थ निदान कहा जाता है । इसके अतिरिक्त ज्वर का सन्निकृष्ट हेतु-रूक्षान्नपान सेवन एवं विप्रकृष्ट हेतु रुद्रकोप है । रुद्रकोप की ज्वरोत्पत्ति में कारणता का विवेचन ज्वर-निदान में किया जायगा । जीवाणुजन्य रोग निश्चित संचयकाल के पश्चात् होते हैं, अतः इन्हें भी विप्रकृष्टकारणजन्य कह सकते है । आघातजन्य सम्पूर्ण रोग सन्निकृष्टहेतुज होते है ।

३. व्यभिचारी—जो हेतु दुर्बल होने से व्याधि को उत्पन्न करने में असमर्थ होता है, उसे व्यभिचारी कहते हैं । अतएव चरक ने कहा है—'**अबलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः**' (च० नि० ४–५) अर्थात् निर्बल दोष और दूष्य का संयोग होने पर रोगोत्पत्ति नहीं होती । रोग की उत्पत्ति बाह्यनिदान तथा उससे प्रकुपित दोष और दूष्य की शक्ति पर निर्भर रहती है । यदि निदान अल्प है तो दोषदुष्टि भी सौम्यस्वरूप की ही होती है, फलस्वरूप दूष्य भी अल्पप्रमाण में ही दूषित होंगे । इस प्रकार शरीरान्तर्गत रोगप्रतिरोधक्षमता (Immunity) की प्रबलता के कारण रोगाक्रमण नहीं होता अथवा सौम्यस्वरूप का होता है । यदि निदान बलवान होगा तो दोष और दूष्य की दुष्टि भी सबल होगी । ऐसी अवस्था में रोग

१. 'निजस्य तु मुखं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यञ्च' (च० सू० २०–५)

अवश्य उत्पन्न होगा। इस प्रकार के अनिश्चित परिणाम वाले निदान को व्यभिचारी निदान कहते हैं। यह विषय चरक के निदानस्थान में निम्नरीति से प्रतिपादित किया गया है—

इह खलु निदानदोषदूष्यविशेषेभ्यो विकारविघातभावाभावप्रतिविशेषा भवन्ति। यदा ह्येते त्रयो निदानादिविशेषाः परस्परं नानुबध्नन्त्यथवा कालप्रकर्षाद्बलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः, चिराद्वाऽप्यभिनिर्वर्त्तन्ते तनवो वा भवन्त्यथवाऽप्ययथोक्तसर्वलिङ्गाः, विपर्यये विपरीताः' (च० नि० ४-४, ५)

प्रतिदिन अनेक असात्म्य एवं रोगोत्पादक जीवाणु तथा खाद्य-पेय का शरीर से निकटतम सम्पर्क होने पर भी रोगोत्पत्ति का न होना शारीरिक रोगप्रतिरोधक्षमता एवं निदान की दुर्बलता का द्योतक है। निदान की बलवत्ता तथा हीनरोगप्रतिरोधक्षमता के फलस्वरूप अनेकों में रोगोत्पत्ति देखी जाती है।

४. प्राधानिक—उग्र स्वभाव के कारण शीघ्र ही दोषों को प्रकुपित करके रोगों को उत्पन्न करनेवाला हेतु प्राधानिक कहलाता है। मारक विष[१] इस श्रेणी में आ जाते हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति में अपना प्रभाव निश्चित काल में अवश्य उत्पन्न करते हैं। आगन्तुक कारण भी प्राधानिक हेतु ही है।

(ख) पुनः हेतु तीन प्रकार का होता है—१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग। २. प्रज्ञापराध। ३. परिणाम।

१. असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग—श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों से शब्द आदि इन्द्रियार्थों का हीन, मिथ्या तथा अतियोग करना असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग कहलाता है। अतिभास्वर वस्तुओं का अधिक काल तक देखना चक्षु का अतियोग, बिलकुल न देखना अयोग एवं अतिदूरस्थ, भयकर, बीभत्स तथा गन्दी वस्तुओं को देखना मिथ्यायोग कहा जाता है। इनसे उत्पन्न होनेवाली व्याधियाँ असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगजन्य होती हैं। अन्य इन्द्रियों का भी हीनमिथ्यातियोग इसी प्रकार समझना चाहिए। यहाँ चक्षुमात्र का उदाहरण दिया गया है। सम्पूर्ण इन्द्रियार्थों के असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग का विस्तृत वर्णन चरक के तिस्त्रैषणीय अध्याय (च० सू० ११) में दिया गया है, पाठक वहां से ही देख सकते हैं।

प्रज्ञापराध—अयथार्थ ज्ञान से प्रेरित होकर कर्म करना ही प्रज्ञापराध है। बुद्धि, स्मृति तथा धैर्य के विलुप्त होने पर मनुष्य जो कार्य करता है उसी का नाम प्रज्ञापराध है। बुद्धिविनाश के कारण मनुष्य को वस्तुओं का यथार्थज्ञान नहीं रहता, वह सर्प सदृश विनाशक वस्तु को रज्जु तथा रज्जु को सर्प समझता है। धृतिविनाश से मनुष्य आपत्तिकाल में आत्मरक्षा के उपाय के ज्ञान से वञ्चित रहता है। इस प्रकार वह अहितकर पदार्थों से पृथक नहीं रह सकता। अहितकर आहार-विहार के सेवन से विभिन्न रोगों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले रोग प्रज्ञापराधजन्य कहे जाते हैं। संसार के समस्त संक्रामक रोगों का मूल भी प्रज्ञापराध ही है। फिरंग तथा उपदंश सदृश रोगों का मूल भी कामुकताजन्य प्रज्ञापराध ही है। सामान्यतः रोगों से रक्षा के लिये पूर्वजों का निम्न उपदेश है—

'दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतं वदेद् वाक्यं मनःपूतं समाचरेत् ॥'

इस उपदेश की अवहेलना करके जो बिना देखे ही चलते हैं उनको ठोकर लगने से प्रज्ञापराधजन्य आगन्तुज व्याधि होती है। देखकर चलना उपलक्षण मात्र है, अतः संसार के मनुष्योचित समस्त कर्मों का समावेश इसमें समझना चाहिए। वस्त्रपूत जल पीने का अभिप्राय भी विभिन्न रोगों से रक्षा करना है। मन को पवित्र रखना मानसविकारों से रक्षा का एकमात्र उपाय है। चरक ने प्रज्ञापराध की परिभाषा निम्न रीति से की है—

१. रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च।
विकाशि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत् स्मृतम् ॥

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत् कुरुतेऽशुभम्। प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम्॥'

चरक ने इसी प्रज्ञापराध को वाचिक, शारीरिक एवं मानसिक कर्मों के अनुसार तीन प्रकार का मानकर पुनः हीन, मिथ्या तथा अतियोगभेद से प्रत्येक के तीन-तीन भेद किये हैं[1]।

३. परिणाम—ऋतुओं के स्वाभाविक शीत आदि गुणों का हीन, मिथ्या तथा अतियोग होना ही परिणाम कहा जाता है। परिणामशब्द पारिभाषिक है। एवं चरक के अनुसार इसका अर्थ काल है[2]। इसके भी हीन, अति और मिथ्या योग रोगों के कारण होते हैं। उदाहरणार्थ—शिशिर ऋतु में शीत का कम होना शिशिर का हीनयोग, अत्यधिक होना अतियोग एवं कदाचित् उष्णता हो जाना मिथ्यायोग कहा जाता है। अन्य ऋतुओं में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। इनके द्वारा होनेवाली व्याधियाँ परिणाम (काल) रूप हेतु से उत्पन्न कही जाती है।

चरक के जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय में अधर्म को ही व्याधि का मूल कहा गया है[3]। श्री भट्टार हरिचन्द्र जी इसका अन्तर्भाव परिणाम में ही कर लेते हैं; क्योंकि अधर्म ही कालान्तर में परिणत होकर दुःख या व्याधि को उत्पन्न करता है। मिथ्या ज्ञान के कारण की गयी ब्रह्महत्या आदि के परिणामस्वरूप उत्पन्न अधर्म का मूल भी प्रज्ञापराध होता है। अतः चक्रपाणि इसका अन्तर्भाव प्रज्ञापराध में ही करते हैं। किसी भी पक्ष की बलवत्ता अथवा अबलवत्ता का निर्धारण करना प्रकृति में अपेक्षित नहीं है, क्योंकि अधर्म की रोगोत्पादकता दोनों पक्षों में सर्वथा सिद्ध है।

(क)—हेतु के पुनः तीन भेद हैं-१. दोषहेतु, २. व्याधिहेतु, ३. उभयहेतु (दोषव्याध्युभयहेतु)।

१. दोषहेतु—दोषों का संचय, प्रकोप एवं प्रशम कराने वाले स्वभावतः उत्पन्न मधुरादि रस दोषहेतु कहे जाते है जैसे शिशिर तथा हेमन्त में स्वभाव से मधुर रस की उत्पत्ति होती है तथा इस रस से कफ का सचय होता है। वसन्त में सूर्य की ऊष्मा से इस सचित कफ का प्रकोप होता है

'हेमन्ते निचितः श्लेष्मा (वसन्ते) दिनकृद्भाभिरीरितः।
कायाग्निं बाधते रोगांस्ततः प्रकुरुते बहून्॥' (च. सू. अ. ६)

२. व्याधिहेतु—दोषनिरपेक्ष निश्चित व्याधि का उत्पादकहेतु व्याधिहेतु कहा जाता है। मिट्टी खाना पाण्डुरोग का कारण है। यद्यपि मृत्तिका भी दोषप्रकोप करती है जैसा कि कहा है—**'कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्'** तथापि मृत्तिकाभक्षणजन्य दोषों से पाण्डुरोग ही उत्पन्न होता है, अन्य नहीं। अत मृत्तिकाभक्षण निश्चितरूप से पाण्डुरोग का उत्पादक होने से व्याधिहेतु कहा जाता है।

३. उभयहेतु—विशिष्ट दोष का प्रकोपक होते हुए विशिष्ट व्याधि का भी उत्पादक हेतु उभयहेतु कहा जाता है। हाथी, ऊँट तथा घोड़े सदृश यान पर चलने से वात की, विदाही अन्न के सेवन से पित्त और रक्त की वृद्धि होती है। लटके हुए अंगों और सन्धियों में इसका प्रभाव होता है। यान और विदाही अन्न मिलकर वातरक्त को उत्पन्न करते है, अतः इन्हें उभयहेतु कहना चाहिए। यद्यपि उक्त निदान से दोषप्रकोपणपूर्वक ही व्याधि की उत्पत्ति होती हैं तथापि जैसे वे निश्चित दोष के प्रकोपक हैं वैसे निश्चित व्याधि के उत्पादक भी हैं। अतः उन्हें उभयहेतु

---

१. कर्मवाङ्मनःशरीरप्रवृत्तिः। ' इति (अतियोगायोगमिथ्यायोगेति) त्रिविधविकल्पं त्रिविधं (वाङ्मनःशारीरम्) कर्म प्रज्ञापराध इति व्यवस्येत्। (च. सू. अ. ११)

२. कालः पुनः परिणाम उच्यते (च. सू. ११-४२)

३. सर्वेषामप्यग्निवेश! वाय्वादीनां यद् वैगुण्यमुत्पद्यते तस्य मूलमधर्मः, तन्मूलं वाऽसत्कर्म पूर्वकृतम्, तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। (च. वि. अ. ३)

४. हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं सविदाहोऽशनस्य।
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु।
तत्सम्पृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम्॥

कहा जाता है। दोनों हेतु मिलकर ही वातरक्त के उत्पादक हैं, अतः उनकी सत्ता को स्वतन्त्र समझना भी निर्मूल है। इस प्रकार वातरक्त में उभयविपरीत चिकित्सा की शरण लेनी पड़ती है। केवल वातहर औषधों का सेवन ही पर्याप्त नहीं होता अपितु रक्तशामक का प्रयोग तथा रक्तस्राव भी कराना पड़ता है। आमातिसार भी उभय हेतुजन्य होता है, अतः उसमें आमनाशक तथा अतिसारनाशक उभयविध चिकित्सा अपेक्षित है।

'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' कारण के नाश से कार्य का भी विनाश हो जाता है। इस न्याय के आधार पर व्याधि के हेतु दोष की शान्ति होने पर अन्य उपचार के बिना ही व्याधि की निवृत्ति स्वयमेव हो जायगी, इस प्रकार की शंका निर्मूल हैं; क्योंकि प्रत्येक औषधद्रव्य की शक्ति सीमित है। एक ही औषधद्रव्य व्याधि एवं प्रकुपित दोष का मूलोन्मूलन नहीं कर सकता। यदि औषधद्रव्यों की शक्ति सीमित नहीं है तो श्लैष्मिक तिमिर (मोतियाबिन्द) में श्लेष्महारक वमन का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता। इस अवस्था में वमन कराना निषिद्ध हैं। एवं चरक ने स्पष्ट कहा है-**न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनम्, न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्।'** इससे स्पष्ट है कि वमन से श्लेष्मारूप दोष की निवृत्ति होने पर भी तत्सम्भव तिमिरव्याधि का नाश नहीं होता अपितु हानि होती है। इसीलिये औषधद्रव्यों की शक्ति को परिमित माना गया है। इसी प्रयोजन से वातजशोथ में वातनाशक एवं शोथनाशक उभय प्रत्यनीक दशमूल के क्वाथ का प्रयोग किया जाता है।

(घ) हेतु के पुनः दो भेद हैं—१. उत्पादक (Predisposing Cause), २. व्यञ्जक (Exciting Cause),

१. उत्पादक—हेमन्त में उत्पन्न मधुर रस कफ का उत्पादक है।

२. व्यञ्जक—हेमन्त में सचित कफ पुनः वसन्त ऋतु में सूर्य के सन्ताप से द्रव होकर कफज रोगों को व्यक्त करता है, अतः वसन्त का सूर्यसन्ताप व्यञ्जक हेतु है।

(ङ) हेतु पुनः दो प्रकार का है—१. बाह्य हेतु २. आभ्यन्तर हेतु।

१. बाह्यहेतु—आहार, विहार, काल, जीवाणु, आघात, दंशक कीटों के विष, विद्युत् तथा अन्य मुखद्वारा सेवित विष आदि बाह्यहेतु हैं। ये सद्योमारक अथवा दोषप्रकोपणपूर्वक व्याधियों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। तीसटाचार्य ने प्रत्येक दोष को प्रकुपित करनेवाले बाह्यहेतुओं का संग्रह अतिसंक्षेप में निम्न रीति से किया है—

वातप्रकोपक कारण—अतिव्यायाम, अपतर्पण, (लंघन[1] तथा अत्यन्त लघु एवं शरीर को कृश करने वाले अन्य औषध अन्न-विहार के सेवन), ऊँची जगह से गिरने, शरीर के किसी अवयव के भग्न होने, क्षय, रात्रिजागरण, वेगविधारण, अतिशोक, शीत, अधिक भय, रूक्ष, क्षोभ, कषाय, कटु, तथा तिक्त पदार्थों के अत्यधिक सेवन से, वर्षाऋतु में, भोजन परिपाक के पश्चात् तथा सायंकाल के समय वायु का प्रकोप होता है।

पित्तप्रकोपक कारण—कटु, अम्ल, उष्ण, विदाही, तीक्ष्ण पदार्थ तथा लवण रस, क्रोध, उपवास[2], धूप, स्त्रीप्रसङ्ग, तिल, अलसी, दही, सिरका तथा कांजी का अधिक सेवन करने से, भोजन करने पर, तथा भोजन के परिपाक काल में, शरद् तथा ग्रीष्म ऋतु में, मध्याह्न के समय तथा अर्धरात्रि में पित्त का प्रकोप होता है।

---

१. यत्किञ्चिल्लाघवकरं देहे तल्लङ्घनं स्मृतम्।
चतुष्प्रकारा संशुद्धिः पिपासा मारुतातपौ।
पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्॥

२. उपवास की प्राथमिक अवस्था में पित्त की वृद्धि होने से भूख लगती है। दो तीन दिन पश्चात् भूख का अनुभव नहीं होता एवं वात की वृद्धि हो जाती है। इसीलिये उपवास को अवस्था भेद से दोनों का प्रकोपक कहा जा सकता है।

कफ के प्रकोपक कारण—गुरु, मधुररसप्रधान द्रव्य, अत्यन्त स्निग्ध पदार्थ, दूध एवं इक्षु-विकार (गुड, शर्करा आदि), द्रव पदार्थ, दही,[1] दिवास्वाप, अपूप (मालपुवा), घृत की बनी हुई पूड़ियां तथा घेवर आदि के सेवन से हेमन्त तथा शिशिर ऋतु में, प्रातःकाल, भोजन करने के तुरन्त बाद एवं वसन्त ऋतु में कफ का प्रकोप होता है।

२. **आभ्यन्तरहेतु**—शरीरस्थ दोष एवं दूष्य ही आभ्यन्तर हेतु है।

प्रकुपित दोष भी प्राकृत आदि भेद से अनेक प्रकार का होता है।

(क) प्राकृत दोष—वसन्त में कफ का, शरद् में पित्त का तथा वर्षा में वात का स्वभावतः प्रकोप होता है। इस प्रकार प्रकुपित हुए दोष 'प्राकृत' कहलाते हैं।

(ख) विकृत दोष—वसन्त में पित्त या वायु का, वर्षा में पित्त वा कफ का, शरद् में कफ या वायु का प्रकुपित होना 'वैकृत दोष' कहा जाता है। प्राकृत तथा वैकृत दोष की चर्चा करना सुख-साध्यता आदि के ज्ञान के लिये अपेक्षित है। चरक ने कहा भी है—

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः। वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः॥'

वसन्त एवं शरद् में होने वाला प्राकृतदोषजनित ज्वर सुखसाध्य होता है। इन ऋतुओं में वैकृतदोषज ज्वर कृच्छ्रसाध्य होता है। इसके अतिरिक्त वर्षाकाल में होने वाला प्राकृतदोष (वात-प्रकोप) जनित ज्वर भी वैकृत दोष के समान ही कष्टसाध्य होता है।

(ग) अनुबन्ध्य एवं अनुबन्ध भेद से भी दोष दो प्रकार के होते हैं। अनुबन्ध्य एवं अनुबन्ध का अर्थ क्रमशः प्रधान तथा अप्रधान होता है। चरक ने इनका विवेचन निम्न रीति से किया है-

स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः'

जो दोष स्वतन्त्र (अन्यदोषनिरपेक्ष) हो, जिसके लक्षण स्पष्टतः प्रतीयमान हों, जिसका प्रकोप एवं शमन शास्त्र में वर्णित रीति (स्वप्रकोपक निदान से प्रकोप तथा उसके विपरीत शमन) से हो उसे अनुबन्ध्य या प्रधान दोष कहते हैं। इसके विपरीत जो परतन्त्र (अन्यदोष की अपेक्षा रखने वाला अर्थात् प्रधान दोष के प्रकोप से प्रकुपित एवं शमन से शान्त होने वाला) हो, जिसके लक्षण स्पष्ट न हों (प्रधान दोष के प्रभाव से इसके स्वाभाविक लक्षण विकृत हो जाते हैं) एवं जिसका प्रकोप और प्रशमन शास्त्रोक्तविधि से न हो (इसका प्रकोप तथा प्रशमक प्रधान-दोषापेक्ष रहता है) उसे अनुबन्ध या अप्रधान दोष कहते हैं। तात्पर्य यह है कि संसर्गज व्याधि में दोष या तीनों दोषों का सान्निध्य रहता है। इनमें से एक व्याधि का जनक होने से अनुबन्ध या प्रधान कहा जाता है। अन्य दोष व्याधिजनकता दृष्टि से गौण होने के कारण अनुबन्ध, अप्रधान आदि पर्यायवाची शब्दों से व्यहृत होता है। अनुबन्ध दोष का विरोध (उत्तेजककारण का प्रयोग) न करते हुए अनुबन्ध्य की विशिष्ट चिकित्सा करना ही अनुबन्ध्यानुबन्ध ज्ञान का परम प्रयोजन है, यथा-कफप्रधान वातकफज व्याधि में स्निग्धोष्ण पदार्थ का व्यवहार न करके रूक्षोष्ण का ही व्यवहार करना चाहिए। चिकित्सा न करने पर भी अप्रधान दोष प्रधान की शान्ति होने पर स्वयमेव शान्त हो जाता है। इसकी पुष्टि में चरक कहते हैं—**'तत्रोपद्रवस्य प्रायः प्रधान-प्रशमात् प्रशमः'**। प्रकृत में उपद्रव शब्द भी अनुबन्ध के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। प्रायः शब्द के प्रयोग से सिद्ध है कि कदाचित् उपद्रव भी रोग का रूप धारण करके प्रधान के प्रशम होने पर भी रह सकता है।

(घ) रोगी की देह प्रकृति तथा विकृति या रोग के हेतुभूत दोष की दृष्टि से भी दोष का ज्ञान आवश्यक होता है।

---

१. कफपित्तकरा माषाः कफपित्तकरं दधि। कफपित्तकरा मत्स्या वार्ताकं कफपित्तकृत्॥
इसके अनुसार दही कफ एवं पित्त दोनों का वर्धक है।

देह प्रकृति सात प्रकार की होती है। वातिक आदि एकदोषज तीन, द्विदोषज तीन, तथा समदोषज एक। प्रत्येक प्रकृति वाले व्यक्ति में मिथ्या आहार-विहार से प्राकृतिक दोष और बढ़ सकता है अथवा कारणानुसार किसी अन्य दोष की विकृति हो सकती है। इस प्रकार विकृति (रोग) प्रकृतिसदृश दोषजन्य अथवा प्रकृतिविसदृश दोषजन्य हो सकती है। प्रकृतिसदृश दोष से उत्पन्न व्याधि 'कष्टसाध्य' तथा प्रकृति-विसदृश दोष से उत्पन्न व्याधि 'सुखासाध्य' होती है। यथा वातप्रकृति का वातरोग प्रकृतिसदृश होने से 'कष्टसाध्य' होता है, किंतु कफप्रकृति का वही रोग 'सुखर ' रहता है। इसी प्रकार कफज रोग कफप्रकृति में 'कष्टसाध्य' एवं पित्तप्रकृति या वातप्रकृति में 'सुखसाध्य' होता है। महर्षि चरक ने कहा है—

'**न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्**' अर्थात् दूष्य का दोषसदृश गुण वाला न होना[१] तथा प्रकृतिसदृश दोषजन्य विकृति का न होना 'सुखसाध्यता' का द्योतक है।

(छ) आशयापकर्ष भेद से भी दोषभेद होता है—सर्व शरीर व्यापक होते हुए भी प्रत्येक दोष का स्थान या आशय नियत है '**ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः**'। वाग्भटः। दोष का नियत स्थान से, स्वयं प्रकुपित न होते हुए भी प्रकुपित वायु से प्रेरित होकर अन्यत्र जाना ही 'आशयापकर्ष' है। आशयापकर्ष भी व्याधि का कारण होता है अतः इस प्रकार के दोष को आशयापकृष्ट नाम दिया जाता है। आशयापकृष्टि के द्वारा रोगोत्पत्ति का विवेचन मधुकोशकार ने 'यदा' इत्यादि से किया है। अर्थात्—जब वायु उचित मान एवं स्थान में स्थित किसी दोष को लेकर अन्यत्र जाता है तो शरीर में उचित मान में होते हुए भी वह दोष इस स्थान पर विकारोत्पत्ति करता है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन महर्षि चरक निम्न प्रकार से करते हैं—श्लेष्मा के क्षीण होने पर बढ़ा हुआ वायु उचित मात्रा एवं स्थान में स्थित पित्त को उसके प्रधान स्थान (ग्रहणी) से आकृष्ट करके शरीर के जिस भाग में लेकर घूमता है वहाँ अस्थिर स्वरूप में भेदनवत् पीड़ा (वायु के कारण), दाह (पित्त के कारण), श्रम एवं दुर्बलता का अनुभव होता है। चिकित्सा करते हुए विगुणवात की शान्ति और तत्प्रेरित दोष का उनके नियत स्थानों में पहुँचाना ही आवश्यक होता है नकि अपकृष्टदोष की भी शान्ति। पैत्तिक लक्षणों को देखकर पित्त का ह्रास न कराकर विगुण वात का शमन एवं पित्त को उसके नियत स्थान में पहुँचाने का प्रयत्न करना चाहिए। जो पित्त के स्थानापकर्ष को नहीं समझते वे दाह की उपलब्धि से पित्त की वृद्धि का अनुमान करके पित्तशामक क्रिया द्वारा शरीर से पित्त का ह्रास कराते हुए पित्तक्षयजन्य रोगान्तर को उत्पन्न करते हैं और रोगी की चिकित्सा न कर उसे और कष्ट पहुँचाते हैं। इसके परिणामस्वरूप पित्तक्षयजन्य अनेक रोगों के कारण रोगी की मृत्यु हो सकती है। यह मत भट्टारहरिचन्द्र का है। इस विषय में अन्य आचार्यों का कथन है कि पित्त—पाचक, भ्राजक, रञ्जक, साधक एवं आलोचक भेद से पाँच प्रकार का है तथा यह सर्वशरीरव्यापी है। वायु के द्वारा आकृष्ट पित्त जब अन्य अवयवों में स्थित पित्त के साथ मिलता है तो उन अवयवों में पूर्व से ही विद्यमान पित्त इस स्थानाकृष्ट पित्त से मिलकर अधिक हो जाता है। अतः यह दुष्टि पित्तवृद्धिजन्य ही हैं, वातजन्य नहीं। पित्तज दुष्टि न होने पर पित्त के कार्य—दाह, पाक, मूर्च्छा, भ्रम आदि की उपलब्धि असम्भव है; क्योंकि कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। यह भी सत्य है कि उचित मात्रा में स्थित दोष विकारकारी नहीं हो सकता। अतः दाह की उपलब्धि से पित्त वृद्धि की कल्पना करना स्वाभाविक है।

---

१. इसका विशद विवेचन 'प्रमेह-निदान' में किया जायगा।

२. प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये। स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र प्रसर्पति॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः। गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च॥
(च. सू. अ. १७)

भट्टार हरिश्चन्द्र के कथन का अभिप्राय यह है—यद्यपि यह ठीक है कि दाह आदि की अनुभूति पित्तवृद्धि के बिना नहीं होती तथापि पित्तवृद्धि की चिकित्सा से इस प्रकार की वृद्धि का भेद करने के लिये वृद्धि एवं क्षय के अतिरिक्त स्थानविच्युति (आशयापकर्ष) रूप दोष की दृष्टि का ध्यान भी अवश्य रखना चाहिए। तात्पर्य यह है कि दोषों की स्थानच्युति से भी रोगोत्पत्ति होती है, इसका पूर्ण ज्ञान वैद्य को अवश्य होना चाहिए। इसका पूर्ण ज्ञान न होने पर मूढतावश ऐसी अवस्था को पित्तवृद्धिजन्य समझने वाला वैद्य **'विरेकः पित्तहराणाम्'** इस वचन के अनुसार पित्तहरण के लिये विरेचन का प्रयोग करेगा। उक्त अवस्था में विरेचन कराना हानिप्रद होने से सर्वथा अनुपयुक्त एव निषिद्ध है। ऐसे रोगी में स्थानान्तरित पित्त का अपने स्थान में लाना ही उपयुक्त चिकित्सा है। स्थानान्तरित पित्त और वृद्धपित्त की चिकित्सा में परस्पर यही भेद है। इसी भेद के प्रतिपादन के लिये आशयापकर्ष का पृथक् वर्णन करना अनिवार्य है।

चरक मे कहा है कि—**'क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च विज्ञेया त्रिविधा गतिः'** अर्थात् दोषों की क्षय, वृद्धि एवं स्थान (सम) भेद से तीन अवस्थायें होती हैं। इसमें स्थानान्तरगमन का नाम भी नहीं है, फिर प्रकृति ने इसका वर्णन क्यों किया ? इसके लिये मधुकोशकार कहते हैं कि चरक का यह कथन प्रायिक है।

(च) गति-भेद से भी दोषभेद होता है—दोष की गति क्षीण, वृद्ध एवं सम भेद से तीन प्रकार की होती है। ये गतियाँ दोषों की विशिष्ट अवस्थाओं की सूचक हैं प्रकारान्तर से दोषों की गति ऊर्ध्व, अधः और तीर्यक् भेद से भी तीन प्रकार की होती है[1]। इससे दोषों की दिशा का ज्ञान होता है। ऊर्ध्वग रक्तपित्त, अधोग रक्तपित्त तथा ज्वर क्रमशः ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् गति के उदाहरण हैं। कोष्ठ, शाखा तथा मर्मास्थिसन्धि इन आश्रयों के भेद से भी दोषों की गति तीन प्रकार की होती है[2]। इससे प्रकुपित दोषों के स्थानसंश्रय का ज्ञान होता है। दोषों की क्षयादिरूप गति का ज्ञान निम्न लक्षणों के आधार पर होता है—'बढ़े हुए दोष अपनी शक्ति के अनुसार अपने स्वाभाविक लक्षणों को और भी व्यक्त करते हैं। क्षीण दोषों के स्वाभाविक लक्षण हीन होते हैं एवं सम दोष अपना कार्य सुचारुरूप से करते हैं। अपने लक्षण से तात्पर्य है कुपित वात आदि दोषों के रौक्ष्य आदि धर्म तथा स्रंसन और शूल आदि कर्म।

सुदान्तसेन ने वात आदि दोषों के आध्मान, स्तम्भ आदि अनेक कर्मों का पृथक् पृथक् वर्णन किया है[3]। प्रत्येक कर्म एक लक्षण है। चिकित्सा-वैशिष्ट्य के लिये इन लक्षणों का ज्ञान आवश्यक है। लक्षणों की अधिकता या न्यूनता के आधार पर दोषों की वृद्धि तथा क्षीणता का अनुमान सहज ही किया जाता है। इसका ज्ञान होने पर वृद्धि और क्षय के विपरीत चिकित्सा भी की जा सकती है। इसी आशय से सुश्रुत ने कहा है—**'क्षीणा वर्धयितव्याः, समाः पालयितव्या, वृद्धा ह्रासयितव्याः'**। अर्थात् क्षीण दोषों को बढाये, समान दोषों को प्रकृतिस्थ रखने का प्रयास करे तथा बढ़े हुए दोषों को कम करने का उपाय करना चाहिए।

ऊर्ध्वग और अधोग गति के उदाहरण क्रमशः ऊर्ध्वग रक्तपित्त एव अधोग रक्तपित्त है। पहिले में दोषों की गति ऊर्ध्वगामी और दूसरे मे अधोगामी रहती है। इस प्रकार ऊर्ध्वग रक्तपित्त में विरेचन और अधोग में वमन कराना ही गतिज्ञान का प्रयोजन है। चरक ने इसी उद्देश्य से

---

१. 'ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक् च विज्ञेया त्रिविधाऽपरा'।

२. 'त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु'। (अस्थिसधिषु = अस्थ्नां सधिषु न तु अन्य-सधिषु)।

३. दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति स्वं लिङ्गं समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥ (च. सू. १७।६२)

४. 'आध्मानस्तम्भरौक्ष्य' आदि वातादि दोषों के कर्म और लक्षणमधुकोश (पृष्ठ १९) में देखें।

कहा है—**प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते'**। रक्तपित्त में प्रवृत्ति के विपरीत मार्ग से दोष का निर्हरण कराना चाहिए। गति-भेद के ज्ञान से शून्य चिकित्सक **'विरेकः पित्तहराणाम्'** इस शास्त्र वचन के आधार पर अधोग रक्तपित्त में भी विरेचन करायेगा जिसके परिणामस्वरूप रोगी की अत्यधिक हानि होगी।

तिर्यग् गतियुक्त दोषों से उत्पन्न ज्वर सदृश रोगों में भी शास्त्रमतानुकूल चिकित्सा करनी चाहिए। इसी लक्ष्य से तिर्यग्गति का भी वर्णन किया है।

सम्प्रति दोषों की कोष्ठादि में होने वाली गति का वर्णन किया जाता है। वृद्ध दोष कभी कोष्ठ में, कभी शाखाओं में और कभी मर्मास्थि-सन्धियों में जाकर पीडा पहुँचाते हैं। कृच्छ्रसाध्यता सामान्य के कारण मर्म और अस्थि-सन्धि में दोषों की गति का वर्णन एकत्र ही कर दिया है। इन दोनों मे दोषों की गति होने से रोग कृच्छ्रसाध्य हो जाता है। अमाशय आदि कोष्ठ हैं[१]। रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र को धातु[२] एवं त्वचा को चरक ने शाखा नाम दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि त्वग्-विशिष्ट या त्वग्-विकृतिपूर्वक रक्तादि धातुओं की विकृति को शाखाश्रित विकार माना है। अन्यथा आशयादि स्थलों में भी रक्तादि धातुओं की उपस्थिति होती ही है फिर उनका और शाखाश्रित रोगों का पार्थक्य करना कठिन ही नहीं असम्भव होगा। त्वचाशब्द से त्वचास्थित रसधातु का भी ग्रहण हो जाता है। कोष्ठ, शाखा आदि का कथन चिकित्सावैशिष्ट्य के लिये किया गया है। भिन्न-भिन्न कोष्ठ या धातुओं में दोष की उपस्थिति होने पर चिकित्सा भी भिन्न २ होती है। चरक ने कहा भी है—(च. चि. अ २८)

आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते। रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च॥

आमाशय कफ का स्थान है अतः स्थान प्रभाव से आमाशयगत वात या पित्तदोष के साथ कफ का अनुबन्ध भी अनिवार्य है। आमाशयगत वात में स्नेहपूर्वक स्वेद वातशामक होते हुए भी कफवर्धक होने से अनुपयोज्य है। अतः ऐसी दशा में **'स्थानं जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधतः'**—स्थानस्थ अन्य दोष का विरोध न करते हुए स्थान के प्राकृत दोष को पहिले जीते—इस वचन के अनुसार कफनाशक रूक्षतापूर्वक कफ एवं वायुनाशन के लिये स्वेद का प्रयोग करना चाहिए। इस विषय में चक्रपाणि कहते हैं—**'आमाशयशब्देन कफस्थानं ज्ञेयं कफस्थानापेक्षया हि प्रथमं रूक्षणं क्रियते'**। इसी प्रकार पक्वाशय वात का स्थान है, तद्गत कफ की शान्ति के लिये वातशामक स्नेहन कराकर वात एवं कफशामक स्वेदन का प्रयोग कराना चाहिये।

'सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः' यह शाखागत दोष का उदाहरण है। सन्तत आदि ज्वर त्रिदोषज होते हैं, इनका आश्रयभूत धातु जान लेने पर धातु एवं दोष दोनों पर क्रिया करने वाली ओषधि का प्रयोग सुगमता से किया जा सकता है। चिकित्सा-सौकर्य के लिये इनका ज्ञान करना परमावश्यक है।

स्नायु, मर्म और सन्धिगत व्रणों में अग्निकर्म न करना चाहिए[3]। इससे मर्म और अस्थि-सन्धिगत दोषों के ज्ञान का फल भी स्पष्ट हो जाता है।

(छ) साम और निराम भेद से भी दोष-भेद होता है—अतः इस दृष्टि से भी इनका विचार करना आवश्यक है। दोषों की सामता एवं निरामता के लक्षणों और कार्यों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

---

१. आशयास्तु-वाताशयः पित्ताशयः श्लेष्माशयो रक्ताशय आमाशयः पक्वाशयो मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टमः। (सु. शा. अ. ५)

२. 'शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च' (च. सू. अ. ११)

३. 'नाग्निकर्मोपदेष्टव्यं स्नायुमर्मव्रणेषु च'। (च. चि. अ. २५)

आम—जठराग्नि के दुर्बल होने से आदि धातु रस का परिपाक नहीं होता। यह अपक्व एवं दुष्ट होकर आमाशय में रहनेवाला रस-धातु ही आम कहा जाता है। इस आम से युक्त वातादि दोष तथा रक्तादि दूष्य दूषित होकर 'साम' कहलाते हैं। साम दोष-दूष्य-सम्मूर्च्छनजन्य व्याधियाँ भी 'साम' नाम से ही व्यवहृत होती हैं। स्रोतस में अवरोध (मलमूत्र-संग तथा स्वेद की अप्रवृत्ति आदि), बलहानि, गौरव, वायु की मूढता (निश्चलता या अपान वायु का निस्सरण न होना), आलस्य, भोजन का परिपाक न होना, लालास्राव, मल की अतिप्रवृत्ति, अरुचि तथा क्लम (थकावट) ये 'साम दोषों' के लक्षण हैं, 'निराम दोषों' के लक्षण इनसे विपरीत होते हैं। यही सुश्रुत ने भी स्पष्ट करते हुए कहा है—

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च॥

आम जिस स्थान पर रहता है वहाँ शरीर (स्वकारणप्रकुपित) जिस दोष से दूषित रहता है उस दोष के तोद, दाह, गौरव आदि लक्षणों के साथ आमजनित स्रोतोऽवरोधादि लक्षणों से भी कष्ट होता है।

साम वायु के लक्षण—साम वायु विबन्ध, अग्निमान्द्य, आन्त्रकूजन, तन्द्रा[१], पीडा, शोथ तथा तोद (सूचिका-वेधनवत् पीडा) के द्वारा अंगों को पीडित करता है। शरीर में घूमता हुआ अत्यन्त प्रकुपित होकर एकदम जकड़ाहट उत्पन्न कर देता है। सामावस्था में ही स्नेहन आदि करने पर एवं सूर्योदय, वर्षाकाल तथा रात्रि के समय यह बढ़ जाता है।

पाचक पित्त की कमी से आमदोष की उत्पत्ति होती है। आम कफवर्ग की वस्तु है अतएव वातप्रकोपक कारणों के अतिरिक्त कफप्रकोपक आहार-विहार एवं काल की उपस्थिति में भी साम वायु के लक्षणों की अभिव्यक्ति अधिक मात्रा में होती है। अतएव कफवर्धक कारण; सूर्योदय आदि काल एवं स्नेहन से सामवायु की वृद्धि होती है।

निराम वायु के लक्षण—निराम वायु-विशद, रूक्ष, मलावरोध रहित तथा कम वेदना को करने वाला होता है। वायु के विपरीत गुणवाले विशेषतः स्निग्ध पदार्थों के सेवन से शान्ति को प्राप्त होता है।

साम पित्त के लक्षण—दुर्गन्धयुक्त, हरे या नीले वर्ण वाले, अम्लरस युक्त, स्थिर, गुरु एवं अम्लपित्त तथा कण्ठ और हृत्प्रदेश में दाह उत्पन्न करनेवाले पित्त को 'साम' कहते हैं।

निराम पित्त के लक्षण—ताम्रवर्णाभ पीला, अत्यन्त उष्ण, रस में चरपरा, अस्थिर (सर), गन्धरहित, रुचिप्रद तथा पाचन-शक्ति को बढ़ाने वाला पित्त 'निराम' कहलाता है।

साम कफ के लक्षण—साम कफ-गँदला, तन्तुयुक्त, जमा हुआ, दुर्गन्धयुक्त, भूख एवं डकार को नष्ट करने वाला होता है। यह कण्ठप्रदेश में अवस्थित रहता है।

निराम कफ के लक्षण—फेनयुक्त गाँठदार, पाण्डु (पीताभ श्वेत), निःसार एवं गन्धरहित कफ 'निराम' कहलाता है। यह मुख द्वारा बिना चिपके निकलता हुआ मुख की शुद्धि भी करता है। मुखशुद्धि कफनिस्सरण के पश्चात् ही होती है। अतएव छेदवान कहा गया है।

इस साम-निराम कथन का प्रयोजन भी चिकित्सा-विशेष ही है। साम दोष में पाचन तथा निराम में शमन करना चाहिए। सामदोष में रोगी को भोजन और औषध नहीं दिये जाते, दोष को स्वयमेव पचने का अवसर प्रदान किया जाता है। पाचन होने के पश्चात् दोषों के शमनार्थ औषध-प्रयोग किया जाता है।

परस्पर सम्बद्ध ये दोष तरतमादि भेद से बासठ प्रकार के होते हैं। उनके उदाहरणोंका वर्णन विस्तारभय से प्रकृत में सम्भव नहीं है। पाठक उनका विशद वर्णन सुश्रुत के दोष-

---

१. 'निद्रार्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्'।

विकल्पाध्याय तथा चरक सूत्रस्थान सत्रहवें अध्याय में देखें।

मधुकोषकार उपसंहार करते हुए हेतु और दोषभेद का संग्रह निम्न प्रकार से करते है—

हेतुभेद १—सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट, व्यभिचारी तथा प्राधानिक भेद से चार, २—असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम भेद से तीन, ३—व्याधिहेतु, दोषहेतु, उभयहेतु भेद से तीन, ४—व्यञ्जकहेतु, उत्पादक हेतु भेद से दो और ५—बाह्यहेतु तथा आभ्यन्तर हेतु भेद से दो भेद हैं।

दोषभेद १—प्राकृत तथा वैकृत २—अनुबन्ध्य एवं अनुबन्ध ३—प्रकृतिविकृति ४—आशयापकर्ष ५—गतिभेद ६—साम एवं निराम।

समाप्तं चेदं निदाननिरूपणम्

पूर्वरूपलक्षणमाह—

....प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥ ५ ॥
उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।
लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद् व्याधीनां तद्यथायथम् ॥६॥ (वा. नि. अ. १)

दोषविशेष के ज्ञान के बिना ही केवल उत्पद्यमान रोग जिन लक्षणों से जाना जाय उन लक्षणों या लक्षणसमूह को एवं अल्पता के कारण विशिष्ट व्याधि के विशिष्ट रूपों के ईषद् व्यक्त होने को 'पूर्वरूप' कहते हैं। अर्थात् जिस व्याधि के जो रूप हैं वे ही अल्प मात्रा में अभिव्यक्त हों तो उन्हें भी उस व्याधि का पूर्वरूप कहा जाता है (प्रथम 'सामान्य' तथा द्वितीय 'विशिष्ट' पूर्वरूप कहलाता है।)

निदानानन्तरीयकत्वात् पूर्वरूपादीनां तदनन्तरं प्राग्रूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि। द्विविधं हि पूर्वरूपं भवति, सामान्यं विशिष्टं च। तत्र सामान्यं येन दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः। यथा—'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं (सु. उ. अ. ३९); इत्यादि, तथा गुरुवाक्यबालप्रद्वेषादि; सामान्याभिप्रायेणैव। तन्त्रान्तरं—'व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते। भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणेन हि' इति। तथाऽऽह पराशरः—'पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः' इति। विशिष्टं यथा—उरःक्षतादौ लिङ्गान्येव वातादिजान्यव्यक्तानि। यदुक्तं तत्रैव—'अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम्' (च. चि. अ. ११) इति। तथा सुश्रुतः—'सामान्यतो, विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिस्तथा' इति (सु. उ. अ. ३९)। हारीतेऽप्युक्तम्—'इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः, विशेषतस्तु जृम्भाऽङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगि वातजम्' इत्यादि। ननु, चात्यर्थं व्यक्तत्वं ततश्च जृम्भादेरपि रूपत्वं प्रसज्येत; यद्वक्ष्यति—'तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते' इति (वा. नि. अ. १)। उच्यते; यथा श्रमादय इतररोगव्यतिरिक्तं भाविज्वरमात्रं बोधयन्तो न तु वातजत्वादिविशेषमित्यतस्तेषामव्यक्तत्वं, तथा पित्तादिज्वरव्यतिरिक्तं भविष्यद्वातज्वरमात्रं बोधयन्ति जृम्भादयः, न तु वातस्य रूक्षशीतधातुक्षयावरणादिजन्यत्वरूपविशेषं बोधयन्ति; इत्यतोऽव्यक्तवातज्वरबोधकत्वादव्यक्तत्वमेव जृम्भादीनामिति जेज्जटवाप्य—चन्द्र—माधवकर—कार्तिककुण्डादयो व्याचक्षते। अन्ये त्वाहुः—प्रभूताव्यक्तपूर्वरूपसहचरितस्य व्यक्तस्यापि जृम्भादेः, पूर्वरूपव्यपदेशः, यथा—माषराशिः; छत्रिणो गच्छन्त्येवमादि। न च व्यक्तत्वेन रूपादभेदः; नियमेन पूर्वरूपरूपयोर्भाविवर्तमानव्याधिबोधकत्वादिति। तत्र विशिष्टं प्राग्रूपं रूपावस्थायामनुवर्तत एव, तस्यैवाभिव्यक्तस्य रूपत्वात्; न तु दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितं रोमहर्षगुरुवाक्यबालप्रद्वेषादिकं नियमेनानुवर्तते, यद्यनुवर्तेत तदा

सर्वज्वराणामसाध्यत्वं प्रसज्येत। एतदभिप्रायेण, पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः' (च. इ. अ. ५)-इति चरकवचनमित्याहुः। तदेवं द्विविधे पूर्वरूपे व्यवस्थिते सामान्यपूर्वरूपमाह-प्राग्रूपमित्यादि। येन श्रमादिना, उत्पित्सुः सामग्रीसाकल्यादुत्पादेच्छुः, आमयो रोगः, दोषविशेषेण वातादिजन्यासाधारणवेपथ्वादिना, अनधिष्ठितोऽसंबद्धो, लक्ष्यते ज्ञायते, तत् प्राग्रूपमिति। विशिष्टप्राग्रूपमाह-'लिङ्गमव्यक्तमल्प-वाद्व्याधीनां तद्यथायथमि'ति। प्राग्रूपमित्यनेन पूर्वोक्तेन संबन्धः। लिङ्गं लक्षणम्, अव्यक्तं नात्यभिव्यक्तम्, अत्र हेतुरल्पत्वादणुत्वात्, तत्वाद्दर्शनादियोगादव्यक्तमित्यर्थः, यथायथं यस्य व्याधेर्यद्रूपं तदेवाव्यक्तं तस्य पूर्वरूपमित्यर्थः। अन्ये तु पूर्वरूपलक्षणमाहुः-'स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्। दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते' इति तन्नातियुक्तं, राजयक्ष्मणः पूर्वरूपस्य तृणकेशनिपातादेरदृष्टजन्यस्याव्यापकत्वात्। यदाह चरकः-'यक्ष्मिणां घृणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चातिवर्धनम्' (च. चि. अ. ८) इति। न च तदपि दोषजं, दोषाणां तृणादिभिरसंबन्धात् असंबद्धस्य च भावस्य कारणत्वेनादृष्टत्वात्, परम्परया तु संबन्धकल्पनयाऽतिप्रसङ्गात् सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्। एतद्दोषपरिजिहीर्षयैव परमकुशलेन वाग्भटेनादृष्टदोषजसकलपूर्वरूपसंग्राहकं यन्नेतिपदं निबद्धमिति मत्वा तदीयपूर्वरूपलक्षणमेव माधवकरो लिखितवान्। संक्षेपतस्तु लक्षणं 'भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्' इति। एवकारेण निदानोपशययोः संप्राप्तेश्च दोषेतिकर्तव्यतारूपाया व्यवच्छेदः, तेषां तज्जातीयानामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वात्। तथा हि-निदानंमृद्भक्षणरूपं भाविपाण्डुरोगमनुपशयरूपं च वर्तमानविशिष्टव्याधिं बोधयति; उपशयोऽपि पूर्वरूपावस्थाप्रयुक्तो भाविविशिष्टव्याधिं रूपावस्थाप्रयुक्तश्च वर्तमानविशिष्टव्याधिं, ज्ञापयति, संप्राप्तिश्च पूर्वरूपस्य मध्याह्नादावुत्पत्तिप्रकोपाभ्यां भविष्यद्विशिष्टव्याधिं, रूपस्य च मध्याह्नप्रकोपादिना वर्तमानविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति; इत्येषामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वम्। ननु, यदा पूर्वरूपविशेषं स्मृत्वोत्पन्नव्याधेर्विशेषावधारणं तदा पूर्वरूपमपि वर्तमानव्याधिबोधकं, यथोक्तं रक्तपित्तप्रमेहरूपसंदेहे चरकेण—'हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः' (च चि. अ. ६)—इत्यादि। अत्रोच्यते-किं व्याधिजन्मनः पूर्वं पूर्वरूपं गृहीतं न वा? आद्ये भाविव्याधिबोधकत्वमेव; द्वितीये स्मरणोत्पत्तिरेव न स्यात्, अनुभवाभावात्। अथोच्यते-पूर्वरूपं दन्तादीनां मलाढ्यत्वादिरूपं स्वरूपेणानुभूतमेव, किंतु प्रमेहपूर्वरूपतया न प्रतिभातम्; उत्पन्ने तु व्याधौ तत् स्मृतं प्रमेहविशेषमवधारयति। एवं तर्हि पूर्वरूपस्मरणं कारणं न तु पूर्वरूपं, रूपावस्थायां तस्य व्यपगतत्वात्। स्मरणं च प्रमाणमिति चेत्, सत्यं; किंतु पूर्वानुभवजनितसंस्कारोपस्थितस्मरणसहकृतं पूर्वरूपं व्याधिविशेषबोधकं, न तु केवलं स्मरणं; यथा-संस्कारोपस्थापितस्मरणसहकृतं चक्षुःप्रत्यभिज्ञायां प्रागवस्थाविशिष्टघटावबोधकं-सोऽयं घट इति। एवं स्मरणवदाप्तोपदेशोऽपि वाच्यं, तस्य च लिङ्गपदेन व्युदासः, भाविपदेन रूपस्य; लिङ्गपदेन चक्षुरादेः; तस्य घटज्ञानादिसाधारणत्वेनालिङ्गत्वात्! असाधारणं हि लिङ्गं भवति। एतच्च पूर्वरूपमविद्यमानस्यापि व्याधेर्लिङ्गं भवत्येव; यथा—विशिष्टमेघोदयो वृष्टेः। इति पूर्वरूपम् ॥ ५-६ ॥

विमर्शः—दोष-दूष्य-संयोग जब होता रहता है उस समय जिन साधारण लक्षणों के द्वारा उत्पद्यमान ज्वर आदि व्याधिमात्र का बोध हो उन्हें उस व्याधि का 'सामान्य पूर्वरूप' कहते हैं। इन लक्षणों के द्वारा केवल भावी व्याधि का ही ज्ञान हो सकता है, उसके वातादिजन्य भेदोपभेदों का नहीं। यथा—श्रम, अरति आदि को देखकर ज्वर मात्र का ही ज्ञान हो सकता है

किन्तु यह ज्ञान नहीं हो सकता कि ज्वर वातप्रधान होगा या पित्तप्रधान। अन्यत्र भी इसके लिये कहा गया है—'व्याधि की जाति (ज्वर, अतिसार आदि) तथा उसका भविष्य में होना पूर्वरूप (सामान्य पूर्वरूप) के द्वारा जाना जाता है। वह व्याधि किस दोष की उल्वणता से हो रही है इसका ज्ञान तो लक्षण या विशिष्ट पूर्वरूप के द्वारा ही होना है[१]। पराशर भी कहते हैं कि पूर्वरूप वह है जिससे भावी विशिष्ट व्याधि का ही बोध हो, दोष विशेष का नहीं[२]।

'विकारो धातुवैषम्यम्' अर्थात् धातुवैषम्य ही रोग है। इस प्रकार प्रत्येक रोग की प्रारम्भिक अवस्था में एक, दो या तीनों दोष संचय, प्रकोप प्रसरण एवं स्थान-संश्रय के द्वारा पूर्वरूप के लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। तब वाग्भट ने भावी व्याधि के लिये 'दोष विशेष से अनधिष्ठित' विशेषण पद प्रदान क्यों किया? इसके लिये एतावन्मात्र कहना पर्याप्त होगा कि उक्त विशेषण में ज्ञान पद को लुप्तनिर्दिष्ट मानकर असंगति की निवृत्ति कर लेनी चाहिए। तात्पर्य यह कि 'दोष-विशेषज्ञानानधिष्ठितः' दोष विशेष के ज्ञान से रहित भावी व्याधि जिस लक्षण समूह से प्रतीत हो उसे 'सामान्य पूर्वरूप' कहते हैं, ऐसा अर्थ करने से वाग्भटोक्त लक्षण की संगति भली-भाँति लग सकती है। इस प्रकार लक्षणों की संगति लगाना क्लिष्ट कल्पना है। वस्तुतः **'पूर्वरूपं प्रागुत्पत्ति-लक्षणं व्याधेः'** पूर्वरूप का चरकोक्त यह सामान्य लक्षण ही समुचित प्रतीत होता है। इस लक्षण के आधार पर सामान्य विशेष की कल्पना निरर्थक है। इस प्रकार भावी व्याधि का बोधन कराने वाले दोष विशेष-के ज्ञान से रहित या युक्त सभी लक्षण तथा दोष से असम्बद्ध (तथा अदृष्टजन्य राजयक्ष्मा के तृण-केशनिपात आदि) लक्षण भी पूर्वरूप की श्रेणी में आ जाते हैं।

विशिष्ट पूर्वरूप—उरःक्षत तथा वातव्याधि में वात आदि दोषों से उत्पन्न होने वाले अव्यक्त लक्षण (ईषद्व्यक्त रूप) ही विशिष्ट पूर्वरूप हैं, इन रोगों में सामान्य पूर्वरूप नहीं होते। इन अव्यक्त लक्षणों से उरःक्षत की वातजन्यता या पित्तजन्यता का स्पष्ट बोध हो जाता है। अतः इन्हें विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं। सुश्रुत ने कहा है कि—भावी वातज्वर में अत्यधिक जृम्भा, पित्तज्वर में नयनदाह तथा कफज्वर में अन्न के प्रति विद्वेष उत्पन्न हो जाता है[३]। हारीत संहिता में भी आठ प्रकार के ज्वरों का सामान्य पूर्वरूप कहने के उपरान्त वातिक ज्वर के पूर्व लक्षणों का वर्णन करते हुए जृम्भा, अंगमर्द एवं हृदयोद्वेग को विशिष्ट पूर्वरूप कहा है[४]।

कुछ समय पूर्व पाश्चात्त्य विद्वान् पूर्वरूप के प्रति उदासीन थे। किन्तु आज वे भी इसके महत्त्व को स्वीकार करने लगे हैं कि रोग के लक्षण प्रकट होने से (कुछ मास, दिन या घण्टे) पूर्व भी कतिपय लक्षणों की अभिव्यक्ति होती है। इनको ही पूर्वरूप कहना चाहिए। काल की दृष्टि से इन्हें दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—पूर्वग्रह—यह दौरे वाले रोगों में विशेषतः मिलता है। इसकी अभिव्यक्ति रोग लक्षणों की उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में होती है। दृष्टि का धुंधलापन (Dimness of vision) श्रवणभ्रम, विशिष्ट गन्ध एवं स्वाद की अनैमित्तिक या मिथ्या अनुभूति, सर्वशरीरगत सूचिका-भेदनवत् पीडा, उदर तथा हृत्प्रदेश में विचित्र अनुभूति एवं भ्रमसदृश लक्षणों का होना अपस्मार (Epilepsy) का पूर्व ग्रह है। इसी का नाम औरा (Aura) भी है। सब रोगियों में समान लक्षण नहीं होते अपितु विशिष्ट रोगी में दौरे की सूचना देने वाले विशिष्ट लक्षणों की अभिव्यक्ति कुछ काल पूर्व नियमतः होती है।

---

१. 'व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते। भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणेन हि ॥'
२. 'पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न दोषविशेषः'।
३. ......विशेषात्तु जृम्भात्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत् ॥
४. इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः। विशेषतस्तु जृम्भाङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगि वातजम् ॥

२—पूर्वरूप (Prodromata or Premonitory Signs) ये रोगोत्पत्ति के कुछ घण्टे, कुछ दिन या कुछ मास पूर्व भी हो सकते है अपस्मार के कुछ दिन या कुछ घण्टे पूर्व व्याकुलता, क्षुधानाश, शिरोवेदना, अल्पशक्तिता एवं निद्रालुता का अनुभव होता है। इसको पूर्वकालिक चिह्न कहते हैं। इसी प्रकार कुष्ठोत्पत्ति से पूर्व ज्वर, स्वेदप्रवृत्ति, वर्धमान दुर्बलता, अतिसार, नासा की क्रमिक शुष्कता एवं अतिस्रावता तथा नासागत रक्तस्राव का होना भावी ग्रन्थिक कुष्ठ (Nodular or Cutaneous type of leprosy) का बोधक होने से पूर्वरूप कहा जाता है। इसी प्रकार मस्तिष्कावसाद (Mental depression), शीतानुभूति, अरुचि, वातानाडिक पीड़ा (Neuralgic pain) तथा विषमस्पर्शता (Parasthesia) का होना वातनाडीजन्य भावी कुष्ठ का पूर्वरूप है। पूर्वरूप के कतिपय लक्षण ही रूपावस्था में भी उपस्थित रहते हैं सब नहीं। यथा ग्रन्थिक कुष्ठ के पूर्वरूप में स्वेदप्रवृत्ति होती है किन्तु रूपावस्था में वह नहीं पायी जाती।

अभी तक निदान, पूर्वरूप आदि निदान के साधनों का पाश्चात्य वैद्यक ग्रन्थों में विस्तृत एवं पृथक् विवेचन नहीं मिलता, तथापि ग्रन्थों में ये भाव यत्र तत्र विकीर्ण रूप में उपलब्ध हो जाते हैं।

जृम्भा की अत्यधिकता वातज्वर का पूर्वरूप है। व्यक्त होने पर विशिष्ट पूर्वरूप के लक्षणों को ही रूप कहा गया है। अत्यधिक वस्तु व्यक्त ही होती है अतः अत्यधिकता का अर्थ व्यक्त होने से व्यक्त जृम्भा को वातिक ज्वर का रूप ही कहना ठीक है; उसे पूर्वरूप क्यों कहें? इस शंका के समाधान के लिये निम्नलिखित बातों का विचार कर लेना आवश्यक है। विद्वानों का मत है कि व्याधि के बोधक लक्षण दो प्रकार के होते हैं—

१—सर्वाङ्गबोधक—अर्थात् कौन व्याधि है? और किस श्रेणी के निदान-सेवन से उत्पन्न हुई है—इत्यादि। इसी को रूप भी कहते हैं।

२—एकाङ्गबोधक—अर्थात् व्याधि किस श्रेणी की है तथा किस दोष के प्राधान्य से उत्पन्न होगी। जिससे केवल व्याधि की श्रेणी का ही ज्ञान हो उसे सामान्य पूर्वरूप और जिससे व्याधि-जनक दोष का भी ज्ञान हो किन्तु व्याधिज्ञापक अन्य लक्षण एवं व्याध्युत्पादक निदान के पूर्ण-स्वरूप का परिज्ञान न हो उसे विशिष्ट पूर्वरूप कहते हैं।

व्याधिबोधक लक्षणों का इस प्रकार तत्त्वज्ञान करने के उपरान्त जृम्भा आदि को रूप समझने की त्रुटि कदापि नहीं हो सकती। अतएव जिस प्रकार श्रम, अरति आदि लक्षण ज्वरमात्र (व्याधि के एकांगमात्र) का बोध कराते हैं व्याधिजनक दोष का नहीं, वैसे ही जृम्भा आदि लक्षण भी पैत्तिक आदि ज्वरों से भिन्न केवल वातिकज्वर (एकांगमात्र) का ही बोध कराते हैं, वातप्रकोपक कारणों (रूक्षता, शीतता, धातुक्षय तथा आवरण आदि) का नहीं। इस प्रकार रूप की अपेक्षा वे लक्षण भी अव्यक्त हैं, अव्यक्त होने से जृम्भा, नयनदाह तथा अन्न-विद्वेष को पूर्वरूप ही कहना चाहिए। जेज्जट, वाप्यचन्द्र, माधव तथा कार्तिककुण्ड इस मत के समर्थक हैं।

कुछ आचार्य जृम्भा आदि के रूपत्व का खण्डन भिन्न प्रकार से करते हैं। उनका तात्पर्य है कि पूर्वरूप के अनेक अव्यक्त लक्षणों के साथ रहने के कारण व्यक्त जृम्भा आदि लक्षणों में भी पूर्वरूप का ही व्यवहार रूढ हो गया है। यथा—माषराशि कह देने पर उसमें रहने वाले मुद्ग या अन्य अन्नों के दानों का भी समावेश उसी में हो जाता है, तथा जिस प्रकार 'छत्रिणो गच्छन्ति' इस वाक्य के कथन मात्र से छत्रधारियों के साथ एक छत्ररहित का भी ग्रहण हो जाता है, इसी प्रकार 'व्यपदेशस्तु भूयसा' व्यवहार प्राचुर्य पर आधारित है' इस न्याय के अनुसार प्रकृत में जृम्भा आदि का समावेश भी पूर्वरूप में ही समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि यद्यपि व्यक्त लक्षण होने के कारण जृम्भा को रूप कह सकते हैं, तथापि जृम्भा की अधिकता

होने पर भी तत्कालीन अन्य अनेक लक्षणों की अव्यक्ततता के कारण केवल जृम्भा को रूप नहीं कह सकते अपि तु जृम्भा को अन्य लक्षणों के साहचर्य से पूर्वरूप ही कहना उचित है।

यदि कहा जाय कि जृम्भा को पूर्वरूप मानने पर भी व्यक्त होने के कारण रूप से अभेद का साम्य तो स्वीकार करना ही पड़ेगा तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि यह नियम है कि-पूर्वरूप एवं रूप क्रमशः भावी और वर्तमान व्याधि के बोधक होते हैं। अर्थात् पूर्वरूप से भविष्य में होने वाली और रूप से वर्तमान व्याधि का ज्ञान होता है। पूर्वरूपावस्था की जृम्भा भी भावी व्याधि की ही बोधिका होने से पूर्वरूप ही है किन्तु विशिष्ट पूर्वरूप है। विशिष्ट पूर्वरूप तो रूपावस्था में आता ही है; क्योंकि उसीका व्यक्त होना रूप कहा गया है, किन्तु दोष और दूष्य के संयोग विशेष से उत्पन्न पूर्वरूप के सभी लक्षण रूपावस्था में व्यक्त नहीं होते। सब के व्यक्त होने पर सभी ज्वरों को असाध्य स्वीकार करना पडेगा। इसी अभिप्राय से चरक ने कहा है—पूर्वरूपावस्था में कहे गये ज्वर के सभी लक्षण अतिमात्रा में जिस रोगी को आक्रान्त करते हैं, उसकी ज्वर के कारण मृत्यु अवश्यम्भावी है[1]। इसीलिये पूर्वरूपावस्था के सभी लक्षण रूपावस्था में सर्वत्र नहीं आते। रूपावस्था में पूर्वरूप के कुछ ही लक्षणों की व्यक्तता सुखसाध्यता का द्योतक है।

इस प्रकार पूर्वरूप के दो भेद (सामान्य एवं विशिष्ट) निश्चित हुए।

कुछ विद्वान् पूर्वरूप का लक्षण निम्न प्रकार से करते हैं—

स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम्। दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते॥

अर्थात् कुपित होकर स्थान-संश्रय को प्राप्त हुए दोष भावी व्याधि का ज्ञापन कराने वाले जिन लक्षणों को उत्पन्न करते हैं वे लक्षण ही पूर्वरूप हैं। इस लक्षण में दोषकृत लक्षणों को ही पूर्वरूप कहा गया है। इससे चरकोक्त राजयक्ष्मा के अदृष्टजन्य तृण, केश, घुण तथा मक्षिका का अन्न-पान में गिरना[2] इत्यादि लक्षणों का इससे ग्रहण नहीं होता; क्योंकि ये दोषकृत नहीं है। अतः पूर्वरूप के सम्पूर्ण लक्षणों का संग्राहक न होने से उक्त लक्षण अव्याप्ति दोषयुक्त एव अमाननीय है। दोषों से असम्बद्ध होने के कारण तृण-केश-निपात आदि को दोषज मानना भी ठीक नहीं। परम्परा से दोषों को कारण कहने से सर्वत्र अतिव्याप्ति दोष आवेगा। इस प्रकार सभी वस्तुयें सब का कारण बन सकेंगी तथा कार्य-कारण भाव की सम्पूर्ण व्यवस्था ही नष्ट हो जायगी। अव्याप्ति तथा अतिव्याप्ति दोष की निवृत्ति करने के प्रयोजन से ही परमनिष्णात वाग्भट ने अदृष्टज तथा दोषज सब प्रकार के पूर्वरूपों का संग्रह करने के लिये सामान्यरूप से 'येन' पद दिया। माधव ने भाग्भटोक्त लक्षण ही दिया है। येन पद का अर्थ है कि जिस दोषज या अदृष्टज लक्षण से भावी व्याधि का ज्ञान हो उसे पूर्वरूप कहते हैं। इस लक्षण से कोई दोष नहीं रहता। चरकोक्त **'पूर्वरूपं प्रागुत्पत्तिलक्षणं व्याधेः'** लक्षण में भी उक्त दोष की आशंका नहीं रहती।

इस प्रकार पूर्वरूप का संक्षिप्त लक्षण है कि—**'भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपम्'** अर्थात् भावी व्याधि का ज्ञान करनेवाला लक्षण या लक्षण समूह ही पूर्वरूप कहा जाता हैं। इसमें पूर्वरूपत्वेन उत्पन्न सभी लक्षणों का समावेश हो जाता है। उक्त लक्षण में एक शब्द के प्रयोग से निदान, उपशय तथा दोष—व्यापारस्वरूप (**दोषेतिकर्तव्यतारूप**) सम्प्राप्ति में अतिव्याप्ति की निवृत्ति भी हो जाती है, क्योंकि निदान आदि सब वर्तमान एवं भावी दोनों प्रकार की व्याधियों के बोधक हैं केवल भावी के नहीं। यथा मिट्टी खाना (निदान) भावी पाण्डुरोग का बोधक है। पाण्डुरोग में मृद्भक्षण कराने से भी रोग की वृद्धि होती है, अतः यह अनुपशयरूप

---

१. पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः॥

२. यक्ष्मिणां घुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चाभिवर्धनम्॥

होकर वर्तमान व्याधिविशेष (पाण्डु) का भी बोध करता है। (अनुपशय भी वस्तुतः निदान ही है।) इसी प्रकार पूर्वरूपावस्था में प्रयुक्त उपशय से भावी व्याधि का तथा व्याधितावस्था में प्रयुक्त उपशय से वर्तमान व्याधि का बोध होता है। अर्थात् पूर्वरूप के लक्षण प्रकट होने पर किसी विशिष्ट उपशयात्मक (सात्म्य) पदार्थ के सेवन से भावी विशिष्ट रोग का निरोध होने पर उस विशिष्ट रोग का अनुमान पूर्वरूपावस्था में हो जाता है। यथा जृम्भाविशिष्ट ज्वर के पूर्व लक्षण होने पर घृतपान से यदि ज्वर का निरोध होता है तो भावी वातिक ज्वर का अनुमान सहज ही हो जाता है। इसी प्रकार उपशयभूत घृतपान भावि व्याधि का ज्ञापक है।[१] व्याधितावस्था में किसी विशिष्ट औषध से रोग-निवृत्ति या लाभ होने पर शास्त्रप्रतिपादित उस औषध से सम्बन्धित व्याधि का ज्ञान करना भी सुकर है। यथा शूल, सन्धिगत पीडा आदि लक्षणों में स्नेह-प्रयोग से लाभ होने पर वर्तमान वातव्याधि का, अज्ञातज्वर में क्विनीन प्रयोग से लाभ होने पर वर्तमान मलेरिया का तथा सज्वर पीडायुक्त सन्धिशोथ में गुग्गुल या सैलिसिलेट के प्रयोग से लाभ होने पर वर्तमान व्याधि आमवात का ज्ञान होता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपशय वर्तमान एवं भावी उभयविध व्याधियों का बोधक होता है।

प्रातः मध्याह्न एवं सायकाल तथा विशिष्ट ऋतु में व्याधि की उत्पत्ति एवं प्रकोप के द्वारा सम्प्राप्ति भी भावी और वर्तमान व्याधि का ज्ञान कराती है। तात्पर्य यह है कि यदि प्रातःकाल या वसन्त में व्याधि के लक्षणों की उत्पत्ति या वृद्धि होती है तो भावी या वर्तमान व्याधि को कफज समझना चाहिए। इसी प्रकार मध्याह्न या शरद् में वृद्धि होने पर पैत्तिक व्याधि तथा सायंकाल या वर्षा में वृद्धि होने पर वातिक व्याधि का अनुमान होता है। इस प्रकार निदान, उपशय और सम्प्राप्ति भावी एवं वर्तमान उभयविध व्याधियों का ज्ञान कराते हैं। अतः इन तीनों से लक्षण की निवृत्ति करने के लिये 'एव' शब्द का प्रयोग अनिवार्य है। जो केवल भावी व्याधि का ही ज्ञान कराये वही 'पूर्वरूप' हो सकता है, ऐसा लक्षण करने से अतिव्याप्ति दोष नहीं रहता; क्योंकि केवल व्याधि का बोधक 'पूर्वरूप ही है।

यहाँ सन्देह होता है कि यदि पूर्वरूप विशेष का स्मरण करके वर्तमान व्याधि विशेष का निश्चय किया जाय तो पूर्वरूप भी वर्तमान व्याधि का बोधक हो सकता है। यथा—रक्तपित्त तथा प्रमेह की सापेक्ष रोग-निश्चिति में चरक ने कहा है—

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥

प्रमेह की पूर्वरूपों की उत्पत्ति हुए बिना ही हरिद्रावर्ण एवं रक्तवर्ण का मूत्रत्याग करना रक्तपित्त रोग का निर्णायक है। वर्तमान व्याधि में पूर्वरूपों की सत्ता तो होती नहीं अतः प्रकृति में वर्तमान व्याधि का निर्णय करने के लिये पूर्वरूपों का स्मरण व्याधि-ज्ञान में कारण है। अतः पूर्वरूप केवल भावीव्याधिज्ञापक ही नही अपितु वर्तमान व्याधि का ज्ञापक भी हो सकता है? इस शंका के समाधान में एतावन्मात्र कहना पर्याप्त होगा कि—वर्तमान व्याधि के जन्म से पूर्व पूर्वरूप की उत्पत्ति हुई अथवा नहीं? यदि हुई तो व्याधि की उत्पत्ति के पूर्व में ही ज्ञान होने के कारण पूर्वरूप भावी व्याधिबोधक ही होता है। और यदि व्याधिजन्म से पूर्व पूर्वरूप की उत्पत्ति नहीं हुई तो अनुभव के अभाव से स्मृति की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती; क्योंकि योगदर्शन में **'अनुभूत विषयासम्प्रमोषः स्मृतिः'** अनुभूत विषय के मस्तिष्क में यथास्थित रहने को ही स्मृति कहा है। अर्थात् जिस वस्तु की उत्पत्ति नही या जिसका अनुभव ही नहीं, उसका स्मरण भी न होगा।

---

१. दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः। दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते॥

यह सम्भव है कि दाँतों का मैलापन आदि उत्पन्न हुए हों और उस समय प्रमादात् का किसी कारण से उनको प्रमेह का पूर्वरूप न समझा गया हो किन्तु स्वरूप से तो उनका ज्ञान पहिले भी रहता ही है। अब व्याधि उत्पन्न हो जाने पर उनका स्मरण किया जाता है और वह प्रमेह-विशेष (प्रमेह है या नहीं) का ज्ञान करा सकता है। अतः पूर्वरूप भावि व्याधि का ही बोधक होता है। अब शङ्का हो सकती है, कि प्रकृत में पूर्वरूप का स्मरण व्याधिज्ञान में कारण है पूर्वरूप नहीं, क्योंकि उसकी तो रूपावस्था में सत्ता ही नहीं रहती। और स्मरण को प्रमाण मानना ठीक नहीं ? (क्योंकि मिथ्या स्मरण भी हो सकता है) शङ्का तो ठीक है किन्तु व्याधिजन्म के पूर्व उत्पन्न पूर्वरूप, जिसका अब स्मरण किया जाता है, वही स्मरण के द्वारा भावि-व्याधि का बोधक होता है न कि केवल स्मरण, क्योंकि अनुभव से उत्पन्न जो संस्कार, उस संस्कार से उत्पन्न स्मृति की सहायता से पूर्वरूप ही वर्तमान व्याधि का बोधक होता है केवल स्मरण नहीं, स्मरण तो सहायक मात्र होता है। आप्तोपदेश को भी स्मरण के सदृश ही समझना चाहिये। अर्थात् आप्तोपदेश से ही किसी भी रोग के पूर्वरूप और रूप का ज्ञान होता है। इस प्रकार आप्तोपदेश ो भी पूर्वरूपत्व प्रसङ्ग नहीं होता क्योंकि वह भी स्मरण की ही भाँति व्याधि के रूप या पूर्वरूप ज्ञान में सहायक ही होता है। अतः पूर्वरूप के लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसीलिये लिङ्गपद का समावेश इस लक्षण में है। विशिष्ट व्याधि के विशिष्ट लक्षणों को ही लिङ्ग कहते है, आप्तोपदेश व्याधिसामान्य का ज्ञापक है अतः उसे लिङ्ग नहीं कह सकते। भावीपद देने से वर्तमान व्याधि बोधक 'रूप' में भी लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। चक्षु तथा निदान के अन्य साधनों (उरः श्रवणयन्त्र आदि) का निराकरण भी लिङ्गपद से ही हो जाता है। असाधारण ज्ञापक लक्षणों को ही लिङ्ग कहते हैं किन्तु ये सर्वसाधारण ज्ञापक हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पूर्वरूप अविद्यमान व्याधि का लिङ्ग असाधारण लक्षण) होता है। यथा विशिष्ट मेघ की उत्पत्ति वृष्टि का। इति पूर्वरूपम्।

उत्पन्नव्याधेलिङ्गं रूपं निरूपयति—

तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते।
संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृति ॥ ७ ॥ (वा. नि. अ. १)

व्यक्त हुआ पूर्वरूप ही 'रूप' कहलाता है। अर्थात् पूर्वरूपावस्था में प्रतीयमान अव्यक्त लक्षण ही जब व्यक्त होकर व्याधि के निदर्शक होते हैं तो उन्हें रूप कहते है। संस्थान, व्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण, चिह्न तथा आकृति ये रूप के पर्याय हैं ॥ ७ ॥

यद्यपि पूर्वरूपानन्तरं संप्राप्तिर्भवति तथाऽपि व्याधिस्वरूपज्ञानार्थं रूपमाह—तदेवेत्यादि। तदेव पूर्वरूपमेव व्यक्ततामुद्भूतताम्। ननु व्यक्तत्वं पूर्वरूपस्य किं कार्त्स्न्येन-एकदेशेन वा ? आद्ये सर्वज्वराणामसाध्यत्वं स्यात्, यदुक्तं चरके— पूर्वरूपाणि सर्वाणि' (च. इ. अ. ५) इत्यादि; द्वितीयेऽपि 'जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात्। पित्तान्नयनयोर्दाहः' (सु उ. ३९) इत्यादेरपि पूर्वरूपस्य रूपत्वप्रसङ्गः। नैवम्, अनभ्युपगमान्न कृत्स्नस्य नाप्येकदेशस्य, किं त्वनिर्धारितैकत्वानेकत्वविशेषस्य पूर्वरूपमात्रस्य व्यक्तस्य व्याधिलिङ्गत्वं; यथा—तार्णपार्णादिविशेषविरहेण धूममात्रस्य वह्निबोधकत्वम्। एवं व्यवस्थिते यदा सर्वस्याभिव्यक्तिस्तदा न साध्यत्वम्, अन्यथा तु साध्यत्वम्। न च जृम्भादे रूपत्वप्रसङ्गः, तस्य प्रागेव व्यक्तत्वात्; अव्यक्तं सद्व्यक्ततां यातं तस्य रूपत्वेनाभिधानात्, अपरप्रभूताव्यक्तलिङ्गसहचरितत्वेन पूर्वरूपरूपयोरसमानकालत्वेन च रूपत्वायोगादिति। ईश्वरसेनस्त्वाह— 'व्याधेः स्वरूपमव्यक्तं पूर्वरूपं, यद् व्यक्तं तद्रूपम्' इति। तन्न, विकल्पासहत्वात्। तथा हि-स्वरूपमिति किं स्वं रूपं स्वरूपम् ? आहोस्वित् स्वीयं रूपं स्वरूपम् ? स्वीयमपि धर्म-

कार्यं वा? न तावत् स्वरूपं स्वात्मनि क्रियाविरोधात्; रूपं हि व्याधिप्रतिपत्तिनिमित्त-मुक्तं तच्चेद् व्याधिस्वभाव एव तर्हि व्याधिस्वभावादेव व्याधिस्वभावः प्रतीयत इति व्यक्तः स्वात्मनि क्रियाविरोधः। नापि धर्मः, चरकोक्तकृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रत्वादेरर्शो-रूपत्वानुपपत्तेः। नहि कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रत्वादिकमर्शोधर्मं, अतन्निष्ठत्वात्; धर्माणां च धर्मिनिष्ठत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। नापि कार्यम्, उपद्रवादेरपि रूपत्वप्रसङ्गात्। तदपि कृच्छ्रसाध्यासाध्यव्याधेर्लिङ्गमिति चेत्? नैवम्, असाध्यत्वादेरेव तल्लिङ्गं, न तु व्याधे; तस्य पूर्वमेव ज्ञातत्वात्, भेदेनोपादानाच्च; तदुक्तं-'सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम्-इति। ननु, उपद्रवो न व्याधेः कार्यं किन्तु व्याध्यारम्भक-दोषस्य; यदुक्तं सुश्रुते 'स तन्मूलमूलक एवोपद्रवसंज्ञकः' इति (सु. सू. अ. १५); व्याचक्षते च टीकाकृतः—'तन्मूलं तद्दोषरूपं मूलं यस्य स तन्मूलः' इति। नैवम्, अपचारेण मूल-भूतदोषोपबृंहणलब्धबलश्चेद् व्याधिरुपद्रवं करोति तेन 'तन्मूलं' इत्युक्तवान्। अत एवाह चरकः—'कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति' (च. नि. अ. ८) इत्यादिना। सर्व-मेवैतत्स्वरूपशब्दवाच्यं क्वचित्किंचिदिति; तथा सति न व्यभिचार इति केचित्। तदपि व्यवस्थामात्रं स्यान्न तु लक्षणम्, एकस्य सकलरूपसंग्राहकस्य धर्मस्याभावात्, उपद्रवस्य च व्याधिस्वरूपत्वापत्तेश्चेति। तस्मात् 'उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिङ्गं रूपम्' इति लक्षणम्। 'उत्पन्न' इति पदं पूर्वरूपव्यवच्छेदार्थम्; एवकारोऽपि निदानसंप्राप्त्युपशयान् व्यवच्छि-नत्ति, तेषामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वात्; तच्च दर्शितमेव; लिङ्गपदेन चक्षुरादेर्व्युदासः। यन्मते व्याधिजन्मरूपा संप्राप्तिस्तन्मते तस्या लिङ्गपदेन व्यवच्छेदः, न हि सा व्याधिज्ञाने लिङ्गं, किन्तु कारणमात्रम्। शास्त्रे व्यवहारार्थनिदानवल्लक्षणार्थं च रूपपर्यायानाह-संस्थान-मित्यादि। ननु रूपेण व्याधिर्ज्ञायते, न च रूपव्यतिरेकेण व्याधिरुपलभ्यते; यतो मिलिता अरुच्यादय एव ज्वरः, कासाद्येकादशरूपाण्येव राजयक्ष्मा। उच्यते-नैवं, तथाविधदोष-दूष्यसंमूर्च्छनाविशेषो ज्वरादिरूपो व्याधिः तत्कार्याश्चारुच्यादयः, किंच अरुच्यादय एव प्रत्येकशो रूपाणि तत्समुदायो व्याधिः यतः समुदायिभ्योऽन्य एव समुदायः, यथा—खदिरतरूणां वनमिति, अन्ये तु राहोः शिरः शिलापुत्रस्य शरीरमितिवदसत्यपि भेदे भेद-विवक्षया समर्थयन्ते, नैयायिकास्तु तत्रापि भेदमापादयन्ति। ननु, 'विकारो दुःखमेव च' इति (च. सू. अ. ९) चरकवचनाद् दुःखस्यात्मगुणस्य कथमरुच्यादिसमुदायत्वम्? नैवं, दुःखयतीति दुःखमिति व्युत्पत्त्या दुःखहेतोर्धातुवैषम्यादेर्व्याधित्वस्वीकारात्। अरुच्या-दयस्तु स्वरूपेण विकारा एव, यदा त्वन्यप्रतिपादकास्तदा लिङ्गान्येवोच्यन्ते। यदाह चरकः—'ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे। व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानी-ष्टानि नामयाः'—इति (च. नि. अ. ८)। इति रूपलक्षणम् ॥ ७ ॥

विमर्श—यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि पूर्वरूप के सम्पूर्ण लक्षण व्यक्त होते हैं या कुछ? यदि पूर्वरूप के सम्पूर्ण लक्षणों की व्यक्तता को रूप माना जाय तो साथ ही प्रत्येक रोग को असाध्य भी स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि चरक ने कहा है—कि ज्वर या अन्य रोग के पूर्वरूपावस्था के समस्त लक्षण रूपावस्था में व्यक्त होने पर रोगी को मुमूर्षु समझना चाहिए[1]। पूर्वरूपावस्था के कुछ लक्षणों की अभिव्यक्ति को ही 'रूप' स्वीकार करने पर जृम्भा, नयनदाह तथा अन्नाभिकांक्षा सदृश विशिष्ट पूर्वरूप जो पहिले से ही व्यक्त होते हैं—उनका भी रूप की श्रेणी मे परिगणन करना पड़ेगा? इस प्रकार उभयपक्ष में दोष की सम्भावना है। इस विषय में

१. पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः॥
अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम्। विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्॥

शास्त्रकारों का मत है कि केवल सम्पूर्ण लक्षणों की अभिव्यक्ति या उसके एकदेश की अभिव्यक्ति रूप है ऐसा कोई नियम नहीं है अपितु एकलक्षण (एकदेश) या अनेकलक्षणनिरपेक्ष पूर्वरूप मात्र की अभिव्यक्ति ही रूप है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न रोगियों में किसी में कुछ और किसी में सम्पूर्ण लक्षण व्यक्त होते है और पूर्वरूप के व्यक्त हुए कतिपय अथवा सम्पूर्ण लक्षण रूप कहलाते हैं। यथा धूमसामान्य अग्नि का बोधक है, उसमें यह जानना आवश्यक नही कि वह अग्नि घास में है या पत्तों में। इसी प्रकार पूर्वरूप मात्र की अभिव्यक्ति ही रूप कहलाती है। अधिक या सम्पूर्ण लक्षणों की अभिव्यक्ति से व्याधि असाध्य तथा अन्य लक्षणों की अभिव्यक्ति से साध्य होती है। इस प्रकार एकदेश की अभिव्यक्ति को भी रूप स्वीकार करने पर जृम्भा आदि एकदेश की अभिव्यक्ति को भी रूप स्वीकार क्यों नही किया जाता ? इस का उत्तर है कि अव्यक्त रहकर पश्चात् व्यक्त होने वाला लक्षण ही रूप कहा जाता है। जृम्भा आदि तो पहिले से ही व्यक्त रहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक अव्यक्त लक्षणों के साहचर्य से तथा पूर्वरूप और रूप का काल भिन्न होने से (पूर्वरूप भावी व्याधि का ज्ञापक है और रूप वर्तमान का) पूर्वरूपकालीन जृम्भा आदि को रूप कहना अनुपयुक्त है।

ईश्वरसेन जी का कथन है कि व्याधि का अव्यक्त स्वरूप तथा व्यक्त स्वरूप रूप कहलाता है। किन्तु उक्त मत युक्ति एव तर्कसम्मत न होने से उपादेय नहीं है। विजयरक्षित इसकी तर्कहीनता निम्न प्रकार से सिद्ध करते हैं। क्या स्वरूप शब्द का विग्रह **'स्वं रूपं स्वरूपम्'** है या **'स्वीयं रूपं स्वरूपम्।'** यदि स्वरूप शब्द का विग्रह **स्वं रूपं स्वरूपम्** अर्थात् व्याधि का अपना रूप या स्वभाव ही व्याधि का रूप है ऐसा किया जाय तो ठीक नहीं; क्योंकि इससे **स्वात्मनि क्रियाविरोध**[1] की सम्भावना है। तात्पर्य यह है कि व्याधि का अपना रूप या स्वभाव ही रूप है और ज्ञेय भी है। निदानपञ्चक में रूप को व्याधिज्ञापक कहा है, इस प्रकार व्याधि के विशिष्ट रूप या स्वभाव को ज्ञेय और ज्ञापक दोनों स्वीकार करने पर स्वात्मनिक्रियाविरोध स्पष्ट हो जाता है। इसलिये स्वरूप शब्द का उक्त विग्रह करना उचित नहीं।

'स्वीयं रूपं स्वरूपम्' अर्थात् शरीर में पाये जाने वाले रोग के रूप ही व्याधि के रूप है, यह विग्रह भी ठीक नहीं प्रतीत होता। स्वीय रूप के दो अर्थ हो सकते हैं—स्वीयधर्म (व्याधि का धर्म) या स्वीयकार्य (व्याधि का कार्य)। स्वकीयधर्म विग्रह करने पर शास्त्र में कहे गये त्वचा, नख, दाँत, मल तथा मूत्र का कालापन आदि अर्श के लक्षणों को रूप नही कह सकते[2], क्योंकि धर्म धर्मी में ही रहता है अन्य में नहीं। नखादि का कालापन अर्श (शरीर में दृश्यमान मस्से रूप व्याधि) का धर्म नही है अपितु वह दोष का ही धर्म है। अतः धर्मिनिष्ठ न होने से त्वचा आदि के कालेपन को अर्श का धर्म नहीं मान सकते तथा धर्म न होने पर वह अर्श का

---

१. **स्वात्मनि क्रियाविरोध**—अपने में क्रिया का विरोध अर्थात् ज्ञेय या प्रमेय वस्तु का अपने लिये ज्ञापक या प्रमाण होना ही स्वात्मनिक्रियाविरोध है। कोई भी सासारिक वस्तु स्वतः प्रमाण नहीं है, उसके ज्ञापन के लिये ज्ञापकान्तर की अपेक्षा होती है। प्रकोष्ठस्थ दीप सम्पूर्ण वस्तुओं का दर्शक या ज्ञापक होते हुए भी अपने ज्ञापन के निमित्त चक्षुरूप ज्ञापकान्तर की अपेक्षा रखता है। प्रकृत में भी व्याधि का स्वभाव ही ज्ञेय है, उसी को व्याधि स्वभाव का ज्ञापक मानना अनुचित है। शास्त्र में यही स्वात्मनि क्रियाविरोध नाम से ख्यात है।

२. कृष्णत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्चपुरुषो भवति इति वातार्शसो लक्षणं सुश्रुते ॥
श्यावारुणपरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥
(च. चि. १४)

रूप भी नहीं कहा जा सकता । नखादिकों के कालेपन को परम्परया अर्श का धर्म स्वीकार करना क्लिष्ट कल्पना है एवं इस प्रकार सभी को सबका कारण स्वीकार करना पड़ेगा ।

स्वकीयकार्य यह विग्रह करना भी उचित नहीं, अन्यथा उपद्रव और अरिष्ट को भी व्याधि का रूप स्वीकार करना पड़ेगा । उपद्रव और अरिष्ट भी व्याधि के उत्तरकाल में होने से उसके कार्य कहे जा सकते हैं । यदि इष्टापत्ति मानकर उपद्रव और अरिष्ट को भी व्याधि की कृच्छ्रसाध्यता या असाध्यता का निदर्शक मानते हुए तत्कालीन व्याधि का रूप स्वीकार किया जाय तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि उपद्रव और अरिष्ट कृच्छ्रसाध्यता या असाध्यता के ही ज्ञापक हैं व्याधि के नहीं । व्याधि का ज्ञान तो उपद्रव उत्पन्न होने से पूर्व ही हुआ रहता है । इसके अतिरिक्त माधव ने उपद्रव आदि का कथन भी रूप से पृथक् करते हुए कहा है—'उपद्रव, अरिष्ट, निदान एवं लिङ्ग से युक्त इस रोग विनिश्चय नामक ग्रन्थ की मैं रचना करता हूँ[1] ।' इस प्रकार स्वरूप शब्द का विग्रह स्वकीय कार्य भी नहीं किया जा सकता । इन तर्कों की अकाट्यता के कारण ईश्वरसेनजी द्वारा प्रतिपादित रूप का लक्षण दूषित एवं अमाननीय है ।

उपद्रव व्याधि का कार्य है या व्याधिजनक दोष का ? इस विषय में कोई कहते हैं कि उपद्रव व्याधि का कार्य नहीं है अपितु व्याधि को उत्पन्न करने वाले दोष का ही कार्य है; क्योंकि सुश्रुत ने भी इसके समर्थन में कहा है—**'स तन्मूलमूल एवोपद्रवसंज्ञकः'** अर्थात् व्याधि का मूल दोष ही जिसका मूल या जनक हो उसको उपद्रव कहते हैं । इस प्रकार व्याधि के समान उपद्रव का मूल भी दोष होने से उपद्रव को दोष का कार्य कहना चाहिए, व्याधि का नहीं । किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि व्याधिजनक दोष की वृद्धि के कारण बढी हुई व्याधि ही उपद्रव को उत्पन्न करती है । इसी का प्रतिपादन **'तन्मूलमूल'** के द्वारा किया गया है । इस प्रकार उपद्रव के प्रति दोष को परम्परया कारणता है । साक्षात् कारणता तो बढी हुई व्याधि को ही है । अतः उपद्रव को व्याधिका ही कार्य समझना चाहिए, दोष का नहीं । इसी आशय से चरक ने भी कहा है :—

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति । न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च ॥
अर्थात् कोई रोग किसी रोग को उत्पन्न करके शांत हो जाता है और कोई उत्पन्न करने के बाद भी बना रहता है । यहाँ भी रोग को रोगान्तर या उपद्रव का जनक कहा है, दोष को नहीं ।

कतिपय विद्वानों का मत है कि स्वरूप शब्द की उपर्युक्त सभी व्याख्यायें स्वरूपशब्द के वाच्य हैं । किसी स्थल पर प्रथम और किसी पर दूसरी व्याख्या उपयुक्त है । इस प्रकार ईश्वरसेनजी के लक्षण में कोई दोष नहीं आता । तात्पर्य यह है कि क्वचित् **'स्वं रूपं स्वरूपम्'** और क्वचित् **'स्वीयं रूपं स्वरूपं'** (धर्मरूप या कार्यरूप) व्याख्या उपयुक्त है । यद्यपि यह ठीक है तथापि इसको (ईश्वरसेनजी के वाक्य को) व्यवस्था ही कह सकते है लक्षण नहीं । इसके अतिरिक्त व्याधि के सम्पूर्णरूपों का संग्रह करनेवाले किसी भी एक लक्षण के अभाव से उपद्रव को भी व्याधि का स्वरूप स्वीकार करना पड़ेगा । तात्पर्य यह है कि ईश्वरसेनजी ने कोई ऐसा लक्षण नहीं बनाया जिसमें व्याधि के सम्पूर्ण वास्तविक रूपों का संग्रह किया जा सके । इसके अतिरिक्त निश्चित लक्षण के अभाव से उपद्रव में भी व्याधिरूपता प्रतिभासित होने लगती है अर्थात् लक्षण अतिव्याप्त हो जाता है ।

इसलिए **'उत्पन्नव्याधिबोधकमेव लिङ्गम् रूपम्'** 'केवल उत्पन्न व्याधि का ज्ञान कराने वाला लिङ्ग (विशिष्ट लक्षण या चिह्न) ही रूप कहा जाता है' यही लक्षण उचित है । पूर्वरूप भावी व्याधि का द्योतक होता है, अतः उसकी निवृत्ति के लिये 'उत्पन्न' पद रक्खा गया है ।

---

१. 'सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते 'रोगविनिश्चयोऽयम्' ।

एवं शब्द का प्रयोग निदान, सम्प्राप्ति एवं उपशय में अतिव्याप्ति दोष की निवृत्ति करने के लिये किया गया है; क्योंकि ये उत्पन्न एवं अनुत्पन्न उभयविध व्याधि के निदर्शक हैं। लिङ्गपद रखने से चक्षु आदि सकल ज्ञानेन्द्रियों तथा निदान के अन्य साधन उरःश्रवण, सूक्ष्मवीक्षण आदि यन्त्रों की निवृत्ति भी सहज ही हो जाती है। यद्यपि यह भी व्याधि के ज्ञापक हैं तथापि इनको व्याधिज्ञापक लिङ्ग नहीं कह सकते; क्योंकि वस्तुविशेष के ज्ञापक कराने वाले असाधारण लक्षण या वस्तु को ही लिङ्ग कहते हैं, सामान्यज्ञापक को नहीं। चक्षु आदि सब रोगसामान्य के बोधक हैं। जो लोग व्याधिजन्म को ही सम्प्राप्ति मानते हैं उनके मत में सम्प्राप्ति की निवृत्ति भी लिङ्ग पद से ही हो जाती है क्योंकि वह सम्प्राप्ति व्याधिज्ञान में लिङ्ग नहीं हो सकती, अपितु वह केवल कारण मात्र है।

शास्त्र में व्यवहार के लिए तथा लक्षण के लिए भी पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसी आशय से निदान के समान प्रकृत में भी संस्थान, व्यञ्जन आदि शब्दों को रूप का पर्याय कहा है।

शंका होती है कि व्याधि का ज्ञान रूप या लक्षणों के द्वारा ही होता है और रूप से भिन्न व्याधि की स्वतन्त्र सत्ता भी नहीं है; क्योंकि शास्त्र में अरुचि तथा स्वेदावरोध आदि लक्षणों के समुदाय को ही ज्वर कहा है। इसी प्रकार ज्वर, कास एवं रक्तष्ठीवन आदि ग्यारह लक्षणों के समुदाय को राजयक्ष्मा माना है। इस प्रकार रूप और व्याधि में कोई अन्तर नहीं है?

इस पर विजयरक्षितजी कहते हैं—**'तथाविधदोषदूष्यसम्मूर्च्छनाविशेषो ज्वरादिरूपो व्याधिः, तत्कार्याश्चारुच्यादयः'**। अर्थात् दोष और दूष्य का विशेष प्रकार का संयोग व्याधि है। इसके कार्य अरुचि आदि हैं अथवा अरुचि आदि अलग अलग रूप हैं और उनका समूह ज्वरादि व्याधि हैं, क्योंकि अवयवसमूह को ही अवयवी कहते हैं इस प्रकार व्याधि लक्षणों से भिन्न होती है। यदि लक्षणसमूह को भी व्याधि मान लिया जाय तो भी कोई दोष नहीं आता; क्योंकि समुदाय या समूह (अवयव) समुदायी (अवयवी) से भिन्न होता है। यथा—**'खदिरतरूणां वनम्'** में षष्ठी प्रयोग के द्वारा खदिरतरुरूप समुदाय से वनरूप समुदायी को पृथक् माना है। तात्पर्य यह है कि खदिरतरु से षष्ठी का प्रयोग संयोगसम्बन्ध का सूचक है। यह सम्बन्ध दो पृथक् वस्तुओं का ही होता है। अतः खदिरतरु से वन की सत्ता को पृथक् मानकर अवयवों से अवयवी की सत्ता की पृथक्ता भी शास्त्रसम्मत है।

कुछ आचार्यों का मत है कि यथा **'शिलापुत्रस्य शरीरम्'** पत्थर से टुकड़े और उसके शरीर में, **'राहोः शिरः'** राहु और उसके शिर में (शिरोभाग ही राहु नाम से ख्यात है उससे पृथक् नहीं) भेद न होने पर भी भेद प्रदर्शित करने की इच्छा मात्र से भेदसूचक षष्ठी का प्रयोग किया जा सकता है। अतः समुदायी से समुदाय को पृथक् मानकर लक्षणों से व्याधि को पृथक् मानना भी उचित है। न्यायदर्शनकार ने तो अवयवों से पृथक् अवयवी की सिद्धि भी की है[१]। अतः इनमें षष्ठी प्रयोग वास्तविक भेद का सूचक है, विवक्षा का नहीं। विषयान्तर एवं विस्तार के भय से प्रकृत में न्यायदर्शनोक्त सम्पूर्ण युक्तियों का वर्णन करना अपेक्षित नहीं है।

व्याधि की परिभाषा का प्रश्न गूढ, विवदास्पद एवं प्राचीन है। आधुनिक शास्त्रवेत्ता व्याधि के लिये डिसीज (Disease) शब्द का व्यवहार करते हैं। सन्धिविच्छेद के द्वारा इसका सरल एवं संक्षिप्त अर्थ व्याकुलता (Dis+ease) ही निकलता है। यद्यपि व्याकुलता अनुभूति का विषय है और वह व्याधित को व्याकुलताजनक व्याधिनामक अन्य कारण से ही होती है, अतः

१. 'सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः' न्या० २।१।३४ तथा 'धारणाकर्षणोपपत्तेश्च' २।१।३५

व्याकुलता भी रोग का परिणाम है, रोग नहीं, रोग इससे भिन्न ही वस्तु है तथापि प्रकृत में व्याकुलता का अर्थक्षेत्र विस्तृत करने से शारीरिक धातुगत दृश्य या अदृश्य विकृति मात्र को व्याकुलता स्वीकार करने पर उपर्युक्त दोष की आशंका निर्मूल हो जाती है। लक्षण विकृति-स्वरूप न होकर विकृति वा व्याधि के निदर्शक ही हैं। यथा परिवर्तिनी मन्दता (Shifting dullness) जलोदर ही न होकर उसका निदर्शक ही है। इसी प्रकार सद्रव फुस्फुसावरणशोथ (Pleurisy with effusion) में पायी जानेवाली विकृतभाग की मन्दता एवं उसके उपरितन भाग की तीव्रस्वनता (Hyperresonance) उक्त रोग का निदर्शक ही है, तत्स्वरूप नहीं। विजयरक्षितजी भी **विशिष्ट प्रकार से दूषित दोष एवं दूष्य के विशिष्ट संयोग को** ही व्याधि मानते हैं, लक्षणसमूह को नहीं। अरुचि आदि लक्षण व्याधि के कार्य हैं, व्याधिस्वरूप नहीं।

अब यहाँ सदेह होता है कि चरक के **'विकारो दुःखमेव च'** इस वचन के अनुसार दुःख को हो विकार (रोग) कहा गया हैं। दुःख आत्मा का गुण है, वह अरुचि आदि का समुदाय कैसे बन सकना है। तात्पर्य यह है कि अरुचि आदि भौतिक गुण हैं और दुःख आत्मा का गुण है अतः वह अरुचि आदि का समुदाय कैसे हो सकता है? इसके लिये विजयरक्षितजी कहते हैं कि—**'दुःखयतीति दुःखम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार दुःख के हेतु धातुवैषम्य एवं उसके कार्य अरुचि आदि को ही व्याधि स्वीकार करने से सन्देह की आशंका नहीं रहती। यह धातुवैषम्य शरीर में ही होता है, आत्मा में नहीं। अतः अरुचि आदि इस प्रकार के दुःख या विकार के अवयव हो सकने हैं।

वस्तुतः ये अरुचि आदि भी स्वरूप से रोग ही हैं। किन्तु अन्य व्याधियों का प्रतिपादन-करने पर लिङ्ग कहलाने हैं। इसी आशय से चरक ने कहा—**'ज्ञानाय यानि चोक्तानि व्यालिलिङ्गानि संग्रहे। 'व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामयाः॥'** अर्थात् जिन व्याधियों का उल्लेख किसी विशिष्ट रोग के ज्ञापनार्थ होता है उन्हें उस अवस्था में लक्षण ही मानना चाहिए न कि व्याधि जैसे ज्वर रोग भी है किन्तु श्वास और रक्तपित्त आदि के साथ राजयक्ष्मा का एक लक्षण है। आजकल रूप को दो भागों में विभक्त किया जाता है :—१. **लक्षण** (Symptoms)—भूख, प्यास, मल-मूत्रत्याग, अरुचि, पेट की गड़बडी का भोजन से सम्बन्ध, वास की-कठिनाई, निद्रा की अवस्था, स्वप्नदर्शन आदि रोगी की अनुभूति के विषय हैं। अतः इन्हें व्याधितानुभूत लक्षण (Subjective Symptoms) कहते है। वैद्य इनका ज्ञान प्रश्न द्वारा करता है।

२. **चिह्न** (Signs)—श्वास के साथ उदर एवं वक्ष की प्राकृत या अप्राकृत गति, मुख, नेत्र, जिह्वा, मल-मूत्र आदि का विविष्ट वर्ण, इनकी कठिनता एवं मृदुता, यकृत्-प्लीहा की अवस्था, नाड़ी की गति तथा हृदय और फुफ्फुस की प्राकृत या अप्राकृत ध्वनियां वैद्य के ही ज्ञेय विषय हैं। अतः इन्हें वैद्यज्ञेयरूप या चिह्न (Objective Signs), इनका ज्ञान दर्शन (Inspection), स्पर्शन (Palpation), अंगुलिताडन (Percussion), उरःश्रवण (Auscultation) सदृश चतुर्विध साधनों से किया जाता है। एक्सरे आदि द्वारा ज्ञात विषय भी इसी श्रेणी में समझने चाहिए।

इति रूपनिरूपणम्।

क्रमप्राप्तमुपशयं वर्णयति—

हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम्। औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम्॥ ८॥ विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः। (वा. नि अ. ९)

हेतु विपरीत, व्याधि विपरीत, हेतु-व्याधि-उभय-विपरीत तथा हेतु विपरीत अर्थकारी (हेतु के समान प्रतीत होने पर भी विपरीत क्रिया करने वाला), व्याधि-विपरीत-अर्थकारी और हेतुव्याधि उभय विपरीतार्थकारी औषध, अन्न तथा विहार के परिणाम में सुखदायक उपयोग को उपशय कहते हैं। इसी का नाम सात्म्य भी है॥ ८॥

उपशयमाह—हेतुव्याधीत्यादि। हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च, व्याधिर्ज्वरादिः, एतयोर्हेतुव्याध्योर्व्यस्तसमस्तयोर्विपर्यस्ता विपरीताः एतयोरेव व्यस्तसमस्तयोर्विपर्यस्तार्थकारिणो निदानसमानधर्मिणोऽपि प्रभावाद्रोगप्रशमकारिणः, एवंविधा ये औषधान्नविहारा भेषजाहाराचारास्तेषामुपयोगमाचरणसुखावहं सुखकरमुपशयं विद्यादुपशयाख्यं जानीयाद्व्याधे। तस्य पर्यायमाह—स हि सात्म्यमिति स्मृत इति। चरकेऽप्युक्तं-'सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः' इति (च. नि. अ. १)। हिशब्दः पादपूरणे। सुखावहमिति सुखं रोगनिवृत्तिलक्षणं; यथा व्यपदिशन्ति लोके—भारापगमे सुखिनः संवृत्ताः स्म इति, तत् सुखमावहति सम्यगायत्याऽनुबन्धेन च करोतीति सुखावहम्। एतेन सदाहतृष्णानवज्वरिणः शीतलजलपानं तदात्वसुखकरमपि नोपशय इति तात्पर्यार्थः। अत्र, औषधान्नविहाराणामित्युपलक्षणं; तेन देशकालावपि बोद्धव्यौ। अत एव वृद्धवाग्भटेन व्याध्यादिविपरीतमभिधाय 'एतेन देशकालावपि व्याख्यातौ'-(वृ वा नि. अ.) इत्याख्यातम्। सुदान्तसेनोऽप्याह-सुखानुबन्धो यो हेतुव्याध्यादिविपरीतकः। देशादिकश्चोपशयो ज्ञेयोऽनुपशयोऽन्यथा' इति। संक्षेपतस्तु लक्षणम्-'औषधादिजनितः सुखानुबन्ध उपशयः' इति। स्रक्चन्दनवनितादिजनितसुखनिवृत्त्यर्थमौषधादिपदम्, अनुबन्धशब्दश्चापथ्यजनिततदात्वसुखव्यवच्छेदार्थः। एतदप्युदाहरणदर्शनपरं, न तु लक्षणम्; औषधादीनां हेतुविपरीतादीनां च परस्परव्यभिचारेण लक्षणत्वायोगात्। तस्मात् 'सम्यग्व्याधिजदुःखोपशमहेतुरुपशयः' 'सात्म्यमुपशयः' इति वा लक्षणम्; 'औषधजनितः सुखानुबन्ध उपशयः' इति वा लक्षणं; चरके आहाराचारदेशकाललङ्घनादीना द्रव्याद्रव्यभूतानामौषधत्वेनाभिधानात्। अथैषामुदाहरणानि; तत्र हेतुविपरीतानि। औषधं यथा-शीतज्वरे शुण्ठ्याद्युष्णं भेषजम्। यदुक्तं-शीतेनोष्णकृतान् रोगान् शमयन्ति भिषग्वराः। ये तु शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्'-इति (च वि. अ ३)। अन्नं यथा-श्रमानिलजे ज्वरे रसौदनः। विहारो यथा-दिवास्वप्नोत्थे कफे रात्रौ जागरणमिति। अथ व्याधिविपरीतानि। औषधं यथा-अतिसारे स्तम्भनं पाठादि, तथा शिरीषो विषं हन्ति, खदिरः कुष्ठं, हरिद्रा प्रमेहमिति; नैते दोषमपेक्षन्ते प्रभावाद्रोगप्रशमकारिण इति। वाप्यचन्द्रस्त्वाह-'ज्वरादिव्याधिहरं यद् द्रव्यं तदपि दोषप्रत्यनीकं, किन्तु दोषप्रत्यनीकादस्यायं भेदः—यद्दोषप्रत्यनीकं तन्नावश्यं व्याधिहरं; यथा-वमनलङ्घने कफहरे न कफगुल्मं हरत, उक्तं हि-'कफे लङ्घनसाध्ये तु कर्तरि ज्वरगुल्मयोः। तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न च संमतम्'-इति- तथा-'न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्' इति (सु. चि. अ. ३३); 'तत्तु व्याधिहरं तदवश्यं दोषहरं, तद्व्याधिं शमयेत्तदारम्भकदोषमपि शमयतीति; अन्यथा स रोगो जित एव न स्यात्, कारणस्य तादवस्थ्यात्' इति। तन्नातिसङ्गतमित्यन्ये; यतो दोषस्तत्र समवायी निमित्तं वा; न च समवायिनिमित्ताभावप्रयुक्तो नियमेन कार्याभावः, किंत्वसमवायिकारणाभावप्रयुक्तोऽपि, यथा—कापलमालासंयोगस्यासमवायिकारणस्य विनाशादपि घटाभावः; तथा-रोगेऽपि सम्प्राप्तिलक्षणस्य संयोगस्य विनाशाद्रोगस्यापि विनाशः, दोषस्तु स्वतः क्रियान्तरेण वा निवर्तते। यदि व्याधिप्रत्यनीकमवश्यं दोषं निवर्तयेदिति स्वीक्रियते, तदोभयप्रत्यनीकाद्भेदो दुरुपपादः स्यादिति। ननु, यदि निमित्तकारणं दोषस्तत्कथं तदारब्धविकारे वमनादिना

दोषहरणं विधीयते ? नहि दण्डकुलालाद्युच्छेदे घटोच्छेद इति । उच्यते, यत्र यावन्निमित्तकारणस्थायिकार्यं तत्र निमित्तकारणोच्छेदादपि कार्यनाशः; यथा–वर्तितैलनाशादपि प्रदीपनाशः; तथाभूताश्च दोषाः प्रायश इति । अन्नं यथा–अतिसारे स्तम्भनं मसूरादि । विहारो यथा–उदावर्ते प्रवाहणं मन्त्रौषधिधारणबल्युपहारनियमप्रायश्चित्तहोमगुरुदेवशुश्रूषादयोऽपि व्याधिविपरीता विहारा इति वाप्यचन्द्रः । अथ हेतुव्याधिविपरीतानि–औषधं यथा—वातशोथे दशमूलं वातहरं शोथहरं च । यदुक्तं चरके षड्विरेचनशताश्रितीयेऽध्याये–'पाटला' इत्यादि यावत्–'दशेमानि शोथहराणि' इति (च. मू. अ. ४) । अन्नं यथा—वातकफग्रहण्यां तक्रं, शीतवातोत्थे ज्वरे पेया; सा ह्युष्णवीर्यत्वाद्वातं हन्ति प्रभावाज्ज्वरं च यदुक्तं चरके–'ज्वरघ्नयो ज्वरसात्म्यत्वात्' इति (च. चि. अ. ३) सुश्रुतेऽपि–'ज्वरे चैवातिसारे च यवागूः सर्वदा हिता' इति (सु. उ. अ. ४०) । विहारो यथा–स्निग्धदिवास्वप्नप्रजातायां तन्द्रायां रूक्षं तन्द्राविपरीतं रात्रिजागरणमिति । अथ हेतुविपरीतार्थकारीणि औषधं यथा—पित्तप्रधाने व्रणशोथे पित्तकर उष्ण उपनाहः । अन्नं यथा-पच्यमाने व्रणशोथेऽन्नं विदाहि । विहारो यथा—वातोन्मादे त्रासनमिति । अथ व्याधिविपरीतार्थकारीणि । औषधं यथा—छर्द्यां वमनकारकं मदनफलादि । अन्नं यथा-अतिसारे विरेचनं क्षीरम् । विहारो यथा-छर्द्यां वमनार्थं प्रवाहणमिति । अथ हेतुव्याधिविपरीतार्थकारीणि । औषधं यथा-अग्निप्लुष्टे उष्णोऽगुर्वादिलेपः, विषे वा विषम् । अन्नं यथा—मद्यपानोत्थे मदात्यये मदकारकं मद्यम् । विहारो यथा—व्यायामजनितसंमूढवाते जलप्रतरणरूपो व्यायाम इति । ननु, छर्द्यां बहुश्लेष्मजायां वमनयोग्यायां यदि वमनं न क्रियते तदा चिरानुवर्ती रोगोऽनुच्छेद्यो वा स्यात्, ततश्च वमनं प्रयुक्तं दोषप्रत्यनीकमेव भवति; यदुक्तं सुश्रुते—'छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते' (सु. उ. अ. ४९) इति, तथा आमातिसारे क्षीरस्य विरेकित्वेनामनिःसरणाद्धेतुप्रत्यनीकमेव भवति; एवमग्निप्लुष्टेऽप्युष्णक्रियया रक्तस्य विलयनेन स्थानान्तरगमनाद्धेतुप्रत्यनीकतैव; अन्यथा दाहप्रकुपितं रक्तं तत्रस्थं पाकमारभेत्; यदुक्तं सुश्रुते—'अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति । ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते' इति (सु. सू. अ. १२); शीतक्रिया च तत्र निषिद्धा, रक्तस्य स्त्यानत्वहेतुत्वात्, यदाह सुश्रुतः—'प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यतिशोणितम् । तस्मात् सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथंचन' इति (सु. सू. अ. १२), स्कन्दयति स्त्यानीकरोति; तथा जङ्गमविषे ऊर्ध्वगस्वरूपे मौलविषमधोगस्वरूपं हेतुविपरीतमेव, यदुक्तं चरके—'विषं विषघ्नमुक्तं यत् प्रभावस्तत्र कारणम् । ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत् प्रभावप्रभावितम्'–इति (च. सू. अ. २६); अस्यायमर्थः—विषत्वाविशेषेऽपि कुतो गतिभेद इत्यत उक्तं—तत् प्रभावप्रभावितमिति; तथा मद्यकृते मदात्यये यन्मद्यं तदपि मातुलुङ्गचुक्रादियुतं सुश्रुतादिभिर्विहितं केवलाच्च द्रव्यान्तरसंयुक्तमन्यदेव, अथवा वातमदात्यये रूक्षमाध्वीकादिना जनिते । स्निग्धपैष्टिकादिमद्ये प्रयुज्यमानं हेतुविपरीतमेव; यच्चोक्तं सुश्रुते—यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचिद्भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः । ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः' इति (सु. उ. अ. ४७), तन्मद्यजातीयाभिप्रायेणैव; यच्चोरुस्तम्भे जलप्रतरणं, तत्रापि जलस्य शैत्येन बहिरगच्छन् देहोष्मा कुम्भकारपवनन्यायेनान्तः–पिण्डितौ मेदःश्लेष्माणौ विलाययति, व्यायामश्च तौ शोषयति, ततस्तु निरावरणो वायुः स्वमार्गप्रतिपन्नो भवतीति हेतुप्रत्यनीकतैव; अनेन न्यायेन सर्वमेव तदर्थकारि यथासंभवं हेतुप्रत्यनीकादावेवान्तर्भवतीति । उच्यते—यद्यप्येवं तथाऽप्यवान्तरवधर्म्यप्रतिपादनार्थमाचार्यैः पृथग्दर्शितम् । तथा चरकेऽप्युक्तम्—'उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरी-

तार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः' इति (च. नि. अ. १)। वैधर्म्यं च हेतुसमानधर्मकत्वेऽपि रोगप्रशमकत्वमिति ॥ ८॥

विमर्श—'विकारो दुःखमेव च' इस उक्ति के अनुसार दुःख ही रोग है, उसकी निवृत्ति होना ही सुख है। लोक में भी कहा जाता है कि **'भारापगमे सुखिनः संवृत्ताः'** अर्थात् सिर का भार उतर जाने पर मनुष्य अपने को सुखी मानता है। इसी प्रकार रोग निवृत्ति भी सुख है।

सुखावहम्—परिणाम में सुखकारक वस्तु को ही सुखावह कहते हैं। इस प्रकार दाह और तृष्णा से युक्त नवज्वर के रोगी को शीतल जल पिलाना तत्काल सुखकारक होते हुए भी परिणाम में दुःखकारक होने से उपशय नहीं है, अतएव ऐसे रोगी को शीतल जल पान न कराना चाहिए। प्रकृत में औषध, अन्न और विहार उपलक्षण मात्र ही हैं, अतः हेतु, व्याधि तथा उभयविपरीत तथा विपरीतार्थकारी देश और काल का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। इसी आशय से वृद्धवाग्भट ने हेतु, व्याधि तथा उभय-विपरीत का वर्णन करने के पश्चात् **'एतेन देशकालावपि व्याख्यातौ'** इस वाक्य का प्रयोग करके देश और काल को ग्रहण करने का उपदेश किया है। सुदान्तसेनजी ने भी कहा है कि—व्याधि, हेतु तथा उभयविपरीत क्रिया करके परिणाम में सुख को देने वाले सभी देश, काल, आदि उपशय कहलाते हैं और इसके विपरीत अनुपशय।

संक्षेप में **'औषधादिजनितसुखानुबन्ध उपशयः'** यह उपशय का लक्षण किया जा सकता है। अर्थात् औषध, अन्न, विहार, देश तथा काल आदि से उत्पन्न सुखपरम्परा को ही उपशय कहते हैं। माल्यधारण, चन्दनानुलेपन एवं सुन्दरी स्त्री आदि से भी क्षणिक सुख की उत्पत्ति होती है अतः उनकी निवृत्ति करने के लिये औषधादि पद का ग्रहण किया गया है; माल्यधारण आदि सुख औषधादिजनित नहीं है। कभी-कभी अपथ्य सेवन से भी क्षणिक सुख की उपलब्धि होती ही है अतः उससे भी लक्षण की निवृत्ति करने के लिये अनुबन्ध शब्द का प्रयोग किया गया है। अनुबन्ध शब्द से परिणाम से सुखदायी अर्थ बोधित होता है किन्तु अपथ्यजनित सुखपरिणाम में सुखकारक नहीं होता यह सर्वविदित है। अतः इसे उपशय नहीं कह सकते।

वस्तुतः यह लक्षण भी केवल उदाहरणदर्शनपरक है वास्तविक लक्षण नहीं, क्योंकि हेतु आदि के विपरीत द्रव्यों में परस्पर व्यभिचार पाया जाता है जैसे द्रव्य रूप में शीतल जल का प्रयोग वातवर्धक होने से सामान्य वात व्याधि में अहितकर होता है किन्तु ऊरुस्तम्भ रोग में शीतल जल में तैरना (विहार रूप में) हितकर होता है। अतः इस व्यभिचार के कारण पूर्वोक्त लक्षण ठीक नहीं है। इसलिये 'व्याधिजनित दुःख को उचित प्रकार से शान्त करने वाले पदार्थों को उपशय कहते हैं। अथवा 'सात्म्य (अनुकूल) पदार्थ उपशय है' यह लक्षण ठीक है अथवा 'औषधजनित सुखानुबन्ध को उपशय कहते हैं' यह लक्षण पर्याप्त है क्योंकि चरक ने आहार, आचार, देश, काल, लंघन आदि द्रव्यभूत या अद्रव्यभूत समस्त पदार्थों को औषध माना है। **एतच्चैव भेषजमङ्गभेदादपि द्विविधम्, अद्रव्यभूतम् द्रव्यभूतञ्चेति। तत्र यदद्रव्यभूतं तदुपायाभिप्लुतम्। उपायो नाम भयदर्शनविस्मापनक्षोभणहर्षणभर्त्सनबन्धनस्वप्नसंवाहनादिरमूर्तो भावविशेषो यथोक्ताः सिद्ध्युपायाश्च। यत्तु द्रव्यभूतं तद्वमनादिषु योगमुपैति' (च.वि.अ.८)**

आधुनिक वैद्यक में भी उपशय के एकांग का प्रयोग थिरेप्युटिक टेस्ट (Therapeutic test) के नाम से किया जाता है। आमवात एवं अन्य सज्वर सन्धिशोथ का साक्षेप-निदान सैलिसिलेट के योग से किया जाता है। सैलिसिलेट से लाभ होने पर आमवात का तथा लाभ न होने पर अन्य सन्धिगत शोथों का अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार अज्ञात ज्वरों में क्विनीन प्रयोग भी उपशय (Therapeutic test) का कार्य करता है। कार्य एवं काल के भेद से उपशय का प्रयोग निदानार्थ एवं चिकित्सार्थ किया जा सकता है। अज्ञात व्याधि में उपशय व्याधिज्ञापनार्थ तथा व्याधिज्ञान होने के पश्चात् चिकित्सार्थ प्रयुक्त होता है।

इस प्रकार यहां पर पञ्चनिदान के अंग उपशय का वर्णन करते हुए आयुर्वेदाचार्यों ने संक्षेप में छ प्रकार की तथा उसके अवान्तर भेदों के सहित १८ प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियों का उल्लेख किया है। आयुर्वेद में इन सभी चिकित्सापद्धतियों का समावेश है एवं उनके आधार पर की गई चिकित्सा के सैकड़ों उदाहरण भी विद्यमान हैं। प्रकरणानुसार इन सब के उदाहरण भी आगे प्रस्तुत किये जायेंगे। आधुनिक एवं प्राचीन सभी चिकित्सा-पद्धतियों का समावेश इन १८ भेदों में सहज ही हो जाता है। उदाहरणसहित इसके विभिन्न भेदों का ज्ञान निम्न कोष्ठक के द्वारा हो सकता है—

	उपयोग	औषध	अन्न	विहार
१	हेतुविपरीत	शीतकफज्वर में शु ठि आदि ज्वर औषध	श्रम तथा वातजन्य ज्वर में मांसरस एवं भात	दिवास्वाप से उत्पन्न कफ में रात्रिजागरण
२	व्याधिविरीत	अतिसार में स्तम्भनार्थं पाठा वा कुटज, कुष्ठ में खदिर प्रमेह, में हरिद्र	अतिसार में स्तम्भनार्थं मसूर	उदावर्त में प्रवाहण
३	उभयविपरीत	वातिक शोथ में वात-हर तथा शोथहर दशमूल का क्वाथ	वातकफजन्य ग्रहणी में तक्र तथा पित्तज में दुग्ध, शीतजन्य वात से उत्पन्न ज्वर में पेया	स्निग्ध पदार्थों के सेवन और दिवास्वाप से उत्पन्न तन्द्रा में रूक्ष रात्रि जागरण
४	हेतुविपरीतार्थ-कारी	पित्तप्रधान फोड़े पर उष्ण उपनाह का प्रयोग	पैत्तिक फोड़े में विदाही अन्न	वातजन्य उन्माद में भयदर्शन
५	व्याधिविपरी-तार्थकारी	छर्दि रोग में वमन-कारक मदन फल का प्रयोग	अतिसार में भी विरे-चनार्थ क्षीर का प्रयोग	छर्दि में वमन कराने के लिए प्रवाहण
६	उभयविपरीता-र्थकारी	अग्नि से जल जाने पर अगु, सदृशउष्ण पदार्थों का लेप, विषजन्य रोग में विष, (जङ्गम विष पर मौल तथा मौल पर जङ्गम विष का प्रयोग)	मद्यपानजन्य मदात्यय में मद के उत्पादक मद्य का सेवन	व्यायाम से उत्पन्न संमूढ़वात (ऊरुस्तम्भ) में जल में तैरने का व्यायाम

सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि इनमें से प्रत्येक भिन्न भिन्न चिकित्सा-पद्धति का द्योतक है। मनुष्य केवल पथ्य के आधार पर ही बिना किसी औषध-चिकित्सा की सहायता के व्याधि से मुक्त हो सकता है। यही स्वभावोपरम या हेतुव्याधि-विपरीत अन्न एव विहार चिकित्सा-पद्धति का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त ही आज हमें प्राकृतिक चिकित्सा (Nature cure) के मर्म को समझाता है।

विपरीतार्थकारी—रोगोत्पादक निदान के समान होते हुए भी व्याधि का प्रशमन करने वाले औषध, अन्न तथा विहार विपरीतार्थकारी कहलाते हैं। ये अपने प्रभाव से ही हेतु आदि के विपरीत कार्य को करने वाले होते हैं। यह **'समः समं शमयति'** (Semilia Semiliasan curentum) व **'विषस्य विषमौषधम्'** का सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त विचित्र प्रतीत होता है

किन्तु यह निश्चित है कि उत्पन्न हुआ धातुवैषम्य स्वयमेव नष्ट हो जायगा; क्योंकि धातुवैषम्य स्वरूप दोष को बाहर निकालने के निमित्त ही शारीरिक प्रतिक्रियास्वरूप रोगों की उत्पत्ति होती है। धातुवैषम्य के स्वय नष्ट होने में अधिक समय की अपेक्षा के साथ-साथ उपद्रव होने का भी भय रहता है। अतः शनैश्चारी व्याधि को शीघ्र समाप्त करने के लिये व्याधि के उद्दीपन के लिए निदान के समान द्रव्यों का प्रयोग कराया जाता है। यही चिकित्सा सूत्र हेतुवेपरीतार्थकारी चिकित्सा का मूलस्रोत है। इस चिकित्सा-पद्धति से आरम्भ में रोग की वृद्धि होकर पश्चात् दोषों का निर्हरण हो जाने से रोग भी शान्त हो जाता है। यह चिकित्सा-पद्धति आजकल होमियोपैथी[1] के नाम से प्रसिद्ध है।

इसके विपरीत एक दूसरी चिकित्सा-पद्धति भी है जिसे व्याधिविपरीत या लक्षणप्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर अतिसाररूप लक्षण को निवृत्ति के लिये उसके विपरीत पाठा या इन्द्रयव सदृश स्तम्भन का प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः यही एलोपैथी[2] (Allopathy) का चिकित्सा-सूत्र है। इस चिकित्सा-पद्धति के अनुसार धातुवैषम्य की परम्परा अनवरत चलते रहने पर ही उसके विपरीत कारणों का आधान कर दिया जाता है। इस चिकित्सा-पद्धति का यही साराश है। यद्यपि इस पद्धति से धातुवैषम्य को परिवर्तित करना दुष्कर है तथापि उसकी धारा में बाधा तो उपस्थित की जा सकती है। अन्ततोगत्वा इससे भी व्याधिमोक्ष वा सुख अवश्य होता है। इसकी पुष्टि के लिये चरक का निम्न वाक्य पर्याप्त होगा—

पारम्पर्यानुबन्धस्तु दुःखानां विनिवर्तने। सुखहेतूपचारेण सुखं चापि प्रवर्तते ॥

कुछ समय पूर्व इस पद्धति के विद्वानों की चिकित्सा केवल इसी सिद्धान्त पर आधारित थी किन्तु आज वे भी हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा की ओर अग्रसर हो रहे हैं अतः इसका नाम भी आधुनिक चिकित्सा विज्ञान (Modern medical science) हो गया है।

अब हेतुविपरीत औषध आदि के उदाहरण सविवेचन दिये जाते हैं—

१. हेतुविपरीत—(क) औषध—शीतजन्य कफज्वर में शुण्ठी सदृश उष्ण औषध का प्रयोग हितावह होता है। शुण्ठी उष्ण एवं कफनाशक होने के कारण शीत कफज्वर को नष्ट करती है। इसीलिये कहा भी है—वैद्य उष्णताजन्य रोगों की शान्ति शीतप्रयोग से तथा शीतजन्य रोगों की शान्ति उष्णप्रयोग से करते हैं। इस प्रकार की चिकित्सा हेतुविपरीत औषध चिकित्सा कहलाती है। **(ख) अन्न**—श्रमजन्य वातज्वर में स्निग्ध एवं तर्पक मांसरस-युक्त भात देना चाहिए। **(ग) विहार**—दिवास्वप्नजन्य कफ के विनाश के लिये रात्रिजागरण उपयुक्त होता है।

२. व्याधिविपरीत—(क) औषध—अतिसार में पाठा तथा कुटज स्तम्भक होने से व्याधिविपरीत औषध हैं। शरीष विष को, खदिर कुष्ठ को और हरिद्रा प्रमेह को नष्ट करने वाली औषध है। ये दोषविशेष की अपेक्षा न करते हुए प्रभाव से रोग को शान्त करते हैं अतएव इन्हें व्याधिविपरीत कहते हैं।

श्रीवाप्यचन्द्र जी का कथन है कि—ज्वर आदि व्याधियों को दूर करने वाले सम्पूर्ण द्रव्य दोषप्रत्यनीक (हेतुविपरीत) भी होते हैं। किन्तु केवल दोषप्रत्यनीक औषध, अन्न या विहार नियमतः व्याधिप्रत्यनीक नहीं होते। दोषप्रत्यनीक और व्याधिप्रत्यनीक में यही मुख्य भेद है। यथा वमन और लंघन कफनाशक होते हुए भी कफज गुल्म का नाश नहीं करते। अतएव चरक ने उक्त अवस्था में लंघन का निषेध करते हुए कहा है—

---

१. होमियोपैथी—होमियो = समान + पैथोज = अनुभव अर्थात् लक्षणों के समान।

२. एलीज = विरुद्ध + पैथोज = अनुभव = अनुभव विरुद्ध अर्थात् लक्षणों के विरुद्ध।

कफे लङ्घनमाध्ये तु कर्तरि ज्वरगुल्मयोः। तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न च सम्मतम् ॥ इसी तरह **'न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्'** के द्वारा कफ जन्य कतिपय रोगों में भी वमन का निषेध किया है। इस प्रकार दोषप्रत्यनीक कर्म नियमतः व्याधिप्रत्यनीक नहीं होते। इसके विपरीत व्याधिप्रत्यनीक औषध आदि अवश्य ही दोषहर भी होते हैं; वे व्याधि का शमन करते हुए व्याधिजनक दोष को भी शान्त करते है। अन्यथा दोषरूप कारण के नाश न होने पर तज्जन्य कार्यरूप व्याधि का नाश दुष्कर है। यह श्रीवाप्यचन्द्रजी का मत है।

अन्य आचार्य उक्त मत के समर्थक नहीं हैं। उनका कथन है कि यद्यपि दोष व्याधि का समवायि कारण[1] या निमित्त कारण होता है और व्याधिनाश के लिये उसका नाश आवश्यक है तथापि केवल समवायि या निमित्त के नाश से ही कार्य के नाश का निर्देश करना असगत हैं; क्योंकि असमवायि कारण के नाश से भी कार्य का नाश होना है। यथा—घट के असमवायि कारण-दो कपालों के संयोग-विनाश से घट का एवं पट के असमवायि कारण तन्तुसयोग के विनाश से पट का नाश होना है। वैसे ही रोग के असमवायि कारण अर्थात् प्राकृत-वैकृत आदि कारणों से दूषित एवं स्थानसंश्रित दोष और दूष्य के सयोगविशेष रूप संप्राप्ति के विनाश से रोग का भी विनाश होता हैं। दोष तो स्वतः अथवा निदान-परिवर्जनादि दूसरे उपचारों से शान्त हो जाते है। तात्पर्य यह है कि विभिन्न निदानों से दूषित तथा स्थानसंश्रित दोष और दूष्य के संयोगविशेष को ही सम्प्राप्ति कहते हैं। यही रोग का असमवायि कारण है। इस सम्प्राप्ति की निवृत्ति से रोग की भी निवृत्ति हो जाती है। अब यहां सन्देह होता है कि इस प्रकार का संयोगविनाश होने पर भी दोषदुष्टि बनी रहने से व्याधि की शान्ति स्थिर कैसे रह सकती है? इसके लिये चरक का निम्न कथन पर्याप्त है—

'प्रवृत्तिहेतुर्भूतानां न निरोधेऽस्ति कारणम्। केचित्त्वत्रापि मन्यन्ते हेतुं हेतोरवर्तनम्' ॥

किसी वस्तु की उत्पत्ति में कारण की अपेक्षा होती है विनाश में नही। फिर भी कुछ विद्वानों के मत से उत्पादक कारण की निवृत्ति को ही कार्य के नाश का हेतु माना जा सकता है। इसी आधार पर विजयरक्षितजी ने स्पष्ट कहा है—**'दोषस्तु स्वतः क्रियान्तरेण वा निवर्तते'** अर्थात् दोषदुष्टि स्वयमेव अथवा अन्य उपचारों से दूर हो जाती है। तात्पर्य यह कि दोष प्रकोप एवं रोग के कारण शरीर में विशिष्ट प्रकार की रोगप्रतिरोधक्षमता उत्पन्न हो जाती है। जिससे दोष-प्रकोप स्वयमेव शान्त हो जाता है तथा उपद्रवों की सम्भावना शीघ्रता से निर्मूल करने के लिये अन्य उचित उपायों का भी अवलम्बन कर सकते हैं।

उपर्युक्त कथन के अनुसार व्याधिप्रत्यनीक उपचार नियमतः दोषशामक नही हो सकते। और यदि व्याधिप्रत्यनीक को ही दोषनिवर्तक भी स्वीकार किया जाय तो उभयप्रत्यनीक (हेतुव्याधि-विपरीत) उपशय का पृथक् प्रतिपादन करना दुष्कर हो जायगा। अतः व्याधिप्रत्यनीक को दोष-शामक भी स्वीकार करना अनुचित है।

वस्तुतः व्याधि भी एक कार्य है अतः अन्य कार्यों के समान इसकी उत्पत्ति में भी समवायि, असमवायि तथा निमित्त भेद से तीन प्रकार के कारणों की अपेक्षा होती है। दोष व्याधि के समवायि कारण, दोष दूष्य-संयोग असमवायि कारण तथा मिथ्या आहार-विहारादि निमित्त कारण हैं। अतः समवायि कारण की प्रधानता में हेतुप्रत्यनीक, असमवायि कारण की प्रधानता में व्याधिप्रत्यनीक तथा निमित्तकारण की प्रधानता में उभयप्रत्यनीक चिकित्सा की जाती है।

कुछ विद्वान् दोषों को रोग का निमित्तकारण ही मानते हैं। अब प्रश्न होता है कि यदि दोष को व्याधिरूप कार्य की उत्पत्ति में निमित्तकारण माना जाय तो दोषजन्य विकार के

१. 'यत्समवेतं कार्यमुत्पद्यते तत्समवायिकारणम्'।

दोष का वमन विरेचन के द्वारा निर्हरण करने पर भी रोगशमन किस प्रकार हो सकता है; क्योंकि यह देखा गया है कि निमित्तकारणरूप दण्ड एवं कुम्भकार के नष्ट हो जाने पर भी घट का नाश नहीं होता। इसी प्रकार निमित्तकारणरूप दोषप्रकोप के नष्ट हो जाने पर भी तज्जन्य व्याधि का नाश नहीं हो सकता। इसके लिये कहते हैं कि जो कार्य निमित्त कारण की सत्ता पर निर्भर रहते हैं वे उनके विनाश होने पर नष्ट हो जाते हैं। जैसे—तैलरूप निमित्त कारण के नाश से दीपक का भी नाश (निर्वाण) हो जाता है। दोषों की निमित्तकारणता भी इसी श्रेणी की है।

वस्तुतः यह प्रश्न ही अनुचित है क्योंकि दोष व्याधि के समवायिकारण होते हैं न कि निमित्तकारण। महर्षि सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है कि—**सर्वेषामेव व्याधीनां वातपित्तश्लेष्माण एव मूलं तल्लिङ्गत्वाद् दृष्टफलत्वादागमाच्च।** शास्त्र में कहीं भी दोषों को रोगों का निमित्त कारण नहीं बताया गया है। जहाँ कहीं दोषों के साथ निमित्त पद का प्रयोग है वहा उसका तात्पर्य सामान्य कारण या निदान ही है न कि निमित्त कारण। भगवान् चरक ने तो स्पष्ट ही कहा है—**'रोगस्तु दोषवैषम्यम्'** अर्थात् दोषों की विषमता ही रोग है। इस प्रकार विषम या प्रकुपित दोष रोग से पृथक् न होने से समवायिकारण ही हैं, निमित्त कारण नहीं।

(ख) अन्न—अतिसार में स्तम्भन के लिये मसूर का प्रयोग हितकर है।

(ग) विहार—उदावर्त[1] में प्रवाहण[2] (अधोमार्ग से मल निर्हरण के लिए प्रयत्न) कराना चाहिये।

वाप्यचन्द्रजी का कथन है कि ओषधिधारण,[3] मन्त्र, बलि, उपहार, नियम[4] प्रायश्चित्त होम तथा गुरु और देवताओं की सेवा[5] से भी व्याधि की निवृत्ति होती है। अतः इसको व्याधिविपरीत विहार ही समझना चाहिये।

३. हेतुव्याधिविपरीत—

(क) औषध—वातिक शोथ में दशमूल[6] का क्वाथ देना चाहिये। यह शोथ के हेतु वात एवं शोथरूप व्याधि का निवर्तक होने से हेतुव्याधिविपरीत उपशय कहा जाता है।

(ख) अन्न—वातजन्य या कफजन्य ग्रहणी में तक्र का प्रयोग कराया जाता है। यह वात या कफ दोष और ग्रहणी रोग दोनों को नष्ट करता है। इसी प्रकार शीतजन्य वात से होने वाली ज्वर में पेया[7] का प्रयोग किया जाता है। पेया उष्णवीर्य होने से शीतजन्य वात को तथा प्रभाव ज्वर को नष्ट करती है। इसी आशय से चरक ने कहा है—

आहारभावात् प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च। ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात् तस्मात् पेयाभिरादितः॥

१. उद्भूतेन वेगविधारणेनाऽऽवृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः (उदावर्त नि० मधुकोश)
आटोपशूलौ परिकर्तिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः।
पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य॥

२. सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः।
वायोः क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये॥ (सु उ अ. ५५)

३. 'ज्वरं हन्ति शिरोबद्धा सहदेवीजटा यथा',

४. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योगसूत्र)

५. प्रशाम्यत्योषधैः पूर्वौ दैवयुक्तिव्यपाश्रयौ। मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥

६. पाटलाग्निमन्थश्योनाकबिल्वकाश्मर्यकण्टकारिकाबृहतीशालपर्णीपृश्निपर्णीगोक्षुरका इति दशेमानि श्वयथुहराणि॥ (च सू. अ. ४)

७. सिक्थकै रहितो मण्डः पेया सिक्थसमन्विता। यवागूर्बहुसिक्था स्याद्विलेपी विरलद्रवा॥
यवागूनिर्माणप्रकारः—
अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी च चतुर्गुणे। मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि॥

अर्थात् सात्म्य होने के कारण पेया ज्वरनाशक है। सुश्रुत ने भी कहा है—**'ज्वरे चैवातिसारे च यवागूः सर्वदा हिता'**। ज्वर और अतिसार में पेया अत्यन्त हितकारिणी होती है।

(ग) विहार—स्निग्ध पदार्थों के सेवन तथा दिन में सोने से उत्पन्न तन्द्रा को दूर करने के लिये रूक्ष विहार और रात्रि जागरण करना चाहिये। यह उभयविपरीत चिकित्सा है।

४. हेतुविपरीतार्थकारी—

(क) औषध—पाक पित्त के बिना नहीं हो सकता[१] और पित्तप्रधान पकते हुये फोड़े पर पित्तगुणयुक्त उष्ण उपनाह (पुलटिस) के लगाने से लाभ होता है। इससे यह स्पष्ट है कि उपनाह रोगोत्पादक हेतु के समान होते हुये भी उसके विपरीत कार्य (रोगशान्ति) को करता है।

(ख) अन्न—फोडा होने पर विदाही अन्न का सेवन हेतुविपरीतार्थकारी अन्न का उदाहरण है।

(ग) विहार—यद्यपि भय से वायु की वृद्धि होती है; क्योंकि, कहा भी है—**'कामशोकभया-द्वायुः'** तथापि वातिक उन्माद में रोगी को भय दिखाना हेतु के समान होते हुये भी प्रभाव से रोग की शान्ति करता है। यही हेतुविपरीतार्थकारी विहार है।

५. व्याधिविपरीतार्थकारी—

(क) औषध—छर्दि रोग में मदनफल से वमन कराना व्याधिविपरीतार्थकारी औषध का निदर्शक है। इस प्रकार दोष का शीघ्र निर्हरण होने से रोगशान्ति हो जाती है।

(ख) अन्न—अतिसार को दूर करने के विचार से क्षीर का प्रयोग किया जाता है। यह अतिसारजनक होते हुए भी शोधन कर तद्विपरीत कार्य को करता है।

(ग) विहार—छर्दि में वमन कराने के लिये प्रवाहण (गले का गुदगुदाना या आमाशय प्रक्षालन) करते हैं। (इससे अन्तर्गत दोष बाहर निकल जाता है और रोग की शान्ति भी हो जाती है)।

६. हेतुव्याधिविपरीतार्थकारी—

(क) औषध—अग्निदग्ध में उष्णगुणयुक्त अगुरु आदि का लेप हेतु और व्याधि के समान होते हुये भी उसके विपरीत कार्य को करता है। विष प्रभाव होने पर विष के प्रयोग की भी यही कार्य-कारण पद्धति है (अहिफेन के विष में एट्रोपीन, जङ्गम के लिये स्थावर और स्थावर के लिये जङ्गम विष का प्रयोग इसके स्पष्ट उदाहरण है।)

(ख) अन्न—मद्यपानजन्य मदात्यय में (पिये हुए मद्य के विपरीत गुणवाले) मदकारक मद्य के पीने से लाभ होता है।

(ग) विहार—व्यायाम में उत्पन्न सम्मूढवात (ऊरुस्तम्भ) में जल में तैरने से रोग दूर होता है (शीतल जल और व्यायाम दोनों वातवर्धक होते हुये भी यहाँ वायु और ऊरुस्तम्भ रोग दोनों के शामक होते हैं।) अतः यह उभयविपरीतार्थकारी विहार-चिकित्सा का उदाहरण है।

अब यह प्रश्न होता है कि विपरीतार्थकारी चिकित्साओं का अन्तर्भाव यथायोग्य हेतुप्रत्यनीक आदि में ही हो जाता है, अतः इनका पृथक् पाठ करने की कोई आवश्यकता नहीं। यथा वमन के योग्य श्लेष्मबहुल छर्दि में वमन न कराने से रोग चिरकालीन स्वरूप का (Chronic) हो जायगा या उसका नाश ही न होगा। प्रकृत में वमन हेतु-भूत कफ के निकलने से छर्दि रोग की शान्ति का हेतु कहा गया है अतः यह वस्तुतः हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा ही है। इसी उद्देश्य से सुश्रुत में भी कहा गया है—'छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते' अर्थात् कफबहुल छर्दि में वमन कराना हितकारी है। अग्नि से जलजाने पर दग्ध स्थान का रक्त जम जाता है। उष्णोपचार के द्वारा उसका विलयन होकर स्थानान्तरगमन होता है अन्यथा दग्धस्थान पर दूषित रक्त रुककर पाक प्रारम्भ कर देता है। (प्रकृत में रोग का हेतु रक्त का जमना है, उष्णोपचार

१. 'वाताहृते नास्ति रुजा न पाकः पित्ताहृते नास्ति कफाच्च पूयः'।

उसी का विरोधी है अतः यह भी हेतुप्रत्यनीकता का ही उदाहरण है विपरीतार्थकारी का नहीं।) इसी आशय से सुश्रुत ने भी कहा है कि अग्नि से दग्ध होने पर रक्त अत्यन्त प्रकुपित हो जाता है और प्रकुपित रक्त के वेग से पित्त की भी वृद्धि होती है[१]। (पित्त ही पाक का हेतु है और उष्णक्रिया द्वारा रससञ्चार बढ़ जाने से रक्तप्रकोप (जमना) तथा तज्जन्य पितप्रकोप और पाक नहीं हो सकते)। अग्निदग्ध पर शीतक्रिया का निषेध भी किया गया है, क्योंकि शीत क्रिया से रक्त के जमने की सम्भावना बढ़ती है। इसी आशय की पुष्टि में सुश्रुत ने कहा भी है कि जल प्रकृति से शीतल होने के कारण रक्त को जमा देता है, अतः अग्निदग्ध में (रक्त जमने की सभावना को दूर करने के लिये) उष्णोपचार ही सुखप्रद होता है, शीतोपचार नहीं[२]। तात्पर्य यह है कि अग्नि की अत्यधिक उष्णता के कारण दग्धस्थान की केशिकायें एव धमनिया सकुचित हो जाती हैं। प्रोभूजिन के घन हो जानेसे रक्त भी जम जाता है। जलने से दग्ध स्थान की धातुयें (Tissues) भी अत्यधिक मात्रा में नष्ट हो जाती हैं। इस अवस्था में कोई उपचार न करने या शीतोपचार करने से रक्त और भी जम जाता है। इसके परिणामस्वरूप रक्तसचार में बाधा एवं द्वितीयक उपसर्ग (Secondary infection) से पाक के उत्पन्न होने की सम्भावना बढ़ती है। नष्ट धातुओं के पुनर्निर्माण तथा पाक से रक्षा करने के निमित्त रक्तसचार का बढ़ाना अत्यन्त आवश्यक है। अत एव उष्णोपचार से रक्तसञ्चार की तीव्र धारा के द्वारा स्कन्दित रक्त तथा अन्य हानिकर बाह्यपदार्थ स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। नवीन एव पुष्ट रक्त के शुभागमन से विनष्ट तन्तुओं का पुनर्निर्माण होता है। सुश्रुत के सिद्धान्त का यही वास्तविक मथितार्थ है। प्रकृत में रक्तस्कन्दन को ही विकृति का कारण स्वीकार किया गया है, अतः उष्णोपचार से उसकी निवृत्ति करना हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा में ही अन्तर्भूत हो सकता है।

इसी प्रकार ऊर्ध्वगमनशील जङ्गम विष में अधोगामी मौलविष का प्रयोग भी हेतुप्रत्यनीक ही है। इसी आशय की पुष्टि में महर्षि चरक ने कहा है—

विषं विषघ्नमुक्तं यत्प्रभावस्तत्र कारणम्। ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम्॥

यद्यपि विषत्वजाति के दृष्टिकोण से जाङ्गम और मौल दोनों एक ही हैं तथापि इनका क्रमशः ऊर्ध्व और अधोगति भेद उनके प्रभावविशेष के कारण ही जानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त मद्यपानजन्य मदात्यय में प्रयुक्त मद्य को सुश्रुत आदि ने बिजौरा नीबू एवं चुक्र आदि द्रव्यों से संयुक्त कर प्रयोग करने को बताया है। यह मद्य शुद्ध मद्य से नितान्त भिन्न होता है[3]। यदि क्वचित् शुद्ध, मद्य का भी प्रयोग किया जाता है तो वह भी पूर्व पीत मद्य से पूर्णतया विपरीत गुणवाला होता है। यथा रूक्षगुणयुक्त माध्वीक आदि से उत्पन्न वातिक मदात्यय में पीठी आदि स्निग्ध पदार्थों से निर्मित मद्य का प्रयोग किया जाता है, इसे भी हेतुविपरीत कह सकते हैं। मदात्यय में मद्यपान के महत्त्व का वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा भी है—यथा राजा की आज्ञा से दण्डित व्यक्ति राजा की आज्ञा से ही मुक्त हो सकता है, अन्य से नहीं। इसी प्रकार मद्यपानजनित मदात्यय से भी छुटकारा मद्यपान से ही हो सकता है।[४] प्रकृत में मद्यपान का तात्पर्य विपरीत गुणयुक्त भिन्न मद्य से ही है।

---

१. अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति। ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते॥

२. प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्याशु शोणितम्। तस्मात् सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथंचन॥

३. मदात्यये—मद्य १ तोला, नीबू का रस १ तोला, पानी १ छटांक। यद्यपि केवल नीबू के रस एवं जल से ही कार्य हो सकता है तथापि उनके शोषण को शीघ्र कराने के लिये मद्य का प्रयोग कराया जाता है; क्योंकि मद्य आशुग है।

४. यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचित् भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः।
ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो भवेत् प्रसादस्तत एव नान्यतः॥

इसी प्रकार ऊरुस्तम्भ-चिकित्सा में वर्णित जल में तैरना भी हेतुप्रत्यनीक ही है क्योंकि लिप्तकुम्भकारपवनन्याय[1] से जल की शीतता के कारण शरीर की अग्नि किञ्चिन्मात्र भी बाहर नहीं निकलने पाती एवं अन्तःस्थित देहाग्नि पिण्डित मेद और कफ को पिघला देती है और तैरने का व्यायाम उनको सुखा देता है (व्यायाम से रक्तसचार बढ़ता है और पिघले हुए संचित मेद और कफ उसके साथ स्थानान्तरित हो जाते हैं) जिससे वायु आवरणरहित होकर स्वमार्गगामी हो जाता है[2]। इस प्रकार विकृत वातको प्राकृत बनाना हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा का ही उदाहरण है तदर्थकारी का नहीं। अतः चिकित्सा का सम्पूर्ण तदर्थकारी भेद हेतुप्रत्यनीक आदि भेदों में ही अन्तर्भूत हो जाता है, पुनः इसका पृथक् निर्देश क्यों किया गया ?

यद्यपि उपर्युक्त विवरण युक्तिसङ्गत है तथापि इनका सूक्ष्म भेद (वैधर्म्य) प्रदर्शित करने के निमित्त आचार्यों ने तदर्थकारी का पृथक्पाठ किया है। चरक ने भी इसे स्वीकार करते हुए उपशय का लक्षण निम्न प्रकार से किया है—**'उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः'**। रोगोत्पादक हेतु के अन्य समान धर्मवाला होने पर भी रोगशामक होना ही हेतुप्रत्यनीक आदि से इसका वैधर्म्य है। तात्पर्य यह है कि–'हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा में औषध आदि हेतु के नितान्त विपरीत होते है, उनका प्रत्येक धर्म परस्पर भिन्न होता है किन्तु विपरीतार्थकारी में दोनों के धर्म समान प्रतीत होते है। यथा मदात्यय में मद्यपान (मद्यत्व सामान्य से दोनों ही एक हैं।) किन्तु परिणाम भिन्न होता है। हेतुप्रत्यनीक आदि में यह समानता भी दृष्टिगोचर नहीं होती। हेतुप्रत्यनीक आदि तथा विपरीतार्थकारी चिकित्सा-पद्धतियों में यही वैधर्म्य है। अत एव दोनों का पाठ पृथक् पृथक् किया गया। **इत्युपशयलक्षणम्।**

अनुपशयलक्षणं निरूपयति—

विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्यमिति स्मृतः। ९॥ (वा. नि. अ.१)

उपशय के विपरीत अनुपशय होता है। इसका दूसरा नाम व्याध्यसात्म्य भी है ॥ ९ ॥

विपरीतोऽनुपशय इति औषधादीनां दुःखकर उपयोगोऽनुपशय इत्यर्थः। तत्पर्याय-माह—व्याध्यसात्म्यमिति स्मृत इति। **व्याधिग्रहणेन दोषोऽपि बोध्यः। ननु, अनुपशयः किं व्याधिविशेषं बोधयति नो वा ? नेति चेत्, निदाने तदुपन्यासो व्यर्थः; प्रतिपादयतीति चेत्, 'विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम्' इति व्याहन्यते, तस्य षष्ठत्वापत्तेः। नैवं, प्रतिपादयत्येव; यदाह चरकः–'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत' इति** (च. वि. अ. ४)। **किन्तु निदाने तस्यान्तर्भावः, दोषस्य रोगस्य वा वर्धकत्वात्। (इत्यनुपशयस्य निदानेऽन्तर्भावान्न षष्ठत्वापत्तिः, वक्ष्यति च–'निदानोक्तानुपशयः' इति।)** ॥ ९ ॥

विमर्शः—पूर्वोक्त उपशय से विपरीत अनुपशय होता है अर्थात् जिन औषध, अन्न तथा विहार का उपयोग दुःखकर हो वे अनुपशय कहलाते है अथवा जिन औषध आदि के उपयोग से रोग की वृद्धि हो उनको अनुपशय कहते हैं। व्याधिकथन से व्याधिजनक दोष का भी ग्रहण करना

---

१. कुम्भकार अग्नि की लपटों को आँवें के अन्दर ही सीमित रखने के निमित्त बाहर से दृढ़ लेपन कर देता है जिससे भाण्डस्थित जलीयांश बाष्प के रूप में बाहर निकल जाता है और अन्तःस्थित अग्नि भाण्डों को पका देती है। यही लिप्तकुम्भकारपवनन्याय है।

२. सश्लेष्ममेदः पवनः साममत्यर्थमूर्च्छितम्। अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत् प्रतिपद्यते ॥
कफ और मेद के द्वारा साम वायु का अवरुद्ध होना ही ऊरुस्तम्भ है। वायु का निरावरण होना ही उसकी चिकित्सा है।

चाहिये। तात्पर्य यह कि अनुपशय औषध आदि व्याध्यारम्भक दोष के लिये भी असाध्य होते हैं। इससे उनका प्रकोप अधिक होना है। परिणामस्वरूप व्याधि भी बढ़ जाती है।

अब प्रश्न हो सकता है कि अनुपशय व्याधिविशेष का बोधक है अथवा नहीं? यदि वह व्याधिविशेष का बोधक नहीं है तो प्रकृत में उसका नामग्रहण करना ही व्यर्थ है। यदि वह व्याधिविशेष का बोधक है तो **'विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा'** माधवोक्त रोगविज्ञान के उपायपञ्चक का खण्डन हो जाता है; क्योंकि अनुपशय के कथन से षष्ठ उपाय की भी प्रसक्ति होने लगेगी? इसके लिये कहते हैं कि यह षष्ठ उपाय न होते हुए भी रोगविशेष का ज्ञापक है; क्योंकि चरक ने कहा है कि अव्यक्त लक्षणवाली व्याधि की परीक्षा उपशय एवं अनुपशय के द्वारा करनी चाहिये[1]। अनुपशय दोष एवं रोग दोनों का वर्धक होता है। निदान का भी यही कार्य है? अतः समान धर्मवाला होने के कारण अनुपशय का निदान में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसी आशय से ज्वरनिदान में कहा है—**'निदानोक्तानुपशयः'** अर्थात् निदानरूप से कहे गये आहार, आचार तथा काल आदि द्वारा अनुपशय या दुःख होता है[2]। निदानवर्ग का होने के कारण अनुपशय का अन्तर्भाव निदान में ही हो जाता है। अतः अनुपशय को षष्ठविज्ञानोपाय नहीं कह सकते। **इत्यनुपशयलक्षणम्।**

सम्प्राप्तिं निरूपयति—

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः॥ १०॥

(वा. नि. अ. १)

दोष जिस प्रकार (प्राक्तन आदि विविध) निदानों से दूषित होकर और जिस प्रकार (ऊर्ध्व आदि भिन्न गतियों के द्वारा शरीर में) विसर्पण करते हुए (धातु आदि को दूषित कर) रोग को उत्पन्न करता है उसे सम्प्राप्ति कहते हैं। जाति और आगति इसके पर्याय हैं॥ १०॥

संप्राप्तिमाह—यथेत्यादि। नानाविधा हि दोषाणां दुष्टिः प्राकृती वैकृती वा, अनुबन्ध्यरूपा अनुबन्धरूपा वा, एकशो द्विशो वा समस्ता वा, रौक्ष्यादिभिः सर्वैर्भावैरल्पैर्वा, एवमादिदुष्टिदुष्टेन दोषेण या आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा संप्राप्तिरुच्यते। यथा चानुविसर्पतेति। अनेकधा दोषाणां विसर्पणं गतिरूर्ध्वाधस्तिर्यगादिभेदेन, तथा विसर्पता। संप्राप्तिपर्यायावाह-शास्त्रे व्यवहारार्थं लक्षणार्थं च—जातिरागतिरिति। जात्यादिभिः शब्दैर्याऽभिधीयते सा संप्राप्तिरिति। 'जातिरागतिरिति जन्मापि ज्ञानकारणम्, अजातस्य ज्ञानाभावात्' इत्याह भट्टारहरिचन्द्रः। एतेनैतदुक्तं भवति-न हि निदानादिवद्बोधकत्वेन ज्ञानकारणत्वं, किन्तु बोधविषयत्वेन[1]। तन्न-इत्यन्ये, आलोकचक्षुरादेरिव एवंविधसंप्राप्तश्चिकित्सायामनुपयोगात्। न चास्ति नियमो जातमेव विज्ञायत इति, अजातस्य व्याधेर्निदानपूर्वरूपाभ्यां वृष्ट्यादेरिव मेघादिना ज्ञायमानत्वात्। अथ जातमिति जन्मावच्छिन्नमुच्यते, वृष्ट्यादिकं च भविष्यज्जन्मावच्छिन्नमेव, यस्य तु कालत्रयेऽपि जन्म नास्ति तन्न ज्ञायत एव; तथाऽपि न व्याधिजन्म संप्राप्तिः,[2] जन्मवदालोकचक्षुरादेरपि वाच्यत्वापत्तेः;[3] तैरपि विना ज्ञानाभावात्[4]।

---

१. 'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत।' (च. वि. अ. ४)
२. 'निदानत्वेन ये उक्ता आहाराचारादयस्तैरनुपशयो दुःखं निदानोक्ताऽनुपशयः।' (ज्वरनिदानम्)

---

१. 'विषयत्वेन' इति क.। २ 'तथापि न व्याधिजन्मसम्प्राप्तिः' इत्यत्र 'न' इत्येव क. स. पुस्तकयोः पठ्यते। ३. 'बाध्यत्वापत्तेः' इति क.। ४. 'जातमिति विज्ञानाभावात्' इति क.।

तस्माद्दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म संप्राप्तिः न तु केवलं जन्मेति भट्टारहरिचन्द्राभिप्रायः। वाग्भटेनापि 'यथा दुष्टेन' (वा. नि अ. १) इत्यादि वदता विशिष्टमेव व्याधिजन्म संप्राप्तिरुक्ता; तथा च सति क्रियाविशेषो लभ्यते; यथा—ज्वरे आमाशयदूषणाग्निहननादिबोधे लङ्घनपाचनस्वेदादिकरणमिति। सम्प्राप्तिश्चैवंविधा यद्यपि दोषाणामवान्तरव्यापारत्वेन दोषग्रहणेनैव प्राप्यते, तथाऽपि चिकित्साविशेषार्थमेव पृथक् क्रियते, यथा—ज्ञापकत्वाविशेषेऽपि पूर्वरूपमेव रूपात् पृथगिति। तस्माद्दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म संप्राप्तिरित्येव लक्षणम् ॥ १० ॥

विमर्श—रोग की सम्यक् प्राप्ति ही सम्प्राप्ति है। अर्थात् कौन दोष किस निदान के सेवन से कितने अंशों में और किस प्रकार (प्राकृत या वैकृत आदि भेद से) प्रकुपित होकर शरीर में घूमता हुआ तथा किन धातुओं या अवयवों को दूषित करता हुआ किस आशय में स्थानसंश्रय द्वारा व्याधि को उत्पन्न करता है, इस व्यापार-परम्परा को सम्प्राप्ति कहते हैं। यथा—

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य बाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तच्चाधस्तात् काकणन्तीप्रकाशम् ॥
निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड् वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥

इस सम्पूर्ण श्रृङ्खला को देखकर शोकातिसार तथा उसकी चिकित्सा-विशेष का ध्यान सहज ही हो जाता है। वैसे ही अन्य रोगों मे भी समझना चाहिये। निदान-सेवन के अनन्तर रोगोत्पत्तिपर्यन्त शारीरान्तर्गत ज्ञात या अज्ञात सम्पूर्ण परिवर्तन सम्प्राप्ति के द्वारा समझे जाते है। आधुनिक दृष्टि से विकृतशरीर (Pathogenesis) को सम्प्राप्ति कह सकते है। इस प्रकार रोग के प्रधान या सहायक कारणभूत पूर्वरोग, लिङ्ग (Sex), आयु, देश, काल, जीवाणु या आहार विहार एवं तज्जन्य शरीरान्तर्गत परिवर्तनों की सम्पूर्ण परम्परा को सम्प्राप्ति के अन्तर्गत समझना चाहिये।

दोषों की दुष्टि प्राकृत, वैकृत, अनुबन्ध्यरूप या अनुबन्धरूप, एकदोषदुष्टि, द्विदोषदुष्टि तथा समस्तदोषदुष्टि भेद से नाना प्रकार की होती है। यह दोषदुष्टि वातादिप्रकोपक रूक्ष आदि समस्त अथवा अल्प गुणों से तत्समान होती है। इस प्रकार प्राकृत आदि भेद एवं रूक्षादि समस्त या अल्प गुणों से दूषित दोष के द्वारा विभिन्न धातु एव अवयवों की विकृति के परिणाम-स्वरूप रोग की उत्पत्ति को सम्प्राप्ति कहते है। ऊर्ध्व, अधः और तिर्यग् भेद से दोषों की गति भी अनेक प्रकार की है। दोष विभिन्न धातुओं की दुष्टिपूर्वक किसी विशिष्ट धातु या अवयव में स्थित होकर वहां रौक्ष्य, क्षोभ, क्लैद्य, मार्दव, संकोच, शोथ आदि एक या अनेक विकारों को उत्पन्न करता है। इन विकारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न लक्षण या लक्षणसमूह को रोग कहते हैं। तथा निदान-सेवन से लेकर रोगोत्पत्ति-पर्यन्त होने वाले समस्त परिवर्तनों को सम्प्राप्ति कहते हैं।

जाति तथा आगति सम्प्राप्ति के पर्याय हैं, एवं शास्त्र में इनका वर्णन व्यवहार एवं लक्षण के लिये किया जाता है। जाति आदि पर्यायों द्वारा कथित अर्थ सम्प्राप्ति कहलाता है।

'जनी प्रादुर्भावे' धातु से जाति शब्द की सिद्धि होती है। अतः भट्टार हरिचन्द्रजी का कथन है कि वस्तु का जन्म भी ज्ञान में कारण होता है; क्योंकि विना जन्म के कोई वस्तु जानी नहीं जा सकती। तात्पर्य यह है कि व्याधिजन्म की ज्ञानकारणता ज्ञापककारण निदान और पूर्वरूप आदि के समान नहीं है अपितु ज्ञान का विषय होने से ही है। वस्तु की सत्ता जिस प्रकार ज्ञान में कारण है वैसे ही व्याधि का जन्म भी व्याधि-ज्ञान मे कारण हो सकता है। अन्य आचार्यों का मत इसके विरुद्ध है। उनका कथन है कि ज्ञान के साधन प्रकाश और चक्षु आदि इन्द्रियों के समान इस प्रकार की सम्प्राप्ति का चिकित्सा मे किञ्चिन्मात्र भी उपयोग नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि यद्यपि रोगज्ञान में प्रकाश एवं चक्षु का होना भी परमावश्यक है अतः उनको भी निदानादि के समान पृथक् रोगज्ञापक स्वीकार कर सकते हैं तथापि चिकित्साविशेष की दृष्टि से उनका कोई महत्त्व

नहीं है अतः उनका पाठ भी अनपेक्षित है। प्रकृत में उनका ही कथन अपेक्षित है जो चिकित्सा में उपयोगी हों क्योंकि निदान आदि प्रत्येक का प्रयोजन रोगज्ञापक होने के साथ-साथ अन्तिम एवं परम प्रयोजन चिकित्साविशेष को ही स्वीकार किया गया है। किन्तु जन्म रोगज्ञापक होते हुए भी चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्व का नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यह भी कोई नियम नहीं है कि उत्पन्न वस्तु का ही ज्ञान हो; क्योंकि मेघदर्शन से भावी (अजात) वर्षा के ज्ञान के समान निदान एवं पूर्वरूप के द्वारा अनुत्पन्न व्याधि का भी बोध होता है।

यदि कहें कि जात का अर्थ जन्मावच्छिन्न (जन्मयुक्त) है। (अर्थात् जो पदार्थ जन्म ग्रहण कर चुका है या पुनः उत्पन्न हो सकता है। जैसे वर्षा भावी होते हुए भी जन्मावच्छिन्न है और मेघमाला आदि पूर्वरूपों से उसका ज्ञान भी सम्भव है उसी प्रकार रोग भी जन्मावच्छिन्न है अतः उसका जन्म के पूर्व भी ज्ञान सम्भव है। किन्तु जिस वस्तु का त्रिकाल में जन्म नहीं होता उसका ज्ञान भी असम्भव है। इसी प्रकार जात या जन्मावच्छिन्न रोग भी ज्ञेय पदार्थरूप मे रोगज्ञान का कारण है। और जिस रोग का त्रिकाल में भी जन्म नहीं है उसका किसी भी प्रकार ज्ञान सम्भव नहीं है। इसलिए जन्म भी ज्ञान का कारण है। तब भी व्याधिजन्म को चिकित्सा में अनुपयोगी होने से सम्प्राप्ति स्वीकार करना ठीक नहीं अन्यथा जन्म के समान चक्षु आदि को भी ज्ञापक स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि उनके बिना भी व्याधि का पूर्ण ज्ञान नहीं होता।

अतः व्याधिजनक दोष के विविध व्यापारों एव परिणामों से युक्त व्याधिजन्म ही सम्प्राप्ति है-केवल जन्म नहीं[1] अर्थात् निदान सेवनानन्तर दोषदुष्टि से लेकर लक्षणोत्पत्ति पर्यन्त सम्पूर्ण व्यापार-परम्परा को ही सम्प्राप्ति कहते हैं। वाग्भट ने भी इसी अभिप्राय से **'यथा दुष्टेन'** आदि श्लोक के द्वारा अनेक विशेषणों से युक्त व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति कहा है। इन विशेषणों के प्रयोग से दोषदुष्टि के स्वरूप और उनकी विशिष्ट गति आदि का यथार्थ ज्ञान से व्याधिशमनार्थ चिकित्सावैशिष्ट्य (Specific treatment) का ज्ञान भी आसानी से हो सकता है। ज्वरसम्प्राप्ति में वर्णित आमाशयदुष्टि अग्निनाश[2] एव स्वेदावरोध का ज्ञान होने पर लङ्घन, पाचन एवं स्वेदन आदि चिकित्सा का स्वयमेव ज्ञान हो जाता है।

यद्यपि निदान-विवेचन में वर्णित दोषों के प्राकृत, वैकृत, आशयापकर्ष आदि अनेकविध भेदों के विवेचन करने से ही उपर्युक्त लक्षणवाली सम्प्राप्ति का बोध हो जाता है, किन्तु चिकित्साविशेष के ज्ञान के लिये इसका पृथक् वर्णन करना अपेक्षित है। जैसे-पूर्वरूप और रूप दोनों ही व्याधि के ज्ञापक होने से समान हैं तथापि चिकित्साविशेष के लिये दोनों का पृथक् ही पाठ किया गया है। व्याधि की पूर्वरूपावस्था एव रूपावस्था में प्रयुक्त चिकित्सा में परस्पर विभेद होता है। एक ही रोग की

१. चक्रपाणिजी ने भी इसी आशय से कहा है—

'तस्माद् व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्तं व्याधिजन्मेह सम्प्राप्तिः'।

२. 'स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयमूष्मणः स्थानमूष्मणा सह मिश्रीभूय आद्यमाहारपरिणामधातुं रसनामानमन्ववेत्य रसस्वेदवहानि स्रोतांसि पिधायाग्निमुपहत्य पक्तिस्थानादूष्माणं बहिर्निरस्य केवलं शरीरमनुप्रपद्यते तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति।' (च. नि. १ २४)

यह वातिकज्वर की सम्प्राप्ति का वर्णन है, पैत्तिक आदि ज्वरों की सम्प्राप्ति का भी वर्णन इसी प्रकार किया गया है। आमाशय कफ का स्थान है, ज्वरितावस्था में दोष भी इसमें ही आश्रित रहते हैं, परिणामस्वरूप पाचकरसों की हानि तथा रस और स्वेदवह स्रोतों में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। अतएव चिकित्साक्रम में सर्वप्रथम 'स्थान जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधतः' इस वचन के अनुसार लंघन कराकर यवागू सदृश पाचन एवं स्रोतोरोध को दूर करने के लिये स्वेदन आदि का प्रयोग कराया जाता है।

पूर्वरूपावस्था की चिकित्सा रूपावस्था में अनुपयुक्त या हानिप्रद हो सकती है, इसी प्रकार रूपावस्था की चिकित्सा पूर्वरूपावस्था में अप्रयोज्य होती है।

संप्राप्तिभेदानाह—

संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः ।
सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यतेऽष्टौ ज्वरा इति ॥ ११ ॥
दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना ।
स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत् ॥ १२ ॥
हेत्वादिकात्स्न्र्यावयवैर्बलाबलविशेषणम् ।
नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥१३॥ (वा. नि. अ. १)

संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल और काल की विशेषताओं के आधार पर सम्प्राप्ति के भेद किये जाते है। जैसे आगे (ज्वरनिदान में) कहेंगे कि ज्वर आठ होते है। (यह सख्यासंप्राप्ति हुई), रोगोत्पत्ति में कारणभूत दोषों की अंशांशकल्पना (न्यूनाधिक्य आदि) का विवेचन विकल्प संप्राप्ति, स्वतन्त्रता और परतन्त्रता द्वारा दोषों का प्राधान्य या अप्राधान्य विवेचन, प्राधान्य संप्राप्ति हेतु, पूर्वरूप और रूप की सम्पूर्णता या अल्पता के द्वारा बल या अबल का विवेचन, बलसम्प्राप्ति और दोषानुसार रात्रि, दिन, ऋतु एवं भोजन (के परिपाक) के अंश (आदि, मध्य और अन्त) द्वारा रोगकाल का ज्ञान कालसम्प्राप्ति समझना चाहिये ॥ ११–१३ ॥

तस्या औपाधिकभेदमाह—संख्येत्यादिना सा भिद्यत इत्यन्तेन । अत्र च प्राधान्योपादानादप्राधान्यं च तत्प्रतियोगितया बोद्धव्यम्, अत एव च विवरणे स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति वक्ष्यति । एवं बलेऽपि व्याख्येयम् । संख्यादिकमेव विवृणोति—यथेत्यादि । अष्टौ ज्वरा इति संख्याविवरणम् । अष्टत्वं च वातादिकारणभेदात ; एकजास्त्रयो द्वन्द्वजास्त्रयः; सन्निपातज एक, आगन्तुजश्चैक[1] इति । यद्यपि वृद्धैर्दोषैः सन्निपातास्त्रयोदश, यदुक्तं चरकेण—'द्व्युल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट् । समश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश' (च. सू. अ. १७) इति; तथाऽप्यत्र त्रिदोषजत्वसामान्यात् सान्निपातिक एकत्वेन गणितः । एवं कामशोकभयाद्यनेककारणजोऽप्यागन्तुज आगन्तुजत्वसामान्यादेकत्वेन निर्दिष्ट इत्यष्टौ ज्वरा इति । विकल्पं विवृणोति—दोषाणामित्यादि । समवेतानां परस्परसम्बद्धानां; तेन द्वन्द्वसन्निपातयोर्ग्रहणम् । अंशांशकल्पनेति–अंशा वातादिगतरौक्ष्यादयः, तैरेकद्वित्र्यादिभिः समस्तैर्वा वातादिकोपावधारणकल्पना । यदुक्तं सुश्रुते—'सर्वभावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः । संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति–' इति (सु. सू. अ. २१) । एवंविधश्च दोषकोपो निदानवैचित्र्याद्भवति । तद्यथा—वातस्य रौक्ष्यशैत्यलाघववैशद्यादिगुणस्य एवंगुणः कषायरसः कलायश्च सर्वैर्भावैर्वर्धकः; रौक्ष्यशैत्यलाघवैस्तण्डुलीयकः, रौक्ष्यशैत्याभ्यां काण्डेक्षुः, रौक्ष्येण सीधुः; तथा पित्तस्य[2] सर्वभाववर्धकः कटुको रसो मद्यं च, हिङ्गु कटूष्णतीक्ष्णत्वैः, दीप्यकस्तैक्ष्ण्यौष्ण्याभ्याम्, औष्ण्येन तिलाः, तथा श्लेष्मणः[3] सर्वैर्भावैर्वर्धको मधुरो रसो माहिषं च पयः, स्नेहगौरवमाधुर्यैः राजादनफलं, कशेरुः शैत्यगौरवाभ्यां,[4] शैत्येन क्षीरिणां फलानीति । अपरगुणोदाहरणप्रकारा[5] जेज्जटगदाधरवाप्यचन्द्रव्याख्याविशेषाश्च विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिखिताः । प्राधान्यं विवृणोति—स्वात-

---

१. 'एकजा द्वन्द्वजाश्च त्रयः' इत्येव पठ्यते क. ख. पुस्तकयोः । २. 'कट्वम्लतीक्ष्णोष्णगुणस्य पित्तस्य' इत्यातङ्कदर्पणे । ३. 'स्नेहमाधुर्यशैत्यगुणस्य श्लेष्मणः' इत्यातङ्कदर्पणे । ४. 'शैत्येनैकेन मृणालम्' इति आतङ्कदर्पणे । ५. 'जेज्जटादीनां ग्रन्थे ज्ञातव्याः' । 'सर्वैरंशैः कषायश्च कलायो

न्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति । अनुबन्धभावेनेत्यर्थः । अत्रापि 'दोषाणां समवेतानाम्' इत्यनुवर्तनीयम् । 'अप्राधान्यं च' इति शेषः, गम्यमानत्वान्नोपदर्शितम् । तेन स्वातन्त्र्यात् प्राधान्यं, पारतन्त्र्यादप्राधान्यमिति सिध्यति । बलं विवृणोति—हेत्वादीत्यादि । हेतुपूर्वरूपरूपाणां साकल्याद्व्याधेर्बलवत्त्वं, तेषामवयवेनैकदेशेनाबलवत्त्वम् । कालं विवृणोति—नक्तमित्यादि । नक्तं रात्रिः, दिनमहः, ऋतवो वसन्तादयः, भुक्तमाहारः, एषामंशैरेकदेशैः; व्याधिकालो व्याधिवृद्धिहानिहेतुः कालः । अत्र, ऋतोरंशाः[1] कतिपयान्यहोरात्राणि, यदाह वाग्भटः—'ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसंधिरिति स्मृतः' इति (वा. सू. अ. ३); [2]संवत्सररूपस्य कालस्य ऋतुरूपोऽशः ऋत्वंश इत्येवमपि योज्यं, नत्वेकस्य ऋतोर्दिनादिवदादिमध्यान्ता ऋत्वंशाः, ऋतोः समुदितस्य तत्र कारणत्वेनोक्तत्वात् । यथामलं यथादोषं; तद्यथा—रात्रेरादौ श्लेष्मा, मध्ये पित्तं, शेषे वायुः, एवं दिनस्य; वसन्ते कफस्य, शरदि पित्तस्य, वर्षासु वायोः; एवं भुक्तादौ भुक्तमात्रे कफस्य, मध्ये पच्यमानावस्थायां पित्तस्य, अन्ते सम्यक्परिणते भुक्ते वायोः प्रकोप इति । यदुक्तं वाग्भटेनैव—'ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः । वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्' इति (वा. सू. अ १) । अत्र ते इति क्रमेण वातपित्तश्लेष्माणः । ननु, संप्राप्तिभेदे चरकेण संख्यादिवद्विधिरप्युक्तः; यथा—'द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन' (च. नि. अ. १); 'त्रिविधं रक्तपित्तम्' (च सू. अ. १९) इत्यादि; तत् कुतोऽत्र विधिर्नोक्तः ? उच्यते, संख्याग्रहणेन विधेरवरोधः, तस्याव्यभिचरितसंख्यायोगित्वात् । विधिसंख्ययोश्चायं भेदः—विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयानामेव कस्यचिद्धर्मान्तरस्यान्वयाद्भवति, यथा—रक्तपित्तत्वाविशेषेऽप्यूर्ध्वगादिप्रकारो भवति; संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि; यथा—चत्वारो घटाः, अष्टौ ज्वरा इति । अत्रैव विधिर्हि प्रकारः, स च भिन्नेषु न युक्तः, अतः संख्यादिभिन्नेषु[3] व्याधिषु कारणधर्मानुगतः प्रकारो युज्यते । तथा च न्यायविदो ब्रुवते—'समानेन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधिः, संख्या तु भेदमात्रम्' इति; वैयाकरणा अपि व्याचक्षते—अन्वयवान् प्रकारः, निरन्वयो भेदः' इति वाप्यचन्द्रो लिखितवान् । ननु, यथांऽशांशविकल्पनादिना ज्वरो ज्ञायते न तथा संख्यया । उच्यते—संख्याभेदेन व्याधेर्दोषभेदो ज्ञायते, यतो ज्वरादिकं स्वरूपतो ज्ञात्वा चिकित्सार्थं विशेषो जिज्ञास्यः, कतमोऽयं ज्वरः ? इति; तस्मिन् ज्ञाते विशेषो भवतीति परंपरया कारणत्वं संख्यायाः । तत्र यद्युत्पद्यमान एवासौ दोषभेदाद्भिन्नो जा (ज्ञा) तस्ततो युक्तमस्य पर्येषणं-कतमोऽयमिति । कुतः ? चिकित्साविशेषार्थम् । इति संप्राप्तिलक्षणम् ॥ ११-१२ ॥

विमर्शः—संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल तथा काल भेद से सम्प्राप्ति का भेद होता है । आगे क्रमशः उनके लक्षण एवं उदाहरण दिये जाते हैं—

संख्यासम्प्राप्तिः—जिसके द्वारा रोगों के भेदों की गणना की जाती है उसको संख्यासंप्राप्ति कहते हैं । यथा—आगे कहा जायेगा कि ज्वर आठ प्रकार के होते हैं । चरक ने भी कहा है—

संख्या तावद्यथा—'अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठान्येवमादिः' (च. नि. १।१२)

वात आदि कारणभेद से ज्वर आठ प्रकार के होते हैं, यह संख्यासम्प्राप्ति का उदाहरण है । वात आदि प्रत्येक से तीन, द्वन्द्वज तीन, सन्निपातज एक तथा आगन्तुज एक इस प्रकार ज्वर के आठ भेद होते हैं । यद्यपि वृद्ध दोषों से सन्निपात के तेरह भेद होते हैं जैसा कि चरक ने कहा भी है—

वातवर्धनः । पित्तस्य कटुको दीप्यः, श्लेष्मणो माहिषं पयः' । 'विशेषेण ग्रन्थस्य विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिखिताः ।' इति क. ।

१. 'त्वोरंशा' इति क ख । २. ननु ऋतुरूपकालस्यांशा व्याध्युत्पादका भवन्ति, विशिष्टस्य व्याधिहेतुत्वात् , ततोंऽशशब्दस्य कथमृतुशब्दप्रयोगः ? तत्र, संवत्सररूपस्य च कालस्य ऋतुरूपोऽशः ऋत्वंश इति योज्यं, नत्वेकस्य ऋतोर्दिनादिर्मध्यान्तावंशाः' इति क. ।

'द्व्युल्बणै' रित्यादि—अर्थात् दो उल्बण और एकोल्बण दोषों से छ भेद, हीन मध्य तथा अधिक दोषों से छ भेद, समदोषो से एक भेद इस प्रकार सन्निपात के तेरह भेद होते हैं। तथापि सभी त्रिदोषज हैं अतः त्रिदोषज जाति के कारण ये तेरह प्रकार के एक मे ही अन्तर्भूत है। निम्न कोष्ठक के द्वारा संनिपात के तेरह भेदों का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है—

द्व्युल्बणैकोल्बणैः षट् स्युः

	वृद्ध	वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतर	
१	वात	—	पित्त	कफ	द्व्युल्बण
२	पित्त	—	कफ	वात	
३	कफ	—	वात	पित्त	
४	वात	पित्त	कफ	—	एकोल्बण
५	पित्त	कफ	वात	—	
६	कफ	वात	पित्त	—	

हीनमध्याधिकैश्च षट्

	वृद्ध	वृद्धतर	वृद्धतम	
१	वात	पित्त	कफ	हीन-मध्य और अधिक
२	वात	कफ	पित्त	
३	पित्त	कफ	वात	
४	पित्त	वात	कफ	
५	कफ	वात	पित्त	
६	कफ	पित्त	वात	

समैश्चैकः

	वृद्ध	वृद्ध	वृद्ध	
१	वात	पित्त	कफ	सम, कुल संख्या १३

इसी प्रकार काम, शोक, भय आदि कारणों से उत्पन्न होने वाले सभी ज्वर आगन्तुकत्व सामान्य के कारण आगन्तुज भेद में ही अन्तर्भूत होने से एक ही कहे जाते है। इस प्रकार आठ ज्वर होते हैं।

२. विकल्पसम्प्राप्ति—व्याधि में समवेत (परस्पर सम्बद्ध) दोषो की अंशांशकल्पना को विकल्पसम्प्राप्ति कहते है। वात आदि दोष में रहने वाले रूक्षता आदि प्रत्येक धर्म अंश हैं। अमुक दोष इतने अंशों से प्रकुपित हुआ है इसके निर्णय को ही अंशांशकल्पना कहते है। विकल्प का विवेचन करते हुए चरक ने कहा है—

'समवेतानां पुनर्दोषाणामंशांशबलविकल्पोऽस्मिन्नर्थे' (च० नि० १।१५)

अर्थात् सब (एक दो या तीनों) दोषों के उत्कर्षापकर्षरूप अंशांशबल को विकल्प कहते है। वात आदि के रूक्षता[1] आदि गुणों को अंश कहते हैं। इस गुण समूह के एक, दो, तीन या समस्त अंशों

१. रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः—वातगुणाः।
सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु—पित्तगुणाः॥
गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः—श्लेष्मगुणाः ।

से वात आदि के प्रकोप का निश्चय करना ही अशांशकल्पना है। अर्थात् कितने प्रकोपक गुणों से दोष का प्रकोप हुआ है इसका सूक्ष्म विवेचन करना ही विकल्प या अशांशकल्पना कहलाता है। सुश्रुत ने भी कहा है कि—'रौक्ष्य आदि सम्पूर्ण, तीन, दो या एक गुण से भी ससर्ग में कुपित दोष दूसरे कुपित दोष का अनुगमन करता है'। इस प्रकार का दोषप्रकोप निदान की विचित्रता का ही फल है। द्रव्य और उनके रसों में दोषों के ही समान (सम्पूर्ण या कुछ) गुण रहते है अतः प्रकोपक द्रव्य या रस में दोषप्रकोपक जितने अश रहते हैं उनसे ही दोषों का प्रकोप होता है। यथा कषायरस तथा कलाय (मटर भेद खिसारी) रूक्षता आदि सब गुणों से युक्त होने के कारण रौक्ष्य, शैत्य, लाघव, वैशद्य आदि गुणों से युक्त वात को सभी अशों से बढाता है। तण्डुलीयक (चौराइ) रूक्षता, शीतता तथा लाघव इन तीनों गुणों से वात का वर्धक है। काण्डेक्षु रूक्षता और शीतता गुणों से ही वात को बढाता हैं सीधु (शराबभेद) केवल रूक्षता गुण से ही वात का वर्धक है।

कटु रस तथा मद्य में पित्तवर्धक सभी अश विद्यमान है अतः वह पित्त का सर्वांशवर्धक है। हिंगु कटु, तीक्ष्ण एव उष्ण इन तीनों गुणों से पित्त को बढाता है। अजवाइन तीक्ष्णता तथा उष्णता गुण से और तिल केवल उष्णता के कारण ही पित्त के वर्धक हैं।

मधुर रस और भैस का दूध श्लेष्मवर्धक सम्पूर्ण अंशों से कफ का वर्धन करते हैं। खिरनी स्नेह, गौरव और माधुर्य से कफ का प्रकोप करती हैं। कसेरू शैत्य और गौरव के कारण तथा क्षीरी वृक्षों के फल केवल शैत्य गुण के कारण कफ के वर्धक होते हैं। गुणों के अन्य उदाहरण जेज्जट, गदाधर और वाप्यचन्द्र की टीकाओं में लिखित है, उनका उल्लेख विस्तारभय से यहां नही किया जा रहा है।

३. प्राधान्यसम्प्राप्तिः—प्राधान्य के कथन मे अप्राधान्य का भी बोध हो जाता है। व्याधि में सम्बद्ध दोषों की स्वतन्त्रता एवं परतन्त्रता के आधार पर व्याधि की प्राधान्य या अप्राधान्य-सम्प्राप्ति का निर्देश करना चाहिये[१]। अर्थात् व्याध्युत्पादक दोषों की स्वतन्त्रता का जिसके द्वारा ज्ञान हो उसे उस व्याधि की प्राधान्यसम्प्राप्ति और जिसके द्वारा दोषों की परतन्त्रता का ज्ञान हो उसे उस व्याधि की अप्राधान्यसम्प्राप्ति कहते हैं। ज्वर, अतिसार आदि द्वन्द्वज या त्रिदोषज रोगों में जिस दोष की प्रधानता होगी, प्राधान्यसम्प्राप्ति भी उसी के नाम से व्यवहृत होगी। चिकित्सा-क्रम का निर्धारण भी मुख्यतः उनके अनुसार ही किया जायगा। इसके विपरीत अप्राधान्य-सम्प्राप्ति होती है। चरकोक्त प्राधान्यसम्प्राप्ति का वर्णन भी वाग्भट के समान ही है। उन्होंने कहा है—

'प्राधान्यं तरतमाभ्यामुपलभ्यते तत्र द्वयोस्तरस्त्रिषु तम इति।' (च० नि० १।१३)

४. बलसम्प्राप्तिः—निदान, पूर्वरूप और रूपों की सम्पूर्णता या अल्पता के कारण व्याधि के बलाबल का ज्ञान जिससे होता है उसे बलरूप सम्प्राप्ति कहते है। अर्थात् हेतु, पूर्वरूप और रूप की अधिकता वाली व्याधि को सबल समझना चाहिये, इसके विपरीत हेतु आदि की अशतः उपस्थिति रहने पर व्याधि को निर्बल समझना चाहिये। चरक ने बलसम्प्राप्ति को पृथक् न मान कर कालसम्प्राप्ति में ही उसका सम्बन्ध कर तथा विधि सम्प्राप्ति का पृथक् उल्लेख कर पाच प्रकार की ही सम्प्राप्ति मानी है।

---

१. 'स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः' इति (चरकः) 'अनुबन्ध्यः प्रधानम्, अनुबन्धोऽप्रधानम्' (इति विजयरक्षितः)।

५ **कालसम्प्राप्तिः**—जिस सम्प्राप्ति में काल के द्वारा अर्थात् रात्रि, दिन, ऋतु एवं भोजन के विशिष्ट अंशों (आदि, मध्य एवं अन्त) में व्याधि की वृद्धि तथा उत्पत्ति के द्वारा दोषविशेष का निर्धारण होता है उसे कालरूप सम्प्राप्ति कहते हैं।

रात्रि के प्रथम भाग में कफ, मध्य में पित्त एवं अन्त में वात का प्रकोप होता है। इसी प्रकार दिन के तीन भाग और भोजन के आम, पच्यमान और पक्व अवस्था अर्थात् पाचन के आदि, मध्य और अन्त में क्रमशः कफ, पित्त और वायु की वृद्धि या प्रकोप होता है[1]। तथा वसन्त, शरद् और वर्षा ऋतुओं में भी यही क्रम रहता है। जैसे—कफज व्याधियों की उत्पत्ति या वृद्धि प्रातःकाल या रात्रि के आरम्भ या भोजन के बाद तत्काल होती है। इस प्रकार इन समयों में जिस रोग की उत्पत्ति या वृद्धि हो उसे कफज समझना चाहिए। उसी प्रकार संवत्सर रूप काल के अंश वसन्त आदि ऋतुओं में स्वभावतः प्रकुपित होने वाले दोषों से उत्पन्न रोग की उत्पत्ति या वृद्धि उस ऋतु में होगी। जैसे वसन्त में कफ, शरद् में पित्त एवं वर्षा मे वायु। कुछ लोग ऋतु के कतिपय दिनों को ऋत्वंश कहते हैं इसीलिये वाग्भट ने कहा है—पहली ऋतु के अन्तिम और दूसरी के प्रथम सप्ताह को ऋतुसन्धि कहते हैं[2]। किन्तु वर्षरूप काल का ऋतु भी एक अंश है, यह अर्थ ही उचित है। एक ही ऋतु के आदि, मध्य, और अन्त में विभिन्न दोषों के प्रकोप की कल्पना करना अनुचित है; क्योंकि सम्पूर्ण ऋतु को ही दोषप्रकोप का कारण कहा गया है उसके अंश को नहीं। कालविशेष सम्बद्ध होने से इसे कालसम्प्राप्ति कहते है। चरक इसके साथ बल को भी संयुक्त करके निम्न प्रकार से लक्षण करते हैं—**'बलकालविशेषः पुनर्व्याधीनामृत्वहोरात्रकालविधिनियतो भवति'**। (च० नि० १।११६) किन्तु यहां 'बलस्य=वृद्धेः कालः' अर्थात् रोग की वृद्धि का काल यह अर्थ है।

संख्या और विधि—

चरक ने **'सम्प्राप्तिर्जातिरागतिरित्यनर्थान्तरं व्याधेः, सा संख्याप्राधान्यविधिविकल्पबलकालविशेषैर्भिद्यते'** इस सम्प्राप्तिलक्षण तथा उसके भेदों के निरूपण में संख्या आदि के समान 'विधि' भेद का भी उल्लेख करते हुए **'विधिर्नाम—द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन, त्रिविधा त्रिदोषभेदेन, चतुर्विधः साध्यासाध्यमृदुदारुणभेदेन'** इस सूत्र के द्वारा उसके पृथक् उदाहरणों का भी स्पष्ट निरूपण किया है किन्तु वाग्भट ने इस भेद की पूर्णतः उपेक्षा करने का सन्देह उत्पन्न कर दिया है। विजयरक्षितजी इसका समाधान करते है कि 'संख्या के ग्रहण से विधि का भी ग्रहण हो जाता है। उसका पृथक् पाठ करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि विधि का संख्या से नियमित संबंध है।' विधिप्रयुक्त द्विविध, त्रिविध आदि शब्दों में नियमतः संख्या का ही प्रयोग होता है। इस प्रकार विधि संख्या से अतिरिक्त नहीं है अतः पृथक् विवेचन भी अनावश्यक है। शास्त्र और लोक में क्वचित् संख्या एव क्वचित् विधि शब्द के प्रयोग के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इन दोनों के उचित अर्थक्षेत्र की मर्यादा का ज्ञान करना भी परमावश्यक है। उसका ही निरूपण वाप्यचन्द्रजी के मतानुसार किया जा रहा है। विधि और संख्या में भेद केवल इतना है कि—विधि का अर्थ प्रकार है और उसका प्रयोग अवान्तर धर्मभेद के सम्बन्ध से एक ही जाति के दो या उससे अधिक व्यक्तियों में भेद प्रदर्शित करने के लिये किया जाता है। **यथा—त्रिविधं रक्तपित्तम्–तिर्यगूर्ध्वाधोगभेदात्**। यहाँ पर तिर्यग्ग, ऊर्ध्वग और अधोग में रक्तपित्तत्व जाति समान रहने पर भी ऊर्ध्वग और अधोग स्वरूप धर्मभेद को मानकर रक्तपित्त में संख्या के साथ-साथ विधि शब्द का

---

१. ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः ।
वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात् ॥

२. ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः ।

भी प्रयोग किया गया है। किन्तु सख्या का प्रयोग अवान्तरधर्मनिरपेक्ष व्यक्तिभेद की गणना मात्र में होता है। अर्थात् पृथक् वस्तुओं की गणना, बिना किसी विशिष्ट अवान्तर धर्म के विचार के ही करना सख्या है। संख्या का प्रयोग सर्वत्र किया जा सकता है। **'यथा चत्वारो घटाः, अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठानि'** यहाँ पर घट तथा ज्वर आदि की सामान्य गणना के लिये सख्या का प्रयोग किया गया है यहाँ पर अपेक्षा नही है कि घट किस-किस धातु के बने हैं एव ज्वर किस धर्मविशेष से युक्त है, किन्तु परस्पर भिन्न अवश्य हैं, केवल इसी का निर्देश संख्या के द्वारा किया गया है।

विधि शब्द का अर्थ प्रकार कहा गया है, उसका प्रयोग भिन्न जाति के व्यक्तियों मे नहीं किया जा सकता। यथा गोत्व गौ में ही रह सकता है अश्व में नही। किन्तु गौ भी अनेक प्रकार की होती है और भेद उनका भेद किसी विशेष धर्म के आधार पर करना होगा तो उसे विधि कहेंगे अतः यह उचित है कि सख्या विकल्प आदि के द्वारा भेद करने पर भी अवान्तरभेदक कारण के धर्म के अनुरूप प्रकार या विधि का भी प्रयोग किया जाये। तात्पर्य यह है कि सख्या आदि के द्वारा रोगों का भेद कर देने पर भी चिकित्सोपयोगी धर्मभेद के प्रतिपादनार्थ 'विधि' का कथन अवश्य करना चाहिये।

इस विषय में नैयायिकों का भी मत है कि जहाँ विभिन्न भेदों का निर्णय समान धर्म से किया जाता है वहाँ विधि शब्द का प्रयोग करना चाहिये। केवल भेद प्रदर्शित करने के लिये संख्या का प्रयोग करना उचित है। इसमें जाति की समानता या असमानता की अपेक्षा नहीं है। वैयाकरणों का भी कहना है कि[१] समान जाति में ही अवान्तर धर्म के सम्बन्ध से भेद को प्रकार (विधि) एवं समान या असमान जाति में भेदमात्रसूचक संख्या का प्रयोग किया जाता है। यथा काली और श्वेत दो प्रकार की गायें हैं—यहाँ पर भेद श्वेतत्व एवं कृष्णत्व के सम्बन्ध के समान जाति में ही किया गया है अतः प्रकार शब्द प्रयुक्त हुआ। इसी प्रकार पशु यह कहने से गाय, भैंस आदि सबका अथवा चार गाय कहने पर भिन्न-भिन्न रंग की भी गायों का बोध हो सकता है। अतः भेद मात्र का ही बोध होता है जिससे केवल संख्या का प्रयोग किया गया है।

विधि एवं संख्या का भेद-निरूपण करते हुए श्री पण्डित गंगाधर कविराज जी का कथन है— **'अत्र विधिस्तु प्रकारः, संख्या तु भेदमात्रम्, सजातीयविजातीयेषु पञ्च ब्राह्मणक्षत्रियाः। प्रकारस्तु सजातीयेषु भिन्नेषु धर्मान्तरेण उपपत्तिः'**। इसका तात्पर्य यह है कि विशेषण या धर्मविशेष को मानकर भेद कहने पर विधि शब्द का प्रयोग किया जाता है। यथा **'निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः'** यहाँ पर रोग विशेष्य है एवं निज और आगन्तु विशेषण। इन दो विशेषणों को ही आधार मानकर रोग के भेद किये गये हैं, अतएव यहाँ पर विधि शब्द का ही प्रयोग किया गया। इसी प्रकार—

'मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः। समश्चेति चतुर्विधः। कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः॥

यहाँ पर मन्द आदि चार विशेषणों द्वारा विशेष्यभूत अग्नि के चार भेद प्रतिपादित किये गये हैं अतः यहाँ भी विशेषण के आधार पर ही विधिशब्द का प्रयोग किया गया है।

किन्तु जहाँ भेदमात्र अभीष्ट है वहाँ केवल संख्या का ही प्रयोग करते हैं। यथा—**अष्टौ ज्वराः, पञ्च गुल्माः, सप्त कुष्ठानि**। इन सब में ज्वर आदि विशेष्य का भेद निर्देश बिना किसी विशेषण के किया गया है अतः यहाँ सख्या प्रयुक्त हुई है। **'पञ्च ब्राह्मणक्षत्रियाः'** यहाँ पर संख्या

---

१. अन्वयवान् प्रकारः—अन्वयः सम्बन्धः, स विद्यते यस्यासौ = अन्वयवान्। निरन्वयो भेदः—निर्नास्त्यन्वयः सम्बन्धो यस्यासौ निरन्वयः।

का प्रयोग विशेष्यप्रयुक्त ही है । क्वचित् संख्या और विधि दोनों का एकत्र प्रयोग भी हो सकता है । यथा—**'त्रयो रक्ताः, द्वौ श्वेतौ, पञ्च लोहमयाः कुम्भा', इति त्रिविधाः, दश च कुम्भाः'** यहाँ पर कुम्भरूप विशेष्य के आधार पर सख्या का तथा उनके विशिष्ट धर्मों के आधार पर विधि शब्द का एकत्र प्रयोग करने पर भी कोई दोष नहीं आता । इस प्रकार विधि को सख्या से भिन्न ही मानना चाहिये । यदि दोनों को एक ही माना जाय तो त्रिविध के साथ दस कहना असङ्गत प्रतीत होगा । इसके अतिरिक्त विधिरूप सम्प्राप्ति का परिणाम भी संख्यारूप सम्प्राप्ति से नितान्त भिन्न है । यथा ऊर्ध्वग रक्तपित्त में अधोमार्ग से हरण करने पर ही शान्ति होती है ऊर्ध्वहरण से नहीं । अधोग रक्तपित्त में ऊर्ध्वमार्ग से दोष निर्हरण कराने से लाभ होता है अधोनिर्हरण से नहीं । इस प्रकार वाग्भट तथा उनका अनुकरण करने वाले माधवकर ने जो विधि का अन्तर्भाव सख्या में ही किया है वह भ्रमपूर्ण है क्योंकि विधि के क्षेत्र में केवल संख्या का प्रयोग करना अनुपयुक्त है । चक्रपाणि ने भी कहा है कि **'संख्याद्यगृहीते व्याधिप्रकारेऽयं विधिशब्दो वर्तनीयः'** अर्थात् सख्या आदि मे अन्तर्भाव न होने योग्य व्याधि के विशिष्ट भेदों का निरूपण करने के लिये विधि शब्द का उपयोग करना चाहिये ।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि अंशांशकल्पना आदि भेदों के द्वारा ज्वर आदि व्याधि का जिस प्रकार विशेष ज्ञान होता है वैसे सख्या से नहीं, पुनः सख्या का पाठ क्यों किया गया ? इसके लिये कहते हैं कि संख्याभेद से व्याधि का दोषभेद जाना जाता है । अर्थात् दोषभेद से ज्वरादिरोग अनेक होने के कारण उन्हें जानने के लिये ही सख्या का प्रयोग करना पड़ा है ; अतः ज्वर आदि व्याधि को स्वरूप से जानकर भी चिकित्सा के लिये ज्वर के वातिक आदि विशेष भेदों को जानने के पूर्व ज्वर कितने होते हैं यह जानने की आवश्यकता पड़ती है फिर यह विचार किया जाता है कि इनमें से यह कौन सा ज्वर है । इन भेदों को जानने के पश्चात् ही चिकित्सा में वैशिष्ट्य किया जा सकता है । इस प्रकार सख्या में परम्परया कारणता है । किसी भी कारण से उत्पन्न रोग तत्काल दोषभेद से विशिष्ट रूपों को धारण कर सकता है, और चिकित्साविशेष के लिये उस भेद को जानना परमावश्यक होता है । यह भेद संख्या के ज्ञान से ही ज्ञात हो सकता है अतः सख्या का प्रयोग अवश्य करना चाहिये ।

इति सम्प्राप्तिलक्षणम् ।

उक्तनिदानपञ्चकमुपसंहरन्नाह—

इति प्रोक्तो निदानार्थः स व्यासेनोपदेक्ष्यते । (वा. नि. अ. १)

इस प्रकार निदान के सामान्य अभिधेयों (निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति) का निरूपण किया गया । सम्प्रति उसका विस्तार से वर्णन किया जायगा ।

उक्तं निदानपञ्चकमुपसंहरति—इतीत्यादि । इतिशब्दः समाप्तौ । निदानशब्दोऽत्र सामान्यवचनः, अर्थोऽभिधेयः । तन्निदानं संक्षेपेण स्वरूपलक्षणमात्रेणोक्तम्, अधुना व्यासेन विस्तरेणोपदेक्ष्यते कथयिष्यते, सकलेन ग्रन्थेन प्रतिरोगं निदानपूर्वरूपादय एव तद्विशेषैर्वक्तव्या इत्यर्थः ॥

विमर्शः—अब तक रोगज्ञान के साधन निदान आदि के स्वरूप का विवेचन किया गया है, किन्तु अब आगे प्रत्येक रोग के निदान, पूर्वरूप आदि का वर्णन किया जायगा ।

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ॥ १४ ॥
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् । (वा. नि. अ. १)

सभी रोगों के मूल कारण कुपित दोष ही हैं। किन्तु दोष प्रकोप का भी कारण अनेक प्रकार के अहित पदार्थों का सेवन (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम) है ॥ १४ ॥

द्विविधं हि रोगस्य कारणं विप्रकृष्टं सन्निकृष्टं च। तत्र विप्रकृष्टं विरुद्धाहारादि,[1] सन्निकृष्टं वातादि. तस्य वातादेः सर्वरोगेष्वव्यभिचरितकारणत्वमाह—सर्वेषामित्यादि। यदुक्तं सुश्रुते—'नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः। अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत्'[2] इति (सु सू. अ. ३५)। आगन्तुव्याधिषु यद्यप्युत्पत्तौ दोषकोपो नास्ति, तथाऽप्युत्पत्त्यनन्तरमवश्यभावी; उत्पन्नद्रव्ये गुणयोगवत्। यदुक्तं चरके-'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति' (च. सू. अ. २०)। निदानं कारणम्। मला दोषाः, मलिनीकरणात्। ननु, वातादीनां किमिदं दोषत्वम्?; अत्राहुरेके—स्वातन्त्र्येण दूषकत्वं दोषत्वं; रसादिदूष्यव्यवच्छेदार्थं 'स्वातन्त्र्येण' इति पदं, ते हि वातादिदुष्टाः सन्तो दूष्यान्तरदूषकाः। अत्राहुरन्ये—किमिदं स्वातन्त्र्यं? किं दोषान्तरनिरपेक्षत्वं हेत्वन्तरनिरपेक्षत्वं वा? आद्ये वातस्यैव दोषत्वं स्यात्, नतु वातसापेक्षयोः; कफपित्तयोः, यदुक्तं-'पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्'-इति; द्वितीये वातस्यापि न दोषत्वं, कफपित्तयोरिव निदानसापेक्षस्यैव तस्य दूषकत्वात्; तस्मात् 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं[3] दोषत्वम्' इति लक्षणम्। रसरक्तादिनिवृत्त्यर्थं 'प्रकृत्यारम्भकत्वम्' इति विशेषणम्। नहि वातादिप्रकृतिवच्छास्त्रे रसरक्तादिप्रकृतिरुक्ता;[4] वातादिप्रकृतित्वं च शरीरस्य वातादिदूषितशुक्रशोणितारब्धत्वम्[5]। यदाह चरकः-'दोषानुशायिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते'; यथा-'वातलाद्याः सदाऽऽतुराः' इति (च. सू. अ. ७)। सुश्रुतेनापि प्रकृतिलक्षणे 'वातप्रकृतिः स्फुटितकरचरणो जागरूकोऽनवस्थितचित्तः' (सु. शा. अ. ४) इत्याद्युक्तम्। प्रकृतिरोगयोश्चायं भेदः—प्रकृतिरपथ्यसेवया नात्यन्तं बाधते, यदुक्तं-'विषजातो यथा कीटो विषेण न विपद्यते। तद्वत् प्रकृतिभिर्देहस्तज्जातत्वान्न बाध्यते' (सु. शा. अ. ४) इति संक्षेपः। विस्तरस्तु सुश्रुतश्लोकवार्तिके[6] प्रश्नविधानाख्ये टीकासु च द्रष्टव्यः। ननु, 'प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्' इत्येवास्तु। सत्यं, विपक्षाद्व्यावृत्तिर्भवत्येव किंतु दोषस्वरूपं नोक्तं स्यादिति। सुश्रुतादिभिर्वातादेरिव प्रकोपकाल-प्रकोपण-निर्हरण-स्थानविशेष रोगविशेष-लिङ्गविशेषचिकित्साविशेषाणामभिधानाद्रक्तस्यापि दोषत्वं पूर्वटीकाकारैराषाढधर्मस्वामिदासादिभिः स्वीकृतं तदप्येतेन व्यवच्छिन्नम्, अधुनातनैरस्वीक्रियमाणत्वात्। ननु, दोषाश्चेत् कारणं तर्हि तेषां सर्वदा देहे सद्भावात् सर्वदा रोगोत्पादकत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—कुपिता इति, विकृतिमापन्नाः। ननु, तत्प्रकोपः स्वभावात्, कारणान्तराद्वा? नाद्यः, पूर्ववत्प्रसङ्गात्, अथ

१. 'आहारादि' इति क. ख.। २. अस्याग्रे क. पुस्तके 'ननु, आगन्तुके कथं दोषपूर्वकत्वम्? यतस्तत्प्रकोपकारणमाहारादिकं नास्ति। उच्यते—अभिचाराभिघातादिना व्यथोत्पद्यते, तेन दोषोत्पत्तिः, तथा च व्याधिरिति; तथाऽभिचारादिनाऽदृष्टप्रेरितदोषोत्पत्तिः, एवंप्रकारेण दोषपूर्वकत्वम्' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते। ३. 'दुष्टिकारकत्व' इति क. ख.। ४. 'रसरक्तादिप्रकृतिरुक्तः पुरुषः रक्तदूषितशुक्रादेरसाध्यत्वेन देहारम्भकत्वं नास्ति, रक्तस्य देहारम्भकत्वे सत्यपि प्रकृत्यारम्भकत्व नास्ति, अनभिधानात; शास्त्रे न रक्तप्रकृतिरुक्तः पुरुषः' इति क.। ५. अस्याग्रे क. पुस्तके 'तत्र वातादिदूषितत्वं नाम शुक्रशोणितसंयोगकाले शुक्रशोणितयोरधिकतरदोषाधिकत्वम्, अन्यथा दुष्टयोस्तयोर्देहारम्भकत्वमेव न स्यात्, उक्तं च—'वातपित्तकफादिदुष्टरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था' इति। तत्रोभयोरेकाधिकरणत्वेन एकदोषा प्रकृतिः; भिन्नाधिकरणत्वेन द्वन्द्वजा त्रिदोषजा वा। 'वातादिदूषितशुक्रशोणितारब्धत्वात्' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते। ६. 'प्रश्नसहस्रनिदानाख्ये' इति क. ख.

कारणान्तरादिति किं तदित्याह—विविधाहितसेवनमिति । विविधस्य नानाविधस्य, अहितस्य असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग-प्रज्ञापराध-परिणामलक्षणस्य सेवनमिति ॥ १४ ॥

विमर्शः—साधारणतया सन्निकृष्ट एवं विप्रकृष्ट भेद से रोग के कारण दो प्रकार के होते हैं। **विप्रकृष्टकारण**—मिथ्या आहार-विहार आदि व्याधि के विप्रकृष्ट कारण हैं। आदि शब्द से व्याध्युत्पत्ति के पूर्व शरीर में प्रविष्ट हुए रोगोत्पादक जीवाणुओं का भी विप्रकृष्ट कारण में समावेश किया जा सकता है। ये मिथ्या आहार-विहार तथा रोगोत्पादक जीवाणु शरीरगत दोषों को शनैः-शनैः विकृत करते रहते हैं। दोषों की विकृति के पराकाष्ठा पर पहुँचने पर रोग की उत्पत्ति होती है। इन विप्रकृष्ट कारणों के शरीर में प्रवेशकाल से लेकर रोगोत्पत्ति पर्यन्त का काल संचय काल (Incubation Period) कहलाता है। संचयकाल ही दोषों की दुष्टि का प्रधान काल है। रोगोत्पादक कारण दुर्बल होने से यदि रोग उत्पन्न न कर सके तो उसे व्यभिचारी कारण कहा जाता है। रोगोत्पत्ति न होने का मुख्य कारण रोगोत्पादक कारण की दुर्बलता तथा स्वाभाविक-रोगप्रतिरोधक्षमता (Natural immunity) ही है। इसका विस्तृत विवेचन 'व्याधिक्षमत्व' के नाम से चरक संहिता सूत्रस्थान अ० २८ में मूल एवं चक्रपाणि की टीका में देखिए।

सन्निकृष्टकारण—प्रकुपित वात आदि दोष व्याधि के सन्निकृष्ट कारण है, रात्रि, दिन, ऋतु और भोजन के आदि, मध्य और अन्त भी दोषप्रकोप के सन्निकृष्ट कारण है। दोषों के प्रकुपित होने पर शीघ्र ही व्याधिकी उत्पत्ति होती है अतः इन्हें सन्निकृष्ट (निकट) कारण कहा जाता है। तीनों दोषों में से एक, दो या कचित् सब दोषों का प्रकोप सभी व्याधियों में नियमतः होता है, इनकी दुष्टि के बिना रोगोत्पत्ति नहीं हो सकती। इसका ही प्रतिपादन 'सर्वेषामि' त्यादि पद के द्वारा किया है। इस विषय में चरक ने भी कहा है—

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः। अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥

अर्थात् कोई भी रोग दोषप्रकोप के बिना नहीं हो सकता। अतः बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वह व्याधि का नाम न जानते हुए भी दोषों के शास्त्रोक्त लक्षणों के अनुसार चिकित्सा करे। इसके अतिरिक्त सब रोगों का नामकरण शास्त्र में भी नहीं है अतः रोग का नाम न जानने से लज्जित भी न होना चाहिये, क्योंकि कहा भी है— **विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन। न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा गतिः ॥** (च० सू० १८।५१)

यद्यपि आगन्तु कारण से उत्पन्न व्याधि की उत्पत्ति में दोषप्रकोप कारण नहीं होता तथापि उत्पन्न द्रव्य में गुण के योग के समान[१] अवश्यम्भावी दोष-प्रकोप की कल्पना से उसका कारण भी दोष प्रकोप को ही मान लिया जाता है। आगन्तुज व्याधि में अभिघातादिजन्य सभी व्याधियों का समावेश हो जाता है। आगन्तुज व्याधियों मे दोष पहिले से प्रकुपित नहीं रहते, अपितु आगन्तु कारण के उपस्थित होने के पश्चात् तत्काल दोष-प्रकोप होकर उनके भी लक्षणों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार आगन्तुज व्याधि में भी दोष-प्रकोप का होना निश्चित है। चरक ने भी इसी आशय से कहा है—**'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति'** अर्थात् आगन्तुकारण व्यथा (कष्ट) को उत्पन्न कर बाद में वात, पित्त तथा कफ की विषमता को उत्पन्न कर देता है। जैसे चोट लगने पर क्षत की उत्पत्ति होती है किन्तु तत्काल ही वातप्रकोप से पीड़ा, पित्तप्रकोप से दाह, पाक आदि और कफ से पूयोत्पत्ति आदि उत्पन्न होते हैं।

---

१. उत्पन्नद्रव्ये गुणयोगवत्—यद्यपि 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणमेकं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति' अर्थात् सद्यः उत्पन्न द्रव्य एक क्षण के लिये निर्गुण और क्रियारहित रहता है, यह शास्त्रकारों का सिद्धान्त है तथापि भावी गुण और क्रिया की कल्पना से उत्पन्न द्रव्य को भी क्रिया और गुण से युक्त मान लिया जाता है।

'मलिनीकरणान्मलाः' शरीर को मलिन करने के कारण वातादि को मल भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त कार्यभेद से 'दूषणाद्दोषाः' तथा 'देहधारणाद्धातवः' दोष तथा धातु नाम भी शास्त्रानुमोदित हैं।

संसार के यावत् शारीरिक रोगों के मूल दोष ही कहे गये हैं। अतः सर्वप्रथम उनकी परिभाषा एवं संख्या का ज्ञान कर लेना भी परमावश्यक है। इसी उद्देश्य से विजयरक्षितजी उस विचार को प्रस्तुत करके शास्त्रानुमोदित तथ्य का वर्णन ननु आदि शंकापूर्वक करते हैं।

वात, पित्त और कफ को दोष संज्ञा क्यों प्रदान की गई ? इस विषय में कुछ आचार्यों का मत है कि **'स्वातन्त्र्येण दूषकत्वं दोषत्वम्'** स्वतन्त्र रहकर धातुओं को दूषित करना ही दोषत्व है। इस गुण से युक्त तत्त्व को दोष कहना चाहिये। रस-रक्त आदि भी दूषित होकर एक दूसरे को दूषित करते है अतः उनसे लक्षण की निवृत्ति करने के लिये 'स्वातन्त्र्येण' पद रक्खा गया है। रसादि स्वतन्त्र नहीं अपितु वात आदि से दूषित होने के उपरान्त ही एक दूसरे को दूषित करते हैं। उक्त लक्षण पर आपत्ति करते हुए कतिपय आचार्य प्रश्न करते हैं कि स्वातन्त्र्य का अर्थ दोषान्तरनिरपेक्षत्व (अन्य दोष की अपेक्षा का नितान्त अभाव) है या हेत्वन्तरनिरपेक्षत्व (अन्य कारणों की पूर्णतः उपेक्षा करना) है ? सारांश यह है कि दोष अन्य दोष की सहायता के बिना ही कार्य करता है, अथवा दोषातिरिक्त अन्य सहायक कारणों के बिना ? इन दोनों अर्थों में लक्षण के समर्थक को कौन-सा अर्थ अभिप्रेत है ? प्रश्नकर्ता का यह आशय है। दोषान्तर निरपेक्षत्व अर्थ करने पर केवल वात ही दोष की कोटि में आ सकता है, वात की अपेक्षा रखने वाले पित्त और कफ का दोष की श्रेणी मे परिगणन नहीं किया जा सकता; क्योंकि—

'पित्तं पंगु कफः पंगुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्'।

उक्त श्लोक के आधार पर पित्त और कफ की वातसापेक्षता स्पष्टतः सिद्ध हो जाती है। हेत्वन्तर-निरपेक्षत्व (अन्य कारणों की पूर्णतः उपेक्षा करना) अर्थ करना भी उचित नहीं। इससे स्वयं वात भी दोष की कोटि में नहीं आता; क्योंकि वह भी रोगोत्पत्ति के लिये वातप्रकोपक निदान की अपेक्षा रखता है। अतः निदानसापेक्ष होने से उसे हेत्वन्तरनिरपेक्ष कहना दुस्साहस मात्र होगा। अतः—**'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्'** अर्थात् वातादि भेद से सप्तधा प्रकृति के मूल तथा रस आदि दूष्यों की दुष्टि करने वाले को दोष कहते हैं। यह लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति तथा असम्भव दोष से रहित होने के कारण माननीय है। रस-रक्त आदि भी दूषित होकर परस्पर दूषक होते हैं अतः उनसे पृथक् करने के लिए प्रकृत्यारम्भक पद रक्खा गया। वात आदि सात प्रकृतियों के समान शास्त्र में रस रक्त आदि प्रकृति का वर्णन नहीं मिलता। शरीर की वात आदि प्रकृति का मूल वात आदि दोषों से दूषित गर्भ के आरम्भक शुक्र और शोणित हैं। इसी आशय से चरक ने भी कहा है—**'दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते'** अर्थात् दोषों के अनुकूल ही शरीर की प्रकृति का निर्माण होता है इसके अतिरिक्त—

'शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रिमेः। तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।'

इस श्लोक के द्वारा वाग्भट ने इसी आशय का प्रतिपादन किया है। सुश्रुत ने वातप्रकृति का वर्णन करते हुए कहा है कि उसके पैर फटते हैं तथा वह जागरूक स्वभाव का एवं अस्थिर चित्त वाला होता है आदि।

पृथक्, द्वन्द्व एवं सन्निपात भेद से सात प्रकार की प्रकृतियों के नाम तथा लक्षणों का शास्त्र में उल्लेख मिलता है[1]। चरकसंहिता के विमानस्थान अध्याय आठ में **'एता हि येन येन**

---

१. वातप्रकृतिः—अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा वियति च गच्छति सम्भ्रमेण सुप्तः।

पित्तप्रकृतिः—मेधावी निपुणमतिः प्रकृष्टवक्ता तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान् संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः॥

दोषेणाधिकनमेनैकेनानेकेन वा समनुबध्यन्ते तेन तेन दोषेण गर्भोऽनुबध्यते । ततः सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणां गर्भादिप्रवृत्ता । तच्छ्लेष्मलाः प्रकृत्या केचित्, पित्तलाः केचित्, वातलाः केचित्, संसृष्टाः केचित्, समधातवः प्रकृत्या केचिद् भवन्ति । (च. वि. ८) इस सन्दर्भ के द्वारा प्रकृतियों का नामोल्लेख करके आगे उनके लक्षण स्वरूप शारीरिक एवं मानसिक उभयविध भावों का अत्यन्त सुन्दर विधि से वर्णन किया गया है । विस्तार-भय से उनका यहाँ देना उचित नहीं है अतः विज्ञ पाठक स्वयमेव देख लें । वातादि प्रकृति के समान रसादिजन्य प्रकृति का शास्त्र में कहीं उल्लेख नहीं है । वस्तुतः रस, रक्त आदि प्रकृति के कारण नहीं होते ।

प्रकृति और रोग दोनों ही दोषजन्य होते है । किन्तु दोनों में कुछ अन्तर है । अपथ्य सेवन करने पर भी प्रकृति अधिक कष्ट नहीं पहुँचाती किन्तु व्याधि में अपथ्य सेवन करना अत्यन्त हानिप्रद होता है । वातादिप्रकृति के कारण हाथ पैर का फटना आदि अभ्यस्त होने से अधिक कष्टदायक नहीं होते जबकि दूसरों में वही अतिकष्टप्रद होते हैं । इसकी पुष्टि में वाग्भट का निम्न कथन प्रमाण है—

'विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते । तद्वत् प्रकृतिभिर्देहस्तज्जातत्वान्न बाध्यते ॥'

अर्थात् जिस प्रकार विष से उत्पन्न कीट उसी विष से नहीं मरते उसी प्रकार वात आदि से उत्पन्न होने के कारण प्रकृतिजन्य विकारों से शरीर का नाश नहीं होता ।

यद्यपि **'प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वम्'** प्रकृति के आरम्भक को ही दोष कहते हैं, एतावन्मात्र लक्षणके रहने पर भी विपक्षरूप रस, रक्त आदि के दोषत्व की निवृत्ति हो जाती है और लक्षण भी पूर्ण बन जाता है तथापि दोषका निर्धारित स्वरूप व्यक्त करने के लिये **'दुष्टिकर्तृत्व,** विशेषण देना अनिवार्य है । इस प्रकार पूर्वोक्त लक्षण को अतिव्याप्ति आदि का निवारक तथा दोषस्वरूप-प्रतिपादक कह सकते हैं । यद्यपि सुश्रुत तथा अन्य संहिताग्रन्थों में वात आदि के समान ही रक्त के प्रकोपक काल, प्रकोप के हेतु, उसका निर्हरण, स्थानविशेष, रोगविशेष, लक्षणविशेष तथा चिकित्साविशेष का वर्णन करने वाले वाक्य यत्र तत्र उपलब्ध होते है, अतः पूर्व टीकाकार आषाढ धर्मदास आदि ने उसको भी दोष स्वीकार किया है, तथापि **'प्रकृत्यारम्भकत्व'** इत्यादि लक्षण के द्वारा रक्त के दोषत्व का पूर्णतः खण्डन हो जाता है । आयुर्वेद के आज तक के विद्वान् भी रक्त को दोष स्वीकार नहीं करते ।

दोष क्या है ? शरीर का रस, रक्त आदि धातुओं को दूषित करने से वात आदि दोष कहलाते हैं । यथोचित-स्थान, परिमाण, गुण तथा कार्यों से युक्त वात आदि आरोग्य के हेतु हैं । इस प्रकार स्वस्थावस्था में इनकी अन्वर्थ यौगिक संज्ञा धातु है । संहिताग्रन्थों में भी यत्र तत्र इनका धातु नाम से व्यवहार होता है । किन्तु पङ्कज के समान या सर्वदा न गाने वाले अपितु गाने की योग्यता से युक्त गायक और सर्वदा भोजन न बनाने पर भी भोजन पकाने की योग्यता रखने वाले पाचक के समान वात आदि की भी दोष संज्ञा रूढ है यौगिक नहीं । व्यवहार-सौकर्य के लिये वात आदि कभी धातु और क्वचित् मल नाम से भी व्यवहृत होते हैं । चरक एवं वाग्भट ने वात, पित्त, कफ केवल इन तीनों का ही दोष नाम से उल्लेख किया है । यथा—

वायुः पित्तं कफश्चोक्तः शारीरो दोषसंग्रहः । चरकः ।

वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः । वाग्भटः ।

रक्त दोष है या दूष्य ?

यह प्रश्न अत्यन्त प्राचीन है । यूनानी चिकित्साशास्त्र के विद्वान् रक्त को दोष मानते है ।

श्लेष्मप्रकृतिः—रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः ।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां ज्ञेयो वलासप्रकृतिर्मनुष्यः ॥

द्वन्द्वज, त्रिदोषज प्रकृति के लक्षण ससृष्ट होते है । अतएव चरक ने कहा है—'संसर्गात्संसृष्ट-लक्षणाः' तथा 'सर्वगुणसमुदितास्तु समधातवः' ।

इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने भी **तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः सम्भवस्थितिप्रलयेष्वविरहितं शरीरं भवति'** अर्थात् शरीर उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के समय सर्वदा वात, पित्त, कफ और रक्त से युक्त रहता है। और इसके साथ ही **'नर्ते देहः कफादस्ति न पित्ताच्च च मारुतात्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते'**। इन सन्दर्भों के द्वारा रक्त का भी दोषों के साथ और उनके समान ही वर्णन किया है। जिस प्रकार वात, पित्त और कफ के पृथक् पृथक प्रकोपहेतु, उनके स्थानविशेष, रोगविशेष, लक्षणविशेष तथा चिकित्साविशेष आदि का उल्लेख ग्रन्थों में मिलता है वैसे ही रक्त के भी हेतु आदि का वर्णन सुश्रुत के अतिरिक्त चरकादि ग्रन्थों में भी स्थल स्थल पर, उपलब्ध होता है। यथा—**'छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेचनात्'** (च. सू. २४) यह प्रकोपहेतु है। **'तपनीयेन्द्रगोपाभं पद्मालक्तकसन्निभम्'** (च. सू. २४) यह रक्त का लक्षण है। रक्तार्श, रक्तप्रदर, रक्तपित्त आदि रक्त के रोग हैं। यकृत् और प्लीहा रक्त के विशिष्ट स्थान हैं। **कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्। विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य तु ॥'** (च. सू. २४) यह रक्त रोगों की चिकित्सा है। इसके अतिरिक्त—

'कफे वाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा। यदि कुप्यति वातस्य क्रियमाणे चिकित्सिते।
यथोल्बणस्य दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम् ॥ (च. चि. ५)

यहाँ रक्त के लिये भी दोष शब्द का प्रयोग हुआ है। इन उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर रक्त को भी दोष ही मानना चाहिये दूष्य नहीं ? इसका उत्तर यह है कि रक्त का दोषत्व सुश्रुत को भी अभिप्रेत नहीं था; क्योंकि व्रणप्रश्नाध्याय के प्रारम्भ में **'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः तैरव्यापन्नैरधोमध्योर्ध्वसन्निविष्टैः शरीरमिदं धार्यते अगारमिव स्थूणाभिस्तिसृभिरतश्च त्रिस्थूणमाहुरेके'** के द्वारा एव शब्द देकर केवल वात, पित्त और कफ को ही दोष कहा गया है रक्त को नहीं। इस वाक्य के पश्चात् ही **'शोणितचतुर्थैः'** आदि वाक्य के द्वारा रक्त का भी उल्लेख करना इस बात का निदर्शक है कि सुश्रुत रक्त को वात आदि की श्रेणी में स्थान नहीं देते। किन्तु यह निर्विवाद है कि दोष न होते हुए भी अन्य धातुओं की अपेक्षा रक्त का महत्त्व अधिक है। इसलिये विभिन्न स्थलों पर रक्त का नामोल्लेख दोषों के साथ मिलता है। इसी प्रसङ्ग में आगे—

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥

इस श्लोक के द्वारा भी शरीरधारणार्थ वात, पित्त और कफ का ही निरूपण किया है।

इसके अतिरिक्त **'स्वातन्त्र्येण दूषकत्वं दोषत्वम्'** दोष की उक्त परिभाषा के अनुसार भी रक्त को दोष नहीं कह सकते। वात, पित्त और कफ कुपित होकर किसी की अपेक्षा बिना किये ही धातुओं को दूषित करते हैं। अतः उन्हें दोष संज्ञा प्रदान की गई। रक्त स्वतन्त्रतया धातुओं का दूषक नहीं है। वह वात आदि के संसर्ग के बिना दूषित नहीं होता, एवं उनसे दूषित हुए बिना वह अन्य धातुओं को दूषित भी नहीं करता। इस प्रकार रक्त की दुष्टि तथा उसका दूषकत्व वात आदि पर ही निर्भर है स्वतन्त्र नहीं। रक्त के प्रकोपक कारण तथा लक्षण आदि के वर्णन को भी वातादि युक्त रक्तपरक ही समझना चाहिये स्वतन्त्र रक्तपरक नहीं। वात आदि के प्रकोपक कारण ही रक्त को भी प्रकुपित करते हैं अर्थात् वात आदि प्रथम अपने कारणों से प्रकुपित होते हैं। तत्पश्चात् रक्त को दूषित करते हैं। अतएव रक्तरोगों के भी वातिक आदि भेद पाये जाते हैं। यथा रक्तार्शनिदान में प्रथम सामान्य लक्षण करके पश्चात् वातिक आदि रक्तार्श का निरूपण किया है। इस प्रकार वात आदि रक्त के भी दूषक हैं। रक्त अपने यथोचित प्रमाण से अधिक होने पर भी दूष्य ही कहलायेगा दोष नहीं।

प्रकोपककारणादिमत्त्वं दोषत्वम् 'प्रकोपक कारण लक्षणविशेष आदि से युक्त ही दोष है' इस लक्षण को मानकर रक्त का दोषत्व सिद्ध करना भी अनुचित है। इस परिभाषा के मानने पर

मांस आदि को भी दोष स्वीकार करना पड़ेगा; क्योंकि शास्त्र में उनके भी प्रकोपक कारण आदि के वर्णन मिलते हैं। यथा—**मांसवाहीनि दुष्यन्ति भुक्त्वा च स्वपतां दिवा'** (च वि. ८) यहाँ पर दिवास्वाप को **मांसवहस्रोतस्** का दूषक कारण कहा है। **'शृणु मांसप्रदोषजान्'** (च सू. २८) में मांसदुष्टि के लक्षण भी कहे हैं। अधिमांस तथा अर्बुद आदि-मांस के विकार है। **'मांसजानां च संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्निकर्म च'** (च. सू. २८) में शस्त्र, क्षार और अग्निकर्म को मांसज रोगों की चिकित्सा कहा है। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार तो शुक्रमेह, मज्जामेह आदि रोगों में शुक्र और मज्जा को भी दोष स्वीकार करना पड़ेगा। इनका दोषत्व उभय पक्ष को अमान्य है। रक्त भी इनके ही समान होने से 'दूष्य है दोष नहीं। रोगों के लिये रक्तज, मांसज आदि व्यवहार आधाराधेय सम्बन्ध से होता है। अर्थात् रस-रक्त आदि दूष्य वात आदि दोष के आधार हैं। अतः दोषजन्य परिणामों का दूष्य के नाम से सामान्य व्यवहार होता है। यथा **'स्नेहस्थ'** अग्नि (गर्म तेल) से जल जाने पर भी व्यवहार स्नेहदग्ध ही होता है। अतएव चरक सूत्रस्थान के चौबीसवें अध्याय में **'शोणिताश्रयाः'** की टीका करते हुए श्री चक्रपाणि ने कहा है **'शोणिताश्रया इति भाषया शोणितस्य वातादिवत् स्वातन्त्र्येण रोगकर्तृत्वं निराकरोति'** अर्थात् रक्त वात आदि के समान स्वतन्त्रतया रोग उत्पन्न नहीं करता अपितु आधाराधेय सम्बन्ध से ही रक्तज शब्द का व्यवहार होता है। वाग्भट ने भी इसकी पुष्टि में कहा है—

'रसादिस्थेषु दोषेषु व्याधयः सम्भवन्ति हि। तज्जानित्युपचारेण तानाहुर्घृतदाहवत् ॥'

पीडा उत्पन्न करने से दूष्यों तथा क्वचित् मलों के लिये भी दोष शब्द का व्यवहार होता है। यथा—**'स्वयं प्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशनैः'** यहाँ पर पुरीष के लिये ही दोष शब्द व्यवहृत हुआ है। व्रणों में प्रायः शोणितदुष्टि होती है अतः शल्य प्रधान सुश्रुत ने रक्त को भी व्यवहार मात्र के लिये दोष सदृश माना है सिद्धान्ततः दोष नहीं; क्योंकि अन्यत्र भी उन्होंने—**'वातपित्तश्लेष्माण एव देहसम्भवहेतवः'** वात-पित्त-कफ को ही देह की उत्पत्ति का हेतु माना है।

दोषत्रयप्रतिपादक तथा दोषचतुष्टयप्रतिपादक उभयविध विसंवादी वाक्य संहिताओं में मिलने से रक्त को भी एक पक्ष में दोष स्वीकार कर लेना अनुचित है; क्योंकि प्रकृति के आरम्भक को ही दोष कहते हैं। वात आदि भेद से सात प्रकार की प्रकृतियों का शास्त्र में वर्णन मिलता है किन्तु रक्तज प्रकृति का कहीं नाम भी नहीं मिलता। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि वात, पित्त और कफ ये तीन ही दोष हैं, रक्त दोष नहीं है दूष्य ही है।

अब प्रश्न होता है कि दोष शरीर में सर्वदा विद्यमान रहते है, यदि उनको ही रोग का कारण माना जाय तो रोग भी सर्वदा रहना चाहिये। इसके लिए माधव स्वयमेव **कुपिताः** के द्वारा उत्तर देते हैं अर्थात् प्रकृतिस्थ दोष रोग उत्पन्न नहीं करते, किन्तु कुपित होने पर ही रोगों के उत्पादक होते है। यह दोषों का प्रकोप स्वाभाविक है या अन्य कारणापेक्षी ! यदि दोषप्रकोप स्वाभाविक है तब तो रोग भी स्वभावतः सर्वदा रहेगा। अतः कारणान्तर से ही दोषप्रकोप और उससे रोग की उत्पत्ति मानी जाती है। विविध अहित-सेवन (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग प्रज्ञापराध और परिणाम) ही कारणान्तर है।

व्याधीनामपि निदानार्थकर्तृत्वं निरूपयति—

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ॥ १५ ॥ (च. नि. अ. ८)

रोग भी निदान के समान रोगोत्पत्ति करने वाला होता है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार निदान रोगों को उत्पन्न करता है वैसे ही एक रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करने के कारण निदानार्थकर कहलाता है ॥ १७ ॥

ननु, किमेतदेव निदानम्, उतान्यदप्यस्तीत्यतश्चरकवचनमुपन्यस्यति—निदानार्थकर

इत्यादि । अपिशब्दो भिन्नक्रमः । रोगोऽपि निदानार्थकरो रोगस्य । अस्यायमर्थः-निदानेन योऽर्थः क्रियते व्याधाख्यः, स रोगेणापीति । रोगो रोगकर इति वाच्ये तन्निदानार्थकर इत्यकरोत्, तेनैवं गमयति-रोगोऽपि रोगान्तरं कुर्वाणो निदानान्तरोपबृंहितबल एव करोतीति; (एवं रोगो रोगस्य निदानमुपजायत इत्येव योजना[1]) ।

विमर्शः—पूर्ववर्णित निदान के अतिरिक्त भी निदान होता है इसी का वर्णन निदानार्थकर आदि के द्वारा करते हैं । रोग भी निदानार्थकर होता है, अर्थात् निदान का जो अर्थ या कार्य रोगोत्पत्ति है, रोग भी वही कार्य करता है अतः उसे निदानार्थकर कहते हैं । यद्यपि रोग रोग को उत्पन्न करता है इतना कहने से भी प्रयोजन सिद्ध हो सकता है तथापि अन्य निदान से अत्यधिक बलवान् होकर ही एक रोग दूसरे को उत्पन्न करता है—इस तथ्य का प्रतिपादन करने के निमित्त ही निदानार्थकर शब्द रक्खा गया है । इससे मूल कारण दोषों को ही मानना चाहिए यह भी स्पष्ट होता है ।

एतस्यैव कतिपयानि निदर्शनान्याह—

तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते ।
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥ १६ ॥
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च ।
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ १७ ॥
(दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते ।)
प्रतिश्यायादथो कासः कासात् संजायते क्षयः ।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥१८॥ (च. नि. अ. ८)

यथा-ज्वर के सन्ताप से रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है, रक्तपित्त से ज्वर की तथा ज्वर और रक्तपित्त दोनों से राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है । प्लीहा की वृद्धि (प्लीहा से यकृत् का भी ग्रहण कर लेना चाहिये) से उदर रोग (जलोदर) तथा उदर रोग से शोथ उत्पन्न होता है । अर्श से उदर रोग तथा गुल्म की उत्पत्ति होती है । दिवास्वाप आदि दोषों से प्रतिश्याय हो जाता है एवं प्रतिश्याय से कास और कास से धातुक्षय की उत्पत्ति होती है । यह धातुक्षय शोथ नामक रोग का कारण होता है ॥ १६–१८ ॥

तत्रैव दृष्टान्तमाह—तद्यथेत्यादि । ताभ्यामिति रक्तपित्तात् ज्वराच्च । दुःखमिति दुःखयतीति दुःखं पीडाकरम् । अयं च दुःखशब्दो लिङ्गविपरिणामेन सर्वेष्वेव ज्वरादिषु योज्य इति वाप्यचन्द्रः । गुल्मश्चाप्युपजायत इति अर्शोभ्य एव । कासात् सञ्जायते क्षय इति 'ओजःप्रभृतीनाम्' इति शेषः । स च क्षयो रोगस्य हेतुत्वे उपजायते । कस्य रोगस्येत्याह—शोषस्येति, राजयक्ष्मणः । अत्र केचित् हरिचन्द्रादिभिर्व्याख्यातं पाठान्तरं पठन्ति, 'क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते' इति । अस्यार्थः— क्षयो राजयक्ष्मा, उरोग उरःक्षतं, समाहारद्वन्द्वेनैकवचनं, तस्य हेतुत्वे शोषो धातुक्षय उपजायत इति । ननु, चरके सर्वं निदानं त्रैविध्येन संगृहीतम् 'असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः' (च. सू. अ. ११) इत्यादिना, ततश्च रोगस्यापि निदानत्वमाचक्षाणः[2] स्वोक्तं निदानत्रैविध्यसंग्रहं कथं न विरुणद्धि ?; अत्रैके समाधिमभिदधति-त्रिविधं यन्निदानमुक्तं तत् सर्वव्याधिविषयम्, इदं तु प्रतिनियतविषयं, यतो न सर्वे रोगा रोगाज्जायन्ते किं तर्हि कश्चिदेव व्याधिः कुतश्चिद्रोगादिति चतुर्थमेवैतन्निदानं रोगाख्यमिति । अन्ये त्वाहुः—रोगोऽपि रोगस्य निदानं भवत्त्रिविधनिदानव्यतिरेकेण न भवत्येव; यतो यावदयं ज्वरोऽसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिभि-

१. अयं पाठः क. ख. पुस्तकयोर्नोपलभ्यते । २. 'त्रैविध्यं कथ' इति क' ।

रुपबृंहितबलो न भवति न तावद्रक्तपित्तमारभते, तस्माद् व्याध्युत्पादे त्रिविध एव हेतुः साक्षात् पारम्पर्येण वेति ॥ १६-१८ ॥

विमर्शः—कास से ओज आदि का क्षय होता है। हरिचन्द्र आदि **'क्षयोरोगस्य हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते'** यह पाठ मानकर 'क्षय से राजयक्ष्मा तथा उरोग शब्द से उरःक्षत अर्थ करके उरःक्षत और राजयक्ष्मा दोनों से शोष की उत्पत्ति होती है' यह अर्थ करते है।

अब प्रश्न यह है कि चरक ने सम्पूर्ण निदान को असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध तथा परिणाम इन तीन विभागों में ही विभक्त किया है, उसमें रोग का नाम भी नहीं है। इस प्रकार रोग को भी निदान मानने से त्रैविध्यकथन का विरोध होता है ? इस पर कुछ विद्वान् कहते हैं कि चरकोक्त त्रिविध निदान का विषय सम्पूर्ण रोगसमूह है, किन्तु रोगरूप निदान का विषय विशिष्ट रोग है। सभी रोग रोग से उत्पन्न नहीं होते अपितु कोई रोग ही किसी रोग से उत्पन्न होता है। अतः रोग को चतुर्थ निदान मानना ही चाहिये। इसके विपरीत अन्य आचार्यों का कथन है कि यद्यपि रोग भी रोग का निदान होता है तथापि वह त्रिविध निदान से अतिरिक्त वस्तु नही है; क्योंकि जब तक ज्वर आदि व्याधि असात्म्येन्द्रियार्थसयोग आदि त्रिविध कारणों से नहीं बढती तब तक वह रक्तपित्त सदृश रोगों को भी उत्पन्न नही कर सकती। अतः साक्षात् या परम्परया त्रिविध हेतु (असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम) ही व्याधि की उत्पत्ति में कारण होता है।

व्याधीनां निदानार्थकर्तृत्वकालं व्याचष्टे—

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः । (च. नि. अ. ८)

वे रोग [निदान से बल प्राप्त करने के] पूर्व में रोग ही रहते हैं [किन्तु असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि निदानों से बलवान् होने के] पश्चात् निदानार्थकारी होते हैं। अर्थात् दूसरे रोग की उत्पत्ति में साक्षात् कारण बनते हैं।

ननु, य इमे रोगा रोगान्तरस्य निदानत्वेनोक्तास्ते किमुत्पन्नमात्रा एव रोगं जनयन्ति, उतानन्तरकालमित्यत आह—ते पूर्वमित्यादि। ते व्याधय उपबृंहकहेत्वलाभात् प्राक् केवलाः स्वतन्त्राः सन्तो रोगा एव रुजाकर्तृत्वात्, पश्चादुपबृंहकहेतुलाभात्, हेतोर्निदानस्य योऽर्थो यत् प्रयोजनं व्याधिजननाख्यं तत् कुर्वन्ति। यथा ज्वरो रक्तपित्तमिति ॥—

रोगजनकस्य व्याधेर्वैचित्र्यमाह—

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥ १९ ॥
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च ।
एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ॥ २० ॥

(च. नि. अ. ८)

कोई रोग रोगान्तर का कारण होकर स्वयं शान्त हो जाता है। इसके विपरीत कोई रोगान्तर को उत्पन्न करके भी शान्त नही होता। इस प्रकार रोगी व्यक्तियों में व्याधियों के कष्टसाध्य सांकर्य दृष्टिगोचर होते है ॥ १९-२० ॥

तस्यैव रोगजनकस्य व्याधेर्वैचित्र्यमाह—कश्चिदित्यादि। एवमुक्तप्रकारेण, व्याधिसंकरा व्याधिमेलकाः, दृश्यन्ते। यथा—प्रतिश्यायो न निवर्तते कासश्चोत्पद्यते, अर्शो न निवर्तते जठरगुल्मौ भवत इति। कृच्छ्रतमत्वं चैषां बहुविधदुःखजनकत्वात्, प्रायो विरुद्धोपक्रमाच्चेति ॥ १९-२० ॥

विमर्शः—रोगोत्पादक रोग दो प्रकार के होते है। कुछ रोग दूसरे रोगों को उत्पन्न करके स्वयं शान्त हो जाते हैं उन्हें एकार्थकारी कहते हैं, किन्तु कुछ रोग रोगान्तर को उत्पन्न करके भी बने रहते है उन्हें उभयार्थकारी कहते है। अतएव चरक ने कहा है—

'उभयार्थकरा दृष्टास्तथैवैकार्थकारिणः' (च. नि. ८।२४)

यथा—यदि प्रतिश्याय कास को उत्पन्न करके स्वयं शान्त हो जाता है तो उसे एकार्थकारी या केवल हेत्वर्थकारी कहते हैं किन्तु यदि वह कास को उत्पन्न करने के पश्चात् भी बना रहता है तो उसे उभयार्थकारी (रोगार्थकर तथा हेत्वर्थकर) कहते है । उभयार्थकारी रोग अत्यन्त कष्टप्रद एव विरुद्धोपक्रम होने से कष्टसाध्य होते हैं ।

उक्तनिदानपञ्चकस्यावश्यकज्ञातव्यतां दर्शयति—

तस्माद्यत्नेन सद्वैद्यैरिच्छद्भिः सिद्धिमुद्धताम् ।
ज्ञातव्यो वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः ॥ २१ ॥

इसलिये चिकित्साविज्ञान में उत्कृष्ट सफलता की कामना करने वाले सद्वैद्यों को यत्नपूर्वक आगे कहे जाने वाले ज्वर आदि के विनिश्चय (निदान आदि) का भलीभाँति ज्ञान करना चाहिये ।

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पञ्चनिदानलक्षणं समाप्तम् ॥ १ ॥

इति पञ्चनिदानपञ्चलक्षणं समाप्तम् ।

उक्तनिदानपञ्चकस्य रोगनिवृत्तिलक्षणसिद्धिहेतुत्वेनावश्यं ज्ञातव्यतामाह—तस्मादित्यादि । उद्धतां बहुविषयत्वेन महतीम् । विनिश्चयो निदानमिति । अथ वक्ष्यमाणविकारेषु प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवायादिज्ञानार्थं चरकोक्ता वातादिगुणा लिख्यन्ते—'रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः । विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः सम्प्रशाम्यति ॥ सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु । विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः । श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः' इति (च. सू. अ. १) ॥ २१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पञ्चनिदानलक्षणं समाप्तम् ॥ १ ॥

विमर्शः—ज्वर आदि व्याधियों में प्रकृतिसमसमवाय[1] तथा विकृतिविषमसमवाय[2] जनित रूपों के ज्ञान के लिये वात आदि के चरकोक्त लक्षण दिये जाते है ।

१. वात के गुण तथा उनकी शान्ति का उपाय—रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद खर ये वायु के गुण हैं । इनके विपरीत गुण वाले द्रव्यों से वात की शान्ति होती है ।

२. पित्त के गुण तथा उसकी शान्ति का उपाय—ईषत् स्निग्धता, उष्णता, तीक्ष्णता, द्रवता, अम्लता, सरता, तथा कटुता ये पित्त के गुण हैं और इनके विपरीत गुण वाले द्रव्यों से पित्त की शान्ति होती है ।

---

१. प्रकृतिसमसमवायः—प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः कारणानुरूप कार्यमित्यर्थः—अर्थात् रोगोत्पादक प्रकृतिभूत दोष के लक्षणों के तुल्य रोग के लक्षणों का होना ही प्रकृतिसमसमवाय है। एकदोषज, द्विदोषज तथा त्रिदोषज व्याधि में यदि प्रत्येक दोष के लक्षण पृथक्-पृथक् स्पष्ट प्रतीत हों तो उस व्याधि को प्रकृतिसमसमवायारब्ध कहते हैं । प्रकृतिसमसमवायारब्ध संसर्गज रोगों का ज्ञान दोषगुणों के ज्ञान से ही सहज लब्ध होता है अतः निदान में उनका पृथक् वर्णन नही किया जाता है ।

२. विकृतिविषमसमवायः—विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः—विकृति के प्रभाव से कारणगुणों के अनुरूप कार्यगुणों का न होना ही विकृतिविषमसमवाय है । यथा हरिद्रा और चूने के संयोग से कारणानुरूप पीत श्वेत द्रव्य बनना चाहिये किन्तु उसके विपरीत लाल रँग की वस्तु तैयार होती है । इस प्रकार के संयोग से द्विदोषज आदि व्याधियों के लक्षण आरम्भक दोषों के अनुकूल नहीं होते अपितु विचित्रतायुक्त होते हैं । अतएव ऐसी व्याधियों के लक्षणों का शास्त्र में पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है ।

३. कफ के गुण तथा उसकी शान्ति का उपाय—गुरुता, शीतता, मृदुता, स्निग्धता, मधुरता, स्थिरता तथा पिच्छलता ये कफ के गुण हैं और इनके विपरीत गुण वाले द्रव्यों से कफ की शान्ति होती है ।

इति पञ्चलक्षणनिदान समाप्त ।

अथ ज्वरनिदानम्

पर्याय—ज्वर (संस्कृत), हुम्मा (अरबी), फीवर या पाइरेक्सिया (अंग्रेजी) ।

ज्वरस्योत्पत्तिं तद्भेदांश्च सामान्येन व्याचष्टे—

दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिःश्वाससंभवः ।
ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः ॥ १ ॥

दक्ष प्रजापति द्वारा किये गये अपमान से कुपित रुद्र के निःश्वास से ज्वर की उत्पत्ति हुई है । वह ज्वर वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, त्रिदोषज तथा आगन्तुज भेद से आठ प्रकार का होता है ॥ १ ॥

अथ सर्वरोगप्राधान्यात् प्रथमं ज्वरो वाच्यः । प्राधान्यं चास्य सर्वशारीररोगेषु प्रथमोत्पन्नत्वात् , बलवत्त्वात् , देहेन्द्रियमनस्तापित्वात् , जन्मनिधनयोरवश्यंभावित्वात् , स्थावरजङ्गमरूपसर्वभूतव्यापित्वाच्च, नैवमन्ये विकाराः । यदुक्तं चरके–'देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली । ज्वरः प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ॥ तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये'—(च. चि. अ. ३) इत्यादि यावद्, 'भगवन्! वक्तुमर्हसि' (च. चि. अ. ३) इति । तथा 'ज्वरेणाविशता भूतं न हि किञ्चिन्न तप्यते' (च. चि. अ. ३) इत्यादि । उक्तं च पालकाप्ये[1] 'पाकलः स तु नागानामभितापस्तु वाजिनाम् । गवामीश्वरसंज्ञश्च मानवानां ज्वरो मतः ॥ अजावीनां प्रलापाख्यः करभे चालसो भवेत् । हारिद्रो महिषीणां तु मृगरोगो मृगेषु च ॥ पक्षिणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रमदो मतः । पक्षपातः पतङ्गानां व्याडेष्वक्षिकसंज्ञितः' इत्यादि । तथाऽन्यत्र 'जलस्य नीलिका भूमेरूषरो वृक्षस्य कोटरः' इत्यादि । तस्य प्रागुत्पत्तिमाह—दक्षापमानेत्यादि । दक्षापमानेन दक्षप्रयुक्तपरिभवेण क्रुद्धस्य रुद्रस्य निःश्वासात संभव उत्पत्तिर्यस्य स तथा । निःश्वासोऽत्र क्रोधलिङ्गत्वेन निर्दिष्टः, अत एव सुश्रुतेन, 'रुद्रकोपाग्निसंभूतः' (सु. उ. अ. ३९) इत्युक्तम् । क्रुद्धेन रुद्रेण ललाटे तृतीयमाग्नेयं चक्षुः सृष्ट्वा ततोऽप्याग्नेयो बाणो निर्मितः । यदाह चरकः—'सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः । बाणं क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत् सत्रनाशनम्' (च. चि. अ. ३), इतिः; अत्र सत्रनाशन यज्ञनाशनम् । एषा ज्वरोत्पत्तिकथा चरकचिकित्सिते सविशेषा[2] श्रोतव्या । एतेन रुद्रकोपस्य विप्रकृष्टकारणत्वमुक्तं; यदि हि ततो ज्वरो नोदपत्स्यत[3] तदाधुनाऽप्यपचाराज्ञोत्पद्यत[4] इति भट्टारहरिचन्द्रः । एतदभिधानस्य चिकित्सानुपयोगित्वेनान्ये टीकाकृतोऽन्यथा व्याचक्षते-कोपोद्भवत्वेन तैजसत्वं प्रकाश्यते; क्रोधो ह्याग्नेयः; यदाह चरकः –'क्रोधात् पित्तं' (च. चि. अ. ३) इति । तेन सर्वज्वरे पित्ताविरोधिनी क्रिया कार्येति सिध्यति । यदुक्तं वाग्भटेनैव, 'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना ।

१. पालकाप्यविरचिते हस्त्यायुर्वेदे महारोगस्थाने नवमाध्यायेऽयं विषयो गद्येन पठ्यते ।

२. 'सावशेषा' इति क. ख । ३. 'नोदपतत्' इति क. । ४. 'नोदपत्स्यते, उत्पन्नश्च तस्मात्, ततो रुद्रसतोषार्थं जपहोमपूजाशिवार्चनादिकं कार्यं, तेन स न पीडयिष्यति' इति क. ।

तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम्' वा. चि. अ. १) इति। अत एव चरके कट्वम्ललवणान् परित्यज्य तरुणज्वरे पाचकत्वेन तिक्तको रसः पित्तघ्नो निर्दिष्टः। यदाह-'लङ्घनं स्वेदनं कालो यवागूस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्कानां दोषाणां तरुणज्वरे' (च. चि. अ. ३) इति। (कालोऽत्राष्टाह[1] इति)। अन्ये त्वाहुः—रुद्रकोपसंभवत्वेन देवतात्मकत्वात् पूजार्हत्वमुपदर्शितम्। यदाह विदेहः—'ज्वरस्तु पूजनैर्वाऽपि सहसैवोपशाम्यति' इति। हरिवंशेऽपि 'ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः षड्भुजो नवलोचनः। [2]भस्मप्रहरणो रौद्रः कालान्तकयमोपमः' इति मूर्तिमानेवोक्तः। बहुविधमपि ज्वरं संक्षेपेणाह—ज्वरोऽष्टधेत्यादि। अष्टत्वं विवृणोति-पृथगित्यादि। तच्च संप्राप्तौ विवृतम् ॥ १ ॥

विमर्शः—ज्वर सब रोगों में प्रधान है; क्योंकि उसकी उपस्थिति का अनुपस्थिति प्रत्येक व्याधि में महत्वपूर्ण स्थान रखती है अतः सर्वप्रथम ज्वर का ही वर्णन किया जाता है। सम्पूर्ण शारीर रोगों में ज्वर की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई है इसलिये भी ज्वर प्रधान है। ज्वर सभी रोगों में बलवान् भी है अतएव चरक ने इसे मृत्यु नाम भी दिया है। इस व्याधि से शरीर और मन दोनों ही एक समान प्रभावित होते हैं। जन्म और मरण दोनों अवस्थाओं में ज्वर की सत्ता अवश्यम्भावी है अर्थात् जीवन को स्थिर रखना या नष्ट करना ज्वर के विशिष्ट तापक्रमों पर निर्भर है। इससे संसार का कोई भी प्राणी मुक्त नहीं है। इस प्रकार की व्यापकता दूसरे रोगों में नहीं पायी जाती अतः ज्वर को ही प्रधान माना गया है। चरक ने भी (चि. अ. ३) में इसी बात को कहा है।

विभिन्न प्राणियों में ज्वर के विशिष्ट नाम भी दिये जाते हैं यथा—हाथियों में पाकल, घोड़ों में अभितापन, गायों में ईश्वर, मनुष्यों में ज्वर, बकरी और भेड़ों में प्रलाप, ऊँट में अलस, भैंसों में हारिद्र, मृगों में मृग रोग, पक्षियों में अभिघात, मछलियों में इन्द्रमद, पतङ्गों में पक्षपात तथा सर्पों में अक्षिक नाम दिया जाता है; ऐसा 'पालकाप्य' में कहा है। जल में नीलिका, भूमि मे ऊसर, वृक्षों में कोटर आदि नाम से ज्वर का उल्लेख ग्रन्थान्तरों में मिलता है।

मूल श्लोक में ज्वर के विप्रकृष्ट कारण कुपित रुद्र के निःश्वास से ज्वर की उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हुए एक ऐतिहासिक घटना का दिग्दर्शन कराया गया है। अत्यन्त प्राचीनकाल में दक्षप्रजापति की कन्या सती ने अपने पिता के शतशः विरोध करने पर भी स्वयवर में शंकर जी का ही वरण किया। दक्ष एव शकर का पूर्व से ही कटु सम्बन्ध चला आ रहा था। वैवाहिक घटना ने इस सम्बन्ध को कटुतर बनाने के लिये अग्नि में घृत का कार्य किया। इसके पश्चात् कदाचित् दक्ष ने एक महान् यज्ञ का आयोजन किया जिसमें तत्कालीन सभी महान् विभूतियों (देवताओं) को आमन्त्रित किया गया था, किन्तु जानते हुए भी शकरजी की सर्वथा उपेक्षा की गयी। सती बिना आमन्त्रण के ही पति के अनेकशः निषेध करने पर भी हठपूर्वक यज्ञ में जाने को तैयार हो गयी। इसीलिये भगवान् शंकर ने अपने कुछ विशिष्ट गणों (सेनापतियों) के साथ सती को यज्ञ में जाने की अनुमति दे दी। वहां पहुँचने पर सती का कोई सम्मान नहीं किया गया और न वहां शंकर के लिये ही कोई आदर का स्थान था। इस आत्मग्लानि के वशीभूत होकर सती ने योगाग्नि द्वारा अपना शरीर भस्म कर डाला। इस समाचार की सूचना पाते ही शिव के गणों ने युद्ध आरम्भ कर दिया। तत्पश्चात् शंकर जी भी वहां आ पहुँचे और अपना तृतीय नेत्र खोलकर उन्होंने क्रोधपूर्वक श्वास छोड़ा जिससे ज्वर रोग की उत्पत्ति हुई। कतिपय

१. अयं पाठः क. ख. पुस्तकयोर्नोपलभ्यते। २. 'मूर्तिमान् हरजो ज्ञेयः पापिनां नाशकारकः' इति क. पुस्तके पाठः। ख पुस्तके उत्तरार्धो न पठ्यते।

विचारों का कथन हैं कि यज्ञ में सती ने अपने तथा अपने पति के घोर अपमान को न सह सकने के कारण आत्मघात कर लिया। इस समाचार की सूचना पाते ही भगवान् शंकर की क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो उठी, एवं उन्होंने ससैन्य आकर नगर को घेर लिया। यज्ञ में दक्ष के अनेक सहयोगी राजा आये हुए थे। उन सभी ने शंकर का सामना किया। इस प्रकार वहाँ तुमुल युद्ध हुआ एव अनेक संहारक तथा विषैले अस्त्रों का प्रयोग किया गया, जिसके फलस्वरूप विविध रोगों की उत्पत्ति हुई। उनमें से ज्वर विशेष है अतः सर्वप्रथम उसका ही वर्णन किया जाता है।

इस प्रकार की ऐतिहासिक घटना के उपाख्यान चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से नितान्त अनुपयोगी हैं। अतः उक्त कथा को ज्वर की उत्पत्ति का रूपक मानकर कोपोद्भव का अर्थ तैजस करना चाहिये। तात्पर्य यह कि शरीर में तेजोगुण की वृद्धि के कारण ही ज्वर की उत्पत्ति होती है। क्रोध को आग्नेय माना गया है, क्योंकि चरक ने **'क्रोधात् पित्तम्'** क्रोध से पित्त की वृद्धि होती है, ऐसा कहा है। **शरीरान्तः संचारी** पित्त को ही सुश्रुत ने अग्नि संज्ञा प्रदान[1] की है इस प्रकार **'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'** इस वचन के अनुसार पित्तवर्धक क्रोध का भी आग्नेय स्वरूप सिद्ध हो जाता है। यदि क्रोध आग्नेय न होता तो उससे पित्त की वृद्धि भी असम्भव थी। उक्त सिद्धान्त के आधार पर ही प्रत्येक ज्वर में पित्त को प्रकृतिस्थ रखने वाले उपचार किये जाते हैं। इसी आशय से वाग्भट ने भी कहा है—पित्त के बिना ऊष्मा या गर्मी नहीं हो सकती और ज्वर बिना ऊष्मा या तापक्रम बढ नहीं सकता, इसलिये ज्वर में पित्त को कुपित करने वाले औषधादि द्रव्यों का परित्याग कर देना चाहिये। चरक ने भी नवीन ज्वर में अन्य पाचक रसों को छोडकर पित्तशामक तिक्त रस का पाचन के लिए उपदेश किया है।

दक्ष का अर्थ वायु और रुद्र का अर्थ अग्नि है। वायु की विकृति से अग्नि की विकृति और इन दोनों की विकृति से ज्वर की उत्पत्ति होती है। ज्वर में कोष्ठस्थ अग्नि-विकृति हो जाती है। इसका निर्देश माधव ने **'मिथ्याहारविहाराभ्याम्'** आदि श्लोक के द्वारा किया है।

साधारणतया ज्वर एवं सन्ताप को पर्यायवाची समझा जाता है, वस्तुतः सन्ताप से शरीर की तापवृद्धि ही समझनी चाहिये। किन्तु तापक्रम की वृद्धि ज्वर का विशिष्ट लक्षण मात्र है; स्वयं ज्वर नहीं; क्योंकि चरक ने कहा है—

ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः। ज्वरेणाविशता पूर्वं न हि किञ्चिन्न तप्यते॥
तथा—**सन्तापः सारुचिस्तृष्णा साङ्गमर्दो हृदि व्यथा। ज्वरप्रभाव**······(च. चि. अ. ३)

इस प्रकार अङ्गमर्द, अरुचि आदि अन्य लक्षणों से युक्त विशिष्ट प्रकार की तापक्रम वृद्धि को ही ज्वर कहते है। तापक्रम एवं लक्षणों की विशेषता के आधार पर ही ज्वरों की सापेक्ष निश्चिति होती है। विशिष्ट सम्प्राप्ति तथा अनेक लक्षणों का समूह होने के कारण ज्वर भी अन्य रोगों के समान रोग की श्रेणी में ही गिना जाता है। इसके अतिरिक्त यह अन्य लक्षणों मे भिन्नता होते हुए भी सम्पूर्ण विशेषतः औपसर्गिक रोगों की किसी अवस्था में अनिवार्य रूप से पाया जाता है। काम-क्रोध आदि मानसिक विकार, अंशुघात आदि अनौपसर्गिक कारणों से भी ज्वर की उत्पत्ति होती है। इन सभी मे तापक्रमवृद्धि के साथ साथ अन्य विशिष्ट लक्षणों का भी समावेश रहता है। ज्वर और तापक्रम

१. तत्र जिज्ञास्यं किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः, आहोस्वित् ? पित्तमेवाग्निरिति अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिवर्तमानेष्वग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति। क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिरेकादतिप्रवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति। (सु. सू. अ. २१)

वृद्धि का घनिष्ठ साहचर्य रहने पर भी दोनों को एक नहीं माना जा सकता, क्योंकि आन्त्रिक ज्वर, रोहिणी (Diphtheria) तथा तृणाणुमयता (Septicaemia) में कदाचित् ताप की उपस्थिति नहीं भी रहती। अन्तर्वेग ज्वर में भी साधारणतया बाह्य ताप का अनुभव नहीं होता, रोगी को अन्तः-सन्ताप होता है तथा वह प्रलाप करता है। ऐसी दशा में केवल बाह्यताप से ही ज्वर का अनुमान नहीं किया जा सकता अपितु अन्य अनुषङ्गी लक्षणों का भी आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार के ज्वर को निस्ताप ज्वर (Apyrexial fever) भी कहते हैं। चक्रपाणि ने भी कहा है। कि—वातश्लैष्मिक ज्वर में उष्णता की अनुभूति नही होती **'वातश्लेष्मकृतेऽपि ज्वरेऽनुष्णरूपस्तापो भवति'।**

ज्वर की उत्पत्ति कैसे होती है ? शरीर का स्वाभाविक तापक्रम ९७·४ से ९८·४ तक रहता है। यह मुख का तापक्रम है। कक्षा का तापक्रम इससे एक डिग्री कम रहता है। प्रातःकाल से सायंकाल का तापक्रम भी एक डिग्री अधिक रहता है। इससे अधिक तापक्रम का होना ज्वर का निदर्शक है।

ताप की दृष्टि से ससार के सम्पूर्ण प्राणियों को दो बडे वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

१. विविधतापी(Poikilothermic)—ऋतु तथा अन्य बाह्य परिस्थितियों के अनुसार इस वर्ग के प्राणियों का तापक्रम निरन्तर परिवर्तित होता रहता है। इनको शीतरक्तक (Cold blooded) प्राणी भी कहते हैं। इस श्रेणी में मेढक, साँप तथा कछुआ आदि आते हैं।

२. समतापी (Homeothermic)—ऋतु तथा अन्य बाह्य परिस्थिति की अपेक्षा न करके इस वर्ग के प्राणियों के शरीर का ताप प्रकृत अवस्था में सदा समान रहता है। इनको उष्णरक्तक (Warm blooded) प्राणी कहते हैं। इस वर्ग में मनुष्य, पक्षी तथा अन्य स्तनधारी प्राणी आ जाते हैं।

शरीर में उष्णता की उत्पत्ति तथा उसका विनाश कार्य समान रूप में अबाध गति से चलता रहता है। इन दोनों क्रियाओं के प्रकृत रहने पर ही समतापी प्राणियों के शरीर का ताप निश्चित अंत तक स्थिर रहता है।

उष्णता की उत्पत्ति—प्रोभूजिन (Protiens), स्नेह तथा प्रङ्गोदीयों (Carbohydrates) के ज्वलन (Oxidation) से उष्णता की उत्पत्ति होती है। यह कार्य अल्पाधिक मात्रा में सम्पूर्ण शरीर में होता है किन्तु ऐच्छिक पेशियों के द्वारा यह कार्य अधिक होता है। जल एवं नमक का कम मात्रा में उपयोग करने से भी उष्णता बढ़ती है। साधारण नवयुवक व्यक्ति में प्रतिदिन ४ अंश ताप की वृद्धि होती है किन्तु शरीर के स्वाभाविक ताप पर इसका किञ्चित्मात्र भी प्रभाव नहीं पडता। आन्तरिक ताप के अतिरिक्त ग्रीष्मकालीन बाह्य ताप का भी शरीर के ताप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

उष्णता का नाश—शरीर की उष्णता का नाश त्वचा, फुफ्फुस, मल तथा मूत्र के द्वारा होता है। इनमें सबसे अधिक उष्णता का नाश त्वचा द्वारा होता है। त्वचा से ताप का नाश विकिरण (Radiation), संवहन (Conduction) तथा बाष्पीभवन (Evaporation) के द्वारा होता है। जिस अवस्था में बाह्य वातावरण का ताप साधारण रहता है तब विकिरण और संवहन से ताप का नाश होता है। किन्तु जब ग्रीष्म ऋतु में वातावरण का तापक्रम उच्चतम हो जाता है तो परिसरीय केशिकायें विस्फारित हो जाती हैं जिससे स्वेदग्रन्थियों की क्रियाशीलता बढ़ जाती है और वे अधिक स्वेद उत्पन्न करने लगते हैं। इस अवस्था में स्वेद के बाष्पीभवन से उष्णता का नाश होता है। जाड़ों में अधिक शीत के कारण केशिकायें संकुचित हो जाती हैं जिससे शरीर का ताप बाहर नहीं निकल पाता, वह सुरक्षित रहता है। उस अवस्था में भी

अनावश्यक प्रवृद्ध ताप का नाश फुफ्फुस एवं वृक्कों द्वारा होता है। वातावरण की क्लिन्नता (वर्षाकाल में), तङ्ग वस्त्र, स्वेदपिण्डों की अकार्यकारिता एवं त्वचा का स्वच्छ न रखना-इन कारणों से भी त्वचा द्वारा ताप का नाश नहीं होता।

इस प्रकार प्रकृत अवस्था में शरीर में उष्णता की उत्पत्ति एवं उसके विनाश का क्रम निरन्तर समान रूप से चलता रहता है। शरीर के ताप को सदा एक समान बनाये रखने के लिये समतापी (Homeothermic) प्राणियों के मस्तिष्क के कन्दाधरिक भाग (Hypothalamic region) में एक तापनियामक केन्द्र (Heat regulating center) रहता है। ताप को समान मात्रा में स्थिर रखने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के अनुपात से उसका नाश भी हो। नियामक केन्द्र यद्यपि दोनों क्रियाओं का नियमन करता है तथापि उष्णतोत्पत्ति की अपेक्षा उष्णतानाशन से इसका विशेष सम्बन्ध है। यह अपने सम्पर्क में आने वाले रक्त से शरीरान्तर्गत उष्णता का ज्ञान करके उसके अनावश्यक भाग का त्वचा या दूसरे साधनों से नाश करा देता है। इसी प्रकार शीत काल में बाह्यशीत से रक्षा करने के निमित्त त्वचागत वाहिनियों में सकोच कराकर तापनिर्हरण को रोकता है।

इस प्रकार तापनियामक केन्द्र, शरीर में उष्णता उत्पन्न करने वाली क्रियाओं (Biochemical activities producing heat) तथा ताप का निरन्तर विनाश करने वाले साधनों (वृक्क, त्वचा, फुफ्फुस तथा मल) से शरीर का ताप सदा साम्यावस्था में रहता है। जब तक यह केन्द्र अविकृत रहता है एवं ताप की उत्पत्ति और विनाश का क्रम नियमपूर्वक चलता रहता है तब तक शरीर का ताप भी प्राकृत ही रहता है। किन्तु जिस अवस्था में लू लगने, चोट लगने मस्तिष्कगत रक्तस्राव आदि अनौपसर्गिक कारणों तथा विष एवं रोगोत्पादक जीवाणुओं से उत्पन्न औपसर्गिक विष से विकृत हो जाता है तो शरीर का ताप भी स्वाभाविक नहीं रह पाता। शारीरिक ताप की वृद्धि का मुख्य हेतु उष्णता नाश की कमी है उष्णतोत्पत्ति की अधिकता नहीं।

स्वस्थावस्था या ज्वरितावस्था में भी रात्रि को सोते समय ऐच्छिक पेशियों का कार्य न होने से उष्णता की अधिक उत्पत्ति नहीं होती अतः प्रातःकाल में तापक्रम कुछ कम रहता है। किन्तु दिन में ऐच्छिक पेशियां क्रियाशील रहती हैं अतः ताप की अधिक वृद्धि होने से सायंकाल के समय तापक्रम प्रातःकाल की अपेक्षा अधिक रहता है। कभी कभी राजयक्ष्मा, मस्तिष्कावरण-शोथ तथा आन्त्रिक ज्वर में प्रातःकाल ज्वर बढ़ता है और सायंकाल को घटता है। यह चिन्ता-जनक स्थिति है। इसे विपरीत क्रम (Reverse type) कहते है।

रक्तप्रवाह में घूमते हुए जीवाणुजन्य या समवर्तजन्य विष से ताप की अत्यधिक उत्पत्ति एवं तापनियन्त्रक केन्द्र की विकृति के परिणामस्वरूप तापनिर्हरण की कमी का सम्मिलित परिणाम ही ज्वर है।

ज्वरोत्पत्ति का चरकोक्त इतिहास रूपकमात्र है। दक्ष, क्रोध और रुद्र का ठीक ठीक अर्थ समझ लेने पर रूपक की वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है। दक्ष का अर्थ इन्द्रियां हैं। उनके अविवेक से प्रयुक्त मिथ्या आहार-विहार जीवाणुजन्य या समवर्तजन्य विष ही ज्वर के विशिष्ट लक्षण ताप की वृद्धि करने के कारण अपमान स्वरूप हैं। क्रोध तैजस माना गया है अतः औपसर्गिक या अनौपसर्गिक विष को प्रतिक्रिया से उत्पन्न शरीर की तैजस प्रवृत्ति को ही क्रोध कहते हैं। क्रोध का अधिष्ठाता देवता रुद्र को माना गया है अतः जहां भी क्रोध की सत्ता होगी वहां सर्वत्र रुद्र की उपस्थिति भी अनिवार्य है। तैजस प्रवृत्ति एक शक्ति है, शरीर में उसका नियामक तापनियन्त्रक केन्द्र है। विष द्वारा उसके विकृत होने से शरीर से ताप का निर्हरण कम होने पर ताप की वृद्धि होती है। इस प्रकार दोषों के प्रकोप या केन्द्र की विकृति

को ही यदि रुद्रकोप कहा जाय तो अनुचित न होगा। ज्वरोत्पत्ति के रूपक का सारांश (Summary of the raised temperature) निम्न है—

असात्म्य पदार्थों की शरीर में उपस्थिति (विषोत्पत्ति = दक्षप्रयुक्त अपमान) तापनियन्त्रक केन्द्र की विकृति (रुद्रकोप), धात्वग्निव्यापार रक्तप्रवाह की वृद्धि (कुपित रुद्र का निःश्वास), त्वचा द्वारा तापनिर्हरण का अभाव, ताप की वृद्धि=ज्वर।

ज्वरस्य सम्प्राप्तिमाह—

मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः ॥ २ ॥

मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित वात, पित्त या कफ आमाशय में आश्रित होने पर रस के साथ समस्त शरीर में व्याप्त होते हैं और कोष्ठाग्नि को बाहर निकाल कर ज्वर उत्पन्न करते हैं ॥ २ ॥

संप्राप्तिमाह—मिथ्येत्यादि। आहारस्य मिथ्यात्वं प्रकृत्यादीनामाहारोपयोगहेतूनां विरुद्धत्वेनोपयोगः। यदाह चरकः—'तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति; तद्यथा 'प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि' (च. वि. अ. १) इति। अत्र प्रकृतिर्द्रव्याणां स्वाभाविकगुरुत्वलघुत्वादिगुणयोः, यथा माषमुद्गयोः, करणं संस्कारः, यथा—व्रीहेर्गुरोर्लघवो लाजाः, संयोगः संहतीभावः, यथा क्षीरमत्स्ययोः, राशिराहारद्रव्यस्यावयवेन समुदायेन च परिमाणं; देशो द्रव्योत्पत्तिप्रचारादिस्थानं; कालो नित्यगश्चावस्थिकश्च; उपयोगसंस्था उपयोगनियमः, यथा जीर्णान्न एव भुञ्जीत; उपयोक्ता स्वयं निरूपितात्मप्रकृत्यादिकः पुरुष इति। विहारस्य मिथ्यात्वमयथाबलमारम्भादि। आमाशयाश्रया इत्यनेनामाशयप्राप्तिव्यतिरेकेण दोषा ज्वरं नारभन्त इति प्रतिपादयति। आमाशयश्च 'नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः' (च. वि. अ २) इति चरकेणोक्तः। बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निमिति कोष्ठाग्निरेव दोषोत्क्षिप्तो बहिर्निर्गत ऊष्मतया प्रतिभाति। कोष्ठाग्निमिति धात्वाद्यग्निनिरासार्थम्। ज्वरदा ज्वरकारिणः। रसानुगा रससम्बद्धाः, अवश्यं रसं दूषयित्वा ज्वरोत्पादका इति। एषा च संप्राप्तिः शारीराणामेव न त्वागन्तूनां, तेषां व्यथापूर्वकत्वं ततो वाताद्यनुबन्धः, इति जेज्जटः। अतएव सुश्रुते आगन्तुसंप्राप्तिः पृथगेव पठ्यते। यथा 'श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः। पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद् भृशम्' (सु. उ. अ. ३९) इति अत्र न आमाशयगत एव वायुः किंतूर्ध्वाधस्तिर्यक्प्रसवाहिस्रोतश्चराः। चरकेऽप्युक्तं 'तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्। सव्यथाशोथवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम्' (च. चि. अ. ३) इति। ननु, आगन्तुज्वरेऽप्यूष्मोपलभ्यते, ऊष्मा च पित्तादृते नास्ति (वा. चि. अ. १) इत्युक्तम्, अत आगन्तुरपि शारीरः स्यात्। नैवम्, उत्तरकालं तदुत्पत्तेः। यदुक्तं 'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो ज्वरोऽष्टमो भवति; स किंचित्कालमागन्तुः केवलो भूत्वा [2]पश्चाद्दोषैरनुबध्यते' (च. नि. अ. १); तथा 'आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमतिप्रवृद्धः' (च. सू. अ. १९) इति। ननु मिथ्याहारेत्यादिनैकैव संप्राप्तिरुक्ता, एतच्च न युक्तं, यतः संयोगभेदः, संयोगभेदश्च संयोगिभेदनिबन्धनः, संयोगिनश्चात्र वातादयो नानाविधाः, ततश्च संप्राप्तेरपि नानात्वं स्यात्; न हि वातपित्तयोर्यः संयोगः स एव कफपित्तयोरिति। उच्यते—अनेकैव संप्राप्तिः किंत्वेकजातीया, आशयदुष्ट्यादेः सर्वत्राविशेषेणाभिधानात्; एवमागन्तुसंप्राप्तिरपि संयोगभेदाद्भिन्नेति ॥ २ ॥

---

१. 'आहारस्य द्रवाद्रव्यस्य' इति मु। २. 'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो जायते, पश्चान्निजैर्दोषैरनुबध्यते' इति क ख।

विमर्श:—आहार के उपयोग के साधन प्रकृति, करण आदि आठों का विरुद्ध उपयोग ही आहार का मिथ्यायोग[1] कहलाता है। चरक ने कहा भी है कि आहारविधि के आठ प्रमुख साधन होते हैं—

'तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति, तद्यथा-प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि'।

प्रकृति—द्रव्यों का स्वाभाविक गुरुत्व एवं लघुत्व ही प्रकृति कहलाता है। यथा माष प्रकृति से गुरु और मूंग लघु होती है। इस गुरुत्व एवं लघुत्व का बिना विचार किये आहार का सेवन करना प्रकृति का मिथ्यात्व कहलाता है।

करण—द्रव्यों के स्वाभाविक गुणों में परिवर्तन करना ही करण है। यथा चावल गुरु है किन्तु उनसे बनाई गई खीलें लघु होती हैं।

संयोग—दो या बहुत सी वस्तुओं के मिश्रण को ही संयोग कहते हैं। इसके द्वारा एक नवीन वस्तु की उत्पत्ति होती है। कुछ वस्तुओं को मिलाकर खाना हानिप्रद होता है जैसे—दूध और मछली। अतः हानि से बचने के लिये इसका ज्ञान भी आवश्यक है। इसको न जानकर असंयोज्यों का संयोग करना आहार का संयोगजन्य मिथ्यात्व कहलाता है।

राशि—आटा, दाल, चावल तथा शाक आदि प्रत्येक खाद्य के पृथक्-पृथक् एवं सम्मिलित परिमाण का ज्ञान राशि के अन्तर्गत आता है। इससे भोजन की सम्पूर्ण एवं विभागशः मात्रा का निर्धारण होता है। मात्रा का बिना ज्ञान किये ही अमात्रावत् आहार करना आहार का राशिजन्य मिथ्यात्व कहा जाता है।

देश—खाद्यपदार्थ किस स्थान में उत्पन्न हुआ है इसका ज्ञान करके द्रव्य के लघुत्वादि गुणों का परिज्ञान करना देशज्ञान के अन्तर्गत समझना चाहिये। बिना इसके ज्ञान के गुरु को लघु एवं लघु को गुरु समझकर सेवन करने से रोगों की उत्पत्ति हो सकती है अतः आहार का देशजन्य मिथ्यात्व भी ज्वर का उत्पादक है।

काल—नित्यग एवं आवस्थिक भेद से काल दो प्रकार का है। ऋतुरूप काल को नित्यग एवं रोगावस्था के काल को आवस्थिक काल कहते हैं। ऋतु एवं रोगावस्था को ध्यान में रखते हुए ही तदनुकूल आहार का सेवन किया जाता है। इसका ज्ञान न होने पर कालजन्य आहार का मिथ्यात्व हो सकता है।

उपयोगसंस्था—उपयोग के नियम को ही उपयोगसंस्था कहते हैं। यथा-जीर्ण होने पर ही भोजन करें, उष्ण ही खायें, जल्दी न खायें इत्यादि भोजन सेवन के नियम है। इनका विरुद्ध उपयोग भी आहार का मिथ्यात्व ही है।

उपयोक्ता—आहार का सेवन करने वाला व्यक्ति उपयोक्ता कहलाता है। उसको भी अपनी प्रकृति एवं सात्म्यासात्म्य का विचार करके भोजन सेवन करना चाहिये। सात्म्य या असात्म्य का विचार बिना किये भोजन करना आहारमिथ्यात्व ही है।

इस प्रकार भोजन के उपर्युक्त आठ विचारणीय अंगों पर ध्यान न देने से आहारमिथ्यात्व का दोष उत्पन्न होता है और परिणामस्वरूप इससे ज्वर की या अन्य रोगों की उत्पत्ति होती है।

अपनी शक्ति से अधिक या बहुत कम कार्य करना ही विहार का मिथ्यात्व[2] कहलाता है। यथा-अतिव्यायाम, उपवास, रात्रि-जागरण तथा धातुक्षय आदि विहार वातदोष की वृद्धि के कारण है। इसी प्रकार पित्त और कफ के प्रकोपक विहार भी बताये गये हैं।

---

१. अकाले चातिमात्रं च ह्यसात्म्यं यच्च भोजनम्।
विषमं चापि यद्भुक्तं मिथ्याहारः स उच्यते॥

२. अशक्तः कुरुते कर्म शक्तिमात्रं करोति यः। मिथ्याविहार इत्युक्तः सदा तं परिवर्जयेत्॥

आमाशयाश्रयाः—चरक ने नाभि और स्तन के बीच में आमाशय की स्थिति मानी है **'नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः'**। इससे प्रायः महास्रोत मात्र का ग्रहण हो जाता है। वस्तुतः सभी ज्वरों में महास्रोत की विशेषतया आमाशय (Stomach) की विकृति होना अनिवार्य है।

कोष्ठाग्निं बहिर्निरस्य—कोष्ठाग्नि ही बाहर निकल कर त्वचागत होकर ताप को उत्पन्न करती है। सामान्यतया इसका यही अर्थ लगाया जाता है। वस्तुतः ज्वरितावस्था में या ज्वरसम्प्राप्ति-काल में पाचकरसों की कमी के कारण कोष्ठस्थ अग्नि मन्द हो जाती है किन्तु धात्वग्नि अधिक सक्रिय हो जाती हैं एवं त्वचागत ताप की वृद्धि होती है। इसको ही स्पष्ट करते हुए विजयरक्षित ने कहा है 'कोष्ठाग्निमिति धात्वाद्यग्निनिरासार्थम्।' अर्वाचीन शास्त्रज्ञों का भी यही मत है।

रसानुगा,—दूषित दोष रस धातु से मिलकर ही ज्वर को उत्पन्न करते है। ज्वर में रस का दूषित होना अनिवार्य है। रस दूषित होने से रसादिगत धात्वग्नियाँ अधिक क्रियाशील हो जाती है जिससे अधिक ऊष्मा की उत्पत्ति होती है। रस त्वचा के आश्रित रहता है अतः त्वचा में ही ताप की अनुभूति विशेष रूप से होती है। निज ज्वरों में आरम्भ से ही और आगन्तु ज्वरों में कुछ काल पश्चात् दोषों का अनुबन्ध हो जाने पर कोष्ठ की दुष्टि हो जाती है। पाचकरसों का स्राव कम या बन्द हो जाता है, अतएव तरुणज्वर में लंघन का उपदेश किया गया है। आमरस से स्वभावतः अधिक मल की उत्पत्ति होती है और उनसे स्वेद आदि का वहन करने वाले स्रोतों में भी अवरोध हो जाता है परिणामतः तापविकिरण कम होता है एवं रोगी का संपूर्ण शरीर उष्ण हो जाता है। निज ज्वरों में रस की सामता को दूर करने के लिये ही लंघन आदि उपाय किये जाते है—

लंघनं स्वेदनं कालो यावाग्वस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्कानां दोषाणां तरुणे ज्वरे ॥

महर्षि सुश्रुत ने भी आमाशयदुष्टि, जठराग्नि का नाश, रस तथा स्वेदवह स्रोतों के अवरोध को ज्वरोत्पत्ति की सम्प्राप्तिपरम्परा में माना है—

दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा। सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम्
स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम्। निरस्य बहिरूष्माणं पक्तिस्थानाच्च केवलम्।
शरीरं समभिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम्। जनयन्त्यथ वृद्धिं च स्ववर्णं च त्वगादिषु ॥

निज और आगन्तुक भेद से रोग दो प्रकार के होते है—**'निजागन्तुविभागेन तत्र रोगाः द्विधा स्मृताः'**। जेज्जट का कथन है कि यह सम्प्राप्ति निज या शारीर ज्वरों की ही है आगन्तुज की नहीं। सुश्रुत ने इसीलिये आगन्तु ज्वर की सम्प्राप्ति का वर्णन पृथक् किया है—

श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः। पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद् भृशम् ॥

यहां केवल आमाशयगत वायु का ग्रहण न करके सर्वशरीरव्यापी रसवाही स्रोतों में घूमने वाले वायु का ग्रहण है। चरक ने भी कहा है—अभिघात से उत्पन्न वायु रक्त को दूषित करता हुआ व्यथा, शोथ, विवर्णता तथा पीड़ा के सहित ज्वर को उत्पन्न[1] करता है। कविराज गणनाथसेन जी सरस्वती मिथ्या आहार-विहार को निज ज्वर का तथा वायु-जल आदि वाहक साधनों द्वारा वाहित विष को आगन्तुज ज्वर का कारण मानते हैं—

'मिथ्याहारविहारादि निजस्यायतनं स्मृतम्। आगन्तोर्जलवाय्वादिवाहितं प्रायशो विषम् ॥'

अब यहां सन्देह होता है कि आगन्तु ज्वर में भी गर्मी मिलती है और गर्मी बिना पित्त के नहीं होती अतः दोषानुबद्ध होनेसे आगन्तुज ज्वर को भी निज ही मानना चाहिये। किन्तु पश्चात् काल में पित्त का अनुबन्ध होने से ही गर्मी की उत्पत्ति होती है अतः आगन्तुज ज्वर शरीर से भिन्न है। आगन्तुज रोग भी कुछ काल पश्चात् दोषों से अनुबद्ध हो ही जाता है—

'आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो ज्वरोऽष्टमो भवति, स किंचित्कालमागन्तुः केवलो भूत्वा पश्चाद्दोषैरनुबध्यते'।

इसके अतिरिक्त आगन्तुज रोग निज तथा निज आगन्तुज रूप में भी परिणत हो जाते हैं—

'आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथागन्तुमपि प्रवृद्धः'।

---

१. तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन्। सव्यथाशोथवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ॥

संयोगविशेष को ही सम्प्राप्ति कहते हैं । संयोगियों के भेद से सम्प्राप्ति में भी भेद होता है । इस प्रकार यद्यपि यहाँ वात-पित्त आदि विभिन्न दोषों के विभिन्न संयोगों से सम्प्राप्ति भी अनेक प्रकार की हो सकती है तथापि एकजातीय होने के कारण उसका भेद नहीं किया गया; क्योंकि सभी में मिथ्या आहार-विहार के कारण, आशयदुष्टि, कोष्ठाग्नि का नाश तथा रस की दुष्टि समान रूप से होती है । किन्तु आगन्तु ज्वर की सम्प्राप्ति संयोगभेद के कारण भिन्न ही है ।

जीवाणुवाद—

मिथ्या आहार विहार आदि श्लोक में ज्वरोत्पत्ति के लिये होने वाली विकृत (Pathology) का वर्णन किया गया है । माधव ने मिथ्या आहार-विहार को ही ज्वर का कारण माना है । किन्तु आजकल कतिपय जीवाणुओं का उपसर्ग भी ज्वरोत्पत्ति के लिये निदान की कोटि में माना जाता है । कुछ प्राचीन विद्वान् जीवाणुओं की सत्ता को स्वीकार करने में आपत्ति करते हैं । उनका कहना है कि यह अश्रुतपूर्व जीवाणुवाद क्या है ? प्राचीन महर्षियों ने भी जीवाणुओं को रोगों का कारण स्वीकार नहीं किया । जिस किसी रोग में जीवाणुओं की उपलब्धि होती है वहां इनको दोष एवं दूष्य के विकार से उत्पन्न होने वाला कार्य ही समझना चाहिये, कारण नहीं । इस प्रकार वे पाश्चात्त्यों के जीवाणुवाद को रोगों का कारण स्वीकार नहीं करते । उन विद्वानों से केवल इतना ही कहना है कि यह सिद्धान्त केवल कल्पना या अनुमान ही नहीं अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध हो चुका है कि जीवाणु रोग के कारण होते हैं । कुष्ठ एवं यक्ष्मा जैसे संक्रामक रोगों से पीड़ित रोगियों के रक्त तथा श्लेष्मा आदि में आंखों एवं अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope) की सहायता से जीवाणुओं का प्रत्यक्ष दर्शन होता है । प्रत्येक संक्रामक रोग में ये विभिन्न स्वरूप के होते हैं । परीक्षाओं द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि तत्तद् रोग के जीवाणुओं को यदि अन्यान्य प्राणियों के शरीर मे प्रविष्ट किया जाय तो तत्तद् रोग की ही उत्पत्ति होती है । इस अन्वयव्यतिरेक (**यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः; यदभावे यदभावो व्यतिरेकः**) से भी यह सिद्ध है कि जहां जहां संक्रामक रोग होंगे वहां वहां जीवाणुओं की सत्ता परमावश्यक है । इसके विपरीत जहां जहां ये जीवाणु नहीं होते वहां वहां संक्रामक रोगों की उत्पत्ति भी नहीं होती । इस प्रकार संक्रामक रोग और जीवाणुओं का परस्पर कार्यकारणभाव-सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है । जीवाणुवाद-सिद्धान्त के प्रति प्राचीन महर्षियों की सम्मति भी प्रमाणस्वरूप है । कुष्ठाधिकार में सुश्रुत ने कहा है—'सभी कुष्ठ वातयुक्त, पित्तयुक्त, कफयुक्त एवं क्रिमियुक्त होते हैं, परन्तु उत्कर्ष एवं प्राबल्य के कारण दोषों के नाम का ग्रहण किया[1] जाता है । यहां क्रिमि कुष्ठ के सहचारी ही नहीं अपितु कुष्ठ के कारण भी कहे हैं; क्योंकि वाग्भट ने भी कहा है—

रक्तवाहिसिरास्थाना रक्तजा जन्तवोऽणवः । अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः ।
केशादा लोमविध्वंसा लोमद्वीपा उदुम्बराः । षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः ॥

इस श्लोक में कुष्ठ को उत्पन्न करने वाले छ प्रकार के जीवाणुओं का वर्णन किया गया है यह 'कुष्ठैककर्माणः' शब्द से स्पष्ट है । इसी प्रकार सुश्रुत भी क्रिमिरोगप्रतिषेधीय अध्याय में क्रिमियों के नामों का वर्णन करते हुए कहते है कि वे क्रिमि रक्तवह संस्थान के रोगों को उत्पन्न करते हैं **'रक्ताधिष्ठानजान् प्रायो विकारान् जनयन्ति ते'** (सु० उ० ५४) । इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने जीवाणुकारणवाद की पुष्टि में कहा है—प्रसंग अर्थात् अति सम्पर्क अथवा स्त्रीप्रसंग से (उपदंश एवं फिरंग), शरीर के स्पर्श से (खुजली आदि), श्वास से या खांसने से (श्लैष्मिक ज्वर या राजयक्ष्मा), साथ में भोजन करने एवं साथ सोने से तथा दूसरे के वस्त्र या माला के धारण करने से

१. सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि, सपित्तानि, सकफानि, सक्रिमीणि भवन्त्युत्सन्नतस्तु दोषग्रहणमभिभवात् । (सु० नि० ५)

कुष्ठ, ज्वर, शोष, नेत्राभिष्यन्द तथा अन्य औपसर्गिक रोग उत्पन्न होते है। यहा ज्वर से ग्रन्थिक ज्वर (Plague) आदि सक्रामक ज्वरों का ही ग्रहण करना चाहिये, सर्वसाधारण अनौपसर्गिक ज्वरों का नही। अन्य औपसर्गिक रोग से अनुक्त मसूरिका जैसे औपसर्गिक रोगों का ग्रहण करना चाहिये। एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य मे जाकर सक्रामक रोग को उत्पन्न करने वाली कोई तीसरी वस्तु अवश्य है, अन्यथा वह रोग उत्पन्न नही हो सकता। यह वस्तु जीवाणु ही है जो एक मनुष्य से दूसरे में सक्रान्त होता है। ये जीवाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण चर्मचक्षुओं से नही दीखते अत एव सुश्रुत ने **केशादाद्यास्त्वदृश्यास्ते'** के द्वारा उनको अदृश्य कहा है। इस वैज्ञानिक युग में उन अदृश्य जीवाणुओं का प्रत्यक्ष भी अणुवीक्षण यन्त्र की सहायता से इन चक्षुओं के द्वारा भी आज होने लगा है। इस प्रकार प्रमाणसमूह के द्वारा रोगोत्पत्ति में जीवाणुओं की कारणता सिद्ध हो जाती है। यह सिद्धान्त आर्षमतसम्मत भी है। अन्तर इतना है कि पाश्चात्य वैद्यग्रन्थो में इसका वर्णन विशद रूप से मिलता है। प्राचीनों ने इसका वर्णन समय एव परिस्थिति के अनुसार अतिसक्षेप में किया है। प्राचीन काल में यम-नियम आदि के पालन में सुदृढ एव शक्तिशाली शरीरों मे जीवाणु अपना प्रभाव नही जमा सकते थे। अतः उस समय इनका विस्तार से वर्णन करने की आवश्यकता प्राचीन ऋषियों को अनुभव नहीं हुई। आधुनिक काल में यम-नियम की परम्परा विलुप्त हो जाने से शरीर की स्वाभाविक शक्ति भी कम होती गयी जिससे रोगोत्पादक जीवाणुओं का प्रभाव मानव-शरीरों में व्यक्त होने लगा। 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' इस सिद्धान्त के आधार पर आधुनिकों ने अनवरत परिश्रम के उपरान्त जीवाणुवाद का सुविस्तृत विवेचन करने में सफलता प्राप्त की। यह सिद्धान्त सुपरीक्षित एव सत्य की कसौटी पर सुसिद्ध होने के कारण ग्राह्य है। इसका ज्ञान प्रत्येक आयुर्वेदज्ञ को पूर्णतया होना चाहिये। इसका प्रयोजन सक्रमण का प्रतिषेध एव निदानपरिवर्जन है, क्योंकि कहा भी है—

'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्'।

इसी प्रसग में एक बात और स्मरणीय है कि जीवाणुवाद के कारण त्रिदोषवाद पर कोई आघात नही पहुंचता। सिद्धान्त की दृष्टि से इन दोनों मे कोई प्रतिद्वन्द्विता नही है। जीवाणु भी दोषों को प्रकुपित करके ही रोगों को उत्पन्न करते हैं। त्रिदोष को रोगों के प्रति साक्षात् कारणता है। जीवाणु परम्परया ही कारण की कोटि में आते है। तात्पर्य यह कि बिना दोषप्रकोप के रोगोत्पत्ति नहीं होती। कदाचित् जीवाणुसंक्रमण होने पर भी रोगोत्पत्ति नही होती किन्तु जीवाणु या अन्य आहार-विहार से प्रकुपित दोष अवश्य ही रोग को उत्पन्न करते हैं। इसीलिये वाग्भट ने कहा है—

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ॥

जीवाणु और त्रिदोष का कार्यक्षेत्र ही भिन्न है। जीवाणु का कार्यक्षेत्र त्रिदोष है इसलिये वे त्रिदोष में ही विकृति उत्पन्न करते है। त्रिदोष का कार्यक्षेत्र शरीर है- इस प्रकार जीवाणुओं से प्रकुपित त्रिदोष ही शरीर में विकृति उत्पन्न करके रोग को उत्पन्न करता है। कभी कभी कुछ व्यक्तियों में जीवाणुसंक्रमण होने पर भी रोग की उत्पत्ति नही होती। इसका कारण त्रिदोष की सुदृढ साम्यावस्था ही है। आजकल इसको ही रोगप्रतिरोधक्षमता (Immunity) कहते हैं। जब तक दोष पूर्णतया साम्यावस्था में रहते हैं एवं प्रकोपक कारण जीवाणु की शक्ति अल्प होती है तब तक रोग की उत्पत्ति नहीं होती।

---

१. प्रसगाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि गन्धमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥
(सु० नि० ५)

ज्वरसामान्यस्य लक्षणमाह—

स्वेदावरोधः सन्तापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा ।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥ ३ ॥

(सु. उ. अ ३९)

स्वेद का अवरोध, सन्ताप एवं सर्वाङ्ग में पीड़ा ये लक्षण एक साथ जिस रोग में हों उसे ज्वर कहते हैं ॥ ३ ॥

ज्वरलक्षणमाह—स्वेदावरोध इत्यादि । स्वेदावरोधो घर्मानिर्गमः । ताप इतिवक्तव्ये[1] सन्तापग्रहणाद्देहेन्द्रियमनसां तापं लक्षयति । तदुक्तं चरके 'देहेन्द्रियमनस्तापी' (च. चि. अ. ३) इति; 'इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेय सन्तापलक्षणम्' (च. चि अ. ३) इति; तथा 'वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनःसन्तापलक्षणम्' (च. चि. अ. ३) इति । सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गवेदना । युगपदिति मिलितमेतल्लक्षणं, प्रत्येकशो व्यभिचारात्; स्वेदावरोधो हि कुष्ठपूर्वरूपे तथा सन्तापो[2] दाहाख्ये रोगे, सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गवातरोगे, इति । ननु पैत्तिके स्वेदागमात्, वातिके विषमारम्भविसर्गित्वात् सर्वाङ्गग्रहणाव्यवस्थितत्वेऽश्चाव्यापक लक्षणमिति । अत्र जेज्जटकार्तिककुण्डादयः समादधुः उत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थिते । तन्न सङ्गतमित्यन्ये, विधौ ह्युत्सर्गापवादभावो न तु लक्षणे, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्लक्षणदोषात्, तस्मात् स्वेदोऽग्निः 'स्विद्यतेऽनेन' इति व्युत्पत्त्या; तस्यावरोधो दोषव्याप्तिः । वातज्वरे यद्यपि वायोश्चलत्वेनारम्भविसर्गयोर्वैषम्यं, तथाऽपि सर्वदेहगतज्वरारम्भकदोषदुष्टय[3] निवृत्तेरनुद्भूतसर्वाङ्गग्रहणस्य विद्यमानत्वेवेति न व्यभिचारः । चरके तु ज्वरलक्षणं 'ज्वरप्रत्यात्मिकं[4] लिङ्गं सन्तापो देहमानसः' (च. चि. अ. ३) इति । ननु, 'शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः' (च चि) अ. ३)—इति चरकवचनाद्देहमनसोरन्योन्यव्यभिचारादलक्षणमिति चेत्; न, सूक्ष्मतरकालव्यवहितस्यान्यतररूपस्यावश्यंभावित्वात् । यथा—गुणवद् द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमिति ॥ ३ ॥

विमर्शः—केवल ताप न कहकर संताप का उल्लेख विशेष प्रयोजन से किया गया है। सन्ताप से शारीरिक सन्ताप ही नहीं अपितु इन्द्रिय एवं मन का सन्ताप भी ग्रहण होता है क्योंकि चरक ने कहा है कि **'देहेन्द्रियमनस्तापी'** ज्वर देह, इन्द्रिय एवं मन तीनों को सन्तप्त करता है। **'वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिः मनःसन्तापलक्षणम्'** अर्थात् चित्त का क्षुभित रहना, किसी भी कार्य में मन न लगना एवं ग्लानि का अनुभव होना ये मनःसन्ताप के लक्षण हैं। ज्वर में भी ये लक्षण मिलते है अतः सन्ताप शब्द का ग्रहण करना ही उचित है। युगपत् शब्द से स्पष्ट है कि–ये सब लक्षण जहाँ एक साथ मिलेगे उसी को ज्वर कहते हैं। पृथक्-पृथक् एक एक लक्षण से युक्त व्याधि को ज्वर नहीं कह सकते। यदि प्रत्येक लक्षण को ज्वर माना जाय तब तो कुष्ठ आदि को भी ज्वर कहना पडेगा, क्योंकि स्वेदावरोध लक्षण कुष्ठ के पूर्वरूप में, सन्ताप दाह में और सर्वाङ्गग्रहण सर्वाङ्गवात रोग में पाया जाता है। चरक ने **'ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः'** ज्वर का सामान्य लक्षण किया है। शारीरिक सन्ताप प्रथम शरीर और फिर मन में और मानस पहिले मन में पीछे से शरीर में होता है—**'शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः'**। इस वर्णन से पूर्वोक्त लक्षण सदोष है यह शका भी ठीक नहीं क्योंकि मन के बाद शरीर या शरीर के बाद मन में संताप अत्यल्प काल के अन्तर से होता है, जैसे उत्पत्ति-क्षण में निर्गुण द्रव्य में क्षणान्तर में ही गुणोत्पत्ति होने से 'गुणवद् द्रव्यम्' यह लक्षण सदोष नहीं होता।

---

१. 'कर्तव्ये' इति क ख। २. 'दाहाख्यो रोगः' इति क ख। ३. 'दोषदूष्यानुवृत्तेः' इति क।
४. 'ज्वरप्रत्यायकम्' इति क। 'ज्वरप्रत्यात्मकम्' इति ख।

आगे स्वेदावरोध आदि श्लोक के द्वारा ज्वरोत्पत्ति के लिये होने वाली सभी आवश्यक विकृतियों का वर्णन सक्षेप में किया गया है।

स्वेदावरोधः—स्वेद का न निकलना ही इसका अर्थ है। वस्तुतः ज्वरितावस्था में स्वेद-प्रवृत्ति नहीं होती। शरीरान्तर्गत ताप का निर्हरण करने में स्वेद बहुत बड़ा भाग लेता है। ज्वर में स्वेदावरोध होने का परिणाम तापक्रम की वृद्धि है। रक्त में विष की प्रचुरता होने पर स्वेद-ग्रन्थियों पर भार अधिक हो जाता है; अथवा आमरस उनमे अवरोध उत्पन्न कर देता है जिससे वे कार्य करना बन्द कर देती हैं। स्वेदावरोध इसी का[1] परिणाम है।

यदि इस शब्द के अर्थ को सकुचित न करके कुछ विस्तृत किया जाय तो ज्वर में होने वाली अन्य विशिष्ट अवस्थाओं का स्पष्टीकरण भी भलीभाँति हो सकता है। स्वेद शब्द को स्राव-सामान्य का उपलक्षण मानकर शरीर के अन्य स्रावों के अवरोध का सन्निवेश भी इसमें किया जा सकता है। वस्तुतः ज्वरितावस्था मे मुख, आमाशय, आन्त्र, वृक्क तथा अन्य ग्रन्थियों के स्राव कम या बन्द हो जाते हैं। आधुनिक विद्वान् भी इस सिद्धान्त के पोषक है—The secretions tend to dry up i. e those of the skin, mouth, alimentary tube Liver, pancreas and Kidneys' इससे स्पष्ट है कि स्राव को उत्पन्न करने वाले सभी अङ्ग ज्वरितावस्था में निष्क्रिय हो जाते हैं। परिसरीय केशिकाओं के विस्फारित हो जाने पर स्वेदग्रन्थियों को रक्त प्रचुर मात्रा में मिलने लगता है और वे स्वेद की उत्पत्ति अधिकता के साथ करती हैं। इस प्रकार स्वेदोत्पत्ति के निमित्त परिसरीय केशिकाओं का विस्फारित होना अत्यावश्यक है। रक्त में परिभ्रमण करने वाले ज्वरजनक विषों के कारण तापनियन्त्रक केन्द्र के अवसादित हो जाने से परिसरीय केशिकाओं का विस्फार नही होने पाता। इस प्रकार खाद्य की कमी, तथा विषों की या आमदोष की प्रचुरता के कारण स्वेदग्रन्थियों का कार्य अवरुद्ध हो जाता है। केशिकाओं के विस्फार न होने का परिणाम अन्य स्रावक ग्रन्थियों पर भी उक्त प्रकार का ही पड़ता है। आमाशय भी इसके प्रभाव से नहीं बच पाता। पाचन लिये मुख, आमाशय, आन्त्र, अग्न्याशय तथा यकृत् के स्रावों की परमावश्यकता रहती है। इन स्रावों के अवरुद्ध हो जाने से पाचन एवं प्रचूषण का कार्य भी बन्द हो जाता है अत एव आयुर्वेदज्ञों ने आमज्वर में आहार एवं कषायपान का निषेध किया है। यदि इस अवस्था में भी आहार प्रदान किया जाय तो पाचक रसों की अनुपलब्धि से भोजन का पाचन समुचित रूप में नहीं हो सकता एवं आमदोष की ही अधिकाधिक वृद्धि होगी। दोषों का पाचन न होने से ज्वर से मुक्ति भी नहीं मिलती अथवा विलम्ब से मिलती है। अतः इस अवस्था में भोजन न देना ही हितकर है। आमदोष का पाचन करने वाले आहार या औषध इस अवस्था में भी दिये जा सकते हैं। ऐसी चरक की सम्मति है—

लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः। पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे॥

दोषों का पाचन होने पर जब स्रोतों का अवरोध दूर हो जाता है तब आहार या कषाय का प्रयोग किया जा सकता है। अत्यल्प मात्रा में होने से रसौषधि का प्रयोग किसी भी अवस्था में निषिद्ध नहीं है।

मधुकोश टीका में पैत्तिक ज्वर में स्वेद के आधिक्य के कारण इस ज्वरलक्षण के अव्याप्त होने की आशंका से **'स्विद्यतेऽनेनेति स्वेदः अग्निः तस्यावरोधः'** यह अर्थ किया

१. **स्रोतसां सन्निरुद्धत्वात् स्वेदं ना नाधिगच्छति।**
स्वस्थानात् प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे (च. चि. ३)

गया है वह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर भी अव्याप्ति दोष से पिण्ड नहीं छूटता अतः ज्वर की निरामावस्था में ज्वर होने हुए भी भूख की अधिकता[1] होती है जो कि अग्नि के अवरोध होने पर सम्भव नहीं। वस्तुतः इस सामान्य लक्षण के अपवाद भी हो सकते है जो कि सुश्रुतसम्मत भी है क्योंकि आगे उन्होंने भी स्पष्ट कहा है कि **'न च स्विद्यति सर्वशः'** और इसकी टीका करते हुए डल्हण ने स्पष्ट किया है कि **'सर्वशः अर्थात् सर्वत्र न च स्विद्यति कचित् स्विद्यतीत्यर्थः।'** इसी मत का समर्थन जेज्जट आदि टीकाकारों ने भी करते हुए कहा है कि **'उत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थितिः'**। अतः स्वेदावरोध का अर्थ पसीना न आना ही ठीक है।

सन्तापः—देह, इन्द्रिय एवं मन सभी में ताप की अनुभूत होती है **'देहेन्द्रियमनस्तापी'**। ताप या ऊष्मा उत्पन्न करना पित्त का गुण है, पित्त की वृद्धि होने पर ही सन्ताप हो सकता है अतः सभी ज्वरों को पित्तज मानकर उनमें पित्त का शमन करने वाली चिकित्सा का उपदेश किया गया है—

'ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना।
तस्मात् पित्तविरुद्धानि त्यजेत् पित्ताधिकेऽधिकम्॥'

शरीर का तापक्रम बढने पर उसका अनुभव त्वचा के स्पर्श द्वारा होता है। रक्त मे जीवाणु-विष या समवर्तजन्य विषों की प्रचुरता से उष्णता की अत्यधिक उत्पत्ति एव त्वचा आदि निर्हरण-मार्गों से उसके नाश की कमी के सम्मिलित परिणाम को ही सक्षेप में ताप की वृद्धि या सन्ताप कह सकते है। इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रथम श्लोक की व्याख्या मे किया जा चुका है।

सन्तापवृद्धि के लाभ—यह क्रिया यद्यपि शरीर, मन एवं इन्द्रियों को कष्ट देने वाली प्रतीत होती है, किन्तु यथार्थतः इस क्रिया का प्रादुर्भाव शरीर को स्वस्थ बनाने के निमित्त ही होना है। यद्यपि अत्यधिक होने पर वह अनिष्ट-कारक होता है। वस्तुतः यह शरीर की प्रतिक्रियात्मक शक्ति का निदर्शक है। औपसर्गिक तथा अनौपसर्गिक उभयविध रोगों में इसका महत्त्व समान है। औपसर्गिक रोगों में उपसर्गकारी जीवाणु एवं शरीर की कोषाओं के युद्ध के फलस्वरूप ज्वर की उत्पत्ति होना अनिवार्य है। ज्वर की मन्दता उपसर्ग के सौम्य या शरीर के दुर्बल होने का परिचायक है। औपसर्गिक रोगों में तापक्रम की वृद्धि से निम्न लाभ होते है—

१. अधिक ताप से जीवाणु की वृद्धि में बाधा। शरीर के स्वाभाविक ताप पर जीवाणुओं की वृद्धि अच्छी होती है। ताप अधिक हो जाने पर उनकी वृद्धि नहीं होने पाती।

२. तापक्रम की वृद्धि होने से हृदय की गति भी तीव्र हो जाती है इससे विकृति का निराकरण करने के लिये विकृत स्थान में रक्त प्रचुर परिमाण मे पहुंच जाता है और भक्षकायाणु तथा प्रतियोगी पदार्थों के अधिक मात्रा में एकत्रित होने से उपसर्गकारी जीवाणु का विनाश करने में सरलता होती है।

ज्वर के उक्त लाभों को देखते हुए ही ज्वरहर औषधों से एकदम ज्वर को उतारना हितकर नहीं माना जाता।

ज्वरस्य पूर्वरूपाणि व्याचष्टे—

श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु॥ ४॥
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः।

१. क्षुत्क्षामता लघुत्वञ्च गात्राणां ज्वरमार्दवम्। (च. चि. अ. ३)

अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥ ५ ॥
(सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् ।
पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत् ॥ ६ ॥
रूपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टं द्वन्द्वजं विदुः ।
सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥ ७ ॥

(सु. उ. तं. अ. ३९)

थकावट, चित्त की अस्थिरता या किसी काम में मन न लगना विवर्णता (Discolouration) मुख का स्वाद खराब होना, आंखों से पानी गिरना, ठण्डी हवा और धूप में बैठने की कभी इच्छा और कभी द्वेष होना जम्भाई, अगड़ाई तथा शरीर में भारीपन होना, रोंगटे खड़े होना, अरुचि, आंखों के आगे अंधेरा आना, किसी भी पदार्थ में रुचि न होना तथा कुछ सर्दी का प्रतीत होना ये ज्वर में सामान्य पूर्वरूप है। जम्भाई अधिक आना वात का, आँखों में जलन पित्त का और अन्न से अत्यधिक अरुचि होना कफ का विशिष्ट पूर्वरूप है। किन्हीं दो दोषों के विशिष्ट पूर्वरूप मिलने पर द्वन्द्वज के विशिष्ट पूर्वरूप होते हैं एवं सब दोषों का प्रकोप होने पर सभी दोषों के विशिष्ट पूर्वरूप प्रकट होते है ॥ ४-७ ॥

पूर्वरूपमाह—श्रम इत्यादि। श्रमः श्रान्तत्वमिव। अरतिरनवस्थितचित्तत्वम्, अरतिः क्रीडाभाव इति कार्तिकः। विवर्णत्वं म्लानगात्रत्वम्। यत्तु 'दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः'—इत्यारभ्य 'स्वकालेषु ज्वरागमम्। जनयन्त्यथ वृद्धिं च स्ववर्णांश्च त्वगादिषु'—(सु चि. अ. ३९) इति संप्राप्तौ वृद्धसुश्रुतवचनं, तदत्यर्थजृम्भादिवद्विशिष्टपूर्वरूपाभिप्रायेण, संप्राप्त्यवस्थापन्नदोषजन्यत्वात् पूर्वरूपस्येति। वैरस्यमिति [3]मुखस्य विरुद्धरसता। नयनप्लवोऽश्रुपूर्णनेत्रत्वम्। यदुक्तं चरके—'आलस्य[4] नयने सास्रे'—च. चि अ. ३) इत्यादि। आदिशब्दादम्बुज्वलनयोरप्यनिश्चितेच्छाद्वेषयोर्ग्रहणम्। उक्तं हि चरके—'ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ'-(च. चि. अ. ३) इति। अन्ये तु शैत्यौष्ण्यसाधर्म्याज्जलानलौ ग्राहयन्ति आदिशब्देन च शयनादिकम्। तमः अन्धकारप्रविष्टस्येवासंवित्तिः। अप्रहर्षः प्रीत्यभावः। ज्वलनेच्छया शीते लब्धे शीतं चेति वचनं शीतस्य विशेषेण बोधनार्थम्। चकारेण बालविद्वेषादिग्रहणमित्याहुः। उत्पत्स्यतीति भविष्यति ज्वरे। उत्पत्स्यतीति आत्मनेपदानित्यत्वेन; तच्च चक्षिङ इकारेण 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' (पा. अ. १।३।१२) इत्यात्मनेपदे सिद्धे तदर्थं ङित्करणेन ज्ञापितमिति शाब्दिकाः। गदाधरस्तु—'उत्पित्सति'—इति पठित्वा 'पद गतौ' इत्यस्य सन्नन्तस्य 'सनि मीमाघुरभलभशकपतपदाम्' (पा. अ. ७।४।५४) इत्यादिना इसि कृते[5] 'पूर्ववत् सनः' (पा. अ. १।३।६२) इत्यत्र भिन्नवाक्यतया परस्मैपदमिति व्याचष्टे इति ॥ ४-७ ॥

विमर्श—अपने कारणों से प्रकुपित हुए दोष जब रूप प्रकट होने से पूर्व सम्प्राप्ति की अवस्था में स्रोतों में अवरोध तथा जाठराग्नि का नाश कर देते हैं तब शरीर में आम सचय से भारीपन, बिना परिश्रम के थकावट की प्रतीति, अगमर्द तथा जृम्भा आदि लक्षण होते हैं स्थानसश्रय की अवस्था को

१. 'कफाच्चान्नाभिनन्दनम्' इत्यातङ्कदर्पणसंमतः पाठः।

२. 'द्वयोर्द्वयोस्तु रूपेण संसृष्टं द्वन्द्वजं विदुः' इति मुद्रितसुश्रुतपुस्तके पाठः। ३. 'विरुद्धमुखरसता इति क। ४. 'गौरवम्' इति क ख। ५. 'इस्भावे' इति पा०।

प्राप्त हुए दोष से ही पूर्वरूप की उत्पत्ति होती है। रोमाञ्च होना तथा शीत लगना ये दोनों सहचारी लक्षण हैं। परिसरीय केशिकाओं के संकोच के कारण ज्वर की प्रारम्भिक अवस्था में रोगी को शीत का अनुभव होता है एवं शीत से रक्षा करने के निमित्त रोंगटे भी स्वभावतः खडे हो जाते हैं। 'शीतवातातपादिषु' में आदि शब्द के पाठ से जल और अग्नि का तथा 'च' से अन्य ग्रन्थों में वर्णित लक्षणों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि चरक ने कहा है—

आलस्यं नयने सास्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः। ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ॥
अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः। शीलवैकृतमल्पं च ज्वरलक्षणमग्रजम्॥ (च.चि. ३)

तम—ज्वरकारी विषों का प्रभाव रक्त तथा मस्तिष्क पर भी होने लगता है अतः आंखों के आगे अंधेरा सा प्रतीत होता है।

वातज्वरस्य लक्षणान्याह—

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम्।
निद्रानाशः क्षवस्तम्भो[1] गात्राणां रौक्ष्यमेव च॥ ८॥
शिरोहृद्गात्ररुग्[2]वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता।
शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलजे ज्वरे॥ ९॥ (सु. उ. अ. ३९)

शरीर मे कपकपी, विषम वेग, कण्ठ और होंठों का सूखना, निद्रानाश, छींक का रुक जाना, शरीर में रूक्षता, सिर, हृदय प्रदेश तथा शरीर के अन्य अङ्गों में पीडा, मुख का स्वाद खराब होना, मल का सख्त होना, उदर में शूल तथा आध्मान की प्रवृत्ति एव जम्भाई अधिक आना ये वातिक ज्वर के लक्षण हैं॥ ८-९॥

वातपित्तकफानां यथापूर्वं भूरिदारुणविकारकर्तृत्वेन प्राधान्यं; यदुक्तं चरके-'अशीतिर्वातविकाराश्चत्वारिंशत्पित्तविकारा विंशतिः श्लेष्मविकाराः' (च. सू. अ. २०) इति; तथा दारुणाश्च वातविकारा आक्षेपकपक्षाघातादयः; अतः प्राधान्यात् प्रथमं वातज्वरलक्षणमाह— वेपथुरित्यादि। एवमन्यत्रापि वातादिक्रमनिर्देशे वेदितव्यम्। विषमो वेग इति वेगो ज्वरस्य प्रवृत्तिर्वृद्धिर्वा, तस्य वैषम्यमनियतकालत्वम्, अङ्गेषु चौष्ण्याद्यनियतत्वम्। क्षवश्छिक्का, स्तम्भो गात्राणां जडिमा, रौक्ष्यमपि गात्राणामेवेति गदाधरादयो व्याचक्षते; तच्चानवधाना-द्व्याख्यातमिति लक्ष्यते; क्षवस्य स्तम्भः क्षवस्तम्भ इत्येकपदताऽत्र युज्यते। यदाह वाग्भटः- 'हर्षो रोमाङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः। भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विलापश्चानिलज्वरे'—(वा. नि. अ. २) इति। चरकेऽपि निदाने 'क्षवथूद्गारविनिग्रहः' (च. नि. अ. १) इति पठितम्। विनिग्रहशब्दस्तु तत्र तत्र निरोधार्थ एवाचार्येण निर्दिष्टः; यथा वातगुल्मनिदाने- 'रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च' (च. चि. अ. ५) इति; यथाऽन्तर्वेगज्वरलक्षणे 'दोषवर्चोविनिग्रहः—' (च. चि अ. ३) इति। एतेन, ज्वरमुक्तिलक्षणे क्षवस्य पाठात् [3]कथमेतल्लक्षणमिति यदाशङ्कितं कार्तिककुण्डेन तदपि निरस्तम्। आध्मानं वायुना सवेदनमुदरपूर्णत्वम्। शिरोहृद्गात्ररुगित्यत्र गात्रग्रहणेन शिरोहृद्ग्रहणे सिद्धे तदभिधानं विशेषेण शिरसि हृदि च [4]वेदनार्थम्। एतानि रूपाणि प्रायोभावित्वेन निर्दिष्टानि

---

१. 'क्षुतः स्तम्भ;' इति डल्हणसंमतः पाठः। २. 'शिरोरुक् गात्ररुक्' इति क पुस्तके पाठः; 'शिरसः पृथगुपादानमत्यर्थं शिरसि सा भवतीति ज्ञापनार्थम्, अन्यथा गात्ररुगित्यनेनैव तत्प्राप्तेः' इति सुश्रुतटीकायां डल्हणः। ३. 'कथमत्र लक्षणत्वम्' इति क ख। ४. 'शिरोरुग्गात्ररुगित्यत्र गात्रग्रहणेन शिरोग्रहणेन सिद्धे तदभिधानं विशेषेण शिरसि वेदनासूचनार्थम्' इति क।

सुश्रुतेन, तेन चकारेणान्यान्यपि चरकोक्तानि बोद्धव्यानि। तान्येव गद्येनोक्तानि सुखग्रहणार्थं श्लोकेन मया प्रदर्श्यन्ते—'भवन्ति विविधा वातवेदनाः पादसुप्तता। पिण्डिकोद्वेष्टनं कर्णस्वनो वक्त्रकषायता॥ ऊरुसादो हनुस्तम्भो विश्लेषः संधिजानुनोः'शुष्ककासो वमिर्लोमदन्तहर्षः श्रमभ्रमौ॥ अरुणं नेत्रमूत्रादि तृट्प्रलापोष्णकामिताः' इति॥ ८-९॥

विमर्श—ज्वर की प्रवृत्ति या वृद्धि को वेग कहते हैं। वातज्वर मे इन दोनों का समय निश्चित नहीं होता अतएव सुश्रुत ने इसे विषम वेग कहा है। चरक भी इसको विषमारम्भ विसर्गी मानते हैं। उक्त शब्द की व्याख्या में चक्रपाणि कहते हैं—'आरम्भः उत्पादः, विसर्गो मोक्षः, तौ विषमौ यस्य स विषमारम्भविसर्गी, अर्थात् ज्वर का वेग कभी सिर से प्रारम्भ होता है और कभी पीठ से या जङ्घा से तथा कभी तेज होता है और कभी मन्द। इसी प्रकार उसकी निवृत्ति का स्थान और काल भी अनियत ही होता है। वायु के प्राबल्य के कारण निद्रानाश (Insomnia) रहता है। कुछ लोग क्षव और स्तम्भ को पृथक् मानकर छींक की प्रवृत्ति एवं शरीर की जडता ऐसा अर्थ करते है। वस्तुतः यह ठीक नहीं, इनको एक मानकर छींक की रुकावट ही अर्थ करना चाहिये, क्योंकि वाग्भट ने भी छींक की रुकावट को ही वातज्वर का लक्षण माना है उसकी प्रवृत्ति को नहीं—

हर्षो र माङ्गदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः। भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिलज्वरे॥ (न. १)

इसके अतिरिक्त चरक ने भी 'विषमारम्भविसर्गित्वम्' इत्यादि लक्षणों में 'क्षवथूद्गारनिग्रहः' के द्वारा छींक के निग्रह या अवरोध का ही प्रतिपादन किया है। यद्यपि वेदना का अनुभव समस्त शरीर में होता है तथापि सिर एवं हृदयप्रदेश में इसकी विशेष प्रतीत होती है अतः उनका नामग्रहण विशेषरूप से किया गया है। वातज्वर का विशेष काल वर्षा ऋतु है। इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ दूसरे लक्षण कभी-कभी मिलते हैं और उनका उल्लेख भी चरक आदि ने किया है।

पित्तज्वरलक्षणमाह—

वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते॥ १०॥
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च॥ ११॥

(सु. उ. अ. ३९)

पित्तज्वर में ज्वर का वेग तीक्ष्ण होता है, अतिसार, निद्रा की कमी तथा वमन होता है। कण्ठ, मुख, ओष्ठ तथा नासिका में पाक हो जाता है, पसीना भी आता है, रोगी प्रलाप करता है। एवं उसका मुंह कड़वा रहता है, रोगी को रूप आदि विषयों का ठीक २ ज्ञान नहीं रहता (मूर्च्छा हो जाती है), कभी २ मत्तता की प्रतीति होती है। प्यास अधिक लगती है। मल, मूत्र तथा नेत्रों का रंग पीला होता है एवं रोगी भ्रम से पीडित रहता है॥ १०-११॥

पित्तज्वरलक्षणमाह— वेगस्तीक्ष्ण इत्यादि। अतिसारः पित्तस्य सरत्वेन सद्रवा प्रवृत्तिर्न त्वतिसार एव, तस्य ज्वरोपद्रवत्वात्। निद्राल्पत्वं स्वल्पनिद्रात्वम्। उक्तं हि सुश्रुते-'निद्रानाशोऽनिलात् पित्तात्' (सु. शा. अ. ४) इत्यादि। वमिः पित्तस्य कफस्थानगमनात्। स्वेदो घर्मागमनं, प्रायेण सामदोषेण स्रोतसां निरोधात् सर्वज्वरेषु घर्मनिरोधः, अत्र तु पित्तस्य तैक्ष्ण्याज्ज्वरप्रभावाद्वा स न भवति। प्रलापोऽसम्बद्धभाषणम्। वक्त्रकटुता मुखतिक्तत्वं चरके हि पैत्तिकनानात्मजचत्वारिंशद्विकारेषु तिक्तास्यतायाः पाठादनुभवाच्च। कार्तिकस्त्वरोचके 'कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम्' (च. चि. अ. २६)

इति [1]वचनं दृष्टान्तमुपन्यस्य कटुमुखत्वमपीच्छति । तन्न, तत्रापि सन्देहात् । यदुक्तं,—'कटुमुखत्वमप्येष्टव्यमिति । मूर्च्छेति मूर्च्छा रूपाद्यविज्ञानं, तमःप्रवेशो विस्मृतिरित्याहुः । मदो मत्तत्वमिव, यथा—पूगकोद्रवधत्तूरभक्षणादौ । भ्रमश्चक्रस्थितस्येव भ्रमद्वस्तुदर्शनमित्याहुः; अन्ये तु स्वदेहभ्रमणज्ञानम् । ननु, भ्रमस्याशीतिवातविकारपठितस्य वातनानात्मजत्वात् कथं पित्तविकारे पाठः ? उच्यते, 'न रोगोऽप्येकदोषजः' इति वचनात् पत्तिके वातानुबन्धाद् भ्रम इति जेज्जटः समाधानमुक्तवान् । अथवा दोषदूष्यसंमूर्च्छनप्रभावात् कारणादृष्टस्यापि[2] रूपस्य कार्य उपलम्भः; यथा—[3]अरूपवातारब्धातिसारादावविवारुणत्वं, हरिद्राचूर्णसंयोग[4] इव लौहित्यम् । यत्तूक्तं सुश्रुते—'रजःपित्तानिलाद् भ्रमः' (सु शा. अ. ४)—इति, तत्रापि वातानुगतपित्तजत्वमेव बोद्धव्यम्, अन्यथा भ्रमस्य वातिकनानात्मजत्वमेव न स्यादिति । अपरे तु पित्तदूषितनेत्रत्वेन विपर्यस्तज्ञानं भ्रमः, पीतः शङ्ख इत्यादिवत् । चकारः पूर्ववदनुक्तसमुच्चयार्थः । तद्यथा—तीव्रोष्मना रक्तकोठाः शीतेच्छताऽरुचिरिति ॥ ११-१२ ॥

विमर्शः—पित्तज्वर का वेग सम्पूर्ण शरीर में प्रायः एक साथ आता है । अतिसार से यहां अतिसरण नहीं अपितु द्रवयुक्त मल की प्रवृत्ति ही समझनी चाहिये, क्योंकि अतिसार वस्तुतः ज्वर का उपद्रव है । पित्त के द्रवत्व गुण के कारण मल पतला हो जाता है । सभी ज्वरों में पित्त की उपस्थिति रहती है । किन्तु पित्तज्वर में पित्त की प्रचुरता होने से वेग तीक्ष्ण स्वरूप का होता है । निद्राल्पता वायु के समान पित्त का भी कार्य है; क्योंकि सुश्रुत ने कहा है—**'निद्रानाशोऽनिलात् पित्तात्'** । वमन से पित्त का वमन समझना चाहिये; क्योंकि चरक ने पित्तज्वर के लक्षणों में **'पित्तच्छर्दनम्'** यह स्पष्ट रूप से कहा है । पित्त के कफस्थान आमाशय में आ जाने से पित्त ज्वर में वमन की प्रवृत्ति होती है । यद्यपि स्रोतों में अवरोध हो जाने से सभी ज्वरों में स्वेद-प्रवृत्ति का अवरोध रहता है तथापि पित्तज्वर उसका अपवाद है अतः इसमें स्वेद की प्रवृत्ति होती है । मूर्च्छा से रूप आदि विषयों का अज्ञान या विस्मृति समझनी चाहिये । भ्रम वातिक विकार होते हुए भी पित्तज्वर में वायु का अनुबन्ध होने के कारण अथवा विकृतिविषमसमवाय-जनित होता है । पित्तकृत ऊष्माजनित रूक्षता से वायु का अनुबन्ध होना स्वाभाविक भी है । पित्तज्वर विशेषतः शरदृतु में होता है ।

कफज्वरलक्षणं निरूपयति—

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता ।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥ १२ ॥
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता ।
[स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको लवणास्यता ।
नात्युष्णगात्रता च्छर्दिर्लालास्रावोऽविपाकता ॥]
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥ १३ ॥

कफज ज्वर में शरीर गीले कपड़े से ढका हुआ सा प्रतीत होता है, वेग मन्द रहता है, आलस्य तथा मुख का स्वाद मीठा होता है । मल और मूत्र का वर्ण सफेद होता है, शरीर में जकड़ाहट रहती है, अन्न में अरुचि, शरीर में भारीपन तथा शीत का अनुभव होता है । कफष्ठीवन या वमन करने की इच्छा रहती है, रोंगटे खडे रहते है और निद्रा बहुत आती है । सभी स्रोतों में अवरोध

१. 'पठित्वा, तदुपन्स्य' इति क ख । २. 'कारणदृष्टदोषस्यापि' इति क । ३. 'यथा' इति क ख पुस्तकयोर्न पठ्यते । ४. 'सयोगते यथा' इति क ख । ५. आतङ्कदर्पणसंमतोऽयं पाठः ।

रहता है, शरीर में पीड़ा कम होती है, लाला प्रसेक होता है, मुख का स्वाद नमकीन रहता है, शरीर अधिक गरम नहीं रहता, वमन, लालास्राव, अपचन, प्रतिश्याय, अरुचि तथा कास जैसे लक्षण होते हैं और आँखों का वर्ण सफेद रहता है ॥ १२-१३ ॥

कफज्वरलक्षणमाह—स्तैमित्यमित्यादि। स्तैमित्यमङ्गानामार्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव। स्तिमितो वेगो मन्दो वेगः। आलस्यमिति 'समर्थस्याप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते' (सु. शा. अ. ४)-इत्यालस्यलक्षणमाहुः। स्तम्भः अङ्गस्तब्धता। तृप्तिः तृप्तस्येवान्नानभिलाषः। उत्क्लेदः कण्ठोपस्थितवमनत्वमिव। अरुचिरत्र सत्यप्यभिलाषे अभ्यवहारासामर्थ्यमिति भेदः। चकारः पूर्ववत्। तेन 'तथाऽङ्गे पिडकाः शीतं प्रसेकश्छर्दितन्द्रिके। हृदुपलेप उष्णाभिलाषिता वह्निमार्दवम्-' इति ॥ १२-१३ ॥

विमर्शः—इसका वेग भी सम्पूर्ण शरीर में एक साथ होता है। मुख का स्वाद आम या विदग्ध कफ के अनुसार मीठा या नमकीन हो सकता है। केशिकाओं के संकोच के कारण रोमांचितता तथा शीत का अनुभव होता है। वसन्त ऋतु इसके लिये अनुकूल काल है।

वातपित्तज्वरलक्षणमाह—

तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥ १४ ॥
पूर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः।

(सु. उ. तं. अ. ३९

प्यास, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, निद्रानाश, सिर में पीडा, गले और मुख का सूखना, वमन, रोंगे खड़े होना, अरुचि, आँखों के आगे अन्धेरा-सा छाया रहना, सन्धियों में पीडा तथा जम्भाई की विशेषतायें वातपित्तज्वर के लक्षण हैं ॥ १४ ॥

वातपित्तज्वरलक्षणमाह—तृष्णेत्यादि। पर्वाणि भिद्यन्त इव[1] वेदना पर्वभेदः। एतानि च लिङ्गानि विकृतिविषमसमवायारब्धस्य बोद्धव्यानि। विकृतिविषमसमवायारब्धत्वं चैषां केवलवातिकपैत्तिकज्वरलक्षणानां मध्ये केषाञ्चिदेव नियमेन पाठात्तदतिरिक्तलक्षणपाठाच्च बोद्धव्यम्। यथा—अत्रैव वातपैत्तिकेऽरुचिरोमहर्षौ, वक्ष्यमाणवातश्लैष्मिके स्वेदः सन्तापश्च, एवं कफपैत्तिके अनवस्थितशीतदाहौ एवं सन्निपातजे सास्रकलुषादिनेत्रत्वशिरोलोठनादि। प्रकृतसमसमवायारब्धे तु वातजादिज्वरलिङ्गान्येव समस्तानि कतिपयानि वा भवन्ति। अतएव चिकित्सिते चरको विकृतिविषमसमवायारब्धानां द्वन्द्वसन्निपातज्वराणां लक्षणानि साक्षात् पठित्वा निदानस्थानोक्तवातादिज्वरलिङ्गातिदेशेन प्रकृतिसमसमवेतानां द्वन्द्वसन्निपातज्वराणां[2] लक्षणमुक्तवान्। यदाह—'निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः। संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम्' (च. चि. अ. ३)-इति। एवं वक्ष्यमाणं द्वन्द्वसन्निपातलक्षणं व्याख्येयम्। प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवाययोश्चायमर्थः—प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः, कारणानुरूपं कार्यमित्यर्थः, यथा—शुक्लतन्तुसमवायारब्धस्य पटस्य शुक्लत्वम्। विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः, यथा—हरिद्राचूर्णसंयोगजं लौहित्यमिति ॥ १४ ॥

१. 'इति पर्वभेदः पर्ववेदनाः' इति क ख। २. 'द्वन्द्वसन्निपातज्वराणाम्' इति क ख पुस्तकयोर्न पठ्यते।

विमर्शः—उपर्युक्त लक्षणों को विकृति-विषम समवायारब्ध समझना चाहिये क्योंकि इसमें वात तथा पित्त के कतिपय लक्षण होते है दूसरे नहीं तथा कुछ ऐसे लक्षण भी है जो न वातज्वर में हैं न पित्तज्वर में जैसे रोमहर्ष तथा अरुचि ये दोनों न तो वात के ही लक्षण है और न पित्त के। इसी प्रकार वक्ष्यमाण वातश्लैष्मिक ज्वर में स्वेदप्रवृत्ति एवं सन्ताप, पित्तकफ ज्वर मे अनवस्थितशीतता एवं दाह, सन्निपातिक ज्वर में आंखों में मलिनता, अश्रुपूर्णता तथा सिर को इधर-उधर फेंकना आदि। ये सभी लक्षण अपने निदान के कारण प्रकुपित समवेत दोष के कारण उत्पन्न हुए प्रतीत नहीं होते अतः उन्हें विकृतिविषमसमवायजन्य लक्षण कहा जाता है। प्रकृतिसमसमवायारब्ध द्वन्द्वज ज्वर में वातादिज्वर के ही सम्पूर्ण या असम्पूर्ण लक्षण मिले होते है। इसी आशय से महर्षि चरक ने चिकित्सा स्थान में विकृतिविषमसमवायारब्ध द्वन्द्वज तथा सन्निपातज ज्वर के लक्षणों का वर्णन करके निदानस्थान में वर्णित वात-कफ आदि के लक्षणों के अनुसार प्रकृतिसमसमवायारब्ध द्वन्द्वज तथा सन्निपातज ज्वर के लक्षणों का भी निर्देश पृथक् भी किया है—**'निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्ज्वराकृतिः। संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम्'** ॥ अर्थात् निदान स्थान में वातिक आदि तीन प्रकार के ज्वरों के पृथक्-पृथक् जो लक्षण कहे है उन्ही लक्षणों के सयोग या ससर्ग के अनुसार संसर्गज (द्वन्द्वज) तथा सन्निपातज ज्वरों के लक्षण समझने चाहिये। प्रकृतिसमसमवाय तथा विकृतविषमसमवाय का अर्थ निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है—**'प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसम्बन्धः प्रकृतिसमसमवायः'** अर्थात् रोग की प्रकृति अर्थात् निदान या कारण के समान समवाय या कार्यकारणभावसम्बन्ध का होना प्रकृतिसमसमवाय कहलाता है। यथा सफेद तन्तुओं से बना हुआ कपड़ा सफेद ही होता है। कफपित्तज ज्वर में लिप्ततिक्तास्यता लक्षण इसका ही उदाहरण है। इस प्रकार कारण के अनुरूप कार्य की प्रवृत्ति ही प्रकृतिसमसमवाय है।

विकृतिविषमसमवाय **'विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः'** अर्थात् विकृति के कारण विषम अर्थात् कारण के विपरीत समवाय या कार्यकारणभाव सम्बन्ध को विकृतिविषमसमवाय कहते है। यथा पीले रगवाली हल्दी और सफेद चूने के संयोग से विषम लाल रग की उत्पत्ति होती है, इसी तरह वातपित्तज्वर के लक्षणों में रोमहर्ष और अरुचि भी वात या पित्त के स्वतन्त्र लक्षण न होते हुए भी इस अवस्था मे मिलते है अतः इन्हें **'विकृतिविषमसमवायारब्ध'** कहा जाता है। इस प्रकार कारण के अनुरूप कार्य न होना ही **'विकृतिविषमसमवाय'** कहलाता है।

वातश्लेष्मज्वरलक्षणमाह—

स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ॥ १५ ॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् ।
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥ १६ ॥

(सु. उ. तं अ. ३९)

वातश्लेष्मज्वर में शरीर गीले कपड़े से भीगा-सा रहता है, सन्धियों में पीडा होती है, निद्रा अधिक आती है और शरीर भारी रहता है। शिरःशूल, प्रतिश्याय, खाँसी, स्वेद की अधिकता, शरीर मे सन्ताप तथा ज्वर का मध्य वेग रहता है ॥ १५–१६ ॥

वातश्लेष्मज्वरलक्षणमाह—स्तैमित्यमित्यादि। स्वेदाप्रवर्तनं स्वेदस्य आ समन्तादकारणेन प्रवर्तनं विकृतविषमसमवायारब्धत्वादिति कार्तिकः। **युक्तं चैतत्; यदाह हारीतः—**

'शिरोग्रहः स्वेदभवो ज्वरस्य कासश्च लिङ्गं कफवातजस्य'—इति स्वेदभवः स्वेदोत्पत्तिः। मध्यवेगो नातितीक्ष्णो नातिमृदुरिति ॥ १५-१६ ॥

विमर्शः—'स्वेदस्य आ समन्तात् प्रवृत्तिः स्वेदाप्रवृत्तिः—स्वेद की अत्यधिकता ही इसका अर्थ है। क्योंकि हारीत ने भी वातश्लेष्मज्वर में स्वेदप्रवृत्ति का वर्णन किया है। स्वतन्त्र वात या कफज्वर में यह स्वेदप्रवृत्ति-लक्षण नहीं मिलता। अतः इसे विकृतिविषमसमवायारब्ध कहते हैं।

श्लेष्मपित्तज्वरलक्षणमाह—

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥ १७ ॥

श्लेष्मपित्तज्वरलक्षणमाह—लिप्तेत्यादि। श्लेष्मणा लिप्तं पित्तेन तिक्तं च आस्यं मुखं यस्य, तस्य भावो लिप्ततिक्तास्यता। तन्द्रा निद्रावत्क्लान्तिः[1]। मोहो मूर्च्छा। एतानि लिङ्गानि प्रायोभावित्वेन निर्दिष्टानि, [2]तेनान्यान्यपि चरकोक्तानि बोद्धव्यानि। यथा—तथा स्तम्भश्च संस्वेदः कफपित्तप्रवर्तनम्' इति ॥ १७ ॥

विमर्शः—उक्त लक्षण ही अधिकतर पाये जाते हैं अतः माधव ने इन्हीं का वर्णन किया है। इनके अतिरिक्त चरकोक्त स्वेद, जकड़ाहट तथा श्लेष्मा और पित्त का निकलना एवं अन्य तन्त्रान्तरीय लक्षणों का भी ग्रहण कर लेना चाहिए।

साम्निपातिकज्वरलक्षणं व्याचष्टे—

क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥ १८ ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥ १९ ॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम्।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥ २० ॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥ २१ ॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम्।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥ २२ ॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च।
चिरात् पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥ २३ ॥

(च. चि. अ. ३)

सन्निपातज्वर में क्षण में दाह और क्षण में शीत का अनुभव होता है, अस्थि, सन्धि तथा सिरमें

१. 'लोचनक्लान्तिः' इति क ख। २. 'लिखितानि' इति क ख।

विशेष वेदना होती है, नेत्र आंसुओं से भरे रहते हैं, उनका रग मैला और लाल रहता है और वे विस्फारित अथवा अन्दर को प्रविष्ट रहते हैं। कानों में अकारण ही सन-सन शब्द सुनाई पड़ता है और उनमें दर्द भी रहता है, गले में यवशूकों से भरे रहने के समान अनुभव होता है; तन्द्रा, मूर्च्छा, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि तथा भ्रम होते है, जिह्वा झुलसी हुई सी कृष्णवर्ण की एवं स्पर्श में (गाय की जीभ के समान) खुरदरी होती है, सम्पूर्ण अंग शिथिल रहते है, थूक में कफ के साथ रक्त या पित्त भी निकलता है, रोगी सिर को इधर-उधर घुमाता रहता है, प्यास, निद्रानाश, एव हृदय-प्रदेश में पीडा रहती है तथा स्वेद, मूत्र और मल देर से या अल्पमात्रा में निकलते है। शरीर अत्यधिक कृश नहीं होता, कण्ठ में निरन्तर (कबूतरों के शब्द के समान) घुर्घुराहट होती रहती है, शरीर पर सांवले या लाल रंग के ददोडे या चकत्ते पड़ जाने है, रोगी बोलने में असमर्थ रहता है, मुख, नासा, कान तथा गुदा आदि स्रोतों में पाक हो जाता है, पेट भारी रहता है तथा दोषों का परिपाक विलम्ब से होता है ॥ १८–२३ ॥

सान्निपातिकज्वरलक्षणमाह–क्षणे दाह इत्यादि। रुजा शूलम्, अस्थ्यादिभिः संबध्यते। सास्रावे साश्रुणी। कलुषे आविलवर्णे। निर्गता भुग्नता संकुचितता ययोस्ते निर्भुग्ने, 'विस्फारिते इत्यर्थः' इति जेज्जटः, 'अन्तः प्रविष्टे'–इत्यन्ये, 'अतिकुटिले'–इति चक्रः। शूकैः शूकशिम्बि(म्बा)धान्यादेः। परिदग्धा दग्धवत्कृष्णवर्णा। खरस्पर्शा खरो गोजिह्वावत् स्पर्शो यस्यां सा तथा। स्रस्ताङ्गता निःसहावयवता। ष्ठीवनं रक्तस्य पित्तस्य वा मुखेन स्वल्पोद्गिरणम्। शिरसो लोठनमितस्ततश्चालनम्। कृशत्वं नातिगात्राणां दोषपूर्णत्वेन। प्रततं निरन्तरम्। कोठो भालुकितन्त्रे पठितः। तद्यथा- 'वरटोदष्टसंकाशः कण्डूमांल्लोहितोऽस्रकफपित्तात्। क्षणिकोत्पादविनाशः कोष्ठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः'–इति। मूकत्वं मन्दवचनता, अवचनता वा। गुरुत्वमुदरस्य च उदरगौरवम्, चिरात् पाकश्च दोषाणामिति अतिसामतारब्धत्वेन। चकारादन्यान्यपि बोद्धव्यानि। यदाह वाग्भटः–'तद्वच्छीत महानिद्रा दिवा जागरणं निशि। सदा वा नैव वा निद्रा महान् स्वेदोऽथवा न वा ॥ गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम्—' (वा. नि. अ २) इति। एतच्च लक्षणं त्रयोदशसन्निपातेषु मध्ये स्वमानाद् वृद्धैर्दोषैस्तुल्यैरारब्धस्य ज्वरस्य चरकेण पठितं; द्व्युल्बणादीनां च द्वादशानां लक्षणं[1] तत्रैव द्रष्टव्यम्। तथा च काश्मीरपाठेः चरकः—'भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक्। वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ॥ शैत्य कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाह[2]हृद्व्यथाः। वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः। छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना। मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ॥ सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः। वातोल्बणे स्याद् द्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशुष्कता ॥ रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृष्णा बलक्षयः। मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ॥ आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः। कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ॥ प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम्। हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् ॥ हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः। हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ॥ शिरोरुग्वेपथुश्वासप्रलापच्छर्द्यरोचकाः। हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥ शीतता गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोऽतिरुक्। हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः ॥ [3]वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः। कफहीने वातमध्ये लिङ्ग पित्ताधिके विदुः ॥ श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक्। कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम्' (च. चि. अ. ३) इति। विकृतौ नियमो नास्ति; तेन विकृति-

१. 'लक्षणं बोद्धव्यम्' इति क ख। २. 'दाहरुक् तथा' इति क ख। ३. 'पर्वभेदोऽग्निदौर्बल्यम्' इति क ख।

विषमसमवायादनेकप्रकारा भवन्ति[1]। अतः सुश्रुतेनाप्यन्यादृशं सन्निपातलक्षणं पठितम्- 'नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः। खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः॥ सास्रुनिर्भुग्ननयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः। श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः॥ अभिन्यासं तु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे। सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे जगुः' (सु. उ. अ. ३९) इति। तथा भालुकितन्त्रे द्व्युल्बणैकोल्बणादिलक्षणमन्यथा पठितम्।[2] तद्यथा-'वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति। तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्तालुशोषप्रमीलकाः॥ आध्मानतन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमाः। पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति॥ अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तन्द्रा च बाधते। तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहाः॥ निष्ठीवेत् कफपित्तं च तृष्णा कण्डूश्च जायते। विड्भेदश्वासहिक्काश्च बाधन्ते सप्रमीलकाः॥ [3]विभुफल्गू च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ। श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति॥ तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः। शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः॥ उदरं दह्यते चास्य कटिर्वस्तिश्च दूयते। सन्निपातः स विज्ञेयो मकरीति सुदारुणः॥ वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य [4]तृष्णाज्वरग्लानिपार्श्वरुग्दृष्टिसंक्षयाः॥ पिण्डिकोद्वेष्टनं दाह ऊरुसादो बलक्षयः। सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः॥ निर्भिद्यते गुदं चास्य वस्तिश्च परिकृत्यते। आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि॥ मूर्च्छते स्फायते रौति नाम्ना विस्फुरकः स्मृतः। पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति॥ तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते। शीतं च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ॥ ततश्चैनं प्रधावन्ते हिक्काश्वासप्रमीलकाः। विसूचिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः। नाभिपार्श्वरुजा तस्य स्विन्नस्याशु विवर्धते। स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्य सम्प्रवर्तते॥ शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णा दाहश्च वर्धते। असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते॥ नहि जीवत्यहोरात्रमेतेनाविष्टविग्रहः। कफोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति॥ तस्य शीतज्वरस्वप्नगौरवालस्यतन्द्रयः। छर्दिमूर्च्छातृषादाहतृप्त्यरोचकहृद्ग्रहाः॥ ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः। श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक्॥ तदा तस्य भृशं पित्तं कुर्यात् सोपद्रवं ज्वरम्। निगृहीते तु पित्ते च भृशं वायुः प्रकुप्यते॥ निराहारस्य सोऽत्यर्थं मेदोमज्जास्थि [5]बाधते। अथात्र स्नाति भुङ्क्ते वा त्रिरात्रं न हि जीवति॥ मेदोगतः सन्निपात [6]कफ्फणः स उदाहृतः। कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चायं प्रपद्यते॥ मध्यहीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत्। तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः' इत्यादि। ननु, वातादयः परस्परं विरुद्धगुणाः विरुद्धगुणानां च संभूयैककार्यारम्भकत्वं नोपपद्यते, परस्परोपघातात्तुहिनदहनयोरिव; तत् कथं सान्निपातिकविकारोत्पत्तिरिति[7]। अत्र समाधानमुक्तं दृढबलेन; यथा-'विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम्। दोषाः सहजसात्म्यत्वाद्घोरं विषमहीनिव'इति (च. चि. अ. २६)। एतच्चान्ये

१. अस्याग्रे क पुस्तके प्रकृतिसमवाये तु सन्निपाते पृथग्वातादिज्वरलक्षणं ज्ञेयं; हीनमध्याधिकक्रमेण सन्निपाता एव षट् द्व्युल्बणत्वेन त्रयः, एकोल्बणत्वेन त्रयः, समत्वेनैकः, एवं त्रयोदश प्रकृतौ' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते।

२. अस्याग्रे क पुस्तके 'वातः पित्ताधिकोऽयं प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे-श्लेष्मत्वं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः। स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्यादनिलमथ मरुत् कोपयेत् पित्तमन्तः सम्मूर्च्छयान्योन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम्' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते। ३ 'विभुः फल्गुश्च' इति क ख। ४ ख पुस्तके तृष्णेत्यत्र चिन्तेति पाठः। ५ 'धावति' इति क ख। ६ 'कम्फण' इति क ख।

७ अस्याग्रे क पुस्तके तद्यथा—वातस्य शीतरूक्षादिगुणयुक्तस्य उष्णस्निग्धादिगुणयुक्तेन पित्तेन, तथा कफस्य गौरवस्निग्धात्मकस्योभाभ्यां विरोधः। 'तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः। पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम्। स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः॥

दूषयन्ति-सहजत्वादित्यनैकान्तिकं, यतः सहजानपि धातून् दोषा उपघ्नन्ति; सात्म्यत्वादित्यपि साध्याविशिष्टं, यतः सात्म्यत्वमबाधकत्वं, तदेव च दोषाणामिह साध्यम् । अत्रोच्यते-दोषा नोपघ्नन्तीति कोऽयमनुपघातः साध्यते ? विकृतेरकारकत्वं वा, अविनाशकत्वं वा ? नाद्यः, दोषाणां परस्परं विकृतिकर्तृत्वात् । यथोक्तं चरके-त्रिदोषयेद्बस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं

कट्वम्ललवणं पित्तं स्वाद्वम्ललवणं कफः । कषायतिक्तकटुको वायुर्दृष्टोऽनुमानतः' इति । किंच, मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा युगपदुत्पद्यन्ते आहोस्वित्कालव्यधानेन ? आद्ये समबलत्वेन तारतम्येन वा ? नाद्यः सर्वेषां समबलत्वेन परस्परघातकानां युगपदुत्पत्तिर्न स्यात् । अथ भिन्नाश्रयतया साऽस्तु; तदपि न, कुपितानां सर्वदेहव्यापित्वेन परस्परसम्बन्धात् । यदुक्तं 'व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम्' इति । किंच ज्वरोत्पत्तौ तावत् कुपितानामामाशयगतानां रसदूषकाणां ज्वरोत्पादकत्वं, तन्मिलितानामेव स्याद्यथा दुष्टेनेति । न द्वितीयः पूर्वदोषाधिकत्वात्* । किंच तारतम्येनोत्पत्तौ मूषकमार्जारवद्विरोधे प्रागेव तेन प्रबलेन दुर्बलाघातः सुकरः, दृश्यते च मात्स्यो न्यायः । अथ युगपदुत्पादका आहारादयो न भवन्ति; तत्र युगपदुत्पादकद्रव्यमेकमनेकं वा ? तस्य पाञ्चभौतिकत्वेन विरुद्धगुणाधिकार(करण)स्य त्रिदोषोत्पादकत्वं न स्यात् । अस्तु वाऽविचारितरमणीयम् । एकमेवाभ्यवह्रियत इति कथम् ? अस्तु वा साधकत्वेन सहकारिणि द्रव्याभ्यवहारे तस्य विरुद्धगुणवत्त्वेन दोषान्तरघातकत्वेनानुत्पत्तिः तदवस्थतयैव जायमानः केवलैकदोषजो न संसर्गसन्निपातजो ज्वर इति । अथादृष्टाधीनत्वेन सहकारिणो भावे (सम्भवे) एकाभ्यवहारे सन्निपातः, तर्हि सर्वेषां समबलत्वेनेत्यत्रोक्तदोषः स्यात् । अथानेकद्रव्याणामभ्यवहारे त्रिदोषप्रकोपणं न सम्भवति । तत्र तुल्यानामेवाभ्यवहारः कथं ? यतो भिन्नरुचित्वात् । यथारुच्यभ्यवहारे तारतम्यसम्बन्धात् । तारतम्येनैव भवति प्रकोपो न युगपदिति प्रतिज्ञाहानिः । अत्राप्यदृष्टाधीनत्वात्तुल्याभ्यवहारे प्रतिघातकत्वाभावेऽपि यौगपद्यं तर्हि स दोषः । अथ कालव्यवधानेन, तत्र पूर्वस्मादुत्तरस्य भिन्नः कालो भवेत् समबलो वा न्यूनाधिकबलो वा ? नाद्यः, उपसञ्जातविरोधित्वेनोत्पत्तुमेव न शक्नोति । न द्वितीयः, न्यूनबलत्वेन पूर्वप्रबलेनैव विनाशितत्वात्, अकिञ्चित्करत्वाच्च । न तृतीयः, विचारासहत्वात् । तत्र वक्तव्यमधिकबलत्वमुत्पत्तेः पूर्वं पश्चाद्वा ? नाद्यः, अनुत्पन्नस्याधिक्याभावात् । अधिकत्वं धर्मः, स तु सति धर्मिणि चिन्त्यः । अथ पश्चात् ? तन्न, उत्पत्त्यधिके अधिकेन घातस्योपसञ्जातविरोधिन उत्पत्तिरेव न, कुतोऽधिकत्वम् । अत्राप्यधिकत्वं न सम्भवति । तस्माद्विरुद्धगुणानां संभूय कर्तृत्वं घटघटाभावयोरिव घटघटप्रध्वंसयोरिव सहावस्थायित्वं नास्ति दहनतुहिनवत् । अत्रोच्यते-सर्वे विकल्पा अनङ्गीकारपाशहताः सन्निपातस्तु स्यादेव, मिथ्याहारादिना कुपिता दोषा युगपत् कालव्यवधानेन वा समबलत्वेन तारतम्येन वा परस्परविरुद्धा अपि स्वस्थानादामाशयमागत्य रसं दूषयित्वा द्वन्द्वसन्निपातोत्पादका भवन्ति, उक्तं च-मिथ्याहारेत्यादि । कालव्यवधानेनोत्पन्नानामपि कालान्तरेण यौगपद्यमेव भवतीति न कदा(का)चिदनुपपत्तिः ननु, कथमादिपश्चाद्भावेनोत्पन्नानां यौगपद्यमिति चेत् ? तन्न, दोषाद्दोषान्तरोत्पत्तेः । तदुक्तं—'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत् । एकः प्रशमितो दोषः सर्वान् दोषान्निवारयेत्' इति । तथाच चरकः-'कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति-' इति । अत्र रुजाकरत्वाद्दोषोऽपि रोग इति टीकाकृतो व्याचक्षते, 'विकृतो दोषो रोग' इति समुदायसमुदायिनोरभेदवादिना मतं पूर्वमेवोक्तम् । अन्यच्च तथा-'विकृताविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च' इति । विकृतानां घातकत्वं रोगरूपेणैव भवति, या विकृतिः स एव रोग इति न दोषरोगयोर्भेदः । अस्तु वा भेदः, मिलितैर्दोषै रोगः क्रियत इति । कथञ्चिदपि एकानेकद्रव्याभ्यवहारे सहकारिणि दैवात्त्रयाणां प्रकोपो

---

* 'पूर्वदोषोऽधिकः स्यात्' इति वा पाठः

सपित्तं पवनः कफं वा। यदा तदाऽस्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव[1] रोचना गोः' इति (च. चि. अ. २६) तथा चोक्तं वाग्भटेन-'सश्लेष्ममेदः पवनः साममत्यर्थसञ्चितम्। अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत् प्रतिपद्यते॥ सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च। तदा स्तम्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ' (वा. नि. अ. १५) इति[2]। अविनाशकत्वं तु विद्यत एव, धातुदोषयोः परस्परं च दोषाणां सर्वथोच्छेदप्रतिपादकागमाभावात्, मरणप्रसङ्गाच्च; दोषाणामपि देहधारकत्वात्; तस्मात् सर्वथोच्छेदनिरासाभिप्रायेणैव दृढबलवचनमिह द्रष्टव्यं; ततः कुतोऽनैकान्तिकता। न चैवं सति विषस्य विषादकर्तृत्वेन दृष्टान्तविफलत्वं, विषस्य विषादादवान्तरव्यापारस्य[3] प्राणविनाशकत्वात्; न च सर्वात्मना दृष्टान्तो भवतीति। सात्म्यत्वादित्यस्यायमर्थः-सात्म्यत्वेन प्रतीयमानत्वात्। दोषाः परस्परं नोपघ्नन्ति, अनुपघातकत्वेन प्रतीयमानत्वात्; यद्यथा प्रतीयते तत्तथा निर्दिश्यते, यथाऽग्निकार्यो धूमोऽग्निकार्यत्वेनेति तत् कुतः साध्याविशिष्टत्वमिति। चक्रस्तु सहजसात्म्यत्वादित्येकमेव हेतुं व्याख्यातवान्-सहजं स्वाभाविकं दोषाणां सात्म्यत्वमिति। दृढबलोक्तहेतुद्वयास्वरसेन गयदासस्तु हेत्वन्तरमुक्तवान्, 'दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके। विरुद्धैः स्वगुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम्' इति संक्षेपः॥ १८-२३॥

विमर्शः—सन्निपातज्वर का प्रभाव सब धातुओं एवं अंगों पर पड़ता है। केशिकाओं का मार्ग अवरुद्ध होने से मस्तिष्क में रक्त पर्याप्त मात्रा में नहीं पहुँच पाता अतः वह स्थान विकृत हो जाता है जिससे रोगी असम्बद्ध प्रलाप करने लगता है। इसी प्रकार कभी-कभी मूर्छा भी आ जाती है। श्वासनलिकाओं में कफ की उपस्थिति के कारण खांसी तथा अवरोध के फलस्वरूप श्वास की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। जिह्वा पर अंकुर से निकल आते हैं और कभी-कभी सम्पूर्ण मुख और गला अंकुरवत् रचनाओं से परिपूर्ण हो जाता है, इससे रोगी को मुख द्वारा कोई वस्तु ग्रहण करने तथा बोलने में भी कष्ट होता है। वाणीकेन्द्र पर प्रभाव होने से भी मन्दवचनता या मूकता होती है। कफावरुद्ध कण्ठ से कपोतकूजनवत् घुरघुर शब्द निकलता है।

भालुकितन्त्रकार ने वरटी (ततैया) के द्वारा काटने से उत्पन्न ददोड़े के समान कोठ को माना है—

वरटीदष्टसंकाशः कण्डूमांल्लोहितोऽस्रकफपित्तात्।
क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञैः॥

कोठ की उत्पत्ति रक्त, कफ तथा पित्त के मिश्रण से होती है। इसमें खुजली की विशेषता रहती है और अल्पकाल में ही उत्पन्न होकर विनष्ट भी हो जाती है। प्रबल सामता होने के

भवत्येव। उक्तं च-'दृष्टापराधजः कश्चित् कश्चित्पूर्वापराधजः। तत्सङ्कराद्भवत्यन्यो व्याधिरेवं त्रिधा स्मृतः' इति, तथा-'पित्तक्षोभे तिलाभ्यङ्गो रात्रौ च दधिभोजनम्। अनिद्रा मैथुनं यस्य सन्निपातो भवेद् ध्रुवम्' इति। ननु दोषाणां बाध्यबाधकभावेनादिपश्चाद्भावेनोत्पत्तिर्दोषाद्दोषान्तरोत्पत्तिर्वा न सम्भवतीत्यनुपदमेवोक्तं' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते।

१, पित्तादिव' इति कः। २ अस्याग्रे कः पुस्तके—'न द्वितीयः, दोषाद्दोषान्तरोत्पत्तिर्दर्शितैवानुपदम् 'एकः प्रकुपितो दोष' इत्यादिना, अतो दोषस्य देशान्तरबिल(ग)ति (१) कारणत्वादन्य एवानुपघातः' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते। ३ अस्याग्रे क. पुस्तके 'अतः सात्म्यत्वात् सहजत्वादविरोधित्वमिति यदुक्तमनैकान्तिकत्वं तन्न, उपघातशब्दस्य न्यूनाधिकपर्यायविरोधित्वात्। आहारं दोषा उपघ्नन्तीति दूष्यरसधातुदूषकत्वं दोषाणां; तच्च रसदूष्यप्रकृत्यन्यथापादकत्वं नान्यदिति कुतो नाशः। साध्याविशिष्टता तु निरस्ता स्पष्टतरा' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते। ४. 'विषादादवान्तरव्यापारस्य' इति क-

कारण दोषों का परिपाक विलम्ब से होता है। इन लक्षणों के अतिरिक्त वाग्भट ने कुछ विशेष लक्षणों का भी वर्णन किया है उनको भी सुखस्मरणार्थ नीचे उद्धृत करते है—

'तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि। सदा वा नैव वा निद्रा महान् स्वेदोऽथवा न वा। गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम्' ॥ (वा० नि० अ० २)

दिन मे निद्रा की अधिकता एवं रात्रि में निद्रानाश यह सन्निपातज्वर का विशिष्ट लक्षण है। कफोल्बण सन्निपात में निद्रा सदा बनी रहती है जब कि वातपित्तोल्बण सन्निपात में उसका सर्वथा अभाव रहता है। इसी प्रकार पित्तोल्बण सन्निपात में स्वेद का आधिक्य एव श्लेष्मोल्बण में स्वेद का अभाव रहता है। गीत, नृत्य आदि लक्षण तीव्रतापजन्य की विकृति एवं वाताधिक्य के द्योतक हैं।

चरक आदि आचार्यों ने तेरह प्रकार का सन्निपात माना है—इस प्रकार सन्निपातज्वर भी तेरह प्रकार का होता है। माधव ने हीन-मध्य आदि बारह भेदों का निरूपण न करके केवल समान मात्रा में अपने प्रमाण से बढ़े हुए तीनों दोषों से उत्पन्न ज्वर के लक्षणों का ही वर्णन किया है। प्रसग से सन्निपात के शेष बारह भेदों का वर्णन भी चरक के अनुसार आगे किया जाता है। (मूलश्लोक मधुकोश में देखिए)—

वातपित्तोल्बण तथा हीनकफ सन्निपात ज्वर में प्यास, दाह, शरीरगौरव तथा शिर में बहुत वेदना होती है। वातकफोल्बण तथा हीनपित्त सन्निपातज्वर में शीत, खांसी, अरुचि, तन्द्रा, प्यास, दाह तथा हृदय में पीडा होती है।

पित्तकफाधिक तथा हीनवात सन्निपातज्वर में वमन, बार-बार शीत और दाह की अनुभूति, प्यास, मूर्च्छा तथा अस्थियों में वेदना होती है।

वाताधिक हीनपित्त और हीनकफ सन्निपातज्वर में सन्धि, अस्थि तथा सिर में शूल होता है। रोगी प्रलाप करता है। शरीर में भारीपन, भ्रम, प्यास होते हैं तथा गले और मुख सूखे रहते हैं।

पित्ताधिक हीनवातकफ सन्निपातज्वर मे मल और मूत्र का रग लाल होता है, दाह, प्यास, बलहानि तथा मूर्च्छा ये लक्षण होते है। कफाधिक हीनवातपित्त सन्निपातज्वर में अरुचि, मिचली, जलन, वमन, बेचैनी, भ्रम, तन्द्रा तथा खाँसी ये लक्षण होते है।

हीनवात, मध्यपित्त और श्लेष्माधिक सन्निपातज्वर में प्रतिश्याय, वमन, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि तथा अग्निमान्द्य ये लक्षण होते हैं।

हीनवात, मध्यकफ तथा पित्ताधिक सन्निपातज्वर में मूत्र व नेत्र का वर्ण हल्दी जैसा रहता हैं, जलन, प्यास, भ्रम तथा अरुचि ये लक्षण होते हैं।

हीनपित्त, मध्यकफ तथा वाताधिक सन्निपातज्वर में सिर में पीडा, कम्पन, श्वास, प्रलाप, वमन तथा अरुचि ये लक्षण होते है। हीनपित्त, मध्यवात तथा कफाधिक सन्निपातज्वर में ठण्डक, भारीपन, तन्द्रा, प्रलाप, हड्डी तथा सिर में तीव्र पीड़ा होती है।

हीनकफ, मध्यवात तथा पित्ताधिक सन्निपातज्वर मे पतले दस्त, अग्निमान्द्य, प्यास, दाह, अरुचि तथा भ्रम ये लक्षण होते हैं।

हीनकफ, मध्यपित्त तथा वाताधिक सन्निपातज्वर में श्वास, खांसी, जुकाम, मुख का सूखना तथा पसलियों में पीडा ये लक्षण होते हैं।

वस्तुतः विकृति का कोई नियम नहीं होता इस प्रकार विकृतिविषमसमवाय के अनेक भेद हो सकते हैं अत एव सुश्रुत ने अभिन्यास नामक भिन्न ही सन्निपात का वर्णन किया है—

नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः। खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः॥

**साश्रुनिर्भुग्ननयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः। श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः॥
अभिन्यासं तु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे। सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे जगुः॥**

भालुकितन्त्र में द्व्युल्बण, एकोल्बण आदि सन्निपात के लक्षण भिन्न प्रकार से ही लिखे गये हैं और उनमें से प्रत्येक के लिये स्वतन्त्र नाम भी दिये गये हैं यथा (मूल श्लोक मधुकोष में देखें)—

१. वातोल्बण या विस्फुरक सन्निपात के लक्षण—वातोल्बण सन्निपात में प्यास, ज्वर, ग्लानि, पसलियों में पीड़ा, दर्शनशक्ति का नाश, पिण्डलियों में ऐंठन, दाह, सक्थिसाद, बल की हानि, मल और मूत्र में रक्त की प्रवृत्ति, शूल, रात्रि को नींद न आना और दिन में आना, गुदा तथा बस्ति में भयकर पीडा होती है, रोगी का अंग-प्रत्यंग टूटता है, हिचकी आती है और प्रलाप करता है, मूर्च्छा आती है तथा कभी-कभी चिल्लाना भी है। इसको विस्फुरक सन्निपात कहते है।

२. पित्तोल्बण या आशुकारी सन्निपात में अन्तर्दाह तथा बहिर्दाह उभयविध ज्वर रहता है। इस अवस्था में शीतल पदार्थों का सेवन करने से कफ और वायु भी प्रकुपित हो जाते हैं जिससे हिचकी, श्वास, प्रमीलक, विसूचिका, जोड़ों में दर्द, प्रलाप, गौरव, क्लम, नाभि और पार्श्व में पीड़ा तथा स्वेद होता है। स्वेद के साथ-साथ स्रोतों से रक्त भी निकलने लगता है, शूल से अत्यधिक पीडित होने के कारण प्यास तथा दाह बढ जाती है। यह सन्निपात असाध्य होता है, इससे आक्रान्त होने पर रोगी चौबीस घण्टे में ही मर जाता है, अतएव इसे शीघ्रकारी सन्निपात कहते हैं।

(पित्तोल्बण सन्निपात को आधुनिक दृष्टि से आन्त्रिक ज्वर (Typhoid) नाम दिया जा सकता है। आन्त्रिक ज्वर में आन्त्रगत रक्तस्राव या आन्त्र के सच्छिद्र (Perforated) हो जाने पर रोगी असाध्य हो जाता है। रक्तस्राव या छिद्र होने से पूर्व तक ज्वर तीव्र रहता है किन्तु इसके बाद तुरन्त ही तापक्रम प्रकृत से भी कम हो जाता है, नाडी की गति तीव्र हो जाती है, उदर में तीव्र शूल तथा रोगी को प्यास लगती है, ठण्डा पसीना आ जाता है। यह अवस्था असाध्यता की द्योतक है। साधारण पित्तोल्बण सन्निपात असाध्य नहीं होता, अपथ्य सेवन करने से उपद्रव उत्पन्न हो जाने पर ही वह असाध्य कोटि में आता है।)

३. कफोल्बणसन्निपातज्वर या कम्पणज्वर में शीतज्वर, निद्रा की अधिकता, शरीर में भारीपन, आलस्य, तन्द्रा, वमन, मूर्च्छा, प्यास, जलन, तृप्ति, अरुचि, हृदय में जकड़ाहट, बार-बार थूकने की प्रवृत्ति, मुख की मधुरता, सुनने, बोलने तथा देखने की शक्ति का नाश ये लक्षण होते हैं। इस अवस्था में यदि वैद्य कफ को वश में करने का प्रयास करता है तो पित्त प्रकुपित होकर उपद्रव युक्त ज्वर को उत्पन्न कर देता है। फिर यदि पित्त को भी वश में करने का यत्न किया जाय तो वायु का प्रकोप हो जाता है। इस अवस्था में यदि रोगी स्नान कर ले या कुछ खा ले तो वह तीन दिन से अधिक जीवित नहीं रहता। यह सन्निपात मेद धातुगत होता है।

शेष दस प्रकार के सन्निपात मधुकोष एवं [४] परिशिष्ट में स्वयं देख लें। ज्वरों के केवल नाम ही यहाँ दिये जाते हैं विस्तार-भय से प्रत्येक का लक्षण करना यहाँ अपेक्षित नहीं मालूम होता—

४. वातपित्तोल्बण सन्निपातज्वर—विभुसन्निपात।

५. पित्तश्लेष्मोल्बण सन्निपातज्वर—फल्गु सन्निपात।

६. वातश्लेष्मोल्बण सन्निपातज्वर—मकरी सन्निपात।

७. हीनवात मध्यपित्त कफोल्बण सन्निपातज्वर—वैदारिक सन्निपात।

८. मध्यवात हीनपित्त कफोल्बण सन्निपातज्वर—कर्कोटक सन्निपात।

९. अधिकवात मध्यपित्त हीनकफ सन्निपातज्वर—सम्मोह सन्निपात।

१०. हीनवात वृद्धपित्त मध्यकफ सन्निपातज्वर—याम्यक सन्निपात।

११. मध्यवात अधिकपित्त हीनकफ सन्निपातज्वर—क्रकच सन्निपात।

१२. अधिकवात हीनपित्त मध्यकफ सन्निपातज्वर—पाकल सन्निपात ।

१३. प्रवृद्धत्रिदोष सन्निपातज्वर—कूटपाकल सन्निपात ।

यह अन्तिम सन्निपात अत्यन्त भयानक स्थिति का है, इसमें रोगी की चेतना पूर्णतया नष्ट हो जाती है केवल मन्द-मन्द श्वास लेता है, शरीर अकड़ जाती है और आँखें भी पथराने लगती हैं ।

सन्निपात विवेचन—अब यहाँ सन्देह होता है कि वात आदि दोष जल और अग्नि के समान विरुद्ध गुणवाले हैं यथा वायु रूक्ष आदि गुणों से युक्त है कफ के स्निग्ध आदि गुण इसके विपरीत हैं, इसी प्रकार कफ और वात दोनों शीत हैं, किन्तु पित्त उष्ण है, अतः ये स्वभावतः एक दूसरे का नाश करने वाले होते हुए मिलकर सान्निपातिक ज्वर या अन्य रोग को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं ? इसका समाधान करते हुए दृढबल ने कहा है ।

'विरुद्धैरपि न त्वेते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् । दोषाः सहजसात्म्यत्वाद् घोरं विषमहीनिव ॥'

अर्थात् जिस प्रकार सहज और सात्म्य होने के कारण घोर विष सर्प को नष्ट नहीं करता उसी प्रकार दोष भी सहज और सात्म्य होने के कारण परस्पर विरुद्ध गुण वाले होते हुए भी एक दूसरे का नाश नहीं करते । कुछ लोग इस युक्ति का सदोष बताते हैं । उनका कहना है कि सहज हेतु अनैकान्तिक है[1] । क्योंकि शरीरस्थ दोष शरीर की सहज धातुओं का विनाश करते ही हैं । सात्म्य हेतु भी वास्तव में हेतु नहीं साध्यसम नाम का हेत्वाभास ही है[2] । वस्तुतः सात्म्य वह है जो अबाधक है और दोषों का परस्पर अबाधकत्व हो सिद्ध करना है । अतः सात्म्य हेतु देकर कहना कि दोष अबाधक होने से एक दूसरे का नाश नहीं करते, ठीक नहीं । अतः सहज तथा सात्म्य होने से दोष एक दूसरे के घातक नहीं होते यह कहना अनुपयुक्त है ? इस पर कहते हैं कि अनुपघात से कौन अर्थ ग्रहण किया जाता है ? क्या विकृति उत्पन्न न करना ही अनुपघात है या मूलोच्छेदन (पूर्णनाश) न करना ? यदि विकृति उत्पन्न न करना यह अर्थ किया जाय तो ठीक नहीं क्योंकि एक दोष दूसरे दोष को विकृत करता ही है **'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्'** । यथा—वस्तिगत वायु प्रकुपित होकर शुक्र सहित मूत्र, पित्त और कफ को सुखाकर अश्मरी उत्पन्न कर देता है—

विशोषयेद्वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा ।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥ (चरकः)

इसी प्रकार वाग्भट ने भी ऊरुस्तम्भ की सम्प्राप्ति में दोषों की परस्पर दूषकता का निर्देश किया है—**'सश्लेष्ममेदः पवनः पाममत्यर्थसंचितम् । अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत् प्रतिपद्यते ॥**
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च ।
तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥'

दोष एक दूसरे का पूर्ण नाश नहीं करते यह द्वितीय पक्ष सिद्ध ही है; क्योंकि शास्त्र में कहीं भी दोषों तथा धातु के अथवा केवल दोषों के ही परस्पर पूर्णतया नाशक होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता । यदि ये एक दूसरे का समूल नाश करें तो मृत्यु हो जायगी ही; क्योंकि दोष शरीर के धारक हैं । सुश्रुत ने लिखा है—

---

१. अनैकान्तिकः सव्यभिचारः' व्यभिचारः—एकत्राव्यवस्था-हेतु का पक्ष में घटना किन्तु सपक्ष में न घटना 'अनैकान्तिक' कहलाता है । यथा 'सहजत्वात्' यह हेतु दोनों के साथ तो घटता है किन्तु उनके साथ ही निरन्तर रहने वाली धातुओं के साथ नहीं घटता अतः यह हेत्वाभास ही है, हेतु नहीं ।

२. 'साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः' जो हेतु स्वयं सिद्ध न हो साध्य ही हो उसे साध्यसम हेत्वाभास कहते हैं ।

'विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा। धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा ॥'

इसलिये 'दोष एक दूसरे का नाश नहीं करते' दृढबल के इस वचन का अर्थ यदि 'पूर्णतया नष्ट नहीं करते' यह किया जाय तो अनैकान्तिक दोष की सम्भावना नहीं रहती।

विष विषादकारक होने से सर्पों में भी विषाद उत्पन्न करता है अतः इस दृष्टान्त को विफल मानना भी ठीक नहीं; क्योंकि विष में विषाद गुण के अतिरिक्त प्राणनाश का भी गुण होता है, यह गुण सर्पों पर प्रभाव नहीं करता। इसी प्रकार दोष परस्पर विकृत तो होते हैं किन्तु एक दूसरे का सर्वथा नाश नहीं करते, इस तरह उक्त दृष्टान्त में अपूर्णता नहीं है। इसके अतिरिक्त दृष्टान्त भी सर्वगुणों को लेकर नहीं दिये जाते। दृढबल ने जो 'सात्म्यत्वात्' यह हेतु दिया है उसका अर्थ यह है कि पूर्णनाश न करने से सात्म्यवत् प्रतीत होने के कारण परस्पर सात्म्य है और एक दूसरे का नाश भी नहीं करते। जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है उसके लिए वैसा ही निर्देश किया जाता है। जैसे धूम अग्नि का कार्य प्रतीत होता है अतः वह अग्नि के कार्य रूप में ही निर्दिष्ट होता है। चक्रदत्त ने दोनों हेतुओं को एकत्र मिलाकर व्याख्या की है—**'सहजं स्वाभाविकं दोषाणां सात्म्यत्वम्'** अर्थात् दोष का सात्म्यत्व स्वाभाविक है। दृढबल के दोनों हेतुओं से अरुचि रखते हुए गयदास ने दोषों के परस्पर अनुपघात के दूसरे ही हेतु दिये हैं—

'दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां सान्निपातिके। विरुद्धैः स्वगुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम् ॥'

अर्थात् दैवयोग से या दोषों के स्वभाव के कारण सन्निपात की अवस्था में परस्पर विरुद्ध गुणों से भी दूसरे का नाश नहीं होता। वस्तुतः सान्निपातिक रोग होते ही हैं चाहे जैसे भी हों।

सन्निपातज्वरस्यासाध्यतामाह—

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसम्पूर्णलक्षणः।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः, कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥ २४ ॥

(च. चि. अ. ३)

दोष तथा मलों के विबद्ध (बहिः प्रवृत्ति का अभाव) होने पर जाठराग्नि के नाश हो जाने पर और सर्वसम्पूर्ण लक्षणों से युक्त सन्निपातज्वर असाध्य होता है। इसके विपरीत दोषों के बिबद्ध न होने पर, अग्नि प्रदीप्त रहने पर तथा सम्पूर्ण लक्षणों की उत्पत्ति न होने पर सन्निपात-ज्वर कृच्छ्रसाध्य होता है ॥ २४ ॥

तस्य सन्निपातज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह—दोषे विबद्ध इत्यादि। दोषो मलं पित्तादिश्च; जेज्जटस्तु मलमेवाह,[1] विबद्ध इति वचनात्। नष्टाग्नित्वमाहारापाकगम्यम्[2]। यदुक्तं चरके-'अग्निं जरणशक्त्या' (च. चि. अ. ४) इति। असाध्यकृच्छ्रसाध्याभिधानेन सुखसाध्यो न भवतीति दर्शितम्। उक्तं हि चरके-'सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्' (च. सू. अ. २५)-इति। तथा भालुकिः 'मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता' इति। सर्वसम्पूर्णलक्षण इति सर्वाणि समग्राणि, संपूर्णानि बलीयांसि, लक्षणानि यस्य स तथा ॥ २४ ॥

विमर्श—सर्वसम्पूर्ण शब्द से समग्र एवं अति बलवान् लक्षणों का ग्रहण किया जाता है। इससे पूर्ण शक्ति के साथ उत्पन्न समग्र लक्षणों से युक्त सन्निपातज्वर असाध्य होता है। लक्षण कम एवं पूर्ण बलवान् न होने पर कृच्छ्रसाध्य रहता है, किन्तु सुखसाध्य कभी नहीं होता। चरक ने सन्निपात को दुश्चिकित्स्य माना है-**'सन्निपातो दुश्चिकित्स्यानाम्'**। (च. सू. २५) भालुकि ने भी सन्निपात को मृत्यु के समान माना है-**'मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता।**

१. 'मलं पुरीषमाह' इति आ. द.। २. 'आहारापाचकत्वम्' इति क.।

सन्निपातज्वरस्य कालमर्यादामाह—

[सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥ १ ॥

(सु. उ. अ. ३९)

सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा ।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥ २ ॥]

वातप्रधान सन्निपात ज्वर सातवें दिन, पित्तप्रधान दसवें दिन तथा कफप्रधान सन्निपात ज्वर बारहवें दिन अत्यन्त प्रबल होकर या तो शान्त हो जाता है या रोगी को मार ही डालता हैं ।

कभी कभी वातप्रधान चौदहवें दिन, पित्तप्रधान अठारहवें दिन और कफप्रधान सन्निपात ज्वर चौबीसवें दिन उतरता है । यह त्रिदोष की मर्यादा है, इसमें रोगी या तो स्वस्थ होने लगता है या मर जाता है ॥ १-२ ।

विमर्शः—त्रिदोष की इस मर्यादा में रोगी का जीवन या मरण दो बातों पर निर्भर है । यदि मल का पाक होता है तो रोगी बच जाता है, किन्तु यदि धातुपाक हो जाय तो रोगी मर जाता है । वातोल्बण सन्निपात अतिशीघ्र क्रियाकारी है अतः सात या चौदह दिन मे ही मलपाक हो जाने से रोगी जीवित रहता है, किन्तु धातुपाक हो जाने पर मर जाता है । पित्तोल्बण सन्निपात की गति वातोल्बण से कम होती है अतः दस दिन या अठारह दिन में मल पाक होने से जीवन और धातुपाक होने से मृत्यु हो जाती है । कफोल्बण सन्निपात सबसे मन्द होता है अतः बारह या चौबीस दिन में मलपाक होने पर रोगी जीवित रहता है और धातुपाक हो जाने पर मर जाता है । तन्त्रान्तर में भी कहा है—

पित्तकफानिलवृद्धया दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् ।
हन्ति विमुञ्चति वाशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात् ॥

तन्त्रान्तर में धातुपाक के लक्षण निम्न प्रकार से मिलते हैं—

सम्बाध्यमानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाकरुजान्वितेषु ।
पक्वेषु वा तेषु रुजाज्वरार्तः स धातुपाकी कथितो भिषग्भिः ॥

सन्निपातज्वरस्योपद्रवमाह—

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ।
शोथः सञ्जायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥ २५ ॥

(च. चि. अ. ३)

सन्निपात ज्वर के अन्त में कर्णमूल में एक भयकर शोथ हो जाता है, इससे कोई ही रोगी बचता है ॥ २५ ॥

सन्निपातज्वरोपद्रवमाह—सन्निपातेत्यादि ॥ २५ ॥

विमर्श—यह शोथ कर्णमूलक नामक लाला ग्रन्थि (Parotid gland) में होता है । अधिक क्षीण रोगियों में यह शोथ हो जाता है । कभी-कभी पक भी जाता है और अच्छी उपयुक्त चिकित्सा होने पर ठीक भी होता है । कर्णमूलिकज्वर (Mumps) में होने वाले कर्णमूल शोथ से यह शोथ भिन्न है । कर्णमूलिकज्वर का शोथ साध्य होता है । कोई लोग **'कश्चिदेव प्रमुच्यते'** का अर्थ यह कहते हैं कि इस शोथ से कोई ही बचता है प्रायः सभी को यह शोथ होता है । इस प्रकार वे इसे असाध्य भी नहीं मानते । वस्तुतः यह असाध्य ही है, क्योंकि तन्त्रान्तर में भी कहा है—

'ज्वरादितो वा ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः।
क्रमेण साध्यस्त्वथ कृच्छ्रसाध्यस्तथाप्यसाध्यः कथितो मुनीन्द्रैः ॥'

अर्थात् सन्निपातज्वर के आदि में होने वाला कर्णमूल शोथ साध्य, मध्य में होने वाला कृच्छ्रसाध्य और अन्त में होने वाला शोथ असाध्य होता है।

सन्निपातस्यैव भेदमभिन्यासज्वरमाह—

[त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगामिनः ।
आमाभिवृद्ध्या ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः ॥ १ ॥
जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम् ।
श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्तिः स्यान्न चेष्टां काञ्चिदीहते ॥ २ ॥
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने ।
न घ्राणं न च संस्पर्शं शब्दं वा नैव बुध्यते ॥ ३ ॥
शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति ।
कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते ॥ ४ ॥
अल्पं प्रभाषते किञ्चिदभिन्यासः स उच्यते ।
प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिद्ध्यति ॥ ५ ॥]

तीनों दोष उरःस्रोत (वक्षःस्थल, हृदय, फुफ्फुस एवं श्वास-प्रणाली) में घूमते हुए आम दोष की अत्यधिक वृद्धि से ग्रथित होकर मन एवं ज्ञानेन्द्रियों पर प्रभाव डालकर अभिन्यास नाम के भयंकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं। इससे रोगी कानों से सुन नहीं सकता, आँखों से देख नहीं पाता, किसी प्रकार की चेष्टा प्रिय नहीं होती, उसका घ्राणज्ञान, स्पर्शज्ञान तथा शब्दज्ञान नष्ट हो जाता है। रोगी सिर को बार बार इधर-उधर पटकता है, भोजन की इच्छा नष्ट हो जाती है, कबूतर के समान घुर्घुर शब्द करता है, उसके शरीर में सुई के चुभने जैसी पीडा होती है, रोगी बार-बार करवट बदलने की इच्छा करता है, बहुत कम बोलता है, इस भयंकर ज्वर को अभिन्यास कहते हैं, इस अवस्था से पीड़ित कोई ही रोगी बच पाता है, इसीलिये इसको असाध्य कहा है ॥ १-५ ॥

विमर्श—इसको कोई लोग 'हतौजस' भी कहते हैं क्योंकि इस अवस्था में शरीर के ओज का बहुत अंश नष्ट हो जाता है। कविराज गणनाथसेनजी इसे तीव्रविषमयता (Sever toxaemia) जन्य ज्वर या अतितीव्रज्वर (Hyperpyrexia) भी कहते है। आन्त्रिकज्वर की तीव्र विषमयता में भी ये लक्षण मिलते हैं। चरक ने समत्रिदोष सन्निपात तथा विषमत्रिदोष इन दो प्रकार के सन्निपातों का वर्णन किया है। माधव ने **'क्षणे दाहः'** इत्यादि के द्वारा केवल समत्रिदोष सन्निपात का ही वर्णन किया है। विस्फुरक, शीघ्रकारी, कम्पण तथा अभिन्यास आदि विषमत्रिदोष सन्निपात ज्वर के उदाहरण हैं, इनका वर्णन माधव ने नहीं किया है। पाँचों प्रकार के विषम ज्वर (सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चतुर्थक) भी विषमत्रिदोष के ही उदाहरण है। इनके द्वारा पृथक्-पृथक् विभिन्न धातुयें दूषित होती हैं जब कि समत्रिदोष सन्निपात से सभी धातुयें समान रूप से दूषित होती हैं।

आगन्तुज्वरं प्राह—

अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः ।
आगन्तुर्जायते दोषै[2]र्यथास्वं तं विभावयेत् ॥ २६ ॥

अभिघात, अभिचारकर्म, अभिशाप तथा अभिषङ्ग से चार प्रकार का आगन्तुक ज्वर उत्पन्न होता है। इसमें भी कारणानुसार दोषों की कल्पना करनी चाहिये ॥ २६ ॥

विषजन्यं ज्वरमाह—

श्यावास्यता विषकृते तथाऽतीसार[1] एव च ।
भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥ २७ ॥

विषजन्य ज्वर में मुख का वर्ण नीला पड़ जाता है, रोगी अतिसार, अरुचि तथा प्यास से पीड़ित रहता है, शरीर में सुई के समान चुभान होती है और मूर्च्छा भी आती है ॥ २७ ॥

ओषधिगन्धजं ज्वरमाह—

ओषधिगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः ।

ओषधि की गन्ध से होने वाले ज्वर में मूर्च्छा, शिरोवेदना, वमन तथा छींकें आती हैं।

कामज्वरलक्षणान्याह—

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥ २८ ॥
हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति ।

कामज्वर में चित्तविभ्रंश, तन्द्रा, आलस्य, भोजन की अनिच्छा, हृदयप्रदेश में वेदना तथा मुख का सूखना ये लक्षण होते हैं ॥ २८ ॥

भयादिजन्यमागन्तुज्वरं लक्षयति—

भयात् प्रलापः शोकाच्च भवेत् कोपाच्च वेपथुः ।
अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥ २९ ॥
भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम् । (सु. उ. तं. अ. ३९)

भयज तथा शोकज ज्वर में प्रलाप होता है। कोपजन्यज्वर में कम्पन होता है। अभिचार और अभिशापजन्य ज्वर में मूर्च्छा तथा प्यास होती है, भूताभिषंगज ज्वर में घबराहट, कभी हंसी और कभी रोने की प्रवृत्ति तथा कम्पन होता है ॥ २९ ॥

आगन्तुज्वरमाह—अभिघातेत्यादि। अभिघातोऽभिहननं शस्त्रलोष्टमुष्टिलगुडादिभिः, अभिचारः श्येनादियागकृतः, अथवा विपरीतैर्मन्त्रैर्लोहस्रुचा सर्षपादिहोम इत्याहुः। अभिषङ्गः कामादीनां भूतानां च सम्बन्धः, यदुक्तं चरके—'कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः' (च. चि. अ ३) इति। अभिशापो ब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धानामनिष्टाभिशंसनम्। तं चागन्तुज्वरं यथास्वं दोषैर्जानीयात्। यदुक्तम्-'कामशोकभयाद्वायुः' इत्यादि। अयं च दोषसंबन्धः पश्चाद्भावी न त्वारम्भक इति संप्राप्त्यवसरे निरूपितम्। श्यावास्यतेत्यादि। श्यावः शुक्लानुविद्धः कृष्णो वर्णः; श्यामवर्ण इत्यन्ये। विषकृते स्थावरविषभक्षणादिकृते; अतीसारः तद्विषस्याधोगत्वात्। ओषधिगन्धज

१. 'शोथोऽतीसार एव च' इति ग। २. 'प्रकृतिकर्मवशादित्यर्थः' इति। ३. शाकवर्णः' इति ख।

इति [1]तीव्रौषधिगन्धघ्राणजे, 'पुष्पेभ्यो गन्धरजसी [2]ओजस्विभ्यो यदाऽनिलः' (सु. उ. अ. ३९) इत्यादिना वृद्धसुश्रुतेन पठितं तृणपुष्पाख्यं ज्वरमत्रैवान्तर्भावयन्ति। कामज- इत्यादि अभिमतकामिन्यप्राप्तिनिमित्ते। चित्तविभ्रंशो भ्रमादिः। यदाह—वाग्भटः—'कामाद् भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः' (वा. नि. अ. २) इति। भयादिति भयाज्जाते ज्वरे। एवं शोकात् कोपादित्येतयोर्बोद्धव्यं; शोकात् प्रलाप इति संबन्धः प्रलापश्चात्र वात- कार्यः, तस्य वातपित्तकार्यत्वात्। ([3]विशेषनिश्चयस्तु निदानात्, निदानमपि लक्षणं भवति) उक्तं च-'कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात् पित्तं त्रयो मलाः' (च. चि. अ. ३)-इत्यादि। यद्येवं तत् कुतः क्रोधजे वेपथुः? तस्य वातकार्यत्वात्। उच्यते-'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' इति वचनात् पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः, क्रुद्धश्च वेपमानो दृश्यत इति न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति जेजटः। क्रोधः [4]पित्तमिव वातं च कोपयतीति, तदुक्तम्। यदाह विदेहः-'क्रोधशोकौ स्मृतौ वातरक्तपित्तप्रकोपणौ' इति कोपाच्चेति चकारेण शिरोरुजं समुच्चिनोति। यदाह वाग्भटः-'क्रोधात् कम्पः शिरोरुक् च, प्रलापो भयशोकजः' (वा. नि. अ. २)-इति। मानसत्वाविशेषेऽपि भयादीनां पृथगुपादानं हेतुभेदात्, [5]हेतुभे- दाच्च भेदाभिधानं हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थमिति। अभिचारेत्यादि। तृष्णा चेति चकारेणा- भिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति। यदुक्तं हारीतार्थानुवादिना वाग्भटेन—'तत्राभिचारिकै- र्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते। पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः॥ सदाहमूर्च्छाग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः' (वा. नि. अ. २)-इति। भूताभिषङ्गादिति भूता देवग्रहादय उन्माद- निदाने वक्ष्यमाणाः, तेषामभिषङ्गः संबन्धः। उद्वेग उद्विग्नचित्तता॥ २६-२९॥

विमर्श—लाठी तथा अन्य शस्त्रों के प्रहार के कारण रक्तस्राव या पीडाधिक्य से होने वाला ज्वर अभिघातक ज्वर कहलाता है। शत्रु को नष्ट करने के निमित्त प्रयुक्त अभिचारकर्मों से जो ज्वर होता है उसे अभिचारज ज्वर कहते हैं। गुरुजनों एवं तपस्विजनों के शाप के कारण उत्पन्न ज्वर को अभिशापज तथा काम, क्रोध, शोक तथा भय आदि मानसिक कारणों एवं भूत (देवादि ग्रह तथा जीवाणु) सम्बन्ध होने वाले ज्वर को अभिषङ्गज ज्वर कहते हैं—

'कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य वा ज्वरः। सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः॥' चरक

अभिप्रेत कामिनी की अप्राप्ति से कामज्वर उत्पन्न होता है। कामज्वर में रोगी को गहरे-गहरे श्वास आते हैं तथा वह कुछ ध्यानमग्न-सा रहता है। इनके अतिरिक्त रोगी का धैर्य, लज्जा तथा निद्रा नष्ट हो जाती है, शरीर में दाह एवं भ्रम होता है। वाग्भट ने कहा भी है—

'कामाद् भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयः'

'कामशोकभयाद्वायुः' इस वचन के अनुसार काम, शोक और भय से वायु की वृद्धि होती है, इस प्रकार शोकज और भयज ज्वर में वात का कार्य प्रलाप मिलता है। यद्यपि कम्पन वात का कार्य है अतः पित्त के वर्धक क्रोध से उत्पन्न न होना चाहिये तथापि क्रोधजन्य पित्त वात को भी प्रकुपित करके इस लक्षण को उत्पन्न कर देता है। **'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्'**। इसके विपरीत क्रोध से पित्त के समान वायु की भी वृद्धि होती है क्योंकि विदेह ने कहा है— **'क्रोधशोकौ स्मृतौ वातपित्तरक्तप्रकोपणौ।'** क्रोध से मनुष्य कांपने लगता है यह प्रत्यक्ष दृष्ट है। कोपज ज्वर में शिरोवेदना भी होती है और नेत्र लाल रहते हैं **'क्रोधात्कम्पः शिरोरुक् च प्रलापो भयशोकजः'**। (वा० नि०) **'शिरोरुगरुचिर्ध्यानं नेत्ररागश्च कोपजे'** (सि० नि०)

१. 'ओषधिगन्धघ्राणजे' क ख। २. 'ओषधीभ्यः' इति क ख। ३. अयं पाठः क ख पुस्तकयोः नोपलभ्यते। ४. 'पित्तमथ च' इति क। ५. 'हेतुभेदाभिधानं च' इति क ख।

यद्यपि भयज आदि सभी ज्वर मानसिक हैं किन्तु फिर भी चिकित्सावैशिष्ट्य के लिये प्रत्येक का वर्णन पृथक् किया गया है ।

आगन्तुज्वरेषु दोषानुबन्धतां प्राह—

कामशोकभयाद्वायुः, क्रोधात्पित्तं, त्रयो मलाः ॥ ३० ॥
भूताभिषङ्गात् कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः । (च. चि. अ. ३)

काम, शोक तथा भय से वायु का प्रकोप होता है, क्रोध से पित्त का प्रकोप होता है, भूताभिषङ्ग से तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं तथा तत्तद्भूत के लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ३० ॥

आगन्तुज्वरेष्वपि प्रतिनियतदोषानुबन्धदर्शनार्थमाह—कामशोकेत्यादि । त्रयो मला भूताभिषङ्गात् कुप्यन्तीति भूतप्रभावात् । यच्च चरकेण निदानस्थाने 'अभिषङ्गजः पुनर्वातपित्ताभ्याम्' (च. नि. अ. १) इत्युक्तं, तत् प्रायिकमन्तव्यमिति जेज्जटः । चक्रस्त्वाह—'अभिषङ्गज इत्यनेन कामाद्यभिषङ्गज उच्यते नतु भूताभिषङ्गजः' इति । भूतसामान्यलक्षणा इति यस्य भूतस्य देवग्रहादेरभिषङ्गात् कुप्यन्ति तस्य यल्लक्षणं रोदनादि तेन सह सामान्यं लक्षणं येषां ते तथा, इति व्याचक्षते जेज्जटादयः; दोषलक्षणानि भूतलक्षणानि च भवन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

विमर्शः—भूत शब्द का तात्पर्य देव, असुर, गन्धर्व आदि से है । इनके सम्पर्क से उत्पन्न ज्वर में प्रायः त्रिदोष प्रकोप के कारण दोषज लक्षण भी होते हैं, साथ ही जिस विशिष्ट ग्रह का सम्पर्क होता है उसके अनुसार भी रोदनादि लक्षण होते हैं । भूत शब्द का सामान्य अर्थ प्राणी भी होता है । इस प्रकार जीवाणुओं का भी समावेश भूताभिषङ्गज आगन्तु ज्वरों में हो सकता है । कुछ लोग भूत और अभिषङ्ग शब्दों को अलग-अलग मानकर भूत से देवादि ग्रह और अभिषङ्ग से कामादि का अभिषङ्ग मानते हैं ।

विषमज्वरस्य सम्प्राप्तिमाह—

दोषोऽल्पोऽहितसंभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ॥ ३१ ॥
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् । (सु. उ. अ. ३९)

आरम्भ से ही अल्प (निर्बल) दोष अथवा ज्वर के छूट जाने पर अवशिष्ट अल्पदोष मिथ्या आहार-विहार से पुनः प्रकुपित होकर रस आदि धातुओं में से किसी को भी प्राप्त होकर विषमज्वर को उत्पन्न करता है ॥ ३१ ॥

अथ विषमज्वरसंप्राप्तिमाह—दोषोऽल्प इत्यादि । अल्प इत्यनेनाबलत्वात् कालविशेषमवाप्य लब्धबलो ज्वरयति, यस्तु बलवान् स नित्यज्वरमेव करोति । अहितसंभूत इति अहिताहाराचारादिसंभूतो'[1] वृद्धः । ज्वरोत्सृष्टस्य सहसा निवृत्तज्वरस्य । वाशब्देन प्रथमतोऽपि विषमज्वरो भवतीति दर्शयति । यदुक्तम्—'आरम्भाद्विषमो यस्तु' इत्यादि । धातुमन्यतमं रसरक्तादिकम् । विषमज्वरं तृतीयकादिकम् । विषमज्वरसामान्यलक्षणं च भालुकिना पठितं— 'यः स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च । वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः' इति ॥ ३१ ॥

विमर्शः—विषमज्वर के विषय में भालुकि ने संक्षेप में लिखा है—
'यः स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च । वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः ॥'
जो ज्वर अनियमित रूप से गर्मी या सर्दी लगने के बाद अनियमित काल में आता है तथा

१. 'चारादिजनितः' इति क ख ।

जिसका वेग भी विषम होता है (कभी तीव्र सन्ताप से और कभी मन्द सन्ताप से चढ़ता है) उसे विषमज्वर कहते हैं। काल आदि के वैषम्य के कारण ही इसे विषमज्वर कहते हैं। वाग्भट ने भी कहा है—**'विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान्'**

अर्थात् जिसका आरम्भ, क्रिया तथा काल विषम हो वह विषमज्वर कहलाता है। कभी ज्वर सिर से प्रारम्भ होता है तो कभी पृष्ठ से, इसे विषमारम्भ कहते हैं। कभी ज्वर में शीत अधिक लगता है तो कभी सन्ताप, इसे विषमाक्रिय कहते हैं। आक्रमणकाल तथा भोगकाल भेद से काल दो प्रकार का है। अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चतुर्थक ज्वर के वेग के दिन भी निश्चित समय से पूर्व या पश्चात् आक्रमण होना आक्रमणकाल का वैषम्य है। इसी प्रकार भोगकाल भी कम या अधिक हो सकता है। कभी ज्वर अल्पकाल तक और कभी दीर्घकाल तक भी रहता है।

कतिपय विद्वान् 'मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वम्' 'जो छोड़कर पुनः हो जाय' विषमज्वर का यह लक्षण करते हैं। यदि इस लक्षण को स्वीकार किया जाय तो सन्तत ज्वर को विषम ज्वर के अन्तर्गत नहीं मान सकते, क्योंकि वह निरन्तर बना रहता है। **'सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात्'।** इसी आशय से खरनाद ने भी सन्तत को छोड़कर शेष चार को ही विषमज्वर कहा है—

ज्वराः पञ्च मयोक्ता ये पूर्वं सन्ततकादयः। चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः॥

इस पर कहते हैं कि सन्तत में भी मुक्तानुबन्धित्व (छोड़कर होना) की प्रवृत्ति मिलती है; क्योंकि चरक ने कहा है—

विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्त्तते। च. चि. ३)

अर्थात् सन्तत ज्वर कदाचित् बारहवें दिन अव्यक्त रूप से (बहुत थोड़े समय के लिये) उतरता है पुनः चढ़कर दीर्घकाल तक बना रहता है। इस प्रकार इस स्वल्पकालीन अव्यक्त स्वरूप मुक्तानुबन्धित्व को लेकर सन्तत ज्वर को भी विषमज्वर कहा जा सकता है। खरनाद ने लक्षणों तथा चिकित्सा में भेद प्रदर्शित करने के निमित्त ही सततज्वर को विषमज्वर से भिन्न कहा है अथवा स्वल्पकालीन और अव्यक्त मोक्ष को मोक्ष नहीं माना है, जैसे उपवास में एक तण्डुल खाने को भोजन नहीं मानते। अन्य आचार्यों ने यद्यपि तृतीयक आदि के समान स्पष्ट मुक्तानुबन्धित्व इसमें नहीं मिलता तथापि कादाचित्क मुक्तानुबन्धित्व के बल पर ही सन्ततज्वर को भी विषमज्वर माना है। वस्तुतः सन्तत ज्वर को विषमज्वर न मानना ही ठीक प्रतीत होता है। क्योंकि विषम ज्वर से ही स्पष्ट है कि कोई समज्वर भी होता है और वह समज्वर सन्तत के अतिरिक्त दूसरा कौन होगा? सम के ज्ञान के बाद ही विषमज्वर का ज्ञान सम्भव है अतः सर्वप्रथम सम (सन्तत) ज्वर का और बाद में चार विषम ज्वरों का वर्णन किया गया है। अथवा यदि सन्तत को भी विषम मानने का ही आग्रह किया जाता है तो अर्वाचीन क्रम से सन्तत ज्वर के दो भेद मानना उचित होगा। १—सम सन्तत—जिसमें ज्वरवेग प्रायः सदैव एक समान रहता है या जिसमें अत्यल्प चढ़ाव उतार होता है (Continuous)। २—विषम सन्तत—जिसमें पूर्ण विसर्ग न होते हुए भी चढ़ाव उतार बहुत हों (Remittent)।

वस्तुतः **'मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वम्'** यह लक्षण भी विचारणीय ही है; क्योंकि विषमज्वर में सर्वथा ज्वर से मुक्ति नहीं मिलती। साधारणतया ज्वर मोक्ष की प्रतीति होते हुए भी ज्वर चिरकाल पर्यन्त आन्तरिक धातुओं में प्रच्छन्न रूप से अवस्थित रहता है। इस विषय में सुश्रुत ने कहा भी है—

स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति। ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते॥
वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति कथ्यते। धात्वन्तरस्थो लीनत्वान्न सौक्ष्म्यादुपलभ्यते॥

(सु. उ. त. अ. ३९)

काश्यप ने तो सुखसाध्यता एवं कृच्छ्रसाध्यता के अनुसार सम और विषमज्वर माना है तथा इसे प्रायः प्रेत एवं ग्रहजन्य माना है—

अल्पहेतुर्बहिर्मार्गो वैकृतो निरुपद्रवः । एकाश्रयः सुखोपायो लघुपाकः समो ज्वरः ॥
विषमस्तद्विपर्यस्तस्तीक्ष्णत्वात् संततो मतः । तद्वत प्रेतग्रहोत्था ये चत्वारो विषमागमात् ॥
दुर्ज्ञेयत्वाद् दुर्ग्रहत्वादुपग्रहपरिग्रहात् । वैषम्यं संततादीनां दारुणत्वादुदाहृतम् ॥
(काश्यप सं० खिल १ श्लो० ८-१०)

वास्तव में **'विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान्'** विषमज्वर का यह वाग्भटोक्त लक्षण ही श्रेष्ठ है। कतिपय विद्वान् विषमज्वर से मलेरिया का ही ग्रहण करते हैं, किन्तु वाग्भटोक्त लक्षणों से युक्त किसी भी प्रकार का ज्वर आयुर्वेद की दृष्टि से विषम ज्वर के अन्तर्गत माना जाता है। मलेरिया भी विषम ज्वर के अन्तर्गत ही है, क्योंकि इसके लक्षण उससे अधिक मिलते हैं और विषमज्वरनाशक आयुर्वेदिक औषधियाँ मलेरिया में भी प्रभावकारी होती हैं। इस प्रकार विषम-ज्वर आगन्तु और निज भेद से दो प्रकार का होता है। केवल धातुवैषम्यकृत विषम ज्वर निज कहलाता है। रोगकारी साक्षात् बाह्यनिमित्त जीवाणु से होने वाला ज्वर आगन्तु विषम ज्वर श्रेणी में आता है। इसी आशय से सुश्रुत में कहा गया है—

परो हेतुः स्वभावो वा विषमे कैश्चिदीरितः । आगन्तुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ॥

अर्थात् विषमज्वर की उत्पत्ति में अन्य आगन्तु (भूत या बाह्यनिमित्त रूप जीवाणु) अथवा स्वभाव ही कारण होता है। डल्हण ने पर का अर्थ भूत (ज्वरोत्पादक जीवाणु ?) किया है **'परो भूतादिः हेतुः कारणं स्वभावो वेति विषमज्वरे कारणम्'**। प्रायः शब्द से यह स्पष्ट है कि उस प्रकार का ज्वर केवल धातुवैषम्यजन्य भी कभी-कभी होता है।

इस प्रकार मलेरिया पर्याय रूप में विषमज्वर शब्द का प्रयोग करना अनुचित प्रतीत होता है। यद्यपि मलेरिया में विषमज्वर के सभी भेदों के उदाहरण अधिकता से मिलते हैं तथा अन्य ज्वरों में प्रायः एक या दो ही भेद दिखाई देते हैं किन्तु किसी भी अर्वाचीन ज्वर में देश-काल-व्यक्ति विशेष के विभिन्न आहार-विहार, पथ्यापथ्य, चिकित्सा के परिणाम आदि अनेक कारणों से कभी न कभी पूर्वोक्त पञ्चविध ज्वर में से कोई भी स्वरूप मिल जाना असम्भव नहीं है अथवा कहिये कि मिलते ही हैं। अतः प्राचीन विषमज्वर संज्ञा को आधुनिक मलेरिया का पर्याय मानना ठीक नहीं। उसके लिये तो सुश्रुतोक्त औपत्यक ज्वर (उपत्यका-तराई में होने वाला ज्वर) ही उपर्युक्त प्रतीत होता है।

वाताधिकत्वात्प्रवदन्ति तज्ज्ञास्तृतीयकञ्चापि चतुर्थकञ्च ।
औपत्यके मद्यसमुद्भवे च हेतुं ज्वरे पित्तकृतं वदन्ति ॥ (सु. उ. अ. ३९)

विषमज्वरभेदाः—सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकाः । वेग के अनुसार विषमज्वर के निम्न पांच भेद किये जाते हैं—१. सन्ततज्वर—Continuous or Remittent fever. २. सततकज्वर—Double Quotidian fever. ३. अन्येद्युष्कज्वर—Quotidian fever. ४. तृतीयकज्वर—Tertian fever ५. चतुर्थकज्वर—Quartan fever.

सन्ततादिज्वरं वर्णयति—

सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ॥ ३२ ॥
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि, त्वस्थिमज्जगतः पुनः ।
कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकरम् ॥ (सु. उ. अ. ३९)

(अहित सेवन से प्रकुपित हुआ दोष) रस धातु में आश्रित होकर सन्तत ज्वर को उत्पन्न करता है। वही दोष रक्ताश्रित होकर सततक ज्वर की तथा मांसाश्रित होकर अन्येद्युष्क ज्वर को उत्पन्न करता है। दोष के मेदोगत होने पर तृतीयक ज्वर तथा अस्थि और मज्जागत होने पर यम के समान भयंकर तथा अनेक उपद्रवों से युक्त चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है ॥ ३२-३३ ॥

सन्ततादिज्वराणां प्रतिनियतदूष्यान् धातूनाह—सन्ततमित्यादि। सन्ततशब्दः [1]सततस्योपलक्षणः। तेनैतदुक्तं भवति—रसस्थः सन्ततं, रक्तस्थः सततकमिति; यदुक्तं चरके—'रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः[2] सततकं ज्वरम्' (च. चि. अ. ३) इति (प्रायोग्रहणात् सततको रक्तव्यतिरिक्तं रसधातुमाश्रयते[3]।) रसग्रहणं चात्र विशेषपरं, सर्वज्वरेषु रसस्यावश्यदूष्यत्वात्। अन्ये तु सततग्रहणार्थं 'सन्ततौ रसरक्तस्थौ' इति पठन्ति। तन्नातियुक्तम्, अत्र हि सन्ततसततशब्दौ संज्ञापरौ, न तु सातत्यवचनौ; तेन सन्ततशब्देन सततकस्यानभिधानात् कथमेकशेष इति दोषः। अन्येद्युरिति अन्येद्युष्कम्। घोरं दुःसहम्। अन्तकं यममिव, मारकत्वात्, रोगसंकरम् अनेकरोगसंकुलम् ॥ ३२-३३ ॥

विमर्श—प्रायः शब्द से स्पष्ट है कि सततक ज्वर में दोष रस में भी आश्रित रहता है। वस्तुतः सभी ज्वरों में रस अल्पाधिक मात्रा में अवश्य दूषित होता है। केवल अस्थि या केवल मज्जा में दोष रहने पर चतुर्थक तथा दोनों ही धातुओं में होने से चतुर्थक विपर्यय ज्वर होता है। कविराज गणनाथसेनजी वातबलासक, प्रलेपक, श्लैपदिक ज्वर, उपद्रवजन्य तथा सभी धातुगत ज्वरों को भी विषमज्वर ही मानते हैं जो हमें भी अभीष्ट है। ये सभी ज्वर विषम सन्निपातजन्य हैं। प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः ॥ समसन्निपात ज्वर का वर्णन पीछे 'क्षणे दाहः' इत्यादि चरकोक्त श्लोकों के द्वारा किया जा चुका है।

सन्ततादिलक्षणानि निरूपयति—

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात् सन्ततः स निगद्यते ॥ ३४ ॥
अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते।
अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्र एककालं प्रवर्तते ॥ ३५ ॥
तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि, चतुर्थेऽह्नि चतुर्थकः। (सु. उ. अ. ३९)

जो ज्वर लगातार बिना उतरे सात दिन, दस दिन या बारह दिन तक चलता है उसे सन्तत ज्वर कहते हैं। जिस ज्वर के चौबीस घण्टे में दो आवेग आते हैं उसे सतत ज्वर कहते हैं। चौबीस घण्टे में एक बार चढ़ने वाला ज्वर अन्येद्युष्क कहलाता है। प्रति तीसरे दिन आने वाले ज्वर को तृतीयक और प्रति चौथे दिन आने वाले ज्वर को चतुर्थक कहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

अथैषां लक्षणान्याह—सप्ताहमित्यादि। एते विकल्पा यथाक्रमं वातपित्तकफोल्बणत्वेन ज्ञेयाः। यथोक्तं—'पित्तकफानिलवृद्धया दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्। हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्' इति। अयं च सन्ततस्त्रिदोषज एव द्वादशाश्रयत्वेन। यदुक्तं चरकेण—'यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः। युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे' (च. चि. अ. ३) इति। सन्तत्या अविच्छेदेन सप्ताहादीन् व्याप्य अविसर्गी अपरित्यागी, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। ननु यद्येवं कथमस्य विषमज्वरे पाठः? मुक्तानुबन्धि-

१. 'उपलक्षणम्' इति क ख, २. 'रक्तधात्वाश्रितो दोषः कुर्यात्' इति क।
३. अयं पाठः क ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते। 'संतते वर्ज्या' इति क ख।

त्वं विषमत्वं, तच्चात्र नास्ति। नैवम्, अस्यापि तथाभावात्। तथा च तल्लक्षणे चरकः— 'विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते' (च. चि. अ. ३) इति। यत्तूक्तं खरनादेन—'ज्वराः पञ्च मयोक्ता ये पूर्वं सन्ततकादयः। चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः' इति; तत् सन्तते मुक्तानुबन्धित्वस्यैकदाभावित्वेनाल्पत्वान्न तद्व्यपदेशः, एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनशब्दस्य व्यपदेशवत्, न हि तृतीयकादिवदावृत्त्या मुक्तानुबन्धित्वमस्येत्यभिप्रायेण द्रष्टव्यम्। अथवा विषमज्वरोल्लेखेन या चिकित्सोक्ता सा [1]'सन्ततवर्जं सततादिषु कार्येति प्रतिपादनार्थम्। हरिचन्द्रेणापि किल 'कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ' इति (च. चि. अ. ३) चरकवचनाद्विषमज्वरोक्तचिकित्सा तृतीयकचतुर्थकयोरेव, अन्येषु दोषप्रत्यनीकचिकित्सा[2] कार्येत्यभिव्याख्यातम्। अस्यां हरिचन्द्रव्याख्यायां कर्म साधारणं सर्वत्रैव विषमज्वरे कार्यं, विशेषेण तृतीयकचतुर्थकयोरिति द्रष्टव्यम्; अन्यथोक्ततन्त्रान्तरविरोधः। 'अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते' इति अह्नि द्वौ कालौ रात्रौ द्वौ कालौ वा; अह्नि एककालं रात्रावेककालमेवं वा; द्वौ कालौ—इतीशानदेवः, [3]नियमानभिधानात्तथा दर्शनाच्च। अनुवर्तते वेगं करोति। तृतीयेऽह्नि तृतीयक इति वेगादिनापेक्षया तृतीयेऽह्नि यो भवति स तृतीयको भवति, एवं चतुर्थकेऽपि वाच्यम् ॥ ३४–३५ ॥

विमर्श.—सन्ततज्वर—कई दिन तक लगातार चढ़ने वाले अविसर्गी (Continuous) स्वरूप ज्वर को सन्ततज्वर कहते हैं। इसकी दैनिक परिवृत्ति दो अंश तक होती है। यह मध्यकाल में स्वाभाविक अंश तक नहीं उतरता। आन्त्रिक ज्वर (Typhiod), फुफ्फुसपाक, (Pneumonia) तथा मस्तिष्क-सुषुम्नाज्वर (Ceredro–spinal fever) में सन्तत स्वरूप का ज्वर मिलता है। प्राचीन दृष्टि से आन्त्रिक ज्वर को पित्तोल्बण विषम सन्निपात ज्वर तथा फुफ्फुसपाक को श्लेष्मोल्बण विषम सन्निपात ज्वर, मस्तिक सुषुम्ना ज्वर को वातोल्बण विषम सन्निपातज्वर कह सकते है। इन ज्वरों का विस्तृत वर्णन आधुनिक चिकित्साग्रन्थों एव परिशिष्ट में किया गया है, ग्रन्थ की कलेवर वृद्धि के भय से उनका पूरा वर्णन करना यहाँ अपेक्षित नहीं है।

सन्तत ज्वर की सप्ताह आदि अवधि दोषभेद से की गई है अर्थात् वातोल्बण सन्तत ज्वर सात दिन में, पित्तोल्बण दस दिन मे तथा कफोल्बण बारह दिन में प्रायः उतर जाता है। कभी-कभी यह दीर्घकाल तक भी चलता है, अतएव चरक ने कहा है—

विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः। दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ॥ (च. चि. ३)

सततक ज्वर—इस ज्वर में चौबीस घण्टे में दो बार ताप की वृद्धि होती है। इसका कभी किसी समय पूर्णतया मोक्ष भी हो सकता है और नहीं भी। इस प्रकार का ज्वर अधिकतर कालज्वर (Kala Azar) में पाया जाता है। (लीशमन डोनोवन बोडी (Leishman–donovan bodies) के संक्रमण से कालज्वर (परिशिष्ट में देखें) उत्पन्न होता है। इसमें ज्वर, त्वग्वैवर्ण्य, यकृत् और प्लीहा की वृद्धि तथा मांसक्षय ये, लक्षण विशेषतया होते है। रोगी को भूख अच्छी लगती है, किन्तु पाचनशक्ति दुर्बल रहती है। कभी-कभी शोथ, अतिसार तथा नासिका और मसूड़ों से रक्तस्राव की प्रवृत्ति भी होती है। आरम्भ में ज्वर प्रायः पूर्णतया नहीं उतरता, किन्तु तापक्रम की वृद्धि दो बार होती है। कभी-कभी मारक विषमज्वर के जीवाणु (plasmodium falciparum) का उपसर्ग होने पर भी सतत स्वरूप का ज्वरवेग होता हैं। किन्तु इसमें किसी समय पूर्ण ज्वरमोक्ष की भी अवस्था मिलती है। इसे मलेरियल फीवर ही कहेंगे। जीवाणु तथा उसके सक्रमणकाल के भेद से आगन्तु ज्वरों में अन्येद्युष्क आदि भेद मिलते

१. अयं पाठः क ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते। 'सन्तते वर्ज्या' इति क ख।
२ 'कार्येत्यभिधाय व्याख्यातम्' इति क। ३. 'तृतीयमानानभिधानात्' इति क।

हैं। इसके अतिरिक्त निज विषमज्वरों में दोषप्रकोप के अनुसार उक्त भेद पाये जाते हैं। चरक ने इसका कारण बताते हुए कहा है—**अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले प्ररोहति। अधिशेते तथा धातुं दोषः काले प्रकुप्यति ॥** (च. चि. अ. ३)

जिस प्रकार भूमि में पड़ा हुआ बीज समय पाकर ही अङ्कुरित होता है उसी प्रकार धातु में अवस्थित दोष या जीवाणु भी समय (चौबीस घण्टा, अड़तालीस घण्टा या बहत्तर घण्टा इत्यादि) पर प्रकुपित होकर ज्वर को उत्पन्न करता है। वेग का निश्चित काल समाप्त होने पर ज्वर शान्त हो जाता है और पुनः निश्चित समय पर ज्वर उत्पन्न होता है—**कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः। पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ॥** (च. चि. अ. ३)

चक्रपाणि भी कहते हैं—'**सततकादौ दोषा वेगं कृत्वा गतबला भवन्ति, गतबलाश्च पुनः स्वे स्वे रक्तादौ स्थाने स्थिता भवन्ति, पुनस्त एव वृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति**'।

रक्त धातु में लीन विषमज्वरोत्पादक जीवाणु जब लाल कणों को विदीर्ण करके बाहर आते हैं, तो शीत आदि लक्षणपूर्वक ज्वर का वेग आरम्भ होता है। विषमज्वर (मलेरिया) को उत्पन्न करने वाले जीवाणु विभिन्न प्रकार के होते हैं। इनके रक्तकण से बाहर आने का काल भी भिन्न होता है अतः ज्वरवेग भी विभिन्न समयों पर होता है। इसी कालभिन्नता के आधार पर विषमज्वर के तृतीयक आदि भेद होते हैं। इन जीवाणुओं की निम्न उपजातियाँ विभिन्न प्रकार के विषमज्वरों को उत्पन्न करती हैं—

१. प्लाज्मोडियम वाइवैक्स (P. Vivax) २. प्लाज्मोडियम ओवोल (P. Ovale)
३. प्लाज्मोडियम मलेरिया (P. Malaria) ४. प्लोमोडियम फैल्सिपैरम (P. Falciparum)

इन जीवाणुओं के जीवन के निम्न दो चक्र हैं—

(१) **मैथुनीचक्रः**—इसमें नर और मादा दोनों की आवश्यकता नहीं होती है और यह चक्र मच्छरों के आन्त्र में पूर्ण होता है।

(२) **अमैथुनीचक्र**—इसमें नर और मादा की आवश्यकता नहीं होती। यह जीवनचक्र मनुष्य-शरीर में पूर्ण होता है।

प्लाज्मोडियम वाइवैक्स का जीवनचक्र ४८ घण्टे में पूर्ण होता है अतः लाल कण में प्रविष्ट हुए सम्पूर्ण अंशुकेत (Merozites) ४८ घण्टे के पश्चात् लालकण को विदीर्ण करके बाहर आते हैं। इस प्रकार जाति के जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर प्रति तीसरे दिन ज्वर का वेग आया करता है। अत एव इस ज्वर को प्राचीनों ने तृतीयक नाम दिया है '**तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि**' वा '**दिनं हित्वा तृतीयकः**'। प्लाज्मोडियम मलेरिया नामक उपजाति का जीवनचक्र ७२ घण्टे में पूर्ण होता है अतः लालकणों में लीन अंशुकेत (Merozites) उक्तकाल में रक्तकण को विदीर्ण करके बाहर आते हैं जिससे मध्य में दो दिन छोड़कर चौथे दिन ज्वर का वेग आता है। इसे चतुर्थक ज्वर (Quartan fever) कहते हैं—'**दिनद्वयं यो विश्रम्य प्रत्येति स चतुर्थकः**' (च. चि. ३)

अन्येद्युष्क ज्वर (Quotidian) प्रतिदिन चौबीस घण्टे में एक बार आता है और पूर्णविसर्गी स्वरूप का होता है। तृतीयकज्वर को उत्पन्न करने वाले प्लाज्मोडियम वाइवैक्स के दो स्वतन्त्र वंशविस्तार लगातार दो दिन होने से अन्येद्युष्क ज्वर होता है। इसे तृतीयक विपर्यय (Double-tertian) भी कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति को तृतीयक जीवाणु का उपसर्ग एक तारीख को हुआ और दूसरी तारीख को भी हुआ। जो कीटाणु प्रथम दिन शरीर में पहुँचे वे पंद्रह दिन के सञ्चयकाल (Incubation period) के पश्चात् १५, १७, १९ आदि तारीखों में ज्वर को उत्पन्न करेंगे। इसके अतिरिक्त दूसरी तारीख के उपसर्ग के फलस्वरूप १६, १८ और २० तारीखों में भी ज्वर होगा। इस प्रकार ज्वर का वेग प्रतिदिन आयेगा अतः इस दैनिक या

अन्येद्युष्क ज्वर कहते हैं। चतुर्थक कीटाणु के पृथक्-पृथक् लगातार दो उपसर्ग होने से दूसरे प्रकार का ज्वर उत्पन्न होता है उसे चतुर्थ विपर्यय कहते हैं। इसका वर्णन आगे (पृष्ठ ११५ पर) किया जायगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि तृतीयक और चतुर्थ ही प्रधानतः विषमज्वर है। चरक ने भी कहा है—'कर्म साधारणं जह्यात् तृतीयकचतुर्थकौ।' इसी आधार पर हरिचन्द्र ने भी इन्हीं दोनों में विषमज्वर की विशिष्ट चिकित्सा करने का निर्देश किया है।

(सन्ततज्वर विषमज्वर है या नहीं? इसका विवेचन पृष्ठ १०६ पर देखें)

विषमज्वरस्याऽऽगन्तुकारणतां प्राह—

केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥ ३६ ॥ (सु. उ. अ. ३९)

कतिपय विद्वान् विषम ज्वर को भूत (जीवाणु) संक्रमणजन्य मानते हैं ॥ ३६ ॥

विषमज्वरस्यैकीयमतेन भूताभिषङ्गजत्वमाह—केचिदित्यादि। परवचनमप्रतिषिद्धमनुमतं सुश्रुतेन; अत एव विषमज्वरे दैवव्यपाश्रयं बलिहोमादि भूतोचितं, युक्तिव्यपाश्रयं कषायपानादि दोषोचितं च विधीयते। यदाह चरकः—'कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ। आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे' इति (च. चि. अ. ३)। अत्र साधारणमिति दैवयुक्तिव्यपाश्रयमिति व्याख्यात इति ॥ ३६ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने एकीय मत के द्वारा विषम ज्वर को भूतसंक्रमणजन्य बताया है। उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भी विषम ज्वर को संक्रामक व्याधि मानने वाले विद्वानों का एक वर्ग रहा है। सुश्रुत में इस वाक्य का खण्डन उपलब्ध न होने से यह भी निर्विवाद है कि सुश्रुत स्वयं भी इस मत से सहमत थे क्योंकि **'परवचनमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति'** अर्थात् परपक्ष के वचन का खण्डन न होने पर वह स्वीकार्य माना जाता है, यह नियम भी इसमें प्रमाण है। चरक भी इसे प्रायः आगन्तुज (भूताभिषङ्गज) मानते हैं।

उल्बणदोषभेदेन तृतीयकचतुर्थकज्वरयोर्लक्षणभेदं निरूपयति—

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥ ३७ ॥

तृतीयक ज्वर तीन प्रकार का होता है। कफपित्तोल्बण तृतीयक ज्वर में प्रथम त्रिक प्रदेश पीडित होता है तत्पश्चात् ज्वर का वेग होता है। इसी प्रकार वातकफोल्बण में प्रथम पृष्ठ और वातपित्तोल्बण में प्रथम शिरःप्रदेश में वेदना होती है ॥ ३७ ॥

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः।
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः ॥ ३८ ॥

(च. चि. अ. ३)

चतुर्थक ज्वर का प्रभाव भी दो प्रकार से प्रकट होता है। श्लेष्मोल्बण चतुर्थक ज्वर पहिले जंघाओं को पीडित करता हुआ ज्वर में वेग उत्पन्न करता है। वातोल्बण चतुर्थक ज्वर में प्रथम शिर में वेदना होती है तत्पश्चात् ज्वर का वेग व्यक्त होता है ॥ ३८ ॥

उल्बणदोषभेदेन तृतीयकचतुर्थकयोर्लक्षणान्तरमाह—कफपित्तादित्यादि। त्रिकग्राही वेदनया त्रिकव्यापी, त्रिकस्य वातस्थानत्वेन तद्गतौ पित्तकफावन्यस्थानगतत्वेन दुर्बलौ तृतीयदिने वेगं कुरुतः, यदि तु स्वस्थानस्थितौ स्यातां तदा सन्ततज्वरमेव कुर्यातामिति जेज्जटः। एवं शिरसि कफस्थाने, पृष्ठे च पित्तस्थाने बोद्धव्यम्। पृष्ठादिति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी, पृष्ठं वेदनया व्याप्येत्यर्थः। न च वाच्यं यदि त्रिकं वातस्थानं तत् कथं तत्र पित्तकफाविति; प्रकृतिस्थानां दोषाणां स्थाननियमो न तु प्रकुपितानां, तेषां सर्वदेहगतत्वात्। यदाह सुश्रुतः-'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र सङ्गः खवैगुण्याद्व्याधि-

स्तत्रोपजायते' इति (सु. सू. अ. २४)। एवमन्यस्थानगतत्वेन दोषदौर्बल्यादि चतुर्थकेऽपि वाच्यम्। प्रभावं रुजारूपां शक्तिम्। द्विविधं विवृणोति—जङ्घाभ्यामित्यादि। जङ्घाभ्यां शिरस्त एतच्च पञ्चमीद्वयं पूर्ववत्। पूर्वमिति प्रथमं, तत्र भूत्वा निखिलं देहं व्याप्नोति। श्लैष्मिक इति श्लेष्मोल्बणः, सन्ततसततकान्येद्युष्कतृतीयकचतुर्थकानां पञ्चानां सान्निपातिकत्वात्। यदुक्तं चरके-'प्रायशः सन्निपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः। सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः' (च. चि. अ. ३) इति। अथवा प्रायोग्रहणादेकदोषजा द्विदोषजा अपि भवन्ति। अन्ये त्वाहुः—विकृतिविषमसमवायारब्धाः सन्ततादयः सन्निपातजाः, तेषामेवोद्धूतदोषेण व्यपदेशः, प्रकृतिसमसमवायारब्धास्तु एकदोषजद्विदोषजा अपि भवन्तीति जेज्जटः। प्रकृतिसमसमवायारब्धश्चतुर्थकस्तु पित्तेन न क्रियत एव, व्याधिस्वभावात्; पित्तजगलगण्डवत्। ननु अस्ति पैत्तिकोऽपि चतुर्थकः, तथा हरिताचार्यो व्याहरति-'चतुर्थको नाम गदो दारुणो विषमज्वरः। शोषणः सर्वधातूनां बलवर्णाग्निनाशनः॥ त्रिदोषजो विकारः स्यादस्थिमज्जगतोऽनिलः। कुपितं पित्तमेवं तु कफश्चैवं स्वभावतः॥ शीतदाहकरस्तीव्रस्त्रिकालं चानुवर्तते। सन्निपातसमुद्भूतो विषमो विषमज्वरः॥ ऊर्ध्वं कायस्य गृह्णाति यः पूर्वं सोऽनिलात्मकः। पूर्वं गृह्णात्यधः कायं श्लेष्म वृद्धश्चतुर्थकः-' इति। अत्राहुः—अनुबन्धरूपमत्र पित्तं, न त्वारम्भकं; कथमेषा प्रतीतिरिति चेत्, स्थानविशेषानभिधानात्; अत एव हारीतेनापि नोदाहृतमेव जङ्घादिवदिति चरकटीकाकृतो व्याचक्षते। कस्त्वेषा व्याख्या तदा संगच्छते यदि पित्तलिङ्गं नोद्भूतं दृश्यते, दृश्यते च; तथा कथ्यते-भेडेऽपि पैत्तिकः पठ्यते-'आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जगतोऽपि वा। कुपितः कोशयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च' इति। किंच नागभर्तृतन्त्रे। स्थानमप्युक्तमेव-ऊर्ध्वकायं तु यः पूर्वं गृह्णाति सोऽनिलात्मकः। मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः॥ पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्म वृद्धश्चतुर्थकः' इति। तस्मात् प्रायेण कफवाताभ्यां भवतीति पैत्तिकश्चतुर्थकश्चरकादिभिर्नोदाहृतः, न त्वसंभवादिति मन्तव्यम्। एषां चोत्पत्तिक्रमो वृद्धसुश्रुतादवगन्तव्यः। तदाह-'अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते। ततश्चामाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम्॥ कफस्थानविभागे यथासंख्यं करोति हि। सततान्येद्युष्कत्र्याख्यचतुर्थान् सप्रलेपकान्' (सु. उ. अ. ३९) इति। अस्यायमर्थः—आमाशयहृदयकण्ठशिरःसन्धयः पञ्च कफस्थानानि, एषु स्थितैर्दोषैर्यथासंख्यं सततादयः क्रियन्ते। तत्रामाशयस्थितेन दोषेण सततकः क्रियते द्विकालं न च सर्वदा; न चामाशयप्राप्तौ सर्वदा प्रसङ्गः, अहोरात्रेषु कालेषु स्वप्रकोपकालापेक्षया ज्वरोत्पत्तेः। हृदयस्थितेन दोषेणामाशयमागत्यान्येद्युष्कः क्रियते एककालं, न च सर्वदा, सततारम्भकदोषापेक्षयाऽस्य व्यवहितत्वात्। कण्ठस्थितेन दोषेणैकस्मिन् दिने हृदयमागम्यते, अपरस्मिन्नामाशयमागत्य ज्वर आरभ्यते तृतीयकः। एवं शिरःस्थितेन दोषेण कण्ठहृदयामाशयान् त्रिभिर्दिनैः क्रमेण प्राप्य चतुर्थकः क्रियते। पुनः स्वस्थानगमनं तु दोषाणां हृतवेगत्वेन लाघवाद्वेगदिन एव भवति। सन्धिस्थितेन दोषेण प्रलेपकः क्रियते, सन्धयश्चामाशयेऽपि सन्तीति स सर्वदा भवति[1]। अयं चाविषमोऽपि विषमसहचरितः पठितः, कफस्थानोत्पादानुरोधात्। उक्तं हि सुश्रुते-'प्रलेपकस्त्वविषमः प्रातः क्लेशाय शोषिणाम्' इति (सु. उ. अ. ३९)॥ ३७–३८॥

विमर्शः—त्रिक प्रदेश वायु का प्रधान स्थान है। जब त्रिकप्रदेशस्थित वायु कफ और पित्त से विगुण हो जाती है तभी कफपित्तोल्बण विषमज्वर में प्रथम त्रिक प्रदेश में पीड़ा होती है। पित्त और कफ वातस्थान में पहुँचने से कुछ दुर्बल हो जाते हैं अतएव ज्वर का वेग तीस दिन

१. 'सर्वेषु कफस्थानेषु व्यवस्थितो दोषः सततं करोतीति ज्ञेय, तन्त्रान्तरोक्तत्वात्'—इति वृन्दटीकायां श्रीकण्ठदत्तः।

आता है। यदि वे अपने स्थान पर स्थित रहें तो ज्वर सन्तत या सततक स्वरूप का ही होगा। इसी प्रकार शिर में स्थित स्वाभाविक कफ के वात तथा पित्त से शुष्क होकर ललाट आदि की कोटरों में एकत्रित हो जाने से वात पित्तोल्वण विषमज्वर में प्रथम शिरोवेदना होती है। इन दोषों के भी अन्यस्थानगत होने से ज्वरवेग तीसरे दिन आता है। ये दोष अन्यस्थानगत कैसे हो जाते हैं यह शंका करना भी निर्मूल है; क्योंकि प्रकृतिस्थ दोषों का ही स्थान निश्चित रहता है। प्रकुपित दोषों का नहीं। 'प्रकुपित दोष तो सर्वशरीर में विचरण करते हैं और अनुकूल परिस्थिति पाकर जहाँ उनका मार्ग में अवरोध होने से अवस्थान हो जाता है वहीं विकार की उत्पत्ति हो जाती है। सुश्रुत ने कहा भी है—

'कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संगः खवैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते ॥'

प्रथम त्रिक आदि की वेदना के ज्ञान से चिकित्सा में सौकर्य होता है। यथा त्रिकवेदना का ज्ञान होने पर विरेचन, पृष्ठवेदना का ज्ञान होने पर वात तथा कफ के विलयन के लिए स्वेद और प्रथम शिर की वेदना का ज्ञान होने पर स्नेहन एवं शिरोविरेचन जैसी क्रियाओं का करना भी सुगम हो जाता है। श्लेष्मोल्वण तथा वातोल्वण भेद से चतुर्थक ज्वर दो प्रकार होता है। इससे पित्तोल्वण चतुर्थक ज्वर नहीं होता यह स्पष्ट है। कुछ लोगों का कहना है कि यह पित्तोल्वण भी होता है; क्योंकि हारीत ने कहा है—**चतुर्थको नाम गदो···श्लेष्मवृद्ध-श्चतुर्थकः** ॥ (पूरा श्लोक मधुकोश में देखें)

यहाँ वात और कफ के समान पित्तप्रकोप का भी वर्णन किया है। किन्तु यहाँ पित्त अनुबन्ध रूप ही हैं, वात और कफ के समान आरम्भक नहीं, क्योंकि पित्त का इतर दो दोषों के समान स्थाननिर्देश नहीं किया गया है। हारीत ने भी **'ऊर्ध्वं कायस्य'** इत्यादि श्लोक के द्वारा केवल वातोल्वण और कफोल्वण चतुर्थक का ही वर्णन किया है, पित्तोल्वण का नहीं। यह चरक के टीकाकारों का मत है। वस्तुतः पित्त के लक्षण चतुर्थक में भी व्यक्त होते हैं अतएव भेल ने पैत्तिक चतुर्थक का भी वर्णन किया है—

आमाशयस्थः पवनो ह्यस्थिमज्जगतोऽपि वा। कुपितः कोपयत्याशु श्लेष्माणं पित्तमेव च ॥

नागभर्तृतन्त्र में पित्तोल्वण के स्थान का भी निर्देश किया गया है—

मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः।

प्रायः कफोल्वण तथा वातोल्वण चतुर्थक ही पाये जाते हैं पित्तोल्वण कादाचित्क है, इसी आशय से चरक आदि ग्रन्थों में पैत्तिक के वर्णन का अभाव है असम्भव होने से नहीं।

पूर्वोक्त विभिन्न धातुगत दोषों के द्वारा सततादि ज्वरों की उत्पत्ति के अतिरिक्त वृद्ध सुश्रुत ने इन सब ज्वरों की उत्पत्ति का क्रम निम्न प्रकार से बताया है—

अहोरात्रादहोरात्रात् स्थानात् स्थानं प्रपद्यते। ततश्चामाशयं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ।
कफस्थानविभागेन यथासंख्यं करोति हि। सन्ततान्येद्युष्कत्र्याख्यचतुर्थान् सप्रलेपकान् ॥
(सु. उ. तं अ. ३९)

अर्थात्—आमाशय, हृदय, सिर, कण्ठ और सन्धि ये पाँच कफ के स्थान हैं। इनमें स्थित दोषों के अनुसार विभिन्न प्रकार के ज्वर उत्पन्न होते हैं। जब दोष आमाशय में स्थित रहता है तो सततक स्वरूप का ज्वर होता है। (अब यहाँ सन्देह होता है कि दोष के आमाशय में सर्वदा रहने से ज्वर सन्ततस्वरूप का होना चाहिये ? इस पर कहते हैं कि जिस दोष की उल्वणता से ज्वर उत्पन्न होता है उसका प्रकोपकाल दिन रात में दो बार ही होता है अतः प्रकोपकाल के अनुसार ज्वरवेग भी चौबीस घण्टे में दो बार ही होता है।) हृदयस्थित दोष एक दिन में आमाशय में पहुँचता है इसलिये २४ घण्टे में एक बार ही ज्वर का वेग आता है सर्वदा नहीं। कण्ठ में स्थित दोष एक दिन में हृदय में आता है और दूसरे दिन आमाशय में पहुँचकर तृतीयक

ज्वर को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार शिरःस्थित दोष तीन दिन में कण्ठ, हृदय और आमाशय में पहुँच कर चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। वेग समाप्त होने पर दोष शीघ्र उसी दिन अपने अपने स्थान पर चले जाते हैं और पुनः प्रबल होकर वेग को करते हैं। चरक ने कहा भी है—

कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे स्वे स्थाने व्यवस्थिताः। पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः॥

सन्धिस्थित दोष प्रलेपकज्वर को उत्पन्न करता है। आयुर्वेदमतानुसार सन्धियाँ आमाशय में भी हैं अतः ज्वर सन्ततस्वरूप का रहता है। वस्तुतः एक साथ सभी कफ स्थानों में दोष की स्थिति रहने से ही सन्ततस्वरूप का ज्वर होता है केवल आमाशयस्थित होने से नहीं, अन्यथा सततक भी सदा रहता। नित्यानुबन्ध होने से विषमज्वर की श्रेणी में न होते हुए भी कफस्थान से उत्पत्ति के साम्य से प्रलेपक का वर्णन भी विषमज्वर के साथ कर दिया गया है। किन्तु सुश्रुत ने स्पष्टरूप से इसे विषमज्वर से पृथक् माना है—'प्रलेपकस्त्वविषमः प्रायः क्लेशाय शोषिणाम्'।

विषमज्वरभेदं चतुर्थकविपर्ययं व्याचष्टे—

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः।
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति॥ ३९॥

(च. चि. अ. ३)

चतुर्थक विपर्यय भी विषमज्वर का ही एक भेद है। इसमें मध्य में दो दिन लगातार ज्वर आता है और इन दो दिन के पूर्व तथा अन्त के दिन ज्वर नहीं रहता है॥ ३९॥

चतुर्थकविपर्ययमाह—विषमेत्यादि। अत्र तन्त्रान्तरम्—'अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति'। इति। आदावेकदिनं मुक्त्वा, मध्ये दिनद्वयं भूत्वा, अन्ते एकदिनं न भवतीति व्याचक्षते जेज्जटादयः। अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः। त्र्यहाद्[1] द्व्यहं ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति'—इति पराशरवचनस्यापि स एवार्थः; त्र्यहादिति त्र्यहस्यादिदिनं विमुञ्चति, दिनद्वयं ज्वरयति, त्र्यहस्यान्ते चतुर्थदिनं मुञ्चतीति तात्पर्यार्थं व्याचक्षते। हरिचन्द्रस्त्वाह—द्वे अहनी निरन्तरं ज्वरयित्वा उपरस्यैकमहः पुनर्ज्वरयतीत्येवं चतुर्थकविपर्यय इति। आदिदिनाभावश्चोत्तरोत्तरपातिदिवसेष्ववधार्यः। चतुर्थकविपर्ययस्योपलक्षणत्वेन तृतीयकादिविपर्ययोऽप्यूह्य इत्याहुः। तद्यथा—मध्ये एकदिनं ज्वरयति, आद्यन्तयोर्मुञ्चतीति तृतीयकविपर्ययः; एककालं विमुच्य सर्वमहोरात्रं व्याप्नोतीत्यन्येद्युष्कविपर्ययः; (कालद्वये मुञ्चति, सर्वमहोरात्रं ज्वरयतीति सततकविपर्ययः[2]।) अत्र दोषविकृतिरेव नानाविधा हेतुरिति। 'कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु च। विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान्' (सु. उ. अ. ३९) इति वृद्धसुश्रुतवाक्यं व्याचक्षाणो जेज्जटोऽन्येद्युष्कतृतीयकचतुर्थकमात्रस्य विपर्ययमुदाहरति। यद्यथा—आमाशयहृदयस्थदोषेण यथोदाहृत एवान्येद्युष्कविपर्ययः; आमाशयहृदयकण्ठस्थितेन तृतीयकविपर्ययः, तत्रैकस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य तत्स्थेन सह ज्वरयति तद्दिने कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति, अपरदिने सोऽप्यामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनद्वयं भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति तृतीयकविपर्ययः, आमाशयहृदयकण्ठशिरःस्थेन दोषेण चतुर्थकविपर्यय इति तत्र यस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य ज्वरयति तस्मिन् दिने कण्ठस्थो हृदयं शिरस्थश्च कण्ठमायाति; अपरदिने हृदयस्थ आमाशयमागत्य ज्वरयति कण्ठस्थितश्च

१. 'त्र्यहाद द्व्यहं ज्वरयति' मातृकदर्पणसमतः पाठः।

२. अयं पाठः क-ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते।

हृदयमायाति, अपरदिने हृदिस्थ एवामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनत्रये भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति चतुर्थकविपर्यय इति । एते च सर्वे एव ज्वरा न विरुद्धाः, सर्वेषामेव मुनिप्रणीतत्वात् । यथोक्तं स्मृतिशास्त्रे-**'स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ मतौ'** (म. स्मृ. अ. २ श्लो. १४) **इति । दृश्यन्ते च नानाविधा एव विषमज्वराः, एष एव न्यायश्चरकसुश्रुतयोः कुष्ठवैशम्ये** वाप्यचन्द्रेण **दर्शितः; न वा चिकित्साभेदोऽप्येषामुक्तः; यैव तृतीयकादौ चिकित्सा सैव तद्विपर्ययेऽपीति ॥ ३९ ॥**

विमर्श :—दोष के अस्थि तथा मज्जा दोनों में अवस्थित होने पर चतुर्थक विपर्यय होता है—**'अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः । त्र्यहाद् द्व्यहं ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति'** । चतुर्थक विपर्यय का चक्र भी तीन दिन का ही होता है । इसमें एक दिन छोड़कर दो दिन निरन्तर ज्वर बना रहता है । जब दोष अधिक रहता है अथवा चतुर्थक के कीटाणु का लगातार दो दिन उपसर्ग होता है तो चतुर्थक विपर्यय पाया जाता है । यथा जो कीटाणु एक तारीख को शरीर में पहुँचे वे २० दिन के संचयकाल के पश्चात् २०, २३, २६, २९ आदि दिनांकों में ज्वर को उत्पन्न करेंगे । इसी प्रकार जो किटाणु २ दिनांक को प्रविष्ट हुए उनके कारण २१, २४, २७; तथा ३० दिनांकों में भी ज्वर का वेग आयेगा । अतः इस चतुर्थक के जीवाणु से ही दो सज्वर दिन और एक निर्ज्वर दिन होगा । इसे चतुर्थक विपर्यय (Double quartan) कहते हैं ।

कतिपय विद्वान् चतुर्थक विपर्यय के समान तृतीयक, अन्येद्युष्क तथा सततक का विपर्यय भी मानते हैं । उनका तात्पर्य है कि आदि और मध्य के दिनों को छोड़कर मध्य में एक दिन ज्वर का आना तृतीयक विपर्यय है । दिन रात के किसी एक काल को छोड़कर शेष सब समय में ज्वर का बना रहना अन्येद्युष्क-विपर्यय और दिन रात के दो समय को छोड़कर शेष चार समय-में ज्वर के वेग का रहना सततक विपर्यय है । इन विपर्ययों का कारण नाना प्रकार की दोष-विकृति ही है—

कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु च । विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान् ॥

उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए जेज्जट अन्येद्युष्क, तृतीयक तथा चतुर्थक के विपर्ययों का विवेचन निम्न प्रकार से करते हैं—

आमाशय तथा हृदय दोनों में दोष का अवस्थान होने से अन्येद्युष्क विपर्यय होता है । आमाशय, हृदय तथा कण्ठस्थित दोष से तृतीयक विपर्यय होता है । जिस दिन हृदयस्थ दोष आमाशय में पहुँचकर ज्वर उत्पन्न करता है, उसी दिन कण्ठस्थित दोष हृदय में आ जाता है और दूसरे दिन वही आमाशय में पहुँचकर पुनः ज्वरवेग प्रारम्भ करता है । इस प्रकार दो दिन ज्वर होकर एक दिन नहीं होता इसको ही तृतीयक विपर्यय कहते हैं । आमाशय, हृदय, कण्ठ तथा सिर में स्थित दोष से चतुर्थक विपर्यय होता है । प्रथम दिन हृदयस्थ दोष आमाशय में पहुँच कर ज्वर उत्पन्न करता है, उसी दिन कण्ठस्थ दोष हृदय में और शिरस्थ दोष कण्ठ में आ जाता है । दूसरे दिन पुनः हृदयस्थ दोष आमाशय में पहुँचकर ज्वरवेग प्रारम्भ करता है और उसी दिन कण्ठस्थदोष हृदय में पहुँच जाता है । इस प्रकार तीसरे दिन भी हृदयस्थ दोष आमाशय में पहुँचकर ज्वर को उत्पन्न करता है । तीन दिन लगातार ज्वरितावस्था रहती है और एक दिन के लिये रोगी विज्वर होता है, इसको जेज्जटमतानुसार चतुर्थक, विपर्यय कहते हैं । ज्वर के उक्त सब प्रकार असिद्ध नहीं है; क्योंकि सबका वर्णन शास्त्र में मिलता है । जहाँ दो आप्त वाक्यों में भेद प्रतीत हो वहाँ दोनों को ही प्रमाण मानकर समाधान कर लेना चाहिये । स्मृतिशास्त्र में कहा भी है:—**'स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।'** विषम ज्वरों के अनेक प्रकार मिलते भी हैं ।

वस्तुतः अन्येद्युष्क आदि विपर्यय का स्वीकार करना व्यर्थ है; क्योंकि उनमें कोई स्पष्ट भेद नहीं है। यथा अन्येद्युष्क विपर्यय में ज्वर का वेग २४ घण्टे में एक बार ही आता है. केवल दोष की अधिकता के कारण वह अधिक काल तक रहता है, वेग की दृष्टि से अन्तर न होने के कारण इसे भिन्न न समझना चाहिये। इसी प्रकार सततक विपर्यय में वेग तो दो ही बार आता है, उसकी वेगस्थिति ही दीर्घकाल पर्यन्त रहती है। तृतीयक और तृतीयक विपर्यय में कोई अन्तर ही नहीं है, केवल नाम का भेद है। जेज्जट द्वारा प्रतिपादित तृतीयक विपर्यय भी चरकोक्त चतुर्थक विपर्यय ही है। चतुर्थक विपर्यय तो सर्वमान्य है। अन्तर केवल इतना है कि चरक ने दो दिन ही ज्वरवेग की प्रवृत्ति मानी है जब कि जेज्जट इसे तीन दिन मानते हैं। दोनों ही प्रकार ठीक हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त तृतीयक विपर्यय आदि की चिकित्सा भी तृतीयक आदि से भिन्न नहीं है अतः उनका पृथक् स्वीकार करना निष्प्रयोजन ही है।

वातबलासकज्वरं निरूपयति—

नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीदति।
स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठा नरो वातबलासकी॥ ४०॥

(अ. सं. नि अ. २)

वातबलासक नामक ज्वर से पीड़ित रोगी को नित्य मन्दज्वर रहता है, उसकी त्वचा में रूक्षता तथा अङ्गों में शोथ रहता है। रोगी को अवसाद रहता है और अङ्ग जकड़े रहते हैं। यह ज्वर श्लेष्मोल्वण होता है॥ ४०॥

उक्तसंगत्या प्रलेपकादनुपद्रवत्वेन तत्सधर्मिणी वातबलासके वाच्ये प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या वातबलासकमेवाह—नित्यमित्यादि। वातबलासकाख्यो ज्वरोऽस्यास्तीति वातबलासकी नरः, तेन ज्वरेण, शूनकः शोथी, सीदति अवसन्नो भवति; शोथिनः स उपद्रव इत्यर्थः। शूनः कृच्छ्रेण सिध्यति' इति पाठान्तरे 'तेन' इति शेषः। वातबलासमेके कुम्भाह्वयपाण्डुरोगविपर्ययमाहुरिति गदाधरः[२]। वातबलासकारब्धत्वाद्वातबलासकः; बलासकः श्लेष्मा, पित्तमप्यत्र बोद्धव्यम्। यदुक्तं तन्त्रान्तरे—'वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ विधावति। स शिरस्थः शिरःशूलम्"—इत्यादि। यच्चोक्तं सुश्रुतेन—"प्रलेपकं वातबलासकं वा कफाधिकत्वात् प्रवदन्ति तज्ज्ञाः' (सु. उ. अ. ३९)—इति। तत्तु श्लेष्मणो नित्यानुषक्तत्वेनेति जेज्जटः। रूक्षत्वं चास्य वातपित्ताभिभूतत्वात् कफस्नेहस्य, व्याधिप्रभावाद्वेति॥ ४०॥

विमर्श—वात का अर्थ वायु और बलास का अर्थ कफ है। इस प्रकार वातबलासक ज्वर वातकफोल्वण होते हुए भी त्रिदोषज ही है, क्योंकि इसमें पित्त की भी सत्ता रहती है यह तन्त्रान्तर के वचन से सिद्ध है—**वायुःप्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ विधावति। सशिरःस्थः शिरःशूलम्...**

यहां पर प्रकुपित वायु के द्वारा कफ और पित्त दोनों की विकृति का निर्देश किया गया है। कफ का स्नेहगुण वात और पित्त के द्वारा अभिभूत हो जाता है अतः इसमें त्वचा रूक्ष रहती है। रोगी के किसी एक अङ्ग या सर्वाङ्ग में शोथ पाया जाता है। सर्वप्रथम यह शोथ मुख या शाखाओं में दिखाई पड़ता है। नीचे से प्रारम्भ होकर क्रमशः ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। दुर्बलता तथा पीड़ा के कारण रोगी अङ्गों को इतस्ततः नहीं चला पाता अतः उसे स्तब्धाङ्ग विशेषण दिया गया है। हृदय की दुर्बलता उत्तरोत्तर शरीर का बलनाश होने से रोगी को अवसाद सा रहता हैं। श्लेष्मा की प्रधानता होने से लालास्राव, शीत, कास तथा श्वास जैसे कफ के उपद्रव भी पाये जाते हैं। रोग अधिक बढ़ जाने पर फुफ्फुस में शोथ भी पाया जाता है।

कतिपय विद्वान् इसको वातभूयिष्ठ मानते है। वस्तुतः यहां वायु को प्रेरक मानकर ही

---

१. 'भवेद वातबलासकी' इति पाठान्तरम्। १. 'गयदास' इति ग। 'कन्दज्वरत्व' क ख।

प्रधानता दी गयी है । वायु से प्रेरित श्लेष्मा से उत्पन्न होने के कारण इसे श्लेष्मभूयिष्ठ माना गया है । इसलिये कोई दोष नहीं आता ।

यह रोग आनूप देश में रहने वाले तथा विशेषतया चावल का सेवन करने वाले लोगों में पाया जाता है । लक्षणों के अनुसार आधुनिक दृष्टि से इस रोग को जानपदिक शोथ (Epidemic dropsy) नाम दिया जा सकता है । कतिपय विद्वान् इसे बेरी-बेरी भी मानते हैं । वस्तुतः बेरी-बेरी में ज्वर का लक्षण नहीं होता जब कि मन्द ज्वर रहना इसका प्रधान लक्षण है । अतः इसे बेरी-बेरी नाम देना सर्वथा अनुपयुक्त है । वातबलासक या जानपदिक शोथ और बेरी-बेरी में निम्न अन्तर है—

वातबलासक	बेरी-बेरी
१–ज्वर होता है ।	१–ज्वर नहीं होता ।
२–परिसरीय नाड़ियों पर प्रभाव नहीं होता ।	२–इन नाड़ियों पर प्रभाव होता है ।
३–ग्लुकोमा हो जाता है ।	३–नहीं होता ।
४–गर्भस्थ शिशु में यह सक्रान्त नहीं होता ।	४–गर्भस्थ शिशु में यह सक्रान्त हो जाता है ।

शोथ, हृद्दौर्बल्य, दृष्टिक्षय, ज्वर तथा कफज लक्षण इसमें विशेषतया होते हैं । रोगाक्रमण के एक सप्ताह बाद धातुओं में द्रव के संचय से शोथ प्रारम्भ हो जाता है । यह गुल्फसन्धि से प्रारम्भ होकर धीरे-धीरे ऊपर बढ़कर सर्वशरीरव्यापी भी हो जाता है काम करने या चलने-फिरने से यह शोथ अधिक होता है, अतः सायंकाल के समय अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है और प्रातःकाल में कम । द्रव धीरे-धीरे फुफ्फुसावरण तथा हृदयावरण में भी संचित होने लगता है जिससे फुफ्फुस और हृदय की विकृति के लक्षण व्यक्त होते हैं । इससे रोगी सदा अवसादित (Depressed) एवं बलहीन रहता है । ज्वर मन्द ही रहता है । लगभग ९८.६ से ९९.४ डिग्री तक तापक्रम होता है । हृदय पर प्रभाव होने से हृद्द्रव (Tachycardia) तथा श्वास की मन्दता हो जाती है ।

प्रलेपकज्वरं लक्षयति—

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च ।
मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात् प्रलेपकः ॥ ४१ ॥

(अ. सं. नि. अ. २)

गौरव तथा पसीने से शरीर को लिप्त करनेवाला शीतयुक्त मन्दज्वर प्रलेपक कहलाता है ॥४१॥

प्रलेपकमाह—प्रलिम्पन्नित्यादि । मन्दज्वरश्चासौ विलेपी चेति मन्दज्वरविलेपी विलेपित्वं[1] चास्य यस्माद्धर्मगौरवाभ्यां लिम्पति संवध्नातीत्यर्थः । अयं च कफपित्तजः । यदुक्तं सुश्रुतेन'प्रलेपकं वातबलासकं च' (सु. उ. अ. ३९) इत्यादि । तथा चरमपि 'ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्तात् कफस्य चागमः' (सु. उ. अ. ४१) इत्युक्तं, चरमपि चायं भवतीति । अन्ये तु त्रिदोषजयचमजनितत्वेन त्रिदोषज एवायम्, उद्भूतत्वेन तु कफपित्तव्यपदेशः॥४१॥

विमर्श—यह प्रच्छन्न रूप से सदैव बने रहने हुए भी प्रत्यक्षतः विसर्गी स्वरूप का ज्वर है । प्रतिदिन मध्याह्नोत्तर या सन्ध्याकाल में यह चढ़ता है । इसमें ठण्डा पसीना आता है जिससे रोगी का शरीर लिप्त हो जाता है । इसीलिए कुछ लोग इसे विषम ज्वर भी मानते हैं । किन्तु सुश्रुत ने स्पष्टतः इसे अविषम कहा है । आजकल इसे हैक्टिक फीवर (Hectic fever) कहते हैं । यह राजयक्ष्मा का प्रधानलक्षण है । प्राचीनों ने इसे राजयक्ष्मा का लक्षण माना है—

'प्रलेपकस्त्वविषमः प्रायः क्लेशाय शोषिणाम् । तथा प्रलेपको ज्ञेयः शोषिणां प्राणनाशनः ।
दुश्चिकित्स्यतमो मन्दः सुकष्टो धातुशोषकृत् ।

---

१. 'मन्दज्वरत्वं' क ख ।

राजयक्ष्मा के त्रिदोषज होने से यह भी त्रिदोषज ही होता है किन्तु कफ और पित्त के लक्षण विशेष रूप से व्यक्त होने के कारण यह कफपित्त भी कहा जाता है। राजयक्ष्मा के अतिरिक्त अस्थिमज्जविद्रधि तथा पूयमयता (Pyaemia) में भी प्रलेपकज्वर का लक्षण मिलता है। शोषिणां प्राणनाशनः शब्द से स्पष्ट है कि यह राजयक्ष्मा में ही असाध्य होता है विद्रधि आदि में नहीं।

विषमज्वरविशेषानर्धांगसन्तापयुतान् ज्वरान् वर्णयति—

विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते।
तेनार्धं शीतलं देहमर्धमुष्णं प्रजायते॥ ४२॥
काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः।
तेनोष्णत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः॥ ४३॥
काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम्।
शीतत्वं तेन गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः॥ ४४॥
(अ. सं नि. अ)

आहाररस तथा शरीर में स्थित कफ और पित्त के दुष्ट होने पर शरीर का आधा भाग ठण्डा रहता है और आधा गरम। जब कोष्ठ में प्रकुपित पित्त और हाथ-पैरों में प्रकुपित कफ स्थित रहता है तो सम्पूर्ण शरीर गरम रहता है किन्तु हाथ पैर शीतल रहते हैं। इसके विपरीत यदि प्रकुपित कफ कोष्ठस्थ रहे और पित्त हाथ पैरों में हो तो सम्पूर्ण शरीर मे शीतलता और हाथ-पैरों में उष्णता रहती है॥ ४२-४४।

शीतपूर्वदाहपूर्वज्वरयोर्हेतुं तत्परिणामविशेषञ्चाह—

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च॥ ४५॥
करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च।
तस्मिन् प्रशान्ते त्वितरौ कुरुतः शीतमन्ततः॥ ४६॥
द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ।
दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यतमश्च सः॥ ४७॥
(सु. उ. तं. ३९)

यदि प्रकुपित वायु और कफ त्वचा में स्थित रहते हैं तो ज्वर के आदि में ठण्ड लगती है और उसका वेग शान्त हो जाने पर अन्त में पित्त के कारण दाह का अनुभव होता है। इसी प्रकार यदि त्वचा में प्रकुपित पित्त की स्थिति रहती है तो ज्वर के आदि में दाह होता है तथा वेग शान्ति हो जाने पर वायु और कफ शीत का अनुभव कराते हैं। दाहपूर्व तथा शीतपूर्व ये दोनों ज्वर संसर्गज कहलाते हैं। (यहाँ संसर्ग का अर्थ सन्निपात है) इन दोनों में दाहपूर्वज्वर रोगी को अत्यधिक कष्ट देनेवाला एवं अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होता है॥ ४५-४७॥

विषमज्वरविशेषानाह—विदग्ध इत्यादि। विदग्धेऽन्नरसे दुष्टे आहाररसे तथा दुष्टे श्लेष्मणि पित्ते दुष्टे[1] देह व्यवस्थिते[2] भवतः, तेन हेतुना देहमर्धं शीतलं कफेनार्धं चोष्णं पित्तेन प्रजायते। अर्धत्वं चार्धनारीश्वराकारेण नरसिंहाकारेण वा यथा दोषं व्यवस्थानियमहेतोर-

१. 'दुष्टे पित्ते दुष्टे श्लेष्मणि चेति पाठान्तरमप्युपलभ्यते।
२. देहे व्यवस्थिते नियमेन पृथक् देहे स्थिते भवत इत्यर्थः।

भावादिति। काय इत्यादि। काये अन्तरग्नौ, कोष्ठे इति यावत्। अन्ते हस्तपादयोः। उक्तार्थस्य विपर्ययेण ज्वरान्तरमाह—काये श्लेष्मेत्यादि। त्वक्स्थावित्यादि। त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रस उच्यते, तत्स्थस्य तदुपचारेणेति गदाधरः, जेज्जटस्तु त्वचमेवाह। एतदभिप्रायेणैव चरकेण ज्वरेऽभ्यङ्गार्थं तैलादीन्यभिधायोक्तं—'तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः' इति (च. चि. अ. ३)। तयोः श्लेष्मानिलयोः। प्रशान्तयोरिति प्रशान्तवेगयोरित्यर्थः; नहि विषमेषु दोषस्य प्रशान्तिर्भवति, पुनर्वेगागमात्। यदाह सुश्रुतः—'स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति। ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते॥ वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते। धात्वन्तरस्थो लीनत्वात् सौक्ष्म्यान्नैवोपलभ्यते' (सु. उ. अ. ३९) इति। इतरौ वातकफौ। दाहशीतादीति एको दाहादिः, अपरः शीतादिः। ननु, एतयोः संप्राप्तौ त्रिदोषजत्वमुक्तं; तत् कथं संसर्गजावित्युक्त, संसर्गो हि द्वयोर्भवति त्रयाणां सन्निपात इति स्थितिः। उच्यते-संसर्गः सम्बन्धः, स च द्वयोर्बहूनां च भवति, अत्र त्रयाणामुक्तः[1], न चैवं सर्वत्र; अथवा संसर्गः[2] सौम्याग्नेयदोषकोटिद्वयमेलापः। तत्र शीतादौ ज्वरे पित्तमनुबन्धः, दाहादौ वातकफावनुबन्धौ; अनुबन्ध्यश्च प्राधान्येन चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधेनेति प्रयोजनमेतस्य तयोर्दाहशीतादिज्वरयोर्मध्ये दाहपूर्वो दाहादिः कष्ट इति दुःखप्रदः। दाहादेः कष्टसाध्यत्वाभिधानेन शीतादेरर्थतोऽकष्टत्वमिति। उक्तविषमज्वराणामुपलक्षणत्वादन्येऽपि विषमज्वरा रात्रिज्वरादयो बोद्धव्या इति जेज्जटः। उक्त च तन्त्रान्तरे—'समौ वातकफौ यस्य क्षीणपित्तस्य देहिनः। प्रायो रात्रौ ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य तु' इति। सर्वेषु च विषमज्वरेष्ववश्यम्भावी वायुः। यदाह वृद्धसुश्रुतः—'नर्तेऽनिलाद्धि विषमज्वरः समुपजायते। कफपित्ते हि निश्चेष्टे चेष्टयत्यनिलः सदा' (सु. उ. अ. ३९) इति। तथा विदेहेऽपि—'पवनो गतिवैषम्याद्विषमज्वरकारणम्'—इति। एषां च ज्वराणामृत्वादिहेत्वन्तरलाभादन्यथाभावोऽपि दृश्यते। तद्यथा—सन्ततः स्वरूपं त्यक्त्वा सततादीनामन्यतमत्व[3] प्रतिपद्यते तथा चतुर्थकस्तृतीयकादिरूपत्वम्[4]। यदाह चरकः—'ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्। कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते' (च. चि. अ. ३) इति। अस्यार्थः—बलाबलादिति ऋत्वादिमनोन्तेन संबध्यते, बलं चाबलं च बलाबलम्। अर्थशब्दोऽत्र प्राक्तनकर्मवाची। तं तं कालं सततकाद्युक्त, ज्वरः प्रतिपद्यत इति योजना। उदाहरणं च ऋत्वहोरात्रबलाबलाद्यथा-यदा निदाघोत्पन्नो वातप्रधानश्चतुर्थको वर्षासमयमाप्नोति तदा तेनर्तुनाऽऽप्यायितबलस्तृतीयकान्तानां[5] सततकादिनामन्यततत्वं प्राप्नोत्युत्कर्षात्। एवं वर्षासमुत्पन्नः सन्ततः शरद प्राप्यापकृष्टबलः सततादीनामन्यतमत्वमेत्यपकर्षात्। एवं पित्तकफयोरप्युत्कर्षापकर्षावृतुकृतौ व्याख्येयौ। अहोरात्रशब्देन कतिपयान्यहोरात्राणि गृह्यन्ते, नह्येकस्मिन्नहोरात्रे सततादीनामुत्कर्षापकर्षाभ्यामन्यथाभाव उपपद्यते; किंतु कतिपयैरेव। यथा वर्षाशरद्वसन्तप्रारम्भे वातादयो ज्वर चतुर्थकमारभन्ते तदा मध्यानि कतिपयदिनान्यवाप्य स एव तृतीयकपूर्वत्वेन[6] विपरिणमते उत्कर्षात्; अपकर्षात्त यदाऽ[7]न्यानि दिनान्याप्नोति तदा सन्ततो (वातारब्धः प्रावृष[8]:,) पित्तारब्धः शरदो, वसन्तस्य च श्लेष्मारब्धः, प्रतनुकत्वाद्दोषस्य सततादीनामन्यतमत्वेन विपरिणमत इति। दोषबलाबलाद्यथा—यदा सततादीनामन्यतमकारी दोषः श्लेष्मा मधुरस्निग्धादीन् दिवास्वप्नादींश्च हेतूनाप्नोति-तदा सन्ततकादीन् करोति। एवं वातपित्तयोरप्यूह्यम्। मनोबलाबलाद्यथा—यदा

---

१. 'त्रयाणामाहुः' इति क। २. 'ससर्गः साम्यात्' इति क। ३. 'प्रपद्यते' इति क। ४. 'तृतीयकचतुर्थकादिरूपत्वम्' इति क ख ५. तृतीयकादीनामन्यतमन्यतमत्वम्' इति ख। ६. 'तृतीयकत्वेन' इति क। ७. 'अन्यानि' इति क ख। ८. अय पाठः क ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते।

सन्ततज्वरी सत्त्वगुणोद्रेकात् प्रहर्षावष्टम्भबहुलो भवति तदा सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति; यदा चतुर्थकज्वरी तमोगुणभूयिष्ठत्वाद्विषादादिभिरभिभूयते तदा तृतीयकादीनामन्यतमो भवति, 'विषादो रोगवर्धनानाम्' (च. सू. अ. २५) इत्यागमात् । अन्ये तु मनः शब्देन बुद्धिं व्याख्यानयन्तिः कारणे कार्योपचारात्। तस्याश्च बलाबलं यथा—यदा चतुर्थकज्वरी प्रज्ञापराधाद्देवादीनभिभूयाहितान्याचरति तदा तृतीयकपूर्वेषामन्यतमत्वमाप्नोति; यदा तु शुद्धसत्त्वोत्कर्षाद्विवेकिन्या बुद्ध्या युक्तः स्यात्तदा शुभानि देवताराधनेष्टिबल्युपहारादीन्याचरति तदा सन्ततज्वरी सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति ।. अथं दशा यथा—सन्ततज्वरिणोऽपि यदि चतुर्थकवेदनीयं कर्म स्यात्तदा सन्ततोऽपि चतुर्थकत्वेन विपरिणमते; अथ चतुर्थकज्वराविष्टस्य यदि तत्कालपरिपाकि कर्म बलीयो भवति तदा सन्ततत्वेन परिणमते। एतच्च कर्मवशत्वमृत्वहोरात्रदोषबलाबलेष्वपि बोद्धव्यं, तदनन्तरं तन्निर्देशादिति ॥ ४२-४७ ॥

विमर्शः—दोषों की स्थिति के अनुसार अर्धनारीश्वराकार या नृसिंहाकार किसी भी प्रकार से शरीर का आधा भाग उष्ण और आधा भाग शीतल रह सकता है। तात्पर्य यह कि यदि विदग्ध अन्न रस के कारण कफ और पित्त दोनों पृथक् पृथक् दुष्ट होने पर वामार्ध में प्रकुपित कफ और दक्षिणार्ध में प्रकुपित पित्त की स्थिति होती है तो शरीर के वामार्ध में शीतल और दक्षिणार्ध में उष्णता की प्रतीति आर्धनारीश्वर के समान होती है। इसी प्रकार यदि श्रोणिप्रदेश के उपरितन भाग में कफ और निम्न भाग में पित्त स्थित रहता है तो ऊपर के भाग में शीतलता ओर नीचे के भाग में उष्णता की प्रतीति होती है। यह प्रकार नृसिंहाकार कहलाता है। दोषों की स्थिति के अनुसार उष्णता और शीतलता की प्रतीति इनसे विपरीत क्रम से हो सकती है।

त्वक् शब्द से त्वचा तथा उसके आश्रित रस का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। चरक ने इस बाह्यमार्गगत ज्वर की शान्ति के लिए ही तैलाभ्यङ्ग आदि का निर्देश किया है—

तैराशु प्रशमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः ॥

'त्वक्स्थौ' आदि श्लोकों में प्रशान्त का अर्थ प्रशान्तवेग करना चाहिये; क्योंकि विषम ज्वर में दोष की पूर्ण शान्ति नहीं होती, वेग पुनः पुनः आया करते हैं। सुश्रुत ने कहा भी है—

स चापि विषमो देहं न कदाचिद् विमुञ्चति। ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते। वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते। धात्वन्तरस्थो लीनत्वात् सौक्ष्म्यान्नैवोपलभ्यते ॥

यद्यपि सम्प्राप्ति में शीत और दाहपूर्व इन दोनों ज्वरों को त्रिदोषज ही माना है अतः यहाँ पुनः संसर्गज कहना अनुपयुक्त है; क्योंकि संसर्ग दो का और सन्निपात तीन का होता है, तथापि यहां संसर्ग शब्द सामान्य सम्बन्ध का वाची है जो कि दो, तीन या इससे भी अधिक का हो सकता है। इस प्रकार कोई दोष नहीं आता। अथवा सौम्य दोष वात और कफ तथा आग्नेय दोष पित्त इन दोनों के मेल को भी संसर्ग कह सकते हैं। शीतपूर्व ज्वर में वात और कफ अनुबन्ध्य (प्रधान) तथा पित्त अनुन्ध रूप से रहता है। इसी प्रकार दाहपूर्व ज्वर में पित्त अनुबन्ध्य (प्रधान) और वात तथा कफ अनुबन्ध रूप से रहते हैं। अनुबन्ध की चिकित्सा विशेष रूप से करनी चाहिये इसका निर्देश करना ही उक्त कथन का प्रयोजन है।

दाहपूर्व ज्वर कष्टसाध्य और दुःखप्रद होता है, इससे शीतपूर्व ज्वर की सुखसाध्यता स्पष्ट हो जाती है। जेज्जट का कथन है कि उक्त विषमज्वरों का पाठ उपलक्षण मात्र है अतः अन्य शास्त्रोक्त रात्रि ज्वर आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। कहा भी है—

सम वातकफौ यस्य क्षीणपित्तस्य देहिनः। प्रायो रात्रौ ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य तु ॥

क्षीणपित्त तथा प्रवृद्ध वातकफ मनुष्य को रात्रि में और हीनकफ मनुष्य को दिन में ज्वर

आता है। सभी विषमज्वरों में वायु की सत्ता अवश्यम्भावी है, यह वृद्ध सुश्रुत के निम्न वाक्य से स्पष्ट है—

नर्तेऽनिलाद्धि विषमज्वरः समुपजायते। कफपित्ते हि निश्चेष्टे चेष्टयत्यनिलः सदा॥

विदेह ने भी कहा है कि वायु गतिवैषम्य के कारण विषम ज्वर को उत्पन्न करता है—

'पवनो गतिवैषम्याद्विषमज्वरकारणम्'

ज्वरों के रूप परिवर्तन एवं उनके कारण—

ऋतु आदि के बलाबल के अनुसार विषमज्वर के प्रकार विभिन्न रूपान्तरों को भी धारण कर लेते हैं। यथा सन्तत ज्वर, सततक आदि अथवा चतुर्थक, तृतीयकादि ज्वरों के रूपों को भी प्राप्त कर लेते हैं चरक ने कहा भी है—

ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात्। कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते॥

अर्थात् ऋतु आदि के बलाबल से ज्वर विभिन्न रूपान्तरों में परिवर्तित हो जाता है। यथा—ग्रीष्म ऋतु में उत्पन्न वातप्रधान चतुर्थक ज्वर वर्षा ऋतु को प्राप्त होकर अधिक बलवान् हो जाता है जिससे दोष प्राबल्य के अनुसार सततक अन्येद्युष्क या तृतीयक में से किसी भी रूप को धारण कर सकता है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में उत्पन्न वातप्रधान सन्तत ज्वर शरद् ऋतु में बलहीन होकर सततक आदि किसी रूप को धारण करता है। ऋतु के अनुसार पित्त और कफ का उत्कर्ष या अपकर्ष भी इसी प्रकार होता है। यथा-वर्षा ऋतु में उत्पन्न पित्तप्रधान चतुर्थक ज्वर शरद् ऋतु में अधिक बलवान् होने से तृतीयक आदि रूपों को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार शरद् ऋतु में उत्पन्न पित्तप्रधान सन्तत ज्वर हेमन्त में हीनबल होने से सततक आदि रूपों में परिवर्तित हो जाता है। शिशिर में उत्पन्न कफप्रधान चतुर्थक ज्वर वसन्त ऋतु में प्रवृद्धबल होने से तृतीयक आदि के रूप को और वसन्त में उत्पन्न सन्तत ज्वर ग्रीष्म ऋतु में स्वभावतः हीनबल होने से सततक आदि के रूप को धारण करता है। यह ऋतु के बलाबल का उदारण है।

अहोरात्र शब्द से कुछ अहोरात्र का ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि केवल एक अहोरात्र (२४ घण्टा) में सततक आदि ज्वरों में दोषों के उत्कर्ष और अपकर्ष से रूपान्तरता नहीं आती। जब वर्षा, शरद् और वसन्त ऋतु के प्रारम्भिक दिनों में वात आदि दोष तत्तद्दोषोल्वण चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करते हैं तो उन ऋतुओं के मध्य दिनों में दोषों के बलवान् होने से वह ज्वर तृतीयक आदि रूपों में परिवर्तित हो जाता है। इसके विपरीत वर्षा के प्रारम्भ में उत्पन्न वात-प्रधान सन्तत ज्वर वर्षा के अन्तिम दिनों में हीनबल होने से सततक आदि रूप धारण करता है। सन्तत ज्वर वर्षा के अन्तिम दिनों में हीनबल होने से सततक आदि रूप धारण करता है। शरद् में उत्पन्न पित्तप्रधान और वसन्त में उत्पन्न कफप्रधान सन्तत ज्वर ऋतु के अन्तिम दिनों में क्षीणबल होने से अन्य रूपों में परिवर्तित हो जाता है।

दोषबलाबल—सततक आदि में श्लेष्मा की उल्वणता रहे और उसमें श्लेष्मा के वर्धक मधुर स्निग्ध आहार और दिवास्वप्न आदि विहार किये जाँय तो प्रवृद्ध दोष ज्वर को सन्तत आदि किसी उत्कृष्ट बलवाले स्वरूप में परिवर्तित कर देता है। पित्त तथा वातोल्वण को तथा विपरीत क्रम को भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।

मन का बलाबल—यदि सन्तत ज्वर से पीड़ित रोगी में सत्वगुण की प्रबलता रहती है तो रोगी प्रसन्न और सहिष्णुना होता है, इससे वह रोग बढ़ नहीं पाता अपितु हीनबल होकर सततक आदि स्वरूपों को प्राप्त होता है। इसके विपरीत यदि तमोगुण-प्रधान रोगी चतुर्थक ज्वर से पीड़ित है तो विषाद के कारण उसका वह ज्वर तृतीयक आदि रूपों को धारण कर सकता है; चरक ने विषाद को अत्यन्त रोगवर्धक कहा है—**'विषादो रोगवर्धनाम्'**

बुद्धि का बलाबल—कुछ लोग कारण से कार्य की कल्पना कर मन शब्द से बुद्धि का ग्रहण करते है। यदि चतुर्थक ज्वर से पीड़ित रोगी प्रज्ञापराधवश वैद्य आदि के वचन की अवहेलना

कर अहित पदार्थों का सेवन करता है तो उसका ज्वर अन्य बलयुक्त ज्वरों में परिवर्तित हो जाता है। इसके विपरीत यदि वह विवेकपूर्ण बुद्धि से पथ्य-सेवन आदि कराता है तो उसका सन्तत ज्वर भी हीनबल से सततक आदि रूपों को प्राप्त हो जाता है।

अर्थ का बलाबल—अर्थ से यहाँ पूर्वजन्म का कर्म लेना चाहिए। यदि सन्तत ज्वर से पीड़ित रोगी का प्राक्तन कर्म चतुर्थक के अनुकूल है तो वह भी चतुर्थक में ही परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार सन्तत के अनुकूल कर्म होने से हीनबल चतुर्थक भी सन्तत में परिणत हो जाता है।

कर्म के बलाबल का सम्बन्ध ऋतु, अहोरात्र आदि के साथ भी कर सकता है, क्योंकि इसका निर्देश उन सबके पश्चात् किया गया है।

धात्वाश्रयभेदेन ज्वरभेदानाह—

गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ।
रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते॥ ४८॥

ज्वर जब रसधातु में स्थित रहता है तो सम्पूर्ण शरीर में भारीपन, हृदय में बेचैनी या (आमाशय के हृदयसमीपस्थ भाग (Cardiac end) में विकृति से बार-बार वमन की इच्छा, अवसाद, वमन, अरुचि तथा दीनता ये लक्षण होते हैं॥ ४८॥

रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहच्छदनविभ्रमौ।
प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम्॥ ४९॥

ज्वर के रक्ताश्रित होने पर रक्त का वमन, दाह, ज्ञानशून्यता, वमन, चित्त की व्याकुलता, प्रलाप, शरीर पर पिडकाओं का निकलना तथा प्यास की अधिकता ये लक्षण होते हैं॥ ४९॥

पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता।
ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे॥ ५०॥

पिण्डलियों में ऐंठन, प्यास, मलमूत्र की (क्षण-क्षण में अधिक या अनियन्त्रित) प्रवृत्ति, सन्ताप की अधिकता, आन्तरिक दाह, (सर्वाङ्ग की पेशियों के उद्वेष्टन के कारण) अङ्गों का इतस्ततः फेंकना तथा ग्लानि ये मांसगत ज्वर के लक्षण हैं॥ ५०॥

भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता॥ ५१॥

मेद धातु में स्थित ज्वर में पसीना अधिक आता है, प्यास अधिक लगती है, मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, शरीर में दुर्गन्धि, अरुचि, ग्लानि तथा चिड़चिड़ापन अथवा प्रकाश, शब्द आदि की असहिष्णुता ये लक्षण होते हैं॥ ५१॥

भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च।
विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे॥ ५२॥

अस्थिगत ज्वर में अस्थियों में भेदनवत् पीड़ा, (पीडाधिक्य के कारण) कराहना, श्वास की तीव्रता, विरेचन, वमन, अङ्गों का इतस्ततः फेंकना ये लक्षण होते हैं॥ ५२॥

तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे॥ ५३॥

मज्जास्थित ज्वर में आँखों के आगे अन्धेरा-सा छाया रहता है, हिचकी और खाँसी होती है,

शीत अधिक लगता है, वमन की प्रवृत्ति होती है, अन्तर्दाह, महाश्वास एवं मर्मस्थानों में छेदनवत् पीड़ा का अनुभव होता है ॥ ५३ ॥

मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे ।
शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥ ५४ ॥

(सु. उ. अ. ३९)

शुक्र और शुक्रस्थानगत ज्वर हो जाने पर शिश्न स्तब्ध हो जाता है, विशेषतः शुक्र निकलने लगता है और रोगी मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

(रसरक्ताश्रितः साध्यो मांसमेदोगतश्च यः ।
अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थस्तु न सिध्यति ॥ १ ॥)

(च. चि. अ. ३)

(रस, रक्त, मांस तथा मेद धातुगत ज्वर साध्य होता है। अस्थि और मज्जागत कृच्छ्रसाध्य तथा शुक्रगत ज्वर असाध्य होता है ॥ १ ॥)

उक्तवातादिज्वराणां धातुविशेषदूष्यतयाऽधिकलक्षणानि भवन्ति; यदुक्तं—'वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा। तथा तेषां भिषग्ब्रूयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान्' (सु. उ. अ. ३९) इति; एतदभिधानं च रसादिधात्वविरोधेन वातादिचिकित्साकरणार्थम्; अतस्तानाह—गुरुतेत्यादि। उदयोत्क्लेशः हृदयस्थितदोषस्योपस्थितवमनत्वमिव, रसस्य हृदयस्थत्वात्। रसस्थ इत्यनेन विशेषेणात्र रसो दूष्यः, सर्वेषामेव ज्वराणां रसानुगत्वात् दैन्यं क्लान्तचित्तत्वम्। पिण्डिकेत्यादि। पिण्डिका जान्वधो जङ्घामांसपिण्डः, तस्या उद्वेष्टनं दण्डादिना पीडनेनेव वेदना पिण्डिकोद्वेष्टनम्; एवमन्यत्रापि। सृष्टमूत्रपुरीषता प्रवर्तमानमूत्रपुरीषता[1]। ऊष्मा बहिः, एतच्च विशेषपरं, प्रायः सर्वज्वरेषु तथाभावात्। 'ऊष्माऽन्तर्मोह विक्षेपौ' इति पाठान्तरे ऊष्माऽन्तः अन्तर्दाह इत्यर्थः, विक्षेपो हस्तादिचालनम्। भृशं स्वेद इति घर्मस्य मेदोमलत्वात्; तद्विकृत्यैव दौर्गन्ध्यं गात्रे। असहिष्णुता वेदनाया असहत्वं, क्रोधनत्वमिति कार्तिकः। भेदोऽस्थ्नामिति भेद इव भेदः अङ्गवदीक्षितार्थः; 'परपदार्थेषु प्रयुज्यमानाः शब्दा वृत्ति (वृति)मन्तरेणापि वृत्त्य (वृत्य)र्थं गमयन्ति'[2] यथा—'अग्निर्माणवकः'। एवमन्यत्रापि भेदादौ द्रष्टव्यम्। कूजनं कुन्थनं; कुञ्चन[3]म्' इति पाठान्तरेऽस्थ्नामेव संकोच इत्यर्थः। तमःप्रवेशनम् अन्धकारप्रविष्टस्येवासवित्तिः। महाश्वासः श्वासाधिकारे वक्ष्यमाणलक्षणः। मर्मशब्देन हृदयमुच्यते, प्राधान्यादिति कार्तिकः; तस्य छेद इव मर्मच्छेदः। मरणमित्यादि शुक्रगतस्य। तत्रैतेषु रसादिधातुगतज्वरेषु मध्ये शुक्रस्थानगते मरणं प्राप्नुयादिति योज्यम्। शुक्रं च तत्स्थानं चेति शुक्रस्थानं; (न तु शुक्रस्य स्थानं शुक्रस्थानं[4]), शुक्रस्य सर्वदेहगत्वेन नियतस्थानासम्भवादिति कार्तिकः। यदुक्तं,—'यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे[5] यथा। शरीरेषु तथा नृणां शुक्रं विद्याद्भिषग्वरः'–(सु. शा. अ. ४ इति।) विशेषत इति पदेन शुक्रस्य बाहुल्येन विसर्गं, अन्यस्यापि रक्तादेरिति वदन्ति ॥४८–५४॥

विमर्शः—पूर्व वर्णित वातिक आदि ज्वर या उनके उत्पादक दोष ही जब रस आदि धातुओं में आश्रित होते हैं तो कुछ विशेष लक्षण मिलते हैं। सुश्रुत ने भी कहा है—

वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा। यथा तेषां भिषग्ब्रूयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान् ॥

१. अस्याग्रे 'रोगप्रभावात्' इत्यधिकमातङ्कदर्पणे। २. अयं पाठः ख पुस्तके नोपलभ्यते। ३. 'अस्फुटध्वनिः' इति पा०। ४. अयं पाठः क ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते। ५. 'गुणश्चेक्षौ रसो'

दोषों के अनुसार ज्वरों में जो लक्षण होते हैं वहाँ रस, रक्त आदि धातुओं के आश्रित होने पर भी होते हैं (साथ में रसादिगत ज्वरों के वर्णित लक्षण भी अधिक होते हैं)। जिस प्रकार विभिन्न लक्षणों से वात आदि का ज्ञान किया जाता है वैसे ही वातादि का ज्ञान होने पर उक्त विशिष्ट लक्षणों से रसाश्रित या रक्ताश्रित आदि ज्वरों का ज्ञान भी कर लेना चाहिए। धात्वाश्रयता के ज्ञान से साध्यासाध्यता तथा चिकित्साविशेष के ज्ञान का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। एव चिकित्सा में भी विशेषता होती है।

यद्यपि सभी ज्वर रसाश्रित होते है **'ज्वरदाः स्युः रसानुगाः'** तथापि यहाँ रस की विशेषदूष्यता बताने के लिये पुनः इसका कथन किया गया है। विभिन्न धातुगत ज्वरों के लक्षण जहाँ सम्पूर्ण या अधिक रूप में विद्यमान रहेंगे वहीं तत्तद् धातुगत ज्वर का अनुमान करना चाहिए, केवल किसी एक लक्षण से नहीं।

रसस्थ विषमज्वर सन्तत स्वरूप का होता है अतः सन्तत ज्वर में रस के अनुकूल भी चिकित्सा करनी चाहिए। रक्तगत ज्वर सन्तत स्वरूप का तथा मासगत विषमज्वर अन्येद्युष्क प्रकार का होता है। मेदोगत तृतीयक और अस्थिमज्जागत होने पर चतुर्थक ज्वर होता है। ज्वर की ऊष्मा से मेद धातु के पाक के कारण मेदोगत ज्वर में पसीना अधिक आता है क्योंकि **'मलः स्वेदस्तु मेदस.'** स्वेद मेद का मल है। इस प्रकार प्रलेपक आदि जिन ज्वरों में मेद का क्षय अधिक होता है उन सब में स्वेद की बहुलता होती है। अस्थि-मज्जागत ज्वर के लक्षण चतुर्थक तथा यक्ष्मा की विशेष अवस्थाओं में मिलते हैं। वृषण (Lestes), पौरुषग्रन्थि (Prostate) आदि अङ्ग शुक्रस्थान कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म शुक्र भी होता है जिसका स्थान सम्पूर्ण शरीर है। शह शरीर में पौरुष चिह्नों का प्रकट करता है। इस प्रकार सर्वशरीर विशेषतः वृषण आदि अङ्ग शुक्र के स्थान हैं। चरक ने भी कहा है-**'शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणौ मूलं शेफश्च'** (च. वि. अ.५) तथा **'यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा। शरीरेषु तथा नृणां शुक्रं विद्याद्भिषग्वरः'**। इसीलिए **'शुक्रं च तत्स्थानं च शुक्रस्थानम्'** ऐसा पदच्छेद मूल श्लोक में करना ठीक है, न कि **'शुक्रस्य स्थानम्'**। 'विशेषतः' शब्द से स्पष्ट है कि शुक्र का मोक्ष अधिक मात्रा में होता है तथा रक्तादि का भी निर्हरण होता है। शुक्र ही सम्पूर्ण शरीर का पोषक है, इस प्रकार शुक्र या शुक्र-स्थान में ज्वरकारक दोष होने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है। सुषुम्ना काण्ड के अभिघात तथा अलर्कविष की अन्तिमावस्था में शुक्रगत ज्वर के लक्षण सुस्पष्ट उपलब्ध होते हैं।

वातादिज्वराणां कालानुसारं प्राकृतत्वं वैकृतत्वं चाह—

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात्।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ॥ ५५ ॥

(वा. नि. अ. २)

वर्षा, शरद और वसन्त में क्रमशः वातिक, पैत्तिक तथा कफज ज्वर होने पर इन्हें प्राकृत ज्वर कहते हैं। इस क्रम से विपरीत होने पर वैकृत ज्वर कहे जाते हैं। वैकृतज्वर तथा प्राकृत वातिक ज्वर कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥ ५५ ॥

(उक्तवातादिज्वराणां कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्राकृतत्वं वैकृतत्वं चाह-)वर्षेत्यादि। वर्षादिषु वाताद्यैः क्रमाद्यो ज्वरः स प्राकृतः; वर्षासु वातिकः, शरदि पैत्तिकः, वसन्ते श्लैष्मिकः। अस्मादन्यो वैकृतः, यथा–वर्षासु पैत्तिक इत्यादि। स इति वैकृतो दुःसाध्यः, अर्थात् प्राकृतः सुखसाध्य इति। यदुक्तं,–'प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः (च. चि. अ. ३)'– **इति। अत्र वाग्भटेन वातजस्य प्राकृतत्वप्रणयनं यत् कृतं तदन्ये नानुमन्यन्ते, दुःसाध्यत्वेन**

वैकृतादभिन्नत्वात्। जतूकर्णेनाप्यसौ न पठितः। यदाह—'वसन्तशरदोः प्राकृतोऽन्यत्र वैकृतः'—इति। अत्रोच्यते—न प्राकृतत्वं सुखसाध्यत्वख्यापनपरा संज्ञा, किन्तु कुम्भकारादिवद्यौगिकत्वं; यतो यथर्तुप्रकुपितो दोषः प्रकृतिरुच्यते, तत उद्भूतः[1] प्राकृतः, तेन प्राकृतत्वेऽपि दोषस्वभावाद्वातिकस्य दुःखसाध्यत्वं वैकृतवदिति दुःखसाध्यत्वेन वैकृतसाधर्म्याच्चरकजतूकर्णाभ्यां नोक्तः, न तु प्राकृतत्वाभावादित्यभिप्रायो वाग्भटस्येति। अन्यरोगेषु प्राकृतत्वेन दुःसाध्यत्वं, ज्वरस्य तु व्याधिप्रभावात् सुखसाध्यत्वम्। तन्त्रान्तरं हि—'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्'—इति ॥५५॥

विमर्शः—दोषविरुद्ध तथा ऋतुविरुद्ध उपचारों के समान होने से प्राकृत ज्वर सुखसाध्य होता है। प्राकृतः 'सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः' (चरक)। वातजन्य प्राकृतज्वर भी प्रायः कृच्छ्रसाध्य होता है प्रयेणानिलजो दुःखः' चरकः। इसमें स्वाभाविक वातप्रकोप के अतिरिक्त अन्य दोषों का प्रकोप भी रहता है। इसके अतिरिक्त वातज्वर में जाठराग्निदौर्बल्य तथा लङ्घन सहन करने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। कहा भी है।

आदानदुर्बले देहे पक्ता भवति दुर्बलः। स वर्षास्वनिलादीनां दूषणैर्बाध्यते पुनः ॥

इसकी उत्पत्ति में चरक ने कहा है—

भूबाष्पान्मेघनिःष्यन्दात् पाकादम्लाजलस्य च। वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः॥

इस प्रकार वातिकज्वर में अन्य दो दोष भी प्रायः प्रकुपित रहते हैं अतः उसे कृच्छ्रसाध्य माना गया है। पैत्तिक और कफज प्राकृत ज्वर एकदोषज तथा लङ्घन सहन करने की शक्ति से युक्त होने के कारण साध्य होते हैं, कहा भी है—'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लंघनं महत्'।

कतिपय आचार्यों का कथन है कि वाग्भट ने जो वातिक ज्वर को भी प्राकृत कहा है वह ठीक नहीं, क्योंकि वह भी दुःसाध्य होने से वैकृत के समान ही होता है। जतूकर्ण ने भी इसका पाठ इसी अभिप्राय से नहीं किया—'वसन्तशरदोः प्राकृतोऽन्यत्र वैकृतः'। वस्तुतः प्राकृत शब्द सुखसाध्य का वाचक नहीं है अपितु कुम्भकार के समान यौगिक संज्ञामात्र है। ऋतु के अनुसार दोषप्रकोप प्रकृति कहलाती है और उससे होनेवाला ज्वर प्राकृत कहलाता है। इस प्रकार वातिक ज्वर प्राकृत होते हुए भी दोषस्वभाव से अन्य वैकृत ज्वरों के समान कृच्छ्रसाध्य होता है, इसी आशय से चरक तथा जतूकर्ण ने वातिक का पाठ प्राकृत में नहीं किया प्राकृतत्व का अभाव होने से नहीं।

इसके अयिरिक्त अन्य रोगों में प्राकृत होना असाध्यता का निदर्शक है किन्तु व्याधिप्रभाव से ज्वर इसका अपवाद है। तन्त्रान्तर में कहा भी है—

ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता। रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥

ज्वर में ऋतु और दोष की तुल्यता सुखसाध्यता की निदर्शक होती है।

दोषाणां प्राकृतज्वरकर्तृत्वं निरूपयति—

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम्।
कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः ॥ ५६ ॥
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम्।
कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेदनु ॥ ५७ ॥

(वा. नि. अ. २)

१. 'तथाभूतः' इति क ख।

वर्षा ऋतु में प्रकुपित वायु पित्त और कफ के अनुबन्ध से युक्त होकर ज्वर को उत्पन्न करता है और शरद में प्रकुपित पित्त जिस ज्वर को उत्पन्न करता है उसमें कफ का भी अनुबन्ध रहता है। पित्त और कफ की प्रकृति (द्रव धातु) तथा विसर्गकाल के होने से पित्त और कफ के अनुबन्ध से युक्त वर्षाकालीन वातिकज्वर और कफानुबन्धी शरत्कालीन पित्तज्वर में अनशन करने में कोई भय नहीं रहता। प्रकुपित कफ वसन्त ऋतु में जिस ज्वर को उत्पन्न करता है उसमें भी प्रायः वात तथा पित्त का अनुबन्ध रहता है ॥ ५६-५७ ॥

तेषामेव प्राकृतज्वराणां चिकित्साविशेषार्थमुत्पत्तिक्रममाह—वर्षास्वित्यादि। दुष्ट इति कुपितः, ग्रीष्मे सञ्चितत्वात्। पित्तश्लेष्मान्वित इति तत्कालोचितकफानुबन्धः। यदुक्तं— 'भूबाष्पान्मेघनिष्यन्दात् पाकादम्लाज्जलस्य च। वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः'— (च. सू. अ. ६) इति। कुर्यादिति छेदः। पित्तमित्यादि। पित्तं च शरदि दुष्टं ज्वरं कुर्यादिति पूर्वोक्तेन सम्बध्यते, एवं कफी वसन्ते इत्यत्रापि योज्यम्। पित्तदुष्टिश्च शरदि वर्षासु संचितत्वात्। अनुबलोऽनुबन्ध, तस्य च हेतुर्वार्षिकक्लेदानुवृत्तिरेव। तत्प्रकृत्येत्यादि। तयोः पित्तश्लेष्मणोः प्रकृत्या स्वभावेन, तत्कृतयोर्ज्वरयोरनशनाल्लङ्घनान्न भयं भवति। यदुक्तं— 'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत्। आमक्षयादूर्ध्वमतो[1] वायुर्न सहते क्षणम्' इति। विसर्गाच्च हेतोर्नानशनाद्भयम्। वर्षाशरद्धेमन्ता विसर्गः, तत्रोपचितबलाः प्राणिनो भवन्ति, सोमस्य बलवत्वात्; शिशिरवसन्तग्रीष्मास्त्वादानं, तत्रोपचितबलाः प्राणिनः, सूर्यस्य बलवत्त्वादिति व्युत्पादितं शास्त्रे। 'तत्प्रकृत्या विसर्गस्य' इति पाठान्तरे तत्प्रकृत्या कफपित्तप्रकृत्या, विसर्गस्य च प्रकृत्येति योज्यम्। कफ इत्यादि। तं कफमनु वातपित्ते भवतः, अनुबन्धरूपे भवत इत्यर्थः। हेतुश्चात्रवसन्तस्यादानमध्यत्वेनाग्नेयरूक्षत्वेन वातपित्तप्रकोपकत्वम्। यदुक्तं चरके 'आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेद्गुरु' (च. चि. अ. ३) इति। अत्र कफपित्तप्रकृत्या लङ्घनं युक्तमेव, किन्त्वादानमध्यत्वेन न निर्भयं तत् कार्यम्। अत एव 'तत्र नानशनाद्भयम्' इत्येतस्मात् पूर्वमेव पठितम्, अन्यथा सर्वशेषे पठितं स्यादिति ॥५६-५७॥

विमर्शः—वर्षाऋतु में रहने वाले ज्वर में क्रमस जलवृष्टि और जलादि के अम्लपाक के कारण वायु के साथ पित्त और कफ का भी अनुबन्ध रहता है; उसी प्रकार शरद् ऋतु के पित्त ज्वर में वर्षाकालीन क्लेद के अनुबन्ध के कारण कफ का अनुबन्ध रहता है तथा शरद में शीत भी (विशेषतः रात्रि में) प्रारम्भ हो जाता है, वह भी कफ को उत्पन्न करता है। इसीलिए वर्षाकालिन वातिकज्वर और शरत्कालीन पित्तज्वर में क्रमशः कफ-पित्त और कफ का अनुबन्ध होने से आमदोष के पाचन के लिए अनशन सरलता से किया जा सकता है; क्योंकि पित्त और कफ द्रव धातु है। कहा है—

कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लंघनं महत्। आमक्षयादूर्ध्वमतो वायुर्न सहते क्षणम् ॥

इसके अतिरिक्त वर्षा और शरद् के विसर्गकाल का अंश होने से भी अनशन करने में कोई भय नहीं रहता। विसर्ग तथा आदानकाल के भेद से वर्षा दो भागों में विभक्त रहता है। वर्षा, शरद् और हेमन्त ये तीन ऋतु विकर्गकाल हैं। इसमें सोम के स्वभावतः बलवान् होने से प्राणियों का बल भी बढ़ता है। स्वाभाविक बल की वृद्धि से रोग तथा उसमें प्रयुक्त अनशन जैसी क्रियाओं को सहन करने की शक्ति भी शरीर में अधिक होती है। शिशिर, वसन्त तथा ग्रीष्म आदानकाल हैं। इनमें सूर्य का बल बढ़ने से प्राणियों के शरीर तथा उनके बल का स्वभावतः ह्रास होता है। चूंकि वसन्त आदानकाल का मध्य है अतः आग्नेय गुण और रूक्ष गुण के कारण

१. 'मपि' इति पा०।

वसन्त में होनेवाले कफज्वर के साथ पित्त और वायु का अनुबन्ध रहता है। चरक ने कहा भी है—'**आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु**'। यहाँ भी कफ और पित्त की सत्ता के कारण लंघन कराया जा सकता है किन्तु आदान का मध्य होने से वह शारदीय पित्तज्वर के समान अनपायी नहीं होता। इसी आशय से वाग्भट ने '**तत्र नानशनाद् भयम्**' इस वाक्य को वसन्त में होने वाले कफज्वर के वर्णन के पूर्व ही रखा है। तात्पर्य यह है कि वातिक ज्वर में लंघन निषिद्ध होने पर भी वर्षाकालीन वातिकज्वर में लंघन करा सकते हैं और शरद्कालीन पैत्तिक ज्वर में निर्भीक होकर लघन करा सकते हैं किन्तु वसन्त ऋतु के कफज्वर में सामान्यतः कफज्वरोक्त लघन का अधिक प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

ज्वरस्य प्रवृत्तिं वृद्धिञ्चाह—

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा ॥ (वा. नि अ. २)

दोषप्रकोपक (स्वाभाविक) काल के अनुसार सभी ज्वरों की प्रवृत्ति या वृद्धि होती है।

कालोऽपि दोषविशेषस्य लक्षणमित्याह–काल इत्यादि। यथास्वं काले यस्य वातादेर्यः प्रकोपकालस्तत्र तज्जन्यज्वरस्य प्रवृत्तिरुत्पादो वृद्धिर्वा भवति; अथवा प्रवृत्तिर्नित्यज्वरस्य, वृद्धिर्विषमज्वरस्येति ॥

विमर्शः—तात्पर्य यह है कि वात आदि के जो प्रकोपक काल शास्त्र में वर्णित हैं उन्हीं कालों में वातादि जनित ज्वरों का प्रकोप भी होता है। यथा—वात के प्रकोपक वर्षाऋतु, अन्नपरिपाक-काल तथा अपराह्ण के समय में वातज्वर की प्रवृत्ति या वृद्धि होती है। इसी प्रकार शरद्, ग्रीष्म, मध्याह्न तथा अर्धरात्रि के समय पित्तज्वर और शिशिर, वसन्त तथा प्रातःकाल कफज्वर की प्रवृत्ति या वृद्धि होती है। इससे प्रवृत्ति और वृद्धि काल के द्वारा ज्वर के आरम्भिक दोष का भी अनुमान हो सकता है।

कालवदुपशयानुपशययोरपि दोषविशेषस्य लक्षणत्वं प्राह—

निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशायिता ॥ ५८ ॥ (वा. नि. अ. २)

(आशङ्कित दोषों के) निदानोक्त (औषध अन्न और विहार) के सेवन से अनुपशय (अहित) और विपरीत पदार्थों के सेवन से उपशय या लाभ देखकर विशिष्ट दोष की कल्पना करनी चाहिए।

(यथा कालो दोषविशेषस्य लक्षणं) तथोपशयानुपशयावपि लक्षणमित्याह–निदानेत्यादि। निदानत्वेन ये उक्ता आहाराचारादयस्तैरनुपशयो दुःखं निदानोक्तानुपशयः। विपरीतै[1]र्दोषादिविपरीताहाराचारैरुपशायिता सुखजननशीलत्वं विपरीतोपशायितेति ॥ ५८ ॥

विमर्शः—तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार विशिष्ट काल में ज्वर या अन्य रोग की प्रवृत्ति या वृद्धि को देखकर उसकी वातादिजन्यता का अनुमान कर लिया जाता है वैसे ही अनुपशयरूप कुछ विशिष्ट आहार–विहारों के सेवन से ज्वर की प्रवृत्ति एवं वृद्धि तथा कुछ विपरीत या उपशयरूप पदार्थों के सेवन से उसकी शान्ति को देखकर भी वातादिजन्यता का अनुमान कर लेना सरल है। यथा रूक्ष, लघु, शीत आदि पदार्थों से प्रकुपित हुआ वायु वातज्वर को उत्पन्न करता है। यदि ऐसे रोगी को पुनः इसी प्रकार के पदार्थ सेवन कराये जायें तो रोग की वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि स्निग्ध और उष्ण पदार्थ प्रयोग में लाये जायें तो ज्वर शान्त हो जायगा। इसी प्रकार सर्वत्र उपशय तथा अनुपशय भी व्याधिज्ञापक लक्षण माने जाते हैं। ॥५८॥

१. 'दोषाहाराचाराद्यैः' इति पा०।

उक्तज्वराणां सम्प्राप्तिवैशेष्यादन्तर्वेगत्वं बहिर्वेगत्वं च प्रतिपादयति—

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ॥ ५९ ॥
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।
सन्तापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् ॥ ६० ॥
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च । (च. चि .अ. ३)

आन्तरिक दाह की अधिकता, अत्यधिक प्यास, प्रलाप, तीव्र श्वास, भ्रम, सन्धि तथा अस्थियों में तीव्र शूल, स्वेदप्रवृति का सर्वथा अभाव तथा दोष और मल का अवरोध ये अन्तर्वेग ज्वर के प्रधान लक्षण हैं। त्वचा पर बाह्य ताप की अत्यधिक प्रतीति होना तथा तृष्णा, प्रलाप व श्वास जैसे अन्तर्वेग ज्वर के लक्षणों की मृदुता वे बहिर्वेग ज्वर के लक्षण हैं। यह सुखासाध्य होता है ॥ ५९–६० ॥

उक्तज्वराणां मध्ये संप्राप्तिवशात् कश्चिदन्तर्वेगो भवति कश्चिद्बहिर्वेगस्तयोर्लक्षणमाह— अन्तर्दाह इत्यादि। श्वसनं श्वासः, 'सदनम्' इति पाठान्तरं, तन्न युक्तमिति जेज्जटः; यतोऽन्तर्वेग एवं सुश्रुते गम्भीराख्यया पठितः, तत्र च श्वास एव पठित इति। विनिग्रहोऽप्रवृत्तिः। सन्ताप इत्यादि। तृष्णादीनामित्यादिशब्देनोक्तप्रलापादीनां ग्रहणम्। मार्दवं स्वल्पत्वम्। अत्र सुखसाध्यत्वाभिधानेनान्तर्वेगस्य कृच्छ्रसाध्यतां सूचयति, असाध्यतां वा, 'गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत्' (सु.उ अ.३९) इति सुश्रुतवचनादिति ॥५९-६०॥

विमर्शः—तुल्य लक्षण होने के कारण इसे गम्भीर ज्वर भी कह सकते हैं। सुश्रुत ने कहा है—
गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया। आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकाशोद्गमेन च ॥
दोष और मल का अवरोध ही आनद्धता कहलाता है। गम्भीर धातुओं में प्रविष्ट होने के कारण इसे गम्भीर कहते हैं। इस प्रकार चरक ने जिसे अन्तर्वेग कहा है सुश्रुत उसको ही गम्भीर कहते हैं। बहिर्वेग ज्वर के लिये सुखसाध्य विशेषण से स्पष्ट है कि अन्तर्वेग ज्वर दुःसाध्य या असाध्य होता है। सुश्रुत ने कहा भी है—**गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत्।**

चिकित्सासौकर्यार्थमामपच्यमाननिरामज्वरलक्षणमाह—

लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचकाः ॥ ६१ ॥
तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता ।
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवाञ्ज्वरः ॥ ६२ ॥
आमज्वरस्य लिङ्गानि, न दद्यात्तत्र भेषजम् ।
भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥ ६३ ॥
[शोधनं, शमनीयं च करोति विषमज्वरम्[१]]

मुख से लालस्राव की अधिक प्रवृत्ति, वमन की इच्छा, आमाशय के हृदयसमीपस्थ भाग में पूर्णता की अनुभूति, अन्न के प्रति अरुचि, तन्द्रा, आलस्य, अजीर्ण, मुखवैरस्य, शरीर का भारीपन, क्षुधानाश या छींक का पूर्णतया रुक जाना, पुनः पुनः मूत्रत्याग होना, स्तब्धता (वायु के प्रतिलोम

१. आतङ्कदर्पणसम्मतोऽयं पाठः।

होने से आन्त्र में परिपूर्णतया या शरीर में व्याप्त आम दोष के कारण जकड़ाहट) तथा ज्वर की तीव्रता ये आमज्वर के लक्षण हैं। इस अवस्था में औषध न देनी चाहिये; क्योंकि सेवन की गई औषध ज्वर को और भी अधिक तीव्र कर देती है एवं शोधन या शमन करने वाली औषधियों का प्रयोग कराया जाय तो ज्वर विषमज्वर का रूप धारण कर लेता है ॥ ६१-६३ ॥

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ६४ ॥

ज्वर के वेग का अधिक तीव्र होना, प्यास की प्रबलता, प्रलाप, तीव्र श्वास, भ्रम, मल, मूत्र, स्वेद, कफ तथा नासादिमल की सम्यक् प्रवृत्ति एवं वमन करने की इच्छा ये पच्यमान ज्वर के लक्षण हैं ॥ ६४ ॥

क्षुत् क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो[1] निरामज्वरलक्षणम् ॥ ६५ ॥

(च. चि. अ. ३)

क्षुधा की प्रवृत्ति, कृशता, शिर आदि अङ्गों में हल्कापन, मल, मूत्र, अपान वायु आदि की सम्यक् प्रवृत्ति तथा आठवाँ दिन ये निरामज्वर के लक्षण हैं ॥ ६५ ॥

चिकित्साविशेषार्थमामपच्यमाननिरामलक्षणान्याह—लालेत्यादि । ननु, 'न दद्यात्तत्र भेषजमि'ति विरुद्धं, द्विविधं हि भेषजमुक्तं चरकेण द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं चेति; तत्र द्रव्यभूतं कषायादि, अद्रव्यभूतं लङ्घनस्वेदादि, अत्र लङ्घनादिकं षडङ्गार्धशृतं च प्रयुज्यते । उच्यते भेषजशब्देनात्रान्नपानसाधनव्यतिरिक्ता कल्पनोच्यते, न तु सामान्येनौषधमात्रं, कथमेष प्रतीतिरिति चेत्; तरुणज्वरे भेषजपाननिषेधेऽपि भेषजविधानदर्शनात् । एवं पच्यमानेऽपि बोद्धव्यं, तत्रापि सामतायाः सद्भावात् । क्षुदित्यादि । असमासकरणात् क्षुदादयो व्यस्तसमस्ता अष्टाहश्च पक्वलक्षणमिति[2] जेज्जटः । हरिचन्द्रस्त्वाह असत्यप्यष्टाहे क्षुदादिभिर्निरामत्वं दोषप्रवृत्त्या वा क्षुदाद्यभावेऽप्यष्टाहेनैव शिष्यहितैषितया कालं लक्षणं च निर्दिष्टवानिति । द्विविधा हि सामता-एका रसस्य, अपरा दोषस्य; रससामता तु मुखवैरस्यादिलक्षणा, दोषसामता तरुणस्वरूपा, साऽष्टाहेनैवापैति । अत्र च हरिचन्द्रेण हेतुरुक्तः—('सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः । निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि' इति[3]) सप्तानां धातूनां धात्वग्निना सप्ताहेनामपाकादष्टाहेनैव निरामत्वमिति । रससामता त्वष्टाहात् परतोऽप्यनुवर्तते । एनमर्थं जेज्जटोऽपीच्छति, यदेवं लिखति चरकसुश्रुतटीकायां 'तरुणा सामताऽष्टाहादपैति, रससामता तु परतोऽप्यनुवर्तते' इति । एतत्प्रयोजनं च तरुणसामतायामौषधं नोपयुज्यते, रससामतायां तु पाचनं दीयते । अत एवाह चरकः-'ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् । पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम्' (च. चि. अ. ३) इति । तथा, 'मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च । पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम्' (सु. उ. अ. ३९) इत्यभिधायापि यत् सुश्रुतेनोक्तं 'सप्तरात्रात् परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम् । दशरात्रात् परं केचिद्दातव्यमिति निश्चिताः' (सु. उ. अ. ३९) इति; तेनैवं ज्ञापयति—सप्ताहादर्वाक् पाचनमपि न दीयत इति कार्तिककुण्डेनापि व्याख्यातमिति । ननु, 'ज्वरितं षडहेऽतीते' (च. चि. अ ३) इति चरकवचनस्य 'सप्तरात्रात् परं' (सु. उ. अ. ३९) इत्यादिना

१ 'दोषप्रवृत्तिरुत्साह' इत्यातङ्कदर्पणसम्मत पाठः ।
२. 'लक्षणमिति' इति क ख । ३. अयं पाठः क ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते ।

सुश्रुतवचनेन विरोधः, यतः षडहेऽतीते सप्तमदिनं भवति, तत्र कषायं विधत्त इति। उच्यते—षडहेऽतीते सप्तमे लध्वन्नप्रतिभोजितमष्टमे कषायं[1] पाययेदित्यष्टमपदलोपाद्योऽयं रसौदनवदिति चक्रः 'भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्' (च. चि. अ. ३) इति दोषश्रुतेरुक्तसुश्रुतविरोधाच्च। प्रकारान्तरेणैनमर्थं कार्तिककुण्डोऽप्याह, तद्यथा—षडहेऽतीते इति ज्वरोत्पाददिनं परित्यज्य गणनात्, बस्तिदानदिनपरिहारेण[2] परिहारकालगणनावत्। एवं 'पाययेदातुरं साममौषधं सप्तमे दिने। शमनेनाथवा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत्' इत्येतदपि वचनं व्याख्येयम्। भट्टारहरिचन्द्रेणापि सप्तमदिने कषायपानं यद् व्याख्यातं तस्याय-मेवाभिप्रायो गवेषणीयः, सुश्रुतादिविरोधात्। चन्द्रिकाकारेणापि व्याख्यातम्, 'अचिररोगे दिनचतुष्टयवज्ज्वरस्य सप्ताहं सामताकालः, तत्र न पाचनं न वा शमनशोधने' इति। यत्तु पेयाद्यनन्तरं हारीतेनोक्तम् 'एतां क्रियां प्रयुञ्जीत षड्रात्रे सप्तमेऽहनि। पिबेत् कषायसंयोगा-ञ्ज्वरघ्नान् साधुसाधितान्' इति, तथा 'इति षड्रात्रिकः प्रोक्तो नवज्वरहितो विधिः। अतः परं पाचनीयं शमनं वा ज्वरे हितम्' इति खरनादवचनं च पूर्ववदष्टाहप्रतिपादकं द्रष्टव्यम्। अथवा पित्तज्वराभिप्रायेणैतद्वचनद्वयम्। यदाह सुश्रुत:-'सप्तरात्रात्परम्' इत्यारभ्य, यावत् 'पैत्तिके वा ज्वरेदेयमल्पकालसमुत्थिते। अचिरज्वरितस्यापि भेषजं[3] दोषपाकतः' (सु. उ. अ. ३९) इति। [4]सप्ताहादर्वागपि यदंतरपाचनकषायपानमुक्तं तन्नात्युद्भूतसामतायां द्रष्टव्यम्। यदाह वाग्भटः 'सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः। केचिल्लध्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्बणेन तु॥ तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदये यतः। दोषेऽथवाऽतिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यकारिणि॥ अप-च्यमानं भेषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम्' (वा. चि. अ. १) इति। 'अयमर्थोऽभियुक्तैश्च कैश्चि-दुक्तश्चिकित्सकैः। सप्ताहात् परतोऽस्तब्धे सामे स्यात् पाचनं ज्वरे॥ निरामे शमनं, स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत्' इति संक्षेपः। विस्तरस्तु कषायनिर्णयप्रकरणे द्रष्टव्यः। पक्वज्वरलक्षणेन जीर्णज्वरलक्षणमपि चिकित्सोचितं बोद्धव्यम्। यदुक्तं तन्त्रान्तरे 'आसप्तरात्रम्' इत्यादि। जतूकर्णेनाप्युक्तं,—जीर्णस्त्रयोदशदिवसः' इति। 'त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुतां गतः। प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते' इति तु तन्त्रान्तरमतिपुराणाभिप्रायेण[5] द्रष्टव्यम्॥

विमर्शः—पाचकाग्नि की दुर्बलता से अपरिपक्व आमाशयस्थित दूषित आदि धातु रस को ही आम कहते हैं—**ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥**

यह अपरिपक्व तथा दुष्ट रसधातु रक्त के साथ मिलकर सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता हुआ जिस ज्वर को उत्पन्न करता है उसे आमज्वर कहते हैं। आमाशय में पिच्छिल श्लेष्मा की उपस्थिति के कारण वमन करने की इच्छा बनी रहती है।

न दद्यात्तत्र भेषजम्—द्रव्यभूत तथा अद्रव्यभूत भेद से भेषज दो प्रकार का होता है। द्रव्यभूत मे कषाय आदि तथा अद्रव्यभूत से लंघन तथा स्वेदन आदि का ग्रहण होता है। प्रकृत मे भेषज मे द्रव्यभूत औषध का ही निषेध समझना चाहिये। द्रव्यभूत औषध में भी मुख्यतया कषायपान का ही निषेध है; क्योंकि वह मात्रा में अधिक होने के कारण गुरु एवं दुर्जर होता है एवं इससे आम की अधिक वृद्धि होती है और ज्वर बढ जाता है। षडङ्गपानीय आदि लघु

---

१. 'पदलोपात्' इति क ख। २. 'बस्तिकालपरिहारेण कालगणनावत्' इति क। 'बस्तिकाल-परिमाणेन परिहारकालगणनावत्' इति ख। 'यथा सुश्रुतोक्तत्र्यहपरिहारकाल एव बस्तिदानदिनं त्यक्त्वा चरकेण द्विगुणः परिहारकाल उक्त' इति वृन्दटीकायां श्रीकण्ठदत्तः। ३. 'दोषपाचनम्' क ख। ४. 'सप्ताहात् परतोऽपि' इति क ख। ५. 'तन्त्रान्तरवचनं पुराणाभिप्रायेण' इति क।

भेषज तथा स्वल्प मात्रा में प्रयुक्त रसौषधियों के पाचन में कोई कठिनाई नहीं होती अतः वे कोई हानि भी नहीं करती प्रत्युत लाभ ही होता है।

क्षुत् आदि तथा अष्टाह पृथक् पृथक् एवं सम्मिलित रूप में भी ज्वरोत्पादक दोष की पक्वावस्था के द्योतक होते हैं। तात्पर्य यह कि आठ दिन से पूर्व भी यदि क्षुत्क्षामता आदि या दोषप्रवृत्ति के लक्षण होते है तब भी उसे निराम समझना चाहिये; क्योंकि दोष की अल्पता, लंघन तथा रसौषधि के सेवन से ज्वर आठ दिन से पूर्व भी निराम हो जाता है। हरिचन्द्र ने भी—

सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः। निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ॥

प्रायः शब्द द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि कदाचित् आठ दिन के पूर्व भी ज्वर निराम हो सकता है। इसी प्रकार क्षुत्क्षामता तथा दोषप्रवृत्ति (अपानवायु आदि का निस्सरण) न होने पर भी आठ दिन का काल व्यतीत हो जाने मात्र से ज्वर को निराम समझना चाहिये।

रससामता तथा दोषसामता भेद से सामता दो प्रकार की होती है। इस विषय में हरिचन्द्र जी कहते हैं कि दोष और धातुगत सामता आठ दिन में नष्ट हो जाती है किन्तु रस की सामता इसके पश्चात् भी रह सकती है। जेज्जट ने भी इस मत का समर्थन किया है। **'तरुणा सामताऽष्टाहादपैति रससामता तु परतोऽप्यनुवर्तते'**। दोष की सामता में औषध का निषेध और केवल रस की सामता में पाचन-प्रयोग का विधान करना ही इस द्विविध सामता के कथन का प्रयोजन है। दोषों की निरामता प्रायः एक सप्ताह में नष्ट हो जाती है जिसका ज्ञान क्षुत्क्षामता आदि लक्षणों से किया जाता है। रस एवं कदाचित् दोषों की भी सामता सप्ताह के पश्चात् भी अवशिष्ट रह जाता है, अतएव उक्त अवस्था में पाचन या शामक औषधियों का प्रयोग किया जाता है।

चरक कहते हैं कि ज्वर से पीडित रोगी को ६ दिन व्यतीत हो जाने पर सातवें दिन लघु अन्न देकर पाचन या शमन औषध देनी चाहिये—

ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतियोजितम्। पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम् ॥

इसी प्रकार सुश्रुत ने भी कहा है कि—ज्वर के मृदु होने पर तथा शरीर के लघु होने और मलों की प्रवृत्ति होने पर दोष को निराम समझकर औषध प्रदान करना चाहिये—

मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च। पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम् ॥

इसके आगे सुश्रुत ने जो यह कहा है कि—कोई लोग सात दिन और कोई दस दिन के पश्चात् औषध देना पसन्द करते हैं—

सप्तरात्रात्परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम्। दशरात्रात्परं केचिद्दातव्यमिति निश्चिताः ॥

इसका तात्पर्य यही है कि साधारणतया एक सप्ताह में दोष निराम हो जाता है अतः आठवें दिन औषध देनी चाहिये। यदि फिर भी सामता के लक्षण बने रहें तो दश दिन के बाद औषध देनी चाहिये। सात दिन के बाद हर हालत में पाचन का प्रयोग कर सकते हैं, सात दिन व्यतीत होने से पूर्व पाचन का प्रयोग भी नहीं किया जा सकता। कार्तिककुण्ड ने भी इसी प्रकार की व्याख्या की है।

अब यहाँ सन्देह होता है कि **'ज्वरितं षडहेऽतीते'** इस चरक-वचन का सुश्रुत के **'सप्तरात्रात्परम्'** आदि वचन के साथ विरोध आता है; क्योंकि चरक ६ दिन बीतने पर सातवें दिन और सुश्रुत सात दिन बीतने पर आठवें दिन कषाय देने का उपदेश करते हैं। इस पर कहते हैं कि ६ दिन बीतने पर सातवें दिन रोगी को लघु अन्न देकर आठवें दिन कषायपान कराना चाहिये ऐसा अर्थ करने से विरोध की आशंका नहीं रहती। खाली पेट पर औषध देना भी हानिकर है अतएव चरक ने स्वयं **'लघ्वन्नप्रतिभोजितम्'** ऐसा कहा है। कार्तिककुण्ड का कहना है कि ज्वरोत्पत्ति के दिन को छोड़कर आगे ६ दिन की गणना से सातवें दिन कषायपान कराना चाहिए। इस अर्थ से भी कोई दोष नहीं रहता।

पाययेदातुरं साममौषधं सप्तमे दिने। शमनेनाथवा दृष्ट्वा निरामं तमुपाचरेत् ॥

इस वचन की व्याख्या भी उपर्युक्त प्रकार से ही करनी चाहिये। भट्टार हरिचन्द्र ने जो सातवें दिन कषायपान का निर्देश किया है उसकी संगति भी उक्त विधि से ही लगानी चाहिये। चन्द्रिकाकार भी सात दिन तक ज्वर की समावस्था मानते हैं और उस अवधि में पाचन या शमनीय औषधों का सर्वथा निषेध भी करते हैं—**अचिरोगे दिनचतुष्टयवज्ज्वरस्य सप्ताहं सामताकालः, तत्र न पाचनं न वा शमनशोधने**'। इसके अतिरिक्त हारित ने जो—**एतां क्रियां प्रयुञ्जीत षड्रात्रं सप्तमेऽहनि। पिबेत् कषायसंयोगाज्ज्वरघ्नान् साधुसाधितान्** के द्वारा पेया के पश्चात् सातवें दिन कषाय-पान का निर्देश किया है, तथा खरनाद ने भी—

इति षाड्रात्रिकः प्रोक्तो नवज्वरहितो विधिः। अतः परं पाचनीयं शमनं वा ज्वरे हितम् ॥

इस वचन के द्वारा सातवें दिन ही कषायपान की अनुमति दी है उसकी व्याख्या भी पूर्ववत् करके आठवें दिन ही कषायपान का नियम समझना चाहिये। अथवा इन दोनों वचनों को पित्तज्वरपरक समझ सकते हैं क्योंकि सुश्रुत ने 'सप्तरात्रात्परम्' के पश्चात् पित्तज्वर में सप्ताह से पूर्व भी औषधपान का निर्देश किया है—

पैत्तिके वा ज्वरे देयमल्पकालसमुत्थिते। अचिरज्वरितस्यापि भेषजं दोषपाकतः ॥

अत्यधिक सामता होने पर पित्तज्वर में भी सप्ताह से पूर्व औषध नहीं देनी चाहिये। अल्प सामता में दे सकते हैं क्योंकि उसका पाचन शीघ्र हो जाता है। वस्तुतः सर्वथा दोष की सामता नष्ट होने पर ही कषायपान कराना हितकर होता है। अतएव वाग्भट ने कहा—

सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः। केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्बणे न तु ॥
तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदये यतः। दोषेऽथवाऽतिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यकारिणि।
अपच्यमानं भैषज्यं भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥ (वा० चि० अ० १)

अर्थात् कतिपय आचार्य सात दिन बाद, कतिपय दस दिन बाद और कतिपय आचार्य आम की अधिकता न होने पर लघु अन्न सेवन कराकर औषधपान कराना उचित समझते हैं किन्तु आम की प्रबलता में कदापि न देनी चाहिए। तीव्रज्वर से पीडित रोगी में आम दोष के वेग प्रबल होने पर भी रोगी को औषध न देनी चाहिये। तन्द्रा और निश्चलता को करने वाले अत्यधिक दोष—सञ्चय होने पर भी औषध न देनी चाहिये; क्योंकि उक्त अवस्थाओं में दी गई औषध का परिपाक नहीं होता एवं वह अपरिपक्व औषध लाभ न कर ज्वर की अधिक वृद्धि में ही सहायक होती है। सप्ताह के पश्चात् किस अवस्था में कैसी औषध देनी चाहिये, इसका नियम बताते हुए कहते हैं—

सप्ताहात्परतोऽस्तब्धे सामे स्यात्पाचनं ज्वरे। निरामे शमनं स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत् ॥

अर्थात् दोषप्रकोप की प्रबलता के अनुसार सप्ताह के पश्चात् सामता या निरामता दोनों ही हो सकती है। यदि लङ्घन, स्वेदन आदि से मलों की स्तब्धता नष्ट हो जाने पर भी दोषों की सामता के लक्षण मिलें तो पाचन का प्रयोग करना चाहिये। यदि दोष भी निराम हो गये हों तो शमन औषध प्रयोग में लानी चाहिये। किन्तु मलों की स्तब्धता तथा दोषों की सामता बनी रहने पर किसी प्रकार की भी औषध का प्रयोग न करना चाहिये।

प्रसंग से चिकित्सासौकर्यार्थ जीर्णज्वर का भी लक्षण कहा जाता है, जो कि निम्न है—

त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुतां गतः। प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते ॥

अर्थात् तीन सप्ताह पर्यन्त ज्वर रहने के उपरान्त जब ज्वर का वेग धीमा पड जाता है एवं प्लीहा की वृद्धि और अग्निमान्द्य विशेष रूप से हो जाता है तब उसे जीर्णज्वर कहते हैं। वस्तुतः यह लक्षण अति पुराण ज्वर के अभिप्राय से कहा गया है। सामान्यतः पक्व, जीर्ण और पुराण

ज्वर पर्यायवाचक ही होते हैं और सात दिन तक तरुण ज्वर, बारह दिन तक तथा इससे अधिक दिन का होने पर जीर्ण या पुराण ज्वर कहलाता है।

आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः। मध्यं द्वादशरात्रं तु पुराणमत उत्तरम् ॥'

तीन सप्ताह के पश्चात् भी रहने वाले को कुछ लोग अतिपुराण भी कहते हैं। जीर्ण मलेरिया (Chronic Malaria) एवं कालाजार आदि को जीर्णज्वर की श्रेणी में समझना चाहिए।

ज्वरस्य साध्यलक्षणमाह—

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः। (च. चि. अ. ३)

बलवान् शरीर एवं अल्पदोष वाले रोगियों का उपद्रवरहित ज्वर साध्य होता है॥

ज्वरस्य साध्यलक्षणमाह—बलवत्स्वित्यादि। बलवत्सु पुरुषेषु साध्यः, यदुक्तं—'बलाधिष्ठानमारोग्यम्' (च. चि. अ. ३) इति। अल्पदोषेषु नातिप्रबलदोषेषु। उनुपद्रव इति ज्वरस्योपद्रवाः कासादयः। यदुक्तं तन्त्रान्तरे 'कासो मूर्च्छाऽरुचिश्छर्दिस्तृष्णातीसाविड्ग्रहाः। हिक्काश्वासाङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश' इति॥

विमर्शः—बलवान् व्यक्ति ही आरोग्य लाभ कर सकता है 'बलाधिष्ठानमारोग्यम्' (चरक) अतः बलवान् रोगियों में ज्वर साध्य होता है। बल से केवल शारीरिक बल का ही नहीं अपि तु व्याधि प्रतिरोध-क्षमता का भी ग्रहण करना चाहिये। खाँसी, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, प्यास, अतिसार, मलविबन्ध, हिचकी, श्वास तथा अङ्गों में अत्यधिक पीड़ा इन ज्वर के दस उपद्रवों से रहित ज्वर भी साध्य होता है।

ज्वरस्यासाध्यतां निरूपयति—

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः॥ ६६॥
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः।
ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः॥ ६७॥
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः। (च. चि. अ. ३)
गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया॥ ६८॥
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च। (सु.उ.तं.अ. ३९)
आरम्भाद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः॥ ६९॥
क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति[1] तम्।
विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा॥ ७०॥
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः।
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान्॥ ७१॥
वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम्।
हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम्॥ ७२॥

१. 'हन्ति मानवम्' इति पा०।

सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ।
'हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ॥ ७३ ॥
गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।' (सु.उ.तं.अ. ३९)

जो ज्वर बहुत अधिक एव बलवान् कारणों से उत्पन्न हो, जिसमें लक्षणों की प्रचुरता हो तथा जिससे शीघ्र ही इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति नष्ट हो जाये वह प्राणघातक या असाध्य होता है। क्षीण तथा शोथयुक्त रोगी का ज्वर भी असाध्य होता है। गम्भीर (अन्तर्वेग अथवा गूढ लक्षणों वाला) ज्वर दीर्घकाल तक बने रहने पर तथा जिसमें अकस्मात् बालों में माँग निकली हुई दिखाई दे। ऐसा बलवान् ज्वर भी असाध्य होता है। अन्तर्दाह, प्यास, मल और वायु का अत्यन्त अवरोध, श्वास तथा कास की अधिकता से गम्भीर ज्वर का ज्ञान करना चाहिये। आरम्भ से ही यदि ज्वर विषम स्वरूप का हो अथवा जो दीर्घकालानुबन्धी हो वह भी असाध्य होता है। क्षीण एव अतिरूक्ष शरीर वाले रोगी का गम्भीर या अन्तर्दाह ज्वर भी असाध्य होता है। जो रोगी विह्वल होकर मूच्छित हो जाता है और जो पड़ा ही रहता है, अर्थात् उठने की जिसमें सामर्थ्य नहीं रहती एवं जो बाहर से शीत के कारण पीडित हो और अन्दर उसके उष्णता रहे वह भी असाध्य ही होता है, जिस ज्वर के रोगी के रोम खड़े हों, आँखें लाल हों, हृदय में पाषाण आदि के आघात के समान अथवा विविध प्रकार का शूल हो तथा जो मुख से ही श्वास लेता हो उसका भी ज्वर असाध्य ही होता है। हिचकी, श्वास तथा प्यास से युक्त, मूच्छित तथा जिसके नेत्र इधर-उधर चल रहे हों एवं जो रोगी निरन्तर दीर्घ श्वास ले रहा हो व क्षीण हो उसको भी ज्वर नष्ट कर देता है। जिसकी प्रभा एव इन्द्रियों की विषयग्रहण शक्ति नष्ट हो गयी हो, जो क्षीण तथा अरुचि से पीडित हो एव जो गम्भीर या अन्तर्दाह ज्वर के तीक्ष्ण वेग से पीडित हो वह भी असाध्य होता है ॥ ६६–७३ ॥

ज्वरस्यासाध्यलक्षणान्याह–हेतुभिरित्यादि। ननु, यो हेतुभिर्बलिभिर्बहुभिश्चोपजायते स बहुलक्षण एव भवति, तत् किं बहुलक्षणवचनेन? उच्यते-यथास्वहेतुकुपिता दोषाः सर्वस्यैव रोगस्य हेतवो भवन्ति, प्राक्तनकर्मापेक्षया तु यदा विशिष्टा सामग्रीं सम्प्राप्तिलक्षणामासादयन्ति तदा ज्वरमापादयन्ति, तथा दूष्यादिसहकारिकारणसान्निध्यासान्निध्याभ्यां बहुलक्षणतामल्पलक्षणतां च कुर्वन्ति। तथाहि तन्त्रान्तरम् 'एकं द्वौ त्रीन् बहून् वाऽपि देहे धात्वादियोगतः। दर्शयन्ति विकारांस्ते कुपिताः पवनादयः' इति। अथवा 'विकृतिविषमसमवायाद्बहुहेतुरप्यल्पलक्षणोऽल्पहेतुरपि बहुलक्षण इति। प्राणान्नकृदिति छेदः। शीघ्रमिन्द्रियनाशन इति उत्पन्नमात्र एव चिकित्स्यमानोऽपीन्द्रियशक्तिं रूपादिग्रहणलक्षणामुपहन्ति सोऽप्यसाध्यो नतूपेक्षया; अन्येऽपि रोगा उपेक्ष्यमाणा इन्द्रियशक्तिमुपघ्नन्ति असाध्यतां चाधिरोहन्ति। एवं बहुलक्षणोऽप्यादावेव चिकित्स्यमान एव बोद्धव्यः। इन्द्रियाणि चैकादश बोद्धव्यानि सांख्यसिद्धान्तेन तथा चरकसुश्रुतनिर्दिष्टत्वात्; चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनं चेति बुद्धीन्द्रियाणि, हस्तपादगुदोपस्थजिह्वाः कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः; एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। ज्वरः क्षीणस्य शूनस्येत्यपरमसाध्यलक्षणम्। गम्भीरो दैर्घरात्रिक इति गम्भीरोऽन्तर्धातुस्थः; अथवा गम्भीर इव गम्भीरः, यत्र वातादीनां निश्चयो न शक्यते कर्तुम्; अन्ये त्वाहुः–गम्भीरोऽन्तर्वेगः। दैर्घरात्रिक इति 'दीर्घरात्रानुबन्धी' इति जेज्जटः 'दीर्घां मरणरूपां रात्रिमनुवर्तते इति दैर्घरात्रिकः'—इति चक्रः, असाध्य इत्यर्थः। अत्र पक्षे दैर्घरात्रिक इति पूर्वेण सम्बध्यते, असाध्य इति परेण। केशसीमन्तकृदिति। अकस्मात् केशेषु सीमन्तान् यः

१. 'क्षाम' इति पा०। २. 'अ.प च' इति पा०।

करोति । उक्तं हि तन्त्रान्तरे, 'केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ । लुनन्ति[1] चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे' इति । गम्भीरार्था ये जेज्जटादिभिर्व्याख्यातास्तेषु मध्येऽत्र गम्भीरोऽन्तर्वेग इत्ययमर्थो माधवकरस्याभिमतः, अत एवासौ तदनन्तरं सौश्रुत गम्भीरलक्षणं लिखति-गम्भीर इत्यादि । य एव चरकेऽन्तर्वेगः स एव सुश्रुते गम्भीरः पठितः; तुल्यलक्षणत्वात्, पृथक्पाठाभावाच्चेति । आनद्धत्वेन चेति[2] बद्धदोषत्वेन । आरम्भादित्यादि । आरम्भादुत्पादात् प्रभृति यस्य विषमज्वरः सोऽसाध्यः, यस्य तु नित्यज्वरिणो ज्वरोत्सृष्टस्य वाऽपचारादिना विषमः स साध्य एव । एतच्च विषमत्व सततादिरूपं बोद्धव्य, न तु विषमत्वमात्रेण, वातिकज्वरेऽपि प्रसङ्गादिति । दैर्घरात्रिको व्याहृत एव, न चास्य पुनरुक्तत्वं, तन्त्रान्तरीयवाक्यत्वादधिकार्थप्रतिपादनार्थं बुद्ध्याऽपि लिखितम्; एवं गम्भीरेऽपि वाच्यम् । 'अतिरूक्षस्य' इत्यत्र 'अनिमिषस्य' इति पाठान्तरे सदा स्फारितनेत्रस्येत्यर्थः । विसंज्ञः विह्वलः, ताम्यते मुह्यति । शेते निपतित इति शयितो निपतित एवास्ते न चोत्थातुं समर्थः । शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्चेति शीतार्दितो बहिः, अन्तरुष्णोऽन्तर्दाहवान् । हृष्टरोमा रोमाञ्चितगात्रः । हृदि संघातशूलवानिति संघातरूपेण वस्तुना अष्ठीलिकादिनाऽऽक्रान्तमिव हृदय मन्यते यः स तथा; अन्ये त्वाहुः- नानाप्रकारकशूलवानिति । वक्त्रेण चैवोच्छ्वसितीत्येवकारेण नासिकां व्यवच्छिनत्ति व्यादितास्यप्रतिपादनार्थं, खरश्वास इत्यर्थः । हिक्केत्यादि । हिक्कादिभिर्मिलितैरेकेनापि बलवताऽसाध्यत्वम् । मूढं मोहयुक्तम् । विभ्रान्तलोचनं भ्रान्तप्रेक्षणं, चलितनेत्रं वा । सन्ततोच्छ्वासिनं[3] निरन्तरखरश्वासयुक्तम् । हतेत्यादि । हतप्रभाणि हतशक्तीनि स्वविषयाग्राहीणि चक्षुरादीनि यस्य स तथा; अथवा हता प्रभा दीप्तिरिन्द्रियाणि च यस्य स तथा । 'अरोचकनिपीडितम्' इत्यत्र जेज्जटः पाठान्तरद्वय पठति-'दुरात्मानमुपद्रुतम्' इति, व्याचष्टे च-दुरात्मानं दुष्टान्तःकरणम्, उपद्रुतमिति श्वासादिभिरुपद्रवः; 'दुरात्मभिरुपद्रुतम्' इति पाठान्तरे तु राक्षसादिभिर्जुष्टमित्यर्थः । एषामसाध्यलक्षणानामुपलक्षणत्वादन्यान्यपि तन्त्रान्तरेषु द्रष्टव्यानि । तद्यथा-'प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना । सुघोरं ज्वरमासाद्य स[4] जीवमपसृज्यते ॥ ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः । बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः । बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः । विश्लेषण च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ॥ गोसर्गे[5] वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् । लेपज्वरोपसृष्टस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् । मृत्युश्च तस्मिन् बहुपिच्छिलत्वाच्छीतस्य जन्तोः परितः सरत्वात् । स्वेदा ललाटे हिमवज्ज्वरस्य शीतार्दितस्यातिसुपिच्छिलश्च ॥ कण्ठे स्थितो यस्य न याति वक्षो नूनं यमस्यैति गृहं स मर्त्यः ॥ स्रुतस्वेदो ललाटाद्यः श्लथसन्धानबन्धनः । मुह्येदुत्थाप्यमानस्तु स स्थूलोऽपि न जीवति ॥ यस्य स्वेदोऽतिबहुलः पिच्छिलो याति सर्वतः । रोगिणः शीतगात्रस्य तदा मरणमादिशेत्'-इति । 'आधानजन्मनिधने प्रत्यराख्ये[6] विपत्करे । नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा ॥ ज्वरस्तु जातः षड्रात्राद्श्विनीषु निवर्तते' (वृ. वा. नि. अ. १) इत्यादिना ग्रन्थेन नक्षत्रभेदेन ज्वरस्य साध्यत्वासाध्यत्वं यदभिहितं तद्धारीतवृद्धवाग्भटयोर्द्रष्टव्यम्, इह तु विस्तरभयान्न लिखितम् । सन्निपातासाध्यप्रकरणं यथा-'पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् । हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्'-इति । सप्ताहाद्वाताधिकः, दशाहात्पित्ताधिकः, द्वादशाहात्कफाधिकः, पित्ताधिकवद्वातपित्ताधिकः, कफाधिक-

---

१. 'चलन्ति' इति क ख । २. 'विबद्धमलत्वेन' इति पा. । ३. 'निरन्तरोच्छ्वासिनम्' इति क ख । ४. 'न जीवेन्न च मुच्यते' इति क ख । ५ गोसर्गे प्रत्यूषे । ६. 'निधनं जन्मतः सप्तमं, प्रत्यरं पञ्चमं, विपत्करं तृतीयम्' इत्यष्टाङ्गसंग्रहव्याख्यायामिन्दुः ।

बद्धातकफाधिकः, योगवाहित्वाद्वायोः। यदाह[1] चरकः-योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्'-इति (च. चि. अ. ३)। धातुपाकाद्धन्ति, मलपाकाद्विमुञ्चतीति व्यवस्थितविकल्पः; धातुमलपाकविकल्पे[2] च दैनमेव हेतुः। उत्तरोत्तर-रोगवृद्धिबलहानिभ्यां शुक्रादिधातुर्सहिनमूत्रादिना च धातुपाको ज्ञेयः, अन्यथा तु मलपाकः; यदुक्तं 'निद्रानाशोहृदिस्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची। अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम्॥ दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः। इन्द्रियाणां च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम्'-इति। ननु, तरतमभावात्[3] स्थिरशीघ्रमध्यमशक्तित्वाद्दोषाणां कथं सप्ताहादिनियम इति चेत्। न, तथास्वभावाद्व्याधेः, विचित्रा हि प्रतिरोगं स्वभावाः; यथाऽग्निरोहिणी सप्ताहेन हन्ति न तथाऽन्ये विकारा इति। तत्र 'सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च' (वा. नि. अ. २) इति हारितवचनसंवादार्थमेवं व्याचक्षते—दशमी-प्रत्यासत्त्या नवमी, द्वादशीप्रत्यासत्त्या एकादशी च गृह्यते; ततो[4] वृद्धयेति पदमावर्त्य सर्वत्र द्वैगुण्यं कार्यम्। एवं, सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा। पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा' (सु. उ. अ. ३९) इत्यत्र सुश्रुतवाक्ये पुनःशब्देन द्वैगुण्यमिति कार्तिककुण्डो व्याख्यातवान्। एवं 'दशद्वादशसप्ताहैः पित्तश्लेष्मानिलाधिकः। दग्ध्वोष्मणा धातुमलान् हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः' (वा.नि.अ. २) इत्यत्राधिकशब्दमावर्त्य क्रियाविशेषणं कृत्वा द्वैगुण्यं व्याख्यातम्। तथा,'वातपित्तकफैः सप्तदशद्वादशवासरान्। प्रायोऽनुयाति मर्यादा मोक्षाय च वधाय च' (वा. नि. अ. २) इत्यत्राग्निवेशमते प्रायोग्रहणेन द्वैगुण्यमिति। ननु, सप्तमी-त्यादौ कथं तर्हि दशविंशतिद्वादशचतुर्विंशतीनां ग्रहणमिति चेत्। उच्यते—एकादशीत्यत्र एकेति पदमावर्तनीय, तेन नवमी एकेति दशमी लभ्यते, एकादशी एकेति द्वादशी लभ्यते, ततः सर्वत्र द्वैगुण्यम्। तथाशब्दः समुच्चये, तेन सप्तमी गृह्यते सा द्विगुणा च; एवं नवम्या-दिषु योज्यम्। चतुर्विंशत्यधिकस्तु मर्यादादिवसो नास्ति, तत्प्रतिपादकागमादर्शनात्॥६६-७२॥

विमर्शः—अनेक कारणों से उत्पन्न होने वाला ज्वर या अन्य व्याधि बहुलक्षण होती ही है, पुनः बहुलक्षण कहने की क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि जिस प्रकार अपने हेतुओं से प्रकुपित हुए दोष सभी व्याधियों के जनक होते हैं, किन्तु कुछ अन्य अनुकूल परिस्थितियों से सम्प्राप्ति रूप विशिष्ट सामग्री को प्राप्त करके ज्वर या किसी अन्य रोग को ही उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार ये दोष दूष्यरूप सहकारी कारणों की प्राप्ति या अप्राप्ति से बहुलक्षण या अल्पलक्षण-वाले ज्वर को उत्पन्न करते हैं। अर्थात् अनेक कारणों से प्रकुपित दोषों को यदि अनुकूल दूष्य का साहचर्य मिल जाता है तो व्याधि बहुलक्षण होती है अन्यथा नहीं। इस प्रकार **'बहुभिर्हेतुभिः'**, के साथ बहुलक्षण कहना असंगत या पुनरुक्ति से युक्त नहीं है। तन्त्रान्तर में कहा भी है कि कुपित हुए वात आदि दोष दूष्यादि के सान्निध्य या असान्निध्य से एक, दो, तीन या बहुत लक्षणों को उत्पन्न करते हैं—**'एकं द्वौ त्रीन् बहून् वापि देहे धात्वादियोगतः। दर्शयन्ति विकारास्ते कुपिता पवनादयः॥** अथवा विकृतिविषमसमवायारब्ध होने से बहुत हेतुओं वाला अल्पलक्षण एवं अल्प हेतुवाला ज्वर बहुलक्षण भी हो सकता है।

असाध्य ज्वर—

जो ज्वर उत्पन्न होते ही चिकित्सा करने पर भी इन्द्रियों की शक्ति का नाश कर देता है वह असाध्य होता है। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना तथा घ्राण ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। हाथ, पैर, वाणी, गुद तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। मन उभयात्मक है; दोनों पर नियन्त्रण रखता है। इस प्रकार ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं। इनमें से किसी को नष्ट करने वाला ज्वर असाध्य होता है।

१. अयं पाठः क ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते। २. 'धातुमलपाकमेके' इति क ख।
३. 'तरतमादिभावव्यवस्थितशीघ्रमध्यमन्दशक्तित्वात्' इति पा०। ४. 'तत्र' इति क।

बालों में अनायास माँग का प्रतीत होना अर्थात् बिना कंघी किए ही कंघी किया प्रतीत होना भी ज्वर की असाध्यता का निदर्शक है। तन्त्रान्तर में कहा भी है—

केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ।
लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे ॥

साधारण अवस्था में ज्वर के अन्त में या ज्वरमोक्ष के बाद अपथ्य सेवन करने से विषम ज्वर की उत्पत्ति होती है, किन्तु यदि वह प्रारम्भ से ही अनियत सतत आदि स्वरूप का रहे तब भी असाध्य होता है। वातिक नित्य ज्वर में होने वाली विषमारम्भविसर्गिता असाध्यता-निदर्शक नहीं होती।

इन असाध्य लक्षणों के अतिरिक्त तन्त्रान्तर में ज्वर के और भी असाध्य लक्षण मिलते हैं जिनका वर्णन **'प्रेतैः सह पिबेन्मद्यम्'** से लेकर **'षड्रात्रादश्विनीषु निवर्तते'** तक मधुकोशकार ने किया है। विस्तारभय से उन सबका वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

सन्निपात ज्वर की असाध्यता का सकारण वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है—

पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्।
हन्ति विमुञ्चति वाशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात् ॥

अर्थात् यदि धातुपाक होने लगे तो सात दिन में वातोल्बण, दस दिन में पित्तोल्बण, बारह दिन में कफोल्बण (तथा दस दिन में वातापित्तोल्बण, बारह दिन में वातकफोल्बण) ज्वर मार डालता है। यदि मलपाक हो तो रोगी स्वस्थ हो जाता है। वायु के योगवाही होने से वातपित्तोल्बण में पित्त के समान और वातकफोल्बण में कफ के समान समय अपेक्षित होता है। चरक ने वायु के योगवाहित्व का वर्णन करते हुए कहा है—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्। दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात् ॥

उत्तरोत्तर रोगवृद्धि बलहानि तथा रसादिशुक्रान्त धातुओं में से किसी का मूत्र आदि के साथ निकलना तथा निद्रानाश आदि लक्षणों का होना धातुपाक के लक्षण हैं। जैसे कहा भी है—

निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची। अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम् ॥

अर्थात् निद्रानाश (Insomnia), हृदयप्रदेश में जकड़ाहट, विष्टम्भ, भारीपन अरुचि, किसी काम में मन न लगना तथा बल का नाश ये धातुपाक के लक्षण हैं। इसके विपरीत—

दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः। इन्द्रियाणां च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम् ॥

अर्थात् जिस दोष से ज्वर उत्पन्न हुआ हो उसकी प्रकृति के विपरीत लक्षणों का उत्पन्न होना या दोष के लक्षणों में कमी न होना, ज्वर और शरीर में हलकापन तथा इन्द्रियों में विषयग्रहण की उचित शक्ति का होना ये दोषपाक या मलपाक के लक्षण हैं।

यद्यपि दोष तरतमभाव से स्थिर, मध्य तथा शीघ्रशक्ति वाले हो सकते हैं अतः सप्ताहादि नियम करना असंगत प्रतीत होता है तथापि व्याधि का स्वभाव ही वैसा होने से उक्त दोष नहीं आता। रोगों के स्वभाव विचित्र ही होते हैं, जैसे अग्निरोहिणी एक सप्ताह में ही प्राणहरण कर लेती है। कुछ ज्वरों में पूर्वोक्त सप्ताहादि काल की द्विगुण काल-मर्यादा भी होती है। यथा—**सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥**

पूर्वोक्त सात, दस और बारह के स्थान पर इस श्लोक में सात, नौ और ग्यारह दिन का उल्लेख है। इस मतभेद के समाधान के लिए एकादशी शब्द में आए 'एक' शब्द की द्विरावृत्ति कर उसका नौ और ग्यारह के साथ संयोग कर नौ एक = दस तथा ग्यारह और एक = बारह अर्थ कुछ टीकाकार करते हैं। मधुकोश में इन मतान्तरों का उल्लेख विशद वर्णित है। किन्तु दोनों ही प्रकार मिलते हैं तथा कभी-कभी अति सामीप्य के कारण नौ और दस तथा ग्यारह और बारह में अन्तर

करना कठिन भी हो जाता है अतः दोनों मत उचित हैं। उन पर शाब्दिक शास्त्रार्थ व्यर्थ है। उसी प्रकार द्विगुण शब्द को त्रिगुण आदि का उपलक्षण मानना चाहिए क्योंकि प्रत्यक्षतः कभी-कभी इस प्रकार के ज्वर मिलते हैं। प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से मधुकोशकार का **'चतुर्विंशत्यधिकस्तु मर्यादादिवसो नास्ति'** यह वचन ठीक नहीं प्रतीत होता। प्रायः सन्निपात ज्वरों में दूसरा सप्ताह अति भयानक होता है अतः चरक और हारीत के वचनों के अनुसार सात से चौदह दिन तक प्रत्येक दिन कड़ी सतर्कता से व्यवहार योग्य होते हैं। कदाचित् इससे अधिक अर्थात् द्विगुण और कभी त्रिगुण दिन तक भी ज्वर चलता रहता है तथा धातुपाक होने पर मृत्यु और दोषपाक होने पर स्वस्थता होती है।

विभिन्न विभेदक प्रकारों से ज्वरों के विविध भेद पाये जाते हैं। चरक ने कहा है—

द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः। पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव च ॥
अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते। प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च ॥
पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात्। सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥
पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः। भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः ॥

विधिभेद से ज्वर शारीर और मानस दो प्रकार का होता है। सौम्य (शीतपूर्व) एवं आग्नेय (दाहपूर्व) भेद से भी ज्वर के दो प्रकार हैं। वेगों के भेद से भी अन्तर्वेग और बहिर्वेग नामक ज्वर दो प्रकार का है। प्राकृत और वैकृत ये भी ज्वर के दो प्रकार हैं। ज्वर साध्य और असाध्य भेद से भी दो प्रकार का है। दोष और काल के बलाबल से ज्वर के सन्तत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक ये पाँच भेद हैं। सप्त धातुओं के आश्रयभेद से ज्वर सात प्रकार का भी है। उत्पादक कारणों के अनुसार ज्वर वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, वातपैत्तिक, वातश्लैष्मिक, पित्त-श्लैष्मिक, त्रिदोषज तथा आगन्तुज भेद से आठ प्रकार का होता है।

उपर्युक्त प्रथम सात विधि से भेदों का अन्तर्भाव आठवें में ही हो सकता है। वस्तुतः मौलिक रूप से ज्वर कारणभेद से आठ प्रकार का ही है। अन्य सभी भेदों का विस्तार चिकित्सा-सौकर्यार्थ ही किया गया है। अतः प्रत्येक प्रकार के ज्वर में वात आदि की उल्बणता या अनुबन्ध का ज्ञान करने का प्रयत्न करना चाहिए। प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र में दोषों को ही रोगोत्पादक माना गया है क्योंकि किसी भी रोग में चाहे वह निज हो चाहे आगन्तुक, रोग के आरम्भ से ही उसमें वायु, पित्त और कफ इनमें से किसी एक, दो या तीनों के लक्षण मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी भी रोग का आरम्भ दोषप्रकोप पूर्वक ही होता है। इन दोषों के प्रकोपक कारण अनेक हो सकते हैं जैसा कि पहले ही वर्णन किया जा चुका है—**'सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः। तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाऽहितसेवनम्।'** (पृष्ठ ५७)

इसी सिद्धान्त के अनुसार अनेक कारणों से उत्पन्न विविध ज्वरों का अन्तर्भाव वातजादि सात भेदों में ही हो जाता है। आजकल आगन्तु ज्वरों के अनेक भेद जीवाणुभेद से वर्णित हैं, अनेक रोगों मे लक्षणस्वरूप भी ज्वर मिलता है। इन सभी का समावेश प्राचीन विद्वान् दोषभेद से वर्णित ज्वरों में ही करते थे क्योंकि अन्ततोगत्वा चिकित्सा दोष के आधार पर ही की जाती है। यह नहीं कि उनको इस विषय का पर्याप्त ज्ञान नहीं था। यह सुश्रुतोक्त निम्न श्लोक से सुस्पष्ट है—

'रोगाणान्तु समुत्थानाद्विदाहागन्तुतस्तथा। ज्वरोऽपरः सम्भवति तैस्तैरन्यैश्च हेतुभिः ॥
दोषाणां स तु लिङ्गानि कदाचिन्नातिवर्तते।' (सु. उ. त. अ. ३९)

आजकल भी विशिष्ट आगन्तु ज्वरों के विभिन्न कारणभूत जीवाणु और उनकी चिकित्सा के लिये प्रयुक्त विशिष्ट द्रव्य (Specific drugs) का वर्णन होने पर भी लाक्षणिक या दोषानुसार चिकित्सा करनी ही पड़ती है।

ज्वरोमोक्षस्य पूर्वरूपमाह—

दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भिदसंज्ञता।
कूजनं चास्य वैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ॥ ७४ ॥

ज्वर-मोक्ष के समय शरीर में दाह, स्वेद, भ्रम, प्यास, कम्पन, मलभेद (अतिसार), संज्ञानाश, कराहना तथा मुख से दुर्गन्धि का आना ये लक्षण होते हैं ॥ ७४ ॥

ज्वरविमुक्तिपूर्वरूपमाह—दाह इत्यादि। विड्भिदिति। विड्भेदः,सम्पदादिपाठात् भावे क्विप्। असंज्ञता संज्ञानाशः। कूजनं[1] कुन्थनम्। यदुक्तं—'ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजेद्वमति चेष्टते' (च. चि. अ. ३) इति। वाग्भटोऽप्याह–'धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले बलीयते। ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन् वमति चेष्टते' (वा. नि. अ. २) इति। वैगन्ध्यं दुर्गन्धता गात्रे। ज्वरमोक्षणे भविष्यति आकृतिर्लक्षणं 'भवति' इति शेषः। ननु, दोषक्षयं विना न व्याधिनिवृत्तिः, क्षीणश्च दोषः कथमेवंविध लक्षणं कुर्यात्? उच्यते—कश्चिद्भावः क्षीणोऽपि विनाशकाले स्वशक्ति दर्शयति, यथा—निर्वाणावस्थो दीपो विशेषात् प्रज्वलति, अथवा दोषाभिभूतानां धातूनां दोषापगमे क्षोभाद्दाहादयः तरलतरवानरपरिहीयमानतरुणतरुवल्लरीशिखरकम्पवदिति ॥ ७४ ॥

विमर्शः—दारुण मोक्ष (Crisis) तथा अदारुणमोक्ष (Lysis) भेद से ज्वरमोक्ष दो प्रकार का होता है। दारुण ज्वरमोक्ष तीव्र संक्षोभ के साथ होता है। इसका कारण दोषों की अधिकता, सद्यः ज्वरनाशक क्रियाओं के उपयोग अथवा स्वतः दोषों का शीघ्र परिपाक ही है। चरक ने कहा भी है—

बहुदोषस्य बलवान् प्रायेणाभिनवो ज्वरः। सत्क्रियादोषपक्त्या चेद् विमुञ्चति सुदारुणम् ॥

निमोनिया ज्वर में यह लक्षण प्रधान रूप से पाया जाता है।

दोष के स्वभाव के अनुसार सन्ताप आदि लक्षणों को करने के उपरान्त जो ज्वर क्रमशः शनैः शनैः शान्त होते हैं उनका मोक्ष अदारुण कहलाता है—**कृत्वा दोषवशाद् वेगं क्रमादुपरमन्ति ये। तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम् ॥** (च. चि. ३-३२८)

आन्त्रिक ज्वर जैसे दीर्घकालानुबन्धी ज्वरों में उक्त प्रकार का मोक्ष पाया जाता है। चरक ने ज्वरमोक्ष के समय होनेवाले लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से विस्तारपूर्वक किया है, जो अविकल रूप में दिया जाता है—

ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन् वमिति चेष्टते। श्वसन् विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते मुहुः। प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि। विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्ष्यते। सदोषशब्दं च शकृद् द्रवं स्रवति वेगवत्। लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः ॥
(च. चि. ३)

अब यहाँ सन्देह होता है कि दोषक्षय से ही व्याधि की निवृत्ति होती है, क्षीण दोष इस प्रकार की व्याकुलता उत्पन्न करने वाले लक्षण कैसे उत्पन्न करता है? इस पर कहते है कि दोष के सहसा हटने से दोषाक्रान्त धातुओं में क्षोभ होता है जिससे उक्त लक्षण होते हैं। जैसे कि बुझने के पहिले चिराग चमकता है। ज्वरमोक्ष के ये लक्षण त्रिदोषज अन्तर्वेग एवं धातुगत सन्तत स्वरूप के ज्वर से पीडित रोगियों में ही मिलते हैं। अन्यत्र केवल पसीना आता है जैसा कि भालुकितन्त्र में कहा है—**त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च धातुगे। लक्षणं मोक्षकाले स्याद्न्य-**

१. 'अस्फुटध्वनिः' इति पा०।

स्मिन् स्वेददर्शनम् ॥ रोगी की यह अवस्था अत्यधिक भयङ्कर होती है, कभी-कभी इसमें भी रोगी की मृत्यु हो जाती है अतः इस अवस्था में रोगी का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

ज्वरमुक्तलक्षणं निरूपयति—

स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च।
क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥ ७५ ॥(सु. उ. अ. ३३)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ज्वरनिदानं समाप्तम् ॥ २ ॥

पसीना आना, शरीर में हलकापन, सिर में खुजली, मुखपाक, छींक आना तथा भूख लगना ये ज्वर मुक्त के लक्षण हैं ॥ ७१ ॥

ज्वरमुक्तिलक्षणमाह—स्वेद इत्यादि। स्वेदो घर्मागमनं स्रोतसां स्फुटत्वात्। लघुत्वं गात्रस्य। शिरसः कण्डूरिति सर्वो हि ज्वरस्तैजसः, विरोधिध्यपगमात् सौम्यः श्लेष्मा लब्धबलः सञ्छिरसि स्वस्थानेऽसाधारणात्मलक्षणं कण्डूं करोति, व्याधिमहिम्ना नान्यत्र कफस्थाने इति वदन्ति। पाको मुखस्येति ज्वरोष्मकोपितपित्तात्, यत्तु पूर्वं नाक्षार्षीदन्यत्र वा तदपि व्याधिमहिम्नैव। एतच्च दाहमारभ्य लक्षणं त्रिदोषजेऽन्तर्वेगे ज्वरे भवति, नतु सर्वत्र। तथा चैतदनन्तरं भालुकिः प्राह:—'त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च धातुगे। लक्षणं मोक्षकाले स्यादन्यस्मिन् स्वेददर्शनम्'—इति। ननु ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात्तस्याभावोऽपि प्रत्यक्षः, तत् किं तल्लक्षणपाठेन? तथाऽपि वा पठितव्यं, तर्हि सर्वाविकारेषु पठ्यताम्? उच्यते—विषमज्वरशङ्कानिरासार्थं, विषमज्वरो निवृत्तोऽपिपुनरायाति, दोषाणां धातुलीनत्वात् एतल्लक्षणे तु निःशेषदोषनिवृत्त्या न पुनरागमः। यत्र चैवंविधा शङ्का तत्रैव लक्षणं पठित न सर्वत्र, यथा प्रमेहातीसारादिष्विति सर्वं सुस्थम् ॥ ७५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां ज्वरनिदानं समाप्तम् ॥ २ ॥

विमर्शः—स्रोतों के निर्मल हो जाने से स्वेद की प्रवृत्ति होती है। ज्वर तैजस होता है, अतः ज्वरमुक्तावस्था में उसका विरोधी कफ बलवान् होकर अपने स्थान सिर में खुजली उत्पन्न करता है। चरक ज्वर-मुक्ति का लक्षण निम्न प्रकार से करते हैं—

विगतक्लमसन्तापमव्यथं विमलेन्द्रियम्। युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात् पुरुषमज्वरम् ॥

अर्थात् जिस रोगी में क्लम तथा बाह्य या अभ्यन्तर किसी प्रकार का सन्ताप न रहे, जिसका मन भी प्रसन्न हो, जिसकी इन्द्रियाँ भी अपनेःअपने विषय का यथावत् ग्रहण करने में समर्थ हों एवं स्वाभाविक प्रकृति के लक्षण व्यक्त हो जायें तथा जिसमें स्थिरता एवं भूख-प्यास की प्रवृत्ति भी हो उसे ज्वरमुक्त समझना चाहिए।

यद्यपि ज्वरमोक्ष प्रत्यक्ष अनुभूत होता है फिर भी ज्वरमुक्ति के लक्षण-ज्ञान का आवश्यकता विषमज्वर की आशकानिवृत्ति के लिए है क्योंकि एक बार मोक्ष होकर पुनः भी विषमज्वर में ज्वरवृद्धि हो जाती है। कुछ ज्वरों में प्रत्यक्ष तापक्रम कम होने पर भी ग्लानि, गौरव आदि लक्षण उपस्थित रहते हैं। कभी-कभी तो यह अवस्था कृच्छ्रसाध्यता अथवा असाध्यतानिदर्शक होती है। जैसे मस्तिकगत दुष्ट विषमज्वर, शीताङ्गसन्निपात ज्वर आदि। अत एव ज्वर वास्तव में मुक्त हो गया है इस बात के ज्ञान के लिये ज्वरमुक्तिलक्षण का भी ज्ञान आवश्यक है।

ऐसे लक्षणों का केवल उन्हीं रोगों में वर्णन किया गया है जहाँ उनके पुनरावर्तन की आशका रहती है। जैसे प्रमेह, अतिसार आदि।

समाप्तं चेदं ज्वरनिदानम्।

अथातीसारनिदानम्

गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥ १ ॥
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः ।
शोकाद् दुष्टाम्बुमद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः ॥ २ ॥
जलाभिरमणैर्वेगविघातैः क्रिमिदोषतः ।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥३॥ (सु. उ. ४०)

गुरु[1] अतिस्निग्ध, अतिरूक्ष, अत्युष्ण, अतिद्रव, अतिस्थूल एवं अतिशीतल पदार्थों का सेवन, विरुद्धाशन[2] अध्यशन[3], अपरिपक्व तथा विषम भोजन[4] करने से, स्नेहन, स्वेदन (पूर्वकर्म) तथा शिरोविरेचनातिरिक्त पञ्चकर्म के अतियोग या मिथ्यायोग से, विषप्रयोग, भय, शोक, दूषित जल तथा मद्य के पान करने या (अदूषित भी) जल और मद्य के अतिपान करने से, ऋतुविपर्यय एवं सात्म्यविपर्यय से, अत्यधिक जलक्रीडा, वेगविधारण तथा क्रिमीदोष से मनुष्यों को अतिसार होता है। आगे उसका लक्षण कहा जायगा ॥ १-३ ॥

पित्तज्वरेऽतीसारपाठाज्ज्वरातीसारयोरन्योन्योपद्रवत्वाच्च ज्वरानन्तरमतीसारमाह—गुर्वित्यादि । गुरुशब्देन मात्रागुरु गृह्यते, यथाऽतिमात्रोपयुक्तो रक्तशाल्यादिः, तथा स्वभावगुरु च माषादिः; अथवा गुणतः पाकतश्च । अतिशब्दः स्थूलान्तैः सह संबध्यते । स्थूलं संहतावयवं यथा—लड्डुकपिष्टकादि । शीतलं स्पर्शाद्वीर्याच्च । विरुद्धमिति संयोगदेशकालमात्रादिभिर्विरुद्धं, यथा—क्षीरमत्स्यादि; तच्च बहुप्रकारं सुश्रुते हिताहितीयेऽध्याये (सु. सू. अ. २०), चरके चात्रेयभद्रकाप्यीयाध्याये[1] (च. सू. अ. २६) द्रष्टव्यम् । अध्यशनं पूर्वदिनाहारेऽजीर्णे भोजनम् । उक्तं हि चरके—'भुक्तं[2] पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्' (च. चि. अ. १५) इति । एवं सर्वत्र । अजीर्णम् अपक्वमन्नम् । विषमम् अकालादिभोजनम् । उक्तं हि सुश्रुते—'बहु स्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं विषमाशनम्' (सु. सू. अ. ४६) इति । एवं सर्वत्र । 'विषमैः' इत्यत्र स्थाने 'असात्म्यैः' इति पाठान्तरम् । भोजनैरिति विरुद्धादिभिः सर्वैः सम्बध्यते । स्नेहाद्यैरिति स्नेहः स्नेहपानं, स्नेह आद्यो येषां ते स्नेहाद्याः स्वेदवमनविरेचनानुवासननिरूहाः, तैरतियुक्तैरिति अतियोगयुक्तैः । एतच्च यथायोग्यं बोध्यं, वमनातियोगस्यातिसारकारणत्वायोगात् । मिथ्यायुक्तैरिति हीनयोगयुक्तैः, वमनादिकर्मणां मिथ्यायोगाभावात्, हीनयोगात्तु ते दोषानुत्क्लेश्यातीसाराय स्युः । ननु, कदाचिद्वमनं प्रयुक्तं विरेकं करोति, विरेकश्च वमनमिति दर्शनात्तेषां मिथ्यायोगः संभवत्येव । न, सोऽप्ययोग एवेति सिद्धान्तः । यदुक्तं चरके—'योगः सम्यक् प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम् । अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्' (चि. सि. अ. ६) इति । विषमत्र स्थावरमुच्यते, अधोगत्वात्;

---

१. गुरु—मात्रागुरु यथा स्वभावगुरु, यथा उड़द आदि ।

२. विरुद्धभोजन—संयोगविरुद्ध, देशविरुद्ध, कालविरुद्ध, मात्राविरुद्ध, अग्निविरुद्ध, सात्म्यविरुद्ध, अभ्यासविरुद्ध, संस्कारविरुद्ध, कोष्ठविरुद्ध, अवस्थाविरुद्ध, क्रमविरुद्ध, परिहारोपचारविरुद्ध, पाकविरुद्ध, हृद्विरुद्ध, सम्पद्विरुद्ध और विधिविरुद्ध ।

३. भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् । ४. बहुस्तोकमकाले च तज्ज्ञेयं विषमाशनम् ।

---

१. 'भद्रकालीयाध्याये' इति क ख । २. 'पूर्वाह्णशेषे' इति क ख ।

कार्तिकस्त्वाह–विषं दूषीविषं तल्लक्षणेष्वतीसारपाठात्। दुष्टाम्बुमद्यातिपानैरिति दुष्टं व्यापन्नं दुष्टयोरम्बुमद्ययोः पानात्, अदुष्टयोरप्यतिमानात्। यदाह चरकः-[1]'दुष्टमद्यपानीयातिपानात्' (च.चि.अ. १९) इति। सात्म्यर्तुपर्ययैरिति सात्म्यविपर्ययैरृतुविपर्ययैश्च, सात्म्यविपर्ययोऽसात्म्यम्। नच पूर्वोक्तेन 'असात्म्यैः' इत्यनेन पौनरुक्त्यम्, उक्तं हि चरकेआत्रेयभद्रकाप्यीये 'द्विविधं पि सात्म्यं प्रकृतिसात्म्यमभ्याससात्म्यं च' (च. सू. अ. २६) इति; आहाराचारभेदादन्नपानभेदाद्वा न पौनरुक्त्यमित्यन्ये। जलाभिरमणैरिति जलक्रीडादिभिः। वेगविघातैरिति मूत्रपुरीषादीनाम्। क्रिमिदोषत इति क्रिमिभिः पक्वामाशयदूषणात्, क्रिमिजनितवातादिकोपाद्वा। एतानि च निदानानि यत्रासम्भवं वातादीनां बोद्धव्यानि, दोषव्याधिहेतुत्वख्यापनार्थं पठितानि। एवमन्यत्रापि निदानविशेषपाठे प्रायो द्रष्टव्यमिति ॥ १-३ ॥

विमर्शः—अप्राकृत तथा प्रायशः जलबहुल मल का पुनः-पुनः परित्याग ही अतिसार कहलाता है। अतिसार की उत्पत्ति में प्रधानतया दो परिणाम कारण होते हैं—

(क) आन्त्र की अत्यन्त तीव्र गति (Rapid paristalsis), (ख) आन्त्रगत उद्रेचन, पाचन एवं शोषण में परिवर्तन।

उपर्युक्त सभी निदान साक्षात् या परम्परया सर्वप्रथम आन्त्र में इन प्रधान विकृतियों को उत्पन्न करते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मलत्याग अप्राकृत तरल एवं स्वाभाविक से अधिक बार होता है। आधुनिक वैद्यक के दृष्टिकोण से इस अवस्था को डायरिया (Diarrhoea) कहते हैं इसकी उत्पत्ति के निम्न कारण हैं—

१. उत्तेजक भोजन (Irritating food)—यह आन्त्र के आज्ञावाहीचक्र की अत्यधिक उत्तेजना (Excessive stimulation of moter activity) के द्वारा आन्त्र की गति को बढ़ाकर अतिसार को उत्पन्न करता है। संखिया सदृश अतिसारोत्पादक विष, विरुद्धाशन तथा उक्त प्रकार से आन्त्र की गति को बढ़ाने वाले अन्य कारणों का संग्रह भी इसी शीर्षक के अन्तर्गत कर लेना चाहिये। ये उत्तेजक पदार्थ प्रति व्यक्ति के लिये भिन्न भिन्न हो सकते हैं। तथा कतिपय व्यक्तियों को केवल मरिचादिभूयिष्ठ भोजन ही उत्तेजक भोजन हो सकता है जब कि दूसरे पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं दिखाई देता। इस वैशिष्ट्य का कारण सात्म्यभेद है। अत एव कारणनिरूपण में सात्म्यविपर्यय का भी परिगणन किया गया है। आन्त्र में भौतिक (Mechanical) या रासायनिक (Chemical) कारण को उपस्थितिवर्धन में सहायक होती है। रासायनिक कारणों में विष प्रधान है। यह जीवाणुजन्य, खाद्यपदार्थजन्य (Food Poisoning) या मुखद्वारा गृहीत विष हो सकता है। विजयरक्षितजी के अनुसार विष से स्थावर विष का ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि स्थावर विष का स्वभाव अधोगामी होता है। किन्तु कार्त्तिककुण्ड जी का कहना है कि विष से दूषीविष का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि दूषीविष के लक्षणों में सुश्रुत ने अतिसार का भी पाठ किया[1] है। इसकी क्रिया का साधारण विवेचन पिछली पंक्तियों में किया जा चुका है। आन्त्र के अन्दर अत्यधिक मात्रा में भुक्त पदार्थ की उपस्थिति भी अतिसार की उत्पत्ति का कारण है इसे भौतिक कारण कहा जा सकता है। अत एव कारणनिरूपण में गुरु-

१. 'प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानीयपानात्' इति वर्तमानचरकपुस्तके पाठः।

१. यत् स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत्।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा।
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति।

भोजन का भी पाठ किया है। कुछ पदार्थ स्वभाव से भी गुरु होते हैं। इनके पाचन में आन्त्र को पर्याप्त श्रम के साथ गति करनी पडती है। इस प्रवृद्ध गति का ही परिणाम अतिसार है।

२ कृमि (Worms)—इसके अन्तर्गत निदानोक्त कृमियों को समझना चाहिए जिनमें केचुए (Roundworm) आदि विविध महास्रोतोगत क्रिमि तथा डिसेन्ट्री उत्पन्न करने वाले परोपजीवी (Parasites) उल्लेखनीय हैं। आचार्य सुश्रुत ने भी आभ्यन्तर क्रिम्युपसर्ग का वर्णन करते हुए **ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः। भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम् ॥** इस श्लोक के द्वारा अतिसार को क्रिमिजन्य उपसर्ग का फल कहा है। इसके आगे सौसुराद आदि क्रिमियों की अतिसारजनकता का स्पष्ट भाषा में उल्लेख करते हुए कहते हैं—

सौसुरादाः सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि। विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः।
रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः ॥ (क्रिमिनिदानम्)

३. अतिद्रवसेवन—अत्यधिक भोजन के समान ही इसका प्रभाव भी अन्त्र की गति को बढाने में होता है। एक तो अधिक जलपान से पाचक रसों का घोल मृदु हो जाने से उनकी भोजन पर पूरी क्रिया नही होती और अजीर्ण उत्पन्न होता है और दूसरे जल की निश्चित मात्रा का शोषण ही बृहदन्त्र के द्वारा हो सकता है। मात्राधिक्य होने पर उसका शोषण नही होता, अत एव वह आन्त्र का पुरःसरणगति को बढाने मे सहायक होकर जलबहुल अतिसार को उत्पन्न करता है।

४. अतिशित (Chill)—इससे स्पर्श एव वीर्य उभयविध शीत का ग्रहण करना चाहिये। अतिशीत के कारण आन्त्र प्रथम सकुचित हो जाती है। किन्तु पुनः उत्तेजित होकर तीव्र गति करने लगती है। इस तीव्रगति के परिणामस्वरूप श्लैष्मिककला से स्राव भी प्रचुर मात्रा में होता है। अत एव मलत्याग भी स्वाभाविक से अधिक बार एव तरल रूप में होता है।

५. विसूचिका (Cholera)—यद्यपि यह रोग पूर्णतः भिन्न है तथापि अतिसारकारक होने से इसकी कारणता भी निर्विवाद है। विसूचिका से विसूचिकाकारक विषाणु का भी ग्रहण कर सकते हैं।

६. आन्त्रिकगति के नियन्त्रक नाडीतन्तु व आन्त्रिक पेशियों की परमोत्तेजनशीलता (Over-excitability of the neuro-muscular mechanism which controls the Intestinal movements)—इसके तीन विभाग किये जा सकते हैं—

(क) भोजनोत्तरभावी अतिसार (Post-Prandial diarrhoea)—बिना किसी अन्य कारण के साधारण अवस्था में खाली पेट पर किया हुआ भोजन आमाशय में पहुँचते ही आमाशयजन्य आन्त्रिक प्रत्यावर्तनक्रिया(Gastrocolic refllex) को उत्पन्न कर देता है जिसके परिणामस्वरूप बृहदन्त्र की गतिशीलता बढ जाती है। अधिकांश व्यक्तियों में यह प्रवृति प्रातराश के पश्चात् पायी जाती है; क्योंकि उस समय श्रोणिगुदीय आन्त्र (Pelvic colon) मल से परिपूर्ण रहता है। प्रत्यावर्तनक्रिया के परिणामस्वरूप मल यकायक मलाशय में चला जाता है और मलत्याग की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। मलत्याग की प्रवृत्ति के लिये विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार के उत्तेजकों की अपेक्षा रहती है। यथा—कतिपय व्यक्ति बीड़ी या सिगरेट पीने के पश्चात् ही मलत्याग कर सकते हैं। कुछ लोग ठण्डा और कुछ गर्म पानी पीने के पश्चात्

दूषित देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः। यस्माद् दूषयते धातून् तस्माद् दूषीविषं स्मृतम् ॥
दूषीविषलक्षणानि—तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो वैगन्ध्यवैरस्ययुतः पिपासी।
मूर्च्छन् वमन् गद्गदवाग्विषण्णो भवेच्च दूष्योदरलिङ्गजुष्टः ॥ सु०

ही इस योग्य होते हैं । कुछ व्यक्तियों को चंक्रमण के पश्चात् ही मलत्याग करने का अभ्यास हो जाता है। मलत्याग के पूर्व बेड-टी तो आज के सभ्य समाज का आभूषण सी बन गयी है। साधारणतया इस प्रकार के मलत्याग की गणना अतिसार में नहीं कर सकते; तथापि इस प्रकार की प्रत्यावर्तनक्रियाओं की प्रचुरता के परिणामस्वरूप पुनः पुनः मलत्याग का होना अतिसार की कोटि में आ जाता है—

(ख) **वातनाडीजन्य** (Nervous)—भयज एवं शोकज अतिसार की गणना इस शीर्षक के अन्तर्गत की जा सकती है । इस विषय में प्राइस महोदय का कथन है ।

'It is not uncommon for a fright to result in the immidiate passage of a semi-fiuidstool. In some patients who are often not otherwise neurotic, attacks of diarrhoea occur whenever they in any piace where it would be a wkward for them to relieve themselves. When this has once happened it is likely to recur under similar circumstances, largely owing to fear that it will do so. Post-prandial and nervous diarrhoes are often associated together, a patient suffiering from the former being particularly likely to feel an urgent desire to defaecate if he is at a dinner party or in a railway carriage without a lavatory.' तात्पर्य यह है कि किसी विशेष विपत्ति से मुक्ति न मिल पाने के भय एवं शङ्का से इस प्रकार के अतिसार का होना अस्वाभाविक नहीं है । इसके अतिरिक्त मलत्याग के लिए उपयुक्त समय एवं स्थान का अभाव भी कभी-कभी कुछ व्यक्तियों में इस प्रकार की प्रवृत्ति का जनक हो सकता है। In this, call for evacuation comes immidiately after food or folowing mental excitment such as fright.

(ग) **उपद्रवस्वरूप अतिसार**—आन्त्र से सम्बद्ध कतिपय रोगों के उपद्रवस्वरूप में अतिसार होता है । ग्रहणीशोथ (Intestinal T. B.), क्षुद्रान्त्रशोथ (Enteritis) तथा बृहदन्त्रशोथ (Colitis) इस श्रेणी के प्रधान रोग है ।

७. **अतिस्निग्ध**—अति स्नेहपान से आन्त्रभित्ति पर स्नेहोलेप होकर पाचकग्रन्थियों का उद्रेचन कम हो जाता है जिससे अजीर्ण उत्पन्न होता है और अजीर्ण अतिसार को उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त स्नेहपाचन के लिये पित्त (Bile) की आवश्यकता होती है। और अतिस्निग्ध भोजनों के पाचनार्थ पित्त का उत्सर्ग भी स्वाभाविक से अधिक मात्रा में होता है। आन्त्र में पित्त की अतिमात्रा अतिसार को उत्पन्न करती है ।

(क) **दुष्टाम्बुमद्यमान**—दुष्ट जल तथा दुष्ट मद्य का पान अतिसार उत्पन्न करता है। दूषित जल में अनेक प्रकार के विषैले जान्तवादि पदार्थ या विसूचिका आदि रोगों के जीवाणु होते हैं और वे अतिसार को उत्पन्न करते हैं । दूषित मद्य भी आन्त्र में क्षोभ उत्पन्न करता है। पित्तवर्धक होने के कारण अदुष्ट मद्य भी अतिमात्रा में पीने पर अतिसारजनक होता है। अत्यधिक जल के पीने से अतिसार किस प्रकार उत्पन्न होता है। इसका विवेचन अतिद्रव शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। पीट नामक विशिष्ट पदार्थ में दुष्ट होने के कारण पर्वतीय जल अतिसारक होता है यह सिद्ध है । इससे उत्पन्न अतिसार को पर्वतीयातिसार (Hill-Diarrhoea) कहते हैं । चरक ने भी त्रिदोषज अतिसार का वर्णन करते हुए कहा है—**'प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानात्'** ।

स्नेहाद्यैः—इससे स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, अनुवासन तथा निरूह का ग्रहण होता है। इसके अतियोग से अतिसार होता है। इसके अन्तर्गत वमन का ग्रहण न करना चाहिए; क्योंकि

वमन का अतियोग अतिसार कदापि उत्पन्न नहीं कर सकता। अतः स्नेहन आदि के साथ यथायोग्य विशेषण देना चाहिए जिससे अतिसार कराने में समर्थ क्रिया का ही ग्रहण हो। वमन के अतिरिक्त अन्य सभी उपक्रमों का अतियोग अतिसार को उत्पन्न कर सकता है। मिथ्यायोग का अर्थ यहाँ हीनयोग ही है; क्योंकि वमन आदि का मिथ्यायोग नहीं होता। इनका हीनयोग दोषों को क्षुभित कर अतिसार को उत्पन्न कर सकता है। यदि कोई कहे कि कभी वमन की औषध विरेचन और विरेचन की वमन करा देती है तो उसे इनका मिथ्यायोग ही स्वीकार किया जाय तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वह भी प्रयुक्त औषध का अयोग या हीनयोग ही है। क्योंकि कहा है—**अयोगः प्रातिलोम्येन यश्चाल्पं वा प्रवर्तनम्** (च. सि. अ. ८)

यह निदानसमुदाय अतिसार सामान्य के प्रति कारण कहा गया है—वातिक आदि अतिसार के प्रति इनकी यथायोग्य कारणता समझनी चाहिए। यथा—गुरु द्रव, स्थूलद्रव एव अतिशीत पदार्थ कफज अतिसार के कारण हैं। इसी प्रकार रूक्ष, शीत, विषमाशन, भय आदि वातिक के कारण हैं। उष्ण एव मद्य पैत्तिक अतिसार को उत्पन्न करते है। विष त्रिदोष-प्रकोपक होता है अतः उससे त्रिदोषज अतिसार की उत्पत्ति होती है। शोक से शोकज एव कफवर्धक विशेषतः गरिष्ठ आहार से आमज की भी उत्पत्ति होती है।

अतिसारसामान्यस्य सम्प्राप्तिं वर्णयति—

संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः ।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति ॥
एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः ॥४॥

(सु. उ. अ. ४०)

वृद्ध (दुष्ट) जलीय धातु पाचकाग्नि को मन्द करके मल के साथ मिलकर वायु के द्वारा प्रेरित होकर अधोमार्ग (गुदमार्ग) से प्रचुर मात्रा में बाहर निकलता है अतएव इस घोर व्याधि को अतिसार कहते हैं। यह वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, शोकज तथा आमज भेद से छ प्रकार का होता है ॥ ४ ॥

सर्वातीसारसाधारणीं संप्राप्तिमाह–संशम्येत्यादि । संशम्य शमयित्वा; अत्रान्तर्भावितो ण्यर्थ इति गदाधरः, अग्निं मन्दीकृत्येत्यर्थः । प्रवृद्धः प्रदुष्टः । अपां धातुरित्यसमासकरणेन रसजलमूत्रस्वेदमेदःकफपित्तरक्तादयो ग्राह्याः । चरकेऽप्युक्तं 'शोणितादीन् धातून् दूषयन्तः' (च. चि. अ. १९) इति । अधः प्रणुन्नः प्रेरितः, सरति गच्छत्यतीवेत्यनेन निरुक्तिमुक्तवान्; गुदेन बहुद्रवसरणमतिसार इत्यर्थः । निरुक्तिरपि लक्षणं भवति, एतेनाधोद्रवसरणत्वाविशेषेऽपि ग्रहण्यादीनां व्यवच्छेदः; वातातीसारे स्वल्पत्वं कफपित्तातीसारापेक्षया, न तु ग्रहण्यपेक्षयेति । उक्तषड्विधत्वं विभजते—एकैकश इत्यादि । ननु चरकादौ दोषैरेकैकशस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, भयशोकजौ द्वौ, एवं षड्विधः,[2] अत्र त्वन्यथेति कोऽभिप्रायः ? उच्यते-चरके भयशोकजौ[3] लक्षणसंज्ञाकार्यभेदाद्भिन्नावुक्तौ, आमजस्त्वजीर्णकुपितत्रिदोषजत्वेन सन्निपातेनावरुद्ध इति न संख्यातिरेकः, सुश्रुते तु हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं शोकजामजौ पठितौ वातजत्वसन्निपातजत्वाभेदेऽपि, यथा वातादिजत्वाभेदेऽपि[4] 'मृत्तिकाजः पाण्डुरोग' इति; एवं भयशोकजावपि चरके हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं पठितौ, सुश्रुते भयजः केवल-

१. 'वर्चोमिश्रो' क. । २. 'षड्' क । ३. लक्षणशक्त्या कार्यं इति क ख । ४. 'मृत्तिकायाः' इति क ख ।

वातिकेऽवरुद्धः मानसत्वाविशेषाद्वा शोकजेऽवरुद्ध इतिजेज्जटः। ननु, षष्ठ आमेन चोक्त इति पृथक्करणमसंगतं; यतः सर्वेषामेवातीसाराणां प्रागवस्था आमशब्दवाच्या जीर्णावस्था पक्वशब्दवाच्या; अत एव सर्वातीसारगोचरमुदाहरन्ति-'आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया हिता। अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वामलक्षणम्' (सु. उ. अ. ४०) इति। नैवम्, आमेनैवारभ्यत इति आमजः, दोषास्तु संसर्गिणः प्रेरयितारश्च, न त्वारम्भकाः आमश्च दुष्टान्नकार्यो दोषधातुमलव्यतिरिक्तो वातादिसंसृष्टो वातादिप्रेरितो वा रक्तादिवद् व्याध्यारम्भक इति। द्वन्द्वजास्त्वतीसाराः प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वात् पृथङ्नोक्ता, विकृतिविषमसमवायारब्धास्तु न संभवन्त्येव, व्याधिस्वभावाद्। शैली चेयमाचार्याणां प्रायः प्रकृतिसमसमवायारब्धान् द्वन्द्वान् सन्निपातांश्च न गणयन्ति, विकृतिविषमसमवायारब्धांश्चावश्यं लिखन्ति। यथा चरके-'पञ्च गुल्मा' (वा. सू. अ. १९) इत्यभिधाय' 'संसृष्टरूपानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्।' (च. चि अ ५) इत्युक्तं; तथा सुश्रुते—'षडर्शांसि' इत्यभिधाय, अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः षड्विधश्च सः॥' (सु. नि. अ. २) इत्युक्तम् ॥ ४ ॥

विमर्श :—अतिसार में होनेवाले विकृतिजन्य परिवर्तनों की सम्पूर्ण श्रृङ्खला का संक्षिप्त एवं क्रमबद्ध वर्णन उक्त श्लोक के द्वारा कर दिया गया है। गुदेन बहुद्रवसरणमतिसारः' गुदमार्ग के द्वारा अधिक द्रवयुक्त मल का निकलना ही अतिसार है, यह अतिसार की निरुक्ति है। क्वचित् निरुक्ति के द्वारा भी लक्षण कहने की प्रथा है अतः इसे अतिसार का लक्षण भी माना जा सकता है। यद्यपि ग्रहणी में भी न्यूनाधिक मात्रा में द्रव का सरण होता हैं तथापि बहु विशेषण देने से उसकी निवृत्ति हो जाती है; क्योंकि-ग्रहणी में द्रव का अत्यधिक सरल नहीं होता। कफज तथा पित्तज अतिसार की अपेक्षा वातज अतिसार में भी द्रव का सरण कम होता है किन्तु उसमें भी ग्रहणी की अपेक्षा अधिक ही होता है। इस रोग में विकृति के अधिष्ठान क्षुद्रान्त्र एव बृहदन्त्र है। अन्य सबकी विकृति का अन्तिम परिणाम इन्हीं के द्वारा व्यक्त होना है। इनके अतिरिक्त जलीय धातु की दुष्टि होना भी अनिवार्य है। कफ, रस, मेद, मूत्र, स्वेद, लसिका, पित्त, रक्त तथा शुक्र ये शरीरस्थ जलीय धातु हैं।

अतिसार की आधुनिक सम्प्राप्ति भी सुश्रुतोक्त सम्प्राप्ति के समान ही है। प्रधानतया इसमें निम्न क्रियायें होती हैं—

१. पाचक रसों की कमी—यह अकाल में गुरु भोजन (मात्रागुरु तथा स्वभावगुरु) करने से होती है। पाचक रसों की कमी का ही परिणाम अजीर्ण है, एवं अजीर्णजन्य विष से अतिसार की उत्पत्ति माधव को भी अभिमत है।

२. श्लेष्मिककला का उत्तेजन—अन्नविष; आगन्तुक विष अथवा दूषित जल या भोजन से श्लैष्मिक कला का उत्तेजन होता है।

३. आन्त्र की तीव्रगति (Rapid paristalsis)—यह श्लैष्मिककला के उत्तेजन का ही फल और वायु का कार्य है। इसी गति के कारण मल नीचे को ढकेला जाता है, उसका शोषण नहीं होने पाता। इसी का प्रतिपादन सुश्रुत ने 'वायुनाऽधः प्रणुन्न.' के द्वारा किया है।

४. श्लेष्मिककला से जलीय धातु का स्राव—उत्तेजना के फलस्वरूप आन्त्रगत केशिकाओं से जलीय धातु (लसीका) का स्राव अत्यधिक मात्रा में होने लगता है एवं मल इसी के द्वारा पतला होकर गुदमार्ग से बाहर निकलता है। जलीय धातु की अत्यधिक उपस्थिति पाचकाग्नि के विनाश तथा आन्त्र के गतिवर्धन में सहायक होती हैं। इस तथ्य का प्रतिपादन महर्षि सुश्रुत ने **'संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः'** वाक्य के द्वारा किया है।

१. 'गणयन्ति' इति क ख।

कविराज गणनाथसेनजी सरस्वती ने भी उक्त सम्प्राप्ति को ही स्वीकार करते हुए कहा है—
अर्धपक्कं हि तरलं शकृदन्त्रेषु तिष्ठति । त्वरया सार्यते तच्चेत् सामान्यात् सोऽतिसारकः ।
आप्यो धातुः शोणितस्यान्त्रमध्ये परिस्रुतो जालकेभ्यः प्रभूतः ।
स्रवेद् यदा विड्विमिश्रोऽन्यथा वा सोऽतीसारो दारुणो धातुशोषी ॥
अर्थात् आन्त्रस्थित अर्धपक्व एवं तरल मल का अत्यधिक मात्रा में बाहर निकलना ही अतिसार है । आन्त्रस्थित केशिकाओं के रक्त से निकली हुई लसिका मल के साथ या केवल निकलती है । इस दारुण अवस्था को अतिसार कहा जाता है ।

चरक ने सम्प्राप्ति का वर्णन यथादोष पृथक्-पृथक् किया है । 'उदाहरणार्थ वातिक अतिसार की सम्प्राप्ति का वर्णन किया जाता है—

'अथावरकालं वातलस्य वातातपव्यायामातिमात्रनिषेविणो रूक्षाल्पप्रमिताशिनस्तीक्ष्णमद्यव्यवायनित्यस्योदावर्तयतश्च वेगान् वायुः प्रकोपमापद्यते, पक्ता चोपहन्यते, स वायुः कुपितोऽग्नावुपहते मूत्रस्वेदौ पुरीषाशयमुपहृत्य ताभ्यां पुरीषं द्रवीकृत्य अतीसाराय प्रकल्पते' । (च० चि० १९) ।

वातप्रकोपक निदानों से प्रकुपित वायु पाचकाग्नि को मन्द (विषम) कर देता है एवं मूत्र और स्वेद को पुरीषाशय में लाकर उनके द्वारा मल को पतला करके अतिसार को उत्पन्न करता है । यद्यपि स्वेद एवं मूत्राशय का आन्त्र के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने से उनका आन्त्र में आना तथा आकर मल को पतला करना इत्यादि कल्पना असंगत-सा प्रतीत होता है तथापि चरक के उक्त सूत्र को औपचारिक ही कहा जा सकता है । वस्तुतः अतिसार-प्रवृत्तिकाल में मूत्र एवं स्वेद की प्रवृत्ति क्षीण या अवरुद्ध हो जाती है । प्राकृतिक नियमानुसार अतिसारकाल में आन्त्रस्थ श्लैष्मिककला की केशिकाओं का ही विस्तार होता है एवं उनसे जलीय धातु का अत्यधिक मात्रा में स्राव भी हो जाता है । परिणामस्वरूप रक्त में जल की कमी होने से वृक्क एवं स्वेदग्रंथियों को कार्य करने का अवसर उपलब्ध नहीं होता । यही कारण है कि अतिसारावस्था में भयंकर गर्मी होने पर भी स्वेद एवं घोर शीत होने पर भी मूत्रप्रवृत्ति में अल्पता हो जाती है । इसका सर्वोत्तम उदाहरण विसूचिका है । इस अवस्था में जलीय धातु के गुदमार्ग से अत्यधिक मात्रा में निकलने के कारण वृक्कों का कार्य अवरुद्धप्राय हो जाती है एवं मूत्रत्याग नहीं होता ।

अतिसारभेद-निरूपण—अब यहाँ सन्देह होता है कि चरक तथा वाग्भट ने पृथक् दोषों से तीन (वातिक, पैत्तिक, कफज), सन्निपात से एक तथा भय और शोक से उत्पन्न दो—इस प्रकार अतिसार के छ भेदों का निरूपण किया है किन्तु सुश्रुत ने भयज के स्थान पर आमज का पाठ किया है । इस पर कहते हैं कि चरक ने भयज और शोकज को लक्षण; संज्ञा एवं कार्यभेद से भिन्न बताया है एवं आमज को अन्नाजीर्ण से प्रकुपित त्रिदोष से उत्पन्न होने के कारण त्रिदोषज में ही समाविष्ट कर दिया है । इस प्रकार संख्या में अन्तर नहीं आता । तात्पर्य यह है कि चरक ने शोकज एवं भयज अतिसार के लक्षण तथा चिकित्सा में भेद बताया है अतः उनका पाठ भी पृथक् किया । आम से अजीर्ण और उससे त्रिदोष की उत्पत्ति होती है अत- कारण-साम्य से दोनों का सन्निपात शब्द से ही निरूपण कर दिया । यद्यपि शोकज का वातज तथा आमज का सन्निपातज में समावेश हो सकता है तथापि सुश्रुत ने हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा का प्रतिपादन करने के लिये ही दोनों का पृथक पाठ किया है । शोकज की चिकित्सार्थ आश्वासन एवं आमज के लिये लंघन और पाचन का प्रयोग किया जाता है । शोकज में केवल वातिक उपचार तथा आमज में केवल त्रिदोषशामक उपचार करने से निर्वाह नहीं होता । इसी प्रकार यद्यपि पाण्डुरोग वातादि-

१. 'दोषैर्व्यस्तैः समस्तैश्च भयाच्छोकाच्च षड्विधः' (वा० नि०)

जन्य ही होता है तथापि उसे मृत्तिकाजन्य भी कहा जाता है; क्योंकि **'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम'** इस उक्ति के अनुसार मृत्तिका भक्षण-परित्याग और उसके निर्हरण के विना केवल वात आदि दोषों का उपचार करने से पाण्डुरोग नष्ट नहीं होता। ठीक इसी प्रकार चरक ने भी भयज एवं शोकज को हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा की दृष्टि में पृथक् पढा है। जेज्जट का कथन है कि सुश्रुत ने **'कामाशोकभयाद्वायुः'** इस वचन के अनुसार भयज का समावेश केवल वातिक अतिसार में अथवा मानस दोष सामान्य से उत्पन्न होने के कारण शोकज में ही कर लिया है।

अब पुनः यह सन्देह होता है कि सभी प्रकार के अतिसारों की प्रारम्भिक अवस्था आम एवं जीर्णावस्था पक्व कहलाती है अत एव सभी अतिसारों की चिकित्सा के लिये सुश्रुत ने आम और पक्व अवस्था के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है—**'आमपक्वक्रमं हित्वा नातिसारे क्रिया हिता। अतः सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वामलक्षणम्'**। अतिसारों की चिकित्सा करने से पूर्व उनकी आमता या पक्वता का ज्ञान कर लेना अनिवार्य है, क्योंकि आम और पक्व का ज्ञान किये विना चिकित्सा में सफलता उपलब्ध नहीं होती। चरक ने आमज को पृथक् न मानकर प्रत्येक दोष से होने वाले अतिसार के आम और पक्व दो भेद स्वीकार किये हैं। यह आम पक्वता वातज अतिसार में ही विशेषतया उपलब्ध होती है अतः उसमें ही इसका वर्णन किया गया है। यथा—**'तस्य रूपाणि विजलमामं विप्लुतमवसादि रूक्षं द्रवं सशूलमामगन्धमीषच्छब्दम-शब्दं वा विबद्धमूत्रवातमतिसार्यते पुरीषं, वायुश्चान्तःकोष्ठे सशब्दशूलस्तिर्यक् चरति विबद्ध इत्यामातिसारो वातात्'**। इस प्रकार आमज का पृथक् पाठ करने की आवश्यकता नहीं? इसके लिये समाधान है कि आम से ही उत्पन्न होने के कारण इसे आमज कहते हैं। यह ठीक है कि वातादिजन्य अतिसार का आम भी एक भेद है, किन्तु प्रकृत में अतिसार की आमावस्था से तात्पर्य नहीं है अपितु आम से ही उत्पन्न होने के कारण इसको आमज कहा है। आमज अतिसार की उत्पत्ति में दोष आम के संसर्गी एवं प्रेरक होते हैं, साक्षात् आरम्भक नहीं। आम भी दुष्ट अन्न से ही उत्पन्न होता है। वह वात आदि दोषों से संयुक्त एवं प्रेरित होकर वातादि से दुष्ट रक्त के समान विविध व्याधियों को उत्पन्न करता है। आमाजीर्ण तथा उसके कार्य विसूचिका आदि आम से ही उत्पन्न होते हैं।

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च॥

इस श्लोक के द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि दोष आम के संसर्गी एवं प्रेरक हो सकते हैं और आम के जनक भी हो सकते हैं किन्तु उत्पन्न आम अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है और दोषों को भी प्रभावित करता है। अतएव दोष भी साम और निराम दो प्रकार के माने गए हैं। अतः आमातिसार का आरम्भक आम ही होता है। दोषों का अनुबन्धमात्र रहता है।

इस प्रकार आमज व्याधि में अनुबन्धी दोष के लक्षणों के अतिरिक्त आम के विशिष्ट लक्षण भी उपलब्ध होते हैं। आमवात इसका ज्वलन्त उदाहरण है। विरुद्ध आहार आदि से उत्पन्न आम वायु से प्रेरित होकर श्लेष्मस्थान (सन्धि) में पहुँचकर विशिष्ट सम्प्राप्ति के द्वारा आमवात रोग को उत्पन्न करता है। इसमें आम के लक्षणों के अतिरिक्त अनुबन्धी दोष के अनुसार तोद, दाह, गौरव आदि लक्षण भी होते हैं। माधव ने इसका विवेचन करते हुए कहा है—

पित्तात्सदाहरागं च सशूलं पवनानुगम्। स्तिमितं गुरुकण्डूं च कफदुष्टं तमादिशेत्॥

उपर्युक्त कथन के आधार पर आम की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध हो जाती है एवं आमातिसार का स्वीकार करना भी युक्तिसंगत ही है।

द्वन्द्वज अतिसारों का वर्णन प्रकृतिसमसमवायारब्ध होने के कारण नहीं किया गया। व्याधि स्वभाव के कारण अतिसार विकृतिविषमसमवायारब्ध नहीं होता। आचार्यों की यह शिष्ट शैली है कि विकृतविषमसमवायारब्ध होने पर ही पृथक् वर्णन किया जाय प्रकृतिसमसमवायारब्ध होने पर नहीं। उनका ज्ञान दोषलक्षणों के ज्ञान से हो जाता है। चरक ने सूत्रस्थान में 'पञ्च गुल्म। इति वातपित्तकफसन्निपातशोणितजाः' के द्वारा गुल्म के पाँच भेदों की प्रतिज्ञा करके पुनः चिकित्सास्थान में—

निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥

द्विदोषज का वर्णन भेद करने के लिये नहीं अपि तु चिकित्साविशेष के लिये किया है। तात्पर्य यह है कि द्विदोषज गुल्म के लक्षण भी तत्तद् दोष के अनुसार मिलित ही होते है अतः चिकित्सा भी मिश्रित ही करनी चाहिए। सूत्रस्थान में प्रतिज्ञात 'पञ्चगुल्माः' का खण्डन यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इसी को स्पष्ट करने के लिये श्रीचक्रपाणि उक्त श्लोक की टीका करते हुए लिखते हैं—'औषधकल्पनार्थमित्यनेन प्रकृतिसमसमवायत्वात् स्वविलक्षणकार्याकर्तृतया प्रत्येकदोषे द्वन्द्वजगुल्मा अभिनिविष्टा एव, प्रत्येकोक्तचिकित्सामेलकेन चिकित्सा इत्येतन्मात्रोपदर्शनार्थं तेषामभिधानम्। एतेनाशेयरीयोक्तपञ्चसंख्याविरोधोऽपि न भवति द्वान्द्विकगुल्मभेदस्याप्रयोजकत्वात्, सन्निपातगुल्मे तु प्रत्येकदोषजलक्षणातिरिक्तानि लक्षणानि तत्प्रभावश्चासाध्यादिर्वर्तत एवेति युक्तं तस्य भेदेनोपादानम्'। इसी प्रकार सुश्रुत ने भी 'पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात् सहजानि च। अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद् गुदवलित्रये ॥

इस श्लोक द्वारा अर्श के छ प्रकारों का वर्णन करने के पश्चात् 'अर्शस्सु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः षड्विधश्च सः ॥' के द्वारा संसर्गों का भी वर्णन कर दिया। यह प्रतिपादन भी भेद करने के लिये नहीं अपितु मिश्रलक्षणों से युक्त अर्श की मिश्र चिकित्सा करने के उद्देश्य से ही किया है अतः प्रतिज्ञाहानि का दोष नहीं आता।

सर्वेषामतिसाराणां पूर्वरूपाण्याह—

हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोदगात्रावसादानिलसन्निरोधाः।
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥५॥

(सु. उ. अ. ४०)

हृदयप्रदेश, नाभि, गुदा, उदर तथा कुक्षि में सूचिकावेधनवत् पीडा का होना, अङ्गों की शिथिलता, अधोवायु का अवरोध, मलप्रवृत्ति का अभाव, आध्मान तथा भोजन का परिपाक न होना ये अतिसार के पूर्वरूप हैं ॥ ५ ॥

सर्वातीसारपूर्वरूपमाह— हृन्नाभीत्यादि। तोदः सर्वैर्हृदादिभिः सम्बध्यते। अत्र कुक्षिशब्द उदरैकदेशवाची, तेन न पौनरुक्त्यम्। अनिलसन्निरोध इति वाताप्रवृत्तिः। विट्सङ्गः पुरीषाप्रवृत्तिः; एतच्च दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाप्रतिनियतं पूर्वरूपं, तेन रूपावस्थायां नानुवर्तते, (यद्यनुवर्तेत तदा तत्र व्याधिरेव नारभ्येत, विट्सङ्गातिप्रतिषेधात्[1])। अविपाकोऽन्नस्य। पुरःसराणि पूर्वरूपाणीति ॥ ५ ॥

विमर्शः—पूर्वोक्त लक्षण आन्त्रिक क्षोभ के निदर्शक हैं और आन्त्रगत क्षोभ अतिसार का प्रवर्तक होता है यह पहिले ही कहा जा चुका है। इनमें से एक या अनेक लक्षण अतिसार उत्पन्न हो जाने पर भी उपस्थित रह सकते हैं किन्तु मलप्रवृत्ति का न होना रूप लक्षण दोष और दूष्य का संयोग होने ही उत्पन्न होता है कुछ काल पश्चात् नहीं रहता अत एव यह लक्षण रूपावस्था में नहीं जाता। यदि रूपावस्था में भी यह लक्षण रहता तो अतिसार रोग की उत्पत्ति ही न होती

१. अयं पाठः क ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते।

वातिकमतिसारं लक्षयति—

अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः ।
शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते ॥ ६ ॥

वातिक अतिसार में अरुण, झागयुक्त, रूक्ष एवं आम मल थोडी-थोडी मात्रा में बार-बार पीडा एवं शब्द के साथ निकलता है ॥ ६ ॥

वातिकमाह—अरुणमित्यादि । अरुणमिति वायोररूपस्यापि दोषदूष्यसंमूर्च्छनाद्भवति, एवमन्यत्रापि । फेनिलं; सफेनं; फेनाढ्यिलच । शकृत् पुरीषम् । सरुक्शब्दमिति सशूलं सशब्दं चेति ॥ ६ ॥

विमर्शः—झाग युक्त मल का होना वातिक अतिसार का प्रमुख लक्षण है क्योंकि विगुण वायु से आंत्र की पुरःसरगति अनियमित होती है और वायु तथा जलीयांश मिलकर बाहर आते हैं। इसी कारण पीड़ा और शब्द की भी उपस्थित रहती है। यद्यपि वायु नीरूप है तथापि विशिष्ट प्रकार के दोषदूष्य-सम्मूर्च्छन की महिमा से ही मल का वर्ण अरुण हो जाता है। चरक ने चिकित्सा स्थान के १९ वें अध्याय 'विज्जलमामं विप्लुतमवसादि' से लेकर 'वातानुग्रथित-वर्चस्त्वात्' तक में आम और पक्व उभयविध वातिक अतिसार के लक्षणों का वर्णन किया है। माधव ने केवल मल के ही लक्षण दिये हैं किन्तु बृहत्त्रयी (चरक, सुश्रुत, वाग्भट) में मल के लक्षणों के अतिरिक्त सर्वशरीरगत लक्षणों का भी वर्णन किया गया है यथा—

······················**तत्र वातेन विज्जलम् । अल्पाल्पं शब्दशूलाढ्यं विबद्धमुपवेश्यते ॥ रूक्षं सफेनमच्छं च ग्रथितं वा मुहुर्मुहुः । तथा दग्धगुडाभासं सपिच्छापरिकर्तिकम् ॥ शुष्कास्यो भ्रष्टपायुश्च हृष्टरोमा विनिष्टनम् ॥** (वा० नि० ८)

इसी प्रकार सुश्रुत भी कहते हैं—

शूलाविष्टः सक्तमूत्रोऽन्त्रकूजी स्रस्तापानः सन्नकट्यूरुजङ्घः ।
वर्चो मुञ्चत्यल्पमल्पं सफेनं रूक्षं श्यावं सानिलं मारुतेन ॥ (सु. उ. ४०)

अतिसार में मल के अतिरिक्त अन्य शरीरावयव में भी कुछ लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका कारण दोषों की सर्वदेहव्यापकता है। इसका स्पष्ट उल्लेख अर्शोनिदान में '**पञ्चात्मा मारुतः पित्तम्**' इत्यादि श्लोक के द्वारा किया भी है।

पैत्तिकमतिसारं लक्षयति—

पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकोपपन्नम् ।

(सु. उ. अ. ४०)

पैत्तिक अतिसार में मल पीला, नीला या कुछ रक्तवर्ण का आया है एवं रोगी को तृष्णा और मूर्च्छा होती है। सर्वाङ्ग में दाह एवं गुदपाक भी होता है।

पैत्तिकमाह—पित्तादित्यादि । दाहपाकोपपन्नमिति दाहः सर्वाङ्गे, पाको गुद एव । उक्तं हि तन्त्रान्तरे-'तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छाब्रध्नसन्तापपाकपरीतः' इति; ब्रध्नो गुदः । अत्राप्यतिसार्यते शकृदित्यनुवर्तते; एवं श्लैष्मिकेऽपि ॥

विमर्शः—पित्त (Bile) की अत्यधिक उपस्थिति के कारण एवं रक्त की उपस्थिति होने से मल रक्तवर्ण का मिलता है। रक्त भी पित्त वर्ग का ही पदार्थ है अतः पित्त से ही उसका भी ग्रहण कर लिया जाता है। आगे भी रक्तातिसार का वर्णन करते हुए कहा है कि पैत्तिक अतिसार में और अधिक पित्तकारक पदार्थों के सेवन करने से रक्तातिसार की उत्पत्ति होती है। नीलवर्ण मल का होना भी मल में पित्त की उपस्थिति का ही सूचक है किन्तु इसमें अन्तर केवल

इतना है कि अपक्व पित्त (जिसमें अम्लरस की उत्कटता और क्षत तथा रक्तस्राव की सम्भावना रहती है) की उपस्थिति से मल नीला या श्याव वर्ण का होता है जब कि पक्व पित्त की उपस्थिति से पीला १। चरक ने पित्तातिसार के लक्षणों का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—'**तस्य रूपाणि हारिद्रं हरितं नीलं कृष्णं रक्तपित्तोपहितमतिदुर्गन्धमतिसार्यते पुरीषं तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छा-शूलब्रध्नसन्तापपाकपरीत इति पित्तातिसारः**' (च. चि. १०) वाग्भट ने भी ठीक ये ही लक्षण लिखे हैं। अतिसार में गुदापाक का होना पित्तातिसार का प्रधान लक्षण (Cardinal point) है; क्योंकि '**पित्तादृते पाको न**' इस सिद्धान्त के अनुसार पित्त के बिना पाक नहीं हो सकता। मल का अत्यन्त दुर्गन्धयुक्त होना भी मल में अपक्व पित्त की उपस्थिति का सूचक है।

श्लैष्मिकमतिसारमाह—

शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मायुक्तं विस्रं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः ॥ ७ ॥

(सु. उ. अ. ४०)

कफज अतिसार से पीडित मनुष्य के रोंगटे खड़े हो जाते हैं और वह सफेद, गाढ़े, कफयुक्त-दुर्गन्धि तथा शीतल मल का परित्याग करता है ॥ ७ ॥

श्लैष्मिकमाह—शुक्लमित्यादि। शुक्लमित्यादिना हृष्टरोमा इत्यन्तेन श्लैष्मिकः। विस्रः आमगन्धि ॥ ७ ॥

विमर्शः—मल में श्लेष्मा (Mucus) की उपस्थिति श्लैष्मिक अतिसार का मुख्य लक्षण है। कफ सौम्य है अतः उसकी उपस्थिति के कारण अपेक्षिक शीतता एवं रोमहर्षता होती है। कफ के पिच्छिल गुण के कारण मल सान्द्र रहता है। मल के साथ आम एवं कदाचित् पूय आने पर विस्र गन्ध भी आती है। अमीबिक डिसेण्ट्री का मल भी अति दुर्गन्धयुक्त होता है उसमें श्लेष्मा का भी निस्सरण होता है। अमीबिक डिसेण्ट्री से कदाचित् रक्त भी आ जाता है किन्तु इसमें कदापि रक्त नहीं आता। चरक ने श्लेष्मातिसार के लक्षण निम्न कहे हैं—

'**तस्य रूपाणि स्निग्धं श्वेतं पिच्छिलं तन्तुमदामं गुरु दुर्गन्धं श्लेष्मोपहितमनुबद्धशूल-मल्पाल्पमभीक्ष्णमतिसार्यते सप्रवाहिकं गुरूदरगुदबस्तिवङ्क्षणदेशः कृतेऽप्यकृतसंज्ञः सलो-महर्षः, सोत्क्लेशो निद्रालस्यपरीतः सदनोऽन्नद्वेषी चेति श्लेष्मातिसारः**' ॥ (च. चि. १७)

साम्निपातिकमतिसारं वर्णयति—

वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं सर्वरूपिणम् ।
कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम् ॥ ८ ॥

शूकर—वसा मांस के धोवन के सदृश एवं सर्वदोषों के रूपों से युक्त अतिसार को त्रिदोषज समझना चाहिये। यह कृच्छ्रसाध्य होता है ॥ ८ ॥

साम्निपातिकमाह—वराहेत्यादि। वराहस्नेहः शूकरस्य मेदो मज्जा वा, मांसाम्बु मांसप्रक्षालनोदकं, तैः सदृशम्। सर्वरूपिणमिति उक्तवाताद्यतीसारत्रयलक्षणयुक्तम्। एवं-विधमतीसारं दोषत्रयोद्भवं विद्यात्; तं च कृच्छ्रसाध्यं, त्रिदोषजत्वादेव ॥ ८ ॥

विमर्श—त्रिदोषज अतिसार में कहा गया स्नेह सदृश मल वसामल (Fatty stool) ही है यह स्थिति वसा के पाचन और शोषित न होने की सूचक है। इस विषय में प्राइस महोदय ने कहा है—'Deficient digestion of fat deficient absorption of fatty acids and soaps give rise to fatty or soap diarrhoea respectively' अर्थात् वसा का समुचित पाचन एवं वसीय अम्ल और साबुन का समुचित शोषण न होना ही वसाजन्य अतिसार

१. दुर्गन्ध हरितं श्याव पित्तमम्ल स्थिर गुरु। अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं साम विनिर्दिशेत् ॥
आताम्र पीतमत्युष्ण रसे कटुकमस्थिरम्। पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचिपक्तृबलप्रदम् ॥

का मूल है । इस अवस्था में मल द्वारा अपाचित वसा निकल जाती है । अपाचित वसा का निकलना अग्न्याशय रोग (Pancreatic disease) का सूचक है । वसापाचन में अग्न्याशय रस ही प्रमुख भाग लेता है । अग्न्याशय के रोगग्रस्त होने से तज्जन्य रस की कमी हो जाती है जिसके परिणाम स्वरूप वसा का समुचित पाचन नहीं होता एवं वह मल में अपक्वावस्था में ही निकल जाती है । अग्न्याशय रस की कमी का मल पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका विवेचन करते हुए प्राइस महोदय कहते हैं—'The stools are bulky and pale owing to excess of fat, the proportion of which in the dried faeces may be fncreased to 60 to 80 percent from the normal of 15 to 25 percent अर्थात् अग्न्याशय रस की कमी के कारण पाचन और शोषण के अभाव से मल की मात्रा अधिक (६०-८०%) हो जाती है एवं वसा के आधिक्य से मल का वर्ण अधिक पीत भी हो जाता है । आगे चलकर उस । सूक्ष्म विवेचन करते हुए प्राइस ने कहा है-Microscopically oil droplets are seen to ether with crystals of fatty acids and soaps which are formed by bacterial decomposition of the undigested fat' अर्थात् सूक्ष्मदर्शक से देखने पर मल में वसीय अम्ल और साबुन के साथ-साथ तैल-बिन्दु भी दृष्टिगोचर होते हैं ।

त्रिदोषज अतिसार को बहुलक्षण होने के कारण कृच्छ्रसाध्य कहा गया है । चरक ने भी विकृतिविषमसमवायारब्ध त्रिदोषज अतिसार को सम्प्राप्ति का वर्णन करने के पश्चात् उसके लक्षणों का निम्न रीति से वर्णन किया है—'तत्र शोणितादिषु धातुष्वतिप्रदुष्टेषु हारिद्रहरितनील-माञ्जिष्ठमांसधावनसन्निकाश रक्तं कृष्ण श्वेत वराहमेद सदृशमनुबद्धमवेदनं वा समा-सव्यत्यासादुपवेश्यते शकृद् ग्रथितमामं शकृदपि वा पक्वमनतिक्षीणबलमांसशोणितबलो मन्दाग्निविहतमुखरसश्च तादृशमातुरं कृच्छ्रसाध्यं विद्यात् ।' (च० चि० १९।१३)

शोकजमतिसारं वर्णयति—

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य वाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः ।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तच्चाधस्तात् काकणन्तीप्रकाशम् ॥ ९ ॥
निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड् वा निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः ।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥१०॥

(सु. उ. अ. ४०)

धननाश तथा बन्धुनाश आदि दुर्घटनाओं के कारण शोकसन्तप्त और इसी कारण अल्प भोजन करने वाले मनुष्य को अतिवाष्पता (नेत्र नासा तथा गले से निकलने वाले जलीय स्राव) से उत्पन्न ऊष्मा उसकी कोष्ठस्थित पाचकाग्नि को दूषित करके रक्त को भी क्षुभित करता है । इस प्रकार क्षुभित एवं गुञ्जाफल के समान वर्ण वाला रक्त मलरहित या मलयुक्त, निर्गन्ध या सगन्ध होकर गुदमार्ग से निकलता है । यह शोकोत्पन्न अतिसार कहलाता है । इस दुश्चिकित्स्य अतिसार को वैद्यों ने कष्टसाध्य कहा है ॥ ९-१० ॥

शोकजमाह—तैस्तैरित्यादि । तैस्तैर्भावैर्धनबन्धुनाशादिभिः । शोचतः शोकं कुर्वतः । अल्पाशनस्य शोकादेवाल्पं भुञ्जानस्यः, एतेन धातुक्षयोऽप्यस्य स्यादित्युक्तम् । वाष्पोऽश्रुद्रु-तनेत्रनासागलादिगतं जलं, तत्सहितं ऊष्मा शोकजं देहतेजो वाष्पोष्मा, स कोष्ठं गत्वा, वह्निमाविश्य व्याकुलीकृत्य, क्षोभयेत्तस्य रक्तम् ऊष्मत्वद्रवत्वाभ्यां समानगुणत्वात्, तच्च रक्तं

१. 'मन्यूद्भवनेत्रनासागलादिगतम्' इति ख ।

काकणन्तीप्रकाशं गुञ्जाफलसंकाशम्, अधस्ताद्निर्गच्छेत्। पंक्तिमाविश्येति पाठान्तरे स एवार्थः। गदाधरस्तु वह्निशब्देन पित्तमाह। तच्च रक्तं विड्विमिश्रं निर्गच्छेत्; अविड् वा अल्पविट्, अल्पाशनत्वात्। निर्गन्धं गन्धवद्वेति विकल्पोऽविदभ्यामितिकार्तिकः, अन्ये तु पित्तस्य पूतित्वात् प्रबलगन्धवत्ता, तस्य नातिदुष्ट्या निर्गन्धत्वमिति; गन्धश्च विस्र इत्याहुः। क्षोभयेत्तस्य रक्तमित्यत्र 'शोषयेत्तस्य भुक्तम्–' इति पाठान्तरमयुक्तं, काकणन्तीप्रकाशत्वे येत्वन्तराभावात्, तस्मादाद्य एव पाठो ज्यायान्, व्याख्यातश्च जेज्जटादिभिः सर्वैरेव। अयं वातपित्तज उक्तः। दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रमिति शोकापनोदं विना केवलेन भेषजेनानुपशमात्। अत एवाह-कष्ट एष प्रदिष्ट इति। वैद्यैर्ब्रह्मादिभिः। गदाधरस्त्वाह-'एष' इत्यनेनैवंसम्प्राप्तिक एव कष्टो न त्वन्यः शोकज इति ॥ ९-१० ॥

विमर्शः—शोकज से चरकोक्त भयज अतिसार का भी ग्रहण कर लेना चाहिए; क्योंकि दोनों ही मानसिक विकार से उत्पन्न होते हैं। आधुनिक दृष्टि से इनका परिगणन वातसंस्थानजन्य अतिसार (Nervous diarrhoea) की श्रेणी में किया जा सकता है। वातसंस्थानजन्य अतिसार मे मल में रक्त का आना नहीं बताया गया, किन्तु रोग की अवस्था पुरानी हो जाने पर पुनः पुनः क्षोभ होने के कारण आन्त्र में व्रण उत्पन्न हो सकते हैं, एव रक्त का आगमन सम्भव है। इस प्रकार मल में रक्त के आने की प्रवृत्ति तुरत न होकर कुछ काल पश्चात् होती है। इसका प्रधान कारण भोजन का अभाव एवं धातुक्षय है। शोकज अतिसार में वात के साथ पित्त का अनुबन्ध भी रहता हैं अन्यथा रक्तप्रवृत्ति असम्भव है। अतएव सम्प्राप्ति में अग्नि-दुष्टि का भी विशेषतया उल्लेख किया गया है। वाग्भट ने भी वात के साथ पित्त का अनुबन्ध बताते हुए कहा है—

भयेन क्षोभिते चित्ते सपित्तो द्रावयेच्छकृत्। वायुस्ततोऽतिसार्येत क्षिप्रमुष्णं द्रवं प्लवम् ॥
वातापित्तसमं लिङ्गैराहुस्तद्वच्च शोकतः

वस्तुतः रक्त पित्तवर्ग की धातु है अतः पित्तदुष्टि से उसकी भी दुष्टि होती है।

मानसिक उपचार द्वारा शोक को बिना दूर किये केवल औषधोपचार से यह अतिसार शान्त नहीं होता अत एव इसे दुश्चिकित्स्य कहा है। गदाधर जी का कथन है कि उक्त सम्प्राप्ति वाला शोकज अतिसार ही कष्टसाध्य होती है अन्य नहीं। चरक एवं वाग्भट ने शोकज या भयज अतिसार में रक्तागमन का उल्लेख नहीं किया है। चरक ने **'कामशोकभयाद्वायुः'** इस वचन के अनुसार **'आगन्तू द्वावतीसारौ मानसौ भयशोकजौ'** इस पङ्क्ति के द्वारा भय एवं शोकज दो मानसिक अतिसारों को मानकर **'तत्तयोर्लक्षणं वायोर्यदतीसारलक्षणम्'** के द्वारा वातिक अतीसार के समान ही दोषों के लक्षण भी कह दिये हैं। वस्तुतः चरक ने शोक और भय से तत्काल होने वाले अतिसार का ही वर्णन किया है। तत्काल रक्त का आना भी असम्भव है। रक्तप्रवृत्ति अतिसार की पुराणावस्था में ही सम्भव है जैसा कि पिछली पङ्क्तियों में वर्णन किया जा चुका है। यद्यपि वाग्भट ने भी इन अतिसारों में रक्तप्रवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है तथापि **'वातपित्तसमं लिङ्गैः'** इसमें पित्त नाम देने से तज्जातीय रक्त का भी ग्रहण कर सकते हैं; क्योंकि आगे माधव ने भी पित्तातिसार के परिवर्धित रूप का ही रक्तातिसार में परिणत होना स्वीकार किया है।

आमातिसारमाह—

अन्नाजीर्णात् प्रद्रुताः क्षोभयन्तः कोष्ठं दोषा धातुसंघान्मलांश्च ।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥११॥

(सु. उ. अ. ४०)

अन्न के पचने के कारण प्रकुपित हुए दोष कोष्ठ, रक्तादि धातु तथा मलों को दूषित करके अनेक (यथादोष) वर्णों से युक्त शूलसहित मल को बार-बार निकालते हैं। इस छठे अतिसार को आमातिसार कहते हैं ॥ ११ ॥

आमातीसारमाह—अन्नाजीर्णादित्यादि। अन्नं च तदजीर्णं चेति अन्नाजीर्णम्। अत एवाह क्षारपाणिः—'यथाभुक्तमशनमुपविशति'-इति। प्रदुता विमार्गगाः। क्षोभयन्तो दूषयन्तः। धातुसंघान् रक्तादीन्। मलान् पुरीषादीन्। नैकशो बहुशः ॥ ११ ॥

विमर्शः—अतिसार के कारणा का विवेचन करते हुए अजीर्ण को भी एक कारण माना है। आन्त्र में अजीर्ण अन्न की उपस्थिति बाह्य पदार्थ (Foriegn body = शल्य) के समान आन्त्रिक कला में क्षोभ उत्पन्न करके अतिसार को उत्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त अजीर्ण पदार्थ की उपस्थिति से आत्मविषमतया (Auto intoxication) जन्य अतिसार भी हो सकता है। इस अतिसार में मल अपक्व एवं पर्याप्त मात्रा में निकलता है। मल के अतिरिक्त कदाचित् रक्त आदि धातुओं का स्राव भी होता है। आमातिसार में तीनों दोषों का सम्बन्ध रहता है अतः जिस दोष की अल्बणता रहती है उसी के अनुसार मल का वर्ण तथा अन्य लक्षण भी होते हैं। चरक ने इस अतिसार को पृथक् न मानकर अजीर्ण से प्रकुपित त्रिदोष के कारण सन्निपात के अन्तर्गत ही मान लिया है। इसकी उत्पत्ति विशेषतः आमाजीर्ण से ही होती है अतः सुश्रुत ने हेतुप्रत्यनीकचिकित्सा (आमपाचन एव लङ्घन) के लिये ही इसका पृथक् विवेचन किया है। यही कारण है कि सुश्रुत की कुछ पुस्तकों में 'अन्नाजीर्णात्' के स्थान पर 'आमाजीर्णात्' ऐसा पाठभेद उपलब्ध होता है।

शूलोपेतम्—आम की उपस्थिति के कारण ही मलत्याग के समय पीड़ा होती है, क्योंकि आम जिस स्थान पर रहेगा वहाँ वह तत्तद्दोष की उल्बणता के अनुसार तोद (वातोल्बणता में), दाह (पित्तोल्बणता में), गौरव (कफोल्बणता) आदि पीडाओं से पीडित करता है। प्रसग से आम का वर्णन करना भी उपयुक्त है—

जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः। स आमसंज्ञको देहे सर्वरोगप्रकोपकः ॥

इसके अतिरिक्त आतङ्कदर्पणकार ने निम्न रूप से भी वर्णन किया है—

आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। स हेतुः सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते ॥

इस प्रकार जठराग्नि, भूताग्नि या धात्वग्नि से अपाचित आहार रस ही आम कहलाता है। इससे दूषित दोष एव दूष्य भी साम कहलाता है। आतङ्कदर्पणकार ने आम का स्वरूप भी निम्न प्रकार से वर्णित किया है—

अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम्। सादनं सर्वगात्राणामाममित्यभिधीयते ॥

प्रकृति में पुनः षष्ठ पद देना नियम के लिये है। अर्थात् अतिसार छ प्रकार के ही होते हैं। इस प्रकार विसूचिकादिजन्य विविध अतिसारों की पृथक् गणना नहीं होती।

चिकित्सासौकर्यार्थमामपक्वलक्षणमाह—

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥ १२ ॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै।
लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥ १३ ॥

(सु. उ. अ. ४०)

वात आदि दोषों के लक्षणों से युक्त मल यदि अत्यन्त दुर्गन्धित एवं पिच्छिलतायुक्त हो और जल में डूब जाये तो उसे आम-मल कहते हैं। जिस मल में इसके विपरीत (दुर्गन्ध तथा पिच्छिलता

का अभाव एवं जल पर तैरना) लक्षण हों एवं शरीर और कोष्ठ में लघुता विशेष रूप में पाई जाय तो उस मल को पक्व समझना चाहिए ॥ १२-१३ ॥

सर्वातिसाराणां चिकित्सोपयोगित्वेनामलक्षणं पक्वलक्षणं चाह—संसृष्टमित्यादि । संसृष्टं सम्बद्धम्, एभिर्दोषैर्दुष्टिभिरुक्तवाताद्यतीसारलिङ्गैः । दुष्ट्यश्चात्र यथासम्भवं व्यस्ताः समस्ताश्च बोद्धव्याः; तेन सर्वातिसाराणां न सान्निपातिकत्वप्रसङ्गः । न्यस्तमप्सु जले क्षिप्तम्; अवसीदति निमज्जति, आमस्य गौरवात् । भृशशब्दः पिच्छिलेनापि सम्बध्यते । दुर्गन्धि विस्रम् । पिच्छिलमामसम्बन्धात् । एतानीति जलनिमज्जनादीनि लाघवं कोष्ठस्य शरीरस्य च, चकारेण कफशैत्यदुष्ट्यादिकं विनाऽप्यम्बुनिमज्जनं लक्षणमिति समुच्चीयते । यदुक्तं—'मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले । विनाऽतिद्रवसङ्घाताच्छ्लेष्मशैत्यप्रदूषणात्'—इति । अथवा आमालिङ्गवैपरीत्येनैव लाघवे सिद्धे पुनर्लाघवकरणं तत् कफदुष्ट्यादिव्यतिरेकं बोधयतीति ॥ १२-१३ ॥

विमर्शः—पक्व मल के वर्णन में 'लाघवं च' इस प्रकार ग्रहण से कफदुष्टि आदि से रहित पुरीष का ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि कहा भी है—मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तु प्लवते जले । विनातिद्रवसंघाताच्छ्लेष्मशैत्यप्रदूषणात् ॥ इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि कफभूयिष्ठ पक्व मल भी जल में डूब जाता है तथापि उसे केवल इसी परीक्षा के बल पर अपक्व न मान लेना चाहिए अपितु अत्यन्त दुर्गन्धि तथा शरीर का भारीपन आदि लक्षणों के मिलने पर ही उसे अपक्व समझना चाहिए अन्यथा नहीं । इसीलिये मधुकोशकार ने कहा है कि 'आमलिङ्गवैपरीत्येनैव लाघवे सिद्धे पुनर्लाघवकरणं तत् कफदुष्ट्यादिव्यतिरेकं बोधयति' अर्थात् यद्यपि आम के लक्षणों से विपरीत एतावन्मात्र कहने से ही लाघव का ग्रहण हो सकता था, पुनः लाघव शब्द का उपादान करने से प्रतीत होता है कि कफदुष्टि से रहित मल की यह जलनिमज्जनपरीक्षा है, कफ दुष्टि से युक्त की नहीं, क्योंकि वाग्भट ने कहा है—'कफात् पक्वोऽपि मज्जति' ।

अतिसारस्यासाध्यलक्षणानि निरूपयति—

पक्वजाम्बवसङ्काशं यकृत्खण्डनिभं[1] तनु ।
घृततैलवसामज्जवेशवारपयोदधि ॥ १४ ॥
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम् ।
मेचकं स्निग्धकर्बूरं चन्द्रकोपगतं घनम् ॥ १५ ॥
कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि[2] कुथितं बहु ।
तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम्[3] ॥ १६ ॥
संमूर्च्छारतिसंमोहयुक्तं पक्वबलीगुदम् ।
प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम् ॥ १७ ॥
'असंवृतगुदं क्षीणं दुराध्मातमुपद्रुतम् ।
गुदे पक्वे गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत्[4]' ॥ १८ ॥

१. 'यकृत्पिण्डनिभम्' इति ग । २. 'दुर्गन्धम्' इति क ।
३. 'दाहारुचि' इति क । 'दाह-भ्रम' इति ग । ४. अतिसारिणमुत्सृजेत्' इति ग ।

श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम् ।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत ॥ १९ ॥(सु० उ० ३३)
(शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां कासं श्वासमरोचकम् ।
छर्दि मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत्[1] ॥)

जिस अतिसार में पके हुए जामुन के समान स्निग्ध कृष्ण वर्ण वाला, यकृत् खण्ड के समान कृष्णलोहित, पतला, घृत, तैल, [1]वसा, [2]मज्जा, [3]वेशवार, दूध, दही तथा मांस धोये हुए जल के समान वर्णवाला, अञ्जनवत् कृष्ण चाष पक्षी के पंखों के समान नील अरुण, मर्दित अंजन के पिण्ड के समान कृष्णरूक्ष (मेचक), स्निग्ध तथा नानावर्ण, मयूर-पिच्छ के समान चन्द्रिका-युक्त, घन, मुर्दे के समान गन्धवाला, मस्तिष्क के समान, सुगन्धित, सडा हुआ एवं मात्रा में अधिक मल आता हो तथा रोगी तृष्णा, दाह, तम, श्वास, हिक्का, पार्श्वशूल तथा अस्थिशूल से पीड़ित हो, मूर्च्छा (मनोमोह), अरति, समोह (इन्द्रियमोह) से युक्त हो, जिसकी गुदवलियां पक गई हों तथा प्रलाप करता हो ऐसे अतिसार के रोगी की चिकित्सा न करनी चाहिए। जिस रोगी को गुदवलियां संकुचित न हों, जो क्षीण हो तथा जिसका पेट अधिक फूल गया हो, जिसको उपद्रव हो गये हों, गुदपाक होने पर भी जिसमें गर्मी न रह गई हो ऐसे रोगी की चिकित्सा न करनी चाहिए। श्वास, शूल और पिपासा से पीडित, क्षीण, ज्वरग्रस्त, विशेषतः वृद्ध रोगी को अतिसार नष्ट कर देता है ॥ १४-१९ ॥

(जिस अतिसारग्रस्त रोगी को शोथ, शूल, ज्वर, तृष्णा, कास, श्वास, अरुचि, वमन, मूर्च्छा, और हिक्का से युक्त देखें उसे असाध्य समझ कर उसकी चिकित्सा न करें ॥)

असाध्यलक्षणान्याह—पक्वेत्यादि। पक्वजाम्बवसंकाश पक्वजम्बूफलसदृशवर्णं स्निग्ध-कृष्णमित्यर्थः। यकृत्खण्डनिभं कृष्णलोहितम्। तनु स्वच्छ(ल्प)म्। घृतादीना मांसधावन-तोयान्तानामिवाभा प्रतिभासो यस्य तत्तथा। वेशवारो 'निरस्थि पिशितं पिष्टं दधिक्षीर-समन्वितम्। 'एलामरिचसंयुक्तंवेशवार इति स्मृतम्' इत्यादिपरिभाषितमांसप्रकारः। कृष्ण-मञ्जनप्रख्यम्। एतच्च कृष्णत्वादिकं पित्तातिसारवर्ज्यं बोद्धव्यं, तत्र रूपत्वेन पठितत्वात्। नीलारुणं चाषपक्षवर्णम्। मेचकंमर्दनाञ्जनपिण्डवद्रौक्षकृष्णत्वम्। कर्बूरं नानावर्णं; तच्च स्निग्धं स्नेहद्रवधातुयोगात्। चन्द्रकोपगतं मयूरपिच्छचन्द्रकैरिव धातुस्नेहैरुपगतम्। उक्तं हि—करवीराचार्येण,—चन्द्रकः शिखिपिच्छाभैर्नीलपीतादिराजिभिः। आवृतं वेशवारा-म्बुमज्जक्षीरोपमं त्यजेत्' इति। तदेव घनं धात्वन्तरव्यामिश्रत्वात्। कुणपं शवदुर्गन्धि। मस्तुलुङ्गाभं मस्तुलुङ्गं मस्तकाभ्यन्तरस्नेहः घृतकेति ख्यातं, तत्सदृशम्। कुथितं पूति। तृष्णेत्यादि। तृष्णादीनां पार्श्वास्थिशूलान्तानां द्वन्द्वं कृत्वा मत्वर्थीय इनिः, तृष्णादियुक्त-मित्यर्थः। अत्र संमूर्च्छा मनोमोहः, संमोह इन्द्रियमोहः, इत्यपौनरुक्त्यम्। चकाराच्चरकोक्तः (च. चि. अ. १९)। सहसोपरतातीसारश्चासाध्यो बोद्धव्यः पक्ववलीगुदं पक्वा वलयो गुदे यस्य त पक्ववलीगुदम्। असंवृतगुद गुदसंवरणाक्षमम्। तमेव क्षीण बलोपचयरहितम्।

१. वसा—शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता (चर्बी' ति लोके प्रसिद्धा)।

२. स्थूलास्थि के अन्दर का स्निग्ध पदार्थ।

३. निरस्थि पिशित पिष्ट स्विन्न गुडघृतान्वितम्। कृष्णामरिचसयुक्त वेशवार इति स्मृतः॥

५. आतङ्कदर्पणसम्मतोऽयं पाठः।

दूराध्मातं भृशमाध्मानयुक्तं, तस्य विरेकसाध्यत्वेनातिसारविरुद्धोपक्रमत्वात्; दुरात्मानमिति पाठान्तरे दुष्टान्तःकरणम्, अजितेन्द्रियमिति जेज्जट, उपद्रुतमतीसारोपद्रवैः शोथादिभिर्युक्तम्। यदुक्तं 'शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां श्वासं कासमरोचकम्। छर्दिं मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत्' इति। गुदे पक्वे गतोष्माणमिति गुदे पाकारम्भकपित्ते वर्तमानेऽपि गतोष्माणं शीतगात्रं नष्टाग्निं वा। अतिसारकिणम् अतिसारयुक्तम्। 'वातातिसाराभ्यां कुक् च' (पा. अ. ५ पा. २ सू. १२९) इति कुक्, चादिनिः। विशेषेणेति वचनाद्बालस्याप्यतिसारोऽसाध्य इति बोधयति। यदाह सुश्रुतश्चिकित्सायां-'कृच्छ्रश्चायं बालवृद्धेष्वसाध्यः' (सु. उ. अ. ४०) इति। एतच्चाबलत्वे सति बोद्धव्यम् ॥ १४-१९ ॥

विमर्शः—चरक ने उन्नी वें अध्याय के तेरहवें सूत्र में **'एभिर्वर्णैं रतिसार्यमाणं सोपद्रवमातुरमसाध्योऽयमिति प्रत्याचक्षीत'** से लेकर **'सहसोपरतविकारमतिसारिणमचिकित्स्यं विद्यात्'** तक जिन सन्निपातातिसार के असाध्य लक्षणों का वर्णन किया है वे प्रायः सुश्रुतोक्त असाध्य लक्षणों के सदृश ही हैं। यहाँ पर मल के कुछ भौतिक लक्षणों का निदर्शन करके अतिसार की असाध्यता का व्याख्यान किया है। आधुनिकों ने कारण सहित विभिन्न प्रकार के मलों के लक्षणों का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है—

१. **तण्डुलोदकमल**—इसमें पित्त का अंश नहीं रहता। यह विसूचिका तथा भयंकर आन्त्रकलाशोथ का प्रधान लक्षण है। २ **हरिताभपीतमल** (Per-soup stool)—यह मुख्यतः आन्त्रिकज्वर का निदर्शक है। यह प्रायः पीतरक्त भी होता है, सम्भवतः इसीको माधव ने **'यकृत्खण्डविभम्'** के द्वारा प्रतिपादित किया है। **३. हरा मल**—यह बालातिसार (Infantile diarrhoea) का रूप है। **४. वसाभ या तैलाभ मल** (Fatty or oily stool)—इस प्रकार के मल का होना अग्न्याशयिक व्याधि का ज्ञापक है। घृततैलवसाभ के द्वारा मल के इसी रूप का प्रतिपादन किया गया है।

कृष्णमल (Black stool)—लोह एवं विस्मय सेवन के अतिरिक्त रक्त की उपस्थिति से भी यह वर्ण होता है। यदि रक्त की उपस्थिति होगी तो जल डालने से वह रक्तवर्ण का हो जायगा। यदि रक्त आन्त्र के ऊपरी भाग से आता है तभी मल का वर्ण काला हो जाता है। इस अवस्था को मैलीना (Melaena) कहते हैं और इसके निम्न कारण हैं—1. Castro-duodenal ulcer = आमाशय-ग्रहणी व्रण 2. Gastrie Cancer=आमाशयिक कैंसर 3.Typhoid = आन्त्रिकज्वर 4. Kala Azar = कालाजार 5. Cirrhosis of the Liver etc = यकृत् आदि का तन्त्विक, परिवर्त्तनयुक्त शोथ। यदि रक्त आन्त्र के अधोभाग से आता है तो मल लाल होगा। यह स्थिति अर्श या गुदविदार में हो सकती है।

चन्द्रकोपगतम्—इस प्रकार का मल सम्भवतः फास्फोरस विष के सेवन से होता है। ये सब असाध्य क्यों हो गए हैं यह विचारणीय प्रश्न है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ये कष्टसाध्य होते हैं।

उपद्रुतम्—शोथ आदि से उपद्रुत अतिसार असाध्य होता है। शोथ, शूल, ज्वर, तृष्णा, श्वास, कास, अरोचक, वमन, मूर्च्छा और हिक्का अतिसार रोग के उपद्रव होते हैं।

गुदे पक्वे गतोष्माणम्—'पित्तादृते पाको न' इस उक्ति के अनुसार पाक होने में पित्त की उपस्थिति अनिवार्य है, ऊष्मा पित्त का ही गुण है अतः ऐसी स्थिति में उष्मा का न मिलना अरिष्टसूचक है। अथवा 'गतोष्माणम्' यह अलग लक्षण है जिसका तात्पर्य है कि अतिसार द्वारा अत्यधिक जलीय धातु निकल जाने से रक्त की तरलता कम हो जाने से उसके सञ्चार में बाधा होती है और शारीरिक तापक्रम क्षीण हो जाता है।

प्रसङ्गाद् रक्तातिसारं वर्णयति—

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके।
तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः ॥ २० ॥

पैत्तिक अतिसार से पीडित रोगी जब पित्तवर्धक पदार्थों का निरन्तर एवं अतिमात्रा में सेवन करता है तो भयंकर रक्तातिसार की उत्पत्ति होती है ॥ २० ॥

ननु, रक्तजोऽप्यतिसारोऽस्ति तस्य सप्तमत्वापत्तेरुक्तं षट्त्वं विरुध्यते, इत्याशङ्क्य पैत्तिकस्यैवायमवस्थाविशेष इत्याह—पित्तेत्यादि पैत्तिकेऽतीसारे विद्यमाने भविष्यति वा पित्तकृन्ति पित्तकारकाणि द्रव्याण्यत्यर्थं प्रभूतमभीक्ष्णं निरन्तरमश्नाति तदा रक्तातीसार उल्बणो महानुपजायत इति सम्बन्धः। पत्र चारुणकृष्णपाण्डुत्वादिना वातादयो दूषका बोद्धव्याः। यदुक्तं—'दोषलिङ्गेन मतिमान् संसर्गं तत्र लक्षयेत्' इति। एवं स्नेहाजीर्णविसूचिकाविषार्शःक्रिमिप्रभृतिजन्येष्वतीसारेषु षट्कातिरिक्तत्वं प्रतिषिद्धं बोद्धव्यम्, अव्यभिचरितदोषलिङ्गत्वादिति जेज्जटः ॥ २० ॥

विमर्श—अतः रक्तातिसार सातवाँ होने से पूर्वोक्त छः की संख्या बढ जाती है ऐसी शंका हो सकती है। अतिसारों की संख्या करते हुए रक्तातिसार का पाठ नहीं किया गया है किन्तु इसको पैत्तिक अतिसार का ही वर्धित रूप मानने से उक्त शंका का पूर्णतः परिहार हो जाता है। यह पित्तातिसार का ही अवस्थाविशेष है। इसमें पित्त के साथ अन्य दोषों का भी सम्बन्ध होने पर रक्त में कृष्णत्व, पाण्डुत्व आदि वर्ण मिल सकते हैं, कहा भी है—**'दोषलिङ्गेन मतिमान् संसर्गं तत्र लक्षयेत'** अर्थात् तत्तद्दोष के लक्षणों को देखकर रक्तातिसार में तत्तद्दोष के संसर्ग का अनुमान कर लेना चाहिये। प्रकृतसमसमवाय होने से इनका पृथक् पाठ करना अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार स्नेह, अजीर्ण, विसूचिका तथा विष आदि विविध कारणों से उत्पन्न होने वाले अतिसारों को भी वातादिजन्य ही समझना चाहिये पृथक् नहीं। चरक ने भी रक्तातिसार का पृथक् पाठ न करके **'रक्तपित्तोपहितम्'** इस लक्षण के द्वारा पित्तातिसार में ही समावेश कर दिया है।

पित्तकृन्ति—अम्ल, लवण, कटु, क्षार तथा तीक्ष्ण पदार्थ पित्तवर्धक होते हैं। ये आन्त्रिक कला को क्षुभित करते हैं। पित्तातिसार के कारण आन्त्रिक कला पूर्व से ही क्षुभित रहती है, इस अवस्था में इन पदार्थों का सेवन कला को अति क्षुभित कर देता है एवं श्लैष्मिककलागत केशिकाओं के विदीर्ण हो जाने से मल के साथ रक्त की भी प्रवृत्ति होने लगती है। इसको ही रक्तातिसार कहते हैं।

प्रवाहिकायाः सम्प्राप्तिमाह—

वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ २१ ॥
(सु. उ. अ. ४०)

अहित आहार करने वाले प्राणी के कोष्ठ में सञ्चित कफ को जब प्रकुपित वायु बाहर निकलने के लिए प्रेरित करता है तब प्रवाहण (कुन्थन या जोर लगाना) करने पर थोड़ी मात्रा में बार-बार मलयुक्त कफ गुदमार्ग से बाहर निकलता है। इस अवस्था को विद्वान् प्रवाहिका कहते हैं ॥ २१ ॥

अथ द्रवसरणादामपक्वलक्षणयोगात् प्रवाहिकातीसारयोः साधर्म्यम्, अतोऽतीसाराधिकारे प्रवाहिकासंप्राप्तिमाह—वायुरित्यादि। अतीसारे नानाविधद्रवधातुसारणं प्रवाहिकायां तु कफमात्रसरणमिति भेदः। निचितं बलासमहिताशनस्य संचितं कफं, मलाक्तं पुरीषसहितं वायुर्वातः अधस्तान्नुदति गुदेन पातयति। प्रवाहतः प्रवाहणं कुर्वतः। ।भोजादौ

त्विथं विस्रंसीति नाम्ना पठ्यते, पाराशरे त्वन्तर्ग्रन्थिरिति,'[1] हारीतस्तु निश्चारकाख्यामेतां[2] पठति। यदाह—'प्रवाहिकेति सा ज्ञेया केश्चिन्निश्चारकस्तु[3] सः' इति ॥ २१ ॥

विमर्शः—द्रवसरण एवं आम-पक्वलक्षण सामान्य के कारण प्रवाहिका और अतिसार में कुछ साधर्म्य है अतः अतिसार में प्रवाहिका का भी वर्णन कर दिया गया है। चरक एवं वाग्भट में इसका पृथक् वर्णन नहीं मिलता किन्तु इसे अतिसार का ही अवस्थाविशेष माना है। अतिसार में विविध जलीय धातुओं का सरण होता है किन्तु प्रवाहिका में प्रायः केवल कफ ही निकलता है। इन दोनों का यह विभेदक लक्षण है। सापेक्ष रोगनिश्चिति को दृष्टिकोण में रखते हुए अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी के परस्पर विभेदक लक्षणों का उल्लेख आगे यथास्थान किया जायगा। भोज ने इसके लिये 'विस्रंसी' तथा पराशर ने 'अन्तर्ग्रन्थि' या 'अन्नग्रन्थि' नाम दिया है। हारीत इसको 'निश्चारक' या निःसारक' कहते हैं।

प्रवाहिका रोग में विकृत का मुख्य केन्द्र स्थूलान्त्र (Large intestine) है। मल में श्लेष्मा प्रचुर मात्रा में उपस्थित रहता है। इस अवस्था में प्रवाहण (Tenasmus) विशेष रूप से पाया जाता है। रोगी को अनुभव होता है कि कोई वस्तु नीचे को खिसकी जा रही है। आधुनिक दृष्टि से इसे 'डिसेण्ट्री' कह सकते हैं। जब आमदोष पक्वाशय में चला जाता है तो उसके दोष के निर्हरण की क्रिया का परिणाम ही 'प्रवाहिका' नाम से ख्यात है। इस अवस्था में वात के अधिक प्रकोप के कारण ऐंठन होती है एवं मल अल्प मात्रा में निकलता है साक्षात् कफज विकार होने हुए भी प्रेरक होने के कारण इसमें वातिक लक्षणों का भी विशिष्ट स्थान रहता है। आचार्य चरक के समान अन्य कतिपय आचार्यों ने प्रवाहिका का अलग वर्णन नहीं किया है। बल्कि उसे अतिसार का ही एक स्वरूप माना है और उसका वर्णन चिकित्सा के साथ किया है जैसे—'आमे परिणते यस्तु विबद्धमतिसार्यते। समूलपिच्छमल्पाल्पं बहुशः सप्रवाहिकम् ॥ यूषेण मूलकानाम् ''खडो हन्यात् प्रवाहिकाम् ।' तथा 'वातश्लेष्मनिबन्धे वा कफे वाऽतिस्रवत्यपि। शूले प्रवाहिकायां वा पिच्छावस्ति प्रयोजयेत् ॥' (च. चि, अ. १९)।

इस प्रकार वातातिसार में आम और कफ का अनुबन्ध होने पर या कफज अतिसार में वायु का अनुबन्ध होने पर प्रवाहिका होती है। चरक का अभिप्राय है। सुश्रुत ने भी प्रवाहिका को वातजनित ही माना है।

अतिसार और प्रवाहिका की सम्प्राप्ति-विवरण से स्पष्ट है कि दोनों ही रोग अग्निमान्द्य या पाचनविकारजन्य होते हैं। दोनों में ही महास्रोत में विकार होता है किन्तु महास्रोत के अंशविशेष में विकार होने पर मल के स्वरूप में तथा लक्षणों में भी विशेषता आ जाती है। तथा एक अंश में विकार उत्पन्न होने पर उसका न्यूनाधिक प्रभाव अन्य अंशों पर भी होता ही है। सम्भवत चरक ने इसी आधार पर अतिसार और प्रवाहिका में भेद नहीं माना है। किन्तु सुश्रुत ने अवयव विशेष की विकृति के आधार पर ही इसको अलग माना है क्योंकि आमाशय के विकार में प्रधानतः छर्दि, ग्रहणी या क्षुद्रान्त्र के विकार में द्रवभूयिष्ठमलातिवृत्ति (अतिसार) और पक्वाशय विकार में विरलद्रव कफबहुल मल की बार-बार अल्पमात्रा में प्रवृत्ति (प्रवाहिका) होती है। आजकल भी इसी क्रम से Gastritis.Enteritis & Colitis यह तीन पृथक्-पृथक् विकार माने गये हैं किन्तु एक दूसरे का परस्पर मेलन पर स्वीकार किया गया है जैसे Gastro enteritis. Entro colitis तथा Gastro entro colititis इसी प्रकार कुछ आधुनिक विद्वान् भी मलातिप्रवृत्ति को Diarrhoea और मल के स्वरूप भेद से उसके Choleric, Dysenteric & Billions Diarrhoea आदि भेद भी करते हैं। (जिनका निर्देश पूर्वपृष्ठ पर हो चुका है।) अतः अतिसार और प्रवाहिका दोनों में अभेद और भेद दोनों ही युक्तिसंगत हैं। कुछ लोग अतिसार की तुलना अर्वाचीन 'डिसेण्ट्री' और प्रवाहरण का अर्थ 'अधिक मल का प्रवाह' कर अर्वाचीन 'डायरिया' से प्रवाहिका की तुलना करते है यह उनका भ्रम है। क्योंकि वस्तुत- प्रवाहण का अर्थ कुन्थन है जो 'डिसेण्ट्री'' में अधिक होती है तथा अतिसरण का अर्थ अधिक मात्रा में द्रवमल या जलीयांश की प्रवृत्ति है जो 'डायरिया' में मिलती है।

१. 'अन्नग्रन्थिरिति' इति पा०। २. 'निःसारकाख्या' इति पा० ३. 'निःसारकस्तु' इति पा०।

वातादिभेदेन प्रवाहिकानिरूपणम्—

प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात् सदाहा सकफा कफाच्च ।
सशोणिता शोणितसम्भवा च ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु ॥
तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं क्रमं चामविपक्वतां च ॥ २२ ॥

वातिका प्रवाहिका शूलयुक्त, पैत्तिक दाहयुक्त, श्लैष्मिक श्लेष्मायुक्त तथा रक्तजा रक्तयुक्त होती है। कफज प्रवाहिका स्निग्धपदार्थजन्य तथा वातिक रूक्षपदार्थजन्य होती है। ('तु' ग्रहण से अनुक्त तीक्ष्ण उष्ण पदार्थजन्य पित्तज एवं रक्तज प्रवाहिका का भी ग्रहण कर लेना चाहिये।) इन सब के लक्षण, चिकित्सा आमता एवं पक्वता का वर्णन अतिसार के समान ही करना चाहिये॥ २२॥

तस्या वातादिभेदेन रूपमाह—प्रवाहिकेत्यादि। ननु, वायुः प्रवृद्धो निचितं बलास-मित्युक्तं तत् कथं वातकृतेति? उच्यते, आधिक्येन व्यपदेशात्। ननु, तथाऽपि पित्तरक्त-सम्भवा कुतः? उच्यते, अहिताशनस्येत्युक्तम्, आहारो हि विरुद्धस्तस्यामवस्थायां पित्तं रक्तं च कोपयति, ते च पश्चाज्जातस्यानुबले स्वलिङ्गं यदा दर्शयतस्तदा ताभ्यां व्यपदेशः। स्नेहरूक्षप्रभवा इति स्नेहप्रभवा कफजा, रूक्षप्रभवा वातजा; तुशब्दाच्च तीक्ष्णोष्णप्रभवा[1] पित्तजा रक्तजा च। लिङ्गवातादिभेदेन लक्षणम्। क्रममामपक्वभेदेन चिकित्साक्रममिति॥२२॥

विमर्शः—यद्यपि **'वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासम्'** के द्वारा प्रवाहिका की सम्प्राप्ति में वात और कफ दोनों की सामान्य प्रधानता का प्रतिपादन किया गया है केवल वात तथा अन्य किसी दोष के सम्बन्ध का नहीं तथापि प्रकृत में **'व्यपदेशस्तु भूयसा'** न्याय के अनुसार जहाँ कफ की अपेक्षा वात की अधिकता होगी वहाँ वातिक एवं जहाँ कफ की अधिकता होगी वहाँ कफज व्यवहार किया जा सकता है। पुनः यह सन्देह होता है कि सम्प्राप्ति में पित्त और रक्त का तो नाम भी नहीं है पुनः **'पित्तात्सदाहा'** तथा **'शोणितसम्भवा'** आदि क्यों कहा गया? इस पर कहते हैं—अहिताशन की कोई मर्यादा नहीं है। वह वातवर्धक, पित्तवर्धक आदि किसी भी प्रकार का हो सकता है। अतः निदान-वैचित्र्य से दोषप्रकोप वैचित्र्य एवं लक्षणवैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है। इसके साथ यह भी स्मरणीय है कि इन सभी में वात और कफ का अनुबन्ध रहना भी अनिवार्य है अतः सम्प्राप्ति में उन्हीं दोनों का उल्लेख है।

प्रावाहिक तथा आमातिसार के लक्षणों में बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है अतः इनका सापेक्षनिश्चितिसूचक कोष्ठक नीचे दिया जाता है—

आमातिसारप्रवाहिकयोर्भेदः—

आमातिसार	प्रवाहिका
१. इसमें अनेक धातुओं का क्षरण होता है।	१. इसमें केवल कफ का ही क्षरण होता है।
२. इसमें मलत्याग के समय शूल होता है।	२. इसमें मलत्याग के पूर्व ऐंठन होता है।
३. इसमें मल की मात्रा अधिक होती है।	३. इसमें मल की मात्रा कम होती है।
४. इसमें अपक्व अन्न भी मिलता है।	४. इसमें अपक्व अन्न नहीं मिलता है।

अतिसारप्रवाहिकयोर्भेदनिरूपणम्—

आमातिसार	प्रवाहिका
१. अतिसार में विविध द्रव धातुओं का क्षरण होता है।	१. मल के साथ केवल कफ धातु ही निकलती है।
२. अतिसरण मात्रा एवं संख्या दोनों दृष्टियों से अधिक होता है।	२. मल-प्रवृत्ति मात्रा में कम किन्तु संख्या में अधिक होती है।

१. 'तीक्ष्णाम्ल०' इति

शोकजरक्तातिसारयोर्भेदः—

शोकज	रक्तातिसार
१. इसका निदान शोक है।	१. पित्तातिसार में पित्तवर्धक पदार्थों का अति सेवन इसका कारण है।
२. रक्तातिसार या पित्तातिसार की चिकित्सा-मात्र से लाभ न होकर मानसिक उपचार की भी आवश्यकता होती है।	२. यह केवल पित्तनाशक एवं रक्तस्तम्भक ओषधि योगों से ही शान्त हो जाता है।
३. रक्त अल्प मात्रा में रहेगा।	३. रक्त पुष्कल मात्रा में भी हो सकता है।

रक्तपित्तरक्तातिसारयोर्भेदः—

अतिसार	रक्तपित्त
१. रक्त मलयुक्त होता है।	१. रक्त का मलयुक्त होना अनिवार्य नहीं है।
२. रक्तप्रवृत्ति गुदमार्ग से ही होती है।	२. रक्तप्रवृत्ति गुदा, मुख तथा नासिका आदि से भी हो सकती है।
३. इसमें जीवरक्त के लक्षण भी मिल सकते हैं।	३. इसमें जीवरक्त के लक्षण नहीं[1] होते।

गतातिसारस्य लक्षणमाह—

यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः॥ २३ ॥(सु.उ.अ. ४०)

जिसके मूत्र एवं अधोवायु की प्रवृत्ति मलप्रवृत्ति के बिना भली भाँति होती है (अर्थात् मूत्र-त्याग करते समय या अपानवायु के मोक्ष के समय मल की भी प्रवृत्ति नहीं हो जाती) जिसकी अग्नि प्रदीप्त एवं कोष्ठ लघु है उसको अतिसार रोग से मुक्त समझना चाहिये॥ २३॥

वातविष्टम्भादुदावर्ताद्वा मलाप्रवृत्तावतीसारनिवृत्तिरिति शङ्कानिरासार्थमतीसारनिवृत्तिलक्षणमाह—यस्येत्यादि। उच्चारं विना यस्य मूत्रं प्रवर्तते, सम्यगिति सम्यग्वृत्त्या[1] न हीनयोगेनेत्यर्थः। वायुश्च गच्छति, 'गुदेन' इति शेषः। स्थितो निवृत्तिं गतः। उदरामयोऽतीसारः, प्रकरणात्। एतेन संप्राप्तिभङ्ग उक्तः। अतीसारे हि संप्राप्तिरियं—यन्मूत्रोच्चितोऽपि द्रवधातुर्गुदेनैव प्रवर्तते, सर्वस्यैवाब्धातोर्गुदप्रवृत्तत्वात्; यदा तु मूत्रमार्गेण प्रवर्तते, तदाऽपि पुरीषप्रवृत्तिसमकालमिति॥ २३॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामतीसारनिदानं समाप्तम्॥ ३॥

विमर्शः—कभी-कभी विगुण वायु के कारण आन्त्र-संकोच अथवा विरुद्ध आंत्र-गति होने पर मल-प्रवृत्ति रुक जाती है। इससे भी अतिसार रोग की निवृत्ति का संदेह हो सकता है। इस संदेह के निराकरण के लिये इस लक्षण का जानना आवश्यक है। वस्तुतः यह अतिसार की सम्प्राप्ति के भंग होने का लक्षण है। अतिसार में वातवैगुण्य रहता है मल की अधिक प्रवृत्ति के साथ द्रव धातु का सरण भी गुदमार्ग से होने के कारण मूत्र और स्वेद का कार्य अवरुद्धप्राय हो जाता है। जब रोगी इस अप्राकृत अवस्था से पुनः प्राकृत अवस्था में आ जाता है तब उसे रोगमुक्त कहा जाता है।

---

१. तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा। भुङ्क्ते तच्चेद्वदेज्जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत्॥ शुक्लं वा भावितं वस्त्रमाधानं कोष्णवारिणा। प्रक्षालितं विवर्णं चेत् पित्तं शुद्धे तु शोणितम्॥ (च. सि. अ. ६)

---

१. 'नातिप्रवृत्त्या' इति पा०।

प्रसंगाऽऽज्वरातिसारं वर्णयति—

(ज्वरातीमारयोरुक्तं निदानं यत् पृथक् पृथक् ।
यत्स्याज्ज्वरातिसारस्य तेन नात्रे दितं पुनः ॥ १ ॥)

इति माधवकरविरचिते माधवनिदानेऽतीसारनिदानं समाप्तम् ॥ ३ ॥

ज्वर एव अतिसार का जो निदान (हेत्वादि निदान पंचक) पृथक्-पृथक् कहा गया है वही मिलकर ज्वरातिसार का निदान हो सकता है। अत एव इसका पृथक् निर्देश नहीं किया गया ॥ १ ॥

विमर्शः—ज्वर और अतिसार के अन्य भेदों में भी ज्वर और अतिसार दोनों ही निदानादि के मिश्रण से एक साथ हो सकते हैं पर पित्त ज्वर में अतिसार एवं पैत्तिक अतिसार में ज्वर थोड़ा बहुत होता ही है यदि यही अधिक हो जायें तो 'ज्वरातिसार' कहलाएगा। यथा—

पित्तज्वरे पित्तभवोऽतिसारस्तथाऽतिसारे ज्वरस्सभवो वा ।
दोषस्य दूष्यस्य समानभावात् पित्तातिसार प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ भे० र० ।

इत्यतीसारनिदान समाप्तम् ।

अथ ग्रहणीरोगनिदानम्

हेतुलक्षणसहितां ग्रहणीरोगसम्प्राप्तिमाह—

अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः ।
भूयः संदूपितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूपयेत् ॥ १ ॥
एकैकशः सर्वशश्च दोपैरत्यर्थमूर्च्छितैः ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥ २ ॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम् ।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥ ३ ॥ (सु. उ. अ. ४०)

अतिसार के निवृत्त जाने पर या आरम्भ से ही अपथ्य सेवन करने वाले दुर्बलाग्नि पुरुष की जठराग्नि वात आदि दोषों से पुनः अधिक विकृत होकर ग्रहणी को भी विकृत कर देती है। इस प्रकार प्रकुपित वात आदि दोषों से किसी एक, दो अथवा तीनों से विकृति को प्राप्त हुई ग्रहणी खाये हुए पदार्थ को आमावस्था में अथवा कदाचित् पक्वावस्था में भी अनेक बार त्यागती है। इससे मल दुर्गन्धित, कभी बद्ध (वातानुबन्ध से) और कभी द्रव (पित्तानुबन्ध से) रूप में बार बार पीडा के सहित निकलता है। आयुर्वेदज्ञों ने इस को ग्रहणी रोग संज्ञा प्रदान की है॥१-३॥

द्रवसरणसाधर्म्यात् परस्परानुबन्धित्वाच्चातीसारानन्तरं ग्रहणी, तस्याः संप्राप्तिमाह— अतीसार इत्यादि। अपिशब्दादजातातिसारस्यापि स्वहेतोर्ग्रहणीरोगः स्यादिति बोधयति। अन्ये त्वपिशब्दादनिवृत्तेऽप्यतीसार इति व्याचक्षते। मन्दाग्नेरित्यनेन दीप्ताग्नेरहिताशनमपि न विकारकारीति बोधयति। उक्तं हि सुश्रुते—'दीप्ताग्नेर्विरुद्धं वितथं भवेत्' (सु. सू. अ. २०) इति। भूय इति पुनरर्थं वा, सन्दूषितः पूर्वमतीसारेऽपि दूषितत्वात्, अभिदूषयेत् समन्ताद् दूषयेत्। एतेन निवृत्तातीसारिणाहिताहारपरिहारः करणीयः, आवह्निबललाभादित्युक्तं भवति। अत एवाह सुश्रुतः—'तस्मात् कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत्। यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा' ॥' (सु. उ अ. ४०) इति ॥ १ ॥

तस्याः संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—एकैकश इत्यादि। **मूर्च्छितैरतिवृद्धैः 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' इति धात्वर्थात्। 'उच्छ्रितैः' इति पाठान्तरे स एवार्थः। सा ग्रहणी दोषैर्दुष्टा सती भुक्तमाहारमाममपक्वमेव पक्वं वा विमुञ्चति। वाशब्दश्चार्थे, एवकारः समु-**

च्चीयमानावधारणे, यथा 'नरं च नारायणमेव चोभौ स्वतः सुतौ संजनयांबभूवतुः' इति। अथवा एवकारो विकल्पार्थं निपातानामनेकार्थत्वादिति । सहजं स्थूलम् , पूति दुर्गन्धि । वातेन मुहुर्बद्धं, पित्तेन मुहुर्द्रवम् । ग्रहणीरोगमिति ग्रहण्या रोगो ग्रहणीरोगः । ग्रहणी चाग्न्यधिष्ठानम् । यदाह चरकः-'अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता । नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ॥ अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति चाप्यधः' (च. चि. अ. १५) इति । सुश्रुतेऽप्येतदुक्तं-'षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥' (सु. उ. अ ४०) इति । कला धात्वाशयान्तरमर्यादा, पक्वामाशयमध्यस्था पच्यमानाशयरूपेत्यर्थः ॥ २-३ ॥

विमर्शः—ग्रहणी रोग पाचन-संस्थानगत रोगों में प्रमुख है। पाचनसंस्थानगत अन्य रोगों के समान इसका भी प्रधान हेतु मन्दाग्निता है । यद्यपि मुखादि से गुदपर्यन्त पाचन-प्रणाली के सम्पूर्ण अवयव इस रोग में विकृत हो जाते है तथापि उक्त विकार एवं अग्नि का प्रधान आश्रय-स्थल ग्रहणी ही है । एवं आश्रय और आश्रयी में अभेद मान कर ग्रहणी के आश्रित विकार को भी ग्रहणी नाम से ही कहा जाता है । अत एव चक्रपाणि ने कहा है—**'ग्रहणीमाश्रितोऽग्निदोषो ग्रहणीदोषः, एवं चाश्रयाश्रयिणोरभेदोपचाराद् ग्रहणीदोषशब्देन ग्रहण्याश्रितोऽग्निदोषोऽपि गृह्यते'** (च. चि. १५) ग्रहणी के अतिरिक्त छर्दि, अतिसार, विसूचिका, विलम्बिका, अलसक आदि सम्पूर्ण पाचन प्रणालीगत रोगों का मूल भी दोषावृत पाचक पित्त या अग्नि की मन्दता है । सम्प्राप्ति-भेद से इनके लक्षणों में भी भेद हो जाता है । अन्यथा सभी एक श्रेणी के रोग है । आमदोष जब आमाशय में रहता है तो छर्दि को उत्पन्न करता है, इसी प्रकार जब वह आगे आन्त्र में चला जाता है तो अतिसार या प्रवाहिका सदृश रोगों को उत्पन्न करता है । अतिसार की सम्प्राप्ति में भी पाचकाग्नि की क्षीणता[1] का प्रतिपादन किया गया है । **अग्नि का महत्त्व**—अग्नि का महत्त्व पाचन के लिये ही नहीं अपितु शरीर-निर्माण की सम्पूर्ण क्रियाओं के लिये भी है। इसी आशय से चरक ने कहा है कि—अन्न की देह, धातु, ओज, बल आदि की पोषकता अग्निबलपर ही निर्भर है, क्योंकि अग्नि के आहार से इन सब के पोषक रस धातु की उत्पत्ति नहीं हो सकती[2] । इसी का और अधिक महत्त्व प्रदर्शित करते हुये यहाँ तक कह दिया कि अग्नि की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति पर प्राणी का जीवन-मरण अवलम्बित है[3] ।

पाचन-प्रणाली के विभिन्न भागों में अग्नि के विभिन्न स्वरूप हैं, आधुनिकों ने तो उनका नामकरण भी पृथक्-पृथक् किया है । भुक्त पदार्थ का आंशिक पाचन मुख से ही प्रारम्भ हो जाता है । इस प्रकार अन्न मुख से आमाशय में पहुँचता है। वहाँ किञ्चित् पचन एवं संघात-भेद होने के उपरान्त वह अर्धपक्व या अपक्व अवस्था में ग्रहणी या पच्यमानाशय में पहुँचता है । यहाँ इसके साथ विभिन्न प्रकार के पाचक रसों का संमिश्रण भली भाँति होता है । पित्ताशय-नलिका द्वारा पित्त तथा अग्न्याशयिक-नलिका द्वारा अग्न्याशय रस (अच्छपित्त) इसी स्थल पर मिलते है, एवं अन्न को पूर्णतया पाचित कर देते है । इस पाचन से अन्न प्रसाद और किट्ट दो भागों में विभक्त हो जाता है[4] । प्रसादांश को अन्नरस कहते हैं । आयुर्वेदीय शरीरक्रिया-विज्ञान की दृष्टि से अवस्थापाक

---

१. 'संशम्यापां धातुरग्नि प्रवृद्धः' । २. यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम् । तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः ॥ (च. चि. १५) ३. शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः । रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥ (च. चि. १५) ।

४. अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति । तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥ समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु । काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥ एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः । (च. चि. १५)

एवं निष्ठापाक नाम से पाक के भेद किये गये हैं। मुख, आमाशय ग्रहणी एवं आन्त्र में स्थित बोधक तथा क्लेदक कफ, समान वायु एवं पाचक पित्त के द्वारा अन्न का पाचन होता है। आमावस्था, पच्यमानावस्था और पक्वावस्था में छहों रस वाले आहार से तत्तत्स्थान के प्रभावानुरूप स्थूल कफ, पित्त तथा वात की उत्पत्ति होती है। इस क्रिया को अवस्थापाक कहते हैं। इसके पश्चात् भूताग्नि व्यापार तथा धात्वग्नि-व्यापार के द्वारा निष्ठापाक या विपाक प्रारम्भ होता है। प्रत्येक भूत एवं प्रत्येक धातु की अग्नि पृथक् है वह समान गुण वाले पदार्थ का ही पाचन करती है। यथा पार्थिवाग्नि पार्थिव भाग का और जलाग्नि जलीयांश का। इसी प्रकार सब अग्नियाँ अपने समान गुणवाले द्रव्य का ही पाचन करती हैं। तात्पर्य यह कि पञ्च भूतों के भी पाँच रूप हैं जो आहार रस से अपने धातु या भूत के अनुरूप पाचन या शोषण करते हैं[1]। इसके पश्चात् यह रस रक्त द्वारा सम्पूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता हुआ प्रत्येक धातु के सम्पर्क में आता है। वे भी अपने अनुकूल अंश का ग्रहण करके सात्म्य बनाने के लिये धात्वग्नि द्वारा पाचन करते हैं, और इसके परिणामस्वरूप वह रस पुनः प्रसाद और किट्ट दो भागों में विभक्त हो जाता है[2]। प्रसादांश धातुपोषण तथा किट्टांश मल का पोषण करता है। विस्तार में न जाकर संक्षेप में यही समझा जा सकता है कि शरीर के निर्माण के लिये अग्नि का क्या महत्त्व है। इस अग्नि को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—१. जाठराग्नि, २. भूताग्नि, ३. धात्वग्नि। इन सब में जाठराग्नि का अधिक महत्त्व है; क्योंकि वह अन्य दोनों अग्नियों का भी पोषक है, इसकी हानि से अन्य दोनों अग्नियाँ भी मन्द हो जाती हैं[3]। इन अग्नियों के मन्द होने से विभिन्न विकारों की उत्पत्ति होती है। जाठराग्नि की दुर्बलता से अजीर्ण, अतिसार, विलम्बिका, अलसक, ग्रहणी तथा अनुलोमक्षय आदि रोग होते हैं। भूताग्नि-विकृति से आन्त्रक्षय अनुलोमक्षय होता है। धात्वग्नि-नाश से प्रधानतया प्रतिलोमक्षय या मधुमेह सदृश रोग उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त विवेचन से जाठराग्नि का महत्व स्पष्ट है, और इसका मुख्य अधिष्ठान ग्रहणी है। अतः ग्रहणी रोग की उत्पत्ति में जाठराग्नि का उपघात ही महत्त्वपूर्ण है।

अतिसार के पश्चात् अग्निमान्द्य का कारण—विभिन्न कारणों से विभिन्न अतिसार की अवस्था में मल को निकालने के लिए आन्त्र को अत्यधिक गतियाँ करनी पड़ती हैं। जिसके परिणामस्वरूप आन्त्रिक-पेशियों में परिश्रान्तता (Atonic condition) तथा कभी-कभी श्लैष्मिक कला में व्रण-शोथ भी उत्पन्न हो सकते हैं। इस अवस्था में आन्त्र की गति एवं तज्जन्य पाचक रसों का स्राव भी सम्यक् नहीं होने पाता। ये रस ही आयुर्वेदाभिमत पाचकाग्निस्वरूप हैं। इनकी कमी ही अग्निमान्द्य है। प्रथम श्लोक में 'अपि' शब्द दिया गया है। जिससे प्रतीत होता है कि अतिसार बिना उत्पन्न हुए भी अन्य कारणों से उत्पन्न मन्दाग्नि के परिणामस्वरूप भी ग्रहणीविकार हो सकता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि 'अपि' शब्द के ग्रहण से अतिसार निवृत्त न होने पर भी ग्रहणी रोग हो सकता है अर्थात् अतिसार ही ग्रहणी में परिवर्तित हो जाता है।

भूयः सदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत्—अतिसार के कारण मन्द अग्नि अपथ्य सेवन करने से मन्दतर एवं मन्दतम हो जाती है, एवं ग्रहणी में आश्रित रहने के कारण उसको भी दूषित करती है यह व्यवहार में कहा जाता है। वस्तुतः अग्निमान्द्य करने वाले कारणों से ही ग्रहणी

---

१. भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः।
पञ्चाहारगुणान् स्वान् स्वान् पार्थिवादीन् पचन्ति हि॥
यथास्वं स्वं च पुष्णन्ति देहे द्रव्यगुणाः पृथक्। पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः॥

२. सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः। यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादतः॥

३. अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तॄणामधिपो मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः॥ (च. चि. १५)

दुष्टि भी होती है; क्योंकि कहा भी है **'दुष्यति ग्रहणी जन्तोरग्निसादनहेतुभिः'** (सु. उ. ४०) किन्तु फिर भी ग्रहणी रोग के प्रति साक्षात् कारणता अग्निदुष्टि (पाचक रसों की विकृति) को ही है। अतिसार में विलेपी या दही सदृश दीपन, ग्राही एवं सुपाच्य पदार्थों का सेवन करना चाहिये जिसका पाचन अल्प प्रमाण में भी उपस्थित पाचकरस के द्वारा निर्विघ्न हो सके एवं अन्त्र की गति को कम करने में सहायक हो। इसके विपरीत यदि स्निग्ध, गुरु प्रभृति विकारकारी पदार्थों का सेवन कराया जाय तो पाचक पित्त और भी कम हो जाता है।

'सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति' इस प्रकार पाचक पित्त के अभाव से भुक्त पदार्थ पर कोई क्रिया नहीं एवं उसका रस भी नहीं बनेगा, परिणामस्वरूप भुक्त पदार्थ आमावस्था में ही निकल जाता है। मन्दाग्निता भी तर-तमभेद से विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं अतएव कदाचित् कुछ पाचन होने से अर्धपक्व एवं पाचन न होने से अन्न पूर्णतया अपक्वावस्था में ही बाहर निकल जाता है। इस अर्धपक्व या विदग्ध रस का शोषण नहीं होता अतः भूताग्नियों का कार्य अवरुद्ध हो जाता है। कुछ समय तक धात्वग्नियाँ अपना कार्य करती है एवं सचित पोषकांश का पाचन करती हैं, परिणामस्वरूप धातुओं का क्रमशः क्षय होने से शरीर की कृशता अधिकाधिक बढती जाती है। पित्तानुबन्ध होने पर मल कुछ पतला निकलता है। इस प्रकार इस रोग से बचने के लिये अतिसार के पश्चात् अग्निबलप्राप्ति पर्यन्त अपथ्य आहार का परित्याग करना चाहिये, जैसा कि सुश्रुत ने कहा है—

तस्मात्कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत्।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा॥ (सु. उ. ५०)

'मन्दाग्नेः' इस शब्द से सिद्ध है कि दीप्ताग्नि पुरुष को अपथ्य सेवन करने पर भी कोई हानि नहीं होती; क्योंकि कहा भी है—**'दीप्ताग्नेर्विरुद्धं वितथं भवेत्'**। (सु. सू. अ. २०)

ग्रहणी एवं उसका कार्य—यह अग्नि का प्रधान केन्द्र है एवं अन्न का ग्रहण करने के कारण इसको ग्रहणी कहते हैं। यह पाचक पित्त की उपस्थिति रहने पर अविकृत एवं पाचन क्रिया का संपादक करने में पूर्ण समर्थ होती है। पाचनार्थ अपक्व अन्न को धारण करती है एवं पाचन के पश्चात् अवशिष्ट अंश (मल) को निकाल देती है, किन्तु अग्नि दुर्बल होने पर आम अन्न को भी निकाल[1] देती है। यह ग्रहणी का सामान्य कार्य है जो कि अग्नि के बलाबल पर निर्भर है। सुश्रुत ने ग्रहणी की स्थिति को और अधिक स्पष्ट एवं निश्चितु रूप से बताते हुए कहा है—

षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता॥ (सु. उ. ३०)

पित्तधरा नामक छठीं कला जिस आशय में रहती है तथा जो पक्वाशय (बृहदन्त्र) एवं आमाशय (Stomach) के मध्य में स्थित है उसे ग्रहणी कहते है। इस वर्णन के आधार पर इसको पच्यमानाशय भी कहा जा सकता है। आधुनिक प्रत्यक्ष शारीर के आधार पर ग्रहणी शब्द से क्षुद्रान्त्र का आरम्भिक भाग ड्यूओडिनम् (Duodenum) या क्षुद्रान्त्र मात्र का ग्रहण करना उचित प्रतीत होता है। साधारणतया इसी की विकृति से ग्रहणी रोग की उत्पत्ति होती है।

एकैकश इति—दोष प्रकोप कि दृष्टि से ग्रहणी के वातज, पित्तज, श्लेष्मज तथा सन्निपातज चार भेद होते है। प्रकुपित हुए इन दोषों का स्थानसंश्रय जब ग्रहणी में होता है तो ग्रहणी रोग की उत्पत्ति होती है स्थानसंश्रय का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए सुश्रुत ने कहा है—

---

१. अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः। दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति॥ (च॰ चि॰ १५

कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् । यत्र सङ्गः स्ववैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥

अर्थात् कुपित होकर सारे शरीर में फैलते हुए दोष स्रोतस् की विकृति के कारण जहां कहीं रुक जाते हैं वहीं रोग उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार स्थानसंश्रय ही व्याधि का मूल है यह सिद्धान्त आज भी निर्विवाद है ।

ग्रहण्याः पूर्वरूपं व्याचष्टे—

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः ।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात् कायस्य गौरवम् ॥४॥ (च. चि. अ. १५)

प्यास, आलस्य, बल की हानि, अन्न की विदग्धता एवं उसका विलम्ब से परिपाक तथा शरीर का भारीपन ये ग्रहणी रोग के पूर्व रूप कहलाते हैं ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमाह—पूर्वरूपमित्यादि । तृष्णा पिपासा । विदाहोऽन्नस्य अग्निमान्द्येनाहारस्य विदग्धत्वं, अत एव चिरात् पाकश्चान्नस्यैव । कायस्य गौरवं सामत्वादिति ॥ ४ ॥

विमर्शः—ग्रहणी के स्पष्ट लक्षण उत्पन्न होने से पूर्व उसके कुछ मृदु लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । ये ही अधिक बढ़कर रूप कहलाते है । सुश्रुत ने इसके पूर्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—**तस्योत्पत्तौ विदाहोऽग्नेः सदनालस्यतृट्क्लमाः । बलक्षयोऽरुचिः कासः कर्णक्ष्वेडोऽन्त्रकूजनम् ॥** (सु. उ. ४०)

इस अवस्था में मलत्याग के अतिरिक्त ग्रहणी के प्रायः सभी लक्षण मृदुरूप में प्रकट होने लगते हैं । अन्न का पूर्ण परिपाक न होने से विदाह के लक्षण प्रकट होते हैं । तृष्णा की उत्पत्ति वातिक एवं पैत्तिक ग्रहणी का विशिष्ट पूर्वरूप है क्योंकि तृष्णा की संप्राप्ति में **'पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत् पिपासाम्'** के द्वारा वात और पित्त दोनों को ही तृष्णा का जनक कहा गया है । पैत्तिक ग्रहणी में जल का अपेक्षाकृत अधिक स्राव होने से तथा वातिक में रूक्षता की वृद्धि के कारण तृष्णा की उत्पत्ति होती है । **बलक्षयः**—प्रकृत में बल का अर्थ ओज है क्योंकि कहा है—**'रसादिशुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव च बलमित्युच्यते ।'** पूर्वरूपावस्था में भी अन्न के विदाह से विदग्ध रस की ही उत्पत्ति होती है एवं उसका शोषण नहीं हो सकता, अतएव भूताग्नि-व्यापार भी अवरुद्ध हो जाता है । उत्तरोत्तर धातु का पोषण कम होने से ओजःक्षय या बलक्षय की अवस्था उत्पन्न होने लगती है । अन्नविदाह में पाचक रसों की विकृति ही कारण है ।

कायस्य गौरवम्—ग्रहणी रोग में अम्लता कम हो जाती है । एवं परिणामस्वरूप रक्त की अम्लता का मूल्य (Ph. value) भी कम हो जाता है । इससे शरीर आमदोष से युक्त हो जाता है । शरीर की गुरुता इसका ही फल है । आलस्य[1] गुरुता का ही निदर्शक है । गुरुता कफज ग्रहणी का विशिष्ट लक्षण है ।

सनिदानसम्प्राप्तिकं वातिकग्रहण्या रूपं निरूपयति—

कटुतिक्तकषायातिरूक्षसंदुष्टभोजनैः ।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः ॥ ५ ॥
मारुतः कुपितो वह्निं सञ्छाद्य[1] कुरुते गदान् ।
तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥ ६ ॥

---

१. 'यत्सामर्थ्येऽप्यनुत्साहस्तदालस्यमितीर्यते' ।

---

१. 'संवाद्य' इति पा० ।

कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।
पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुगभीक्ष्णं विसूचिका ॥ ७ ॥
हृत्पीडाकार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका ।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥ ८ ॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।
स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः ॥ ९ ॥
चिराद् दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् ॥ १० ॥(च.चि.अ.१५)

कटु, तिक्त तथा कषाय रसप्रधान, अतिरूक्ष एवं दुष्ट भोजन के करने, भोजन की कमी, अनशन, अधिक मार्ग चलने, वेग-विधारण करने तथा अति मैथुन करने से प्रकुपित वायु पाचकाग्नि को दूषित करके निम्न लिखित विकारों को उत्पन्न करता है। उक्त सम्प्राप्ति से युक्त व्यक्ति का अन्न कष्ट से पचता है या अम्लपाक होता है; अंग कर्कश रहते हैं, कण्ठ एवं मुख सूखा रहता है, भूख और प्यास लगती है, नेत्रों में तिमिर (मन्ददृष्टिता) हो जाता है, कानों से हुँकार आदि शब्द सुनाई पड़ते हैं, पार्श्व, ऊरु, वंक्षण एवं ग्रीवा में निरन्तर पीड़ा होती है, विसूचिका भी हो जाती है, हृदय में पीड़ा, कृशता, दुर्बलता, मुख में विरसता तथा गुदा में कर्तनवत् पीड़ा होती है। सब रसों को खाने की प्रबल इच्छा प्रादुर्भूत हो जाती है, और मन खिन्न रहता है। भोजन के पच जाने पर तथा पच्यमानावस्था में आध्मान (वायु-संचय से उदर वृद्धि) हो जाता है किन्तु भोजन करने के तुरन्त पश्चात् रोगी स्वस्थता का अनुभव करता है। उस रोगी को वातिक गुल्म हृद्रोग तथा प्लीहवृद्धि की कभी-कभी शंका होती है कास एवं श्वास से पीड़ित वह रोगी बहुत देर में कष्टपूर्वक कभी रूखा एवं कभी द्रव, आम एवं फेन युक्त मलत्याग करता है। ये वातिक ग्रहणी के लक्षण हैं ॥ ५-१० ॥

वातिकग्रहण्या निदानप्राप्तिपूर्वकं रूपमाह—कटुतिक्तेत्यादि । संदुष्टभोजनं संयोगादिविरुद्धभोजनम् । 'संदुष्टभोजनैः' इत्यत्र 'शीतादिभोजनैः' इति पाठान्तरम् । प्रमितमल्पभोजनं; प्रमृतेति पाठान्तरे अतीतकालभोजनं बोद्धव्यम् । अनशनमुपवासः । एतैः कारणैः कुपितो मारुतः वह्निं संछाद्य संदूष्य, गदान् रोगान् करोति । कान् गदान् करोतीत्याह—तस्यान्नमित्यादि । शुक्तपाकम्-अम्लपाकम्, एतच्चाग्निमान्द्यजनितान्नविदाहाद्भवति । खराङ्गता कर्कशशरीरत्वं वातेन त्वग्गतस्नेहशोषात् । तिमिरं मन्ददृष्टिता । रुक् पीडा, सा च पार्श्वादिभिः संबध्यते । विसूचिका ऊर्ध्वमधश्चामान्नप्रवृत्तिः[1] । वैरस्यं विरुद्धरसास्यता । परिकर्तिका गुदे कर्तनवत्पीडा । गृद्धिः काङ्क्षा, सर्वरसानां मधुरादीनां, कर्मणि षष्ठी; एतच्च वातदूषितान्तःकरणत्वेन, व्याधिमहिम्ना वा । मनसः सदनमवसादः । आध्मानं जीर्णे जीर्यति च 'अन्ने' इति शेषः । स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्कीति वातगुल्मादिवत्पीडायुक्तत्वात्तच्छङ्की । द्रवं शुष्कं कदाचिद् द्रवं, कदाचिच्छुष्कम् । तनु अल्पमिति ॥ ५-१० ॥

विमर्शः—चरक ने चिकित्सास्थान के पन्द्रहवें अध्याय में **'अभोजनात्'** इत्यादि से लेकर **'वेगानां च विधारणात्'** तक ग्रहणी रोग के सामान्य हेतुओं का वर्णन करने के पश्चात् उसका परिणाम बताते हुए कहा है—

---

१. 'ऊर्ध्वमधश्चाममलप्रवृत्तिः' इति पा० ।

'दुष्टस्याग्नेः सदुष्टोऽन्नं न तत्पचति लध्वपि । अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषतां च तत्'।

संयोगविरुद्ध या देशकालादिविरुद्ध भोजन को संदुष्ट कहते है । मात्रा एवं पोषण की दृष्टि से अत्यल्प भोजन को प्रमित भोजन कहते हैं । सुश्रुत ने वातिक लक्षणों का लक्षण अति संक्षेप में निम्न प्रकार से किया है—**'वाताच्छूलाधिकैः पायुहृत्पार्श्वोदरमस्तकैः'** ।

मारुतः कुपितो वह्निमित्यादि—भोजन का पाचन कराने के लिये आन्त्रिक पुरःसरणगति (Paristaltic movement) तथा श्लेष्मलकला से निकलने वाला स्राव (**क्लेदक कफ तथा पाचन पित्त**) अत्यन्त आवश्यक होता है । वातिक ग्रहणी में स्राव एव गतिकारक वातनाड़ियों की क्रिया में विकृति आ जाने से गति तथा पाचक रसों का स्राव ठीक से नहीं होता अतएव मल अपक्वावस्था में ही निकल जाता है । आयुर्वेद ने इसी आशय का प्रतिपादन 'प्रकुपित' वायु अग्नि को नष्ट करके ग्रहणी के लक्षण प्रकट करता है, इत्यादि वाक्य के द्वारा किया है ।

देर तक अपक्वावस्था में पड़ा रहने से भोजन का शुक्तपाक या अम्लपाक होता है । वायु के रूक्षता गुण एवं उचित रस की उत्पत्ति न होने से त्वग्गत स्नेह की कमी के कारण शरीर का स्पर्श खुरदरा हो जाता है । पोषकतत्त्वों के अभाव के कारण नेत्रों में तिमिर हो जाता है । शारीरिक धातुओं में व्याप्त आम दोष रक्ताल्पता एव तज्जन्य वातदुष्टि के कारण हृदय, पार्श्व, ग्रीवा एवं ऊरु में पीड़ा होती है । धातुपुष्टि न होने से कृशता और दुर्बलता हो जाती है ।

जीर्णे जीर्यतीत्यादि—भोजन के पाचन काल से ही आध्मान आदि के लक्षण प्रारम्भ होने लगते हैं । पक्वावस्था में ये लक्षण अधिक स्पष्ट होते हैं । पाचन काल में पाचक रसों की कमी के कारण शुक्त पाक एवं गैसों की वृद्धि होने से आध्मान होता है । भोजन की जीर्णावस्था में तो स्वभाव से ही वायु की वृद्धि होती है, क्योंकि कहा भी है—**'वायुर्वारिधरागमे परिणते चान्नेऽपराह्णेऽपि च'** । भोजन के तुरन्त पश्चात् कफ की वृद्धि तथा वात का शमन होने से स्वस्थता का अनुभव होता है । कुछ दिनों के पश्चात् आमदोष की वृद्धि, शक्ति का ह्रास एवं धातुक्षय होने से श्वासकृच्छ्र तथा कास आदि लक्षण भी होने लगते हैं ।

पैत्तिकग्रहण्या निदानसम्प्राप्तिपूर्वरूपमाह—

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम् ।
आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम् ॥ ११ ॥
सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम् ।
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः ॥ १२ ॥ (च. चि. अ.१५)

जैसे तप्त जल अग्नि को बुझा देता है वैसे ही कटु, अजीर्ण, विदाही, अम्ल तथा क्षार आदि पित्त, वर्धक पदार्थों से कुपित हुआ पित्त भी (जलीयांश की अधिकता से) आवृतकर पाचकाग्नि को नष्ट कर देता है । इस प्रकार रोगी का रंग पीला पड़ जाता है एव वह अजीर्ण, नील या पीत वर्ण के पतले मल का त्याग करता है । खट्टी एवं दुर्गन्धियुक्त डकारें आती हैं, हृदय प्रदेश एवं कण्ठ में दाह होता है और रोगी प्यास और अरुचि के कारण व्याकुल रहता है ॥ ११-१२ ॥

पैत्तिकग्रहण्या निदानसंप्राप्तिपूर्वकं रूपमाह—कट्वित्यादि । विदाहि विदाहजनकं वंशकरीरादि । क्षारोऽपामार्गादिकृतः, तथा क्षारो यवक्षारादि, तथा सक्षारं च द्रव्यं; क्षारोदकसाधितं हि व्यञ्जनमश्नन्ति कामरूपादौ । आद्यग्रहणाल्लवणतीक्ष्णोष्णानां ग्रहणं, तैर्वृद्धं पित्तमनलमाप्लावयदभिभवत् हन्ति । ननु, पित्तमाग्नेयमग्निरेव वा, ततश्च वृद्धि

१. 'धूमाम्लो' इति ख ।

मेवाप्नोति, कथं हन्त्यत आह—जलं तप्तमिवानलमिति । यथोष्णगुणयुक्तमपि जलमनलं हन्ति, तथा द्रवांशेन परिवृद्धं पित्तमूष्मरूपमग्निं हन्त्येवेति। स पीताभः पुरुषः सार्यते, 'वचः' इत्यनुवर्तते ॥ ११-१२ ॥

विमर्शः—सुश्रुत ने कहा है—'पायुहृत्पार्श्वोदरमस्तकैः पित्तात् सदाहैः' अर्थात् पैत्तिक-ग्रहणी में गुदा, हृदय, पार्श्व, उदर एवं मस्तक में दाह होता है। पित्तज ग्रहणी में मल अपेक्षाकृत पतला एवं जलन के साथ होता है। सन्देह होता है कि पित्त आग्नेय या अग्निरूप ही होता है फिर वह बढकर अग्निमान्द्य को उत्पन्न करता है यह समुचित नहीं प्रतीत होता ? इसी का उत्तर 'जलं तप्तमिवानलम्' इस वाक्य से दिया गया है। अर्थात पित्त आग्नेय होते हुए भी द्रव है और उसमें द्रवांश अधिक होने पर उसी प्रकार अग्नि को मन्द करता है जैसे गर्म जल आग को बुझाता है। (अग्नि और पित्त में अन्तर का विवेचन पलित निदान (क्षुद्ररोग) में देखिये।)

कटु, तिक्त आदि पदार्थों का अल्प मात्रा में या कभी-कभी उपयोग करने से कोई हानि नहीं होती अपितु पित्त का उत्सर्ग उचित मात्रा में होने से भोजन पाचन सुगमता से होता है। किन्तु निरन्तर या अत्यधिक मात्रा में सेवन करने से पित्त का उत्सर्ग करने वाली ग्रन्थियों में क्षोभ होने से अन्ततः पित्त का उत्सर्जन स्वाभाविक से भी कम हो जाता है। जो कुछ होता भी है वह भी दूषित पित्त को बढाने में ही सहायक होता है।

पूत्यम्लोद्गारेति—अम्लोद्गार का होना दूषित पित्त की अतिमात्र वृद्धि का सहज परिणाम है। इस अवस्था को अम्लोत्कर्षता (Hyper acidity) कह सकते है। यह दूषित पित्त पाचन-कार्य के लिये सर्वथा अनुपयुक्त होता है। (विशेष विवेचन अम्लपित्ताधिकार में देखें)

सनिदानसम्प्राप्तिं श्लैष्मिकग्रहण्या रूपमाह—

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात् ।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः ॥ १३ ॥
तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः ।
आस्योपदेहमाधुर्यं कासष्ठीवनपीनसाः ॥ १४ ॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु ।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥ १५ ॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् ।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥१६॥ (च. चि. अ.१५)

अति गुरु, अति स्निग्ध अति शीत आदि (पिच्छिल, मधुर) भोजन करने से, अधिक भोजन करने से तथा दिन में भोजन करने के तुरन्त पश्चात् सो जाने से कफ दूषित होकर अग्नि (पाचक-पित्त) भी नष्ट कर देता है। ऐसे व्यक्ति के अन्नपाचन में बाधा उत्पन्न हो जाती है, हृल्लास (मिचली), वमन तथा अरोचक हो जाते है, मुख लिप्त एवं मधुर प्रतीत होता है। कास, बार-बार थूकने का स्वभाव एव पीनस (प्रतिश्याय) हो जाता है, हृदय घन द्रव से परिपूर्ण सा मालूम होता है, उदर बद्ध एवं भारी हो जाता है, विकृत एवं मीठी डकारें आती हैं। इनके अति-रिक्त सदन (अग्नि का नाश या थकावट), स्त्रीप्रसंग की इच्छा का अभाव, आम एवं श्लेष्मा से संयुक्त भिन्न (ढीले) और गुरु मल की प्रवृत्ति का होना, कृश न होते हुए भी दुर्बलता तथा आल-स्य की अनुभूति का होना कफात्मक ग्रहणी का निदर्शक है ॥ १३-१६ ॥

श्लैष्मिकग्रहण्या निदानादिपूर्वकं रूपमाह—गुर्वित्यादि । आदिशब्दात् पिच्छिलमधुरादीनां ग्रहणम् । अतिभोजनात् अतिमात्रभोजनात् । ननु, भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निमिति विरुद्धं ? स्वप्नोऽत्र दिवास्वप्नो ग्राह्यः, रात्रिस्वापस्य स्वास्थ्यहेतुत्वात् ; दिवास्वापश्च स्रोतःसमीलनेन जठरानलं सन्धुक्षयति, अत एवाह–'अतीसारिणामजीर्णिनां च दिवास्वप्नो विहितः' इति । उच्यते–भुक्तवतां दिवास्वापोऽत्यन्तकफवृद्ध्याऽग्निं हन्ति, अभुक्तवतां तु संधुक्षयति । यदुक्त–'नराश्चिरशनान् काम दिवा स्वापयेत्–' इति । आस्योपदेहमाधुर्यमिति मुखस्य लिप्तत्वं मधुरत्वं च श्लेष्मणैव । स्त्यानं घनद्रवापूरितमिव । स्तिमितं विबद्धमुदरमिति, निश्चलमित्यर्थः । स्तिमितं स्तब्धं वा । गुरु जडम् । दुष्टो विकृतः । मधुरः मधुरत्वेनोपलक्षित उद्गारः । सदनम् अग्निसादः । स्त्रीष्वहर्षणं स्त्रीरिरंसाया अभावः । भिन्नं च तदामश्लेष्मभ्यां संसृष्टं चेति समासार्थः । दौर्बल्यम् असामर्थ्यमिति ॥ १३–१६ ॥

विमर्शः—सुश्रुत ने इसका लक्षण निम्न प्रकार से किया है—**'कफाद् गुरुभिः पायुहृत्पार्श्वोदरमस्तकैः'** अर्थात् कफज ग्रहणी में गुदा, हृदयप्रदेश, पार्श्व, उदर एवं मस्तक भारी रहते हैं । अब यहाँ सन्देह होता है कि **'भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः'** यह वाक्य विरुद्ध हैं क्योंकि स्वप्न से प्रकृत में दिवास्वप्न का ही ग्रहण करना चाहिये, रात्रिस्वाप का नहीं; क्योंकि रात्रि में सोना तो स्वास्थ्यकर ही है । यद्यपि दिवास्वाप कफवर्धक होने से निषिद्ध है; यह बात—**'दिवास्वापं न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कफावहः'** से सिद्ध है । तथापि **'अतिसारिणामजीर्णिनां च दिवास्वापो विहितः'** इस वाक्य के अनुसार इन अवस्थाओं में दिवास्वाप करने से सम्पूर्ण स्रोत बन्द हो जाते हैं एव अग्नि-संधुक्षण होकर अजीर्ण का नाश होता है । इस प्रकार दिवास्वप्न अग्निवर्धक बताया गया है । उसी 'दिवास्वप्न से अग्नि का विनाश होता है' यह वाक्य असंगत है । इस पर कहते हैं कि भोजन करने के उपरान्त तुरन्त सोने से ही कफ की वृद्धि होकर अग्नि का विनाश होता है, किन्तु भोजन बिना किये सोने पर यही अग्निसंदीपन भी करता है । इसी आशय से कहा भी है **'नराश्चिरशनान् कामं दिवा स्वापयेत्'** अर्थात् भोजन न किये हुए व्यक्तियों को दिन में यथेष्ट सुलाना चाहिये । आस्योपदेह, माधुर्य आदि सभी लक्षण कफ के कारण होते हैं । कफजग्रहणी के मल में श्लेष्मा (Mucus) भी प्रायः प्रचुर मात्रा में पाया जाता है । **अकृशस्यापि दौर्बल्यम्**—यद्यपि धातुपुष्टि न होने से रोगी को दुर्बलता का अनुभव होता है तथापि इस अवस्था में जीवनीयांश की कमी और जलीयांश की अधिकता होने से शोथोत्पत्ति हो जाना स्वाभाविक है अतः रोगी में कृशता दृष्टिगोचर नहीं होती ।

त्रिदोषजग्रहण्याः स्वरूपं लक्षयति—

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे ।
त्रिदोषं निर्दिशेदेवं तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥ १७ ॥ (च. चि. अ. १५)

जिस ग्रहणी में अलग-अलग वर्णित वात आदि के प्रकोपक कारण एवं लक्षणों का समावेश प्रतीत हो उसे त्रिदोष ग्रहणी कहते हैं । तात्पर्य यह है कि–समष्टि रूप में वात, पित्त तथा कफ के प्रकोपक आहार-विहार के करने से त्रिदोषज ग्रहणी की उत्पत्ति होती है ॥ १७ ॥

शिष्यहितैषितया प्रकृतिसमसमवेतत्वेन सुगमाया अपि त्रिदोषजग्रहण्या अतिदेशेन लक्षणमाह–पृथगित्यादि । सं ग्रंश्लोकानुरोधात् 'तेषां वक्ष्यामि भेषजम्–' इति लिखितम् ।

१. 'लक्ष्य' इति ग. ।

ग्रहणीदुष्टया ग्रहण्याश्रितवह्नेरपि दुष्टेरग्निमान्द्यादयोऽपि ग्रहणीविकारा उच्यन्ते। यदुक्तं चरके—'यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः। त चापि ग्रहणीदोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे॥' (च. चि. अ. १५) इति। अन्यत्रापि 'विभागेऽङ्गस्य चोक्ता ये विषमाद्यास्त्रयोऽग्नयः। तेऽपि स्युर्ग्रहणीदोषाः समस्तु स्वास्थ्यकारणम्॥' इति ॥ १७ ॥

संग्रहग्रहण्याः स्वरूपमवतारयति—

(अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं तथा।
द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत् ॥ १ ॥
आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम्।
पक्षान्मासाद्दशाहाद्वा नित्यं वाऽप्यथ मुञ्चति ॥ २ ॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च या।
दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी ॥ ३ ॥
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता।)

अन्त्रकूजन, आलस्य, दुर्बलता, अग्निमान्द्य एवं कटि की वेदना से पीड़ित होने के साथ रोगी तरल, शीत तथा कभी घन, स्निग्ध, आम पिच्छिलता युक्त अत्यधिक मल को शब्द एवं मन्द वेदना के साथ त्यागता है। इसका आक्रमण एक मास, पन्द्रह दिन, दस दिन के पश्चात् या प्रतिदिन भी हो सकता है। इसका प्रकोप दिन में होता है एव रात्रि को शान्त हो जाता है। यह कठिनता से जानने योग्य, दुश्चिकित्स्य (कष्टसाध्य) एवं चिरकालीन स्वरूप का रोग है। यह साम वायु से उत्पन्न होता है एवं इसे संग्रह-ग्रहणी या संग्रहणी कहते है ॥ १–३ ॥

विमर्शः—वस्तुतः यह भी त्रिदोषज ग्रहणी का ही चिरकालीन एवं परिवर्धित रूप है। परिणामतः यह असाध्य या कष्टसाध्य होती है। कुछ काल तक दोषों और मल का संग्रह होता रहता है और पश्चात् उसका निर्हरण हो जाता है। संग्रह की प्रवृत्ति होने से इस रोग को संग्रह ग्रहणी या संग्रहणी भी कहते हैं। इस अवस्था में आन्त्र अत्यधिक दुर्बल रहती है। अतः वह अल्प मल को निकालने में भी असमर्थ ही रहती है। दोषों का संचय पर्याप्त मात्रा में हो जाने पर ही आन्त्र क्रिया करती है। प्रारम्भ में आन्त्र इस निर्हरण क्रिया को एक मास, पन्द्रह दिन या दस दिन के अन्दर पर करती है। किन्तु दूषित मल की अत्यधिकता हो जाने पर वह प्रतिदिन भी निकालने लगती है। मध्याह्नोत्तर काल से लेकर प्रातः ब्राह्ममुहूर्त तक आन्त्र में मल का संचय होता है और शेष समय में उनका निर्हरण। मलत्याग जल्दी-जल्दी कई बार होता है। इस व्याधि में आम, वायु एवं कफ की प्रधानता रहती है।

आधुनिक दृष्टि से इस अवस्था को स्प्रू (Sprue) कह सकते हैं, क्योंकि इन दोनों के लक्षणों में एवं स्थानिक विकृति में साम्य है। स्प्रू की परिभाषा करते हुए सैविल ने लिखा है 'Psilosis or sprue is tropical disease of unknowu etiology associated with derangement of the gastro-intestinal tract characterised by inability to absorb efficiently fat glucose and calcium. the se retion of costle's intrinsic anti–anaemic factor is also defective, तात्पर्य यह है कि इस रोग के लक्षण आन्त्र की विकृति के फलस्वरूप वसा, प्राङ्गोदीय एवं चूर्णातु का शोषण न होने से होते हैं। प्राइस महोदय इनके अतिरिक्त जीवतिक्ति-

(Vitamin) के शोषण का अभाव भी प्रतिपादित करते हैं। इस प्रकार इस रोग में प्राङ्गोदीय (Carbohydrate) वसा, चूर्णातु एवं जीवतिक्ति का पाचन न होने से शोषण भी नही होने पाता एवं ये अपरिपक्वावस्था में ही बाहर निकल जाते है। इस रोग की विकृति का केन्द्र सम्पूर्ण क्षुद्रान्त्र विशेषतः पच्यमानाशय (Duodenum) है। वसा पाचन का यही प्रधान केन्द्र है। वसा पाचन में पित्त (Bile) एवं अग्न्याशय रस (Pancreatic juice) दोनों ही कार्य करते हैं अतः ग्रहणी की सामान्य सम्प्राप्ति में कही गई अग्निदुष्टि से इनकी ही विकृति का ग्रहण करना चाहिये। सैविल महोदय ने सग्रहणी (Sprue) के निम्न लक्षण बताये हैं—

१. Apyrexial morning diarrhoea with bulky, acid pale. frothy & fatty stools अम्ल, पीत, फेनिल और वसाम मलयुक्त प्रातःकालीन अतिसार का होना प्रधान लक्षण हैं।

२. Inflamatory lesions of the mouth. प्रारम्भ में जिह्वा, गला, तालु तथा सम्पूर्ण अन्त्रप्रणाली में विदाह के कारण छाले पड़ जाते हैं एवं जिह्वा में विदार उत्पन्न होकर उसका वर्ण लाल हो जाता है। कटु, तिक्त भोजन शरीर में चुनचुनाहट उत्पन्न कर देता है। एक अवस्था आती है जब जिह्वा के स्वादंकुर नष्ट हो जाते है एवं उसकी श्लेष्मल त्वचा पूर्णतया सपाट सी दीखने लगती है।

३. Anaemia—रक्ताल्पता-यह रक्त के घटकों का पाचन एवं प्रचूषण न होने से होता है।

४. Emaciation and wa ting-कृशता और धातुक्षय-यह धातुपुष्टि के अभाव से होता है।

५. Intestinal flatulance-इसको आध्मान कहते है और यह अपाचित अन्त्र में किण्वीकरण (Fermontation) की क्रिया द्वारा वायवीय पदार्थों की उत्पत्ति से सम्पादित होता है।

६. In advanced cases neuritis & oedma of the feet may occur. रोग और अधिक पुराना होने पर वातनाड़ीशोथ और पादशोथ भी हो सकता है ?

इन लक्षणों के अतिरिक्त कुछ और भी परिवर्तन इस रोग में देखने को मिलते हैं, यथा— जिह्वा के समान अन्नप्रणाली को शोषक एवं रसोत्पादक ग्रन्थियों के विलुप्त हो जाने से श्लेष्मल त्वचा सपाट हो जाती है और खाद्यपदार्थ का पाचन एवं शोषण नहीं होता पाता। धीरे-धीरे यकृत् और अग्न्याशय में भी शोथ होने से उनका कार्य अवरुद्ध हो जाता है। स्नेहांश अपक्वावस्था में ही निकल जाता है। इन विकृतियों के कारण ही आयुर्वेदाचार्यों ने इस रोग को असाध्य माना है।

घटीयन्त्रग्रहणीरोगं निर्दिशति—

(स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः ।
तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥ ४ ॥)

लेटने पर पार्श्व में शूल तथा जल में डूबते हुए घड़े के समान ध्वनि से युक्त ग्रहणी रोग को घटीयन्त्र ग्रहणी कहते हैं ॥ ४ ॥

विमर्श—करवट बदलते हुये तथा मलत्याग के समय जलपूर्ण मशक के समान उदर में शब्द होना असाध्यता की चरमसीमा का निदर्शक है। कतिपय विद्वान इसे अनुलोमक्षय भी कहते हैं। इस रोग (घटीयन्त्र) से अतिसादृश्य रखने वाले एक अन्य रोग का भी अर्वाचीन विद्वानों द्वारा विवेचन किया गया है। वह है (महाप्राचीरीय, आन्त्रवृद्धि = Diaphragmetic Hernia—वक्ष और उदर गुहा को विभक्त करने वाली महाप्राचीरापेशी (Diaphragm) में वक्ष से उदर में प्रविष्ट होने वाली कतिपय रचनाओं जैसे अन्नप्रणली, अधोगा महाधमनी तथा उदर से वक्ष में जाने वाली ऊर्ध्वगा महासिरा आदि रचनाओं के लिये अनेक छिद्र होते हैं। कभी-कभी इनमें से कोई छिद्र

अधिक विस्तृत हो जाता है तो लेटने पर आमाशय, बृहदन्त्र आदि उदर गुहागत अवयव उस विस्तृत छिद्र द्वारा वक्ष में प्रविष्ट हो जाते हैं जिससे पार्श्वशूल आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं और जब रोगी बैठता या खडा होता है तब ये अवयव पुनः उदर में वापस आते है। इनके प्रवेश और निर्गम काल में बुड-बुड शब्द (Gurgling Sound) उत्पन्न होता है। प्रायः यह रोग असाध्य ही होता है। शस्त्रकर्म से भी कृच्छसाध्य होता है।

आधुनिक विद्वानों द्वारा वर्णित आन्त्रक्षय (Intestinal T B) जीर्ण प्रवाहिका (Chronic diarrhoea), पर्वतीय अतिसार (Hill diarrhoea) जीर्ण बृहदन्त्र शोथ (Chronic colitis). तथा अग्न्याशयविकारजन्य अतिसार का अन्तर्भाव यथासम्भव इन्हीं भेदों में किया जा सकता है। यथा—जीर्ण प्रवाहिका वातिक अतिसार का ही रूप है । पर्वतीय अतिसार पर्वत पर प्रवास करने से होता है किन्तु उसमें भी वातिक आदि लक्षणों की प्रसक्ति होती है। अग्न्याशयविकार-जन्य अतिसार में मल स्नेहयुक्त एवं पिच्छिल होता है। अतः इसका अन्तर्भाव श्लेष्मज ग्रहणी में करना उचित है; क्योंकि दोनों की चिकित्सा में भी साम्य है । आन्त्रक्षय संग्रहणी का ही एक रूप हो सकता है।

ग्रहण्याः सामतानिरामतानिरूपणपूर्वकमसाध्यलक्षणमाह—

दोषं सामं निरामं च विद्यादत्रातिसारवत् ॥ १८ ॥

दोषों की समता-निरामता का ज्ञान अतिसार के समान ही कर लेना चाहिये। अर्थात् यदि मल जल में डूब जाय एवं दुर्गन्धियुक्त और पिच्छिल हो तो ग्रहणीजनक दोष को साम समझना चाहिये। इसके विपरीत यदि मल जल पर तैरे एवं शरीर में लघुता का अनुभव हो तो उसे पक्व जानना चाहिये ॥ १८ ॥

यथाऽतीसारे जलनिमज्जनादिना आमं, तद्विपरीतेन निरामं ज्ञायते, तथाऽत्रापि ज्ञेयम्।

लिङ्गैरसाध्यो ग्रहणीविकारो यैस्तैरतीसारगदो न सिध्येत्।
वृद्धस्य नूनं ग्रहणीविकारो हत्वा तनुं नैव निवर्तते च ॥ १९ ॥

जिन लक्षणों से युक्त अतिसार रोग असाध्य माना जाता है उन्हीं लक्षणों से युक्त ग्रहणी को भी असाध्य समझना चाहिये[1]। यदि ग्रहणी रोग वृद्ध व्यक्ति को हो जाय तो निश्चय ही उसके शरीर का विनाश किये विना शान्त नहीं होता। अर्थात् वृद्ध में यह असाध्यतम है।

यैर्लिङ्गैरतीसारगदो न सिध्येत्तैर्लिङ्गैर्ग्रहणीविकारोऽसाध्यः, अतिसारस्य यान्यसाध्यलिङ्गानि ग्रहण्या अपि तानि ॥ १९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां ग्रहणीनिदानं समाप्तम् ॥ ४ ॥

वयोभेदेन ग्रहण्याः साध्यासाध्यत्वं निरूपयति—

(बालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥ ५ ॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ग्रहणीनिदानं समाप्तम् ॥ ४ ॥

बालक मे ग्रहणी साध्य, युवा में कृच्छ्रसाध्य तथा वृद्ध में असाध्य होती है यह धन्वन्तरि सिद्धान्त है ॥ ५ ॥

---

१. श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्। विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥
शोथं शूलं ज्वरं तृष्णां कासं श्वासमरोचकम्। छर्दिं मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत् ॥

विमर्श—बाल्यावस्था स्वभावतः ही पोषण एवं वृद्धि की अवस्था है। अतः उसमें ग्रहणी से होने वाली क्षीणता प्राकृतिक वृद्धि के कारण नहीं हो पाती। इसके विपरीत बालकों में रोगप्रतिरोधक्षमता स्वभावतः अधिक होती है। इस अवस्था में यदि रोग होने पर चिकित्सा की जाय तो वह प्रकृति की सहायता से शीघ्र एवं अवश्य ही लाभप्रद होती है। इसके विपरीत वृद्धावस्था में प्राकृतिक क्षीणता होती है; ग्रहणी भी क्षीणता का जनक है अतः इस अवस्था में क्षीणता का अनुपात द्विगुण हो जाता है एवं उत्तरोत्तर लक्षण-वृद्धि और उपद्रवों की उत्पत्ति स्वभावतः होती रहती है। एक की चिकित्सा होने पर भी दूसरा अचिकित्सित ही रह जाता है। इस प्रकार वह अन्य रोगों को उत्पन्न करने में सहायक होता है। किसी भी चिकित्सा के लाभप्रद सिद्ध न होने से वृद्धि न होने से ग्रहणी कृच्छ्रसाध्य होती है। अर्थात् उसकी साध्यासाध्यता चतुर्वर्ग[1] की सम्पत्ति पर निर्भर रहती है।

अतिसार एवं ग्रहणी का भेदसूचक कोष्ठक—

अतिसार	ग्रहणी
१. यह प्रायः प्रारम्भिक होता है।	१. यह प्रायः अतिसार के पश्चात् होती है।
२. इसमें द्रवसरण अधिक होता है।	२. द्रवसरण कम होता है, कभी-कभी मल बंधा हुआ भी होता है।
३. मल के साथ धातु का भी क्षरण हो सकता है।	३. केवल मल का क्षरण होता है धातु का नहीं। केवल अन्तिम अवस्था में हो सकता है।
४. इसके वेग अपेक्षाकृत अधिक होते हैं।	४. वेग अपेक्षाकृत कम होते हैं।
५. इसमें ओजःक्षय नहीं होता।	५. ओजःक्षय होता है।

इति ग्रहणीनिदानं समाप्तम्।

अथार्शोनिदानम्

अर्शसां षड्भेदान् निरूपयति—

पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात् सहजानि च।
अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद् गुदवलित्रये॥ १॥

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, शोणितज तथा सहज भेद से छः प्रकार के अर्श गुदा की तीन वलियों में होते हैं॥ १॥

अतिसारग्रहण्यर्शसां परस्परानुबन्धित्वादतीसारग्रहण्यनन्तरमर्श उच्यते—पृथगित्यादि। अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्तीत्यर्श इति पृषोदरादिपाठान्निरुक्तिमाहुः। सहजानीति सह शरीरेण जातानि, गुदवल्यारम्भकबीजभागस्य दूषितत्वात्। अत्र द्वन्द्वजानि प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वान्न पृथग्गणितानि। उक्तं हि सुश्रुते—'अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः। संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः षड्विधश्च सः' (सु. नि. अ. २) **इति। षड्विधत्वं चात्र संसर्गस्य वातादिभिर्युग्मैस्त्रयः संसर्गाः, तैरेव रक्तयोगादपरे त्रय**

---

१. भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्।

इति । सन्निपातजं [1]त्वेकैकदोषजेऽदृष्टस्यासाध्यत्वस्य योगाद्विकृतिविषमसमवायारब्धमिति संख्यया पृथग्गणितम् । गुदवलित्रय इति [2]अर्धपञ्चमाङ्गुलमानं गुदं, तस्यावयवभूतास्तिस्रो वलय उपर्युपरि व्यवस्थिताः शङ्खावर्तनिभाः प्रवाहणीविसर्जनीसंवरणीनामिकाः; तत्र गुदौष्ठमर्धाङ्गुलं, तदूर्ध्वमङ्गुलमाना प्रथमा वलिः सुश्रुतेन, (सु. नि. अ. २) निर्दिष्टा, भोजेऽप्युक्तम्—'रोमान्तेभ्यो [3]यवाध्यर्धं गुदौष्ठं परिचक्षते । गुदौष्ठादङ्गुलं चैकं प्रथमां तां वलीं विदुः ॥ सार्धैकाङ्गुलमानेन तदन्येऽपि प्रकीर्तिते—' इति । सार्धाङ्गुलमाना द्वितीया तृतीया चेति ॥ १ ॥

विमर्शः—आधुनिक विद्वान स्थानसंश्रय की दृष्टि से अर्श के वाह्य (External) और आभ्यन्तर (Internal) दो ही भेद मानते हैं, किन्तु प्राचीन आचार्यों ने निदान, सम्प्राप्ति, लक्षण एवं चिकित्सा की भिन्नता के कारण इसके अनेक भेद माने हैं ।

अर्श की निरुक्ति—'अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्ति' जो शत्रु के समान प्राणों को कष्ट में डाले उसे अर्श कहते हैं, इस विग्रह में हिंसार्थक शृधातु से अर्श शब्द की सिद्धि होती हैं । वाग्भट ने भी अर्श की निरुक्ति करते हुए बताया है—

अरिवत् प्राणिनो मांसकीलका विशसन्ति यत् ।
अर्शांसि तस्मादुच्यते गुदमार्गनिरोधतः ॥ (वा० नि० ७)

तात्पर्य यह है कि जो मांसकीलक गुदमार्ग में अवरोध उत्पन्न करके मनुष्यों को शत्रु के समान नष्ट करते हैं वे 'अर्श' कहलाते हैं ।

अर्शांसि षट्प्रकाराणि—माधव ने सुश्रुत के अनुसार छ अर्शों के वर्णन[1] किया है । चरक ने अर्श के भेद करते हुये कहा है—सामान्यतः अर्श सहज और उत्तरकालज भेद से [2]दो प्रकार का होता है । पुनः उत्तरकालज के छ भेद (वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक, द्वन्द्वज, सामान्य तथा रक्तज) माने हैं । इस प्रकार चरक के अनुसार अर्श के सात भेद सिद्ध होते हैं । वाग्भट ने भी उक्त प्रकार से ही अर्श के भेदों का निरूपण[3] किया है । इसके अतिरिक्त चरक और वाग्भट ने सभी अर्शों के शुष्क एवं आर्द्र [4]दो भेद और माने हैं जिनका उल्लेख सुश्रुत ने नहीं किया है । प्रकृतिसमसमवायारब्ध होने से सुश्रुत ने द्वन्द्वज को पृथक् नहीं माना है । फिर इस प्रकार के अर्श को संसर्गज नाम देते हुए कहा हैं :—

अर्शःसु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः ।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः षड्विधश्च सः ॥ (सु. नि. २)

विकृतविषमसमवायारब्ध होने के कारण सन्निपातज का पृथक् पाठ किया है ।

सहज अर्श का कारण—कुछ व्यक्तियों में जन्म से ही अर्श की प्रवृत्ति पाई जाती है । इसका कारण गुदवलि का निर्माण करने वाले गर्भोत्पादक बीज के एक देश की विकृति को ही कहा जा सकता है । इसका तथ्य का समर्थन करते हुए भगवान चरक ने कहा है—

---

१. 'षडर्शांसि भवन्ति वातपित्तकफशोणितसन्निपातैः सहजानि चेति' । (सु० नि० २)

२. 'इह खल्वग्निवेश ! द्विविधान्यर्शांसि-कानिचित् सहजानि, कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि' । (च० चि० १४)

३. 'सहजन्मोत्थानभेदाद् द्वेधा समासतः' (वा० नि० ७)
तथा च—'षोढाऽन्यानि पृथग्दोषसंसर्गनिचयानि च' ।

४. शुष्कस्राविभेदाच्च, शुष्काणि वातश्लेष्मभ्यामार्द्राणि त्वस्रपित्ततः ॥ (वा. नि. ७)

---

१. 'एकदोषजनितनिर्दिष्टस्य साध्यत्वस्यायोगात्' इति ख. । २. अर्धं पञ्चममङ्गुलं यस्मिन् तत्तथा; एतेन सार्धचतुरङ्गुलप्रमाणं गुदमित्यर्थः । ३. यवाध्यर्धं सार्धयवं, अर्धाङ्गुलप्रमाणमित्यर्थः, अङ्गुलस्य त्रियवप्रमाणत्वात् ॥

'तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम्। तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुः—मातापित्रोरपचारः पूर्वकृतं च कर्म तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम्'।
(च. चि. १४)

वाग्भट ने भी कहा है—

तत्र हेतुः सहोत्थानां बलिबीजोपतप्तता। अर्शसां बीजतप्तिस्तु मातापित्रपचारतः॥

चरक ने **'यदि मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्माज्जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्ति'** इस प्रश्न का उत्तर देते हुये शरीर की सहज विकृति एवं अविकृति के कारण का विवेचन अति सुन्दर रूप में निम्न प्रकार से किया है।

'यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते नोपजायते चानुपतापात्' (च. शा. ३)। तात्पर्य यह है कि स्त्रीबीज एवं पुरुषबीज में शरीर के प्रत्येक अङ्ग का निर्माण करने वाले सूक्ष्म बीजावयव रहते हैं, बीजावयव का ही दूसरा नाम क्रोमोज़ोम है। उनमें से जिस अङ्ग के मूल बीजावयव की विकृति होती है उसी अङ्ग में विकार भी दृष्टिगोचर होता है, अन्यों में नहीं। इस प्रकार माता-पिता के अन्धत्व आदि विकारों का सन्तान में संक्रमण होना कादाचित्क होता है। प्रकृत में गुदवलि के बीज में विकृति होने से सहज अर्श की उत्पत्ति होती है। सहज अर्श को उत्पन्न करने में मातृबीज ही प्रधान होता है, क्योंकि चरक ने—**'यानि खल्वस्य गर्भस्य मातृजानि यानि चास्य मातृतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वस्तिश्च, पुरीषाधानं चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदश्चाधरगुदश्च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं च वपा च वपावहनं चेति मातृजानि'** (च. शा. ३) के द्वारा यह स्पष्ट कहा गया है कि उत्तरगुद एवं अधर गुद की उत्पत्ति मातृबीज से होती है। इस प्रकार सहज या वंशपरम्परागत रोगों की उत्पत्ति में शुक्रशोणित का तत्तद्रोग से दूषित होना अनिवार्य है। यही आयुर्वेद सम्मत सिद्धान्त है, जो कि आधुनिक विज्ञान के भी विरुद्ध प्रतीत नहीं होता।

गुदवलित्रये—गुदा की तीन वलियों में अर्श की स्थिति मानी गई है। बृहदन्त्र के अन्तिम भाग को गुद (Rectum) कहते हैं। इसकी लम्बाई साढ़े चार (४½) अङ्गुल होती है। इसमें ऊपर से नीचे की ओर क्रमशः प्रवाहणी, विसर्जनी तथा संवरणी नाम की तीन वलियाँ होती हैं। इनकी लम्बाई का प्रमाण निम्न है—

१. प्रवाहणी १½ अङ्गुल। २. विसर्जनी १½ अङ्गुल। ३. संवरणी १ अङ्गुल।

इन वलियों के अतिरिक्त गुदौष्ठ भी होता है जिसकी लम्बाई ½ अंगुल है। इस प्रकार सम्पूर्ण गुदा की लम्बाई साढ़े चार अङ्गुल[1] हो जाती है। इन वलियों की रचना एवं रङ्ग का वर्णन सुश्रुत ने निम्न प्रकार से किया है—**शंखावर्तनिभाश्चापि उपर्युपरिसंस्थिताः। गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः सम्प्रकीर्तिताः॥ रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तितः॥'** (सु० नि० २)

भोज ने भी गुदवलियों के प्रमाण का वर्णन करते हुए कहा है—

'रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धं गुदौष्ठं परिचक्षते। गुदौष्ठादङ्गुलं चैकं प्रथमां तां वलिं विदुः। सार्धैकाङ्गुलमानेन तदन्येऽपि प्रकीर्तिते॥

चरक ने अर्श की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—**'सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलावकाशे त्रिभागान्तरास्तिस्रो गुदवलयः'** (च. चि. १४)

---

१. 'तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्धपञ्चमाङ्गुलं गुदमाहुः। तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्धाङ्गुलान्तरसम्भूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति' (सु. नि. २।४)

सम्प्राप्तिपुरःसरमर्शसः स्वरूपं निरूपयति—

दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन् ।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि ताञ्जगुः ॥ २ ॥ (वा. नि. अ. ७)

वात आदि दोष त्वचा, मास एवं मेद को दूषित करके गुदा, नासिका आदि में अनेक आकृति वाले मांसाङ्कुरों को उत्पन्न कर देते है, इन्हे अर्श कहते हैं ॥ २ ॥

सम्प्राप्तिपूर्वकमर्शःस्वरूपमाह—दोषा इत्यादि । त्वङ्मांसग्रहणेन त्वङ्मांसाश्रितं रक्तमपि गृह्यते, चिकित्सायां रक्तस्रावणोपदेशात् । अपानं गुदम्, आदिशब्देन नासिकादीनां ग्रहणम् । कायचिकित्सकास्तु गुदजस्यैवार्शस्त्वमिच्छन्ति नासादिजानां त्वधिमांसत्वं, तेषु, 'पञ्चात्मा मारुतः' इत्यादिसंप्राप्तेरभावात्, विष्टम्भ इत्यादिपूर्वरूपस्य चासंभवात् । यदाह चरकः—'शिश्न' इत्यारभ्य यावत् 'अधिमांसव्यपदेश एव' (च. चि. अ. १४) इति । सुश्रुतेन तु मांसाङ्कुरत्वसाम्यात् शस्त्रक्षाराग्निसाध्यत्वाच्च तेष्वर्शःशब्दप्रयोगः कृतः, सर्षपादिस्नेहे तैलव्यपदेशवत् ; सुश्रुतानुवादिनो वाग्भटस्याप्ययमेवाभिप्राय इति ॥ २ ॥

विमर्शः—त्वचा एवं मास के ग्रहण से उनके आश्रित रक्त का भी ग्रहण हो जाता है। चिकित्सा में इसीलिये रक्तस्रावण का उपदेश भी किया गया है। अपान शब्द में अपान के स्थान गुद का ग्रहण किया जाता है। इसमें पठित आदि शब्द से नासा, लिंग तथा भग आदि में होने वाले मांसाङ्कुरों की भी अर्श संज्ञा समझनी चाहिये। चरक ने गुद के अतिरिक्त अन्य अङ्गों में होने वाले सभी मांसाङ्कुरों को अधिमास शब्द से व्यवहार किया है। इनके अर्श होने का खण्डन करते हुए चरक ने कहा है—केचित्तु **भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलतालुमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च तदस्त्यधिमांसदेशतया गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्'** (च. चि. १४)।

वाग्भट के समान चरक ने भी त्वचा, मास एवं मेद को ही अर्श का अधिष्ठान[1] माना है। यहाँ भी त्वचा एवं मांसशब्द से उनके आश्रित रहने वाले रक्त का भी ग्रहण कर लेना आवश्यक है, क्योंकि अर्श में प्रधान विकृति रक्त वा रक्तवाहिनी में ही होती है अर्श की सम्प्राप्ति का अत्यधिक स्पष्टता एवं प्रामाणिकता के आधार पर सुश्रुत ने निम्न प्रकार से वर्णन किया है—

तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्रीप्रसङ्गोत्कटकासनपृष्ठयानवेगविधारणादिभिर्विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसृताः प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधो गत्वा गुदमागम्य प्रदूष्य वलीमांसप्ररोहान् जनयन्ति विशेषतो मन्दाग्नेः, तथा तृणकाष्ठोपललोष्ट्रवस्त्रादिभिः शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दाः परिवृद्धिमासादयन्ति तान्यर्शांसीत्याचक्षते' (सु. नि. २)। सक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि असंयमी लोग जब वातादि के प्रकोपक निदानों का सेवन करते है तो एक दो या तीनो दोष एवं रक्त धमनी के द्वारा गुदा में आकर मासप्ररोह को उत्पन्न कर देते है। जिन लोगो को मन्दाग्नि रहती है तथा जो काष्ठ, तृण तथा शीत स्थानों का गुदा से अधिक स्पर्श करते है उनमें ये विशेषतया पाये जाते हैं। कतिपय विद्वान् प्रधानधमनी का अर्थ महास्रोतस करते हैं किन्तु वह अप्रासंगिक एव अर्शोत्पत्ति की दृष्टि से शरीररचनाविज्ञान के भी विरुद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्ष शारीर के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रधान विकृति सिराओं में ही होती है। प्राचीन ग्रन्थों में बहुत स्थलों पर धमनी और सिरा को पर्यायवाची माना है, अतः प्रकृत में भी धमनी का अर्थ सिरा (Vein) करना असंगत नहीं है। यदि मांसप्ररोह का अर्थ करने के लिये **मांसस्यैव प्ररोहः**

---

१. सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च' (च. चि. अ. १४)।

(मांस के समान उभार) या **मांसे प्ररोहः** (मास में उभार) यह विग्रह किया जाय तो ठीक है, क्योंकि सिराओं के प्ररोह भी मांसवत् कठिन या गुदपेशी के अन्तर्गत ही होते हैं। इस प्रकार मासाश्रित या मासवत् होने के कारण ही इनको मासप्ररोह सज्ञा प्रदान की गई है, वस्तुतः वे सिराओं के ही उभार है। आधुनिक वैद्यक के ग्रन्थों में अर्श को हीमोरायड (Hæmorrhoids) कहते हैं। इन्होंने भी गुदसिराओं (Hæmorrhoidal veins) के उभार (Varicosity) को ही अर्श (Piles) कहा है। सैविल महोदय अर्श के विषय में अपनी सम्मति प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

'Hæmorrhoids or piles are varicose rectal veins. This varicosity forms a swelling of variable size which may be altogether within the anus (Internal piles) or partly internal and partly external' (savill's medicine).

तात्पर्य यह है कि गुदा की सिराओं के उभार को ही अर्श (Piles) कहते हैं। इन उभारों के कारण विविध आकृतियों की सूजन हो जाती है, जो कि कभी पूर्णतया गुदा के आभ्यन्तरिक भाग में एवं कदाचित् बाह्याभ्यन्तर भाग में भी होती है। अर्श की उत्पत्ति में रक्तवाहिनी को ही कारण बताया गया है। सुश्रुत ने भी दोषाश्रित धमनी (रक्तवाहिनी सिरा) को अर्श का कारण कहा है। इस प्रकार अन्य संहिताओं की अपेक्षा अर्श के विषय में सुश्रुत की कल्पना अधिक महत्त्वपूर्ण एवं अर्थवती प्रतीत होती है।

आधुनिक शास्त्रज्ञों ने अर्श के कारणों का विवेचन निम्न प्रकार से किया है—

१. Portal obstruction is itself a cause of piles—आन्त्र का अधिकांश रक्त प्रतिहारिणी महासिरा के द्वारा यकृत् में पहुँचता है। उदरगत अर्बुद आदि के दबाव या यकृत् में शोथ होने से इसमें अवरोध होने पर अर्श की उत्पत्ति होती है।

२. Habitual constipation is undoubtedly the most common cause of haemorrhoids particularly in women विबन्ध का अधिक रहना भी अर्श का कारण है। यह कारण स्त्रियों के अर्श में विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि स्त्रियाँ विबन्ध से अधिक पीड़ित रहती हैं। सुश्रुत ने निदान स्थान के द्वितीय अध्याय में इसका विवेचन **'विशेषतस्तु मन्दाग्नेः'** के द्वारा किया है।

३. Alchohal causes portal congestion and thus becomes a cause of piles. अत्यधिक मद्यपान करने से भी परम्परया प्रतिहारिणी सिरा में अवरोध होने से अर्श की उत्पत्ति होती है। चरक ने अर्श के सामान्य कारणों का विवेचन करते हुए चिकित्सास्थान के चौदहवें अध्याय में **'मन्दकातिक्रान्तमद्यपानात्'** के द्वारा मद्य के अत्यधिक सेवन को भी अर्श का कारण कहा है। चूँकि मद्य पित्तवर्धक होता है अतः इससे होने वाला अर्श भी पित्तज ही होना चाहिये यह अनुमान भी इससे सहज ही लगा लेना चाहिये।

४. Sedentary occupation and deficient exercise—एक स्थानपर अधिक देर तक बैठ कर काम करना अथवा विलासिता के कारण व्यायाम की कमी से अर्श होता है। चरक ने भी अपने पूर्वोक्त सूत्र में **'वस्तिकर्मविभ्रमादव्यायामादव्यवायाद्दिवास्वप्नात्'** इस वाक्यांश के द्वारा व्यायाम की कमी और विश्रामप्रियता को अर्श का कारण कहा है। इसका परिणाम भी अन्ततोगत्वा अजीर्ण एवं गुदकला पर भार पड़ने से सिराओं का फूल कर अर्श को उत्पन्न करने में होता है। कफवर्धक होने से यह कारण प्रायः कफज अर्श का उत्पादक होता है।

५. Various local conditions such as sitting on a cold seat or soft cushions which constrict the inferior hæmorrhoidal veins, uterin displacement, pregnancy, carcinoma and other tumours of the rectum or pelvis may cause piles. (Savill's medicine)

गुदस्थान की विशिष्ट परिस्थितियाँ भी अर्श उत्पन्न करने में सहायता देती हैं। शीतलस्थान पर अधिक देर बैठने से गुद के निम्न भाग की सिराओं के संकुचित हो जाने से अर्श की उत्पत्ति होती है। सुश्रुत ने भी **'शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा'** के द्वारा शीत को अर्श का कारण बताया है। इसके अतिरिक्त गुदा की सिराओं पर दबाव डालने वाले सभी कारणों जिनमें सगर्भता तथा श्रोणिगत अर्बुद आदि मुख्य हैं, की उपस्थिति भी अर्श की जनक होती है। चरक ने भी **'स्त्रीणामामगर्भभ्रंशात् गर्भोत्पीडनाद्विषमप्रसूतिभिश्च'** इत्यादि वाक्य के द्वारा गर्भावस्था के साथ-साथ गर्भविच्युति तथा विषमप्रसूति को भी अर्श का कारण माना है, क्योंकि इनसे भी गुदा की सिराओं पर दबाव पडता है। इस दबाव का इन्हीं सिराओं पर प्रभाव क्यों होता है इसमें निम्न चार सहायक कारण मुख्य हैं—

१. Veins are submucous—ये सिरायें उपश्लेष्मल त्वचा के शिथिल तन्तुओं में रहती हैं अतः सर्वप्रथम दबाव इन्हीं पर पडता है।

२. इन सिराओं को आश्रय देने के लिये इनके चारों ओर कोई कठिन धातु नहीं है।

३. इन सिराओं में कपाट नहीं है। सिरास्थित कपाट रक्त को पीछे आने से रोकते हैं किन्तु यहाँ वह कार्य नहीं हो सकता।

४. Veins are longitudinal—सिरायें गुदा की लम्बाई में स्थित रहती हैं किन्तु आन्त्र के अन्य भागों में सिराओं की दिशा अनुप्रस्थ (Transverse) रहती है। इस प्रकार गुदस्थान की सिराओं में रक्त को रुकने का अधिक अवसर मिलता है।

अर्श का निदान उपस्थित होने पर उपर्युक्त चार सहायक कारणों से रक्तप्रवाह में बाधा पड़ने पर अर्श की उत्पत्ति हो जाती है। आधुनिक विद्वानों ने यद्यपि अर्श के आभ्यन्तरिक एवं बाह्य दो भेद ही माने हैं तथापि निदान-वैचित्र्य एवं उनमें भी लक्षण-वैचित्र्य के कारण प्राचीनों ने वातादि भेद से निरूपण करके चिकित्सा में सौकर्य प्राप्त किया है। गुदास्थान के अतिरिक्त सर्वशरीरगत प्रभावों के वैचित्र्य को दृष्टिगत रखते हुए भी अर्श की वातादिजन्यता स्वीकार करना वैज्ञानिकता का द्योतक है।

आधुनिक विद्वानों ने अर्श के सामान्य लक्षण निम्न प्रकार से बताये हैं—

१. मल के अन्दर रक्त की उपस्थिति। २. मलत्याग के समय पीड़ा जो कि मलत्याग के पश्चात् भी कुछ काल तक बनी रहती है। ३. कोष्ठबद्धता—यह अर्श का स्वाभाविक एवं सनातन गुण है। ४. गुदा के चारों ओर लालिमा हो जाना। ५. अन्य सार्वदैहिक लक्षण यथा—शिरोवेदना, मूर्च्छा, शरीर का गिरा रहना एवं मल द्वारा रक्त अधिक निकल जाने के कारण रक्ताल्पता भी पर्याप्त मात्रा में हो जाती है।

वातार्शसो निदानमाह—

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च।
प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम्॥ ३॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च।
शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः॥ ४॥ (च. चि. अ. १४)

कसैले, चरपरे तिक्त या कडुवे, रूक्ष, शीत तथा लघु पदार्थों का सेवन, अत्यल्प या समय बीत जाने पर भोजन करना, अल्प भोजन करना, तीक्ष्ण मद्य का सेवन, अत्यधिक मैथुन, लङ्घन,

१. 'तिक्ताति' इति क।

शीत देश (आनूप), शीत काल तथा व्यायाम का अधिक करना, शोक, वायु एवं धूप का स्पर्श ये वातार्श के हेतु हैं ॥ ३-४ ॥

वातार्शसो निदानमाह—कषायेत्यादि । प्रमितम् अल्पतमम् , अल्पं मात्राहीनमशनं, जेज्जटस्त्वाह–'प्रमितमतीतकालभोजनम्'। 'प्रमृत' इति पाठे नष्टशक्तिकं धान्यादिकमाहुः। 'प्रमिताशनमेकरसाभ्यासः' इत्यन्ये । तन्नानियुक्तम् ; एकरसाभ्यासः किं वातप्रकोपकस्य कट्वादेः, कफप्रकोपकस्य मधुरादेर्वा ? नाद्यः, कट्वादेरत्रैवोपात्तत्वात् ; द्वितीये मधुरादीनां त्वभ्यासो वातशामक एव, एकरसाभ्यासाच्च दौर्बल्यमुक्तं न तु वातवृद्धिरिति चिन्त्यमेतत् । तीक्ष्णमिति मद्यविशेषणं पैष्टिकादिमृदुमद्यस्य वातप्रशमकत्वात्। शीतो देश आनूपः, कालो हेमन्तादिः । आतप उष्णम्, आतपस्योष्णगुणस्याप्युद्भूतरौक्ष्याद्वातप्रकोपकत्वमिति ॥३-४॥

विमर्शः—इन कारणों से प्रकुपित वात पीछे कही गयी सम्प्राप्ति के द्वारा वातार्श को उत्पन्न करता है । तीक्ष्ण मद्य ही वातार्श को उत्पन्न करता है किन्तु पैष्टिक सदृश मृदु स्निग्ध मद्य वातशामक होने से वातार्श के उत्पादक नहीं होते । यद्यपि धूप (आतप) पित्तप्रकोपक होती है एवं उष्ण होने से वातशामक होनी चाहिये तथापि रौक्ष्य गुण की अधिकता के कारण वातप्रकोपक भी होती है ।

कषायरसप्रधान भोजन स्वभावतः सङ्कोचक एवं रूक्ष होता है, इसके सेवन करने से मलत्याग प्रयत्नपूर्वक करना पड़ता है । निरन्तर इस प्रयत्न के कारण गुदा की सिराओं में रक्ताधिक्य होने से अर्श की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार कटु-तिक्त रस-भूयिष्ठ पदार्थों का सेवन आन्त्रिक कला का क्षोभक है । यदा कदा सेवन करने से विशेष हानि नहीं होती । किन्तु यदि इनका निरन्तर सेवन किया जाय तो मलत्याग के समय गुदास्थान की कला में निरन्तर क्षोभ होते रहने से वहाँ की रक्तवाहिनियों में रक्ताधिक्य एवं परिणामस्वरूप अर्श की उत्पत्ति हो जाती है । देश काल की शीतता तथा मैथुन-सेवन (विशेषतः स्त्रियों में) अर्श के साक्षात् कारण हैं । इनका विवेचन किया जा चुका है । अल्पाशन, लंघन आदि कारणों से वायु का विगुण होना वातिक अर्श उत्पन्न करने में सहायक होता है ।

पित्तार्शसो निदानमाह—

कट्वम्ललवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः[1] ।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ ५ ॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम् ।
पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥ ६ ॥ (च. चि. अ.१४)

कटु, अम्ल, लवण तथा उष्ण पदार्थों का सेवन, व्यायाम, अग्नि एवं आतप का सेवन, उष्ण देश तथा उष्ण ऋतु, क्रोध, मद्य, ईर्ष्या, विदाही, तीक्ष्णता एवं उष्णता गुण-भूयिष्ठ अन्न-पान तथा औषध का सेवन करना पैत्तिक अर्श की उत्पत्ति में कारण है ॥ ५-६ ॥

पित्तार्शोनिदानमाह—कट्वम्लेत्यादि । देशकालावशिशिराविति उष्णो देशो मरुः, उष्णः कालः शरद् ग्रीष्मश्च । असूयनं परसंपत्तौ द्वेषः, स क्रोधविशेष एव । पित्तोल्बणानामित्यनेन सर्वेषामर्शसां त्रिदोषजत्वम् , अधिकेन तु व्यपदेश इति दर्शितं चरकेण । यदाह स एव 'अर्शांसि नाम जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः । दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कथ्यतेऽर्शसाम्' (च. चि. अ. १४) इति ॥ ५-६ ॥

---

१. 'श्रमाः' इति क ख

श्लैष्मिकार्शसो निदानमाह—

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च ।
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥ ७ ॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम् ।
[1]श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत् कारणमर्शसाम् ॥ ८ ॥ (च. चि. अ.१४)

मधुर, स्निग्ध एवं शीतल आहार, लवण, अम्ल, गुरुपदार्थ का सेवन, व्यायाम का सर्वथा परित्याग, दिन में सोना, सदा अधिक गुदगुदे बिस्तर पर बैठने और लेटने की आदत, पूर्वी वायु का अधिक सेवन, आनूप सदृश शीत देश और शीत काल, सदा निश्चिन्त रहना ये श्लेष्मार्श के कारण कहे गये हैं ॥ ७-८ ॥

श्लेष्मार्शोनिदानमाह—मधुरेत्यादि । शय्यासनसुखे रतिरिति सुखशय्यासने रतिरासक्तिः । प्राग्वातसेवा पुरोवातसेवनम् । अचिन्तनं निश्चिन्तता ॥ ७-८ ॥

द्वन्द्वजार्शोनिदानमाह—

'हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च ।

दो दोषों के प्रकोपक हेतु एवं लक्षणों के मिलने पर अर्श को द्वन्द्वज अर्श कहते हैं ।

द्वन्द्वजार्शोनिदानादिकमाह—हेत्वित्यादि । हेतुलक्षणसंसर्गादिति दोषद्वयस्य निदानमेलकेन लक्षणमेलकेन च द्वन्द्वोल्बणानि द्वन्द्वजानि विद्यात् ॥

त्रिदोषजार्शसो निदानमाह—

सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥ ९ ॥' (च. चि. अ. १४)

वातज आदि अर्श के पृथक्-पृथक् जो हेतु कहे हैं वे सम्मिलित होकर त्रिदोषज अर्श के कारण होते हैं । इसके लक्षण सहज अर्श के समान ही होते हैं ॥ ९ ॥

त्रिदोषजार्शोनिदानमाह—सर्व इत्यादि । सर्वो हेतुरिति एकैकशो वाताद्यर्शसां यो हेतुरुक्तः स त्रिदोषजानां भवति, त्रयो दोषा जनकत्वेनैषां सन्तीति त्रिदोषजानि । सहजैर्लक्षणं सममिति तेषां लक्षणं सहजैरर्शोभिः सह समं सदृशं, सहजानां यल्लक्षणं तत्त्रिदोषजानामित्यर्थः । 'सहजैर्लक्षणैः समम्' इति पाठान्तरे तु सहजैः सहजार्शोभवैर्लक्षणैः समं सह सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणामिति योज्यम् । सहजार्शोलक्षणं चात्र संग्रहे नोक्तं तन्त्रान्तरादनुस्मर्तव्यं; यदाह सुश्रुतः—'दुर्दर्शनानि परुषारुणपाण्डूनि दारुणान्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निर्घ्राणशिरोऽक्षिश्रवणरोगवान्, सततमन्त्रकूजनाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते' (सु.नि.अ. २) इति; चरके च 'कानिचिदणूनि' (च. चि. अ. १४) इत्यादिना प्रभूततरं लक्षणमुक्तम् । ननु, त्रिदोषजानीति विशेषाभिधानमनुपपन्नं, सर्वेषामेव रोगाणां त्रिदोषजत्वात् । यदुक्तं 'द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः । योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयोः' इति । नैवं; 'सर्वदेहचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः' (च. सू. अ. २०) इति वचनादेकस्मिन् धात्वादौ दोषेण दूषिते सति तद्गतेतरदोषेऽप्यवश्यंभाविनी काचिद् दुष्टिः, दुष्टदोषसंबन्धात् । किंच स्वकारणाद् वृद्धो वायुः शैत्याच्छीतस्य श्लेष्मणो बलमादधाति, लाघवात्तेजोरूपस्य पित्तस्य; पित्तं च कटुत्वाद्वातस्य, द्रवत्वाच्छ्लेष्मणः; कफश्च शैत्याद्वायोः, द्रवत्वात् पित्त-

१. 'श्लेष्मोल्बणानामु' इति क ख ।

स्येति। अत एवोक्तं 'न रोगोऽप्येकदोषजः' इति। अनेनैवाभिप्रायेणोक्तं 'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्' इति। यत्र तु स्वकारणात्त्रयोऽपि कुपितास्तत्र त्रिदोषजव्यपदेश इति सिद्धान्तः; एवं सर्वत्र ॥ ९ ॥

विमर्शः—सुश्रुत ने दुर्दर्शन, परुष, पाण्डु आदि सहज अर्श के लक्षण बताये हैं (मधुकोश देखें) वे ही लक्षण त्रिदोषज में भी पाये जाते हैं।

यद्यपि **'द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः। योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयोः'**। तथा चरकोक्त **'अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः। दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम् ॥'** (च. चि. १४) इन श्लोकों के आधार पर सभी रोगों की विशेषतः अर्श की त्रिदोषजन्यता भी स्वतः सिद्ध होने से पुनः उसका कथन व्यर्थ ही प्रतीत होता है, तथापि इस कथन को सामान्य कथन मान लेने पर कोई दोष नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि साधारणतः अपने कारणों से एक दोष के दूषित होने पर अन्य दोषों पर भी सामीप्य तथा आंशिक समानगुण के कारण प्रभाव अवश्य पड़ता है[1]। यथा अपने कारण से प्रकुपित वायु शैत्य के बल पर शीतगुणप्रधान कफ की तथा लघुता गुण से पित्त की वृद्धि करता है। इसी प्रकार पित्त भी कटुस्वभाव होने से वात की एवं द्रव होने से कुछ अंश में कफ की भी वृद्धि करता है। कफ भी शीतता से वात तथा द्रवत्व से पित्त का वर्धक हो सकता है। इस आधार पर जहाँ अपने कारण से प्रकुपित एक दोष के कारण ही अन्य दोषों का भी प्रकोप होता है वहाँ व्याधि के लिये वातिक, पैत्तिक, कफज व्यवहार होता है, किन्तु जहाँ तीनों दोष अपने अपने कारणों से एक साथ प्रकुपित होकर व्याधि को उत्पन्न करते है वहाँ त्रिदोषज यह विशेष कथन किया जाता है। यही सिद्धान्त सर्वत्र समझना चाहिये।

वाग्भट ने त्रिदोषज अर्श का वर्णन करते हुए कहा है—**'निचयात् सर्वलक्षणाः'** अर्थात् सब दोषों के मिलने से सर्वलक्षण वाले अर्श की उत्पत्ति होती है।

वातार्शसो लक्षणमाह—

गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमचिमान्विताः।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः ॥ १० ॥
मिथो विसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः।
बिम्बीखर्जूरकर्कन्धूकार्पासीफलसन्निभाः ॥ ११ ॥
केचित् कदम्बपुष्पाभाः केचित् सिद्धार्थकोपमाः।
शिरःपार्श्वांसकट्यूरुवङ्क्षणाद्यधिकव्यथाः ॥ १२ ॥
क्षवथूद्गारविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदाः[1] ।
कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः ॥ १३ ॥
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम्।
रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ॥ १४ ॥

---

१. एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्।

---

१. 'हृद्रोगा' इति ग

कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते ।
गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासंभवस्तत एव च ॥ १५ ॥ (वा. नि. अ. ७)

वातार्श के मस्से सूखे (स्रावरहित) तथा चुनचुनाहट युक्त होते है। वे मुरझाये से, मटमैले या हलके लालवर्ण के, कठिन, परस्पर पृथक् एवं पिच्छिलता रहित, कड़े एवं खुरदरे (कर्कोटक (खेखसा) फल के समान सूक्ष्म कण्टकों से आच्छादित), एक दूसरे से विभिन्न आकृति वाले, टेढ़े, सूक्ष्माग्र, ऊपर से फटे हुए, आकृति में बिम्बीफल, खजूर, बेर या कपास फल के सदृश होते हैं। उनमें से कोई कदम्ब पुष्प के समान मोटे एवं कण्टकित तथा कुछ सर्षप के समान सूक्ष्म होते हैं। इस रोग में सिर, पार्श्व, कटि, जघा तथा वंक्षण प्रदेश में अधिक पीडा होती है; छींक, डकार, मलावरोध, हृदय प्रदेश में पीडा, अरोचक, कास, श्वास, अग्नि की विषमता, कर्णनाद तथा भ्रम उत्पन्न होना है। इन लक्षणों से पीडित प्राणी पाषाणवत् गाठदार मात्रा में अल्प एवं फेन और कुछ पिच्छा से युक्त मल को पीड़ा के साथ किसी प्रकार प्रवाहण (प्रयत्न) द्वारा त्यागता है। रोगी के त्वचा, नख, मुख, नेत्र, मूत्र एवं मल काले पड जाते हैं, वातार्श से ही गुल्म, प्लीहा, उदर रोग तथा अष्ठीला (Rectovasicular tumour) रोग भी हो सकते हैं ॥ १०-१५ ॥

पूर्वं निदानमुक्तं, संप्रति वातादिभेदेनार्शसां लक्षणान्युच्यन्ते, तत्र प्रथमं वातार्शोलक्षणमाह—गुदेत्यादि । गुदाङ्कुरा गुदे अङ्कुराकारा मांसप्ररोहाः, त एव अर्शांसि। बह्वनिला वातोल्बणाः । शुष्काः स्रावरहिताः । चिमचिमा वेदनाविशेषः । म्लाना अनुपचिता । स्तब्धाः काठिन्यात् । विशदा अपिच्छिलाः, धूलिस्पर्शवत् । परुषाः कर्कशाः, गोजिह्वास्पर्शवत् । खराः कर्कोटफलवत्सूक्ष्मानेककण्टकाचिताः। एषु विकल्पेषु वक्ष्यमाणं केचिदिति पदं संबन्धनीयम । मिथो विसदृशाः परस्परभिन्नरूपाः । वक्रा धनुःकाष्ठादिवत् । तीक्ष्णाः सूक्ष्माग्राः । फलसन्निभा इति बिम्ब्यादिभिः संबध्यते, बिम्ब्यादिसाम्यत्वं चाकृत्या ज्ञेयम । बिम्बी ओष्ठोपमफला, 'तेलाकुचा' इति लोके ख्याता, कार्पासी वनकार्पासी, कदम्बपुष्पाभाः स्थूला अनेकसूक्ष्मशिखराः । सिद्धार्थकोपमाः सूक्ष्मपिडकारूपाः। हृदय गृहीतमिवेति वेदना हृद्ग्रहः । ग्रथितं ग्रन्थिलं पाषाणवत् । रुक् शूलम् । पिच्छा पिच्छिलो द्रवभागः । उपवेश्यते वर्चस्त्याज्यते । कृष्णशब्दस्त्वगादिभिर्वक्त्रान्तैः प्रत्येकं संबध्यते । अस्योपद्रवमाह—गुल्मेत्यादि । अष्ठीला वातरोगविशेषः ॥ १०-१५ ॥

विमर्शः—सुश्रुत ने वातार्श के लक्षण बताते हुए कहा है—**तत्र मारुतात् परिशुष्कारुणवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीमुखसूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति । तैरुपहतः सशूलं संहतमुपवेश्यते कटीपृष्ठपार्श्वमेढ्रगुदनाभिप्रदेशेषु चास्यवेदना, गुल्माष्ठीलाप्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, कृष्णत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति'**। (सु. नि. २)। चरक ने भी चिकित्सास्थान चौदहवें अध्याय में **'शुष्कम्लानकठिनपरुषरूक्षश्यावानि'** से लेकर **'श्यावारुणपरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्'** तक वातार्श के लक्षणों का विवेचन किया है।

अर्श का प्रधान एवं साक्षात् कारण श्रोणिगुहा (Pelvis) में रक्ताधिक्य (Congestion) कहा जा चुका हैं। रक्त की अधिकता सिराओं पर दबाव डालकर अर्श रूप उभारों को उत्पन्न करती है। इस प्रकार श्रोणिगुहा में रक्ताधिक्य कराने वाले सभी हेतु अर्श के साक्षात् कारण न होकर परम्परया कारण बनते है। पूर्ववर्णन (पृ० १८०) के अनुसार कषाय कटु, तिक्त, आदि पदार्थों का अधिक सेवन एवं तीक्ष्ण मद्य महासिरा में रक्तभार बढ़ाकर परम्परा एवं साक्षात् क्षोभक प्रभाव से श्रोणिगुहा की गुदीयसिराओं में भी रक्ताधिक्य करके वातगुणभूयिष्ठ अर्श को उत्पन्न करते है। मैथुन (Coitus) तो साक्षात् ही श्रोणिगुहा का रक्ताधिक्योत्पादक एवं

वातवर्धक होने से वातार्श के प्रति कारण है। देश एवं ऋतु का शीत होना अर्श की उत्पत्ति में सन्निकृष्ट कारण है। अधिक देर बैठे रहने से रक्ताधिक्य होना है एवं शीतस्पर्श से सिरागत रक्त जम जाता है (Thrombosis) जिसके परिणामस्वरूप शुष्क मस्सों की उत्पत्ति होती है। शुष्कता वात का गुण है अतः इसे वातार्श कहते हैं। इस अवस्था में रक्तस्राव भी नहीं होता। शोक से वातवृद्धि एवं वातवैगुण्य से अग्निवैषम्य व विबन्ध होकर परम्परया अर्श की उत्पत्ति होती है।

पित्तार्शसो रूपं निरूपयति—

पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः।
तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः॥ १६॥
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसंनिभाः।
दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छाऽरुचि[1]मोहदाः॥ १७॥
सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः।
यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः॥ १८॥ (वा. नि. अ. ७)

पैत्तिक अर्श का अग्रभाग नीला होता है। शेष भाग का वर्ण लाल, पीला या काला होता है। इनसे नरल अल्प रक्त का स्राव भी होता है तथा वे दुर्गन्धियुक्त, संख्या में कम, कोमल तथा लटके हुए रहते हैं। ये रचना में शुकजिह्वा के समान तथा वर्ण में यकृत् खण्ड या जोंक के मुख के समान होते है। इनके कारण दाह, पाक, ज्वर, स्वेद, तृष्णा, मूर्च्छा (मनोमोह), अरुचि तथा मोह (इन्द्रियशक्तिशैथिल्य) आदि सार्वदेहिक लक्षण होते हैं। इनका स्पर्श उष्ण एवं इनके कारण पतला, नीला, उष्ण, पीत या रक्तवर्ण का आमयुक्त मल निकलता है। इनमें से कुछ मस्से जौ के समान मध्य में स्थूल एवं प्रान्तों पर पतले होते हैं। इनके कारण त्वचा, नख, मुख, दाँत, मूत्र तथा मल हरे, पीले या हरिद्रावर्ण के हो जाते हैं॥ १६-१८॥

पित्तार्शोलक्षणमाह—पित्तोत्तरा इत्यादि। नीलमुखा नीलाग्राः। तनु अघनम्, अस्रं रक्तं स्रवन्तीति तन्वस्रस्राविणः। विस्रा आमगन्धिनः। तनवः स्वल्पाः। मृदवः कोमलाः। श्लथा लम्बनशीलाः। यवमध्याः यववन्मध्ये स्थूलाः। हरित् पत्रवर्णं, पीतं हरितालाभं, हारिद्रं हरिद्रावर्णम्; आदिशब्दाद्विण्मूत्रनेत्रवक्त्राणां ग्रहणम्॥ १६-१८॥

विमर्शः—उत्तर या उल्बण शब्द से सभी अर्शों का त्रिदोषजत्व प्रतीत होता है, किन्तु **'व्यपदेशस्तु भूयसा'** (बहुलता के आधार पर ही व्यवहार होता है), इस उक्ति के अनुसार पैत्तिक व्यवहार भी सिद्ध है।

सुश्रुत ने भी पित्तज अर्श का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है—'पित्तान्नीलाग्राणि तनूनि **विसर्पीणि पीतावभासानि यकृत्प्रकाशानि शुकजिह्वासंस्थानानि, यवमध्यानि जलौकोवक्त्रसदृशानि प्रक्लिन्नानि च भवन्ति, तैरुपहतः सदाहं सरुधिरमतिसार्यते ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चास्योपद्रवा भवन्ति, पीतत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति'**।

चरक ने भी **'मृदुशिथिलसुकुमाराणि'** से लेकर **'पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्'** (च. चि. १४) तक पित्तार्श के लक्षण सुश्रुत एवं वाग्भट के समान ही किये हैं। पित्तार्श में दाह, पाक तथा मल में अल्प रक्त या रक्तवर्ण की उपस्थिति विशेष रूप में पायी जाती है। यह इसका प्रधान

१. 'रति' इति ग।

लक्षण है। यद्यपि मल में रक्त की उपस्थिति से इसे अज्ञान से रक्तार्श समझना भी स्वाभाविक है तथापि रक्तार्श में सहसा रक्त के अति स्रावण के आधार पर इनका परस्पर विभेद किया जा सकता है। पित्तार्श में मल का वर्ण ही प्रायः रक्त होता है केवल रक्तस्राव नहीं देखा जाता। कटु, अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण एवं विदाही आदि पित्त-प्रकोपक कारण श्लेष्मलकला (Mucous membrane) में क्षोभ उत्पन्न करके पाक एवं तज्जन्य दाह के प्रवर्तक होते हैं। पाक और दाह बिना शोथ के नहीं होते अतः शोथ (Inflammation) के कारण ज्वर का होना भी स्वाभाविक है।

तन्वस्रस्राविणो विस्राः—पित्तार्श में पतला एवं आम या रक्त की गन्ध से युक्त स्राव भी निकलता है। किसी प्रकार यदि इन मस्सों में पूयोत्पादक जीवाणुओं का संक्रमण हो जाय, जो कि गुद-सदृश स्थान में अतिसम्भव है, तो इनमें शोथ, पाक एवं पूयोत्पत्ति हो सकती है। स्राव में पूय की उपस्थिति के कारण ही दुर्गन्ध मिलती है।

रक्तपीतासितप्रभाः—इसके द्वारा मस्सों के विभिन्न वर्णों का वर्णन किया गया है। ये वर्ण वस्तुतः मस्से की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक हैं। रक्तपूर्ण या पच्यमान अवस्था में मस्से का वर्ण लाल होता है, रक्तस्राव हो जाने पर पीला एवं इसके बाद की मुर्झायी अवस्था में काला वर्ण हो जाता है। तृष्णा और मूर्च्छा-सदृश शरीरव्यापी लक्षण पित्तोल्बणता के कारण होते हैं यह तृष्णा और मूर्च्छा निदानों से सिद्ध हैं। मूर्च्छा का कारण पैत्तिक लक्षणों की अधिकता एवं वेदना की वृद्धि है। यदि कदाचित् रक्तस्राव अधिक मात्रा में हो जाय तब भी मूर्च्छा हो सकती है। यह उपद्रव मलत्याग के पश्चात् होता है। पित्तार्श में रक्तस्राव होने के पश्चात् भौतिक परिणाम के रूप में भी तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

त्वचा, नख आदि का पीलापन पञ्चविध पित्त की दुष्टि का निदर्शक है। अर्श के कारण सर्व शरीरगत लक्षण क्यों उत्पन्न होते हैं इसका विशद विवेचन इस अध्याय के अन्त में 'पञ्चात्मा' इत्यादि श्लोक की व्याख्या में किया जायगा। वस्तुतः यह अर्श की उपद्रुतावस्था का द्योतक है। अर्श के उपद्रव-स्वरूप यकृत् की वृद्धि एवं पित्त का अवरोध होने पर त्वचा आदि में पीलापन हो जाता है। यकृत् पित्त का प्रधान केन्द्र है अतः ये लक्षण पैत्तिक अर्श के ही माने जाते हैं।

श्लेष्मार्शसां लक्षणानि निरूपयति—

श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः।
उत्सन्नोपचित-स्निग्ध-स्तब्ध-वृत्तगुरुस्थिराः ॥ १९ ॥
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः ॥ २० ॥
वङ्क्षणानाहिनः पायुर्वस्तिनाभिविकर्षिणः।
सश्वासकासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः ॥ २१ ॥
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः।
क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः ॥ २२ ॥

• 'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया' 'पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालु प्रपन्नं जनयेत् पिपासाम्'।

° 'पार्श्व' इति ग।

वसाभसकफप्रायपुरीषाः सप्रवाहिकाः ।
न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः ॥ २३ ॥ (वा.नि.अ.७)

कफज अर्श के मस्से मोटे मूल वाले, घने, अल्प पीडायुक्त, वर्ण में श्वेत, अधिक उठे हुए, स्थूल, चिकने, स्तब्ध (अनम्र दबाने से न दबने वाले या कठोर), गोल, भारी (वजनी) एवं दृढ होते हैं। ये पिच्छिल, स्तिमित (निश्चल या आर्द्र), मणि के समान चिकने, अधिक खुजलीयुक्त तथा स्पर्शनप्रिय होते हैं (खुजली के कारण स्पर्श करना सुखकर होता है)। इनकी रचना करीर या कटहल की गुठली अथवा गौ के स्तन के समान होती है। इनके कारण वंक्षणप्रदेश में बद्धता (गुदा के सामीप्य के कारण वंक्षण प्रदेश की क्रिया में अवरोध होता है), गुद, बस्ति (मूत्राशय) तथा नाभिप्रदेश में पीडा होती है । ये मस्से श्वास, कास, मिचली, लालाप्रसेक, अरुचि, पीनस, मूत्रकृच्छ्र, सिर में भारीपन, शीतज्वर, नपुसकता, अग्निमान्द्य, वमन तथा आम के कारण होने वाले (अतिसार और ग्रहणी आदि) रोगों को उत्पन्न करते हैं। इनके रहने पर वसा तथा कफ जैसा मल प्रवाहण करने पर निकलता है। इनसे स्राव नहीं होता, ये फटते भी नहीं। इनके कारण त्वचा, नख, दांत, मूत्र एवं मल पाण्डुवर्ण तथा स्निग्ध हो जाते हैं ॥ १९–२३ ॥

श्लेष्मार्शोलक्षणमाह—श्लेष्मोल्बणा इत्यादि। अत्र गुदाङ्कुरा इत्यनुवर्तते। महामूला दूरवास्त्ववगाहिनः[1]। घना निबिडावयवाः। उत्सन्ना दैर्घ्येणोद्गताः, उपचिताः परिणाहेन स्थूलाः, स्तब्धा अनम्राः, वृत्ताः परिणाहेन वर्तुलाः, गुरवो गुरुद्रव्याक्रान्तमिव गुदं कुर्वते, स्थिरा अचञ्चलाः। श्लक्ष्णा मणिवन्मसृणाः। कण्ड्वाढ्याः कण्डूबहुलाः; कण्डूव्यपगमार्थं स्पृश्यमानाः प्रीणयन्त्यर्शसमिति स्पर्शनप्रियाः। करीरो मरुजद्रुमः, पनसः कण्टकिफलं, तयोरस्थ्याभा; अथवा करीरो वंशाङ्कुरः; तेन करीराभाः पनसास्थ्याभाश्चेत्यर्थः। तथा गोस्तनसन्निभाः गोस्तनसदृशा इत्यर्थः। वङ्क्षणौ आनाहितुमाबद्धुमिव शीलं येषां ते तथा गुदप्रत्यासत्त्या वङ्क्षणयोः प्रणाशसामर्थ्यकारिण इत्यर्थः। पायुबस्तिनाभिविकर्षिण इति पाय्वादिष्वाकर्षवत्पीडाकारिणः। प्रसेको मुखस्य गुदस्य वा; कृच्छ्रं मूत्रकृच्छ्रं, शिरोजाड्यं शिरःस्तिमितता, शिशिरज्वरकारिणः शीतज्वरकारिणः। क्लैब्यं स्त्रीष्वनुत्साहः, अग्निमार्दवं वह्निमान्द्यं, छर्दिर्वमिः। आमप्रायविकारदाः आमबहुला ये रोगा अतीसारग्रहण्यादयस्तत्प्रदाः। प्रायःस्थाने 'प्राज्यम्' इति पाठान्तरे स एवार्थः प्रायःप्राज्यशब्दयोः प्रचुरार्थत्वात्। वसाभं च सकफं च प्राज्यं पुरीषं येषां ते तथा। न स्रवन्ति 'क्लेदरक्तादिकम्' इति शेषः। न भिद्यन्ते गाढविट्कप्रपीडिता अपि न विदीर्यन्त इति ॥ १९–२३ ॥

विमर्शः—सुश्रुत ने 'श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि, वृत्तानि, स्निग्धानि, पाण्डूनि, करीरपनसास्थिगोस्तनाकाराणि न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डूबहुलानि च भवन्ति; तैरुपहतः सश्लेष्माणमनल्पं मांसधावनप्रकाशमतिसार्यते, शोफशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति, शुक्लत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति' (सु. नि. २) यह लक्षण श्लेष्मार्श का कहा है जो कि वाग्भट के समान ही। चरक ने भी 'तत्र यानि प्रमाणवन्त्युपचितानि' से लेकर 'श्लेष्मोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात्' (च. चि. १४) तक श्लेष्मल अर्श की आकृति, वर्ण तथा तज्जन्य स्थानीय एवं सार्वदेहिक लक्षणों का वर्णन किया है।

विबन्ध मद्यपान तथा एक ही जगह पर निरन्तर बैठा रहना इत्यादि अर्श के सामान्य एवं साक्षात् कारण बताये गये हैं। वात आदि के प्रकोपक कारण तथा प्रकुपित वात आदि अर्श की उत्पत्ति में सहायक कारण होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब इन अर्श के उत्पादक कारणों के साथ

१. 'दूरधात्ववगाहिनः' इति क।

वात, पित्त या कफ, प्रकोपक कारणों तथा इनसे प्रकुपित वात, पित्त एवं कफ का अनुबन्ध होता है अथवा वात आदि-प्रकोपक कारणों से विबन्ध तथा श्रोणि गुहा में रक्तावपीडन बढ़ता है तब वात आदि दोष के लक्षणों से युक्त अर्श की उत्पत्ति होती है। यथा—वात का अनुबन्ध होने पर वातिक, पित्त का अनुबन्ध होने पर पैत्तिक तथा कफ का सम्पर्क होने पर कफज अर्श की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार सन्निपातज तथा रक्तार्श की उत्पत्ति के विषय में भी समझना चाहिये।

संक्षेप में श्लैष्मिक अर्श का मूल कारण शीत तथा आमजनित विबन्ध है। शीत के कारण सिरा-संकोच होने से अर्श की उत्पत्ति होती है। अधिक मधुर, स्निग्ध आदि पदार्थ कफवर्धक एवं अजीर्ण-कारक होने से अर्श को उत्पन्न करते है। व्यायाम के अभाव से स्थूलता, आलस्य एवं अजीर्ण होने के पश्चात् अर्श उत्पन्न होता है। श्लैष्मिक अर्श अधिकतर धनिकवर्ग में पाया जाता है, इसका प्रधान कारण भी व्यायाम न करना; निश्चिन्तता, दिन में सोना तथा एक ही स्थान पर पड़े रहना ही है। निश्चिन्तता होने पर मनुष्य अकर्मण्य हो जाता है। अकर्मण्यता का अन्तिम परिणाम भी अजीर्ण एवं अर्श हो सकता है।

कफज अर्श के मस्से अन्यों की अपेक्षा बडे तथा दृढमूल (Deep rooted) होते हैं। मल-त्याग करते समय इनकी आकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता एवं इनसे कोई स्राव भी नही निकलता। इस अर्श में आम दोष की अधिकता रहती है। इनमें पाक की प्रवृत्ति न होने से पीडा की कमी तथा श्वेतता रहती है।

करीरपनसास्थ्याभाः—कुछ मस्से करीर फल की गुठली के समान छोटे और कुछ कटहल की गुठली के समान बड़े होते हैं। ये मस्से अधिक बडे होने के कारण गुदा, बस्ति आदि में पीडा करने वाले तथा चलने में भी कठिनाई उपस्थित करते हैं। गुदा (Rectum) के ऊपर बस्ति (Bladder) रहती है अतः बहुत बड़े मस्से जब गुदा की भित्ति के द्वारा वस्ति पर दबाव डालते हैं तो मूत्रकृच्छ्रता भी हो जाती है। इसी प्रकार पौरुष ग्रन्थि (Prostate) और शुक्राशय पर दबाव डालने से मलोत्सर्ग के साथ शुक्र को नष्टकर नपुंसकता को भी उत्पन्न कर सकते हैं। आमदोष के कारण प्रवाहिका के समान वसा-सदृश चिकना मल निकलता है।

सन्निपातजसहजार्शसोर्लक्षणं निरूपयति—

सर्वैः सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणैः सहजानि च।

त्रिदोषज अर्श सब दोषों के लक्षणों से युक्त होते है। सहज अर्श भी त्रिदोषज के समान लक्षणों वाला होता है॥

सन्निपातार्शसः सहजार्शसश्च लक्षणमाह—सर्वैरित्यादि। सर्वैर्वातजाद्यर्शोभवैर्लक्षणैः; सर्वात्मकानि त्रिदोषजानि; तथा तैरेव लक्षणैः सहजान्यप्याहुः; तेषामपि त्रिदोषजत्वात्।

विमर्शः—सुश्रुत ने **'सन्निपातजानि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि'** के द्वारा सन्निपात को सब दोषों के लक्षणों से युक्त बताया है। किन्तु सहज अर्श का वर्णन पृथक् रूप में निम्न प्रकार से किया है— **'विशेषतश्चैतानि दुर्दर्शनानि, परुषाणि, पाण्डूनि दारुणान्यन्तर्मुखानि, तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निप्राणः परमल-सश्च तथा घ्राणशिरोऽक्षिनासाश्रवणरोगवान् सततमन्त्रकूजाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते'** (सु. नि. २)॥ चरक ने भी **'तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि'** से लेकर **'यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि'** तक मस्से के रचनाविशेष का वर्णन करने के उपरान्त **'तैरुपहतो जन्मप्र-भृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामस्वरः'** (च. चि. १४) इत्यादि वाक्य के द्वारा सहज अर्श के लक्षणों का वर्णन किया है। सहज अर्श का कारण गुदवलि के आरम्भक बीज-भाग के किसी एक अवयव की दुष्टि ही है। इसका विशद विवेचन प्रथम श्लोक की व्याख्या में किया जा चुका है।

रक्तार्शसो लक्षणं लक्षयति—

रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः ॥ २४ ॥
वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ।
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविट्कप्रपीडिताः ॥ २५ ॥
स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ।
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसंभवैः ॥ २६ ॥
हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः । (वा. नि. अ. ७)

रक्तार्श के मस्से पित्तार्श के मस्सों की आकृति के समान होते हैं । इसका वर्ण वटशुङ्ग, गुञ्जा या प्रवाल के समान लोहित होता है। कठिन मल से दबने के कारण उनसे सहसा गन्दे तथा गर्म रक्त का स्राव होने लगता है। रक्त के अत्यधिक स्राव के कारण रोगी वर्षाकालीन मेंढक के समान पीला पड जाता है एवं रक्तक्षयजन्य विविध व्याधियों से पीड़ित रहता है। इस रोगी का रंग फीका पड़ जाता है, बल, उत्साह तथा ओज हीन हो जाते हैं। सब इन्द्रियां व्याकुल रहती हैं ॥ २४–२६ ॥

रक्तार्शोलक्षणमाह—रक्तोल्बणा इत्यादि । गुदे कीलाः कीलवत् कीलाः अर्शांसि, 'हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्' (पा. अ. ६ पा. ३ सू. ९) **इत्यलुक्समासः । पित्ताकृतिसमन्विताः पैत्तिकार्शोलक्षणयुक्ताः । विद्रुमसन्निभाः प्रवालमणिवल्लोहिता इत्यर्थः । ते गाढविट्कप्रपीडिताः कठिनपुरीषयन्त्रिताः, दुष्टम् आविलम् , उष्णं च रक्तं स्रवन्ति । तस्येति रक्तस्य, अतिप्रवृत्तितः अतिस्रयात , भेकाभः, प्रावृषेण्यवर्षाभ्वाभः पीतच्छविः, 'पुरुषः, इति शेषः । दुःखैः रोगैः । शोणितक्षयसम्भवैरिति 'त्वक्पारुष्याम्लशीतप्रार्थनासिराशैथिल्यैः,** (सु. सू. अ. १५) **सुश्रुतोक्तैः । बलं स्थौल्यम , उत्साहो हर्षः । हतौजाः हतशक्तिः । कलुषेन्द्रिय आविलचक्षुः, व्याकुलसर्वेन्द्रियो वा ॥ २४–२६ ॥**

विमर्शः—चरक ने रक्तार्श का पित्तार्श में ही अन्तर्भाव करके पृथक् परिगणन नहीं किया है अपि तु द्वन्द्वज अर्श को ही मानकर अर्श के छः प्रकार बताये हैं। परिणाम में सुश्रुत और चरक में कोई अन्तर नहीं आता केवल वर्गीकरण का क्रम भिन्न है। जैसे सुश्रुत ने प्रथम वातिक, पैत्तिक, कफज, त्रिदोषज, रक्तज और सहज ये छः भेद लिखकर आगे छः संसर्गी अर्शों का उल्लेख किया है जैसे वातपैत्तिक, वातकफज, पित्तकफज ये तीन बिना रक्तानुबन्ध के तथा तीन रक्तानुबन्धी। चरक ने आरम्भ में सहज और जातोत्तरकालज दो भेद फिर जातोत्तरकालज में सभी त्रिदोषज होते हुए भी वातोल्बण, पित्तोल्बण और कफोल्बण तीन प्रधान भेदों का सलक्षण वर्णन और द्विदोषोल्बण तीन और त्रिदोषज एक का उल्लेख मात्र कर शुष्कार्श और स्रावी भेद का भी वर्णन किया है। वस्तुतः अर्श रोग त्रिदोषजनित है, आहार-विहार, ऋतुकाल, देश आदि के प्रभाव से दोषों का तारतम्य होता रहता है और एक प्रकार का दूसरे में परिवर्तन भी होता रहता है। एक दोष भी तो दोषान्तर को उद्भावित कर देता है। अर्वाचीन विद्वान् भी प्रधानतः परिणाम भेद से शुष्क और तथा उत्पत्तिस्थान-भेद से आभ्यन्तर (गुदवलि में उत्पन्न) एवं बाह्य (गुदौष्ठ में) दो भेद मात्र मानते हैं। सुश्रुत ने रक्तज अर्श के लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—**'रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च, यदावगाढपुरीषप्रपीडितानि भवन्ति तदात्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति तस्यैवातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति'** । (सु. नि. २)

पित्तार्श के निदान ही प्रायः रक्तार्श के भी उत्पादक होते हैं अतः इसके निदानों का पृथक् वर्णन नहीं किया गया। रक्तार्श के मस्सों में पित्तार्श के समान पाक तथा रक्ताधिक्य (Blood Congestion) होने से रक्तवर्णता पायी जाती है। रक्त का अत्यधिक स्राव होने के कारण रोगी पीला पड़ जाता है एवं रक्तक्षय (Anaemia) के लक्षण (त्वचा का रूखापन, अम्ल तथा शीत वस्तु की इच्छा, सिरा, शैथिल्य आदि) उत्पन्न होते हैं। रक्तक्षय होने से शरीर की सोमधातु का क्षय विशेष रूप में हो जाता है अतः भौतिक परिणामस्वरूप प्यास उत्पन्न हो जाती है।

रक्तार्श के द्वारा होने वाला रक्तक्षय द्वितीयक रक्तक्षय (Secondary anaemia) कहलाता है। विभिन्न संस्थानों में इसके विभिन्न प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं :—

(१) रोगी का वर्ण पीताभ एव मोम सदृश हो जाता है। आंखें भी फीकी सी पड़ जाती है तथा कभी-कभी शरीरव्यापी शोथ की भी प्रवृत्ति पायी जाती है जिसकी उत्पत्ति रक्तक्षय के कारण जीवनीय एवं पोषक तत्त्वों की कमी है। (२) हृदय का विस्फार तथा श्वास-कृच्छ्रता हो जाती है। हृदय की गति तीव्र होती है एवं कभी-कभी मूर्छा के लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। हीमिक मर्मर भी मिलेगी। (३) रोगी को तन्द्रा, भ्रम, परमोत्तेजनशीलता (अत्यन्त चिड़-चिड़ापन आदि), बेचैनी, निद्रानाश तथा मानसिक अवसाद सा प्रायः रहता है।

सम्प्रति वातादिभेदेन रक्तार्शसो वैलक्षण्यमाह—

(तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च।)
विट् श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न वर्तते ॥ २७ ॥
तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम्।
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥ २८ ॥
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम्।
शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥ २९ ॥
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम्।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ॥
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥ ३० ॥ (च.चि.अ.१४)

रक्तार्श में वात या कफ का अनुबन्ध हो सकता है। यदि मल कड़ा एवं काला सा हो और अपानवायु न खुलती हो, मस्सों से निकलने वाला रक्त यदि पतला, अरुण, फेनयुक्त हो, कटि, जंघा तथा गुदा में शूल हो, शरीर में अधिक दुर्बलता हो, इसके अतिरिक्त उक्त लक्षणों का उत्पादक हेतु यदि रूक्ष पदार्थों का सेवन हो तो रक्तार्श में वात का अनुबन्ध समझना चाहिये। रक्तार्श के लक्षण यदि स्निग्ध एव गुरु पदार्थों के सेवन से हों, रोगी शिथिल, श्वेत, पीत, स्निग्ध, गुरु तथा शीतगुण से युक्त मल का त्याग करता हो, रक्त घन, तन्तुयुक्त, पाण्डुवर्ण एवं पिच्छिल हो, रोगी की गुदा चिपचिपी गीली तथा निश्चल या आर्द्रचर्मावनद्ध सी प्रतीत हो तो रक्तार्श में श्लेष्मा का अनुबन्ध समझना चाहिये ॥ २७-३० ॥

इदानीं तस्यव रक्तार्शसो निदानस्य रक्तस्य वातादिभेदेन लक्षणमाह—विडित्यादि।

---

१. 'अल्पमल्पं मुहुर्मुहुः' इति ख।

विट् श्यावमिति विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्ति, एतन्निर्देशादेव । काश्मीरास्तु चरके—'विट् श्यावा कठिना रूक्षा' (च. चि. अ. १४) इत्येव पठन्ति । अधोवायुर्न वर्तते गुदेन प्रतिलोमगत्वात् । तन्विस्त्यादि । तत्रानुबन्धो वातस्येति वातादिदुष्टस्यैव रक्तस्यारम्भकत्वान्नतु केवलस्य, दोषत्वाभावात । शिथिलमित्यादिना कफानुबन्धस्य । ननु, पित्तानुबन्धः कुतो नोक्त ? इति, उच्यते—रक्तपित्तयोः प्रायः समानलिङ्गत्वात् । उक्तं च पूर्वं 'रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः' इति ॥ २७-३० ॥

विमर्शः—प्रकृत में रक्त को चतुर्थ दोष मान कर नहीं अपि तु रक्तभूयिष्ठ होने के कारण ही रक्तार्श का पृथक् वर्णन किया गया है । रक्त दूष्य ही है अत एव उसमें वात या कफ दोष का संसर्ग रहने पर ही रोग की उत्पत्ति होती है । रक्त स्वतन्त्रतया दूषक न होने से रोगों की उत्पत्ति नहीं कर सकता । इसके अतिरिक्त रक्त भी पित्तवर्ग की ही धातु है एवं पित्तवर्धक पदार्थों से उसकी भी वृद्धि होती है तथा लक्षणों में भी साम्य रहता है । कहा भी है—**रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः'** । अत एव यहाँ पर पित्तानुबन्ध का पृथक् विवेचन नहीं किया ।

रक्तार्श तथा रक्तातिसार की सापेक्ष निश्चिति—

रक्तार्श	रक्तातिसार
१. अर्श का इतिहास मिलेगा ।	१. अर्श का इतिहास न मिलेगा ।
२. अंगुलि-गुदपरीक्षा से मस्सों की उपस्थिति मिलेगी ।	२. मस्सा की उपस्थिति न मिलेगी ।
३. रक्तप्रवृत्ति मलत्याग के पूर्व या पश्चात् होती है ।	३. रक्त मल में मिला रहता है ।
४. मलत्याग के समय गुदा में पीडा होती है ।	४. गुदा में पीडा प्रायः नहीं होती ।
५. मल बँधा हुआ एवं प्रायः कड़ा होता है ।	५. मल पतला होता है ।

रक्तार्श तथा रक्तपित्त की सापेक्ष निश्चिति—

रक्तार्श	रक्तपित्त
१. रोग का पुराना इतिहास मिलेगा ।	१. पुराना इतिहास न होगा ।
२. रक्तप्रवृत्ति गुदमार्ग से ही होती है ।	२. गुदा, मुख तथा नासिका आदि से भी हो सकती है ।
३. अंगुलि-गुदपरीक्षा से मस्से मिलेंगे ।	३. यह परीक्षा नकारात्मक रहेगी ।
४. रक्तप्रवृत्ति मलत्याग के पूर्व या पश्चात् होगी ।	४. मलत्याग के बिना भी रक्तप्रवृत्ति हो सकती है ।
५. मलत्याग में अत्यधिक पीड़ा होती है ।	५. इसमें पीड़ा नहीं होती ।
६. रोगी को प्रायः अजीर्ण (विबन्ध) रहता है ।	६. अजीर्ण का इससे विशेष सम्बन्ध नहीं है ।
७. रक्त मिश्रित अन्न को कुत्ता या कौवा खा सकता है ।	७. कुत्ता या कौवा इसको नहीं खाता ।
८. इसके रक्त से रंगा हुआ वस्त्र धोने पर स्वच्छ हो जायेगा ।	८. वस्त्र स्वच्छ न होगा ।
९. रक्त की मात्रा कम होती है ।	९. रक्त की मात्रा अधिक होगी ।

अर्शसां पूर्वरूपं निरूपयति—

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च ।

१. 'अङ्गस्य' इति ग ।

कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥ ३१ ॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च ।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥ ३२ ॥ (च. चि. अ. १४)

विष्टब्धाजीर्ण, दुर्बलता, कुक्षि का फूलना या गुडगुडा शब्द युक्त होना, कृशता, डकार का अधिक आना, टांगों में पीड़ा तथा मल का त्याग कम होना, ग्रहणी की दुष्टि से युक्त पाण्डुरोग अथवा ग्रहणी, पाण्डुरोग तथा उदररोग की आशंका का होना अर्श के पूर्वरूप कहे गये हैं॥३१-३२॥

पूर्वरूपमाह—विष्टम्भ इत्यादि । विष्टम्भोऽन्नस्येति विष्टभ्यान्नस्य जीर्णतागमनञ्च, आहारो विष्टब्ध आमाशय एवावतिष्ठते, वातवैगुण्यात् । दौर्बल्यं हीनशक्तिता । 'विष्टम्भोऽङ्गस्य' इति पाठान्तरे विष्टम्भो मलस्य, अङ्गस्य दौर्बल्यम् । यद्यपि निदानानन्तरं पूर्वरूपं वक्तव्यं भवति, तथाऽपि निदानलक्षणानन्तरमत्र पूर्वरूपं, निदानलिङ्गयोश्चिकित्स्यत्वप्रतिपादनार्थं तयोः पूर्वमभिधानम् , अथवाऽवश्यवक्तव्यानां कामचारादभिधानमिति । एवमन्यत्रापि व्यतिक्रमे द्रष्टव्यम् । कुक्षेराटोपो 'गुडगुडाशब्दः' इति चक्रः, 'तनतर्ना' इति गुणाकरः, 'रुजापूर्वकः क्षोभ' इति गदाधरः, पुरीषवृद्धिलक्षणे च 'आटोपम् आध्मानम्' इति विवृतवान् ; एतच्च न सर्वत्र, गुल्मपूर्वरूपे आटोपाध्मानयोरुभयोरपि पाठात् । उद्गारबाहुल्यमधोनिरुद्धस्य वायोरूर्ध्वगमनात् । सक्थिसादो जङ्घावसादः । ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेः ग्रहणीदोषयुक्तपाण्डुरोगस्य उदरस्य चाशङ्का, तेषां लक्षणदर्शनात् । 'ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तिः' इति पाठान्तरे ग्रहणीदोषस्य पाण्डोः पाण्डुरोगस्य चार्त्तिः पीडा स्यात् । अभिवृद्धये उत्पत्त्यर्थमिति ॥ ३१-३२ ॥

विमर्शः—उपर्युक्त लक्षण अर्श की अव्यक्तावस्था में मिलते है । इन लक्षणों में से कोई एक या अनेक भी पूर्वरूप की अवस्था में रह सकते हैं । वस्तुतः चिरकालीन विबन्ध आदि इस रोग की उत्पत्ति में सहायक होते है । अतः इन्हें अर्श का पूर्वरूप मानना उचित ही है ।

विष्टम्भोऽन्नस्य—साधारणतया खाद्य पदार्थ के आमाशय में पहुँचने के अनन्तर ही पाकक्रिया होने लगती है; किन्तु कदाचित् वायु की विकृति के कारण वह क्रिया तुरन्त न होकर कुछ काल उपरान्त प्रारम्भ होती है । इसे विष्टम्भ (Stasis of food) कहते हैं । इसी के कारण जीर्ण विबन्ध की उत्पत्ति होने के पश्चात् अर्श रोग का प्रादुर्भाव हो सकता है । इस प्रकार विष्टम्भ शब्द विष्टब्धाजीर्ण एवं मलावरोध (विबन्ध) का द्योतक है । कुछ लोग '**विष्टम्भोऽङ्गस्य**' यह पाठान्तर करते हैं उनके मत से 'अङ्गों की दुर्बलता' अर्थ करना चाहिये, किन्तु पूर्व अर्थ ही उपयुक्त है ।

कुक्षेराटोपः—उदर का फूलना तथा गुडगुडा शब्द का होना ही 'आटोप' शब्द का अर्थ है । ये दोनों ही विकृति बात के इतस्ततः संचरण करने से होते है ।

उद्गारबाहुल्यम्—जिस अवस्था में अधोवायु का निस्सरण अवरुद्ध हो जाता है तो वायु विलोम होकर अधिक डकारों को उत्पन्न करता है। उपर्युक्त तीनों अवस्थाये स्वाभाविक विबन्ध (Habitual constipation) की निदर्शक हैं । स्वाभाविक विबन्ध से युक्त व्यक्ति को अर्श होने की बहुत सम्भावना रहती है ।

अल्पविट्कता—यह दो कारणों से हो सकती है—

१. मांसाहार—मांसाहारी व्यक्तियों में अल्पविट्कता (मल का कम निकलना) पायी जाती है किन्तु वह सदोष नहीं होती क्योंकि इसमें मल बनता ही कम है । २. विष्टब्धाजीर्ण—मलावरोध के कारण होने वाली अल्पविट्कता सदोष होती है । यह अन्ततोगत्वा मलमार्गावरोध तथा मलत्याग में पीडाधिक्य उत्पन्न करके अर्श का कारण बनती है ।

१. 'रोग' इति ख ।

ग्रहणीदोषस्याशंका—ग्रहणी से पच्यमानाशय (ड्युओडिनम या क्षुद्रान्त्रमात्र) का ग्रहण होता है। अर्श का प्रधान उत्पादक कारण विबन्ध है एवं वह भी ग्रहणी-विकृति का ही एक परिणाम है अतः अर्श होने से पूर्व ग्रहणी दोष या विकृति का होना भी स्वाभाविक है।

पाण्डुवर्तेराशङ्का—विष्टब्धाजीर्ण से कृमि एवं कृमि से पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है। अजीर्ण से अर्श भी होता है अतः अर्श की पूर्वरूपावस्था में कृम्युपसर्ग रहने से कदाचित् पाण्डुरोग की भी अभिव्यक्ति हो सकती है। इसके अतिरिक्त आमाशय से रक्तनिर्मापक तत्त्व (Blood-forming factors) का भी स्राव होता है, अजीर्णावस्था में उसके तथा रसधातु के अभाव से रक्ताल्पता एवं पाण्डुरोग होता है। पाण्डुता रूपावस्था में भी मिलती है और उसका विवेचन वहीं किया गया है।

उदरस्य च आशङ्का—उदर का तात्पर्य है उदर-वृद्धि कराने वाले उदरगत रोग। आयुर्वेद में आठ प्रकार के उदररोग माने गये हैं[1]। प्लीहोदर से यकृद्दाल्युदर का भी ग्रहण कर लिया जाता है।

अर्श एवं उदर रोग के कारण प्रायः समान है। अतः अर्श की पूर्वरूपावस्था में इनमें से किसी की सत्ता साधारणस्वरूप में अवश्य रहती है। किन्तु इसमें जलोदर तथा यकृद्दाल्युदर ही विशेष महत्त्व के हैं। अर्श का प्रधान कारण विष्टब्धाजीर्ण (Constipation) तथा प्रतिहारिणी महासिरा का पीडन (Portal obstruction) बताया गया है। यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis of the liver) के कारण प्रतिहारिणी महासिरा में ही रक्त सञ्चित होने लगता है। अन्ततोगत्वा रक्त का यकृत् में पहुँचना पूर्णतया अवरुद्ध होकर प्रतिहारिणी महासिरावरोध (Portal obstruction) होने से सहायक रक्तवाहिनियों (Collateral channels) का विस्फार हो जाता है। इस प्रकार गुदा के ऊर्ध्व और मध्यभाग की सिरायें (Superior and middle haemorrhoidal veins) गुदा के अधोभाग की रक्तवाहिनी सिरा (Inferior hæmorrhoidal veins) के साथ मिलकर उनमें विस्फार उत्पन्न करके अर्श (Piles) को उत्पन्न कर देती है। गुदसिराओं के अनाश्रित होने से सबका अन्तिम परिणाम उन्हीं पर पडता है। इसके अतिरिक्त प्रतिहारिणी महासिरा में किसी अन्य कारण से भी अवरोध होने पर यह परिणाम होता है। यकृद्दाल्युदर के कारण ही प्रतिहारिणी महासिरा में रक्त का दबाव बढ़कर परिणामस्वरूप उदरावरण कला की सिराओं का विस्फार एवं उनसे रक्तरस का स्राव होने से जलोदर की भी उत्पत्ति हो सकती है। इस प्रकार कभी-कभी अर्श की पूर्वरूपावस्था में यकृद्दाल्युदर तथा तज्जन्य जलोदर की भी महती सम्भावना रहती है। अतएव चरक ने अर्श के पूर्वरूपों में उदररोगों का उल्लेख किया है।

पायुगतस्याप्यर्शसः कृत्स्नदेहोपतापित्वं निरूपयति—

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥ ३३ ॥
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥ ३४ ॥ (च.चि.अ. १४)

गुदार्श की उत्पत्ति में वायु, पित्त, कफ के पांचों स्वरूप तथा गुदा की तीनों (प्रवाहणी विसर्जनी, संवरणी) वलियां प्रकुपित हो जाती हैं। इसलिये अर्श के मस्से परम दुःखदायी, अनेक व्याधियों के जनक, सम्पूर्ण शरीर को कष्ट पहुंचाने वाले एवं कष्टसाध्य होते है ॥ ३३-३४ ॥

---

१. पृथक् समस्तैरपि चेह दोषैः प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव।
आगन्तुकं सप्तममष्टमं च दकोदरं चेति वदन्ति तानि ॥ (सु. नि. ७)
चरक ने आगन्तुक को ही 'क्षतोदर' कहा है।

ननु, गुददेशदुष्ट्या गुदजस्योत्पादात्[1] कथं सर्वदेहे कृशत्वकृष्णत्वादिरूपा दुष्टिरित्यत आह-पञ्चात्मेत्यादि। पञ्चात्मा पञ्चस्वरूपः प्राणापानसमानोदानव्यानभेदात् 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशे स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः॥' इति तेषां स्थानानि। एवं लिङ्गविपरिणामात् पञ्चात्मकत्वं पित्तेऽपि योज्यं, पित्तं ह्यालोचकरञ्जकसाधकपाचकभ्राजकभेदाद्भिन्नम्। आलोचकं नेत्रयोः, रञ्जकं यकृत्प्लीह्नोः, साधकं हृदि, पाचकं पक्वामाशययोर्मध्ये, भ्राजकं त्वचीति। एवं कफोऽपि पञ्चात्मा हृदयामाशयजिह्वाशिरःसन्धिषु क्रमेणावलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेषकभेदात्। यदाह गौतमः—'श्लेष्मा पञ्चविधोरःस्थः श्लेषकादिस्वकर्मणा। कफधाम्नां च सर्वेषां यत् करोत्यवलम्बनम्) अतोऽवलम्बकः, श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंश्रितः। क्लेदकः सोऽन्नसङ्घातक्लेदनाद्, रसबोधनात्॥ बोधको रसनास्थस्तु, शिरःसंस्थोऽक्षतर्पणात्। तर्पकः, श्लेषकः सम्यक् श्लेषणात् सन्धिषु स्थितः' इति। गुदवलित्रयस्य च प्रकोपो विकृतत्वं, प्रवाहणादिस्वकार्याकर्तृत्वं च। 'गुदवलित्रये' इति पाठान्तरं न युक्तं, तत्र प्राणोदानयोः सन्निधानस्याप्यभावात्, बलिदुष्टेरप्राप्तेश्च। सर्व एवेति उक्तमानादय एवेति। तस्मादित्यादि, बहुव्याधिकराणीति जठराग्निमान्द्याद्युपद्रवकराणि। प्रायः कृच्छ्रतमानीति प्रायोग्रहणादसाध्यानि सुखसाध्यान्यपि॥

विमर्शः—'पञ्चात्मा' शब्द से वात आदि दोषों के पाँच स्वरूपों का बोध होता है। यद्यपि पञ्चात्मा यह पुँल्लिङ्ग व्यवहार करने से पित्त ग्रहण नहीं हो सकता तथापि लिङ्गविपरिणाम के द्वारा उसका भी ग्रहण हो जाता है। स्थान एवं कार्य भेद से वात आदि प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद होते हैं अर्श रोग में ये तीनों दोष अपने पाँचों स्वरूपों से और पाँचों स्थानों से प्रकुपित हो जाते हैं[1]। इधर गुदा की तीनों बलियाँ भी अर्श के प्रादुर्भाव से दूषित रहती हैं। इस सार्वदेहिक दुष्टि के कारण ही गुदार्श होने पर सार्वदेहिक लक्षण भी प्रकट होते हैं। पञ्चरूप वात की दुष्टि से नखादि का वर्ण काला, पित्त से पीला एवं कफ से श्वेत हो जाता है। अन्य शारीरिक लक्षण एवं चिह्न भी

वायु के पाँच स्वरूप, उनका स्थान तथा कार्य—

नाम	स्थान	विभिन्न वातों के कार्य—
(१) प्राणवायु	हृदय एवं मुख	योऽनिलोऽजस्रसञ्चारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चैवावलम्बते॥ कुपितः कुरुते चापि हिक्काश्वासादिकान् गदान्।
(२) उदानवायु	कण्ठदेश	उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः॥ तेन भाषितगीतादिविशेषश्चाभिवर्तते। ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति कुपितश्च सः॥
(३) समानवायु	नाभिप्रदेश	आमपक्वाशयचरः समानोऽग्निसहायवान्। अन्नं पचति तज्जांश्च विकारान् प्रव्यनक्ति सः॥ गुल्माग्निसादातीसारान् प्रदुष्टश्च करोति सः।
(४) अपानवायु	पक्वाशय एवं गुदा	पक्वाशयाश्रयोऽपानः काले कर्षति चाप्यधः॥ वातमूत्रपुरीषाणि शुक्रगर्भार्तवानि च। क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् वस्तिगुदाश्रयान्॥
(५) व्यानवायु	सर्वशरीर	सर्वदेहसरो व्यानो रससंवहनोद्यतः। स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि॥ क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् (सु. नि. १)

१. 'गुदजं स्यात्, गुदस्योपादानात्कथम्'-इति पाठान्तरम्।

तत्तद्दोष के लक्षणों के अनुकूल ही होते हैं। साधारणतया अर्श में तीनों दोषों की दुष्टि रहती है किन्तु जिस दोष की प्रधान दुष्टि होती है लक्षण भी उसके अनुसार प्रकट होते हैं।

गुदवलित्रयदुष्टि—अर्श गुदा की प्रवाहणी, विसर्जनी और संवरणी इन तीनों वलियों में से किसी में भी होने पर सामीप्य और संवेदना से इन तीनों का अपना-अपना कार्यव्यवस्थित रूप में न करना ही उनकी दुष्टि है।

सर्वेषामप्यर्शसां साध्यासाध्यत्वादिकं निरूपयति—

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च।
अर्शांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥ ३५ ॥
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां बलौ यान्याश्रितानि च।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥ ३६ ॥
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां बलिम्।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥ ३७ ॥
(च. चि. अ. १४)

गुदा की संवरणी नामकी बाह्यवलि में होने वाला, नवोत्पन्न, एकदोषोल्बण अर्श सुखसाध्य होता है। विसर्जनी नामक द्वितीय वलि में होने वाला एक वर्ष का पुराना अर्श कृच्छ्रसाध्य होता है। सहज तथा प्रवाहणी नामक अन्तः स्थित तृतीय वलि में होने वाला या त्रिदोषज अर्श असाध्य होता है ॥ ३ –३७ ॥

उक्तवाताद्यर्शसां साध्यत्वादिकमाह—बाह्यायामित्यादि। न चिरोत्पतितानीति अनतिक्रांतसंवत्सराणि। परिसंवत्सराणीति परिगतोऽतिक्रान्तः संवत्सरो यैस्तानि तथा। यानि

विभिन्न पित्तों के नाम, स्थान और कर्म—पाचकं भ्राजकं चैव रञ्जकालोचके तथा।

नाम	स्थान	
		साधक चेति पञ्चैव पित्तनामान्यनुक्रमात् ॥
(१) पाचक	पाचन प्रणाली	स्वाशये पाचक पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम्।
(२) भ्राजक	त्वचा	भ्राजक कान्तिद यत्तु लेपाभ्यङ्गादिपाचकम् ॥
(३) रञ्जक	यकृत्-प्लीहा	रञ्जक तु यकृत्प्लीह्नोस्तद्रस शोणित नयेत्।
(४) आलोचक	नेत्र	आलोचकं स्थित नेत्रे रूपदर्शनकारि तत्।
(५) साधक	हृदय या मस्तिष्क	साधकं हृदये तिष्ठेन्मेधाप्रज्ञाकर च तत् ॥ (शार्ङ्गधर)

पञ्चविध श्लेष्मा के नाम, स्थान एवं कार्य—

नाम	स्थान	
		श्लेष्मा पञ्चविधोरःस्थःश्लेषकादिस्वकर्मणा।
		कफाधाम्नां च सर्वेषा यत्करोत्यवलम्बनम्।
(१) अवलम्बक	हृदय	अतोऽवलम्बकः·········· ··············
(२) क्लेदक	आमाशय	···········श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंश्रितः।
		क्लेदकः सोऽन्नसङ्घातक्लेदनात्··· ·········
(३) बोधक	जिह्वा	····························रसबोधनात्।
		बोधको रसनास्थस्तु·····················
(४) तर्पक	शिर	················शिरःसस्थोऽक्षतर्पणात्।
		तर्पकः······ ····························
(५) श्लेष्मक	सन्धि	श्लेष्मकः सम्यक्श्लेषणात् सन्धिषु स्थितः ॥ (अ. हृ. सू. १२)

तु बाह्यवलिजातानि द्विदोषोल्बणानि तानि कृच्छ्राणि, त्रिदोषजानि याप्यानीत्युक्तम्, एवं द्वितीयायामेकदोषोल्बणानि कृच्छ्राणि, द्विदोषोल्बणानि याप्यानि, त्रिदोषोल्बणान्यसाध्यानि; एवं तृतीयायामेकदोषोल्बणानि याप्यानि, शेषाण्यसाध्यानि। यद्याप्यं प्रत्याख्येयं वा तद्दोषवलिभेदेऽप्यसाध्यमेव, यदुक्तं चरकेण-'नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्' (च. नि. अ. ८) इति ॥ ३५-३७ ॥

विमर्शः—साध्य और असाध्य भेद से व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं। साध्य के भी सुखसाध्य तथा कृच्छ्रसाध्य दो भेद हैं। इसी प्रकार असाध्य के भी याप्य एवं असाध्य दो भेद किये गये हैं। प्रथम वलि (सवरणी) में होने वाला एकदोषोल्वण अर्श साध्य तथा द्विदोषज अर्श कृच्छ्रसाध्य और त्रिदोषज याप्य होता है। इसी प्रकार द्वितीय वलि (विसर्जनी) में होने वाला एकदोषोल्वण कृच्छ्रसाध्य, द्विदोषोल्वण याप्य तथा त्रिदोषज असाध्य होता है। प्रवाहणी नामक तृतीय वलि में होने वाला एकदोषज याप्य तथा द्विदोषज और त्रिदोषज असाध्य ही रहते हैं; क्योंकि कहा भी है—'नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्' (च० नि० ८)

इसका तात्पर्य यह है कि—त्रिदोषज अर्श बाह्य वलि में होने पर भी असाध्य ही रहता है। इसी प्रकार तृतीय वलि में होने वाला एकदोषज अर्श भी सुखसाध्य न होकर याप्य या असाध्य ही रहता हैं क्योंकि अर्श का त्रिदोषज या तृतीय वलि में होना असाध्यता का सूचक है। इसी भाव से चरक ने 'सहजानि त्रिदोषाणि' इत्यादि कहा है।

त्रिदोषज अर्श विरुद्धोपक्रम तथा आत्ययिक होने से असाध्य होता है किन्तु इनकी असाध्यता ओषधि-चिकित्सा की दृष्टि से ही है। शस्त्रक्रिया से तो साध्य या याप्य हो सकता है। अतएव श्री कविराज गणनाथसेनजी ने साध्यासाध्यता का निरूपण करते हुए कहा है—

'सहजानि त्रिदोषोत्थान्यसाध्यानि हि भेषजैः। याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः………

भेषजैरसाध्यानि, क्षाराग्निशस्त्रैस्तु क्वचित्साध्यानीति भावः। (सि० नि० ४६९)

अर्थात् दीप्ताग्नि पुरुष का त्रिदोषज या सहज अर्श भी शस्त्र तथा क्षारक्रिया के द्वारा याप्य बनाया जा सकता है। शस्त्र या क्षार क्रिया का करना कठिन एवं क्वचित् आत्ययिक होता है अतः इसे भी असाध्य कहा गया हैं। आधुनिक साधनसम्पन्नता के युग में इसको पूर्णतया असाध्य नहीं कह सकते। फिर भी त्रिदोषज होने पर तो प्रायः असाध्य ही होगा।

असाध्यत्वस्य द्वैविध्यमाह—

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते ।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥ ३८ ॥

(च० चि० अ० १४)

यदि आयु अवशिष्ट है और चतुष्पाद की सम्पत्ति[1] भी है तो दीप्ताग्नि पुरुष के असाध्य अर्श

१. भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम् ।
गुणवत् कारणं ज्ञेयं विकारव्युपशान्तये ॥
वैद्यगुणाः श्रुते पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता ।
दाक्ष्यं शौचमिति ज्ञेयं गुणचतुष्टयम् ॥
भेषजगुणाः बहुता तत्र योग्यत्वमनेकविधकल्पना ।
सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणां गुण उच्यते ॥
परिचारकगुणाः उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि ।
शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने ॥

१. 'त्रिदोषं तृतीयवलौ त्वसाध्यमेव' इति क।

भी याप्य हो जाते हैं। इसके विपरीत (रोगी की आयु शेष न हो, चतुष्पाद की सम्पत्ति न हो तथा अग्नि भी मन्द होते) होने पर अर्श प्रत्याख्येय (असाध्यतम) ही होता है ॥ ३८ ॥

असाध्यो हि द्विविधो याप्यप्रत्याख्येयभेदात्, तत्र यद्यायुःशेषोऽस्ति चतुष्पादसम्पत्तिश्च तदा याप्यत्वमन्यथा प्रत्याख्येयत्वमित्याह—शेषत्वादित्यादि। चतुष्पादसमन्विते 'अर्शोरोगिणि' इति शेषः। समन्वित इति भावे क्तः' तेन 'चतुष्पादसमन्वये सति' इति चक्रः॥

उपद्रवाद् रोगिणोऽसाध्यत्वं निरूपयति—

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥ ३९ ॥
हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥ ४० ॥(च.चि.अ.१४)
तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम्।
शोथातिसारसंयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ॥ ४१ ॥(सु.सू.अ.३३)

जिस रोगी के हाथ, पैर, मुख, नाभि, गुदा तथा अण्डकोषों में शोथ एवं हृदय और पार्श्व में शूल मिले उसे असाध्य समझना चाहिये। हृदय प्रदेश एवं पार्श्व का शूल, इन्द्रियशक्ति शैथिल्य (संमोह), वमन, अंगों में टूटने जैसी पीडा, ज्वर, तृष्णा तथा गुदा का पक जाना अर्श रोगी की असाध्यता का निदर्शक है। तृष्णा, अरोचक तथा शूल से पीडित जिस रोगी की गुदा से अत्यधिक रक्तस्राव हुआ हो, एवं वह शोथ अतिसार के उपद्रव से पीडित हो तो अर्श उस रोगी को मार डालता है ॥ ३९-४१ ॥

उपद्रवादसाध्यत्वमाह—हस्त इत्यादि। हस्तपादादिशोथो मिलितोऽसाध्यलक्षणम्। अत्र हृत्पार्श्वशूलसम्मोहादि व्यस्तं समस्तं वा ॥ ३९-४१ ॥

विमर्शः—प्रथम श्लोक के प्रतिपादित हस्त-पाद आदि सब का सम्मिलित शोथ ही असाध्य होता है केवल एक या कुछ का ही शोथ नहीं। हृत्पार्श्व-शूल आदि पृथक्-पृथक् एवं सम्मिलित रूप में भी असाध्यता के सूचक हैं। अर्श की साध्यासाध्यता के विषय में आधुनिक विद्वानों का निम्न विचार हैं-Haemorrhoids are not serious but they may be extremely troublesome by the constant loss of blood, by their liability to repeated attacks of inflamation and thrombosis and by the pain they cause (Savill's medicine.)

तात्पर्य यह है कि यद्यपि अर्श कोई स्वतः घातक रोग नहीं है किन्तु अत्यधिक रक्तस्राव से तथा रक्तस्कन्दन एवं गुद-शोथ के पुनराक्रमणों के होने से और अत्यधिक पीड़ा से यह घातक रूप भी धारण कर सकता है।

कविराज गणनाथसेन जी सरस्वती द्वारा प्रतिपादित अर्श के उपद्रवों का वर्णन उपादेय होने से सुखस्मरणार्थ नीचे दिया जाता है। (सिद्धान्त निदान ४५६-५७)

उपद्रवास्तु दुर्नाम्नां गुदभ्रंशो भगन्दरः। वातमूत्रपुरीषाणामुदावर्तश्च कुत्रचित् ॥
क्वचिद् बद्धगुदश्चापि यकृद्वृद्धिश्च कामला। रक्तक्षयात् पाण्डुता च शोथश्च करपादयोः ॥

रोगिगुणाः स्मृतिर्निर्देशकारित्वमभीरुत्वमथापि च।
ज्ञापकत्वं च रोगाणामातुरस्य गुणाः स्मृताः ॥ (च. सू. ९)

लिङ्गादिजानामर्शसां स्वरूपं विविनक्ति—

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं, नाभिजानि च ।
गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥४२॥(वा.नि.अ.७)

लिंग, नासा, अक्षि तथा कर्ण में भी मस्से होते हैं उनका वर्णन इन अंगों में होने वाले रोगों के साथ ही किया जायगा। नाभि में होने वाले अर्श का स्वरूप गण्डूपद कृमि के समान पिच्छिल एवं मृदु होता है ॥ ४२ ॥

अथ मेढ्रजादीनां स्वरूपमाह—मेढादिष्वित्यादि। मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वमित्यन्तेन छेदः। तेन 'नासार्श' इत्यादिव्यपदेशः। गण्डूपदास्यरूपाणि किञ्चुलकमुखसदृशानि।

विमर्श—लिङ्ग में होने वाले अर्श को लिंगार्श तथा नासा में होने वाले अर्श को नासार्श (Nasal polypus) कहते हैं।

चर्मकीलसम्प्राप्तिमाह—

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः ।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तद्विदुः ॥ ४३ ॥(वा.नि.अ. ७)

सर्वव्यापी व्यान वायु श्लेष्मा को लेकर त्वचा पर कील के समान स्थिर एवं खुरदरा मस्सा उत्पन्न कर देता है उसे 'चर्मकील' कहते है ॥ ४३ ॥

चर्मकीलसम्प्राप्तिमाह—व्यान इत्यादि। व्यानो वायुः, 'पुनश्च गुदौष्ठदेश एव नान्यत्र' इति कार्तिककुण्डादयः ॥ ४३ ॥

विमर्शः—चरक ने शिश्नादि तथा त्वग्गत अर्शों के लिए अधिमांस शब्द का व्यवहार किया है। क्योंकि वहाँ स्पष्ट कहा है—केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलताल मुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च, तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्' कि इस 'अग्निवेशतन्त्र' में केवल गुदवलि में होने वाले मस्सों को ही अर्श स्वीकार किया गया है, अन्य सब अधिमांस शब्द से व्यवहृत होते हैं।

चर्मकीलस्य वातादिभेदेन लक्षणमाह—

वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता[1] ।
श्लेष्मणा स्निग्धता चास्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥४४॥(वा.नि.अ. ७)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽर्शोनिदानं समाप्तम् ॥ ५ ॥

इस चर्मकील में वायु के कारण सूचीवेधवत् पीडा, परुषता होती है। पित्त के कारण उसका मुख काला होता है। कफ का अनुबन्ध होने पर मस्सा चिकना, गठीला तथा त्वचा के समान वर्ण वाला होता है ॥ ४४ ॥

तस्यैव वातादिभेदेन लक्षणमाह—वातेनेत्यादि। सवर्णता गात्रसवर्णता ॥ ४४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामर्शोनिदानं समाप्तम् ॥ ५ ॥

विमर्शः—सुश्रुत ने वातादि प्राधान्य से चर्मकीलों का निम्न लक्षण कहा है—
तेषु कीलेषु निस्तोदो मारुतेनोपजायते। श्लेष्मणा तु सवर्णत्वं ग्रथितत्वं च निर्दिशेत् ॥
पित्तशोणितजे रौक्ष्यं कृष्णत्वं शुक्लता तथा। समुदीर्णखरत्वं च चर्मकीलस्य लक्षणम् ॥
इत्यर्शोनिदानं समाप्तम् ॥

---

१. 'रक्तता' इति क ख।

अथाग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसकविलम्बिकानिदानम्

अग्निमान्द्यवर्णनम्—

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः ।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः ॥ १ ॥

कफ, पित्त तथा वायु की अधिकता या उनकी समता के कारण जाठराग्नि क्रमशः मन्द, तीक्ष्ण, विषम एवं समभेद से चार प्रकार की होती है। अर्थात् कफ से मन्द, पित्त से तीक्ष्ण, वात से विषम तथा इनकी साम्यावस्था से सम होती है ॥ १ ॥

अर्शःकार्यत्वादग्निमान्द्यादीनां तान्याह—मन्द इत्यादि । मन्दस्य दुर्जयत्वात् प्रागभिधानम् । कफपित्तानिलाधिक्यादिति यथाक्रमं मन्दादिषु योज्यम् । तत्साम्यादिति तेषां कफादीनां साम्यात् । समः अविकृतः, धातुसाम्यहेतुरित्यर्थः । एतस्याविकारस्यापि विकारप्रस्तावेऽभिधानं प्रकृतिज्ञानानन्तरीयकं विकृतिज्ञानमिति बोधनार्थम् । जाठर इति धात्वग्निभूताग्निव्यवच्छेदार्थम् ॥ १ ॥

विमर्श—शरीर की पुष्टि एवं जीवन के लिये अग्नि का क्या महत्त्व है इसका वर्णन ग्रहणीनिदान में किया जा चुका है। चरकमतानुसार अग्नि के तेरह भेद (भूताग्नि पांच, धात्वग्नि सात और एक जाठराग्नि) माने गये हैं। इन सब में जाठराग्नि का अधिक महत्त्व है एवं वह अन्य बारह अग्नियों की अपेक्षा श्रेष्ठ भी है। इसकी सर्वोच्चता का सहेतुक वर्णन इस प्रकार मिलता है—
अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो मतः । स्वस्थानस्थोऽपि सर्वेषामग्नीनां स हि पोषकः ॥
यह अपने स्थान में रहता हुआ भी अन्य बारह अग्नियों का पोषण करता है। अतः इसे सब अग्नियों से श्रेष्ठ माना गया है। स्वस्थान से तात्पर्य है आमाशय, पच्यमानाशय (ग्रहणी), पक्वाशय, यकृत् तथा अग्न्याशय। यह अग्नि-शक्ति इन अङ्गों में स्थित रह कर विभिन्न पाचक रसों के स्राव के रूप से अन्न का पाचन करने के उपरान्त भूताग्नि एवं धात्वग्निव्यापार को भी प्रेरणा देती है। इसकी प्रकृतिस्थता पर अन्य अग्नियों की शक्ति भी निर्भर रहती है अत एव सुश्रुत ने भी कहा है—**तत्रादृष्टहेतुकेन कर्मणा पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं चतुर्विधमन्नपानं पचति । विवेचयति च दोषरसमूत्रपुरीषाणि, तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणां पित्तस्थानानां शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति, तस्मिन् पित्ते पाचकोऽग्निरिति संज्ञा'** (सु. सू. २१) कविराज गणनाथसेन सरस्वती ने जाठराग्नि के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा है—

महास्रोतसि सम्प्राप्तमन्नपानं पचेत्तु यः । क्षाराम्लरसनिःस्रावैः स कायाग्निरितीरितः ॥

अर्थात् मुख द्वारा आन्त्र में आये हुए आहार का विविध क्षारीय या अम्लरस वाले स्रावों द्वारा पाचन करके रस और मलरूप में परिणत करने वाले द्रव्य को कायाग्नि या जाठराग्नि कहते हैं।
अग्नि से स्थूल पाचक रसों का नहीं अपि तु उनको शक्ति देने वाली अदृश्य एवं सूक्ष्म अग्नि का ही ग्रहण करना चाहिये।

जाठराग्नि पित्त में स्थित रहती है। **'अग्निरेव शरीरपित्तान्तर्गतः'** (च. सू. १२) अतः—**'गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः'** ये श्लेष्मा के गुण पित्त और अग्नि के विपरीत होने से **ह्रासहेतुर्विशेषश्च'** आयुर्वेद के इस मौलिक सिद्धान्त के आधार पर अग्नि को मन्द करते हैं। इसी प्रकार **'सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च सरमम्लं द्रवं कटु'** इस स्वभाववाला पित्त अग्निजातीय होने से **'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'** सिद्धान्त के अनुसार अग्नि को और भी बढ़ाकर तीक्ष्ण कर देता है। वायु योगवाही होने से अग्नि को विषम करता है। तात्पर्य यह है कि वायु अनुष्णाशीत है। यदि उसका सम्पर्क शीतगुणप्रधान कफ से होता है तो अग्नि को मन्द करेगा, यदि

पित्त से हो तो तीक्ष्ण करेगा। (इस प्रकार वायु योगवाही होने से परिस्थिति के अनुसार अग्नि को उभय प्रकार का बना सकता है।) वात, पित्त तथा कफ की साम्यावस्था से समाग्नि की उत्पत्ति होती हैं।

तेषामग्नीनां कार्यमाह—

विषमो वातजान् रोगाँस्तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसम्भवान् ॥ २ ॥

विषमाग्नि वातज रोगों को, तीक्ष्णाग्नि पित्तजन्य रोगों को तथा मन्दाग्नि कफज रोगों को उत्पन्न करती है ॥ २ ॥

तेषां लक्षणान्याह—

समा समाग्नेरशिता [1]मात्रा सम्यग्विपच्यते।
स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः ॥ ३ ॥
कदाचित् पच्यते सम्यक्कदाचिन्न विपच्यते।
मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते।
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्, समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४ ॥

सम अग्निवाले व्यक्ति की खायी हुई सम (उचित) मात्रा भली भाति पच जाती है। मन्दाग्नि पुरुष की अल्पमात्रा भी नहीं पचती तथा विषमाग्नि पुरुष का पाचन कभी ठीक हो जाता है कभी नहीं होता। किन्तु जिस व्यक्ति को भोजन की सममात्रा या अति मात्रा सुखपूर्वक पच जाती है उसे तीक्ष्णाग्नि कहते हैं। इन सब में समाग्नि श्रेष्ठ है ॥ ३-४ ॥

प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या तेषां रूपमाह—विषम इत्यादि। वातजान् रोगानिति वातनानात्मजानामशीतेरन्यतमान्, सामान्यजांश्च ज्वरातीसारादीन्, एवं पित्तनानात्मजानामोषचोषादीनां चत्वारिंशतोऽन्यतमान्, एवं कफनानात्मजाना विंशतेरालस्यादीनामन्यतमान्। एते च विकाराश्चरके महारोगाध्याय (च. सू. अ. २०) एव द्रष्टव्याः। समेत्यादि समा उचिता, मात्रा आहारस्य, सम्यग्यस्य विपच्यते स समाग्निः। तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यादिति छेदः। मात्राऽतिमात्रेत्युपलक्षणं तेनाजीर्णगुरुभोजनादिकमपि लक्षणीयम्। यदुक्तमन्यत्र—'अतिमात्रमजीर्णेऽपि गुरु चान्नमथाश्नतः। दिवाऽपि स्वपतो यस्य पच्यते सोऽग्निरुत्तमः'—इति। तीक्ष्णग्रहणेन भस्मकस्यावरोधः, अत्यन्ततीक्ष्णाग्निरेव 'भस्मक' इत्युच्यते। यदुक्तं चरके—'नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्। स्वोष्मणा पाकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥ तथा लब्धबलो देहं विरुजेत्[2] सानिलोऽनलः। अभिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥ पक्त्वाऽन्नं स ततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि। ततो दौर्बल्यमातङ्कान् मृत्युं चोपनयेन्नरम् ॥ भुक्तेऽन्ने लभते शान्ति जीर्णमात्रे प्रताम्यति। तृट्कासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः। (च. चि. अ. १५)' इति ॥ २-४ ॥

विमर्श—सामान्यज[1] एवं नानात्मज भेद से रोग दो प्रकार के होते हैं। एक निश्चित दोष से

१. 'सामान्यजा इति वातादिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जायन्ते' नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासम्पृक्तैर्जन्यन्ते' (च. सू. २० चक्रपाणिः)। आत्मनाः = आत्मना (दोषविशेषेण) जाताः, अनात्मजाः = अनात्मना (आत्मव्यतिरिक्तेन दोषेण) जाताः, न अनात्मजाः नानात्मजाः इत्येवं व्याकर्तुं शक्यते (सं.)।

१. 'सुखं यस्य विपच्यते' इति ख। २. 'रूक्षयेत्' क ख।

ही उत्पन्न होने वाले विशिष्ट रोगों को नानात्मज कहते हैं। एक दो या तीनों दोषों से (किसी भी दोष से) उत्पन्न होने वाले विविध रोगों को सामान्यज कहते हैं[1]। इस प्रकार यहाँ पर वातज, पित्तज या कफज रोगों से नानात्मज[2] तथा सामान्यज उभयविध रोगों का ग्रहण करना चाहिये।

समाग्नि पुरुष की भी उचित मात्रा का ही पाचन होता है। यह समशब्द के उपादान से सिद्ध है; क्योंकि स्वस्थवृत्त में कहा भी है—'मात्राशी स्यात्' (च. सू. ५)। '**हिताशी स्यान्मिताशी स्यात् कालभोजी जितेन्द्रियः। पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान् बुद्धिमान् विषमाशनात्॥**' (च नि. ६)। इस प्रकार समाग्नि पुरुष को भी मात्रावत् भोजन ही ठीक पच सकता है, अतिमात्र भोजन उसे भी रोगकारक ही होगा। आहार की मात्रा अग्नि-बल पर निर्भर है। इसकी परीक्षा के लिए चरक ने कहा है—'**यावद्ध्यस्याशितमशनमनुपहत्य प्रकृतिं यथाकालं जरां गच्छति तावदस्य मात्राप्रमाणं वेदितव्यं भवति**' अर्थात् भोजन की जितनी मात्रा बिना कष्ट के यथासमय पच जाय उसको ही उस व्यक्ति की मात्रा समझनी चाहिये।

तीक्ष्णाग्नि पुरुष का किया हुआ अतिमात्र, कच्चा, पक्का, लघु, गुरु हर प्रकार का भोजन भी अतिशीघ्र सुखपूर्वक पच जाता है। इसके लिये कहा भी है—'**अतिमात्रमजीर्णेऽपि गुरु चान्नमश्नतः। दिवाऽपि स्वपतो यस्य पच्यते सोऽग्निरुत्तमः**' यहाँ उत्तम का अर्थ तीक्ष्ण है। इस अवस्था को भस्मक रोग भी कहते हैं; क्योंकि इसमें खाया हुआ सब पदार्थ भस्म हो जाता है उसका रस एवं मल नहीं बनता। इस अवस्था में कफ का अत्यन्त क्षय हो जाता है एवं पित्त अत्यधिक कुपित होकर वायु की सहायता से जठराग्नि को अत्यन्त प्रबल एवं प्रचण्डतम बना देता है। कफ की हीनता से शरीर रूक्ष हो जाता है तथा मरुत्सखा पित्त या अग्नि अन्न का पाचन अतिशीघ्र कर डालता है। इस प्रकार अन्न का पाचन होने पर भी उस पुरुष का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जाता है; क्योंकि तीक्ष्ण अग्नि अन्न का शीघ्र परिपाक करने के उपरान्त अन्न के अभाव में क्रमशः रक्त आदि धातुओं का भी पाचन करने लगती है और इसके भौतिक परिणाम स्वरूप रोगी को सदा भूख लगी रहती है जो कि आन्तरिक कमी की सूचक है। धातुओं का निरन्तर क्षय होने से रोगी दुर्बल होता जाता है एव इस रोग से उसकी मृत्यु भी हो सकती है। ऐसे रोगी को भोजन करने पर कुछ शान्ति होती है किन्तु पचते ही पुनः उसे व्याकुलता होने लगती है। तीक्ष्णाग्नि के कारण, तृषा, श्वास, दाह तथा मूर्च्छा आदि लक्षणों का होना स्वाभाविक है; क्योंकि चरक ने कहा है—

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम्। क्षीणा जहति स्वं लिङ्गं समाः स्वं कर्म कुर्वते॥

इस अवस्था मे कफ के लक्षण प्रायः नष्ट हो जाते है एव प्रवृद्ध पित्त तथा उसके सहायक वायु के ही लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। अत एव चरक ने इस अवस्था में पुनः २ तथा अधिक मात्रा में गरिष्ठ भोजन करने का उपदेश किया है जिससे क्षीण कफ की वृद्धि हो और प्रवृद्ध पित्त को

---

१. त एवमेते क्रमशो द्विशो वा दोषाः प्रदुष्टा युगपत् त्रयो वा।
कुर्वन्ति रोगान् विविधान् शरीरे सामान्यजास्ते ज्वरादयः स्युः॥

२. नानात्मजा यथा—अशीतिर्वातविकाराः—इन अस्सी विकारों का वर्णन 'तद्यथा नखभेदश्च विपादिका च पादशूलश्च' से लेकर 'अनवस्थितत्वं चेति' तक किया है। 'चत्वारिंशत् पित्तविकाराः—ओषश्च चोषश्च दाहश्च दवथुश्च इत्यादि, विंशतिः कफविकाराः—तृप्तिश्च तन्द्रा च निद्राधिक्यं च' इत्यादि वर्णन चरकसंहिता महारोगाध्याय (सूत्र स्थान अ. २०) में विस्तार से किया है। अष्टोदरीय (च. सू. १९) में वर्णित '**अष्टौ मूत्राघाताः अष्टौ क्षीरदोषाः, अष्टौ रेतोदोषाः, पञ्च गुल्माः**' इत्यादि सामान्यज रोग कहलाते हैं ये प्रत्येक दोष से उत्पन्न हो सकते हैं।

निरन्तर पाचन करने के लिये कुछ न कुछ उपस्थित रहे, उसे धातु-पाचन करने का अवसर उपलब्ध न हो। अन्ततोगत्वा कफ की वृद्धि एवं पित्त की शान्ति होने से रोग की भी शान्ति हो सकती है। (चरक का मूलपाठ मधुकोश में देखिये।)

आधुनिक विज्ञान में सामान्य अजीर्ण को Indigestion, तीक्ष्णाग्नि को Acid Dispepsia and Bulimia, मन्दाग्नि को Dispepsia तथा विष्टब्धाजीर्ण को Atonic Dispepsia and Chronic Constipation कहते हैं। अति तीक्ष्णाग्नि अवटुका ग्रन्थि की विकृति (Thyrtoxicosis) में मुख्यतया मिलती है। इसमें धात्वग्नि की तीक्ष्णता से धातुक्षय विशेष रूप से होता है। धात्वग्नि की वृद्धि से धातुक्षय और मन्दता से धातु-वृद्धि का वर्णन आयुर्वेदाचार्यों ने स्पष्टतः किया है। यथास्वस्थानस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संश्रिताः। तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः। (अ. हृ. सू. अ. ११)

अजीर्णनिरूपणम्—

'आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥ ५ ॥ (सु. सू. ४६)
अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च।
वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम् ॥ ॥ ॥

कफ, पित्त तथा वायु के प्रकोप से क्रमशः आम, विदग्ध तथा विष्टब्ध नामक अजीर्ण की उत्पत्ति होती है। कतिपय विद्वान् चौथा 'रसशेषाजीर्ण' भी स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वान् निर्दोष तथा दिन भर में पकने वाले 'दिनपाकी' को भी पांचवां अजीर्ण मानते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्रतिदिन रहने वाले 'प्राकृत' को छठा अजीर्ण मानते हैं ॥ –६ ॥

अग्निमान्द्याजीर्णयोः परस्परकारणत्वादजीर्णान्याह—आममित्यादि। त्रिभिरिति कफादिभिरेकैकशो यथासंख्येन। रसशेषत इति रसाय शेषो रसशेषः, प्रकृतिविकृतिभावे चतुर्थी, यथा—यूपाय दारु यूपदारुः, अथवा 'रसशब्देन रसवानाहारोऽभिप्रेतो लक्षणया, तेन रसशब्देन रसवानाहारोऽभिधीयते, तस्य शेषोऽपरिणतिलक्षणो रसशेष' इति जेज्जटः। ननु, यद्येव तदा आमविदग्धविष्टब्धानामन्यतमरूपस्यावश्यम्भावित्वान्न तेभ्यो भेदः; किञ्च तल्लिङ्गरम्लोद्गारादिभिर्भवितव्यं, तथा च सत्युद्गारशुद्धे रसशेषाजीर्णलक्षणस्यानुदयप्रसङ्गः?। उक्तं हि सुश्रुते–'उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य। रसावशेषेण तु सप्रसेकं चतुर्थमेतत्प्रवदन्त्यजीर्णम्' इति (सु. सू. अ. ४६)। आरोग्यमञ्जर्यां नागार्जुनोऽप्याह—'उद्गारेऽपि विशुद्धनामुपगते काङ्क्षा न भक्तादिषु स्निग्धत्वं वदनस्य[1] सन्धिषु रुजा कृत्वा शिरोगौरवम्। मन्दाजीर्णरसे तु लक्षणमिदं तत्रातिवृद्धे पुनर्हृल्लासज्वरमूर्च्छनादि च भवेत् सर्वामयक्षोभणम्' इति। नैवम् 'अवश्यंभाविविदग्धादिरूपस्थाप्याहारशेषस्याल्पत्वेन न तदनुरञ्जितोद्गारोदयप्रसङ्गः' अकालबुभुक्षायामिव। यदाह सुश्रुतः—'स्वल्पं यदा दोषविबद्धमाम लीनं न तेजःपथमावृणोति। भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति' (सु. सू. अ. ४६) इति। तन्त्रान्तरेऽप्याहारापाकजरसशेषलक्षणम्—'आमं विदग्धं विष्टब्धं रसशेषमथापि च। चतुर्विधमजीर्णं स्यादाहारापरिपाकतः' इति। गदाधरस्त्वाह—'रसे शेषो रसशेषः' आहारजनिते रसे शेष आहारावयवोऽनुपविष्टोऽलक्ष्यमाणः क्षीरे नीरमिव रसशेषः' इति। ननु, आमाजीर्णादिभ्यो रसशेषस्य को भेदः? उच्यते, आमादित्रयमन्नज' रसशेषरसाहाररसज.' वातिकादिव्यपदेशश्चात्र न कृतः' अल्पत्वाद्धातादिलिङ्गानां हेतुलक्षणचिकित्साभेदाच्चास्य भेद इति। अजीर्णमिति तद्विरोधे नञ्, जीर्णं पक्वं

१. 'क्षुदरस्य' इति क।

तद्विरुद्धमजीर्णं; यथा—'असितम्'। सर्वमजीर्णं त्रिदोषजम, एकदोषव्यपदेशस्तूत्कटैकदोषलिङ्गत्वेनोक्त इति व्याख्यानयन्ति; यतस्त्रैदोषिकमेवाजीर्णकारणमुक्तम्, 'अत्यम्बुपानात्' इत्यादि। अजीर्णादपि दोषत्रयकोपो भवति यदुक्तं सुश्रुते—'अजीर्णाद् पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्' (सु. सू. अ. ४६) इति। अजीर्णं पञ्चमं केचिदित्यादि। निर्दोषम् आध्मानादिदुष्टेरकारकम्। दिनपाकि चेत्यहोरात्रेणाहारः पच्यत इत्युत्सर्गः, यत्र तु मात्राकालासात्म्यादिदोषादपरदिने पच्यते तद्दिनपाकि। कालव्यतिक्रमेण पच्यमानमप्याध्मानादिकं न करोतीति पूर्वेभ्यो भेदः। एतदभिधानस्य तु प्रयोजनं पाककालप्रतीक्षणं, नैशाजीर्णे[1] भोजननिषेधात्। प्राकृतं प्रतिवासरमिति प्राकृतमवैकारिकं, प्रतिवासरं प्रतिदिनं क्रियमाणम्। अयमभिसन्धिः—अद्यैव भुक्तमन्नं किं जीर्णमजीर्णं वा ? न तावज्जीर्णं, क्षुत्पिपासामलोत्सर्गादेर्जीर्णलक्षणस्यानुदयात्; तस्मादजीर्णं, तच्चाध्मानादिकं न करोतीति[2] पूर्वेभ्यो भिन्नम्। तस्य चाभिधानप्रयोजनं—पाकार्थं वामपार्श्वशयनाद्याचारसेवा, उक्तं हि सुश्रुते—'भुक्त्वा पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्। शब्दरूपरसस्पर्शगन्धांश्च मनसः प्रियान्॥ भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति' (सु. सू. अ. ४६) इति। न चात्राहारस्य निषेधः, तस्य शास्त्रेण विहितत्वात्। चरके तु—'तस्य लिङ्गमजीर्णस्य'—इत्यादिना 'घोरमन्नविषं च' (च. चि. अ. १५) इत्यन्तेनान्नविषाख्यमजीर्णं पठितं; तच्च पित्तादिसंसृष्टरसशेषाजीर्णमेवेति व्याचक्षते; तेन रसशेष एव तस्यान्तर्भाव इति न पृथक् पठितम्॥ ५–६॥

विमर्शः—अजीर्ण का मूल अग्निमान्द्य ही है। अग्निमान्द्य होने से भोजन का परिपाक नहीं होता एवं भोजन की अपरिपक्वावस्था का ही दूसरा नाम अजीर्ण है। विसूचिका, अलसक आदि रोग भी अजीर्ण से ही उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार अधिकांश आन्त्रिक विकृतियों (Intestinal disorders) का मूल अजीर्ण ही है। साधारणतया अजीर्ण का पाचनाभाव (Indigestion) कह सकते हैं। यह कोई स्वतन्त्र रोग नहीं है फिर भी अनेक रोगों का प्रमुख कारण होने से इसका वर्णन किया गया है। चरक एवं वाग्भट में इसका स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता अपि तु चरक ग्रहणीचिकित्सिताध्याय में अभोजनादित्यादि श्लोकसमुदायगत **'विषरूपताम्'** शब्द पर टीका करते हुए चक्रपाणि लिखते हैं—**विषरूपतामिति यथा विषं बहुविकारकारि भवति तथा तद्रूपताम्' अनेन सर्व एवाजीर्णभेदा अवरुद्धा ज्ञेयाः' ये तन्त्रान्तरे 'आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैः क्रमात्। अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः।' इत्यनेनोक्ताः, इति'** (च. चि. १५) सुश्रुत ने भी इसका वर्णन पृथक् रोग के रूप में नहीं किया बहुधा अजीर्ण और कोष्ठबद्धता (Constipation) को पर्यायवाची समझा जाता है, किन्तु वह ठीक नहीं। यद्यपि अन्य रोगों (अतिसार, ग्रहणी, अर्श आदि) के समान कोष्ठबद्धता का भी प्रधान कारण अजीर्ण ही है तथापि ये दोनों शब्द पर्यायवाची नहीं कहे जा सकते क्योंकि कोष्ठबद्धता के विपरीत लक्षणों वाले अतिसार और ग्रहणी भी अजीर्ण के ही कार्य हैं। अजीर्ण की सामान्य परिभाषा करते हुए कविराज गणनाथसेन जी सरस्वती कहते हैं—

न जीर्यती सुखेनान्नं विकारान् कुरुतेऽपि च। तदजीर्णमिति प्राहुस्तन्मूला विविधा रुजः॥

अर्थात् अन्न का सुतरां पाचन न होना ही अजीर्ण है। इसके कारण अनेकों व्याधियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार समय पर भुक्त भोजन के अनुपात से मलत्याग का न होना, अधिक होना या कम होना भी अजीर्ण कहलाता है। छर्दि रोग भी प्रायः अजीर्ण का ही कार्य है। पाचक रसों की अल्पता, अधिकता या अभाव एवं आन्त्रिक गतियों की अव्यवस्था ही पाचनाभाव (Iudigestion) या अजीर्ण के लिये उत्तरदायी है। कोष्ठबद्धता के मुख्य कारण आन्त्रिक

१. 'नैशामजीर्णे' इति क। २. एतदनन्तरं 'परं प्राकृतत्वादविकारित्वमस्य' इति आतङ्कदर्पणेऽधिकं पठ्यते।

आज्ञावाहिनी नाड़ियों की दुर्बलता, अपर्याप्त प्रत्यावर्तन क्रियायें तथा मलाशय में अपर्याप्त मल की उपस्थिति है। इस प्रकार आन्त्र में मल के अधिक देर तक ठहरने से अनेकविध विषों की उत्पत्ति होकर गौरव (Heaviness), आध्मान या आटोप (Distention of abdomen and barborigmns), बुभुक्षानाश (Loss of appetite), जिह्वा में विदार, शिरःशूल तथा शारीरिक एवं मस्तिक की दुर्बलता सदृश विषजन्य लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

माधव ने अजीर्ण को विशिष्ट रोग मानकर लक्षणों सहित इसके भेदों का विवेचन किया है।

१. आमाजीर्ण—कफ की अधिकता होने पर आमाजीर्ण होता है। श्लेष्मवृद्धि होने पर आमाशयस्थ क्लेदक कफ की भी वृद्धि होती है एवं आमाशयिक अम्लरस का स्राव अल्प मात्रा में होता है अथवा जलीयांश की अधिकता से वह दुर्बल (Dilute) हो जाता है। क्षारीय स्राव भी स्वाभाविक या अल्पमात्रा में तथा दुर्बल रहते हैं। इस प्रकार पाचक रसों का सन्तुलन ठीक न होने से अन्न का परिपाक भी ठीक नहीं होता एवं कफ का अधिक मिश्रण होने से अन्न प्रायः आम (अपक्व) रूप में ही रहने से आमाजीर्ण की उत्पत्ति होती है।

२. विदग्धाजीर्ण—इस अवस्था में पित्तजातीय अम्लरस का निःस्राव अधिक मात्रा में होता है। क्षारीय निःस्राव की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है, इस प्रकार आहार का अपूर्ण पाक होने से विदग्धाजीर्ण की उत्पत्ति होती है। इसमें आहार अर्धपक्व या पक्वापक्व होता है।

३. विष्टब्धाजीर्ण—वायु की वृद्धि होने पर प्रायः सभी स्रावों की कमी या अव्यवस्थित मात्रा होने से अन्न का परिपाक असम्यक् रूप में एवं विलम्ब से होता है। '**विष्टभ्य पचति**, जिसमें अन्न कुछ देर ठहर कर पचे उस अवस्था को 'विष्टब्धाजीर्ण कहते हैं। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न गैसों की उत्पत्ति होने से आटोप और आध्मान जैसे लक्षणों की उत्पत्ति होती है। परिणामतः मल भी रुक कर प्रायः शुष्क और कठिनता से निकलता है। इसी को 'विबन्ध' भी कहते हैं।

४. रससेषाजीर्ण—रस बनाने के लिये खाद्यांश का अविशिष्ट रह जाना ही रसशेषाजीर्ण है। इसी भाव को प्रतिपादित करने के लिये जेज्जट ने '**यूपाय दारु**' के समान, रसाय शेषः रसशेषः,' यह विग्रह किया है। 'रस' शब्द से 'रस का आशय रसवान् द्रव्य' अभिप्रेत है। अर्थात् आहार द्रव्य के अधिकांश भाग का पाचन हो जाने पर भी कुछ अंश का अपाचित रह जाना ही रसशेषाजीर्ण है। इस पर कोई सन्देह करते हैं कि यदि रसशेष का यही विग्रह है तो आम, विदग्ध तथा विष्टब्धाजीर्ण में से किसी का अवश्यम्भावी रूप होने से इसको पृथक् नहीं माना जा सकता तात्पर्य यह है कि रसशेषाजीर्ण के समान अन्य तीनों अजीर्णों में भी अन्न का पाचन नहीं होता एवं विभिन्न दोषों के प्रकोप के आधार पर अजीर्ण के विभिन्न भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार रसशेषाजीर्ण में भी होना चाहिए। उसका पृथक् पाठ करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि फिर भी रसशेषाजीर्ण को नाम मात्र के लिये उनसे भिन्न माना ही जाय तब भी इसमें उनके अम्ल उद्गार आदि विशिष्ट लक्षण तो अवश्य होने ही चाहिए क्योंकि उसमें भी किसी न किसी दोष का सम्बन्ध अवश्य ही रहेगा। किन्तु रसशेषाजीर्ण में उक्त लक्षण नहीं पाये जाते अपि तु इसमें लक्षणों का विवेचन करते हुए सुश्रुत तथा नागार्जुन ने जीर्णाहार के विशिष्ट लक्षण उद्गारशुद्धि को रसशेषाजीर्ण का लक्षण कहा है[१]। इस प्रकार अम्लोद्गार आदि न होने से रसशेषा-

१. उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा न जायते हृद्गुरता च यस्य।
रसावशेषेण तु सप्रसक्तं चतुर्थमेतत् प्रवदन्त्यजीर्णम् ॥ सुश्रुतः।
उद्गारेऽपि विशुद्धतामुपगते काङ्क्षा न भक्तादिषु
स्निग्धत्वं वदनस्य सन्धिषु रुजा कृत्वा शिरोगौरवम्।
मन्दाजीर्णरसे तु लक्षणमिदं तत्रातिवृद्धे पुन-
र्हृल्लासज्वरमूर्च्छनादि च भवेत् सर्वामयक्षोभणम् ॥ आरोग्यमञ्जर्यां नागार्जुनः।

जीर्ण की सत्ता ही नहीं रह सकती ? इसके लिये विजयरक्षित जी कहते हैं कि यद्यपि रसशेषाजीर्ण के भी विदग्ध आदि रूप अवश्य होते हैं तथापि अकाल बुभुक्षा के समान अपक्व आहारांश के अत्यल्प होने से अम्लोद्गार सदृश लक्षणों की अभिव्यक्ति नहीं होती है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भोजन का पूर्ण परिपाक न होने पर भी अजीर्णांश अत्यल्प रहने से अकाल में भूख लग जाती है जिसे कि झूठी भूख भी कहा जाता है उसी प्रकार रसशेषाजीर्ण के रहते हुए भी डकारें शुद्ध आया करती हैं। इस अकाल बुभुक्षा में भी भोजन न करना चाहिए इसका निर्देश सुश्रुत ने स्पष्ट कर दिया है—**स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं लीनं न तेजःपथमावृणोति। भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति॥** तन्त्रान्तर में भी '**आमं विदग्धं विष्टब्धं रसशेषमथापि च। चतुर्विधमजीर्णं स्यादाहारापरिपाकतः॥**' के द्वारा रसशेषाजीर्ण को आहार के अपरिपाक का ही परिणाम कहा है।

गदाधर जी '**रसे शेषो रसशेषः**' यह विग्रह करते हैं। आहारजनित रस के अन्दर आहार के अपरिपक्व अंश का रह जाना ही रसशेषाजीर्ण है। ये आहार के कुछ अंश के पाक न होने से दुग्ध में जल के समान आहारांश से मिश्रित रस को ही रसशेष मानते हैं। चूंकि यह पूर्ण परिपक्व नहीं होता अतः अजीर्ण भी कहा जाता है। अब यह सन्देह होना स्वाभाविक है कि आमाजीर्ण आदि से इसका क्या भेद है क्योंकि उनमें भी आहारांश ही अपरिपक्व रहता है? इस पर कहते हैं कि आमज आदि तीनों अजीर्ण अन्नज होते हैं किन्तु रसशेषज अजीर्ण दुष्ट आहाररस से उत्पन्न होता है। वातिक आदि लक्षणों की अल्पता के कारण वातिक आदि व्यवहार नहीं किया गया। हेतु, लक्षण तथा चिकित्साविशेष के कारण अन्यों से इसका पृथक् पाठ किया है। वस्तुतः—जिस प्रकार हम रोटी, चावल, दाल आदि के सम्बन्ध में नित्य प्रति देखते हैं अथवा तैल, घृत आदि पाक के सम्बन्ध में शास्त्रों में खरपाक, सम्यक् पाक एवं मृदुपाक का उल्लेख करते हैं और प्रत्यक्ष-प्रत्येक पाक में गुण में भी अन्तर पाते हैं उसी प्रकार असम्यक् पाचित अन्न से जो रस बनता है उसमें भी कुछ दोष रहता है जिसे आम, आमविष या अन्नविष आदि संज्ञा दी गई है। यह रसशेषाजीर्ण है। यह दोष अल्प मात्रा में होने पर भोजनेच्छाभाव, हृद्गौरव आदि स्वल्पकालीन-मृदु एवं सुसाध्य और अधिक होने पर सन्धिशूल, शोथ आदि विषम अथवा दोषानुबन्धानुसार आमवात आदि चिरकालीन एवं कृच्छ्रसाध्य विकारों को उत्पन्न करता है। यही बात आगे चलकर विजयरक्षित जी ने भी चरकोक्त अन्नविष और रसशेष में अभेद बताते हुए स्वीकार किया है। इस कारण '**रसे शेषः रसशेषः**' यह गदाधरोक्त विग्रह ही ठीक प्रतीत होता है। आधुनिक विज्ञान् के अनुसार इसे (Distured Lissue metabolism) कह सकते हैं।

यद्यपि '**अजीर्णात् पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्**' इस सुश्रुत वचन के आधार पर सभी अजीर्ण त्रिदोषज ही होते हैं तथापि दोष का उल्बणता के कारण एकदोषज व्यवहार भी होता है।

५. दिनपाकी अजीर्ण—स्वस्थावस्था में भोजन का पूर्ण परिपाक २४ या २६ घण्टे हो जाता है। उक्त काल के अन्तर पर पचने के पश्चात् अवशिष्टांश किट्ट मलाशय में पहुँच जाता है किन्तु जिस अवस्था में अतिमात्र भोजन, अकाल भोजन तथा असात्म्य भोजन से उसका परिपाक उक्त निश्चित समय में न होकर अगले दिन होता है उसे दिनपाकी अजीर्ण कहते हैं। अधिक समय में पचने पर भी आध्मान आदि उपद्रवों को नहीं करता अतः उपर्युक्त चारों से भिन्न है। पाचन काल तक प्रतीक्षा करना तथा भोजन न करना चाहिए यह बताना ही इसके कथन का प्रयोजन है।

६. प्राकृत अजीर्ण—यह प्रतिदिन और प्रति व्यक्ति को रहता है किन्तु इससे कोई विकार नहीं होता। तात्पर्य यह है कि भोजन करने के पश्चात् परिपाक की निश्चित अवधि से पूर्व अन्न अपरिपक्व ही रहता है और अपक्व आहार को ही अजीर्ण कहते हैं। विकारकारी न होने से यह प्राकृत

कहलाता है। एवं अन्यों से भिन्न है। 'भोजनोपरान्त वामपर्श्व से सोना चाहिये' इत्यादि आचार का पालन करने के उपदेश के लिए ही इसका पाठ किया है[1]।

चरक ने अन्नविष नामक अजीर्ण का पाठ किया है किन्तु वह पित्तादि से युक्त रसशेषाजीर्ण का ही एक प्रवृद्ध रूप है अतः उसका पृथक् पाठ नहीं किया गया है—

अजीर्णस्य कारणान्याह—

अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं पाकं भजते नरस्य॥७॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति॥ ८॥
(सु. सू. अ. ४६)

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः॥ ९॥ (च. वि २)

अधिक जल पीने से, विषमाशन से, वेगविधारण तथा स्वप्नविपर्यय (दिन में सोने तथा रात्रि में जागने) से समय पर किया सात्म्य एवं लघु अन्न भी नहीं पचता। ईर्ष्या, भय तथा क्रोध से युक्त, लोभी (अन्न का), रोग तथा दीनता या मनोग्लानि से युक्त, एवं अन्न से द्वेष करनेवाले व्यक्ति द्वारा सेवन किये हुए अन्न का सम्यक् परिपाक नहीं होता॥ ७-८॥

चिन्ता, शोक, भय क्रोध तथा असुखकर शय्या के कारण रात्रि जागरण करने से मात्रापूर्वक खाया हुआ पथ्य भोजन भी नहीं पचता॥ ९॥

अजीर्णकारणमाह—अत्यम्बुपानादित्यादि। सन्धारणादिति वेगानाम्। स्वप्नविपर्ययात् दिवास्वप्नादेः। लघु चापीत्यपिशब्देन स्निग्धोष्णादिगुणयुक्तमपि बोध्यम्। केचित् 'ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन' इत्यादिश्लोकं पठन्ति; सच मानसदोषाजीर्णविषयो बोद्धव्य इति॥

विमर्शः—अग्नि में पहिले से ही कोई विकृत न होने पर भी अत्यम्बुपान आदि कारणों से अजीर्ण उत्पन्न होता है। चरक ने भोजन एवं जल का परिमाण निश्चित करते हुए बताया है कि कोष्ठ के तीन विभाग करके एक भाग को मूर्त या धन आहार से भरे, एक को जल से तथा एक को वात, पित्त एवं कफ के विचरण के लिए रिक्त छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार भोजन का क्रम रखने से अतिभोजनस्य विकार नहीं होते[2]। इससे यह स्पष्ट है कि जल ग्रहण करने की भी एक निश्चित मर्यादा है। इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हुए चरक ने कहा है—**'यो हि मूर्तानामाहारविकाराणां सौहित्यं गत्वा पश्चाद् द्रवैस्तृप्तिमापद्यते भूयस्तस्यामाशयगता वातपित्तश्लेष्माणोऽभ्यवहारेणातिमात्रेणातिप्रपीड्यमानाः सर्वे युगपत् प्रकोपमापद्यन्ते। ते प्रकुपितास्तमेवाहारराशिमाविश्य कुक्ष्येकदेशमाश्रिता विष्टम्भयन्तः सहसावाप्युत्तराधराभ्यां मार्गाभ्यां प्रच्यावयन्तः पृथक् पृथगिमान् विकारानभिनिर्वर्तयन्त्यतिमात्रभोक्तुः'(च.वि.अ.२)।** इस प्रकार पूर्ण भोजन करने के बाद अधिक जल पीने से त्रिदोषप्रकोप अजीर्ण तथा अन्य विकार उत्पन्न होते हैं। भोजन कम करने पर भी अधिक जल-पीने से पाचक रसों की क्रियाकारिता मन्द हो जाती है अतः परिणामस्वरूप अजीर्ण की उत्पत्ति होती है। कभी अधिक कभी कम समय से पूर्व या समय बीत जाने पर किया हुआ भोजन विषमाशन कहलाता है। [3]पाचक रसों का स्राव निश्चित समय

१. भुक्त्वा पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत्। शब्दरूपरसस्पर्शगन्धांश्च मानसः प्रियान्। भुक्तवानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति॥

२. देखिए चरक विमान अ० २। ३. 'विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः।

पर एवं प्रायः निश्चित मात्रा में होता है। अधिक या असमय में किये हुए भोजन को पाचक रस पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते, अतः वे अजीर्णावस्था में ही पड़े रहते हैं। यदि मलत्याग की इच्छा होने पर उसे प्रयत्नपूर्वक रोक लिया जाय तो वातप्रकोप के कारण मल विपरीत गति (Regurgitation) के द्वारा मलाशय से पुनः बृहदन्त्र में चला जाता है। वहाँ इसके अवशिष्ट जलीयांश और इसके साथ कुछ मलांश का भी शोषण हो जाता है एवं मल शुष्क और कठिन हो जाता है। इस प्रकार के मल का बाहर निकलना कठिन हो जाता है। अतएव मलत्याग की इच्छा का इसी प्रकार पुनः पुनः विघात करते रहने से विबन्ध स्वाभाविक रूप से रहने लगता है। यह दोष स्त्रियों में अधिक पाया जाता है; क्योंकि लज्जावश उन्हें वेग-विधारण करने का स्वभाव-सा बन जाता है। इसका प्रभाव क्रमशः महास्रोत के ऊपरी भाग में भी होने लगता है। इससे विविध पाचन-विकार तथा दूषित एवं त्याज्य पदार्थ का भी कुछ अंश रस में मिल जाने से अनेक सार्वदेहिक विकार विशेषतः आमवातादि वातविकार प्रारम्भ हो जाते हैं।

स्वप्नविपर्ययाच्च—दिन के समय शरीर के बाह्य अङ्ग एवं अन्य इन्द्रियाँ कार्यरत रहती हैं। रात्रि में शयन और विश्राम के समय इनका कार्य मन्द हो जाता है एवं शरीर के आभ्यन्तर अङ्गों (आन्त्र, यकृत् आदि) का कार्य विशेष रूप से होता है। यकृत् की क्रिया सबसे अधिक सोते समय ही होती है। रात्रि को न सोने के कारण पाचक अङ्गों की क्रिया कम होने से वात की तथा अजीर्ण की उत्पत्ति होती है। दिन में सोने से कफ की वृद्धि के कारण अग्नि मन्द होने से आमाजीर्ण की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार स्वप्नविपर्यय अजीर्ण का हेतु है।

ईर्ष्याभयक्रोधेति—ईर्ष्या आदि भाव मानसिक विकृति के सूचक हैं। इनके प्रभाव से मस्तिष्क एवं नाडीमण्डल की विक्रिया के प्रभाव से पाचक रसों में वैगुण्य उत्पन्न होता है। यह वैगुण्य ही अजीर्ण का मूल है। इन अवस्थाओं में पाचक रसों का निःस्राव न होने से मनुष्य को भूख का अनुभव ही नहीं होता। हठात् खाने से वह अजीर्ण रूप में परिणत होता है।

इन कारणों के अतिरिक्त असात्म्य भोजन, अर्धपक्व तथा भलीभाँति न चबाया हुआ और पर्युषित (वासी) भोजन भी अजीर्ण का कारण होता है।

आमाजीर्णादीनां लक्षणान्याह—

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥ १० ॥
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥ ११ ॥
विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥ १२ ॥
रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे।

आमाजीर्ण के कारण शरीर-गौरव, उत्क्लेश (वमन की इच्छा), कपोल और अक्षिकूटों में शोथ तथा भोजन के अनुसार अविदग्ध (अम्लता रहित) डकारें आती हैं। विदग्धाजीर्ण में भ्रम, प्यास, मूर्च्छा तथा ओष-चोष आदि पैत्तिक लक्षण प्रकट होते हैं। इसके अतिरिक्त खट्टी डकारों के साथ मुख से धुंआ सा निकलता है। स्वेद और दाह विशेष होते हैं विष्टब्धाजीर्ण में शूल, आध्मान, तोद भेद आदि विविध वातिक वेदनायें, मल और अधोवायु की अप्रवृत्ति, स्तब्धता,

मूर्च्छा तथा अंगों में पीडा आदि लक्षण होते हैं । रसशेषाजीर्ण के कारण हृदय में गौरव एवं अशुद्धि तथा भोजन में अरुचि होती है ॥ १०-१२ ॥

उद्दिष्टानामाजीर्णादीनां लक्षणमाह—तत्रेत्यादि । तत्रेति तेषु मध्ये । गण्डः कपोलः, अक्षिकूटश्चक्षुर्गोलकः, तद्गतः शोथो भवति प्रभावात् । उद्गारश्च यथाभुक्तमिति मधुरादिरूपः । अविदग्धोऽनम्लाः, द्वितीयपाके ह्याहारस्याम्लता दर्शिता । विदग्ध इत्यादि । पित्ताच्च विविधा रुज इति ओषचोषादयः । सधूमाम्ल इति धूमोद्गारोऽम्लोद्गारश्च । विष्टब्ध इत्यादि । विविधा वातवेदना तोदभेदादिरूपा । अङ्गपीडनं सामवातवेदनादि ॥ १०-१२ ॥

विमर्शः—आमाशय में क्लेदक कफ की अधिकता के कारण आरम्भ में अन्न पर अम्लरस का प्रभाव नहीं होने पाता । मधुरता कफ का प्रधान गुण है अतः वह अन्न को मधुर ही बना देता है । मधुरता प्राप्त हुए अन्न को सुश्रुत ने **'माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञम्'** के द्वारा आम कहा है । इस माधुर्य के कारण ही डकारें अम्ल नहीं आतीं । बाद में अम्लरस के स्राव और संसर्ग से अन्न के विदग्ध होने पर डकारें खट्टी नहीं आती हैं । विदग्धाजीर्ण तथा अम्लपित्त के लक्षणों में बहुत साम्य है । किन्तु विग्धाजीर्ण शुद्ध पित्तज विकार है जब कि अम्लपित्त में पित्तप्रधान तथा वात और कफ अनुगामी रहते हैं । इसकी पुष्टि करते हुए विजयरक्षित जी ने कहा है—**'अम्लपित्ते पित्तं प्रधानं वातकफावत्रानुगौ गौरवोद्गारकम्पादिनाज्ञेयौ'** । इसके अतिरिक्त अम्लपित्त में वमन तथा कदाचित् विरेचन की भी प्रवृत्ति पाई जाती है जिनके लक्षणों का पृथक्-पृथक् वर्णन भी उपलब्ध होता है शूल वायु का प्रधान कार्य है । विष्टब्धाजीर्ण में वायु की विगुणता के कारण आन्त्रगति में शैथिल्य या अवरोध एवं उसके कारण आहार के अधिक समय तक रुकने से सड़ान और गैसों की उत्पत्ति तथा आध्मान और आटोप सदृश लक्षणों की उत्पत्ति देखी जाती है ।

महर्षि चरक ने अजीर्ण के लक्षण, उसमे उत्पन्न आमविष और दोषों एवं धातुओं के साथ उसका सम्बन्ध होने पर होने वाले विविध विकारों का विशद विवेचन किया है वह विशेष मननीय है ।

अजीर्णस्योपद्रवान् वर्णयति—

मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥ १३ ॥ (सु. सू. ४६)

मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, मुँह से पानी छूटना, अंगसाद, भ्रम ये अजीर्ण के उपद्रव हैं । इनके अतिरिक्त अजीर्ण से मृत्यु तक भी हो सकती है ॥ १३ ॥

उपद्रवानाह—मूर्च्छेत्यादि । अतिप्रवृद्धाजीर्णे तु मरणमपि ॥ १३ ॥

विमर्शः—कविराज गणनाथसेनजी ने सिद्धान्तनिदान में अजीर्ण के निम्न सात उपद्रव बताये हैं **भ्रमो मोहो ज्वरश्छर्दिः शूलश्चालसकस्तथा । अतीसारश्च सप्तैते अजीर्णोपद्रवाः स्मृताः ॥**

अजीर्णोत्पत्तौ विशिष्टं कारणमाह—

अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः ।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ १४ ॥

---

१. तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा । शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रहः ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिः प्रवाहणम् । अरोचकोऽविपाकश्च घोरमन्नविषं च तत् ॥
संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान् । जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान् ॥
यक्ष्मपीनसमेहादीन् कफजान् कफसङ्गतम् । करोति वातसंसृष्टं वातजांश्चापरान् गदान् ॥
मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम् । रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद्रोगान् रसादिजान् ॥
(च. चि. अ.)

जो असंयमी व्यक्ति पशुओं के समान बिना प्रमाण के अधिक खाते है वे ही रोगसमूह के मूल अजीर्ण को प्राप्त करते है ॥ १४ ॥

उक्ताजीर्णकारणेभ्योऽतिमात्रभोजनस्य [1]विशेषकारणत्वमाह—अनात्मवन्त इत्यादि। अनात्मवन्तो दुष्टमनोयुक्ताः, लोलुपत्वेन तदात्वसुखाकाङ्क्षिण इति। अत एवोक्तं पशुवदिति। रोगानीकस्य रोगसमूहस्य विसूच्यादेः, मूलं कारणम् ॥ १४ ॥

अमानजीर्णस्य विसूच्यादीनां कारणत्वं विविनक्ति—

अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम् ।

विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥ १५ ॥ (सु. उ. ५६)

उक्त आम, विष्टब्ध तथा विदग्धाजीर्ण से, विसूची, अलसक तथा विलम्बिका की उत्पत्ति होती है।

अजीर्णसम्भवत्वाद्विसूच्यादीनामजीर्णानन्तरं विसूच्यादीनाह—अजीर्णमित्यादि। 'आमविष्टब्धविदग्धेषु त्रिषु विसूच्यलसकविलम्बिका यथासंख्यं भवन्ति' इति कार्त्तिककुण्डः। 'तन्न' इति बकुलकरः। यथासंख्ये हि विलम्बिका विदग्धात् प्राप्नोति, तां च कफवाताभ्यां पठिष्यन्ति, तस्मात्त्रिविधाजीर्णाद्यथासम्भवं विसूच्यादीनामुत्पाद इति युक्तम्। [2]उक्तं हि 'अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्' इति ॥ १५ ॥

विमर्शः—कार्तिककुण्ड का कहना है कि आमादि अजीर्ण, विसूची आदि की उत्पत्ति यथासंख्य करते हैं अर्थात् आमसे विसूची, विष्टब्ध से अलसक और विदग्ध से विलम्बिका उत्पन्न होती है किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार विलम्बका की उत्पत्ति पित्तज विदग्धाजीर्ण से मानी जायगी जो कि अनुचित है; क्योंकि विलम्बिका कफ और वायुजनित कही गई है। अतः विसूची आदि की उत्पत्ति यथायोग्य समझनी चाहिए। अर्थात् आम, विदग्ध और विष्टब्धाजीर्ण से विसूचिका, अलसक और विलम्बिका इनमें से कोई भी हो सकता है।

विसूच्या निरुक्तिमाह—

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः ।

यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥ १६ ॥

न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः ।

मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः ॥ १७ ॥ (सु. उ. ५६)

जिस रोग में अजीर्ण से प्रकुपित वायु अङ्गों में सुई जैसी चुभान उत्पन्न करता हुआ स्थिर होता है उसको प्राचीन वैद्य विसूची कहते हैं आयुर्वेद के (अनुसार भोजन के नियमों के) ज्ञाता एवं परिमित आहार करने वाले पुरुष इस रोग से पीड़ित नहीं होते, किन्तु भोजन के लोभी और असंयमी मूर्ख व्यक्ति ही इससे पीड़ित होते हैं ॥ १६-१७ ॥

विसूच्या निरुक्तिमाह—सूचीभिरित्यादि। (बाहुल्याद्वायुः 'सूचीभिरिव तुदन्' इति विसूचीनिरुक्तिः। पाण्डुरोगवत्सूचीभिरिव तोदनं विहायान्येऽपि वेदनाभेदा विविधा भवन्त्येव। यदुक्तं तन्त्रान्तरे 'विविधैर्वेदनाभेदैर्वाय्वादेर्भृशकोपतः। सूचीभिरिव गात्राणि भिनत्तीति विसूचिका' इति[3]।) विदितागमा विदितायुर्वेदाः। मूढाः तज्ज्ञानानभिज्ञाः। अजितात्मानः अजितेन्द्रियाः। अशनलोलुपाः पशुवदप्रमाणभोजिनः ॥ १६-१७ ॥

१. 'अपि कारणत्वमाह' इति क ख। २. 'आर्षं हि' इति क ख।

३. अयं पाठः क ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते।

विसूच्या लक्षणानि निरूपयति—

मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ॥ १८ ॥
(सु. उ. अ. ५६)

इस रोग मे मूर्च्छा, अतिसार, वमन, प्यास, शूल, भ्रम, ऐंठन, जम्हाई, दाह, विवर्णता, कम्पन, हृदयदेश में पीड़ा तथा शिरःशूल ये लक्षण होते हैं ॥ १८ ॥

विसूच्या लक्षणमाह—मूर्च्छेत्यादि। वमथुः वान्तिः। शिरसश्च भेदः शिरःशूलम्। अत्र वमनातीसारौ मिलितौ लक्षणमिति सौश्रुताः; सुश्रुते-त्वधोगाया आमातीसारेण ग्रहणम्, ऊर्ध्वगायाश्च छर्द्या। चरके तु पठ्यते, 'ऊर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विसूचीं विद्यात्' (च. वि. अ. २) इति। अत ऊर्ध्वगा विसूची भवति, तथाऽधोगाऽपि, चरके आमातीसारस्यापठितत्वात्; चकारादुभयमार्गगाऽपीति व्याचक्षते, ऊर्ध्वगायाश्चापक्काहारवमनेन [1]त्रिदोषच्छर्दिभ्यो भेद इति मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

विमर्शः—विसूचिका रोग में वमन और अतिसार दोनों ही लक्षण एक साथ होना आवश्यक है क्योंकि सुश्रुत ने अधोगा (विरेचनमात्र युक्त) को आमातिसार और ऊर्ध्वगा को छर्दि रोग माना है। किन्तु चरक ने कहा है कि 'ऊर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विसूचीं विद्यात्।' अर्थात् ऊर्ध्वमार्ग या अधोमार्ग से और चकारात् उभयमार्ग से भी आमप्रवृत्ति होने पर विसूची समझना चाहिये। स्मरण रहे कि चरक ने आमातिसार को अलग नहीं माना है।

आजकल कालातिसार (Cholera) के लिये भी विसूचिका शब्द का बाहुल्येन प्रयोग होता है। वस्तुतः इन दोनों के लक्षणों में भी बहुत समता है। प्राचीनों ने इस रोग को अजीर्ण की ही प्रवर्धमानावस्था माना है इस वर्णन से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में इस रोग का इतना भयङ्कर आगन्तुक एवं जानपदिक रूप प्रकट नहीं हुआ था अतएव प्राचीनों ने उसका वर्णन भी नहीं किया। इतिहासज्ञों का कथन है कि इस रोग को जनपदोद्ध्वंसी रूप धारण किये हुए लगभग तीन सौ वर्ष से कुछ अधिक ही हुए है। यह अत्यन्त संक्रामक हैं एवं 'कोमा विब्रियो' नामक जीवाणु से दूषित जल या खाद्यान्न के सेवन से उत्पन्न होता है। यद्यपि यह रोग शुद्ध जीवाणुजन्य एवं संक्रामक है तथापि अजीर्णावस्था इसकी उत्पत्ति में बहुत सहायक होती है अतः अजीर्ण को भी इसका निज कारण कहना अनुचित न होगा। यह रोग मेलों में तथा वहाँ से लौटे हुए यात्रियों के द्वारा ग्रामों और नगरों में भी फैलता है। प्राचीन वर्णन के अनुसार प्रतिपादित विसूची प्राणों के लिये उतना भयङ्कर नहीं होती। इसीलिये श्री गणनाथसेनजी सरस्वती ने कहा है—

'सूचीभिरिव गात्राणि तोदनी या विसूचिका।
प्राचां सा स्यादजीर्णोत्था प्रायः प्राणहरी न सा ॥'[1] (सिद्धान्तनिदान)

विसूचिका में निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

१. **अतिसार**—इसमें जल की बहुलता रहती है। पहिले मल रहता है किन्तु बाद में मल नहीं रहता एवं इसका वर्ण चावल के धोवन के समान होता है।

---

१. लक्षणों मे अत्यर्थ साम्य होते हुए तथा प्राचीन शास्त्रों में वर्णित विसूचिका हर औषधियों एवं कर्मों द्वारा उपचार कर आधुनिक कालरा नामक रोग मे प्रत्यक्ष सफलता होते हुए भी यह कहना कि प्राचीन विसूचिका आधुनिक कालरा से भिन्न है अथवा प्राचीनों को इस रोग का ज्ञान नहीं था यह दुराग्रह मात्र प्रतीत होता है। इतना अन्तर वर्णन में अवश्य मिलता है कि मूत्राघातादि कतिपय लक्षणों को अर्वाचीनों ने रोग का लक्षण तथा प्राचीनों ने उपद्रव माना है। वस्तुतः प्राचीन विसूचिका में आधुनिक 'कालरा' के अतिरिक्त अन्य अनेक विकार भी अन्तर्भूत हो जाते हैं।

---

१. अयं पाठः क ख पुस्तकयोर्नोपलभ्यते।

२. वमन—अतिसार के कुछ समय पश्चात् इसकी भी प्रवृत्ति हो जाती है। इसका वर्ण भी अतिसारवत् ही होता है। इन दोनों क्रियाओं से शरीर का अधिकांश जल बाहर निकल जाता है एवं तृष्णा, शोष आदि अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं—

३. नाड़ी तीव्र एवं दुर्बल और दुर्बलतम होती जाती है।

४. रक्तभार कम हो जाता है।

५ अङ्गों में तोदयुक्त उद्वेष्टन (Painful cramps) होते हैं।

६. शरीर शिथिल पड जाता है।

७. मुख की अस्थियाँ उन्नत दिखाई देती हैं, गाल बैठ जाते हैं।

८. आँखें भी अन्दर धँस जाती हैं।

९. शरीर पर पसीना आता है एवं वह ठण्ठा पड़ जाता है।

१०. चेहरा नीला पड़ जाता है।

११. स्वर भी अत्यन्त मन्द हो जाता है।

१२. मूत्रावरोध इस रोग का मुख्य लक्षण है।

१३. प्यास अधिक लगती है।

इन लक्षणों में से कुछ लक्षण विसूचिका एवं अलसक की असाध्य अवस्था में मिलते हैं जिनका वर्णन आगे किया जायगा। विसूचिका के यह सभी लक्षण रक्त में जल और लवण की कमी से होते हैं अतः आजकल उसकी पूर्ति के लिये इस रोग में सिरा द्वारा लवण जल का प्रवेश कराया जाता है।[1]

अलसकमाह—

कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत् परिकूजति।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति॥ १९॥
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु॥ २०॥ (सु. उ. अ. ५६)

जिस रोग में कुक्षि अधिक फूल जाती है, रोगी मूर्च्छित होता है तथा आर्तनाद करता है, रुका हुआ वायु उदर के उपरिदेश (हृदय, कण्ठ आदि) में घूमता है, अधोवायु और मल का पूर्णतया अवरोध हो जाता है तथा जिस रोग में प्यास और डकारें बहुत आती हैं उसे अलसक कहते हैं॥

अलसकमाह—कुक्षिरित्यादि। आनह्यते आध्मायते, मलविष्टम्भस्य वक्ष्यमाणत्वात्। प्रताम्येत् मुह्यति पुरुषः, परिकूजति आर्तनादं करोति। निरुद्ध इत्यजीर्णेनाधः प्रतिरुद्धगतिः कुक्षौ वा, तेनोपरि धावति ऊर्ध्वं [1]हृदयकण्ठादिकं गच्छति। 'अलसक' इति दोषस्थिरत्वनिमित्ता संज्ञा। यदुक्तं तन्त्रान्तरे,—'प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः' इति॥ १९-२०॥

---

१. प्राचीन आचार्यों ने इन लक्षणों या उपद्रवों के प्रतिरोध तथा उत्पन्न हो जाने पर उसके शमनार्थ नीम्बू के रस, इमली के मन्थ आदि का प्रयोग करने का उपदेश किया है और इस अवस्था (जिसे आजकल Dehydration or hypohydration कहते हैं) का नामकरण भी विसूचिका शोष' किया है।

निम्बूरसश्चिञ्चिणिकासमेतो विसूचिकाशोषहरः प्रदिष्टः।
दुग्धेन पीतो यदि टङ्कणोऽसौ प्रशामयेत्तां वमनं निरुन्ध्यात्॥ (योगरत्नाकर)

---

१. 'कण्ठादीन्' इति ख।

विमर्शः—इस रोग मे वात की प्रधानता रहती है एवं स्थानप्रभाव से कफ का अनुबन्ध रहता है। तन्त्रान्तर में इसकी परिभाषा करते हुए कहा गया है—

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते। आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः॥

अर्थात् आमाशय में अपक्व भोजन का पूर्णतया रुक जाना एवं किसी भी मार्ग से न निकलना ही अलसक है। कविराज गणनाथसेनजी इसको अजीर्ण का उपद्रव ही मानते हैं। यह रोग प्रायः पशुओं में पाया जाता है। किन्तु पशुओं के समान अविवेक से अधिक खाने वाले पुरुषों में भी कभी-कभी यह रोग हो सकता है। **विलम्बिकामाह**—

दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥२१॥
(सु. उ. तं. अ. ५६)

जिस रोग में कफ और वायु से दुष्ट अन्न ऊपर या नीचे के किसी भी मार्ग से नहीं निकलता प्राचीन शास्त्रवेत्ताओं ने इस अत्यन्त कष्ट साध्य या असाध्य व्याधि को विलम्बिका कहा है॥ २१॥

विलम्बिकामाह—दुष्टमित्यादि। भुक्तमन्नं कफमारुताभ्यां दुष्टमिति संबन्धः। भृशं दुश्चिकित्स्यां, प्रत्याख्येयां वर्जनीयामित्यर्थः। ननु अलसकविलम्बिकयोरुभयोरपि वातकफप्रबलयोरूर्ध्वाधोऽप्रवर्तनशीलयोस्तुल्यात् को भेदः? उच्यते, अलसके तीव्राः शूलादयो भवन्ति, यदुक्तं,—'पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा। अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्॥ शूलादीन्कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्'—इति॥ २१॥

विमर्श—यद्यपि वातकफारब्ध होने से तथा ऊपर और नीचे के किसी भी मार्ग से आमप्रवृत्ति न होने से अलसक एवं विलम्बिका में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता तथापि अलसक को तीव्र शूल, तृष्णा और डकार से युक्त होने से विलम्बिका से पृथक् समझना चाहिये। कहा भी है—

पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा। अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम्।
शूलादीन् कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्॥

अर्थात् वायु और कफ की दुष्टि के कारण अलसक रोग की उत्पत्ति होती है जिसमें आहार शल्य के समान रुका रहता, वमन या अतिसार नहीं होते किन्तु अत्यधिक शूल आदि होते हैं।

सुश्रुत ने तृष्णा और उद्गार का अलसक में होना स्पष्टरूप में लिखा है। चरक ने भी शूल की अल्पता और अधिकतामात्र भेद के कारण ही विलम्बिका को पृथक् नहीं माना है अपितु अलसक के ही उग्र और असाध्य लक्षणों को दण्डालसक कहा है। दण्डालसक को ही विलम्बिका का नामान्तर मान सकते हैं।

अलसक और विलम्बिका जैसी अवस्था विसूचिका के एक विशिष्ट भेद में आजकल भी मिलती है। इसे कालरा सिक्का (Cholera Sicca) कहते हैं। कभी-कभी विष की अत्यन्त तीव्रता एवं रस द्वारा शरीर में व्याप्त होने के कारण वमन एवं विरेचन बिना हुए ही हृदयातिपात होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। यही कालरा सिक्का है। वस्तुतः इस अवस्था को विलम्बिका ही कहना चाहिये क्योंकि उसको ही शास्त्रकारों ने असाध्यतम कहा है। अलसक इसकी अपेक्षा साध्य होता क्योंकि इसमें दोष कोष्ठाश्रित ही रहते हैं। किन्तु दण्डालसक में दोष तिर्यग्गति से अर्थात् रस के साथ मिलकर समस्त शरीर में व्याप्त होकर सार्वदैहिक एवं विषसदृश लक्षणों को उत्पन्न करते हैं।

अतिमात्रप्रदुष्टाश्च दोषाः प्रदुष्टामबद्धमार्गास्तिर्यग्गच्छन्त कदाचिदेव केवलमस्य शरीरं दण्डवत् स्तम्भयन्ति अतस्तमलसकमसाध्यं ब्रुवते।······विषसदृशलिङ्गत्वात्। (च. चि. अ. २)।

आमस्य कार्यमाह—

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च॥२२॥ **(सु. उ. तं. अ. ५६)**

१. 'स्तब्धत्वेनैव' इति क। 'स्तब्धत्वेन च' इति ख।

आमदोष शरीर के जिस भाग में अवस्थित रहता है उसी भाग को शरीर में व्याप्त विशिष्ट दोष (स्वकारण प्रकुपित वात आदि) तथा आम के लक्षणों से युक्त विविध विकारों से पीड़ित करता है ॥

अजीर्णजातान् विसूच्यादीनभिधायाजीर्णजन्यस्यामस्य कार्यान्तरमाह-यत्रस्थमित्यादि। आमं कर्तृ, यत्रस्थं तमेव देशं विशेषेण रुजेत्; एतेनान्यदेशेऽपि किंचिद्रुजं करोतीति बोधयति। यत्रेति सर्वनामशब्देन कुपितवातादीनामिवानियतमेव स्थानमामस्येति दर्शितम्। कै रुजेदित्याह—विकारजातैर्विकारसमूहैः। किंभूतैरित्याह—दोषेण येन स्वकारणकुपितेन वातादिनाऽवततं व्याप्तं शरीरं, तल्लक्षणैः तल्लिङ्गैस्तोददाहगौरवादिभिः, न केवलं तैरामसमुद्भवैश्च विकारजातैरपा[1]कालसकादिभिरपि। अनेनैव श्लोकेन तन्त्रान्तरोक्तमामवाताख्यं रोगं गृहीतवान् सुश्रुतः, तस्य लक्षणस्य समानत्वादित्याहुः॥ २२॥

विमर्शः—अपरिपक्व अन्नरस ही आम है[1]। वह रस-संवहन के साथ सारे शरीर में व्याप्त होता हुआ जिस स्थान पर भी ठहर जाता है वहां विकार उत्पन्न करता है। उस अवस्था में शरीर जिस दोष से युक्त होता है उस दोष के लक्षण भी इसके साथ होते हैं। वाताधिक्य होने पर तोद आदि, पित्ताधिक्य होने पर दाह एवं चोष आदि तथा कफाधिक्य होने पर गौरव आदि लक्षण होते हैं। अपरिपाक, आलस्य आदि आम से उत्पन्न होने वाले लक्षण हैं। वस्तुतः आम दो प्रकार का होता है—एक आम अन्न, दूसरा आमरस। प्रथम विसूचिका आदि महास्रोतगत विकारों और दूसरा आमवातादि सार्वदैहिक विकारों का कारण होता है। अथवा पहला जठराग्निविकृतिजन्य और दूसरा धात्वग्नि विकृतिजन्य होता है। अर्वाचीन विद्वान् भी इससे सहमत हैं। इसी प्रकार आशुकारी और चिरकारी भेद से भी आमरस के दो प्रकार होते हैं। प्रथम से दण्डालसक आदि सद्यः प्राणहर एवं द्वितीय से आमवातादि चिरकालीन विकार उत्पन्न होते हैं।

विसूच्यलसकयोरसाध्यत्वमाह—

यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥२३॥

(सु. उ. तं. ५६)

विसूची एवं अलसक के जिस रोगी के दाँत, ओष्ठ एवं नख नीले पड जाय, जिसे बेहोशी हो गयी हो, वमन निरन्तर हो रहे हों तथा जिसके नेत्र अक्षिकूट में धंस गये हों, स्वर क्षीण हो गया हो तथा जिसके सब सन्धिबन्धन शिथिल पड गये हों उसे मरणासन्न या असाध्य ही समझना चाहिये ॥ २३ ॥

विसूच्यलसकयोरसाध्यत्वलक्षणमाह-य इत्यादि। 'विलम्बिकायास्तु स्वरूपेणैवासाध्यत्वम्' इति जेज्जटः। अल्पसंज्ञो मोहयुक्तः। अभ्यन्तरयातनेत्रः कोटरान्तःप्रविष्टाक्षिगोलकः। सर्वविमुक्तसन्धिः श्लथीभूतसर्वपर्वास्थिसन्धिः। अपुनरागमाय मरणाय ॥ २३ ॥

विमर्शः—यह असाध्य लक्षण विसूचिका मात्र का ही प्रतीत होता है क्योंकि अलसक में वमन तो होता ही नहीं और इसमें वम्यर्दित कहा गया है। 'अभ्यन्तरयातनेत्रः' इस लक्षण के भी अलसक में होने की कम ही सम्भावना होती है क्योंकि यह वमन और अतिसार के द्वारा अतिमात्र जलीयांश के निकल जाने से ही होता है। विलम्बिका स्वयमेव असाध्य है अतः उसका परिसंख्यान इस स्थल पर नहीं किया। विसूचिका और कभी कभी अलसक में मृत्यु के समय उक्त लक्षणों की सत्ता पायी जाती है।

---

१. अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम्। सादनं सर्वगात्राणामाम इत्यभिधीयते ॥

१. 'आमवातादिभिः' इति क। 'रपाकजातैरामवातादिभिः' इति ख।

प्रसंगाज्जीर्णाहारस्य लक्षणमाह—

उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम्॥ २४॥

शुद्ध डकारों का आना, उत्साह, यथोचित मलमूत्र की प्रवृत्ति का होना, शरीर और कोष्ठ का हल्कापन, भूख और प्यास का लगना जीर्णाहार का लक्षण है॥ २४॥

अजीर्णप्रतियोगितया जीर्णाहारलक्षणमाह—उद्गारेत्यादि। उद्गारशुद्धिर्धूमाम्लादिरहितत्वम्। उत्साहः शरीरमनसोर्बलम्। उत्सर्गो मलमूत्रप्रवृत्तिः, वेगसहित उत्सर्गो वेगोत्सर्गः। यथोचित उपयुक्ताहारानुरूपः। लघुता देहस्य, विशेषेण कोष्ठस्येति॥ २४॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसकविलम्बिकानिदानं समाप्तम्॥ ६॥

विमर्शः—भोजन का परिपाक यथासमय होने से मल भी यथासमय मलाशय में पहुँच जाता है एवं मलप्रवृत्ति भी उचित रूप में और ठीक समय पर होती है। आमाशय रिक्त होने के कारण डकारें भी शुद्ध आती हैं एवं मनुष्य में उत्साह और भूख-प्यास की प्रवृत्ति पायी जाती है।

विसूच्या उपद्रवाः—

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता।
अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः॥ २५॥

निद्रानाश, अरति (किसी भी स्थिति में आराम न मिलना), कम्प, मूत्राघात तथा बेहोशी ये विसूचिका के पाँच भयंकर उपद्रव हैं॥ २५॥

विमर्शः—आधुनिकों ने मूत्राघात को विसूचिका (कालरा) का लक्षण ही बताया है।

अजीर्णस्य कारणान्युपसंहरति—

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम्।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति॥ २६॥

प्रायः आहार की विषमता से मनुष्यों को अजीर्ण होता है। अधिकांश रोगसमूह की उत्पत्ति का मूल भी अजीर्ण ही है, और उसके विनाश से रोगसमूह का भी विनाश हो सकता है॥ २६॥

सामान्याजीर्णलक्षणमाह—

ग्लानिगौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढताः।
विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम्॥ २७॥

ग्लानि, शरीरगौरव, विष्टम्भ, भ्रम तथा वायु की मूढता (अधोवायु का न निकलना) मल की अप्रवृत्ति या अतिप्रवृत्ति (अतिसार) का होना सामान्य अजीर्ण के लक्षण हैं॥ २७॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसकविलम्बिकानिदानं समाप्तम्॥ ६॥

अथ क्रिमिनिदानम्

क्रिमिसंख्या निरूप्यते—

क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः ॥ १ ॥
नामतो विंशतिविधाः—

बाह्य और आभ्यन्तर भेद से क्रिमि दो प्रकार के होते हैं तथा स्वेद आदि बाह्यमल, कफ, रक्त तथा विष्ठा मे जन्म लेने के कारण इनके चार भेद होते है। इन्हीं के नाम की दृष्टि से बीस भेद हैं ॥ १ ॥

अजीर्णात् क्रिमिसंभव इत्यतोऽजीर्णानन्तरं क्रिमिनिदानमाह—क्रिमय इत्यादि। तत्र बाह्याः त्वगुपलेपकबाह्यमलसम्भवाः, आभ्यन्तरा आमाशयादिसम्भवाः, ते देशभेदेन द्वैविध्येनोक्ताः कारणभेदाच्चतुर्धा भवन्तीत्याह—बहिर्मलेत्यादि। बहिर्मलो गात्रोपलेपी स्वेदादिरुक्तः, एवं बहिर्मलादिषु चतुर्षु जन्म बहिर्मलादिजन्म तद्भेदात्। त एव चतुर्विधा नामभेदेन विंशतिविधा भवन्ति, 'विंशत्यतिरिक्ताश्चातिसूक्ष्माः क्रिमयः सहजाश्चरकेणोक्ताः, ते चावैकारिकत्वेन रोगाधिकारे नोच्यन्ते, विंशतिविधास्तु क्रिमयो दोषप्रकोपणद्वारेण ज्वरशूलादीन् जनयन्तीति रोगा उच्यन्ते ॥ १ ॥

विमर्श—यहाँ क्रिमियों के नामभेद से जो बीस संख्या बतायी गई है वह वस्तुतः बहुसंख्या का उपलक्षणमात्र है। कारण कि प्राचीन आचार्यों के प्रत्येक ग्रन्थों में इनकी संख्या बीस ही वर्णित होते हुये भी उनके नाम में अन्तर आता है। इसके अतिरिक्त चरक ने तो स्पष्ट ही इन बीस से अतिरिक्त सहजक्रिमियों का भी उल्लेख किया है यद्यपि अवैकारिक होने के कारण रोगाधिकार में उनका वर्णन नहीं मिलता।

आधुनिक विद्वानों ने बिभिन्न रोगों के कारणभूत अनेक क्षुद्र जीवों और जीवाणुओं का वर्णन किया है तथा नये नये क्रिमि और जीवाणुओंका अन्वेषण करते जा रहे हैं। सामान्यतया इनको दो भागों में विभक्त किया गया है। १. मलोपजीवी (Saprophytes = अवैकारिक)। २. परोपजीवी (Parasites = वैकारिक)। यह क्रिमि और जीवाणु शरीर में दोषवैषम्य, मलाधिक्य आदि अनुकूल परिस्थितियों में ही क्रियाशील होते हैं और स्वस्थवृत्त के आचरण (शौच, यमनियमादि) के द्वारा जिनमें दोषसाम्य होता है उन पर प्रतिकूल परिस्थिति के कारण अकिञ्चित्कर होते हैं। अतएव प्राचीन आचार्यों ने इनको आजकल के समान विशेष महत्त्व या प्राधान्य नहीं दिया है। यह नहीं कि इनका ज्ञान ही नहीं था। इस विषय का विस्तृत विवेचन निदान की व्याख्या में भी विस्तार से किया जा चुका है।

बाह्यक्रिमीणां स्वरूपमाह—

—बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः। (वा. नि. १४)
तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः ॥ २ ॥
बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः।
[1]द्विधा ते कोठपिडकाकण्डूगण्डान् प्रकुर्वते ॥ ३ ॥ (वा. नि. १४)

मल से उत्पन्न होने वाले बाह्य कृमि तिल के समान प्रमाण, आकृति एवं वर्ण वाले होते है। ये

१. अयं पाठः ख पुस्तके नास्ति।

बालों और कपड़ों में रहते हैं। ये सूक्ष्म तथा अनेक पैरों वाले होते हैं। जूं या लीख इनके नाम हैं। ये दोनों चकत्ते, पिडिका, खुजली तथा गण्ड (ग्रन्थिशोथ) आदि उत्पन्न करते हैं ॥२-३॥

उक्तान् बाह्यान् विवृणोति-बाह्या इत्यादि। तिलानामिव प्रमाणं परिमाणं संस्थानमाकृतिर्वर्णश्च श्वेतः कृष्णो वा येषां यूकादिरूपाणां ते तथा। केशाम्बराश्रया इति अम्बरं वस्त्रम्। बहुपादा इति यूकाः, सूक्ष्मा इति लिक्षाः॥ २-३॥

विमर्श—स्वेद आदि के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाले क्रिमि बाह्य कहलाते हैं। दद्रु एवं पामा संक्रामक रोग हैं। दद्रु की उत्पत्ति एक विशिष्ट प्रकार की फङ्गस (सूक्ष्म क्रिमि) से होती है तथा पामा की उत्पत्ति एक परोपजीवी (Parasite) से होती है जिसका नाम सारकापटिस स्केबियाई (Sarcoptes Scabiei) है। इनको भी बाह्य मलज क्रिमि कह सकते हैं। वाग्भट ने केवल जूं और लीखों का ही वर्णन किया है। आकृति के वर्णन से प्रतीत होता है कि यूका से यहाँ जमजूं-जो कि बालबहुल स्थानों पर अपने सूक्ष्म पैरो को त्वचा में प्रविष्ट करके बैठी रहती हैं—का ही ग्रहण करना चाहिये। इस अवस्था मे इसकी आकृति पूर्णतया तिल से मिलती हुई होती है। काले या सफेद तिल के समान इनका वर्ण भी काला या सफेद ही होता है। इनके पैर भी बहुत होते हैं। अतः बहुपादा विशेषण दिया गया। कभी कभी तो चिपटी हुई जमजूं को लोग शरीरस्थ तिल भी समझ बैठते हैं। लिक्षा या लीख इन्हीं के अण्डे या अप्रगल्भ प्रकार होते हैं। इस प्रकार जूं या लीख के अतिरिक्त अन्य त्वग्विकारी क्रमियों का समावेश भी बाह्यमलजक्रमि के अन्तर्गत कर लेना चाहिये।

बाह्य क्रिमियों का निदान—शरीर एवं वस्त्रों की भली-भाँति सफाई न करना, स्नान न करना या गन्दे जल से स्नान करना, त्वग्विकारों से उपसृष्ट व्यक्तियों से सम्पर्क रखना इत्यादि बाह्य क्रिमियों की उत्पत्ति के हेतु हैं।

आभ्यन्तरक्रिमीणां निदानमाह—

अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता।
व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुक् संलभते क्रिमींस्तु ॥४॥

अजीर्ण अवस्था में ही भोजन करने वाले, मधुर और अम्ल पदार्थों का अत्यधिक सेवन करने वाले, द्रवबहुल पदार्थों के प्रेमी, पिष्टमय पदार्थ एवं गुड़ का अधिक सेवन करने वाले, व्यायाम न करने वाले, दिवास्वापशील तथा विरुद्ध भोजन करने वाले मनुष्यों को क्रिमिरोग हो जाता है ॥

तेषां निदानमाह-अजीर्णेत्यादि। अजीर्णे भोजनशीलोऽजीर्णभोजी। मधुराम्लनित्यः सततमधुराम्लभोजी। विरुद्धं क्षीरमत्स्यादि ॥ ४ ॥

विमर्श—आभ्यन्तर क्रिमियों की उत्पत्ति का यह सामान्य निदान है। विशिष्ट निदान का वर्णन आगे किया जायगा। उक्त सभी कारण क्रिमि के साक्षात् उत्पादक न होते हुए भी क्रिमि रोग को उत्पन्न करने में परम एवं अनिवार्य सहायक अवश्य हैं। इस प्रकार के स्वभाव वाले व्यक्तियों में ही क्रिमिरोग पाया जाता है। ये सभी कारण प्रायः कफवर्धक हैं। कफ की अधिकता में मन्दाग्नि भी अवश्य रहती है। अग्नि की मन्दता रहने पर ही क्रिमियों की भी वृद्धि के अनुकूल शरीर की स्थिति होती है। अजीर्ण के कारण खाद्यान्न आन्त्र के अन्दर विकृत दशा में रहता है। इस विकृत सड़े-गले खाद्य पर ही ये क्रिमि अपनी अधिकाधिक वृद्धि एवं पुष्टि करते हैं। मधुर पदार्थ क्रिमियों की वृद्धि के लिये उत्तम माध्यम है, इसके ज्ञान के कारण ही क्रिमि-चिकित्सा में गुड़ या आजकल ग्लूकोज का प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग से आन्त्रस्थ क्रिमि मधुरप्रिय होने से उस पर आकर लिपट जाते हैं। इस प्रकार अधिकाश क्रिमि एक स्थान पर ही एकत्रित हो जाते हैं और इस अवस्था में क्रमिघ्न एवं विरेचक औषधि का प्रयोग किया जाता है। चूंकि पूर्वोक्त सभी पदार्थ एवं

अवस्थायें क्रिमियों की वृद्धि के लिये परम अनुकूल हैं अतः इनको क्रिमिरोग का कारण कहा है। विरुद्ध भोजन से कृम्युपसृष्ट खाद्य या पेय का भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

क्रिमिविशेषाणां निदानविशेषमाह—

माषपिष्टाम्ललवणगुडशाकैः पुरीषजाः।
मांसमत्स्यगुडक्षीरदधिशुक्तैः कफोद्भवाः॥ ५॥
विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि। (सु. उ. ५४)

उड़द, पिष्टमय पदार्थ, अम्ल तथा लवणरसबहुल पदार्थ, गुड़ तथा शाक—इनसे पुरीषज क्रिमि उत्पन्न होते हैं। मांस, मछली, गुड, दूध, दही तथा सिरके से कफज क्रिमियों की उत्पत्ति होती है। विरुद्धाशन, अजीर्णाशन तथा शाकों का सेवन रक्तजन्य क्रिमियों का निदान है॥ ५॥

क्रिमिविशेषे निदानविशेषमाह—माषेत्यादि॥ ५॥

विमर्शः—उड़द तथा पिष्टमय पदार्थ दुर्जर होने से आन्त्र में अधिक देर ठहरने से क्रिमियों को उत्पन्न करते हैं। शाक से यहाँ कृम्युपसृष्ट गोभी आदि या अन्य पत्रशाकों का ग्रहण करना चाहिये। उन्हें भी स्वच्छ गरम पानी से प्रक्षालन करके या पकाकर खाने से कोई हानि नहीं होती। कुछ व्यक्तियों को इन्हें कच्चा ही खाने की आदत होती है। इस प्रकार सेवन करने पर कृम्युपसृष्ट शाक अवश्य ही कृमि की उत्पत्ति कर सकता है।

आभ्यन्तरक्रिमीणां सामान्यलक्षणमाह—

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः॥ ६॥
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम्। (सु. उ. ५४)

ज्वर, विवर्णता, शूल, हृद्रोग, अंगों की शिथिलता, भ्रम, भोजन से अरुचि तथा अतिसार का होना क्रिमिरोग का निदर्शक है॥ ६॥

आभ्यन्तरक्रिमिलक्षणमाह—ज्वर इत्यादि॥ ६॥

विमर्श—ज्वर, उदरशूल तथा अतिसार गण्डूपद क्रिमिज उपसर्ग के मुख्य लक्षण हैं। विवर्णता (Discoloaration) हृद्रोग और भ्रम अंकुशमुखक्रिमि में पाये जाने वाले प्रधान लक्षण हैं।

कफजान् क्रिमीन् वर्णयति—

कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः॥ ७॥
पृथुब्रध्ननिभाः केचित् केचिद्गण्डूपदोपमाः।
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः॥ ८॥
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते।
अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः॥ ९॥
चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते।
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम्॥ १०॥
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान्। (वा. नि. १४)

---

१. 'पिष्टान्न' इति ख। २. 'माष' इति क ख। ३. 'छर्दनम्' इति क ग। ४. 'महारुजः' इति क ख। ५. 'तृषा' इति क ख। ६. 'श्वयथु' इति क ख।

कफ की अधिकता से आमाशय में उत्पन्न होने वाले कफज क्रिमि वृद्धि को प्राप्त करके नीचे और ऊपर की ओर घूमते हैं। उनमें से कुछ चमडे की मोटी ताँत के समान तथा कुछ केंचुओं (Earthworms) की तरह लम्बे होते है। कुछ नवोत्पन्न धान्याकुर के समान आकार वाले छोटे एवं सूक्ष्म होते हैं। इनका वर्ण श्वेत या ताम्राभ होता है। अन्त्राद, उदरावेष्ट, हृदयाद, महागुद, चुरु, दर्भकुसुम तथा सुगन्ध नाम भेद से ये सात प्रकार के होते हैं। इनके कारण मिचली, लालास्राव, अजीर्ण, अरुचि, मूर्च्छा, छर्दि, ज्वर, आनाह, कृशता, छींक तथा पीनस रोग की उत्पत्ति होती है ॥ ७-१० ॥

कफजानाह—कफादित्यादि । कफनिमित्ताः क्रिमयो ये त्वामाशये जायन्ते ते च वृद्धाः सन्तः सर्वत ऊर्ध्वमधश्च सर्पन्ति; एवं पुरीषजादिषु द्रष्टव्यम् । ब्रध्नः चर्मलता, ब्रध्नीति लोके, रूढं प्ररूढम् । तनवः परिणाहेन, दीर्घा आयामेन, अणवः उभाभ्यामपि स्वल्पाः । ते इति कफजाः । सप्त नामानि विवृणोति—अन्त्रादा इत्यादि । एते च नामविशेषाः केचित्सान्वयाः केचिन्निरन्वया व्यवहारार्थं पूर्वाचार्यैः प्रणीताः; एवं वक्ष्यमाणेष्वपि बोध्यमिति ॥

विमर्श—इनमें कफज क्रिमियों का विचार आधुनिक ग्रन्थों में वर्णित आन्त्रिक क्रिमि (Intestinal Parasites) के साथ कर सकते हैं। इनके अनेक भेदों में प्राय. मिलने वाले निम्नलिखित चार का वर्णन सक्षेप में दिया जा रहा है।

इस श्रेणी में अंकुशमुख क्रिमि (Hook-worm), गण्डूपदक्रिमि (Round-worm), स्फीतक्रिमि (Tape-worm) तथा सूत्रक्रिमि (Thread-worm) आते हैं। इन सबका निवासस्थान महास्रोत है।

अंकुशमुख क्रिमि (Hook-worm) या **आन्त्राद क्रिमि** से उपसृष्ट व्यक्ति के मल में इनके अण्डों की उपस्थिति पायी जाती है। ये अण्डे गीली भूमि मे पडे रहकर दो-तीन दिन में इल्ली (Larvae) का रूप धारण कर लेते है, इसके पश्चात इनका और भी रूपान्तर होता है। इस अवस्था में ये तीन या चार मास तक जीवित रह सकते है। यदि कोई व्यक्ति ऐसे स्थान पर नगे पैर जाता है तो इल्लिया उसकी त्वचा के द्वारा अन्दर प्रविष्ट होकर लसिका वाहिनियों या सिराओं के द्वारा हृदय के दक्षिण निलय में पहुंच जाती है। वहा से रक्त द्वारा फुफ्फुस तथा फुफ्फुस से कण्ठनाडी (Trachea), अन्नप्रणाली तथा अन्ततोगत्वा अपने निर्दिष्ट स्थान-पच्यमानाशय (Duodenum and Jejunum) में आकर ठहर जाती है। दो सप्ताह में इनकी आकार-वृद्धि होती है एव लगभग चार सप्ताह मे ये पूर्ण पुष्ट हो जाती है। यहा रहते हुए स्त्री कृमि गर्भवती होकर अण्डे देती है जो कि मल द्वारा निकल कर पुनः पूर्वोक्त रूपों को धारण करके उपसर्ग-वृद्धि में सहायता करते है। इन क्रिमियों का मुख अंकुश के समान होता है और इसके द्वारा ये आन्त्र की दीवार में चिपके रहते हैं तथा रक्त का पान भी करते रहते है। इनके लाला में एक विषैला पदार्थ होता है जो रक्तकणों को विनष्ट भी करता है। इसके परिणाम-स्वरूप रक्तक्षय (Anaemia) या पाण्डुता की उत्पत्ति होती है। रक्त में शोणवर्तुलि (Haemoglobin) की अत्यधिक कमी हो जाती है एवं भयंकर अवस्था मे रक्तकणों की सख्या भी बहुत कम हो जाती है। इसके अतिरिक्त हृदय प्रदेश में पीडा, श्वासकृच्छ्रता, विवर्णता तथा मुख और शरीर की रूक्षता आदि लक्षण होते हैं। इनमें से कुछ लक्षणों का वर्णन माधव ने आभ्यन्तर क्रिमियों के सामान्य एवं विशिष्ट लक्षणों का वर्णन करते हुए किया है।

गण्डूपदक्रिमि (Round worm) या **महागुद**—इसका उपसर्ग होने पर रोगी को ज्वर रहता है जो कि प्रायः अनियत या सन्तत स्वरूप का भी हो सकता है। यह प्रायः बच्चों मे होता है। रात्रि को सोते समय दांत बजाना—इसका मुख्य लक्षण है।

रोगी व्यक्ति के मल से निकले हुए अण्डों से उपसृष्ट खाद्यपदार्थ के सेवन से ये अण्डे स्वस्थ व्यक्ति के आन्त्र में पहुँच जाते हैं। आमाशय में अम्ल से उनके ऊपर का आवरण गल जाता है तब ये

स्वतन्त्र होकर यकृत में होते हुए सिरा द्वारा हृदय में और वहाँ से अंकुशमुख कृमि की ही भाँति फुफ्फुस में जाकर पुष्ट होते हैं। वहाँ से पुनः आमाशय में होते हुए आन्त्र में प्रविष्ट होते हैं। वहाँ इनकी वृद्धि होती है और वहाँ वृद्धि प्राप्त कर परिपक्वावस्था को प्राप्त होते हैं। ये अत्यन्त चञ्चल और गतिशील होते हैं। प्रायः आन्त्र में कुण्डलितावस्था में रहते हैं और विड्भेद, उदरशूल, अतिसार, वमन आदि अनेक लक्षणों को उत्पन्न करते हैं। कभी-कभी मल के साथ गुद-मार्ग से बाहर आते हैं, कभी कभी आमाशय में पहुँच कर उत्क्लेश और वमन उत्पन्न करते हैं और कभी वमन के साथ बाहर भी निकलते हैं। ये आन्त्र के भीतर अण्डे देकर नवीन क्रिमियों को भी जन्म देते हैं तथा ये अण्डे मल के साथ निकल कर दूसरे व्यक्ति में उपसर्ग के कारण होते हैं। कभी-कभी ये कुण्डलित होकर आन्त्र छिद्र को ही पूर्णतया बन्द कर देते हैं जिससे बद्धगुदोदर या आन्त्रावरोध (Acute intestinal obstruction) हो सकता है कदाचित् पित्तवाहिनी में अवरोध उत्पन्न करके कामला (Janndice) रोग की भी उत्पत्ति करते हैं।

स्फीत कृमि (Tape worm) या **उदरावेष्ट**—यह बहुत लम्बा (८–१० फुट का) फीते के समान चौडा और चिपटा होता है। यह अपने गोल सिर में स्थित बडिशों द्वारा आन्त्र में चिपका रहता है। इसके शरीर में छोटे-छोटे अनेक पर्व होते हैं, प्रत्येक पर्व में अण्डे होते हैं। परिपक्व होने पर अन्तिम कुछ (४–६) पर्व मल द्वारा बाहर निकलते हैं तो उनके आकार कद्दू के बीज के समान रहते हैं। कभी-कभी पेट में दर्द, वमन, मन्दाग्नि या भस्मक रोग तथा पाण्डु आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसका उपसर्ग प्रायः सूकरमासभोजियों मे इससे दूषित मास द्वारा होता है।

तन्तु कृमि (Thread worm) या **चुरु**—ये बीजांकुर या सूत्र की भाँति श्वेत व बहुत छोटे क्रिमि (प्रायः ½ जौ लम्बे) होते हैं। प्रायः बच्चों मे मिलते हैं और रात्रि मे गुदमार्ग से बाहर निकलते हैं। इनसे गुदकण्डू के अतिरिक्त कभी-कभी प्रवाहिका, गुदभ्रंश, शय्यामूत्र, प्रतिश्याय आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रक्तजान् क्रिमीन् निरूपयति—

रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजा जन्तवोऽणवः ॥ ११ ॥
अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः ।
केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः ।
षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः ॥१२॥ (वा. नि. १४)

रक्तवाही सिराओं में रहने वाले रक्तज क्रिमि अतिसूक्ष्म, पादरहित, गोल तथा ताम्रवर्ण के होते हैं। इनमें से कुछ अतिसूक्ष्म होने के कारण आँखों से दिखाई भी नही देते। ये सख्या में छः हैं एवं इनके नाम केशाद, रोमविध्वंस, रोमद्वीप, उदुम्बर, सौरस तथा मातृ हैं। ये सभी कुष्ठ या कुष्ठ सदृश रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ ११–१२ ॥

रक्तजानाह—रक्तेत्यादि। रक्तवाहिसिरास्थानाश्च ते रक्तजाश्चेति रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजाः; अथवा रक्तवाहिसिरास्थानं यद्रक्तं तज्जाः। नामभेदात्ते षट्, तत्र केशादादयश्चत्वारः, सहसौरसनाम-मातृनामभ्यां क्रिमिभ्यां वर्तन्त इति सहसौरसमातरः, एवं षड् भवन्ति। कुष्ठैककर्माण इति कुष्ठमेवैकं कर्म कार्यं येषां ते तथा, कुष्ठजनका इति यावत्। उक्तं हि सुश्रुते,— सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि चोपदिश्यन्ते' इति (सु. नि. अ. ५) ॥ ११–१२ ॥

विमर्श—'कुष्ठैककर्म'[1] का 'कुष्ठ के समान हर्ष, कण्डु, तोद, केश और श्मश्रु आदि का विध्वस एवं त्वचा, सिरा, स्नायु, मास तथा तरुणास्थि का भक्षणरूप कर्म भी ये जीवाणु करते हैं' यह अर्थ भी कर सकते हैं। यहां पर केवल कुष्ठकारक जीवाणुओं का ही वर्णन किया गया है। यह भी ध्यान में रखना

१. 'कुष्ठेन सह एकं समानं कर्म येषा ते'।

चाहिए कि प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित कुष्ठ रोग में अर्वाचीन कुष्ठ रोग (Leprosy) के अतिरिक्त अनेक अन्य रोगों का भी समावेश है जिन्हें आज-कल त्वग्रोग मात्र मानते हैं। इसका विशद विवेचन कुष्ठाध्याय में किया जायगा। आधुनिक वैज्ञानिक खोज के आधार पर रक्त में पाये जाने वाले अनेक अन्य रोगों के जीवाणुओं का ज्ञान हो चुका है। ज्वरोत्पादक जीवाणुओं का स्थान प्राय रक्त ही है। मलेरिया ज्वर इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। अन्य ज्वरों में भी रक्त में जीवाणु पाये जाते हैं। रक्त के अतिरिक्त थूक, अक्षिस्राव, मस्तिष्कसुषुम्ना जल आदि में भी विभिन्न रोगों के जीवाणु पाये जाते हैं। आज तो सूक्ष्मदर्शक की सहायता से इनका प्रत्यक्ष भी होना है अतः इन्हें पूर्णतः अदृश्य भी नहीं कहा जा सकता हा इन चर्मचक्षुओं से तो वे अब भी अदृश्य ही हैं। इन श्लोकों से यही प्रतीत होता है कि प्राचीनों को भी इसका ज्ञान था कि कुछ रोग ऐसे भी हैं जिनके मुख्य उत्पादक हेतु जीवाणु हैं और उन्हीं के द्वारा इनका विभिन्न व्यक्तियों में संक्रमण होता है। आजकल अनेक नवीन रोगों की उत्पत्ति हो गयी है। ऐसे भी अनेक रोग हैं जिन्हे पहिले असंक्रामक समझा जाता था और आज वे सक्रामक माने जाते है। विसूचिका का जो वर्णन प्राचीन ग्रन्थों मे मिलता है वह सक्रामक नहो था किन्तु आज यह घोर सक्रामक माना जाता है। यह तो निश्चित ही है कि 'अनेक रोगों की उत्पत्ति का मूल कारण जीवाणु भी है' यह सिद्धान्त प्राचीनों को भी स्वीकृत है।

पुरीषजान् क्रिमीनाह—

पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः ।
प्रवृद्धा स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः ॥ १३ ॥
तदाऽऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः ।
पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः ॥ १४ ॥
ते पञ्च नाम्ना क्रिमयः ककेरुकमकेरुकाः ।
[1]सौसुरादाः [2]सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि ॥ १५ ॥
विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः ।
रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः ॥ १६ ॥ (वा. नि. १४)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने क्रिमिनिदानं समाप्तम् ॥ ७ ॥

पुरीषज क्रिमि पक्वाशय मे उत्पन्न होते हैं। ये नीचे की ओर गति करते हैं। अधिक वृद्धि करने पर जब वे आमाशय की ओर भी बढने लगते है तो मुख डकार और श्वास में विष्ठा के सामन गन्ध आने लगती है। ये मोटे, गोल, छोटे या लम्बे होते है। इनमे से कुछ काले, कुछ पीले, कुछ सफेद तथा कुछ नीले रग के होते हैं। ककेरुक, मकेरुक, सौसुराद सशूल तथा लेलिह उनके ये पाच नाम हैं। ये विरुद्ध मार्गों में पहुंचने पर मलभेद, शूल, मलावरोध, कृशता, रूक्षता, पाण्डुता, रोमाच, अग्निमान्द्य तथा गुदा में-कण्डू को उत्पन्न करते हैं ॥ १३–१६ ॥

पुरीषजानाह—पक्वाशय इत्यादि। अधोविसर्पिण इति विसर्पणं गतिः, गुदनिःसरणशीलाः, ते यदाऽतिवृद्धाः सन्त आमाशयोन्मुखा भवेयुस्तदाऽस्य रोगिण उद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः पुरीषगन्धयुक्ता भवन्तीति योज्यम्। शेषं सुबोधम् ॥ १३–१६ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां क्रिमिनिदानं समाप्तम् ॥ ७ ॥

विमर्शः—पुरीषज क्रिमियों का सुस्पष्ट वर्णन अर्वाचीन चिकित्सा ग्रन्थों में नहीं मिलता है। मलत्याग के बाद मक्षिका आदि कीट मलपर अंडे देते हैं तथा अनेक प्रकार के पूतिजीवी कीटों

१. 'सौसिरादा सलूनाश्च' इति ख। २. 'मलूनाख्या' इति ग।

की उत्पत्ति होती है। अथवा कभी कभी गुदवाक आदि में उचित शोधन न होने से व्रण मे कीड़े पड जाते हैं और वे मल के साथ निकलते हैं। इन्हें आजकल 'मैगट' (Maggots) कहते हैं। सभवतः प्राचीनों ने इन्हीं का उल्लेख पुरीषज क्रिमि के रूप में किया है। अथवा पूर्वोक्त कफज क्रिमियों के अधोगामी होनेपर उन्हीं को पुरीषज भी स्वीकार कर सकते हैं।

इति क्रिमिनिदान समाप्तम्।

अथ पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामलाहलीमकनिदानम्

वातादिभेदेन पाण्डोः पञ्चसंख्यात्वं विवेचयति—

पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः॥ १॥ (च. चि. १६)

वातिक, पैत्तिक, कफज, सन्निपातज तथा मृत्तिकाज (मिट्टी से उत्पन्न) भेद से पाण्डुरोग पाँच प्रकार का होता है॥ १॥

पुरीषजाः क्रिमयः सूक्ष्माः पाण्डुतां जनयन्ति, अतः क्रिमेरनन्तरं पाण्डुरोगमाह— पाण्डुरोगा इत्यादि। पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः। "चरके अष्टोदरीयाध्याये 'पञ्च पाण्डुरोगाः' (च. सू. अ. १९) **इत्यभिधायापि 'पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च'** (च. चि. अ. १६) **इति यदेतत्पुनश्चरकवचनं तत् पञ्चानामपि साध्यत्वं बोधयति, न तु पञ्चोन्मादेष्विव सान्निपातिकस्यासाध्यत्वम् इति–जेज्जटः; 'न्यूनसंख्यावच्छेदार्थम्' इति** चक्रः। **ननु, सुश्रुते हि मृत्तिकाजो न पठितः; मृत्तिकाऽपि दोषप्रकोपद्वारेणैव पाण्डुरोगं जनयतीति; यदुक्त–'कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्'** (च. चि. अ. १६) **इति; निदानभेदाच्च रोगभेदे रोगानन्त्य प्रसङ्गः, वातजस्यापि रूक्षशीताद्यनेकवातनिदानकुपितवातजन्यत्वात्। उच्यते; दोषजत्वाविशेषेऽपि विशिष्टरूपचिकित्साप्रतिपादनार्थं पृथगभिधानं, मूत्राघातवृद्धिवत्; सुश्रुतेन तु पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिरित्यभिप्रायेण न पृथक्कृतः। चिकित्सा तु दोषचिकित्सया**[1]**ऽपि भवतीति॥ १॥**

विमर्श—इस रोग में रोगी का वर्ण पाण्डु (श्वेत-पीत) हो जाता है अतः इसे पाण्डुरोग कहते हैं। यद्यपि 'अष्टोदरीय अध्याय' में **'पञ्च पाण्डुरोगाः'** चरक की इस प्रतिज्ञा के बाद चिकित्सा स्थान में पुनः पञ्च कहने की आवश्यकता नही थी तथापि सुश्रुत ने जो **'पाण्ड्वामयोऽष्टार्धविधः प्रदिष्टः पृथक् समस्तैर्युगपच्च दोषैः'** (सु उ. तं. ४४) के द्वारा पाण्डुरोग को चार प्रकार का ही बताया है उसका निषेध करने के हेतु पुनः **'पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च'** ऐसा कहा है। चरकानुसारी वाग्भट ने भी पाण्डु को पाँच प्रकार का ही माना है। यद्यपि मृत्तिकाभक्षण से **'कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्'** (च. चि. १६) के अनुसार वातादिप्रकोपपूर्वक ही पाण्डुरोग की उत्पत्ति होती है अतः मृद्भक्षणजनित पाण्डु रोग भी वातजादि भेदों मे से कोई एक होगा। किन्तु उसकी चिकित्सा में विशेषता होती है अतः उसे पृथक् या पञ्चम पाण्डु चरक ने माना है। सुश्रुत ने दोषभेदमात्र से चार ही प्रकार का पाण्डु माना है।

पाण्डुरोगस्य हेतुं सम्प्राप्तिञ्च वर्णयति—

व्यायाम[2]**मम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम्।**

---

१. 'दोषचिकित्सायामन्तर्भवति' इति क ख। २. 'व्यवाय इति क ग।

निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डुरतां नयन्ति ॥ २ ॥

(सु. उ. तं अ. ४३)

अधिक व्यायाम, अधिक अम्ल तथा लवणरसभूयिष्ठ पदार्थ, मद्य, मिट्टी, दिवास्वाप तथा तीक्ष्ण (मिर्च मसाले आदि) पदार्थों का सेवन करने वाले व्यक्ति के प्रकुपित वात आदि दोष रक्त को दूषित करके त्वचा को पाण्डु (श्वेत-पीत) वर्ण का कर देते हैं ॥ २ ॥

संप्राप्तिमाह—व्यायाममित्यादि। रक्तमित्युपलक्षणं; तेन 'त्वङ्मांसमपि' दूष्यत्वेन दृढबलेन **पठितं**, हारीतेन **'रसोऽपि' इति ॥ २ ॥**

विमर्श—स्निग्ध भोजन करने वाले व्यक्ति को भी व्यायाम अर्धशक्ति तक ही करना बताया गया है[1]। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति पोषक तत्त्वों की अपेक्षा किये बिना ही अधिक व्यायाम करता है तो उसका वायु प्रकुपित होकर अग्निदुष्टि एवं पाचन और शोषण के अभाव से परम्परया रक्तदुष्टि (रक्त की कमी) उत्पन्न करके वातिक पाण्डु का कारण बनता है। अम्ल, लवण तथा दिवास्वप्न, मद्य तथा तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन पित्तज पाण्डु और कफज पाण्डु को उत्पन्न करता है। मृत्तिका मृत्तिकाजन्य पाण्डु का हेतु है।

चूंकि दुष्टि वृद्धि-क्षयात्मक ही होती है अतः प्रकृत में रक्त की दुष्टि से रक्ताल्पता का ही ग्रहण करना चाहिये क्योंकि चरक ने पाण्डु के सामान्य लक्षणों का वर्णन करते हुए **'सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः। वैवर्ण्यं भजते'** (च. चि. १६) के द्वारा रक्त की कमी तथा तज्जन्य विवर्णता का उल्लेख किया है। रक्त ही अन्य सब धातुओं का पोषक है अतः इसकी अल्पता से ओज पर्यन्त सभी धातुओं में शैथिल्य उत्पन्न हो जाता है[2]। चरक और वाग्भट ने रक्त के अतिरिक्त त्वचा और मांस को भी दूष्य कहा है तथा पाण्डु को रसप्रदोष जनित रोग माना है। सुश्रुत ने केवल रक्त को ही दूष्य स्वीकार किया है। वस्तुतः सुश्रुत का पक्ष ही इस विषय में अधिक माननीय है, क्योंकि यह रोग रक्तगत ही होता है, परम्परया तो सभी धातुओं पर इसका प्रभाव पड़ता है; क्योंकि यही सबका पोषक है। पाण्डु रोग की उत्पत्ति में चरक की कल्पना है कि साधारण पित्तप्रकोपक कारणोंसे प्रकुपित पित्त हृदयस्थ होकरवायु की प्रेरणा से, हृदय से निकलने वाली धमनियों तथा उनकी शाखा-प्रशाखागत रस के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो जाता है[3] और कफ, वायु एवं रक्त को भी दूषितकर त्वचा और मांस के बीच स्थिर होकर पाण्डु रोग को उत्पन्न करता है। त्वचागत रक्तवाहिनियों के अधिक उत्तान (Superficial) रहने से इनके विशेषवर्णों (पाण्डु, हारिद्र, हरित) की अभिव्यक्ति त्वचा में ही होती है। कामला या हलीमक पाण्डु के प्रवृद्ध रूप ही हैं यह बात चरक की उक्त सम्प्राप्ति से प्रतीत होती है। यद्यपि पाण्डु के अभाव में भी कामला स्वतन्त्र रूप में होती है। इसका विस्तृत विवेचन कामला प्रकरण में ही किया जायगा। पाण्डुरोग में पित्तदुष्टि तथा पित्तवर्गीय रक्त की दुष्टि या अल्पता ही होती है। स्वस्थावस्था में रक्तगत भ्राजक पित्त के अंश से त्वचागत भ्राजक पित्त की परिपुष्टि निरन्तर होते रहने से उसका वर्ण प्रकृत रहता है। रक्ताल्पता की अवस्था में त्वग्गत भ्राजक पित्त का औसत प्रमाण विकृत होने से त्वचा में विविध विकृत वर्णो की उत्पत्ति होती

१. अर्धशक्त्या निषेव्यस्तु व्यायामः स्निग्धभोजिभिः ॥ (अ. हृ सू. २)

२ दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु। शैथिल्यं तस्य धातूनां गौरवं चोपजायते ॥
ततो वर्णबलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः। व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ॥

३. समुदीर्णं यदा पित्तं हृदये समवस्थितम्। वायुना बलिना क्षिप्तं सम्प्राप्य धमनीर्दश ॥
प्रपन्नं केवलं देहं त्वङ्मांसान्तरमाश्रितम्। प्रदूष्य कफवातासृक् त्वङ्मांसानि करोति तत् ॥
पाण्डुहारिद्रहरितान् वर्णान् बहुविधास्त्वचि ॥ (च. चि. १६)

१. 'समेत्य' रक्तं कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम्' इति ग पुस्तके पाठान्तरम्।

है। चूंकि पित्त ही सब वर्णों का प्रकाशक है अतः शरीरस्थ सभी भागों में पित्तवर्गीय रक्त की कमी होने से विवर्णता आती है। यह विवर्णता सर्वप्रथम त्वचा में ही प्रत्यक्ष गोचर होती है अतएव चरक ने सामान्यतः **'वर्णान् बहुविधांस्त्वचि'** यह कहा है।

अर्वाचीन वैद्यक के अनुसार भी जब शरीर के रक्तगत लाल कण किसी स्थावर या जङ्गम विष के कारण, किसी अङ्ग की विकृति के कारण, भोजन में रक्तवर्धक पदार्थों की कमी के कारण या रक्तनिर्मापक अस्थिमज्जा की विकृति के कारण या अन्य आघात आदि के फलस्वरूप अत्यधिक रक्तस्राव हो जाने के कारण कम या विकृत हो जाते हैं तो पाण्डु (Anaemia) की उत्पत्ति होती है। साधारणतया रक्ताल्पता मात्र की दृष्टि से पाडु (Anaemia) एक ही प्रकार का मानना चाहिये, किन्तु फिर भी निदानवैचित्र्य, लक्षणवैचित्र्य तथा चिकित्सावैचित्र्य के कारण प्राच्य एवं पाश्चात्य शास्त्रकारों ने इसके अनेकविध भेदों का निरूपण किया है। प्राचीन दृष्टि से प्रकोपक कारण तथा प्रकुपित दोष के अनुसार पाण्डु के लक्षणों और चिकित्सा में वैशिष्ट्य होने से इसके पाँच भेद किये गये जिनका निरूपण यथास्थान किया जायगा।

पाश्चात्य वैद्यक के विभिन्न ग्रन्थों मे पाण्डु (Anaemia) का वर्गीकरण (Classification) पाण्डुजनक कारण तथा तज्जन्य रक्तगत विविध परिवर्तनों के आधार पर किया हुआ मिलता है।

लाल कण, श्वेत कण तथा रक्त रस के सामुदायिक रूप को ही रक्त कहते हैं। रक्तमात्र की कमी या तद्गत लाल कणों की सख्याल्पता अथवा विकृतस्वरूपता ही वस्तुतः पाण्डु (Anaemia) है। लाल कणों के स्वाभाविक दशा में रहने पर त्वचा का वर्ण भी प्राकृत रहता है। किन्तु इनमें विकृति होने से उसमें विवर्णता आ जाती है एवं इसकी स्पष्ट प्रतीति त्वचामात्र विशेषतः नेत्र तथा जिह्वा-निम्नगा श्लेष्मलकला में पीतिमा या विवर्णता के रूप में दृष्टिगोचर होती है। लालकणों का निर्माण अस्थिमज्जा के द्वारा सम्पन्न होता है। लोहा, ताँबा, मैगनीज तथा जीवतिक्तियाँ भी रक्त-निर्माण में परम सहायक हैं। इन्हें बहिरंश (Extrinsic factor) भी कहते हैं। इसके अतिरिक्त स्थूल पित्त (Bile), आमाशयिक रस तथा अवटुकाजीवी (Thyroxine) भी रक्तनिर्माण में बहुत बडा भाग लेते हैं एवं इनको अन्तरंश (Intrinsic factor) की संज्ञा प्रदान की जाती है। आमाशय एवं क्षुद्रान्त्र के उपरितन भाग में इन दोनों के संयोग से एक तीसरा पदार्थ बनता है जिसका नाम रक्तक्षयान्तक द्रव्य (Antianaemic principle) भी है। यह श्लेष्मल कला द्वारा प्रचूषित होकर मज्जा में पहुँचता है और लाल कणों को पूर्ण प्रगल्भ (Mature) बनाने में सहायक होता है। इसका अवशिष्ट भाग यकृत में तथा कुछ वृक्क में भी संगृहीत होता है। आवश्यकता पड़ने पर यह भी मज्जा में पहुँच जाता है। यह पदार्थ लालकणों के पूर्ण विकास के लिये परमावश्यक है। इसकी कमी से लालकण पूर्ण प्रगल्भ नहीं होने पाते। इस प्रकार रक्त या लाल कणों का निर्माण करने के लिये अस्थिमज्जा तथा उसको सहायता पहुँचाने वाले रक्त-निर्मापक बहिरंश, अन्तरंश और रक्तक्षयान्तक द्रव्य की उपस्थिति अनिवार्य है। इनमें से किसी की भी कमी होना रक्तनिर्माण की दृष्टि से हानिकर है। इसके अतिरिक्त अत्यधिक रक्त-स्राव तथा लाल कणों का विनाश करने वाले मलेरिया या कालमेहज्वर (Black-water fever) जैसे रोग भी पाण्डु (Anaemia) की उत्पत्ति कराते हैं। इस प्रकार पाण्डु को दो बड़े वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

१—प्राथमिक (Primary)—यह साक्षात् अस्थिमज्जा की विकृति से उत्पन्न होता है एवं इसे अचयिक रक्तक्षय (Aplastic anaemia) भी कहते हैं।

२—द्वितीयक (Secondary)—इसे औपद्रविक भी कहते हैं। मलेरिया, अङ्कुशमुखकृमि (Hook-worm) तथा रक्तस्राव (Haemorrhage) जन्य रक्तक्षय को इसी श्रेणी में समझना चाहिये।

आयुर्वेद ने रञ्जक पित्त के विकार को ही पाण्डु संज्ञा प्रदान की है। आयुर्वेदीय शरीर-क्रिया-विज्ञान की दृष्टि से शरीर की आद्य धातु रस में रञ्जक पित्त के मिश्रण से रक्त धातु की उत्पत्ति होती है जैसा कि कहा भी है—**'स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति' रञ्जितास्तेजसा त्वापः शरीरस्थेन देहिनाम्। अव्यापन्नाः प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते।** (सु० सू० १४) इसके अतिरिक्त **'रसाद्रक्तं विसदृशात् कथं देहेऽभिजायते'** अग्निवेश के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि आत्रेय ने कहा है **'तेजो रसानां सर्वेषामम्बुजानां यदुच्यते। पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति॥'** (च चि. १५) अर्थातसौम्य रस ही यकृत्-गत रञ्जक पित्त के संयोग से रक्त बनता है। यह रञ्जक पित्त ही वस्तुतः रक्तक्षयान्तक द्रव्य (Anti anaemic principle) का अन्तरंश है। इसका निर्माण यकृत् के द्वारा होता है। इसका नाम स्थूलपित्त या मलपित्त (Bile) हैं और इसके रञ्जकांश तथा लवणांश शोणवर्तुलि (Hemoglobin) के घटक लोह के प्रचूषण तथा शोण वर्तुलि-भवन में परम सहायक होते हैं। प्राच्य ग्रंथों में केवल यकृत् और प्लीहा को ही रस रञ्जन या लालकण निर्माण का केन्द्र माना गया है। नवीन अन्वेषणों के आधार पर आज यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि लालकणों का निर्माण रक्त-मज्जा के द्वारा होता है। सुश्रुत ने भी मज्जा के वर्णन-प्रसंग में **'सरक्तं मेद उच्यते'** (सु. शा. ४) के द्वारा परोक्ष रूप से मज्जा का रक्त के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया है। किन्तु इस कथन का अभिप्राय यह नहो कि यकृत् और प्लीहा लालकणों का निर्माण नहीं करते? यह तो निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि उक्त अङ्ग लाल कणों के निर्माण में परम एवं अनिवार्य सहायक हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सिद्ध है कि गर्भावस्था में लाल कणों का निर्माण यकृत् और प्लीहा के द्वारा ही सम्पन्न होता। जन्मोत्तर काल में यह कार्य विशेषतः रक्त मज्जा (Red marrow) से ही होता है। किन्तु आत्ययिक अवस्थाओं में जन्मोत्तर काल में भी यकृत् और प्लीहा को यह कार्य करना पड़ता है। 'In times of emergency the liver and spleen may resume this blood-form. ing function' (Wright's Aplied Physiology)

इसी विषय का जो विवेचन माननीय डाक्टर श्री मुकुन्दस्वरूप जी वर्मा ने अपने 'मानव शरीर-रहस्य' में किया है, वह अविकल रूप में उद्धृत किया जाता है—

'प्लीहा रक्त में आये हुए टूटे रक्त कणों का नाश ही नहीं करती बल्कि उनका निर्माण भी करती है। यदि प्लीहा की परीक्षा की जावे तो यह परीक्षा मनुष्यों में तो अब तक नहीं दिखाई गयी है, किन्तु पशुओं में यह निश्चय हो चुका है कि प्लीहा लाल कण बनाती है। यदि पशुओं में प्लीहा निकाल ली जाय तो अस्थियों की लाल मज्जा में वृद्धि हो जाती है।'

यकृत् रक्तनिर्माण में प्रमुख भाग लेता है यह बात रक्तस्रावी प्रवृत्ति वाले रोगों (रक्तपित्त) में यकृत् का सेवन कराने से सिद्ध है, यथा **'यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्'** सुश्रुतः। तथा **'भक्षयेदाजमामं पित्तयुक्तं यकृत्'** वाग्भटः। यद्यपि आयुर्वेद ने पाण्डु रोग की चिकित्सा के लिये साक्षात् यकृत् सेवन का उपदेश नहीं किया, तथापि रक्तपित्त के लिये तो बताया ही है। पाण्डु रोग एवं रक्तपित्त में रक्त रूप दूष्य समान है, अतः यह कहना असङ्गत न होगा कि यकृत् में रक्तविकृति दूर करने का सामर्थ्य हैं। पाण्डु भी रक्त की ही विकृति का परिणाम है, अतः पाण्डु में रक्तविकृति दूर करने के लिये यकृत् का उपयोग करना आयुर्वेद-सम्मत स्वीकार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त पाण्डु की चिकित्सा में लोह और उसके सहायक ताम्र का भी प्रयोग किया जाता है, यह रक्तक्षयान्तक द्रव्य का बहिरंश ही तो है, और इसीसे रागक या शोणवर्तुलि (Haemoglobin) की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार रक्त-निर्माण का आयुर्वेदीय सिद्धान्त पाश्चात्य सिद्धान्त से पूर्ण साम्य रखता हैं।

आयुर्वेदिक ग्रन्थों में पठित रक्तात्पता, रक्तक्षय तथा रक्तवृद्धि से रञ्जक पित्त रागक की कमी या अधिकता का भी ग्रहण करना चाहिये। यह रागक छोटी छोटी डिब्बियों में भरा रहता है और ठोस होने के कारण केवल इसका संचरण होना असम्भव है। इसके सचार के लिये रस (Plasma) की उपस्थिति अनिवार्य है। आयुर्वेद में सर्वत्र ही रक्तसंवहन शब्द के लिये रससंवहन का ही प्रयोग होता है—**'कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः'** सुश्रुतः. अथवा **'व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा'** चरकः।

आयुर्वेद में रक्तात्पताजन्य रोगों को पाण्डुरोग कहते हैं, क्योंकि सभी मे विशेषतः पाण्डुवर्णता पायी जाती है। अतएव सुश्रुत ने भी कहा है—**'सर्वेषु चैतेषु हि पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः'।**

पाश्चात्य ग्रन्थों में पाण्डु का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है। क्वचित् निदान भेद एवं क्वचित् प्रत्यक्ष रक्तगत विकृति भेद को आधार मानकर वर्गीकरण किया हुआ मिलता है। वर्गीकरण निदान-सौकर्य एवं चिकित्सा-सौकर्य के लिये कहा जाता है; क्योंकि कहा भी है—**रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम्'**। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण चिकित्सा का मूल निदान परिवर्जन ही बताया गया है—**'संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्'**। इस प्रकार चिकित्सा-सौकर्य को विशेषतया ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि पाण्डुजनक निदानों के भेद से ही पाण्डुरोग के वर्गीकरण को महत्त्व दिया जाय। अतः निम्न पङ्क्तियों में इसका वर्णन किया जाता है—

१. **पोषणाभावजन्यपाण्डु**—लालकणों को परिपुष्ट बनाने में रक्तक्षयान्तक द्रव्य (anti anaemic principle) की उपस्थिति अनिवार्य है। इसमें अन्तरंश (Intrinsic factor) की कमी होती है। इसकी कमी से होने वाले पाण्डु की श्रेणी में वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious anaemia) गर्भावस्थाजन्य पाण्डु, ग्रहणी (Sprue) जन्य तथा अंकुश-मुखकृमिजन्य पाण्डु का समावेश होता है। इस पाण्डु में रक्त की सकल (Total) मात्रा तथा शोणवर्तुलि (Haemoglobin) की मात्रा कम नहीं होती; अपितु अधिक भी हो सकती है। लालकण सख्या में कम होते हुऐ भी आकार में बड़े तथा अप्रगल्भ (Immature) होते है। इस श्रेणी में पाण्डु के प्रत्यक्षरक्तगत विकृति की दृष्टि से इसे स्थूलकायाण्विक उपवर्णिक पाण्डु (Macrocytic Hypochromic) कहते हैं।

२. **रक्तनिर्मापकद्रव्याभावजन्य (पाण्डु** -Anaemia due to deficiency of blood forming material)—लोहा और तावा रक्त कणों के निर्माण में परम सहायक होते है, या यों कहिए कि लालकण की लालिमा लोह की लोहितता का ही परिणाम है। इनकी कमी से होने वाले पाण्डु में रक्तगत लाल कणों की संख्या में कमी न होने पर भी उनका आकार तथा शोणवर्तुलि Haemoglobin का साधारण प्रमाण कम रहता है। अतएव रक्तगत विकृति के अनुसार इसका नाम भी सूक्ष्म कायाण्विक परमवर्णिक पाण्डु (Microcytic hyperchromic anaemia) है। लोहा का उचित मात्रा से कम मात्रा में सेवन करना, भूखा रहना, पाचक रसों की कमी तथा आमाशयिक और आन्त्रिक शोथजन्य रोगों में लोह का पाचन एवं शोषण न होना इसका कारण है।

६. **अस्थिमज्जाविकृतिजन्य पाण्डु**—यह प्राथमिक (Primary or aplastic) तथा दीर्घकाल तक क्ष-किरणों के सम्पर्क तथा सीसा और पारद के विषों से पराभूत अस्थिमज्जा की विकृति होने पर द्वितीयक या औपद्रविक (Secondary) भी हो सकता है। सल्फा द्रव्यों के अधिक सेवन करने से भी यह होता है। लाल कण दिन प्रतिदिन संख्या में कम होते जाते हैं।

४. **रक्तस्रावजन्य पाण्डु**—रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर, शोणितप्रियता (Haemophilia) आदि रोग इसके उदाहरण हैं। इसे भी द्वितीयक पाण्डु ही कहना चाहिये। इसमें रक्त का सकल प्रमाण कम होता है। इस अवस्था में अत्यधिक वेग से हुई रक्त-हानि की पूर्ति अस्थिमज्जा द्वारा उतने ही वेग से नहा हो पाती।

५. **शोणांशनजन्य पाण्डु** (Anaemia due to haemolysis)—मलेरिया, कालमेहज्वर (Blackwater fever), सावेग शोणवर्तुलिमेह (Paroxysmal haemoglobinuria), बालकों की अपित्तमेहिक (Acholuric) तथा साधारण कामला में शोणाशन (Haemolysis) अधिक होने से यह पाण्डु होता है। इसमें लाल कणों की सख्या बहुत कम हो जाती है।

यहा सक्षेप मे ही पाण्डु के भेदों का निरूपण किया गया है। विशेष विवरण तत्सम्बन्धी अर्वाचीन पुस्तकों मे ही देखना चाहिये।

पाण्डु के उपर्युक्त भेदों में लक्षणानुसार आयुर्वेदाभिमत वातादि भेदों की भी कल्पना की जा सकती है। निदान, देश, काल, आयु तथा प्रकृति के अनुसार जिस भेद मे वात आदि में से जिसके भी लक्षण मिले उसी के अनुसार समझ कर चिकित्सा में विशिष्ट औषध या अनुपान के द्वारा सुकरता प्राप्त करनी चाहिये।

पाण्डुरोगस्य पूर्वरूपं वर्णयति—

त्वक्स्फोटनष्ठीवनगात्रसादमृद्भक्षणप्रेक्षणकूटशोथाः ।
विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥ ३ ॥

(सु. उ. तं. अ ४४)

त्वचा मे विदार (फटना) बार बार थूकने की प्रवृत्ति, शरीर में शिथिलता, मिट्टी खाने की इच्छा, अक्षिगोलक मे सूजन, मल और मूत्र का पीला होना तथा भोजन का परिपाक न होना ये पाण्डुरोग के पूर्वरूप हैं ॥ ३ ॥

पूर्वरूपमाह—त्वगित्यादि । त्वक्स्फोटनं त्वचः किंचिद्विदरणम् । मृद्भक्षणं मृद्भक्षणेच्छा । प्रेक्षणकूटशोथः अक्षिगोलकशोथः । अविपाक आहारस्य । पुरःसराणि पूर्वरूपाणि ॥ ३ ॥

विमर्शः—दोषदूष्यसमूर्च्छन होने के पश्चात् प्रधान लक्षणों की उत्पत्ति से पूर्व ये लक्षण पाये जाते हैं। वस्तुतः उक्त लक्षणों को विशिष्ट पूर्वरूप ही कहा जा सकता है; क्योंकि भविष्य में ये ही अधिक बढकर रूप कहलाते हैं। त्वचा का फटना वायु का विकार है, अतः इसे वातिक पाण्डु का विशिष्ट पूर्वरूप कह सकते हैं। त्वचा का फटना स्नेहांश की कमी तथा रूक्षता की वृद्धि का सम्मिलित परिणाम है। इस अवस्था मे त्वचा को स्वभावतः चिकना रखने वाले वसाजातीय पदार्थ की कमी होने से त्वचा रूक्ष होती है और रूक्ष होने से उसमे विदार उत्पन्न होने की प्रवृत्ति हो जाती है। **ष्ठीवनम्**—बार २ थूकने की प्रवृत्ति का होना कफज पाण्डु का विशिष्ट पूर्वरूप है; क्योंकि आगे कफ प्रसेक को कफज पाण्डु का लक्षण कहा गया है। प्रसेक का होना कफाधिक्य तथा तज्जन्य आमाजीर्ण का निदर्शक है; क्योंकि इसका अजीर्ण के उपद्रवों मे परिगणन किया गया है। **'मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः'**।

गात्रसादः—रक्त ही शरीर की सम्पूर्ण धातुओं का पोषक एव रक्षक है। इसके प्राकृत रहने पर ही शरीर स्वस्थ रहता है। सम्पूर्ण अगों की क्रियायें इसके ऊपर ही निर्भर है। इसकी कमी होने पर सभी धातुओ मे पोषणाभावजन्य शिथिलता का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है।

मृद्भक्षण—यह मृत्तिकाजन्य पाण्डु का पूर्वरूप है। मिट्टी खाने से पाण्डु अवश्य होता है, अतः यदि कोई व्यक्ति मिट्टी खाता है तो इससे भावी पाण्डु की कल्पना की जा सकती है। पाण्डु-रोगी की मृत्तिका-भक्षण की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है।

प्रेक्षणकूट-शोथ—यह कफज पाण्डु का विशिष्ट पूर्वरूप है। अक्षिगोलक की सूजन आमाजीर्ण की भी निदर्शिका है; क्योंकि वहा भी कहा है—**'तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः'**

कफज पाण्डु में शोथ विशिष्ट लक्षण माना गया है। वह पादगत या सर्वशरीरगत हो सकता है। किन्तु पूर्वरूपावस्था में दोष की शक्ति अल्प रहने से इसकी प्रतीति सर्वप्रथम अक्षिगोलक के पलकों पर ही होती है; क्योंकि वह अपेक्षाकृत पतला और ढीला स्तर है। इस रोग में पित्त की दुष्टि के कारण मल और मूत्र का वर्ण भी पीतिमायुक्त होता है। यह पीतिमा वातादि भेद के अनुसार तर-तम भेद से विभिन्न प्रकार की होती है। भोजन का पूर्णतः परिपाक न होना तो पाण्डु का मूल ही है; क्योंकि अपक्वरस का शोषण नहीं होता एवं पाचन और शोषण के अभाव से पोषणाभाव से रक्ताल्पता उत्पन्न होती है।

चरक और वाग्भट ने इसके पूर्वरूपों में हृदयस्पदन को विशेष महत्त्व दिया है—'**···तस्य लिङ्गं भविष्यतः। हृदयस्पन्दनं रौक्ष्यं स्वेदाभावः श्रमस्तथा** (च. चि. १६)। तथा—'**प्राग्रूपमस्य हृदयस्पदनं रूक्षता त्वचि। अरुचिः पीतमूत्रत्वं स्वेदाभावोऽल्पवह्निता**' (अ. हृ. नि. १३)। वस्तुतः रक्ताल्पता की अवस्था में कम रक्त से ही कार्यनिर्वाहार्थ हृदय को अधिक तीव्रता से कार्य करना पड़ता है। इस अवस्था में नाडी दुर्बल होने हुए भी तीव्रगतियुक्त होती है।

क्रमप्राप्त वातिकपाण्डोर्लक्षणमवतारयति—

त्वङ्मूत्रनयनादीनां रूक्षकृष्णारुणाभता[१]।
वातपाण्ड्वामये तोदकम्पानाहभ्रमादयः॥ ४॥

वातजन्य पाण्डुरोग में त्पचा, मूत्र तथा नेत्र आदि (नख, मुख और मल) रूक्ष, कृष्ण तथा अरुण वर्ण के हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शरीर में सूचिकावेधनवत् पीडा, कम्पन, आनाह तथा भ्रम, भेद, शूल आदि वातिक लक्षण उत्पन्न होते हैं॥ ४॥

वातिकलक्षणमाह—त्वगित्यादि। अत्र कृष्णारुणाभता न पाण्डुतामतिक्रामति, अन्यथा पाण्डुरोगत्वाभावः। उक्तं च सुश्रुते—'सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः' (सु. उ. अ. ४४) इति। भ्रमादय इति आदिशब्देन भेदशूलादीनां ग्रहणम्॥ ४॥

विमर्श—त्वचा आदि की कृष्णता अथवा अरुणता के प्रतिपादन से पाण्डुता की कोई हानि नहीं होती। इसका तात्पर्य केवल यही है कि **'सर्वेषु चैतेषु हि पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः'** (सु. उ. त. ४४) के अनुसार पाण्डुता का रहना तो सब में अनिवार्य है, किन्तु वात के द्वारा कुछ अश में पित्त के पराभूत होने से पित्तजन्य पाण्डु के समान इसमें पीताभता नहीं पायी जाती त्वचा के सामान्य वर्ण की अपेक्षा पाण्डुता की सत्ता तो रहती ही है।

चरक और वाग्भट ने भी प्रायः ये ही लक्षण कहे हैं, किन्तु उन्होंने शोफ लक्षण विशिष्ट माना[१] है। सुश्रुत ने वातिक पाण्डु के लिये कहा है—

कृष्णेक्षणं कृष्णसिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च।
वातेन पाण्डु मनुजं व्यवस्येद् युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च॥ (सु. उ. तं. ४४)

---

१. आहारैरुपचारैश्च वातलैः कुपितोऽनिलः। जनयेत् कृष्णपाण्डुत्वं तथा रूक्षारुणाङ्गताम्॥
अङ्गमर्दं रुजं तोदं कम्पं पार्श्वशिरोरुजम्। वर्चःशोषास्यवैरस्यशोफानाहबलक्षयान्॥
(च० चि० १६)
·········अनिलात्तत्र गात्ररुक्तोदकम्पनम्। कृष्णरूक्षारुणसिरानखविण्मूत्रनेत्रता।
शोफानाहास्यवैरस्यविट्शोषाः पार्श्वमूर्धरुक्॥ (वा० नि० १३)

---

१. 'रुणप्रभाः' इति ग।

पैत्तिकपाण्डुं लक्षयति—

पीतमूत्रशकृन्नेत्रो दाहतृष्णाज्वरान्वितः।
भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः॥ ५॥

पित्तज पाण्डु में मल-मूत्र तथा नेत्र पीले पड़ जाते हैं। शरीर में जलन, प्यास तथा ज्वर विशेषरूप से होते हैं। रोगी का वर्ण अत्यन्त पीला हो जाता है और उसे अतिसार भी रहता है॥५॥

पैत्तिकलक्षणमाह—पीतेत्यादि। ननु, पित्तपाण्ड्वामयीति न युक्तं, पाण्डुरोगस्य पित्तकार्यत्वादेव। उच्यते, इतरदोषासंश्लिष्टप्रबलपित्तजन्यत्वेन पैत्तिकाभिधानं, यथा—पैत्तिकरक्तपित्तमिति॥ ५॥

विमर्श—यद्यपि सभी पाण्डु पित्तज होते हैं, अतः पित्तज पाण्डु की पृथक् गणना करना अनुपयुक्त है, तथापि दूसरे दोषों के सम्पर्क से रहित स्वहेतु से प्रकुपित केवल पित्त की विशेषता से उत्पन्न पाण्डु के लिये पित्तज पाण्डु शब्द का प्रयोग अव्यावहारिक नहीं कहा जा सकता।

इसमे नेत्रों के अतिरिक्त मुख तथा जिह्वानिम्नगा श्लेष्मलकला भी पीली पड़ जाती है। इस अवस्था में मल और मूत्र के द्वारा भी पित्त का उत्सर्ग विशेषतः होता है। पित्त की अत्यधिक दुष्टि के कारण रक्त के सकल अवयवों का विनाश प्रचुर प्रमाण में होता है। अतएव त्वचागतरस के विनाश से वहाँ के नाड्यग्रों मे विकृति (Peripheral neuritis) तथा तज्जन्य दाह की अनुभूति रोगी को होती है। इस अवस्था में रक्तरस का विनाश भी अधिक मात्रा में हो जाता है। अतः समानजातीय जल की आवश्यकता का निदर्शन करने के लिये प्राकृतिक नियमानुसार तृष्णा या प्यास की उत्पत्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त दाह, तृष्णा और ज्वर ये पित्त के विशेष गुण होने के कारण भी प्रकट होते हैं। सुश्रुत ने पित्तज पाण्डु के लक्षण निम्न प्रकार से दिये हैं—

पीतेक्षणं पीतसिरावनद्धं तद्वर्णविण्मूत्रनखाननञ्च।
पित्तेन पाण्डुं मनुजं व्यवस्येद् युक्तं तथाऽन्यैस्तदुपद्रवैश्च॥ (सु. उ. त. ४४)

'तदुपद्रवैः' से यहाँ तात्पर्य है दाह, तृष्णा, ज्वर आदि पित्त के सामान्य लक्षण।

चरक और वाग्भट इस पाण्डु में अम्लपित्त (Hyperacidity) के समान लक्षणों (कटुकास्यता, अम्लोद्गार, अन्नविदाह आदि) का भी समावेश किया है।

कफजपाण्डुं विवृणुते—

कफप्रसेकश्वयथुतन्द्रालस्यातिगौरवैः।
पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैः॥ ६॥

कफज पाण्डु में मुख से कफ का स्राव, सूजन, तन्द्रा,[1] आलस्य[2] तथा शरीर का भारीपन हो जाता है। त्वचा, मल, मूत्र तथा मुख का वर्ण श्वेत हो जाता है॥ ६॥

श्लैष्मिकलक्षणमाह—कफप्रसेकेत्यादि। कफाद्यः पाण्डुरोगी स शुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैरुपलक्षित इति योज्यम्॥ ६॥

विमर्श—कफज पाण्डु में भी यद्यपि त्वचा आदि का वर्ण पाण्डु ही रहता है जैसा कि पिछली पङ्क्तियों मे प्रतिपादित किया गया है, किन्तु कफ के द्वारा पित्त के गुणों की पराभूतता के कारण पित्तज पाण्डु की अपेक्षा पीलापन कम और श्वेतता अधिक रहती है।

शरीर में शोथ होना कफज पाण्डु का विशिष्ट लक्षण है। चरक ने भी इस लक्षण का वर्णन किया है—**'श्वयथुं मधुरास्यत्वमिति पाण्ड्वामयः कफात्।'** वाग्भट ने इस लक्षण का उल्लेख

१. इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः। निद्रार्तस्येव यस्येह तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्॥

२. यत् सामर्थ्येऽप्यनुत्साहस्तदालस्यमितीर्यते।

नहीं किया है। शोथ कफ का कार्य है, अतः सुश्रुतोक्त तदुपद्रव[1] शब्द से यह सहज ही समझा जा सकता है कि कफज पाण्डु मे शोथ का होना सुश्रुत को भी अभिमत है। वस्तुतः शोथ पाण्डु का सहज उपद्रव है। अतएव वाग्भट ने पाण्डु और शोफ के निदान का वर्णन एक साथ ही किया है। पाण्डुरोग में हृदय की दुर्बलता तथा रक्त में जीवनीयांश की कमी होने से शोथ की उत्पत्ति होती है।

शोथ का विशेष विवरण तो 'शोथ निदान' में ही दिया जायगा। यहाँ तो केवल पाण्डु से सम्बन्धित शोथ का ही वर्णन संक्षेप में करते हैं। अनुत्वचिक धातु (Subcutanious tissue) में द्रव के एकत्रित होने को ही शोफ[2] (Oedema) कहते हैं। यह धातुओं में रक्तरस (Plasma) गत द्रव के भर जाने से और विशेषतः अधः स्थित भाग तथा नेत्र और मुख आदि की ढीली धातुओं में होता है। इसका प्रत्यक्ष अङ्गुली से दबाने पर गड्ढा पड़ने से होता है। केशिकाओं के अन्तस्तर (Capillary endothelium) का विनाश इसका मुख्य उत्पादक हेतु है। इसके अतिरिक्त सिरागत रक्त-दबाव की वृद्धि, रक्तरसीय प्रोभुजिनों की कमी (Lowered plasma protiens) अथवा आसृतीय पीडन (Osmotic pressure) की गड़बड़ी इसके लिये उत्तरदायी है। पाण्डु में शोथ होने का कारण रक्त रस गत प्रोभुजिन की कमी, केशिकाओं की प्रवृद्ध प्रवेश्यता (Increased permiability) तथा हृदय का विस्फार हैं। यह साधारणतया अधः शाखा (पैर) में होता है। कभी कभी बढ़कर सार्वदैहिक भी हो सकता है। हृदय के दक्षिण भाग का विस्फार होने से सिरागत अवरोध होकर शोथ उत्पन्न होता है। इस प्रकार का शोथ विशेषतः वैनाशिक रक्तक्षय (Pernicious anaemia) तथा अङ्कुशमुखकृमि (Hook worm) के उपसर्ग में पाया जाता है।

त्रिदोषजपाण्डोरसाध्यलक्षणमाह—

ज्वरारोचकहृल्लासच्छर्दितृष्णाक्लमान्वितः ।
पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥ ७ ॥

तीनों दोषों के प्रकोप से उत्पन्न पाण्डु में ज्वर, अरोचक, मिचली, वमन, प्यास तथा क्लम[3] ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन लक्षणों से युक्त क्षीण एवं स्वविषय का ग्रहण करने में असमर्थ इन्द्रियों वाले रोगी की चिकित्सा न करनी चाहिये ॥ ७ ॥

सान्निपातिकस्तु [1]प्रकृतिसमसमवेतत्वेन उक्तवातजादिलक्षणैरेव बोद्धव्यः। उक्तं हि चरके—**'सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्। त्रिलिङ्गं संप्रकुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम्'** (च. चि. अ. १६) **इति। तस्यैव सोपद्रवस्यासाध्यत्वमाह—ज्वरारोचकेत्यादि। हतेन्द्रियः स्वविषयाग्राहकेन्द्रियः ॥ ७ ॥**

विमर्श—वस्तुतः ये त्रिदोषज पाण्डु के असाध्य लक्षण हैं। स्वहेतुओं से प्रकुपित वात आदि तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण ही त्रिदोषज पाण्डु के लक्षण हैं। प्रकृतिसमसमवेत होने से माधव ने उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया। चरक ने भी कहा है—**सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम्। त्रिलिङ्गं सम्प्रकुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम् ॥** सुश्रुत ने भी **'सर्वात्मके सर्वमिदं व्यवस्येत्'** यही कहा है। इस प्रकार त्रिदोषज पाण्डु में तीनों दोषों के सम्मिलित लक्षण ही पाये जाते हैं। यह अत्यन्तकष्टसाध्य एव ज्वरादि लक्षणों से युक्त होने पर विशेषतः क्षीण और हतेन्द्रिय होने पर असाध्य होता है।

---

१. कफेन पाण्डुं मनुज व्यवस्येद् युक्तं तथान्यैस्तदुपद्रवैश्च ॥ (सुश्रुतः)

२. शोफ, शोथ तथा श्वयथु पर्यायवाची शब्द होते हुए भी कुछ भिन्नार्थ हैं।

३. योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः।
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥

---

१ 'प्रकृतिसमवायारब्धत्वेन' इति ख।

मृत्तिकाजन्यपाण्डोः सम्प्राप्तिमाह—

मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥ ८ ॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद् भुक्तं च रूक्षयेत्।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्ध्यपि ॥ ९ ॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥१०॥ (च. चि. १६)

मिट्टी खाने के अभ्यस्त व्यक्ति का वात आदि में से कोई दोष प्रकुपित हो जाता है यथा—कषायरस-प्रधान मिट्टी वातको, ऊसर की (क्षारयुक्त) मिट्टी पित्त को तथा मधुररस-प्रधान मिट्टी कफ को प्रकुपित करके अपने रूक्षता गुण के कारण खाये हुए भोजन तथा रसरक्त आदि धातुओं को भी रूक्ष बना देती है और (कोष्ठाग्नि या भूताग्नि से) बिना पाचित हुए ही रसवाही आदि स्रोतों को परिपूर्ण करके उनमें अवरोध उत्पन्न कर देती है। यह इन्द्रियों की स्वविषयग्रहण की शक्ति, दीप्ति या ऊष्मा शरीर की विशिष्ट शक्ति एवं ओज[1] को नष्ट करके बल, वर्ण तथा अग्नि की हानि करने वाले पाण्डुरोग को उत्पन्न करती है ॥ ८–१० ॥

मृज्जसंप्राप्तिमाह—मृत्तिकेत्यादि। अन्यतमो मलो वातादिः। ऊषरा सक्षारा। रसादीन् रूक्षयेत्, भुक्तं च रूक्षयेदिति योज्यम्। रौक्ष्यात् प्राकृतिकोद्भूतरौक्ष्यगुणात्[1]। अविपक्वैव कोष्ठधात्वग्निभिः पाकं न गत्वैव, स्रोतांसि रसवहादीनि, पूरयति रुणद्धि च। इन्द्रियाणां बलं स्वविषयग्रहणशक्तिम्। 'तेजो दीप्तिः' इति जेज्जटः **'उष्मा' इति** चक्रः। **वीर्यं शक्तिः। 'ओजः सर्वधातुसारभूतं हृदयस्थम्' इति** पराशरः, **'पराभिभवेच्छेति'** जेज्जटः **॥८-१०॥**

विमर्श—यद्यपि मृत्तिका भी कषाय आदि भेद से विविध प्रकार की होने से वातिक आदि पाण्डु की ही उत्पत्ति करती है तथापि चिकित्साक्रम-वैशिष्ट्य के कारण इसका उल्लेख पृथक् किया गया है। इसकी चिकित्सा में मिट्टी खाने का परित्याग कराना अनिवार्य है, केवल वातिक आदि के सामान्य उपचार से इसमें लाभ की आशा नहीं होती। इसका पाचन तो होता ही नहीं यह दूसरे भुक्त पदार्थों का भी पाचन एवं शोषण नहीं होने देती, जिसके कारण रस का निर्माण तथा उसके आश्रित धातुओं का पोषण भी नहीं होने पाता। धातुओं का पोषण न होने से इन्द्रियशक्ति, शरीरशक्ति तथा ओज का भी क्रमशः ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है।

मृज्जस्य पाण्डोर्लक्षणमवतारयति—

शूनाक्षिकूटगण्डभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः।

---

१. हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत् सपीतकम्। ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ॥ (चरकः)
ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्। हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्।
स्निग्धं सोमात्मकं शुद्धमीषल्लोहितपीतकम् ॥ यन्नाशे नियतं नाशो यस्मिंस्तिष्ठति तिष्ठति।
निष्पद्यन्ते यतो भावा विविधा देहसंश्रयाः ॥ (वाग्भटः)
तथा च—रसादिशुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत्खल्वोजस्तदेव च बलमित्युच्यते। (सुश्रुतः)
आधुनिक कतिपय विद्वान् ओज से 'अल्ब्यूमिन्' और ओजःक्षय से शुक्लिमेह (Albuminuria) का ग्रहण करते हैं। इसका विशेष विचार आगे 'मूर्च्छानिदान' (पृ० ३४७) में किया जायगा।

१. 'प्रोद्भूतेरौक्ष्यगुणात्' इति ख।

क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक्कफान्वितम् ॥ ११ ॥

(च. चि. स्था. अ. १६)

मृत्तिकाजन्य पाण्डुरोग में अक्षिकूट, कपोल, भौं, पैर, नाभि तथा मूत्रेन्द्रिय में सूजन आ जाती है। उदर मे क्रिमि हो जाते हैं एवं रोगी रक्त और कफ से मिश्रित मल का त्याग अधिक बार करता है ॥

मृज्जस्य लक्षणमाह—शूनेत्यादि । 'सर्वपाण्डुरोगेषु क्रिमिकोष्ठता यदा स्यात्तदैतल्लक्षणम्' इति जेज्जटः, **मृत्तिकाजानन्तरपठितत्वेन तस्यैव लक्षणमित्यन्ये ।** विदेहे **तु पठ्यते,-'मृद्भक्षणाद्भवेत् पाण्डुस्तन्द्रालस्यनिपीडितः । सश्वासकासशोषार्शःसादारुचिसमन्वितः ॥ शूनपादाननकरः कृशाङ्गः कृशपावकः' इति ॥ ११ ॥**

विमर्श—जेज्जट का कथन है कि सभी पाण्डुरोगों में जब भी क्रिमिकोष्ठता होगी तभी उक्त लक्षण भी होंगे । इस प्रकार उसे क्रिमिज पाण्डु का लक्षण कह सकते हैं । कुछ विद्वानों का कथन है कि यह मृत्तिकाजन्य का ही लक्षण हैं क्रिमिज का नहीं । वस्तुतः क्रिमि से पाण्डु रोग की उत्पत्ति होती हैं यह बात क्रिमि के लक्षणों से (पृ० १९८) स्पष्ट हो चुकी है, और मृत्तिका-भक्षण से क्रिमियों का उपसर्ग होना बहुत सम्भव है अतः मृत्तिकाजन्य पाण्डु से क्रिमिज पाण्डु का ही ग्रहण किया जाय तो अनुचित न होगा । यह ठीक है कि चिकित्साक्रम में मृत्तिका का परित्याग भी अवश्य कराना पडेगा । किन्तु यह क्रिमियों के पुनरुपसर्ग को रोकने का एक प्रकार भी तो है। वाग्भट ने तो इसका लक्षण करते हुए स्पष्ट कहा है—**'पुरीषं कृमिमन्मुञ्चेद्भिन्नं सासृक्कफान्वितम्'** विदेह ने तो कहा है कि—मृत्तिकाजन्य पाण्डु मे तन्द्रा, आलस्य, श्वास, कास, शोष, अर्श, अङ्गशैथिल्य, अरुचि, मुख और पैरों पर सूजन, कृशता तथा अग्निमान्द्य ये लक्षण होते हैं । (मूलपाठ मधुकोश में देखें) । गण्डूपदक्रिमि (Round worm) जब फुफ्फुस में अवस्थान करता है तो कास तथा तमक श्वास (Asthma) और श्वसनिकाशोथ (Bronchitis) तक उत्पन्न कर सकता है। इसी क्रिमि से अरुचि तथा कभी कभी अतिसार की भी उत्पत्ति होती है । अंकुश क्रिमि से रक्तक्षय तथा परम्परतया पैरों आदि में शोफ भी उत्पन्न होता है ।

पाण्डुरोगस्यासाध्यलक्षणान्याह—

पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति ।
कालप्रकर्षाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति ॥ १२ ॥
बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते ।
दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृडर्दितः ॥ १३ ॥
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात् । (च. चि. १६)

बहुत पुराना पाण्डुरोग समय अधिक बीत जाने पर ठीक नहीं होता । अथवा बहुत पुराना पाण्डु रोग सब धातुओं के अत्यधिक रूक्ष हो जाने से चिकित्सा के योग्य नहीं रहता । इसके अतिरिक्त (अधिक पुराना न होने पर भी) उस शोथयुक्त रोगी का भी पाण्डुरोग असाध्य होता है जो सब वस्तुओं को पीला ही देखता है । कफयुक्त होते हुए भी जिसका मल हरा, बंधा हुआ तथा अत्यल्प मात्रा मे होता है उसे भी असाध्य ही समझना चाहिये । जो मनुष्य हर्षरहित तथा वमन, मूर्च्छा और प्यास से बेचैन हो, और जिसका शरीर श्वेत वर्ण से लिप्त प्रतीत हो वह भी असाध्य ही है । इसके अतिरिक्त अत्यधिक रक्तक्षय के कारण जिस पाण्डु रोगी का वर्ण पाण्डुमात्र न रह कर श्वेत हो गया हो उसे भी असाध्य ही समझें ॥ १२-१३ ॥

---

१ 'च्छूनाक्षो' इति ग ।

अपरमसाध्यलक्षणमाह—

पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत्।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥१४॥ (सु. सू. ३३)

जिसके दाँत, नाखून तथा नेत्र पाण्डुवर्ण के हो गये हैं तथा जो रोगी सम्पूर्ण वस्तुओं को पाण्डु वर्ण का ही देखता है वह असाध्य ही है ॥ १४ ॥

अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यं म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम्।
गुदे च शेफस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम्।
विवर्जयेत्पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथाऽतिसारज्वरपीडितं च ॥ १५ ॥ (सु. उ. तं. ४४)

जिस रोगी के हाथ, पैर और सिर सूजे हों, मध्य भाग क्षीण हो उसे असाध्य जानें। इसके विपरीत जिसका मध्यभाग सूजनयुक्त हो और सिर, हाथ तथा पैर में सूजन न हो उसे भी असाध्य ही समझना चाहिये। गुदा, लिङ्ग तथा अण्डकोषों में सूजन हो गई हो तथा रोगी अत्यन्त दुःखी एवं मृतप्राय सा प्रतीत हो तो उसकी असाध्य समझकर चिकित्सा न करनी चाहिये। तीव्र अतिसार और ज्वर का उपद्रव भी पाण्डु रोगी की असाध्यता का निदर्शक है ॥ १५ ॥

असाध्यलक्षणमाह—पाण्डुरोग इत्यादि। पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः कालप्रकर्षात् खरीभूतो जरठतां गतो न सिध्यति, अचिरोत्पन्नोऽपि शूनानां मध्ये यो वा पीतानि पश्यति स पाण्डुरोगी न सिध्यतीत्यपरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटस्य योजना। [3]चक्रस्त्वाह,–'चिरोत्पन्नः खरीभूतोऽत्यर्थरूक्षितसर्वधातुर्न सिध्यति, तथा कालप्रकर्षादित्यादिनाऽपरमसाध्यलक्षणम्' इति। अत्र शूनानां शोथवतां मध्ये यो वा पीतानि पश्यति स न सिध्यतीति। 'शूनो ना' इति पाठान्तरे ना पुरुषः। 'शूनाङ्गो यो वा पीतानि पश्यति' इति पाठान्तरं सुगमम्। अपरमसाध्यलक्षणमाह—बद्धेत्यादि। अत्र सकफत्वेऽपि बद्धत्वाल्पत्वहरितत्वानि व्याधिप्रभावात्, बद्धाल्पस्थाने बहुलमिति पाठान्तरम्। विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्तीत्येतन्निर्देशादेवोन्नेयमित्याहुः। अपरमसाध्यलक्षणमाह—दीन इत्यादि। दीनः ग्लानः। श्वेतातिदिग्धाङ्ग इति श्वेतवर्णलिप्ताङ्ग इवेत्यर्थः। स नास्ति नष्ट इव असाध्य इत्यर्थः। अपरमाह–असृगित्यादि। अपरमसाध्यलक्षणमाह–पाण्डुदन्तेत्यादि। पाण्डुसंघातदर्शी नयनरश्मिसहचरितं बहिर्निर्गतं पित्तं संपिण्डितं पश्यति। अपरमसाध्यलक्षणमाह–अन्तेष्वित्यादि। अन्तेषु बाहुजङ्घाशिरःसु, शूनं शोथयुक्तम्। परिहीणमध्यं दुर्बलमध्यदेहम्। एतद्वैपरीत्येनापरमसाध्यलक्षणमाह—म्लानमित्यादि। म्लानं दुर्बलम्। असंज्ञकल्पं मृतप्रायम्। एवंविधं पाण्डकिनं पाण्डुरोगिणं यशोऽर्थी वैद्यो विवर्जयेदिति। अत्र सौश्रुतश्लोके 'पाण्डुकिनम्' इत्यत्र [2]'पालकिनम्' इति पाठान्तरं, युक्तं चैतत्, एवं हि पठ्यमाने पाण्डुरोगावस्थाविशेषस्य पालकिनो लक्षणमपि कृतं स्यात्। उक्तं हि सुश्रुते 'सकामलापालकिपाण्डुरोगः कुम्भाह्वयो लाघवकोऽलसाख्यः' (सु. उ. अ. ४४) इति। अनेनैवाभिप्रायेण कश्चिदभियुक्तो लिखितवान्, 'अन्ते शूनः कृशो मध्येऽन्यथा च गुदशेफसि। शूनो ज्वरातिसारार्तो मृतकल्पस्तु पालकी' इति ॥ १२–१५ ॥

विमर्श—पाण्डु रोगी की पाण्डुता का श्वेतता में परिवर्तित होना अत्यधिक रक्ताल्पता का द्योतक है, अत एव उसे असाध्य कहा है। सर्वत्र पाण्डुता का दर्शन करना भी पाण्डु रोग की अत्यधिकता का ही ज्ञापक है।

१. 'चक्रस्त्वन्यथाह' इति ख। २ 'पालकिन' क 'पाकलिन' इति ख। ३. 'पाण्डुरकः' इति ख।

'पाण्डुकिनम्' के स्थान पर 'पालकिनम्' यह भी पाठान्तर मिलता है। यह ठीक भी है; क्योंकि इससे पाण्डु रोग की अवस्थाविशेष 'पालकी' नामक रोग का लक्षण भी हो जाता है। सुश्रुत ने कहा है कि इस पाण्डु रोग को कामला, पालकी, कुम्भकामला, लाघवक तथा अलसक भी कहते है। अत्यधिक रक्ताल्पता के कारण शरीर को लघु या कृश बनाने वाले उस रोग को लाघवक[1] कहते हैं। कतिपय विद्वान् लाघवक या पालकी रोग से कालाजार का भी ग्रहण करते हैं, क्योंकि उसमें भी ज्वर के साथ २ शोथ और पाण्डु भी उपद्रव रूप में रहते हैं।

सम्प्रति कामला वर्ण्यते—

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते॥ १६॥
हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो[1] भेकवर्णो हतेन्द्रियः॥ १७॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता॥ १८॥ (च. चि. १६)

जो पाण्डुरोगी अत्यधिक पित्तवधक पदार्थों का सेवन करता है उसका पित्त और अधिक दूषित हो जाता है एवं रक्त और मांस को भी अत्यधिक दूषित (रंजित) करके कामला रोग की उत्पत्ति कर देता है। इसके नेत्र, त्वचा मुख एव नाखून हरिद्रा के सदृश वर्णवाले हो जाते हैं। मल और मूत्र रक्तमिश्रित पीतवर्ण के दिखायी देते है। रोगी का वर्ण बरसाती मेढक के समान हो जाता है तथा उसकी इन्द्रिया अपने विषयों के ग्रहण करने मे असमर्थ हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त रोगी दाह, अपच, दुर्बलता, शरीरशैथिल्य तथा अरुचि से विशेष पीडित रहता है। यह कामला पित्ताधिक्यजनित तथा कोष्ठ एव शाखा दोनों मे आश्रित होती हैं॥ १६-१८॥

पाण्डुरोगावस्थायां कामलामाह-पाण्डुरोगीत्यादि। दग्ध्वा संदूष्य। रोगाय कामलारूपाय। भेकवर्णः प्रावृषेण्यभेकवर्णः। कोष्ठशाखाश्रयेति एका कोष्ठाश्रया, अपरा शाखाश्रया शाखा रक्तादयो धातवः त्वक् च। स्वतन्त्राऽपि कामला भवति, यथा राजयक्ष्मा स्वतन्त्र उपेक्षितेष्वपि कासेषु भवतीत्याहुः॥ १६-१८॥

विमर्शः—चरक पाण्डुरोग की प्रवर्धमानावस्था को ही कामला मानते है। हारीत ने भी कामला तथा हलीमक को पाण्डु का ही एक रूप मानकर पाण्डु को आठ प्रकार का कहा है—

वातेन पित्तेन कफेन चैव त्रिदोषमृद्भक्षणसम्भवे च।
द्वे कामले चैव हलीमकश्च स्मृतोऽष्टधैवं खलु पाण्डुरोगः॥

अर्थात् वातिक, पैत्तिक, कफज, त्रिदोषज, मृत्तिकाजन्य, दो कामला (कोष्ठाश्रया, शाखाश्रया) तथा हलीमक भेद से पाण्डु आठ प्रकार का है। सुश्रुत कामला को पाण्डु के अतिरिक्त अन्य रोगों का भी उपद्रव मानते है जैसा कि कहा भी है—

यो ह्यामयान्ते सहसाऽन्नमम्लमद्यादपथ्यानि च तस्य पित्तम्।
करोति पाण्डुं वदनं विशेषात् पूर्वेरितौ तन्द्रिबलक्षयौ च॥

क्योंकि डल्हणाचार्य **'आमयान्ते'** की व्याख्या **'आमयान्ते पाण्डुरोगान्ते अन्यरोगान्ते च'** पाण्डुरोग के अन्त मे या अन्य रोगों के अन्त में भी कामला होती हैं, ऐसा करते है। वाग्भट

१. लाघरक भी पाठ मिलता है।

१. 'नेत्रो' इति ग।

ने तो **'भवेत् पित्तोल्बणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च'** इस वाक्य के द्वारा पाण्डुरोग के अतिरिक्त कामला को स्वतन्त्र रूप से भी उत्पन्न होने वाला रोग स्वीकार किया है। उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार प्रमेह पिडिका-प्रमेह के उपद्रव स्वरूप तथा स्वतन्त्र रूप में भी उत्पन्न होती है[1] वैसे ही कामला भी पाण्डुरोग के पश्चात् तथा स्वतन्त्र रूप में भी उत्पन्न होती है।

कामला शुद्ध पैत्तिक रोग है अत एव इसमें पित्तविरुद्ध चिकित्सा का उपक्रम किया जाता है। यह तीन प्रकार की होती है—१. कोष्ठाश्रित २. शाखाश्रित ३. उभयाश्रित। कोष्ठ से महास्रोत का ग्रहण करना चाहिये। रक्त आदि धातु तथा त्वचा अर्थात् त्वचा और उसके सम्पर्क में रहने वाले रक्तादि धातु की पारिभाषिक संज्ञा ही शाखा है[2]। इसी को बाह्यरोगमार्ग भी कहते हैं।

किसी भी कारण से रक्त में पित्तरंजक द्रव्यों (Bile pigments) की उपस्थिति होने से कामला की उत्पत्ति होती है। इसके कारण सर्वप्रथम नेत्रकला तथा त्वचा में पीलापन दृष्टिगोचर होता है। शाखा से विशेषतः रस-रक्त तथा त्वचा का ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि कामला की अनुभूति इन्हीं के द्वारा होती है। पित्तवर्धक पदार्थों के सेवन से प्रवृद्ध पित्त अपने प्राकृतिक आशय में न आकर शाखागत हो जाता है एवं मार्ग के कफ से आवृत होने के कारण वह पुनः कोष्ठ में नहीं आता। इस प्रकार शाखाश्रित कामला में पित्त कफ से आवृत रहता है। इसके पाचन तथा निर्हरण के लिये पुरीष में पित्त का रंग आने पर्यन्त कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, लवण और अम्ल पदार्थों का सेवन करने के लिये चरक ने उपदेश किया—**'आपित्तरागाच्छकृतो वायोश्चाप्रशमात्'**। कामला की चिकित्सा में इसको कोष्ठ में लाने के लिये मृदु एवं तिक्त विरेचन पदार्थों का सेवन बताया है[3]। इससे प्रवृद्धशाखाश्रित पित्त अपने प्राकृत आशय में आ जाता है; चरक ने कहा भी है—

वृद्ध्या विष्यन्दनात् पाकात् स्रोतोमुखविशोधनात्।
शाखां मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यान्ति वायोश्च निग्रहात्॥

सामान्यतः पित्त के कोष्ठ और शाखा दोनों में रहने से उभयाश्रित कामला ही होती है। इसके लिये कुछ आचार्यों का मत है कि यह पाण्डुरोग के पश्चात् ही यह होती है। केवल शाखाश्रित या केवल कोष्ठाश्रित कामला स्वतन्त्र भी हो सकती है। केवल कोष्ठाश्रित प्रायः नहीं मिलती क्योंकि उसके लक्षण आदि पित्तातिसार, अम्लपित्त, पित्तछर्दि आदि के समान ही होने से उन्हीं में उसका समावेश हो जाता है। जब कभी कामला के लक्षण स्पष्ट होते हैं तो शाखा में भी प्रतीत होते हैं। सम्भवतः प्राचीन आचार्यों ने इसी लिये दो भेद ही लिखे हैं—१. उभयाश्रित, २. शाखाश्रित। किन्तु टीकाकारों ने कोष्ठाश्रित और शाखाश्रित दो भेद लिखे हैं वह उचित नहीं प्रतीत होता। अर्वाचीन शास्त्रों में कारण की दृष्टि से कामला के तीन भेद किये जाते हैं जो निम्न हैं—

१. **शोणांशनजन्य कामला** (Haemolytic)—यह रक्तकणों के अत्यधिक विनाश के कारण होती है। अपित्तमेहिक कामला (Achluric Jaundice) में रक्तकण अत्यन्त भिदुर (Fragile) होते हैं। इनके टूटने से मुक्त शोणवर्तुलि (Haemoglobine) से पित्तरक्ति (Bilirubin) भी अधिक मात्रा में बनती है। रक्तप्रवाह में इसकी उपस्थिति से जो कामला होती है उसे शोणांशनजन्य (Haemolytic) कामला कहते हैं। इसके अतिरिक्त मलेरिया, कालमेह ज्वर (Black water fever) के जीवाणुज विष के कारण लाल कणों के नाश से उत्पन्न कामला को भी शोणांशनजन्य कामला कहा जाता है। लालकणों के विनाश से पाण्डु तथा अपथ्य सेवन

---

१. विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः। २. शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक् च। (चरकः)

३. बर्हितित्तिरदक्षाणां रूक्षाम्लैः कटुकै रसैः। शुष्कमूलककौलत्थैर्यूषैश्चान्नानि भोजयेत्॥
मातुलुङ्गरसं क्षौद्रपिप्पलीमरिचान्वितम्। सनागरं पिबेत् पित्तं तथाऽस्यैति स्वमाशयम्॥

से और अधिक विनाश होने से कामला की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह कामला स्वतन्त्र न होकर प्रवृद्ध पाण्डु की एक अवस्थाविशेष भी कही जा सकती है।

२. यकृतीय कामला (Hepatic Jaundice)—यह कामला यकृत के रोगों के कारण होती है। यकृत की रुग्ण कोषायें पित्तरञ्जक पदार्थ को पित्तवाहिनी की सूक्ष्म नलिकाओं में नहीं पहुँचा पाती। परिणामस्वरूप वह पित्त यकृतीय सिरा (Hepatic vein) के द्वारा रक्त-प्रवाह में पहुँच कर कामला को उत्पन्न करता है। कुछ विशिष्ट विषों के कारण ही यकृत की कोषाओं को हानि पहुँचती है अतः इसे कोई विषमयताजन्य (Toxic) या औपसर्गिक (Infective) कामला भी कहते हैं। इस कामला में पहिले से पाण्डु का सम्बन्ध नहीं रहता अतः **'भवेत् पित्तोल्वणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च'**। वाग्भट के इस वाक्य के अनुसार इसे स्वतन्त्र कामला भी कह सकते हैं।

३. अवरोधजन्य कामला (Obstructive Jaundice)—साधारणतया यकृतीय कोषाओं के द्वारा निर्मित पित्त का पित्तनलिका के द्वारा आन्त्र में उत्सर्ग होता है। किसी कारण से इसमें अवरोध उत्पन्न हो जाने पर पित्त यकृत में ही संचित होने लगता है एवं अन्ततो गत्वा यकृतीय रक्तवाहिनियों द्वारा पुनः शोषित होकर रक्त में चला जाता है। जिससे आंखों आदि में इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह अवरोध कई प्रकार से हो सकता है। पित्ताश्मरी तथा कदाचित् गण्डूपदकृमि (Round worm) का गुच्छ पित्तनलिका के मार्ग को बन्द कर देता है। इसके अतिरिक्त पित्तनलिका में यह कादाचित्क जन्मजात विकृति पायी जाती है। शल्यक्रिया के कारण उसमें उपसंकोच (Stricture) होने से भी अवरोध की प्रवृत्ति हो सकती है। पित्तवर्धक पदार्थों के अत्यधिक सेवन से क्षुभित पित्तनलिका में शोथ होने से भी पित्त का मार्ग रुक जाने से कामला होती है। किसी अर्बुद से दबाव पडने पर भी पित्तनलिका में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार कामला के इन तीनों ही प्रकारों का वर्णन विकीर्ण रूप से आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है। 'पाण्डुरोगी तु' आदि से लेकर 'कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता' तक के पाठ से वर्णित कामला रक्तनाशजन्य अथवा पाण्डु रोग के उपद्रव रूप में ही उत्पन्न होती है यह 'पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थम्' आदि सम्प्राप्ति से ही स्पष्ट है। आगे यह भी स्पष्ट किया है कि यह कामला कोष्ठ और शाखा दोनों ही में आश्रित होती है। 'कामला बहु-पित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता'। इससे यह भी प्रकट होता है कि इसके अतिरिक्त दूसरी भी कामला केवल शाखाश्रित या केवल कोष्ठाश्रित होती है। केवल शाखाश्रित का वर्णन जिसका साम्य अर्वाचीन अवरोधजन्य कामला से सुस्पष्ट होता है चरकने इस प्रकार किया है—

तिलपिष्टनिभं यस्तु वर्चः सृजति कामली। श्लेष्मणा रुद्धमार्गं तं कफपित्तहरैर्जयेत्॥
(च. चि. १६)

इसमें मल का रंग कोष्ठ में पित्त के अभाव के कारण और वसा का पाचन न होने से मिट्टी (Clay) जैसा होता है। तीसरे प्रकार (Toxic) का भी उल्लेख स्वतन्त्र पित्तवृद्धिजन्य कामला के रूप में 'भवेत्पित्तोल्वणस्यासौ पाण्डुरोगादृतेऽपि च' आदि वचनों द्वारा मिलता ही है।

कामला की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम आँखों की कला में होती है और इसके पश्चात् मुख, गर्दन, शाखाओं तथा सर्वशरीर की त्वचा में। इस रोग में नासिका तथा मसूडों से रक्तस्राव की प्रवृत्ति भी पायी जाती है। अत एव इसमें जीवतिक्ति के (K.) का प्रयोग कराया जाता है। कामला या पाण्डु-नाशक आयुर्वेदीय योगों में भी आँवले का प्रयोग जीवतिक्ति सी (Vitamin C) के कारण भी किया जाता है: क्योंकि यह भी रक्तस्राव की प्रवृत्ति को रोकने में सहायक होता है।

कामलाया अवस्थान्तरं कुम्भकामलामाह—

कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला। (च. चि. १६)

समय अधिक व्यतीत हो जाने के कारण पुरानी या समस्त धातुओं की रूक्षता से युक्त कुम्भकामला (कोष्ठगत कामला ?) कृच्छ्रसाध्य होती है ॥ १९ ॥

तस्या अवस्थान्तरं कुम्भकामलामाह—कालान्तरादित्यादि । खरीभूतेति पूर्ववद् व्याख्येयम्। कृच्छ्रा च कृच्छ्रसाध्या। कुम्भः कोष्ठः, अन्तःशुषिरसाधर्म्यात्; तद्गता कामला कुम्भकामला कोष्ठाश्रयेत्यर्थः ॥ १९ ॥

विमर्श—वाग्भट ने कहा है—'उपेक्षया च शोफाढ्या सा कृच्छ्रा कुम्भकामला'। सुश्रुत ने भी इसमें शोफ लक्षण माना है—

'भेदस्तु तस्याः खलु कुम्भसाह्वः शोथो महांस्तत्र च पर्वभेदः।

कामलाया असाध्यलक्षणमाह—

कृष्णपीतशकृन्मूत्रो[1] भृशं शूनश्च मानवः ॥ १९ ॥
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति।
दाहारुचितृडानाहतन्द्रामोहसमन्वितः ॥ २० ॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान्विपद्यते। (च. चि. १६)

जिस रोगी के मल और मूत्र कृष्ण व पीत वर्ण के हों तथा जिसको शोथ हो गया हो, अथवा जिसके नेत्र, मुख, वमन, मल तथा मूत्र रक्तवर्ण के हो जायें, जिसे मूर्च्छा आती हो तथा जो दाह, अरुचि, प्यास, आनाह, तन्द्रा तथा मोह से पीडित हो, जिसकी अग्नि तथा चेतना नष्टप्राय हो ऐसा कामला का रोगी असाध्य होता है ॥ २०-२१ ॥

कामलाया असाध्यलक्षणमाह—कृष्णेत्यादि। कृष्णेत्यादिना ताम्यतीत्यन्तेनैकमसाध्यलक्षणम्। ताम्यति मुह्यति। दाहेत्यादिना विपद्यत इत्यन्तेनापरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटः ॥

कुम्भकामलिनोऽसाध्यतां प्रतिपादयति—

छर्द्यरोचकहृल्लासज्वरक्लमनिपीडितः ॥ २१ ॥
नश्यति श्वासकासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली।

कुम्भकामला (कोष्ठाश्रित कामला) से पीडित जो रोगी वमन, अरुचि, मिचली, ज्वर, क्लम तथा श्वास, कास एवं अतिसार से पीडित होता है उसे असाध्य समझना चाहिये ॥ २१ ॥

कुम्भकामलिनोऽसाध्यलक्षणमाह—छर्दीत्यादि ॥ २१ ॥

विमर्श—यह सब असाध्यता के लक्षण रक्त में पित्त की अत्यधिक मात्रा हो जाने पर उत्पन्न होते हैं एवं इस अवस्था को अर्वाचीन विद्वानों ने पित्तमयता (Cholaemia) संज्ञा दी है।

हलीमकं वर्णयति—

यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः ॥ २२ ॥
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः।
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः ॥ २३ ॥
(च. चि. १६)

जब पाण्डु रोगी का रंग हरा या नील-पीत हो जाये, बल और उत्साह का नाश हो जाये, तन्द्रा, मन्दाग्निता तथा हलका-हलका ज्वर रहे, स्त्रीरमण की इच्छा का लोप एवं अंगमर्द हो जाये,

१. 'नेत्रो' इति ग।

दाह, प्यास, अरुचि तथा भ्रम ये लक्षण अनुभूत हों तो इसे हलीमक रोग समझना चाहिये। यह वायु और पित्त की विशेषता से होता है ॥ २२-२३ ॥

(सन्तापो भिन्नवर्चस्त्वं बहिरन्तश्च पीतता।
पाण्डुता नेत्रयोर्यस्य पानकीलक्षणं भवेत् ॥)[1]

(सन्ताप, पतला मल निकलना, बाहर-भीतर पीलिमा, किन्तु नेत्रों में पाण्डुता ये लक्षण जिसे हों, उसे 'पानकी' रोग हुआ समझना चाहिये।

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामलाहलीमक-निदानं समाप्तम् ॥ ८ ॥

पाण्डुरोगावस्थायां हलीमकमाह-यदेत्यादि। यदा तु पाण्डोः पाण्डुरोगिणः हरितादि-वर्णयुक्तस्यैते उपद्रवा भवन्ति तदा तस्य वातपित्तकोपजं हलीमकं जानीयात्। हरितः शाकवर्णः। श्यावो नीलवर्णः। बलोत्साहक्षयो बलोत्साहयोः क्षीणता। स्त्रीष्वहर्षकं स्त्रीरिरंसाया अभावः। अङ्गमर्दो अङ्गमोटनम्। लाघवकालसकादीनां पाण्डुरोगावस्थाविशेषाणां लक्षणं सुश्रुतादिष्वनुस्मर्तव्यमिति ॥ २२-२३ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामला-हलीमकनिदानं समाप्तम् ॥ ८ ॥

विमर्शः—हलीमक को अवरोधजन्य पुराण कामला (Chronic obstructive jaundice) भी कह सकते हैं; क्योंकि इस अवस्था में भी रोगी का वर्ण गहरा हरा या श्याव पीत हो जाता है। सुश्रुत ने इसे लाघवक एवं अलस नाम भी दिया है—

ज्वराङ्गमर्दभ्रमदाहतन्द्राक्षयान्वितो लाघवकोऽलसश्च[2]।
तं वातपित्ताद्धरिपीतनीलं हलीमकं केचिदुदाहरन्ति ॥

वाग्भट मे इसे लोढर नाम से भी कहा है—

हरितश्यावपीतत्वं पाण्डुरोगे यदा भवेत्। वातपित्ताद् भ्रमस्तृष्णा स्त्रीष्वहर्षो मृदुर्ज्वरः।
तन्द्राबलानलभ्रंशो लोढरं तं हलीमकम्। अलसं चेति शंसन्ति.....................॥

हलीमक को आधुनिक Chlorosis नामक रक्त का रोग भी कई विद्वानों ने माना है। इसी प्रकार रक्त के अन्य रोगों (Leukaemia etc,) का भी समावेश विभिन्न दोषानुसार पाण्डु के भेदों में ही हो जाता है।

इति कामलाहलीमकनिदानं समाप्तम्।

अथ रक्तपित्तनिदानम्

रक्तपित्तस्य निदानं सम्प्राप्तिं च निरूपयति—

घर्मव्यायामशोकाध्वव्यवायैरतिसेवितैः।
तीक्ष्णोष्णक्षारलवणैरम्लैः कटुभिरेव च ॥ १ ॥
पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम्।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥ २ ॥ (सु० उ० ४५)

१. क-सम्मतः पाठः। २. लाघरकेति पाठान्तरम्।

ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ॥ ३ ॥

आतप, व्यायाम, शोक, पैदल यात्रा तथा मैथुन अधिक करने से एवं तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार, लवण, अम्ल तथा चरपरे पदार्थों के अत्यधिक सेवन करने से प्रकुपित पित्त अपने ही गुणों[1] (तीक्ष्ण, द्रव, पूति, नील, पीत, उष्ण, कटु तथा अम्लरस) से रक्त को भी दूषित कर देता है। इससे रक्त ऊर्ध्व मार्ग या अधोमार्ग तथा कभी कभी दोनों मार्गों से भी निकलने लगता है। नाक, आँख, कान तथा मुख ये ऊर्ध्व मार्ग है। मूत्रेन्द्रिय, योनि तथा गुदा ये रक्तस्राव के नीचे के मार्ग हैं। कभी-कभी यह अत्यन्त प्रकुपित होकर शरीर के समस्त रोमकूपों से भी निकलने लगता है ॥ १-३ ॥

पाण्डुरोगवद्रक्तपित्तस्यापि पित्तजन्यत्वात्तदनन्तरं रक्तपित्तनिदानमाह-घर्मेत्यादि। घर्म आतपः, तीक्ष्णं तीक्ष्णवीर्यं मरिचादि, उष्णोऽग्नितापः, क्षारो यवक्षारादिः, घण्टापाटल्यादिकृतश्च, विदग्धं कुपितम्। स्वगुणैरिति 'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति' इत्यादिभिः, विदहति कोपयति स्वगुणैरेव, विदाहश्चास्य पित्तवत्' (सु. सू. २१) इत्युक्तेः। ततः प्रवर्तते निःसरति, पित्तं रक्तं च धातुरूपं, नतु केवलं रक्तं, रक्तपित्तमिति व्यपदेशानुपपत्तेः। अथ पित्तेन दुष्टं रक्त रक्तपित्तमित्युच्यते, तदा पित्तरक्तमिति व्यपदेशः प्रसज्येत, एतेन 'रक्तं च पित्तं चेति द्वन्द्वसमासान्निरुक्तिरुक्ता' सुश्रुतेन। ननु, चरके-'रागपरिप्राप्तं पित्तं रक्तपित्तम्' इत्युक्तं, तेन रक्तं च तत् पित्तं चेति कर्मधारयसमासेन निरुक्तिरुक्ता। अत्र च कारणत्रयमुक्तम्। यदाह-'संयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्धवर्णयोः। रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभि[1]:' (च. चि. ४) इति, तत्कथं न विरोधः ? नैवम्, अत्रापि रक्तप्रवृत्तेः, दुष्टं हि रक्तं पित्ते रागमादधत्तत्संसर्गि रक्तं स्वयमपि प्रवर्तत इति पूर्व एवार्थः। तेन रक्तं च पित्तं चेति रक्तपित्तं, रक्तं च तत् पित्तं चेत्युभयथाऽपि निरुक्तावदोषः ॥ १-३ ॥

विमर्शः—रक्तपित्त की उत्पत्ति के विषय में चरक का कथन है कि उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, लवण, कटु, आतप, विदाही, अन्न तथा निदानस्थानोक्त अन्य रक्त एवं पित्तवर्धक पदार्थों से प्रकुपित पित्त अधिक मात्रा में उपस्थित रक्त के साथ मिलता है, एवं **'असृजः पित्तम्'** इस कथन के अनुसार रक्त का मल होने से उसके संसर्गसे अधिक बढ़कर प्रवृद्ध रक्त को भी पुनः अधिक दूषित करता है। इस प्रकार पित्त की ऊष्मा से स्विन्न हुई मांस आदि धातुओं से द्रव धातु का क्षरण होता है एव इस द्रव के संयोग से रक्त और तत्समानजातीय पित्त की भी वृद्धि होती है[2]। इस प्रकार दुष्ट पित्त का प्रवृद्ध रक्त के साथ शरीर से बाहर निकलने को रक्तपित्त कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वोक्त आहार द्रव्यों से रक्त प्रचुर मात्रा में बनता है किन्तु वह विदग्ध होता है अतएव उससे मल रूप पित्त की भी अधिक उत्पत्ति होती है। इसकी उपस्थिति से जलीय संतुलन बनाए रखने के लिए धातुगत जलीयांश का रक्त में शोषण होने से रक्त की राशि और भी बढ़ जाती है। परिणामतः स्रोतोगत भाराधिक्य के कारण उत्पन्न तनाव एवं पित्त की अधिकता के कारण रक्तवाहिनियों की भित्ति क्षतिग्रस्त होती है और उनसे रक्त क्षरण होने लगता है। इसी पित्तमिश्रित रक्त की प्रवृत्ति को 'रक्तपित्त' कहते हैं।

हृदय एवं रक्तवाहिनियों में रक्त सदैव द्रवरूप में रहता है। बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आने पर वह जम जाता है। रक्त के ये दोनों परस्पर विपरीत गुण जीवनरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के

---

१. पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति नीलं पीतं तथैव च। उष्णं कटुरसं चैव विदग्धं चाम्लमेव च ॥ (सुश्रुतः)

२. तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च। घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः ॥
तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते। तद्योनित्वात् प्रपन्नं च वर्धते तत् प्रदूषयत् ॥
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते। स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति ॥(च. चि. ४)

---

१. 'च० चि० चतुर्थेऽध्याये दृश्यन्तेऽस्य पद्यस्य भावार्थबोधकानि त्रीणि पद्यानि १५-१६ १७ संख्याकानि'। २. 'रक्तपित्तप्रवृत्तेः' इति क।

हैं। रक्त तरल अवस्था में ही प्रवाहित होकर समग्र धातुओं को अहर्निश परिपुष्ट करता रहता है तथा बाह्य वातावरण के संयोग मात्र से जमने के गुण के कारण अपने विनाश को भी रोकता है। रक्त जमने का कार्य रक्तरसान्तर्गत विविध रासायनिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप सम्पन्न होता है। रक्तस्राव होने पर सर्वप्रथम रक्त में कोई दृश्य भौतिक परिवर्तन नहीं होता। प्रतिक्रियास्वरूप रक्तगत चक्रिकाओं (Blood platelets) के गलने से घनास्रसंधानि (Thromboplastin) की उत्पत्ति होती है। पूर्वघनास्रि (Prothrombin) रक्त में पूर्व से ही उपस्थित रहती है। इन दोनों के साथ चूना (जोकि बाह्यधातुओं में रहता है) का संयोग होने से घनास्रि (Thrombin) का निर्माण होता है। इसके पश्चात् रक्त जमने की वास्तविक प्रक्रिया प्रारम्भ होकर घनास्रि (Thrombin) और रक्तगत तन्त्विजन (Fibrinogen) के संयोग से तन्त्विजन तन्त्वि (Fibrin) के रूप में परिणत हो जाती है। तन्त्वि बनने पर रक्त जम जाता है। रक्त के जमने में रक्तग चक्रिकायें (Blood platelets) महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। जिन रोगों में या जिन अवस्थाओं में रक्तगत इन द्रव्यों की कमी या स्थावर-जंगमविष के कारण अथवा अन्य रोगोत्पादक जीवाणुज विषों के कारण रक्तवाहिनियों की प्राचीर दुर्बल हो जाती है उन सब में रक्तस्राव की प्रवृत्ति पायी जाती है और यह कारणों की उग्रता के तारतम्य से उग्र, उग्रतर एवं उग्रतम हो सकती है।

साधारणतया बिना किसी अभिघात सदृश बाह्य कारण के शरीरान्तर्गत कारण से उत्पन्न रक्तस्राव को रक्तपित्त कहते हैं। रक्तस्राव (Haemorreage) की प्रवृत्ति अनेक रोगों में पायी जाती है किन्तु उन सब को रक्तपित्त नहीं कहा जा सकता। अर्शसदृश जिन रोगों में जीवित या शुद्ध (पित्त से अदूषित) रक्त निकलता है उन रोगों का नामतः व्यवहार रोग नाम के पूर्व रक्त लगाने से किया जाता है। यथा—रक्तार्श, रक्तातिसार, रक्तष्ठीवन, रक्तवमन आदि। रक्तपित्त शब्द का व्यवहार वहीं किया जा सकता है जहाँ रक्त दुष्ट पित्त से दूषित होकर किसी भी मार्ग से निकलता हो। उपर्युक्त कथन चरक की निम्न परिभाषा से स्पष्ट है—

संयोगाद् दूषणात्तत्तु सामान्याद् गन्धवर्णयोः।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः॥ (च. चि. ४)

चूँकि पित्त रक्त के साथ संयुक्त रहता है तथा उसे दूषित भी करता है एवं वह उसके संसर्ग से गन्ध और वर्ण में भी समान हो जाता है (रक्तपित्तज रक्त में पित्त की पृथक् प्रतीति नहीं होती) अतः इस रोग को रक्तपित्त कहते हैं। कविराज गणनाथ सेन जी द्वारा प्रतिपादित रक्तपित्त की निरुक्ति भी युक्तियुक्त होने से नीचे दी जाती है—

'रक्तसंक्षोभणं पित्तं भूरि चेत् स्रावयेदसृक्। तर्हि तद्रक्तपित्ताख्यं रोगं प्राज्ञः प्रचक्षते।
तथा च—**विनाभिघातात् स्फुटकारणाद्वा रक्तं स्रवेद् यत् प्रचुरं कुतश्चित्।**
तद् रक्तपित्तं भिषजो वदन्ति विज्ञैस्तु वाच्यं निपुणं परीक्ष्य॥ (सि. नि.)

किसी शरीरान्तर्गत कारण से पित्तदूषित रक्त का स्राव रक्तपित्त कहा जाता है। आन्त्रिकज्वर (Typhoid) या पित्तोल्वण सन्निपातजन्य विष अथवा संखिया आदि विषों से पित्तप्रकोपणपूर्वक 'अधोगत रक्तपित्त' की उत्पत्ति होती है इसके अतिरिक्त कभी कभी जलोदर में यकृत शोथ होने पर भी यकृद्गामी रक्त का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है जिसके परिणामस्वरूप आमाशयगत सिराओं में रक्त का दबाव पड़ जाता है एवं सिराओं की भित्ति के फटने से आमाशय द्वारा ऊर्ध्व मार्ग से रक्तपित्त की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार विभिन्न पित्तप्रकोपक निदानों से प्रकुपित पित्त रक्त को दूषित कर देता है एवं क्षोभ अथवा अतिमात्र भोजन करने से रसवृद्धि पूर्वक सिरा धमनी तथा केशिकाओं की दीवारों के फटने से रक्तपित्त रोग की उत्पत्ति होती है। निलोहा (Purpura), शोणित-प्रियता (Haemophilia), रक्तार्श (Bleeding piles), रक्तप्रदर तथा नासारक्तस्राव (Epistaxis) आदि रक्तस्रावी रोग हैं। शोणितप्रियता एक आनुवं-

शिक एवं केवल पुरुषों में पाया जाने वाला रोग है । इनमें से किसी भी रोग में रक्त जब तक पित्त से दूषित न होगा तब तक उसे रक्तपित्त नहीं कह सकते ।

पित्त एव रक्त समानजातीय माने गये हैं । अत एव प्राचीन ग्रन्थों में रक्त, पित्त तथा रक्तपित्त की चिकित्सा में बहुत साम्य पाया जाता है । अन्तर केवल इतना है कि कुछ रक्तस्रावी रोगों में (जिनमें जीवित रक्त निकल रहा हो (जैसे रक्तार्श) या अत्यधिक रक्तस्राव हो रहा हो जिससे रोगी के प्राणों का भी भय हो) सद्यः स्तम्भक योगों का प्रयोग किया जाता है । इसके विपरीत जिनमें पित्त दूषित रक्त निकलना हो उनमें सद्यो रक्त-स्तम्भक योगों का प्रयोग शास्त्रविरुद्ध एवं हानिप्रद माना जाता है । इसके समर्थन में चरक ने कहा है—

अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः । तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥
(च. चि. ४)

तथा—**'नादौ संग्राह्यमुद्रिक्तं यदसृग् बलिनोऽश्नतः'** सुश्रुतः । इस प्रकार जिन रोगों में दूषित तथा अधिक रक्त निकले एवं जिनमें सद्यः स्तम्भक प्रयोगों से हानि की सम्भावना हो उन्हें रक्तपित्त कहते हैं । किन्तु जिनमें जीवित[1] या शुद्ध रक्त निकलता हो तथा जिनमें सद्यःस्तम्भन से कुछ भी हानि न होकर परिणाम में लाभ ही हो उन्हें केवल रक्तस्रावी रोग (Haemorrhagic diseases) ही समझना चाहिये रक्तपित्त नहीं । रक्तस्राव की उत्पत्ति के भी अनेक कारण हो सकते हैं अतः चिकित्सा भी कारणानुरूप ही करनी चाहिये ।

रक्तपित्त भी एक रक्तस्रावी रोग (Haemorrhagic disease) है । अतः जहाँ तक रक्तस्राव को रोकने का सम्बन्ध है यह अन्यों के समान ही है । किन्तु चिकित्सादृष्ट्या इसमें अन्यों से कुछ भिन्नता भी पायी जाती है । साधारण रक्तस्रावी रोगों में स्तम्भन ही किया जाता है किन्तु इसमें आवश्यकतानुसार शोधन, स्तम्भन एवं शमन में से किसी का भी अवलम्बन किया जा सकता है । अत एव **'प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते'** के द्वारा प्रतिमार्गहरण या शोधन का उपदेश किया गया है ।

ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैः:—

रक्तपित्त की प्रवृत्ति के प्रमुखतया ऊपर और नीचे के दो मार्ग हैं । नासा, आँख, कान और मुह ये ऊपरी प्रवृत्तिमार्ग हैं । मूत्रेन्द्रिय, योनि तथा गुद ये नीचे के मार्ग हैं । मूत्रेन्द्रिय से स्त्री-मूत्रेन्द्रिय और योनि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये । ऊर्ध्व मार्गों में नासिका और मुख मुख्य मार्ग हैं । नासागत सामान्य रक्तस्राव के लिये एपिस्टैक्सिस (Epistaxis) शब्द का व्यवहार होता है । इसके साधारणतया स्थानीय (Local) और सार्वदैहिक (General) दो प्रकार के कारण होते हैं । नासिका का आघात तथा रक्तवाहिनीगत अर्बुद आदि स्थानीय कारण माने जाते हैं । सार्वदैहिक कारणों में रक्तदाव को वृद्धि तथा कालाजार, रक्तगत रोग (Purpura, Pernicious anaemia, Scurvy, jaundice, Haemophilia etc.) मुख्य हैं । नासिका से रक्तस्राव का होना कालाजार का मुख्य उपद्रव है । इन सब में जीव या अजीव रक्त की परीक्षा द्वारा सामान्य रक्तस्राव अथवा रक्तपित्त का सापेक्ष विनिश्चय कर लेना चाहिये । एवं उसी के अनुसार चिकित्सा में भी भेद हो जायेगा । आँख और कान से रक्तपित्त की प्रवृत्ति कदाचित्क है । प्राचीन शास्त्रकारों ने रक्तपित्त को पूर्वोक्त विशिष्ट सम्प्राप्ति एवं चिकित्सा की दृष्टि से स्वतन्त्र रोग माना है किन्तु आधुनिक विद्वान् इसे अनेक रोगों में पाया जाने वाला उपद्रव कहते हैं । उर्ध्वग रक्तपित्त में मुख, नासिका, नेत्र तथा कर्ण से रक्तस्राव होता है । आमाशय तथा श्वासप्रणाली से होने वाला रक्तस्राव मुखद्वारा होता है । इनमें पहिले को जो बिना खाँसी के ही होता है रक्तवमन (Haematemesis) तथा दूसरे को जो खाँसीपूर्वक होता है रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) कहते हैं । नासिका से होने वाले

१. तेनान्नं मिश्रितं दद्याद्वायसाय शुनेऽपि वा । भुङ्क्ते तच्चेद् वदेज्जीवं न भुङ्क्ते पित्तमादिशेत् ॥
शुक्लं वा भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा । प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् पित्ते शुद्धं तु शोणिते ॥
(च. सि. अ. ६)

को एपिस्टैक्सिस (Epistexis) तथा कान से होने वाले को ओटोरेजिया (Otorrhagia) कहते हैं। अधोग रक्तपित्त में मूत्रेन्द्रिय, योनि तथा गुदा से रक्तस्राव होता है। मूत्रेन्द्रिय से होने वाले रक्तस्राव को हीमेचूरिया (Haematuria) कहते है। आर्तवकाल में योनि से होनेवाले अत्यधिक रक्तस्राव को मेनोरेजिया (Menorrhagia) तथा आर्तवातिरिक्त काल में होने वाले को मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं। अधोमार्ग से प्रवाहिका तथा रक्तार्श में होनेवाला रक्तस्राव रक्तपित्त नहीं है। रक्तार्श और रक्तपित्त का रक्तार्श निदान में तथा रक्तपित्त और रक्तातिसार का अतिसार निदान में सापेक्ष विनिश्चय हो चुका है। इसी प्रकार उन्मार्गार्तव (Vicarious menstruation) भी रक्तपित्त नहीं है, क्योंकि इनकी सम्प्राप्ति एवं चिकित्सा में भेद पाया जाता है।

समस्तै रोमकूपैश्च—रोमकूपों के द्वारा त्वचा से बाहर रक्तस्राव नहीं पाया जाता। नीलोहा (Purpura) में त्वचा के नीचे रक्तस्राव होता है जिससे त्वचा में लाल धब्बे बाहर से दिखाई देते हैं। किन्तु यह त्वचा से बाहर नहीं आता। इस रोग में श्लेष्मलकला तथा नासिका आदि से भी रक्तस्राव की प्रवृत्ति होती है।

रक्तपित्तस्य पूर्वरूपं विविनक्ति—

सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं[१] वमिः।
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति ॥४॥ (सु. उ. ४५)

अंगसाद, शीतल पदार्थों के सेवन की इच्छा, कण्ठ से धूमनिर्गमन की प्रतीति, वमन तथा श्वास में लोह या रक्त जैसे गन्ध का आना रक्तपित्त का पूर्वरूप है ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमाह—सदनमित्यादि। कण्ठधूमायनं कण्ठाद् धूमनिर्गमनम् इव प्रतीतिः ॥ ४ ॥

विमर्श—चूँकि यह पित्तजन्य रोग है अतः पित्तविरुद्ध शीतल पदार्थों के सेवन की इच्छा उत्पन्न होती है। कुछ लोग लोहगन्धि का अर्थ करते हैं—लोहे के वर्तन में यदि दो-तीन दिन पानी पड़ा रहे तो उस किट्टयुक्त पानी की जो गन्ध होती है वैसी ही इसकी भी होती है। अतः इसे लोहगन्धि कहते हैं। कुछ विद्वान् अग्नि में पिघले हुए लोहे की गन्ध के समान इस गन्ध को मानते हैं। यह रक्तपित्त का विशिष्ट पूर्वरूप है। कविराज गणनाथसेनजी ने तो इसके साथ मुख में मछली के सदृश गन्ध की प्रतीति का भी वर्णन किया है[1]। वस्तुतः लौह ही रक्तगत शोणवर्तुलि (Haemoglobin) का घटक है अतः रक्तपित्त में उसकी गन्ध आना भी स्वाभाविक है। अतएव रक्त का दूसरा नाम लोहित (**लोहेन युक्तं लोहितम्**) अन्वर्थ माना गया है। मुख से धूम्र निकलने की प्रतीति सुदान्तसेनोक्त पित्त के सामान्य कर्मों का परिणाम मात्र है।

चरक और वाग्भट ने भी मत्स्यगन्धता को रक्तपित्त का पूर्वरूप माना है। इसके अतिरिक्त लोहगन्धता तथा लोहितगन्धता का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है[2]।

---

१. 'शोणितच्छर्दनं वक्त्रे लोहमत्स्यसगन्धता'। (सि. नि)

२. तस्येमानि पूर्वरूपाणि भवन्ति, तद्यथा—अनन्नाभिलाषो, भुक्तस्य विदाहः शुक्ताम्लगन्धरस उद्गारश्छर्देरभीक्ष्णागमनं छर्दितस्य बीभत्सता, स्वरभेदो, गात्राणां सदनं, परिदाहो, मुखाद् धूमागम इव लोहलोहितमत्स्यामगन्धित्वमपि चास्यस्य, रक्तहरितहारिद्रत्वमङ्गावयवशकृन्मूत्रस्वेदलालासिंघाणकास्यकर्णमलपिडकोलिकापिडकानामङ्गवेदना लोहितनीलपीतश्यावानामर्चिष्मतां च रूपाणां स्वप्ने दर्शनमभीक्ष्णमिति लोहितपित्तपूर्वरूपाणि भवन्ति। (च० नि०)

शिरोगुरुत्वमरुचिः शीतेच्छा धूमकोऽम्लकः। छर्दिश्छर्दितबैभत्स्यं कासः श्वासो भ्रमः क्लमः ॥
लोहलोहितमत्स्यामगन्धास्यत्वं स्वरक्षयः। रक्तहारिद्रहरितवर्णता नयनादिषु ॥
नीललोहितपीतानां वर्णानामविवेचनम्। स्वप्ने तद्वर्णदर्शित्वं भवत्यस्मिन् भविष्यति ॥ (वा० नि०)

---

१ 'धूमायितं' इति अ।

सम्प्रति वातादिभेदेन रक्तपित्तं निरूपयन्, तत्र श्लैष्मिकं रक्तपित्तमाह—

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् । (च. चि. ४)

गाढा, ईषत्पाण्डुवर्ण, स्नेहयुक्त तथा पिच्छिलतायुक्त रक्तपित्तज स्राव को कफयुक्त समझना चाहिये ।

श्लैष्मिकमाह—सान्द्रमित्यादि । सान्द्रं घनं, सपाण्डु सस्नेहमिति ईषत्पाण्डुस्नेहम् ।

वातिकं रक्तपित्तम्—

श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥ ५ ॥ (च. चि. ४)

यदि श्याव (हरितनील) मिश्रित हलके रक्तवर्ण का झागदार, पतला तथा रूक्ष रक्तस्राव हो तो उसे वातिक रक्तपित्त समझना चाहिये ॥ ५ ॥

वातिकमाह—श्यावेत्यादि । तनु अघनम् ॥ ५ ॥

पैत्तिकं रक्तपित्तं वर्णयति—

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसंनिभम् ।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥ ६ ॥ (च. चि. ४)

वट आदि के क्वाथ के वर्ण का या काला या गोमूत्र के वर्ण का अथवा चिक्कणता लिये हुए कृष्णवर्ण का, गृहधूम या अञ्जन के सदृश काले रक्तपित्त को पैत्तिक समझना चाहिये ॥ ६ ॥

द्वन्द्वजं सान्निपातिकञ्चाह—

संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

वात आदि दो दोषों के सम्मिलित लक्षणों से द्वन्द्वज तथा तीनों दोषों के लक्षणों से सन्निपातज समझना चाहिये । (प्रकृतिसमसमवायारब्ध होने से इनके विशिष्ट लक्षण नहीं होते) ॥

पैत्तिकमाह—रक्तेत्यादि । कषायाभं वटादिक्वाथवर्णम् । मेचकागारधूमाभमिति मेचकागारधूमयोरिवाभा यस्य तत्तथा, मेचकाभम्, अगारधूमाभं च । मसृणीकृतकृष्णमणिवर्णस्येव[1] वर्णो मेचक इति जेज्जटादयः प्राहुः, चिक्कणकृष्ण इत्यर्थः । अञ्जनाभं सौवीराञ्जनवर्णाभम् । ननु सर्वमेव रक्तपित्तं दुष्टेन पित्तेनारभ्यते तत्कथं पैत्तिकं रक्तपित्तमिति ? उच्यते-सत्यं, किंतु यदा स्वस्थानस्थं पित्तं रक्तपित्तारम्भकं स्थानान्तरावस्थितेन पित्तेन संगृह्यते, किंवा दोषान्तरासंश्लिष्टं केवलं पित्तमारम्भकं तदा पैत्तिकमिति व्यपदेश इति । ननु, केवलपैत्तिकं न सम्भवत्येव, यद्वक्ष्यति-'ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्' इति; नच तस्य निर्दिष्टो मार्गः । उच्यते, यदा स्वकारणोद्भूतेन कफेन वातेन वा स्वलक्षणकारिणा संसृष्टं भवति, तदा श्लैष्मिकादिव्यपदेशः, नतु मार्गसम्बन्धानुगतेन कफवातसम्बन्धेन । ऊर्ध्वगं हि मार्गसम्बन्धमहिम्नाऽवश्यं कफेन, अधोगं चावश्यं वातेन, अनुबध्यते । न च तत्र कफवातौ स्वलक्षणं कुरुतः, यथा शरदि ज्वरकरं पित्तं कालमहिम्नाऽनुगतेन कफेनानुबध्यते तथाऽपि पैत्तिक एवासौ प्राकृतो ज्वरः । यदुक्तं, 'कुर्यात्पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः' (च. चि. ३) इति । तेन यदेकदोषलिङ्गयुक्तं भवति तदेकदोषानुगम्, एवं द्विदोषलिङ्गं त्रिदोषलिङ्गं च बोध्यम् । तेनोर्ध्वगमधोगं चैकद्वित्रिलिङ्गं भवति । एतेन पैत्तिकस्य मार्गो न दर्शित इति यदुक्तं तन्निरस्तमिति ॥ ६ ॥

विमर्श—अब यहाँ सन्देह होता है कि जब सभी रक्तपित्त पित्त के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं तो पुनः पित्तज रक्तपित्त का पृथक् वर्णन क्यों किया गया ? इस पर कहते हैं कि यद्यपि सभी रक्तपित्त पित्तज ही हैं, तथापि जिस अवस्था में स्वस्थान मे अवस्थित पित्त (पाचक, भ्राजक आ)

---

१. 'ससारमल्लमणिकादिमसृणीकृतकृष्णवर्णवस्त्रस्येव' इति क ।

रक्तपित्त की उत्पत्ति करते हुए दूसरे स्थान में स्थित पित्त के साथ संयुक्त होता है अथवा बिना दूसरे दोषों से संयुक्त हुये केवल पित्त ही रक्तपित्त का उत्पादक होता है, उस अवस्था में ही पैत्तिक रक्तपित्त यह व्यवहार किया जाता है। सभी रक्तपित्तों को कफयुक्त या वातयुक्त कहा है—**'ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्'** इन दोनों मार्गों के अतिरिक्त पित्त का निष्क्रमण-मार्ग भी शास्त्र में स्वतन्त्र नहीं बताया गया। इस आधार पर यदि कोई कहे कि रक्तपित्त केवल पैत्तिक नहीं होता तो वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि जब पित्त अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वात या कफ से युक्त होता है तभी वातिक या कफज व्यवहार भी उपयुक्त है। केवल मार्ग की महिमा से सम्बद्ध वात या कफ से व्यवहार नहीं किया जाता। यथा यद्यपि शरद् में ज्वर को उत्पन्न करने वाला पित्त काल की महिमा से कफ से अनुबद्ध रहता है, तथापि इसे पैत्तिक ज्वर ही कहा जाता है। कहा भी है—**'कुर्यात् पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः कफः।'** इस प्रकार जब रक्तपित्त किसी अन्य दोष के लक्षणों से युक्त नहीं होता है तो उसे एकदोषज कहते हैं। इसी प्रकार लक्षणानुसार द्विदोषज और त्रिदोषज भी समझना चाहिये।

संसर्गविशेषं मार्गभेदेनाह—

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते ॥ ७ ॥ (च. चि. ४)

मुख आदि ऊर्ध्व मार्गों से निकलने वाले रक्तपित्त में कफ का अनुबन्ध रहता है। इसी प्रकार गुदा आदि अधोमार्ग से निकलने वाला रक्तपित्त वात से युक्त रहता है। जब दोनों मार्गों से निकलता है तो वात और कफ दोनों का भी संसर्ग प्रायः रहता है ॥ ७ ॥

संसर्गविशेषेण मार्गभेदमाह—ऊर्ध्वगमित्यादि ॥ ७ ॥

विमर्श—निदान-वैचित्र्य के कारण ऊर्ध्वग या अधोग रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है। स्निग्धोष्णपदार्थ के सेवन से ऊर्ध्वग तथा रूक्षोष्णपदार्थ के सेवन से अधोग रक्तपित्त की उत्पत्ति होती है। चरक ने कहा भी है—**स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षं च रक्तपित्तस्य कारणम्। अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु ॥** (च. चि. ४) किन्तु यह भी न भूलना चाहिए कि कफ या वात के संसर्ग के विना भी यदि स्वतंत्र पैत्तिक रक्तपित्त भी ऊर्ध्व या अधोमार्ग से निकलता है तब भी मार्गस्वभाव से क्रमशः कफ या वायु का संसर्ग रहता है।

चरकनिदानस्थान में इसी को और स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया गया है—**मार्गौ पुनरस्य द्वावूर्ध्वं चाधश्च। तद्बहुश्लेष्मणि शरीरे श्लेष्मसंसर्गादूर्ध्वं प्रतिपद्यमानं कर्णनासिकानेत्रास्येभ्यः प्रच्यवते, बहुवाते तु शरीरे वातसंसर्गादधः प्रतिपद्यमानं मूत्रपुरीषमार्गाभ्यां प्रच्यवते, बहुवातश्लेष्मणि तु शरीरे श्लेष्मवातसंसर्गाद् द्वावपि मार्गौ प्रतिपद्यते। तौ मार्गौ प्रतिपद्यमानं सर्वेभ्य एव यथोक्तेभ्यः खेभ्यः प्रच्यवते शरीरस्य।'**

मार्गभेदेन साध्यासाध्यतां निरूपयति—

ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम्। (सु. उ. ४५)

ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य, अधोग याप्य तथा उभयमार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त असाध्य होता है॥

मार्गभेदेन साध्यत्वादिकमाह—ऊर्ध्वमित्यादि। **ऊर्ध्वं साध्यमिति, उर्ध्वस्य कफपित्तसंश्लिष्टत्वेन कषायतिक्तौ रसौ कफपित्तहरौ योग्यौ, पित्तहरणे प्रधानं विरेचनं च योग्यम्। अधोगे त्वेक एव मधुरो वातपित्तप्रशमनः, वमनं च प्रतिमार्गत्वेन वेगमात्रविरोधि, न तु पित्तहरणम्। उभयमार्गं च विरुद्धोपक्रमत्वादेवासाध्यम्। यदुक्तं चरके-'साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते। विरेचनस्य योग्यत्वाद्बहुत्वाद्भेषजस्य च। विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्'** (च. नि. २) **इत्यादि ॥**

विमर्श—मार्ग भेद से साध्यासाध्यता का निरूपण करते हुये महर्षि चरक कहते हैं—**'तत्र यदूर्ध्वभागं तत्साध्यं विरेचनोपक्रमणीयत्वाद् बह्वौषधत्वाच्च, यदधोभागं तद्याप्यं वमनोपक्रमणीयत्वादल्पौषधत्वाच्च, यदुभयभागं तदसाध्यं वमनविरेचनायोगित्वादनौषधत्वाच्च ।'** (च नि २) तात्पर्य यह है कि ऊर्ध्वग रक्तपित्त में कफ और पित्त का संसर्ग रहता है । अतः इस अवस्था मे कफ और पित्त का हरण करने वाले कषाय और तिक्तरसप्रधान औषधियों का प्रयोग किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त **'विरेचनं पित्तहराणाम्'** इस उक्ति के अनुसार विरेचन के प्रयोग से पित्त की शान्ति सरलता से हो जाती है । अतः ऊर्ध्वग रक्तपित्त को साध्य माना है । अधोग रक्तपित्त में वात और पित्त की विशेषता रहती है । केवल मधुर रस ही ऐसा है जो वात और पित्त दोनों का शमन कर सकता है । **'प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते'** इस उक्ति के अनुसार अधोग रक्तपित्त मे प्रयुक्त वमन वेगमात्र का ही अवरोध कर सकता है वह पित्त या वात का शमन करने में पूर्णतया असमर्थ है । इसके अतिरिक्त अधिक वमन कराने से वात और पित्त की अन्ततो गत्वा अनुपातनः वृद्धि भी हो सकती है । अतः वमनसाध्य एवं औषधियों की अत्यल्पता के कारण अधोग रक्तपित्त को याप्य माना है । उभय मार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त में पित्त के साथ वात और कफ दोनों की विशेषता रहती है । इस अवस्था मे रक्तपित्त की प्रवृत्ति उभय मार्ग से होती है, दोनों मे से किसी भी मार्ग से शोधन कराना अतिमात्र रक्तस्राव का जनक होने से प्राणघाती हो सकता है । अतः वमन-विरेचन के अयोग्य या विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य माना गया है । इस विषय का विशद वर्णन चरकनिदानस्थान अध्याय २ मे सहेतुक मिलता है, विस्तरभयात् यहा नहीं दिया गया ।

रक्तपित्तस्य साध्यासाध्यतां चरकमतेन प्रतिपादयति—

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ॥ ८ ॥
रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् । (च. चि. ४)

बलवान् मनुष्य में एक मार्ग से प्रवृत्त, अल्पवेग, नवीन व उपद्रवरहित रक्तपित्त, अनुकूल काल में उत्पन्न होने पर साध्य होता है ॥ ८ ॥

साध्यत्वे हेतुमाह—एकमार्गमित्यादि । एकमार्गमत्रोर्ध्वगमभिप्रेतम्, अधोगस्य याप्यत्वात् । नवोत्थितम् अचिरजम् । सुखे काले हेमन्तशिशिरयोः । निरुपद्रवं वक्ष्यमाणदौर्बल्याद्युपद्रवरहितम् ॥ ८ ॥

विमर्श—एकमार्ग शब्द से ऊर्ध्वग का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि अधोग तो सदैव याप्य ही होता है, चक्रपाणि ने भी कहा है-**'एकमार्गमिति सामान्यवचनेऽप्यूर्ध्वगमेव लभ्यते, अधोगस्यैकमार्गगस्यापि याप्यत्वात्'** । दौर्बल्य, श्वास, कास आदि रक्तपित्त के उपद्रव है, इनसे रहित ही साध्य होता है । सुख काल से तात्पर्य हेमन्त, शिशिर ऋतु है ।

सम्प्रति दोषभेदेन साध्यासाध्यतां निरूपयति—

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥ ९ ॥
यत्त्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत्[1] ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥ १० ॥ (च. चि. ४)

एकदोषज रक्तपित्त साध्य, द्विदोषज याप्य और त्रिदोषज रक्तपित्त असाध्य होता है । तथा मन्द अग्निवाले व्यक्ति का अतिवेगयुक्त एवं रोगों से क्षीण शरीर, वृद्ध तथा अनशन करने वाले व्यक्ति का भी अतिवेगयुक्त रक्तपित्त असाध्य होता है ॥ ९-१० ॥

१. 'वेगितम्' इति क ।

दोषभेदेन साध्यत्वादिकमाह—एकदोषानुगमित्यादि। मार्गभेददोषभेदाभ्यां साध्यत्वा-साध्यत्वविरोधेऽर्शःस्वभिहितदोषभेदवलिभेदाभ्यां साध्यत्वासाध्यत्ववद् व्याख्येयम्। मन्दाग्नेस्तथा व्याधिभिः क्षीणदेहस्य यदतिवेगवत्तदसाध्यम्। अनश्नतः अरुच्यादिना, अन्नाभावाद्वा॥ ९-१०॥

विमर्श—यहां पर मार्ग, दोष तथा लक्षण भेद से रक्तपित्त के साध्य, याप्य तथा असाध्य भेदों का निरूपण किया जा चुका है। किसी रोगी में साध्य और याप्य के लक्षणों का मेल होने से साध्य भी याप्य कोटि में चला जायगा। इसी प्रकार याप्य असाध्य से मिलने पर असाध्य ही हो जायगा। यथा-एकदोषज अधोगत रक्तपित्त एकदोषज होने से साध्य है किन्तु वह अधोग होने से याप्य हो जाता है। इसी प्रकार त्रिदोषज और अधोग के मेल से असाध्यता हो जाती है। चरक ने कहा भी है—**'नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्'** (च. नि. ८.)। तथा—**साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यतां तथा'**। इस प्रकार मार्गभेद तथा दोषभेद से साध्यासाध्यता का आपाततः विरोध होने पर अर्श में प्रतिपादित दोषभेद तथा वलिभेद के सदृश इनका समीकरण भी निम्न प्रकार से करना चाहिये।

उपद्रवों से रहित एकदोषज ऊर्ध्वग रक्तपित्त साध्य होता है। यही द्विदोषज तथा अल्पोपद्रव होने से याप्य और त्रिदोषज तथा बहुत उपद्रव होने पर असाध्य हो सकता है।

एकदोषज तथा अल्पोपद्रव युक्त अधोग रक्तपित्त याप्य, द्विदोषज किन्तु उपद्रवरहित होने पर याप्य किन्तु उपद्रव युक्त होने पर असाध्य तथा त्रिदोषज अल्प उपद्रव होने पर भी असाध्य ही होता है।

त्रिदोषज, बहूपद्रवयुक्त तथा उभयमार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त असाध्य होता है। यह द्विदोषज तथा अल्पोपद्रव या उपद्रवहीन होने पर याप्य या असाध्य हो सकता है।

रक्तपित्तस्योपद्रवानाह—

दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुतादाहमूर्च्छा
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा।
तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरसि च तपनं पूतिनिष्ठीवनत्वं,
भक्तद्वेषाविपाकौ विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गाः॥ ११॥

(सु. उ. तं. ४५)

दुर्बलता, श्वास, कास, ज्वर, वमन, मद (मत्तता), पाण्डु, शरीर में दाह, मूर्च्छा, खाये हुए भोजन का तीव्र विदाह, धैर्यहीनता, हृदय प्रदेश में असह्य पीड़ा, प्यास, अतिसार, सिर मे ताप की अधिकता या पीडा, दुर्गन्धित थूक का निकलना, भोजन से घृणा, भोजन का परिपाक न होना तथा निकले हुए रक्तपित्त के वर्ण में मांसप्रक्षालित जल इत्यादि के समान विकृति की उपस्थिति ये रक्तपित्त के उपद्रव हैं॥ ११॥

उपद्रवानाह—दौर्बल्येत्यादि। दौर्बल्यं 'शक्त्युपचययोरभाव' इति-गयदासः। भुक्ते इति 'षष्ठ्यर्थे सप्तमी' इति कार्तिकः। **हृद्यतुल्येति, हृदि अतुल्या असदृशी पीडा। कोष्ठस्य भेदः। तपनं तापः। 'प्रवितततशिरस' इति पाठान्तरे प्रविततं विस्तीर्यमाणमिव 'प्रवितता विस्तीर्णा वेदना शिरसि यस्य स तथा' इति।** कार्तिकः। **'प्रवितततसिरता' इति पाठान्तरे सिराव्याप्तगात्रता। अविपाक आहारस्य। विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गा इति, एते रक्तपित्तस्य उपसर्गा उपद्रवाः; तथा तस्य विकृतिरपि भवेदिति योज्यम्। सा च वक्ष्यमाण-मांसप्रक्षालनाभमित्यादिरूपा। 'रक्तपित्तोपसर्गात्' इति पाठान्तरं सुगमम्॥ ११॥**

विमर्शः—रक्तपित्त के द्वारा अत्यधिक रक्तस्राव होने से पाण्डुता (Anaemia) तथा अन्य दुर्बलता आदि तथा विशेषतः कोष्ठगत पित्त की अधिकता से अन्न-विदाह, तृष्णा, अतिसार आदि उपद्रव होते हैं। कफ की अधिकता एवं सङ्क्रमण होने पर पूति निष्ठीवन होता है।

गन्धवर्णादिभेदेन रक्तपित्तस्यासाध्यत्वम्—

मांसप्रक्षालनाभं कुथितमिव च यत्कर्दमाम्भोनिभं वा,
मेदःपूयास्रकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम् ।
यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥ १२ ॥
(सु. उ. तं. ४५)

जो रक्तपित्त मांसप्रक्षालित जल के समान रंगवाला, सड़ा हुआ दुर्गन्धित, कीचड़ मिश्रित जल के समान, चर्बी और पूय से मिश्रित रक्त के समान, यकृत् या पकी जामुन के फल के समान, काला नीला, मुर्दे जैसी दुर्गन्धिवाला तथा उपर्युक्त दौर्बल्य आदि उपद्रवों से युक्त एवं इन्द्रधनुष के समान विविधवर्णों वाला होता है उसे असाध्य समझना चाहिये ॥ १२ ॥

विमर्शः—चरक ने रक्तपित्त की असाध्यता का वर्णन करते हुए कहा है—

रक्तपित्तस्य विज्ञानमिदं तस्योपदिश्यते । यत्कृष्णमथवा नीलं यद्वा शक्रधनुष्प्रभम् ॥
रक्तपित्तमसाध्यं तद्वाससो रञ्जनं च यत् । भृशं पूत्यतिमात्रं च सर्वोपद्रववच्च यत् ॥
बलमांसक्षये यच्च तच्च रक्तमसिद्धिकृत् ॥

इन श्लोकों में वस्त्र को विवर्ण करने वाला रक्तपित्त असाध्य श्रेणी में माना है यह विचारणीय है। वस्तुतः वस्त्र को विवर्ण करना ही रक्तपित्त का विशिष्ट लक्षण है। जैसा कि जीव और अजीव रक्त की सापेक्ष स्थिति में बताया भी गया है।

अपरमसाध्यलक्षणम्—

येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः ।
पश्येद् दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यमसंशयम् ॥१३॥ (च. नि. २)

जो रक्तपित्त से पीड़ित व्यक्ति सम्पूर्ण दृश्य वस्तुओं तथा अदृश्य (वर्णहीन) आकाश को रक्तवर्ण का ही देखता है उसे निश्चयपूर्वक असाध्य समझना चाहिये ॥ १३ ॥

विमर्शः—रोगी के नेत्र भी रक्तपित्त से उपहत हो जाते हैं। अतः वह सब कुछ रक्तवर्ण का ही देखता है।

लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः ।
लोहितोद्गारदर्शी च म्रियते रक्तपैत्तिकः ॥ १४ ॥ (सु. सू. ३३)

इति माधवकरविरचिते माधवनिदाने रक्तपित्तनिदानं समाप्तम् ॥ ९ ॥

जो रक्तपित्त का रोगी पुनः पुनः रक्त का ही वमन करता है, जिसके नेत्र लाल हो गये हैं तथा जिसको रक्त की गन्ध से युक्त पुनः पुनः डकारें आती हैं एवं जो सब कुछ लाल ही देखता है वह अवश्य ही मर जाता है ॥ १४ ॥

असाध्यलक्षणमाह—मांसेत्यादि । कुथितमिव पूतितां गतमिव । कर्दमम् आविलमिवाम्भः कर्दमाम्भः, अथवा कर्दमनिभमम्भोनिभं च । तथा मेदःपूयास्रकल्पमिति 'कल्पशब्दो मेदःप्रभृतिभिस्त्रिभिः संबध्यते' इति [1]गयदासः । यकृदिव यकृत्खण्डमिव । पक्वजम्बूफलाभं स्निग्धकृष्णम् । कृष्णम् अञ्जनाभम् । नीलं चाषपक्षप्रतिमम् । ननु, पैत्तिके कृष्णत्वं

1. 'गदाधर.' इति क ।

पठितं नच तदसाध्यं? नैवम्, अतिशब्देनात्र विशेषितत्वात्, 'तेन तत्र मनाक्कृष्णत्वं बोध्यम्' इति जेज्जटः; अथवा जम्बूफलाभं यत् कृष्णं तदिति योज्यम्। उक्ता विकाराः श्वासकासादयः। सुरपतिधनुषा तुल्यं नानावर्णम्। येनेत्यादि। येन रक्तपित्तेनेति योज्यम्। पश्येद् दृश्यं वियच्चापि अदृश्यमपि वियद् [1]दृश्यमिव पश्यतीति योज्यं रक्तपित्तोपहतनेत्रत्वादिति; अथवा दृश्यं घटपटादि, वियच्च रक्तं पश्यतीति। अपरमसाध्यलक्षणमाह-लोहितमित्यादि। यो बहुशश्छर्दयेदिति संबन्धः, लोहितोद्गारदर्शीति लोहितोद्गारो लोहितदर्शी च, उद्गारोऽपि लोहितः प्रवर्तत इत्यर्थः, अथवा लोहितमुद्गारं पश्यतीति लोहितोद्गारदर्शीति ॥ १२-१४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां रक्तपित्तनिदानं समाप्तम् ॥ ९ ॥

विमर्शः—इन सब को रक्तपित्त का अरिष्ट लक्षण समझना चाहिये

इति रक्तपित्तनिदानं समाप्तम्।

अथ राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानम्

राजयक्ष्मणो निदानमाह—

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥ १ ॥

वेग-विधारण, क्षय, साहस तथा विषमाशन इन चार हेतुओं से त्रिदोषज यक्ष्मा नामक रोग की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

राजयक्ष्मरूपेषु पित्ताद्रक्तस्य चागम इति वचनाद्रक्तपित्तानन्तरं यक्ष्मनिदानम्। चिकित्सोपयोगिविप्रकृष्टकारणं चतुर्विधमाह-वेगरोधादित्यादि। वेगोऽत्र वातमूत्रपुरीषाणां, नतु नवेगान्धारणीयोक्तानां जृम्भादीनां सर्वेषाम्। यदुक्तं चरके—'ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्। वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः' (च. चि. ८) इत्यादि। क्षयादिति, क्षीयते अनेनेति क्षयः, तेनातिव्यवायानशनेर्ष्याविषादादयो धातुक्षयहेतवो गृह्यन्ते। साहसादिति, साहसं बलवद्विग्रहादिरुरःक्षतहेतुत्वेन कारणम्। विषमाशनादिति, सुश्रुतोक्तद्वादशाशनप्रविचारव्यतिरेकेणोपयोगः, तस्य शीघ्रं स्रोतोरोधकत्वात् उक्तं हि चरके,-'विविधान्यन्नपानि वैषम्येण समश्नताम्। जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमा मारुतादयः॥ रुद्ध्वा स्रोतांसि धातूनां वैषम्याद्विषमं गताः। दोषा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातवः' (च. चि. ८) इति। त्रिदोष इति, मिलितत्रिदोषज एक एव, नतु कारणभेदादनेकः। यदाह सुश्रुतः—'एक एव मतः शोषः संनिपातात्मको यतः। उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि' (सु. उ. ४१) इति। ननु, वेगरोधादयो वातं प्रकोपयन्ति, तज्जनितो यक्ष्मा कथं त्रिदोषज इति चेत्? उच्यते, वातप्रकोपादेवाग्निदुष्ट्या कफपित्तयोरपि प्रकोप इत्याहुः। हेतुचतुष्टयादित्यनेनासंख्येया अपि हेतव उक्तचतुष्टयेऽन्तर्भवन्तीति दर्शयति। शोषादिनानाशब्दवाच्यत्वेन चास्य सुश्रुतोऽन्वयमकार्षीत्[2]। यथा—'संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते। क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः॥ राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः। तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः' (सु. उ. ४१) इति। वाग्भटे तु—'यक्ष्मणां राजा राजयक्ष्मा'—इत्युक्तम्[3]। 'राजदन्तादिषु परम्'—इति उपसर्जनस्य यक्ष्मशब्दस्य परनिपातः॥ १॥

१. 'रक्तं पश्यति' इति क। २. 'संज्ञा स्वयमेवाकार्षीत सुश्रुतः' इति पा०। ३. वाग्भटे तु 'नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा। यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः' इति पठ्यते (वा. नि. ५)

विमर्शः—१. वेगरोधात्—वेग शब्द से वात, मूत्र एवं पुरीष का ही ग्रहण करना चाहिये, जृम्भा आदि सभी अधारणीय वेगों का नहीं। इसी आशय से चरक ने लिखा है—

ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्। वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः॥
तदा वेगप्रतीघातात् कफपित्ते समीरयन्। ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान् कुरुतेऽनिलः॥
प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्। पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम्॥
अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिं वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्। रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान्॥

इन श्लोकों के द्वारा वात, मूत्र तथा पुरीष के वेग को धारण करने से राजयक्ष्मा के प्रतिश्याय, कास आदि एकादश रूपों की उत्पत्ति का स्पष्ट भाषा में निर्देश किया गया है

२. **क्षयात्—'क्षीयतेऽनेनेति क्षयः'** जिसके कारण रोगी निरन्तर क्षीण होता जाय उसे क्षय कहते है। इससे क्षयोत्पादकहेतु-अतिव्यवाय, अनशन, रक्तस्राव आदि शारीरिक एवं ईर्ष्या और विषाद सदृश मानसिक भावों का समावेश 'क्षय' शब्द के अन्तर्गत समझना चाहिये।

३. **साहसात्-'साहसो बलवद्विग्रहादिः'** साधारणतया प्रदर्शनार्थ या जोश में आकर सहसा अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने की प्रवृत्ति को 'साहस' कहते है। इससे अति बलवान् से युद्ध करना, अधिक तैरना, ऊँचे-नीचे स्थानों से विशिष्ट प्रकारों से प्रदर्शनार्थ कूदना, अधिक भार उठाना या वक्ष स्थल पर हाथी आदि को चढाना, भागते हुए घोडे को या मोटर को शक्ति लगाकर रोकना आदि को साहस कहा जाता है। इनमें उरःक्षत होकर राजयक्ष्मा उत्पन्न होता है। उरःक्षत की सम्प्राप्ति तथा उससे राजयक्ष्मा की उत्पत्ति एवं इन दोनों में अन्तर का विशद वर्णन उरःक्षत प्रकरण में किया जायगा।

४. **विषमाशनात्**—चरकोक्त प्रकृति, करण, संयोग, राशि, देश, काल, उपयोगसस्था तथा उपयोक्ता[1] या सुश्रुतोक्त द्वादशाशन-प्रविचार[2] के विरुद्ध आहार का उपयोग ही विषमाशन कहलाता है। इस के कारण ही वातादि-प्रकोप तथा स्रोतों में अवरोध एवं अन्ततोगत्वा राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है। इसी आशय से चरक ने कहा है—

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नताम्। जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमा मारुतादयः॥
रुद्ध्वा स्रोतांसि धातूनां वैषम्याद्विषमं गताः। दोषा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातवः॥

उक्त श्लोकों में विषमावस्था को प्राप्त हुए तीनों दोषों को स्रोतोरोध तथा परम्परया राजयक्ष्मा के प्रति कारण बताया गया है।

सन्निकृष्ट एवं विप्रकृष्ट भेद से निदान दो प्रकार का होता है। उपर्युक्त चारों राजयक्ष्मा के विप्रकृष्ट निदान हैं। इन कारणों से साक्षात (क्षय एवं साहस से) तथा परम्परया (वेगरोध एवं

---

१. 'तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति। तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि। प्रकृतिः—तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभावो यः स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः'।

करण—करणं पुनः स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः।

संयोगः—द्वयोर्बहूना वा द्रव्याणा सहतीभावः।

राशिः—राशिस्तु खलु सर्वग्रहपरिग्रहौ मात्रामात्रफलविनिश्चयार्थः।

देशः—देशः पुनः स्थान स द्रव्याणानुत्पत्तिप्रचारौ देशसात्म्यं चाचष्टे।

कालः—कालो हि नित्यगश्चावस्थिकश्च।

उपयोगसंस्था—उपयोगसंस्था तूपयोगनियमः स जीर्णलक्षणापेक्षः।

उपयोक्ता—उपयोक्ता पुनर्यस्तमाहारमुपयुङ्क्ते यदायत्तमोकसात्म्यम्।

२. द्वादशाशनप्रविचाराः—'तत्र शीतोष्णस्निग्धरूक्षद्रवशुष्कैककालिकद्विकालिकौषधयुक्तमात्राहीनदोषप्रशमनवृत्त्यर्थाः'। इनका विशद वर्णन सुश्रुत के स्वस्थवृत्ताध्याय मे देखना चाहिये।

विषमाशन से स्रोतोरोध होकर) धातुक्षय होता है और इसी से अन्ततोगत्वा राजयक्ष्मा की भी उत्पत्ति होती है। यह निर्विवाद है कि शरीर की स्वाभाविक शक्ति के ह्रास के बिना राजयक्ष्मा नहीं होता और धातुक्षय के बिना शारीरिक शक्ति का ह्रास भी नहीं होता। आधुनिक विद्वानों का भी यही मत है कि शारीरिक शक्ति का ह्रास हुए बिना राजयक्ष्मा से उपसृष्ट व्यक्ति मे भी राजयक्ष्मा रोग की उत्पत्ति नही हो सकती। अर्थात् जब तक शरीर मे रोगप्रतिरोध-क्षमता (जो कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ रहती है) बनी रहती है तब तक इस रोग का आक्रमण नहीं हो सकता। किसी कारण से इस शक्ति का ह्रास होते ही रोग के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार राजयक्ष्मा के दण्डाणु की रोगोत्पादकता सिद्ध होने पर भी उपसर्गकारी जीवाणु की अपेक्षा वेगरोध आदि कारणो का महत्त्व कम नहीं कहा जा सकता। अधिक व्यक्तियों मे उपसर्ग होने पर भी राजयक्ष्मा नहीं होता इसका प्रधान कारण सहायक कारणो की कमी है। आजकल पोषण की कमी के कारण भारतवर्ष में यह रोग पहिले की अपेक्षा अधिक फैलता जा रहा है। उक्त सहायक कारणों के रहने पर पहिले से उपसर्ग न रहने पर भी उपसर्ग तथा तज्जन्य रोग की उत्पत्ति के प्रति ग्रहणशीलता भी बढ़ जाती है। इस प्रकार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि राजयक्ष्मा में उपसर्ग का उतना महत्त्व नही है जितना कि स्वाभाविक रोगप्रतिरोधक्षमता (Immunity) के परिमाण तथा अन्य सहायक कारणों का होता है। शोष रोग उपसर्ग के बिना भी केवल धातुक्षय होने से होता है। आधुनिक विद्वान् राजयक्ष्मा को औपसर्गिक रोग मानते हैं। प्राचीन मत से भी इसकी औपसर्गिकता सिद्ध है। यथा—

प्रसङ्गाद् गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासनाच्चापि गन्धमाल्यानुलेपनात्॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च। औपसर्गिकरोगाश्च संक्रामन्ति नरान्नरम्॥

अर्थात् अधिक सम्पर्क या उपसृष्ट व्यक्ति के शरीर को पुनः पुनः स्पर्श करने से, रोगी के श्वास या छीकने और थूकने से, साथ भोजन करने, एक शय्या पर सोने तथा गन्धमाला और उपसृष्ट व्यक्ति के उबटन आदि लगाने से कुष्ठ, ज्वर आदि रोगों का संक्रमण एक व्यक्ति से दूसरे पर होता है। प्रकृत में राजयक्ष्मा का बोध कराने के लिये 'शोष' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार इस रोग की प्राचीन एवं अर्वाचीन उभय शास्त्रों के मत से संक्रामकता या जीवाणुजन्यता सिद्ध होने पर भी प्राचीन शास्त्रज्ञों ने तथा तदनुसारी परम बुद्धिमान् माधव ने जीवाणु को कारण न बताते हुए राजयक्ष्मा के उत्पादक अनेकों कारणों को वेगरोध आदि चार बडे विभागों में समाविष्ट कर दिया है। वस्तुतः यही सिद्धान्त अधिक बलवान् भी है।

जहाँ तक जीवाणु की सत्ता तथा उनका रोगो से सम्बन्ध का प्रश्न है प्राचीन काल में भी यह माननीय सिद्धान्त रहा है। प्राचीन युग के मनीषी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान, आप्तोपदेश तथा युक्ति आदि के द्वारा अप्रत्यक्ष तत्त्वों का भी ज्ञान किया करते थे। इसी आधार पर सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र का आविष्कार न होने पर भी उन्होंने सूक्ष्म एव अदृश्य जीवों की सत्ता तथा उनके विकारी प्रभावो का भी स्पष्टतया उल्लेख किया है। यथा—

रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजा जन्तवोऽणवः। अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात् केचिददर्शनाः।
केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः। षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः॥(चा. नि.)

इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने भी '**रक्ताधिष्ठानजान् प्रायो विकाराञ्जनयन्ति हि**' ऐसा कहा है। इसके अतिरिक्त कुष्ठ तथा शोष आदि की संक्रमणशीलता का उल्लेख पीछे किया ही गया है।

यद्यपि आयुर्वेद ने प्राचीन काल से ही जीवाणुओं को भी रोगों के प्रति कारण स्वीकार किया है, तथापि उसने आधुनिक वैद्यक के समान इसको प्रधान कारण कभी स्वीकार नहीं किया। प्राचीन काल मे जीवाणुविज्ञान के विकसित न होने का यह भी एक प्रधान कारण है कि आयुर्वेद

व्याधि की उत्पत्ति में क्षेत्रप्राधान्यवादी है। इसका अभिप्राय है कि जब तक रोगोत्पत्ति का क्षेत्र (शरीर) पूर्णतया स्वस्थ है तब तक संक्रामक या असंक्रामक किसी भी प्रकार के रोग का आक्रमण नहीं हो सकता। इसके विपरीत आधुनिक वैद्यक बीजप्राधान्यवादी है। उसका कहना है कि क्षेत्र रूप शरीर के व्याध्युत्पत्ति की दृष्टि से सर्वगुणसम्पन्न होने पर भी बिना बीजरूप जीवाणु के रोग उत्पन्न नहीं हो सकता। यद्यपि—

अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति। अबीजकमपि क्षेत्रं केवलं स्थण्डिलं भवेत् ॥

अर्थात् जिस प्रकार ऊसर भूमि में डाला हुआ बीज अंकुरित नहीं होता वैसे ही बिना बीज के उर्वर क्षेत्र भी कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता; इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन की दृष्टि से क्षेत्र एवं बीज दोनों ही समान महत्त्व के प्रतीत होते हैं, तथापि क्षेत्र और उसके सहायक कारणों का अधिक महत्त्व है। अन्न आदि की उत्पत्ति के निमित्त भूमि, जल, वायु, आतप तथा बीज की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार संक्रामक रोगों में भी रोगी का शरीर, मिथ्या आहार-विहार तथा जीवाणु का होना अनिवार्य है। इन तीनों कारणों में पूर्व-पूर्व की बलवत्ता समझनी चाहिये। अर्थात् शरीर का महत्त्व सबसे अधिक है। इसके बाद क्रमशः मिथ्या आहार-विहार तथा जीवाणु का महत्त्व है।

जहाँ तक असंक्रामक रोगों का प्रश्न है उनका मूल या प्रधान कारण तो शरीर की अवस्था-विशेष ही है। संक्रामक रोगों में भी शरीर का ही अधिक महत्त्व है। आधुनिक रोग-सम्प्राप्ति के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि रोगों की उत्पत्ति या अनुत्पत्ति शरीर में व्याधिक्षमता की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर निर्भर है। शरीर में व्याधि-क्षमता रहने पर रोगजनक जीवाणु का कुछ भी प्रभाव नहीं होता, एवं शरीर दुर्बल या व्याधि के लिये अनुकूल होने पर संक्रमण तथा तज्जन्य रोगोत्पत्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। अर्थात् दुर्बल शरीर रोगों को निमन्त्रण भी देता है। उपर्युक्त सिद्धान्त के आधार पर आयुर्वेदीय क्षेत्रप्राधान्यवाद आधुनिकों के बीजप्राधान्यवाद से अधिक बलवान् ठहरता है। वातावरण तथा जल और खाद्य पदार्थों में अनेक प्रकार के विकारी जीवाणु निवास करते हैं। शरीर से इनका अहर्निश साक्षात् सम्बन्ध भी निरन्तर होता रहता है, किन्तु शरीर की प्राकृतिक सुरक्षा के कारण इनका कोई प्रभाव नहीं होने पाता। इस सुरक्षा का मूल शारीरिक व्याधिक्षमता ही है।

उत्पद्यमान रोगों को रोकने तथा उत्पन्न हुए रोगों का सफल प्रतिकार करने वाली शरीरस्थ विशिष्ट शक्ति को व्याधिक्षमता कहते हैं। चक्रपाणि ने इसके लिये व्याधिसहता या व्याधिप्रति-बन्धकता संज्ञा प्रदान की है—**'व्याधिसहानीति व्याध्युत्पादकप्रतिबन्धकानि।'** आयुर्वेद के अनुसार स्वस्थ के लक्षणों से युक्त व्यक्ति[1] को व्याधिक्षम कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त—

क्षुत्पिपासातपसहः शीतव्यायामसंसहः। समपक्ता समजरः सममांसचयो मतः।
सममांसप्रमाणस्तु समसंहननो नरः। दृढेन्द्रियत्वाद् व्याधीनां न बलेनाभिभूयते ॥ (चरकः)

भूख, प्यास, धूप, शीत, व्यायाम को सहन करने वाला, मांसल, सगठित एवं सुविभक्त शरीर, समाग्नि और दृढेन्द्रिय पुरुष व्याधिक्षम होते हैं। इसके विपरीत जो पुरुष अतिस्थूल, अतिकृश, बल, मांस और रक्त से हीन, डरपोक तथा असात्म्य आहार-विहार का सेवन करने वाले होते हैं वे व्यक्ति व्याधिक्षम नहीं होते। चरक ने कहा भी है—**'शरीराण्यतिस्थूलान्यतिकृशान्यनिविष्टमांसशोणि-तास्थीनि दुर्बलान्यसात्म्याहारोपचितान्यल्पाहाराण्यल्पसत्त्वानि वा भवन्त्यव्याधिसहानि।'**

(च. सू. २८)

इस प्रकार व्याधिक्षमता शरीर और मन के पूर्ण स्वास्थ्य तथा सात्म्य आहार-विहार पर

१. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

निर्भर रहती है। आधुनिक विद्वान् भी यद्यपि इसमें सहमत है, तथापि वे इसको आयुर्वेद के समान प्रधानता देने को तैयार नहीं हैं।

आधुनिक विद्वान् व्याधिक्षमता का अधिष्ठान शरीरगत प्रतियोगी पदार्थों (Antibodies) को मानते हैं। यह ठीक है कि अनेक रोगों की क्षमता इन प्रतियोगियो पर ही निर्भर है, परन्तु जिन प्रतियोगियों पर यह क्षमता निर्भर है वे भी जालिकान्तश्छदीय सस्थान (Reticulo-endothelial system) के अधिष्ठान शरीरस्थ यकृत्, प्लीहा तथा मज्जा के द्वारा ही बनते हैं। इनके अतिरिक्त जीवाणु भक्षण करने वाले भक्षकायाणुओ (Phagocytes) का निर्माण भी शरीर के इन्हीं अङ्गों की कोषाओं द्वारा सम्पन्न होकर शरीर को व्याधिक्षम बनाया जाता है। इस प्रकार यद्यपि क्षमता प्रतियोगियो पर ही निर्भर है तथापि उनका भी निर्माण जालिकान्तश्छदीय सस्थान एव परम्परया उसके भी अधिष्ठान शरीररूपी क्षेत्र के द्वारा ही सम्पन्न होता है। यह भी आयुर्वेद के क्षेत्रप्राधान्यवाद की पुष्टि मे पुष्ट प्रमाण है।

आजकल रोगप्रतिबन्धन के लिये मसूरी (Vaccine) का प्रयोग किया जाता है, किन्तु प्राचीनो ने क्षेत्रप्राधान्यवादी होने से प्रत्येक मनुष्य को सात्म्य आहार-विहार आदि द्वारा मन सहित शरीर को स्वस्थ एव सुदृढ बनाकर उत्पन्न एव अनुत्पन्न व्याधियों का प्रतिकार करने का उपदेश किया है, यथा—

त्यागः प्रज्ञापराधानामिन्द्रियोपशमः स्मृतिः। देशकालात्मविज्ञानं सद्वृत्तस्यानुवर्त्तनम्।
अनुत्पत्त्य समासेन विधिरेष प्रकीर्तितः। निजागन्तुविकाराणामुत्पन्नानां च शान्तये॥

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥
मतिर्वचः कर्मसुखानुबन्धि सत्त्वं विधेयं विशदा च बुद्धिः।
ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः॥

इस प्रकार रोगोत्पत्ति में शरीर की प्रधानता समझनी चाहिये। शरीर को रोगग्रहणशील बनाने में मिथ्या आहार-विहार परम सहायक होते है। अतः इनको दूसरी श्रेणी में रक्खा गया है मिथ्या आहार-विहारदि से क्षेत्रीकृत शरीर मे जीवाणु अपना प्रभाव उत्पन्न कर सकते है। जनपदोद्ध्वस के समय भी जनसामान्य का शारीरिक सन्तुलन बिगड़ जाता है। अतः अधिकांश व्यक्तियों मे एक ही रोग उत्पन्न होता है। जीवाणु की विशेषता विशेष रोग को उत्पन्न करने में सार्थक है। यथा राजयक्ष्मा का जीवाणु राजयक्ष्मा तथा विसूचिका का विसूचिका ही उत्पन्न कर सकता है। इसकी पुष्टि करते हुए चरक ने भी कहा है—**'नान्यस्माद्बीजादन्यतरस्योत्पत्तिः।'**

आधुनिक दृष्टि से कारण विवेचन—इस रोग का प्रधान उत्पादक कारण एक जीवाणु 'राजयक्ष्मा का दण्डाणु' (Bacillus tuberculosis) है। आमाशय को छोड कर यह शरीर के किसी भी भाग में राजयक्ष्मा की उत्पत्ति कर सकता है।

सहायक कारण—

१. **वंश या जाति**—कुछ वंशों में यह परम्परागत चलता है। परम्परागत होने पर कुछ मे इसके प्रति प्रतिकारकता भी पायी जाती है। अधिकतर यह रोग असाध्य है तथा रोगी को मार डालता है, किन्तु यहूदियों में बहुत कम मारक होता है।

२. **आयु**—युवावस्था में यह रोग अधिक होता है।

३. **व्यवसाय**—धूम्र आदि के कणों से व्याप्त वायुमण्डल वाले धन्धों के करने वालों को यह रोग अधिक होता है।

४. **परिस्थिति**—अस्वच्छ एवं जनसम्मर्दयुक्त स्थान में रहने से भी इस रोग की उत्पत्ति अधिक होती है।

५. **दारिद्र्य**—इसका सम्बन्ध शरीर के पोषण से है। राजयक्ष्मा की उत्पत्ति में यही प्रधान कारण है। प्रोभूजिन, खनिज, जीवतिक्ति एवं स्निग्ध द्रव्यों की कमी राजयक्ष्मा को उत्पन्न करती है। जीवतिक्ति ए और डी की कमी का इसमें महत्त्वपूर्ण भाग रहता है।

६. **श्रमाधिक्य**—यह भी पोषण से ही सम्बन्धित है। पोषण की अपेक्षा अधिक श्रम जिन अवस्थाओं में या जिन व्यक्तियों को करना पड़ता है उनमें राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है।

७. **कुलजप्रवृत्ति**—बीज मे उपसर्ग आ जाने से पारम्परीण प्रवृत्ति पायी जाती है।

८. **कुछ रोग**—कुक्कुर खाँसी, रोमान्तिका, मधुमेह तथा इन्फ्लुएञ्जा सदृश रोगों के उपद्रव स्वरूप भी यह रोग होता है। इस प्रकार राजयक्ष्मा की उत्पत्ति का मुख्य कारण पोषण की कमी या अन्य रोग आदि कारणों से शरीर की दुर्बलता ही है, ऐसा पाश्चात्त्य सिद्धान्त के आधार पर भी निःसङ्कोच कहा जा सकता है।

त्रिदोषः—राजयक्ष्मा मे तीनों दोषो का प्रकोप होता है। अतएव राजयक्ष्मा के वातिक आदि भेद नहीं किये जाते। किन्तु दोष की उल्बणता के अनुसार लक्षणों में न्यूनाधिक अन्तर अवश्य मिल सकता है: इसीलिए सुश्रुत ने कहा है—

एक एव मतः शोषः सन्निपातात्मको यतः। उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि ॥

अब यहा यह सन्देह होता है कि कि वेगरोध आदि से तो वात का प्रकोप होता है एवं वात से उत्पन्न राजयक्ष्मा को त्रिदोषज क्यों कहा? इस पर विजयरक्षितजी कहते हैं कि वातप्रकोप से अग्निदुष्टि होती है और अग्निदुष्टि से कफ एवं पित्त का भी प्रकोप स्वभावतः हो जाता है। इसके पश्चात् ही राजयक्ष्मा की उत्पत्ति होती है, अतः इसे त्रिदोषज कहा गया।

राजयक्ष्मा के शोष आदि पर्यायों की व्युत्पत्ति सुश्रुत ने निम्न प्रकार से की है—

संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते। क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः।
राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः। तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः ॥

रस, रक्त आदि धातुओं का शोषण करने से इसे 'शोष' कहते हैं। शरीर की बाह्य एवं आन्तरिक सम्पूर्ण क्रियाओं का क्षय (नाश) कर देने से 'क्षय' कहते हैं। पौराणिक कथा के अनुसार शाप के कारण नक्षत्रों के राजा चन्द्रमा को यह रोग हुआ था अतः इसका नाम राजयक्ष्मा या राजरोग पड गया। वाग्भट रोगों का राजा होने से 'राजयक्ष्मा' कहते हैं।

राजयक्ष्मणः सम्प्राप्तिमाह—

कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु ।
अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तराः ।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ॥ २ ॥

कफप्रधान दोषों के द्वारा रसवाही स्रोतों के अवरुद्ध हो जाने पर उत्तरोत्तर सभी धातुओं का अथवा अतिमैथुन करने वाले व्यक्ति का शुक्र क्षीण होने के अनन्तर क्रमशः पूर्व-पूर्व धातुओं का क्षय होता है, जिसके कारण वह व्यक्ति शोष को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

न केवलं धातुक्षयमात्रादेव यक्ष्मा भवति, अपि तु रसादिवहस्रोतोनिवहनिरोधादिभि-रपीति दर्शयितुं विशिष्टां संप्राप्तिमाह—कफेत्यादि। यदा त्वेवं न स्यात् तदा धातुक्षय एव रोगो नतु यक्ष्मा। कफः प्रधानं येषामनिलादीनां दोषाणां ते तथा। ननु, दोषैरित्यनेन दोषत्रयमुच्यते, कफस्य विशेषणत्वेनोपात्तत्वात्, कथं तस्यैवान्यपदार्थवाच्यता? उच्यते, स्वावयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः, यथा—बहुवृक्षं वनमिति; समाधानविस्तरस्तु

१. 'बहुस्रोतोरोधादिभिः' इति क। २. दोषैरिति बहुत्वेन' (आ. द.)।

सुश्रुते जेज्जटे द्रष्टव्यः। कफप्रधानता च वेगरोधादिकुपितवातविप्लुताग्निमान्द्यादिना बोद्धव्या। रसवर्त्मसु रसवहधमनीषु, अत्रादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः। तेन रक्तादिवहस्रोतोरोधोऽपि बोध्यः। अथवा रसकारणतया रक्तादीनां रसदुष्ट्यैव रक्तादिदुष्टिरिति कार्तिकः। इदमत्र सूचितं—यन्मार्गरोधाद्धृदयस्थो रसस्तत्रैवावस्थितो विकृतो मुखेन निःसरति। यदाह चरकः—'रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते' (च. चि. ८) इति। एतेनानुलोमक्षयो दर्शितः, कारणभूतरसधातुक्षये सति रक्तादीनां रसकार्याणां पोषकाभावेन क्षीयमाणत्वात्। प्रतिलोमक्षयं दर्शयितुमाह—अतिव्यवायिनो वेत्यादि; रेतसि क्षीणे सत्यनन्तराः समीपगा धातवः क्षीयन्ते, तद्यथा—शुक्रे क्षीणे मज्जा क्षीयते, मज्जनि क्षीणेऽस्थि, एवं पूर्वं पूर्वम्। ननु कार्यभूतस्य शुक्रस्य क्षयात् कथं कारणभूतानां धातूनां क्षय इति चेत्? उच्यते, शुक्रक्षयाद्वायुः प्रकुप्यति। यदुक्तं-'वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च' (च. चि. १८) इति। स वायुः सान्निध्यान्मज्जानं शोषयति, एवं पूर्वपूर्वधातून्। दृष्टं च प्रत्यासत्त्याऽपि कार्यजननं यथा—अग्निसन्तप्तायोगोलकसन्निधानादार्द्रभूभागस्यापि शोषः। तथा च रससंचारपक्षे सुश्रुतवचनं-'पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम्। तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम्' (सु. सू. १५) इति॥ २॥

विमर्श—यहाँ अनुलोम तथा प्रतिलोम भेद से दो प्रकार के क्षयों की सम्प्राप्ति का वर्णन किया गया है। कफप्रधान दोषों से रसवाहिनियों के स्रोतों के बन्द होने से उत्पन्न क्षय को 'अनुलोम क्षय' कहते है; क्योंकि इसमें पूर्व धातु के क्षीण होने पर ही उत्तरोत्तर धातु का क्षय होता है। इसके अतिरिक्त अतिमैथुन करने वाले को होने वाला क्षय प्रतिलोम कहा जाता है, क्योंकि इसमे अन्तिम धातु शुक्र का क्षय होने के पश्चात् पूर्व-पूर्ववर्ती धातु का क्षय प्रतिलोम-गति से होता है। अतः इसे 'प्रतिलोमक्षय' कहते हैं।

उक्त श्लोक के द्वारा माधव ने राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति में होने वाली वास्तविक विकृति का वर्णन किया है। विजयरक्षित जी ने इसका और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि केवल किसी धातु के क्षय मात्र से ही यक्ष्मा की उत्पत्ति नही हो सकती, अपि तु धातुक्षय के साथ-साथ उपरिगत श्लोक में कही गई सम्प्राप्ति का होना भी अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि अनुलोमक्षय में कफप्रधान दोषों के द्वारा रस-रक्तादिवह स्रोतों का अवरोध होने के पश्चात् उत्पन्न धातुक्षय से होने वाला उत्तरोत्तर धातुओं का क्रमिक क्षय ही राजयक्ष्मा की कोटि में आ सकता है। इसके विपरीत जिस धातुक्षय में रस-रक्तादिवह स्रोतों का अवरोध और प्रायः अन्य धातुओं का क्षय नही होता उसे केवल धातुक्षय ही कहना चाहिये, राजयक्ष्मा नही। इस प्रकार प्रतिलोमक्षय में अतिमैथुन के कारण शुक्रक्षय होने पर वायु के प्रकोप से पूर्व पूर्व धातु के क्षय की परम्परा को ही राजयक्ष्मा कह सकते हैं। उक्त सम्प्राप्ति के अभाव में अतिव्यवाय से होने वाले केवल शुक्रक्षय को राजयक्ष्मा नही कहा जा सकता। इसी आशय से विजयरक्षित जी ने कहा है—**'न केवलं धातुक्षयमात्रादेव यक्ष्मा भवति, अपि तु रसादिवहस्रोतोनिवहनिरोधादिभिरपीति। यदा त्वेवं न स्यात्तदा धातुक्षय एव रोगो न तु यक्ष्मा'**। निरोधादि में उक्त आदि शब्द से प्रतिलोमक्षय की सम्प्राप्ति का भी संग्रह हो जाता है।

वस्तुतः विजयरक्षित जी का यह स्पष्टीकरण उपादेय है। प्रत्येक रोग में साधारणतया किसी न किसी धातु का क्षय अत्यधिक मात्रा में अवश्य मिलता है। उन सब का निराकरण करने के निमित्त विजयरक्षित जी का उक्त स्पष्टीकरण प्रासंगिक है। इस स्पष्टीकरण के अभाव से प्राणि-

---

१. अस्याग्रे 'यदि स्त्रीभ्यो न निवर्त्तते तदा' इत्यातङ्कदर्पणेऽधिकं पठ्यते।

मात्र में उपलब्ध यावत् रोगसमूह राजयक्ष्मा की कोटि में आ सकता है। सभी अतिव्यवायी व्यक्ति राजयक्ष्मा से पीडित नहीं मिलते, उक्त सम्प्राप्ति का संयोग होने पर ही उन्हें राजयक्ष्मा होता है। इस सम्प्राप्ति के द्वारा रोगी में कुछ विशिष्ट विकार उत्पन्न होते हैं जो कि राजयक्ष्मा के निदर्शक हैं, उन्हीं के आधार पर उसका अन्य रोगों से पार्थक्य भी किया जाता हैं।

'दोषैः' इस बहुवचन प्रतिपादन से वात, पित्त और कफ तीनों दोषों का बोध हो जाता है। प्रकृत में **'कफः प्रधानं येषामनिलादिनां ते तथा'** इस प्रकार बहुव्रीहि समास किया गया है। बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ प्रधान होता है। यहां पर त्रिदोषावयव कफ को ही विशेषण मानकर त्रिदोष को ही वाच्य क्यों माना गया, क्योंकि त्रिदोष त्रिदोषावयव कफ से नितान्त भिन्न वस्तु नहीं है ? इस पर कहते है-सुविधानुसार विग्रह अपने अवयव को भी विशेषण मानकर किया जाता है यथा **'बहुवृक्षं वनम्'** यहां पर वन बहुवृक्ष से कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपि तु वृक्षों के बाहुल्य का ही दूसरा नाम वन है। फिर भी वनरूप अवयवी से वृक्षरूप अवयव को पृथक् करके लोकव्यवहारार्थ अर्थसौकर्य के लिये बहुवृक्षरूप विशेषण का प्रतिपादन वन के साथ समास मे किया गया है। इसी प्रकार प्रकृत में भी त्रिदोषरूप अवयवी का उसके अवयव कफ को विशेषण मानकर विग्रह किया गया है।

यहां पर **'दोषैः'** इस शब्द को **'कफप्रधानैः'** इस विशेषण के साथ कहा गया है वह साभिप्राय है। स्रोतोरोध उत्पन्न करने के लिये प्रकुपित दोषों में कफ की प्रधानता आवश्यक है। वेगनिरोध, क्षय आदि के कारण प्रकुपित वात से अग्निमान्द्य होकर कफ का प्रकोप होता है, इसके पश्चात् स्रोतोरोध आदि विकृतिया होती हैं। अतः स्रोतोरोध उत्पन्न करने में कफ की प्रधानता समझनी चाहिये। स्रोतों में अवरोध के परिणामस्वरूप रस अपने स्थान हृदय में ही रहकर विकृति को प्राप्त होता है और दोषानुसार विविधवर्ण कफ के रूप मे कास-वेग से मुख द्वारा बाहर निकल जाता है।

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते। स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते ॥(च. चि. ८)

पाचन ठीक न होने से कफ की उत्पत्ति भी अधिक होती है क्योंकि कफ रस का मल ही है। एवं कदाचित् रक्त भी आने लगता है क्योंकि रस रक्त से पृथक् प्रायः उपलब्ध नहीं होता है। इसको रक्तष्ठीवन या शोणितदर्शन भी कह सकते हैं जो कि राजयक्ष्मा के षड्रूपों एवं एकादश रूपों में बताया गया है। इसका प्रधान कारण पित्त की प्रबलता है। यद्यपि **रसस्य च हृदयं स्थानम्'** इस शास्त्रवचन के अनुसार हृदय को ही रस का स्थान माना गया है तथापि हृदय से मुखपर्यन्त कोई प्रत्यक्ष मार्ग न होने से हृदय से सीधा मुख में रस या रक्त का आना संभव नहीं कहा जा सकता। इस रक्त का आगमन आमाशय से भी स्वीकार करना अनुपयुक्त है; क्योंकि यहाँ पर कासवेग और रक्तागमन का कार्य-कारणभाव स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है। आमाशय से रक्तागमन बिना खाँसी के ही होता है और उसे रक्तवमन (Haematemesis) कहते हैं। खाँसीका प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्राणवह स्रोतों फुफ्फुस या श्वासनलिकाओं से है। अतः हृदय मे रक्त का दबाव बढ़ने पर परम्परया फुफ्फुस या श्वास नलिकाओं में भी रक्त का दबाव बढ़ जाने से वहाँ स्रुत दूषित रस कफ रूप मे खाँसी के साथ बाहर आता है। एवं कासवेग से वहाँ की रक्तवाहिनियो के फटने से रक्तष्ठीवन भी हो सकता है इस प्रकार परम्परया हृदय से रस तथा रक्त का आगमन सिद्ध किया जा सकता है। इसे ही रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) कहते हैं। वस्तुतः राजयक्ष्मा में फुफ्फुस की यह स्वतन्त्र विकृति है। इस प्रकार रस धातु का क्षय होने पर उत्तरवर्ति धातुओं का पोषण न होने से स्वभावतः रक्त-मांसादि परधातुओं के क्षय का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इसी को शास्त्र मे अनुलोमक्षय की संज्ञा भी दी जाती हैं।

अतिव्यवायी इत्यादि के द्वारा प्रतिलोमक्षय का वर्णन किया गया है। इसमें सर्वप्रथम शुक्र का

क्षय होने पर मज्जा एवं अस्थि आदि पूर्व धातुओं का क्षय भी प्रतिलोमक्रम से होने लगता है।

अब यहाँ सन्देह होता है कि कार्यरूप शुक्र के नाश से कारण रूप अन्य धातुओं का क्षय किस प्रकार सम्भव है, क्योंकि कार्यनाश से कभी भी कारण का नाश नहीं देखा जाता ? इस पर कहते हैं कि शुक्र के क्षय से वायु का प्रकोप होता है जैसा कि कहा भी है-**'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च'**। यह प्रकुपित वायु समीपस्थ मज्जा का शोषण करती है। मज्जा के शोषण से अत्यधिक कुपित वायु पूर्व पूर्व धातु का निरन्तर शोषण करती रहती है। तात्पर्य यह है कि शुक्र का क्षय होने पर उसकी पूर्ति के लिए मज्जा का उपयोग होने लगता है अन्ततः उसके भी क्षीण होने पर उसके पूर्व धातुओं का क्रमशः क्षय होने लगता है।

इसके अतिरिक्त वेगरोधादि चारों कारणों से उत्पन्न यक्ष्मारोग की पृथक् पृथक् सम्प्राप्ति का विवेचन चरक ने बडी सुन्दर रीति से किया है—उसको चरक निदानस्थान अध्याय ६ में विस्तारपूर्वक देखे। वहाँ प्रायः वायु की विकृतिपूर्वक ही अन्य दोषों की विकृति बतायी गयी है। कालान्तर में पथ्यापथ्यादि के परिणाम स्वरूप किसी भी दोष की प्रबलता हो सकती है और उसके अनुसार विभिन्न लक्षणों की उत्पत्ति या प्रबलता होती है किन्तु स्रोतोरोध में कफ की ही प्रधानता रहती है, यही इस श्लोक में बताया गया है। इससे यह रोग कफप्रधान ही होता है यह समझना भूल है। वस्तुतः राजयक्ष्मा त्रिदोषज होता है और विभिन्न अवस्थाओं मे दोषों का तारतम्य बदलता रहता है।

राजयक्ष्मणः पूर्वरूपमाह—

श्वासाङ्गमर्दकफसंस्रवतालुशोषवम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः॥
स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठा गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्येच्छुष्कांस्तरून्पवनधूमदवार्दितांश्च॥
(सु. उ. ४१)

श्वास, अङ्गों में पीडा, मुख से कफ का निकलना, तालु का सूख जाना, वमन, अग्निनाश, मद, प्रतिश्याय, कास तथा निद्रा ये राजयक्ष्मा के पूर्वरूप है। इन के अतिरिक्त रोगी की आँखें श्वेत हो जाती हैं तथा उसको मास खाने की और स्त्रियों से रमण करने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाती है।

वह व्यक्ति स्वप्न में देखता है कि वह काक, तोते, सेह, मयूर, गृध्र, बन्दर तथा गिरगिट की सवारी कर रहा हैं (विभिन्न वाहनों में उन्हें जोतता है) नदियों को जलरहित तथा वृक्षों को सूखा एवं वायु, धूम और दावाग्नि से पीड़ित देखता है॥ ३-४॥

पूर्वरूपमाह—श्वासेत्यादि। संस्रवः ष्ठीवनम्। पीनसः प्रतिश्यायः। मांसपरो मांस-भोजनेच्छुः[1]। रिरंसुः स्त्रियं रन्तुमिच्छुः; एतच्च व्याधिमहिम्ना मनोदोषात्। तथा स्वप्नेषु काकादिवाहनं च पूर्वरूपमेव। शल्लकी 'शरारु' इति ख्याता, नीलकण्ठो मयूरः। विजला निर्जलाः। दवो वनाग्निः। अर्दितान् अभिभूतान्। चकारात्तृणकेशनिपातादयो द्रष्टव्याः। यदुक्तं चरके—'पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्। अदोषेष्वपि भावेषु, काये बीभत्सदर्शनम्॥ घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः। स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने॥ मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च। प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चातिवर्धनम्॥ पतत्त्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम्[2]' (च. चि. अ. ८) **इति। तत्र श्वापदा व्याघ्रादयः॥ ३-४॥**

---

१. 'भोजने ग्राह्याः' इति (आ० द०)।

२. एतदनन्तरं 'स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम्॥ जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि। शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां चापि दर्शनम्॥ प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः' इत्यातङ्कदर्पणेऽधिकं पठ्यते।

विमर्श—यक्ष्मा त्रिदोषज होता है, अतः उसमे तीनो दोषों के लक्षण न्यूनाधिक प्रमाण में उपलब्ध होते हैं। सर्वत्र कफ की प्रधानता होने के कारण कफजन्य लक्षणों की प्रतीति प्रधानतया होती है। कफप्रधान दोषों से रसादिवह स्रोतों के अवरोध उत्पन्न हो जाने पर राजयक्ष्मा की व्यक्तावस्था से पूर्व श्वास, अङ्गमर्द आदि लक्षणों की अभिव्यक्ति होती है। वातकफानुबन्ध से श्वास तथा अङ्गमर्द की उत्पत्ति होती है। कफष्ठीवन कफजन्य तथा तालुशोष वातपित्तजन्य है। मदातिरिक्त वमन से लेकर निद्रा पर्यन्त सभी लक्षण स्रोतोरोधोत्पादक कफ की विशेषता के कारण ही होते हैं। श्वासनलिका में कफ की उपस्थिति वहाँ पर फैले हुये प्राणदा नाडी (Vagus nerve) के अग्रों को उत्तेजित करके कास को उत्पन्न करती है।

पीनस या प्रतिश्याय—राजयक्ष्मा के उपसर्ग से एक प्रकार की असात्म्यावस्था (एलर्जी=अनूर्जता) उत्पन्न हो जाती है जिससे पुनः पुनः प्रतिश्याय होता है। युवा पुरुष मे इसका पुनः पुनः होना राजयक्ष्मा की शका का जनक है। यदि इसी प्रकार प्रतिश्याय का पुनः पुनः होना जारी रहता है तो शरीर भी दुर्बल हो जाता है और राजयक्ष्मा के लक्षण शीघ्र ही व्यक्त होने लगते हैं। प्रतिश्याय को इसीलिये राजयक्ष्मा का पूर्वरूप कहा है। यह विशिष्ट पूर्वरूप है अतः इसकी सत्ता रूपावस्था मे भी रहती है; क्योंकि चरक ने कहा है—**प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्।** तथा—**प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम्।** इत्यादि। आमाशय कफ का स्थान है, विगुण वात से दुष्ट कफ अग्निमान्द्य उत्पन्न करके आमाशयिक क्षोभ द्वारा उत्क्लेश तथा वमन का प्रवर्तक होता है। स्रोतों के कफावृत होने से इन्द्रियों की क्रिया-शक्ति भी शिथिल हो जाती है एवं इसके ही परिणामस्वरूप निद्राधिक्य का प्रादुर्भाव होता है। यथा—

यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥

शुक्लेक्षणः—कफ का वर्ण श्वेत माना गया है अतः सर्वत्र शरीर में कफ की व्याप्ति तथा तज्जन्य रस-रक्तादिवाहक स्रोतों में अवरोध हो जाने के फलस्वरूप रक्ताल्पता या रक्तक्षय के कारण आँखों मे श्वेतता की प्रतीति होती है। यह रक्ताल्पता (Anaemia) की निदर्शिका है। अक्षिगत रक्तकेशिकाओं के अधिक उत्तान (Superficial) होने के कारण साधारण रक्ताल्पता का भी प्रत्यक्ष सहज ही हो जाता है। इससे प्रतीत होता है कि रक्ताल्पता भी राजयक्ष्मा के प्रधान लक्षणों मे है।

मांसपरः—राजयक्ष्मा में मास का क्षय होता है अतः उसकी वृद्धि के लिये पूर्व से ही समान द्रव्य के उपयोग की प्रबल अकाक्षा शरीर में उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि सुश्रुत ने कहा है:—

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्द्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति॥ (सु. सू. १५)

रिरंसुः—क्षीण व्यक्ति का संयम भी क्षीण हो जाता है। उसका वातनाडी-संस्थान साधारण उत्तेजक कारणों से भी उत्तेजित हो उठता है। इस अवस्था में भी व्यक्ति क्षीण होने के कारण कामुकता-रूप उत्तेजना का लक्ष्य स्वभावतः बन जाता है। अत एव इसे रिरंसु या रमण करने की इच्छावाला कहा गया है।

द्वितीय श्लोक मे प्रतिपादित पूर्वरूप के लक्षणों की व्याख्या मनोविज्ञान का विषय है अतः इसका समुचित ज्ञान तो मनोविज्ञानवेत्ता के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ केवल इतना ही कहा जा सकता है कि यह भी अन्य शारीरिक एव मानसिक विकृतियों का ही परिणाम है जिसको अदृष्टजन्य भी कह सकते हैं।

'च' शब्द का प्रयोग समुच्चय के लिये है अतः चरकोक्त-एवं वाग्भटोक्त अन्य लक्षणों का भी संग्रह किया जा सकता है। चरक के कुछ लक्षण विशेष हैं अतः नीचे दिये जाते हैं—

पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम्। अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम्॥

घृणित्वमक्षतश्चापि बलमांसपरिक्षयः । स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥
मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च । प्रायोऽन्नपाने केशानां नखानां चाभिवर्धनम् ॥
पतत्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चापि धर्षणम् । स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम् ॥

वाग्भट ने भी इन लक्षणों के साथ पैर एव मुख के शोफ का विशेष वर्णन किया है ।

राजयक्ष्मणः सामान्यलक्षणमाह—

अंसपार्श्वाभितापश्च सन्तापः करपादयो ।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥ ५ ॥ (च. चि. ८)

कन्धे और पार्श्व में पीडा, हाथ-पैरों मे जलन तथा सम्पूर्ण शरीर मे ज्वर की उपस्थिति यह राजयक्ष्मा का लक्षण है ॥ ५ ॥

त्रिरूपसम्पन्नमाह—अंसेत्यादि । अंसपार्श्वयोरभितापः पीडा, अंसो भुजस्योपरिभागः अभितापत्वे नैकं रूपम्, एवं सन्तापेऽपि वाच्यम् । करपादयोरित्यत्र प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावं मन्यमानाः काश्मीराः-'तापः पादकरस्य च' इति पठन्ति, 'करपादिकः' इति च पाठान्तरम् । एतत् त्रयं प्रायोभावित्वेन चरकेणोक्तं, तैनेकादशरूपेषु मध्येऽन्यदपि त्रयं बोध्यम् । तथा च भोजः-**'कासो ज्वरो रक्तपित्तं त्रिरूपे राजयक्ष्मणि' इति । अन्ये त्वाहुः-राजयक्ष्मणि यो ज्वरस्तस्यैतल्लक्षणमिति, जेज्जटस्तु त्रिरूपसंपत्तिमेव व्याख्यातवान् ॥ ५ ॥**

विमर्श—लक्षणों की दृष्टि से राजयक्ष्मा-त्रिरूप, षड्रूप तथा एकादशरूप भेद से तीन प्रकार का होता है । यह रोग बहुत विचित्र है । राजयक्ष्मा से पीडित प्रत्येक व्यक्ति तथा एक ही व्यक्ति में प्रत्येक समय एक समान लक्षणों की उपस्थिति नहीं पायी जाती अपितु व्यक्ति और कालविशेष के अनुसार तीनों में से किसी भी लक्षण-समूह की उपस्थिति पायी जा सकती है ।

आमाशय को छोड़कर शरीर का कोई भाग ऐसा नहीं है जो राजयक्ष्मा से पीडित न हो सके । किन्तु फिर भी इसका अधिष्ठान बाहुल्येन फुफ्फुस ही होता है, अतः आगे कहे जाने वाले लक्षणों की फुफ्फुसगत राजयक्ष्मा के ही लक्षण समझना चाहिये ।

राजयक्ष्मा फुफ्फुस में ही क्यों अधिक होता है ? चूँकि फुफ्फुस शरीर में सबसे कोमल अङ्ग है अतः राजयक्ष्मा अधिकतर इसी में होता है । इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह भी है कि लसवाही सस्थान शरीर की रोगों से रक्षा करता है, फुफ्फुस में लसवाही नलिकायें बहुत कम हैं अतः इसमें यह रोग अधिक होता है । जिस अङ्ग में लाइपेज (Lipase) की कमी होती है उसमें राजयक्ष्मा का उपसर्ग भी अधिक होता है । फुफ्फुस में लाइपेज की मात्रा नगण्य है । एक कारण यह भी है कि सबसे अधिक रक्तसंवहन फुफ्फुस मे ही होता है ।

फुफ्फुस में भी सर्वप्रथम यह रोग ऊपरी भाग मे ही होता है, जिसके निम्न कारण है—

१. ऊपर का मार्ग अन्य खण्डों की अपेक्षा टेढा होता है अतः वायु का गमनागमन कम होता है ।

२. उपरितन भाग अक्षक (Clavicle) के नीचे दबा रहता है ।

३. ग्रीवा का दबाव भी इस पर पडता है । इन कारणों से उपरितन भाग दुर्बल रहता है जिससे विकृति सर्वप्रथम इसमें ही होती है ।

इस प्रकार फुफ्फुस में ही राजयक्ष्मा की अधिक सम्भावना होने से तथा चिकित्सा की दृष्टि से अन्यों की अपेक्षा गम्भीर होने से केवल राजयक्ष्मा कहने पर फुफ्फुसगत राजयक्ष्मा का ही बोध होता है । आयुर्वेदोक्त राजयक्ष्मा का वाच्य भी मुख्यतः फुफ्फुसगत राजयक्ष्मा ही है अतः वक्ष्यमाण सब लक्षण का सम्बन्ध भी इसीसे समझना चाहिये । अन्य धातुओं के क्षय के लिये साधारणतया शोष या विशिष्ट धातु के नाम के साथ क्षय शब्द का व्यवहार होता है । जैसे अस्थिक्षय आदि,

राजयक्ष्मा होने पर जो विकृतियाँ होती है उन्हे दो भागों में विभक्त कर सकते है—

१. फुफ्फुसगत प्रत्यक्ष विकृति। २. सार्वदेहिक लक्षण—

इनमें फुफ्फसगत प्रत्यक्ष विकृति का वर्णन आधुनिक दृष्टि से विकृतशारीर (Pathology) शीर्षक के अन्तर्गत पर्याप्त विस्तार से किया हुआ मिलता है उसे तत्सम्बन्धी पुस्तकों से देखना चाहिए। यहाँ तो दिग्दर्शन मात्र ही अपेक्षित है। इस विकृति को चार भागों में विभक्त किया जाता है।

१. यक्ष्मिका निर्माण (Tubercle formation)—यह विजातीय पदार्थगत प्रोभूजिन की प्रतिक्रिया स्वरूप बह्वाकारी (Polymorphs) तथा एककेन्द्रीय (Mononuclear) श्वेत-कायाणु के संयोग से निर्मित राक्षस-कोषा (Gaint cell) तथा बाह्यस्तरीय कोषाओं (Epitheleal cells) के संयोग से बनता है।

२. किलाटीभवन (Caseation)—राक्षस-कोषाओं के संसर्ग से ही यक्ष्मिका के मध्य में एक चिपचिपा पदार्थ बन जाता है।

३ मृदूभवन (Softening)—धातु गल कर अत्यन्त पतली होकर विद्रधि सी बन जाता है।

४. विवरीभवन (Cavitation)—पूर्वोक्त द्रव के बाहर निकल जाने से गड्ढा बन जाता है।

सम्प्रति सार्वदेहिक लक्षणों का वर्णन करते हैं—

१. अंसपार्श्वाभितापः—यह राज्यक्ष्मा का मुख्य लक्षण है, एव इसके कई कारण हैं—

(क) इस रोग का आरम्भ फुफ्फुस के अंसीय भाग और क्वचित् पार्श्वीय भाग से होता है अतः वहाँ पर अभिताप (पीडा या वेचैनी) होना स्वभाविक है।

(ख) फुफ्फुसावरण शोथ—यह राजयक्ष्मा के दण्डाणु का फुफ्फुसावरण में प्राथमिक या द्वितीयक उपसर्ग होने पर होता है। अतः इसे फुफ्फुस के साथ फुफ्फुसावरण को भी विकृत करने वाले राजयक्ष्मा का लक्षण भी कह सकते हैं।

(ग) शोथयुक्त वक्षःस्थ ग्रन्थियों का नाडियों पर दबाव पडने से भी वक्षःस्थल में पीड़ा होती है।

(घ) वायुकोषों के फट जाने पर वातोरस (pneumothorax) हो जाने पर भी पीडा होती है।

(ङ) तन्त्वीय-प्रकार (Fibrotic type) के राजयक्ष्मा में तन्तुओं के संकोच के कारण भी सम्पूर्ण बक्ष स्थल में पीड़ा का अनुभव होता है।

२. संतापः करपादयोः—रसादिधातुओं के क्षयजनित रौक्ष्य से प्रकुपित व्यान वायु के कारण अथवा जीवतिक्ति बी के ह्रास से उत्पन्न परिसरीय वातनाडियों (Peripheral nerves) के क्षोभ के कारण हाथ-पैर के तलवों में दाह की प्रतीति होती है।

३. ज्वरः सर्वाङ्गगः—यह ज्वर अन्तर्वेग या बहिर्वेग तथा केवल मध्यकायगत या केवल हस्त-पादगत न होकर सर्वशरीरव्यापी होता है। इसकी उत्पत्ति का प्रधान हेतु राजयक्ष्माजन्य विषमयता है। इसकी वृद्धि प्रायः मध्याह्नोत्तर होती है।

तापोत्पत्ति के कारण—विभिन्न स्रोतसों के अवरोध से शरीर में मल एवं आमदोष के सचय के कारण धात्वग्नियों की सक्रियता बढ जाने से अधिक ऊष्मा की उत्पत्ति होती है तथा इस प्रकार उत्पन्न मल एव आमदोष तथा राजयक्ष्मा के जीवाणुओं से उत्पन्न विष रक्तवाहिनियों के द्वारा परिभ्रमण करते हुए तापनियन्त्रक केन्द्र पर विषाक्त परिणाम करके ज्वर को उत्पन्न करते है। यह ज्वर भोजन के पश्चात् तथा क्रोध आदि उत्तेजक भावों के कारण राजयक्ष्मी में शीघ्र होता है; क्योंकि रक्तसवहन के बढने से विष उष्णता-नियन्त्रक केन्द्र के पास शीघ्र ही पहुँच जाता है। इसलिये रोगी को अधिक से अधिक विश्रामयुक्त स्थान तथा शान्तिपूर्ण वातावरण में रखने की सलाह दी जाती है जिससे रक्तसवहन तथा लसिका-सवहन की वृद्धि न हो सके। यह ज्वर लगभग १०० से १०२ अंश तक ही होता है। कभी-कभी द्वितीयक उपसर्ग (Secondary infe-

ction) हो जाने से ज्वर भी विभिन्न स्वरूप धारण कर सकता है। इसको प्रलेपक ज्वर कहते हैं। यह तृतीयावस्था मे पाया जाता है और इसका प्रधान कारण पूतिमयता (Pyaemia) है। तृतीयावस्था के राजयक्ष्मी तथा अनेकों विद्रधिवाले रोगी मे इस दृष्टि से कोई अन्तर नही है। इसमें प्रलेपकप्रकार (Hectic fype) का ज्वर होता है। यह ज्वर प्रतिदिन साधारण हो जाना है और दोपहर को सर्दी के साथ चढता है। एक-दो घण्टे में पर्याप्त स्वेद के साथ ज्वर उतर जाता है। पसीने से शरीर लिप्त हो जाता है अतएव इसका नाम प्रलेपक[1]। स्वेद से विष के कम हो जाने से ज्वर उतर जाता है। स्वेद की अधिकता विषाधिक्य की निदर्शिका है। राजयक्ष्मा में ज्वर आने पर रोगी को अच्छा लगता है, चेहरा सुर्ख रहता है। इस प्रकार का ज्वर राजयक्ष्मा का निर्देशक है, यह तथ्य विजयरक्षितजी के निम्न कथन से सिद्ध है-**'यक्ष्मणि चायं भवतीति, अन्ये तु त्रिदोषजयक्ष्मजनितत्वेन त्रिदोषज एवायम्, उद्भूतत्वेन तु कफपित्तव्यपदेशः'**।

उपर्युक्त तीन लक्षण यक्ष्मा में प्रायः मिलते ही हैं अतएव चरक ने इनको सामान्य रूप या त्रिरूप कहा है। इनके अतिरिक्त कभी-कभी दूसरे त्रिरूप की भी अभिव्यक्ति होती है जैसा कि भोज ने कहा है-**'कासो ज्वरो रक्तपित्तं त्रिरूपे राजयक्ष्मणि'**।

सुश्रुतोक्तानि षड्रूपाणि—

(भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम् ।
स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपं राजयक्ष्मणि ॥)

(भोजन में अरुचि, ज्वर, श्वास, कास, रक्तष्ठीवन तथा स्वरभेद ये लक्षण षड्रूप राजयक्ष्मा में होते हैं॥)

विमर्शः—चरक के अनुसार—**'कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोग्रहोऽरुचिः'**॥ कास, ज्वर, पसलियों में दर्द, स्वरभेद, अतिसार तथा अरुचि यक्ष्मा के ये छः रूप हैं। षड्रूप राजयक्ष्मा भी फुफ्फुसीय यक्ष्मा (Pulmonary tuberculosis) का ज्ञापक है। कफाधिक्य के कारण भोजन के प्रति द्वेष हो जाता है। ज्वर राजयक्ष्मा का अनिवार्य लक्षण है, इसकी उत्पत्ति का सहेतुक विवेचन पिछली पङ्क्तियों में किया जा चुका है।

श्वासकृच्छ्रता—राजयक्ष्मा में यह प्रायिक लक्षण है। विवरीभवन (Cavitation) अधिक हो जाने से फुफ्फुस का वात-संचरण मार्ग कम हो जाता है। वायु के आदान-प्रदान की मात्रा को प्रकृत रखने के निमित्त फुफ्फुस की अवशिष्ट कोषाओं के द्वारा ही यह कार्य शीघ्रता से किया जाता है। यही श्वासकृच्छ्र का कारण है। क्वचित् सान्द्रकफ के संचित होने से फुफ्फुसघन हो जाते हैं तबभी श्वासकृच्छ्र होता है।

कास—यह श्वसन-संस्थान की विकृति का द्योतक है। खासी की प्रथमोत्पत्ति का हेतु क्षोभ एवं रक्ताधिक्य (Congestion) है। यह खांसी सूखी ही होती है, इसके साथ बलगम नही निकलता। किन्तु इसके पश्चात् एकत्रित श्लेष्मा तथा फुफ्फुस की भग्न कोषाओं की उत्तेजना (Irritation) के फलस्वरूप दूसरी खासी होती है। इसमें बलगम भी निकलता है। बलगम निकलने के पश्चात् यह शान्त हो जाती है। विवर (Cavity) पर्याप्त मात्रा में बन जाने पर इसके दौरे आते हैं। निद्रितावस्था में श्लेष्मा विवरों में इकट्ठा होता रहता है और विवर के पूर्ण हो जाने पर दौरे को उत्पन्न करता है। चूंकि श्लेष्मा चिपचिपा होता है अतः वह साधारणतया

१. प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च । मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात् प्रलेपकः॥

नहीं निकलता। कभी कभी इसको निकालने के लिए तीव्र खांसी आती है। इससे कभी कभी वमन भी हो सकता है।

शोणितदर्शन—इसको रक्तष्ठीवन (Haemoptysis) कहते हैं। साधारणतया राजयक्ष्मी के लिये यह अवस्था असाध्यता का द्योतक है, एवं आधुनिक दृष्टि से तृतीय अवस्था (Third stage) का। रक्तष्ठीवन प्रधानतया राजयक्ष्मा में और इसके बाद हृदय के रोगों में होता है। ८०-९०% राजयक्ष्मियों में यह किसी न किसी अवस्था में अवश्य होता है। रक्तष्ठीवन रोग की प्रथमावस्था में रक्ताधिक्य (Congestion) के कारण होता है एवं यह मात्रा में कम रहता है। उत्तर काल में रक्तवाहिनी के विदीर्ण होने से होता है, अतः इसमें रक्त अधिक मात्रा में निकलता है। द्वितीय अवस्था में तृतीय अवस्था की अपेक्षा रक्तागमन कम मात्रा में होता है। यदि प्रारम्भिक अवस्था के रक्तष्ठीवन से राजयक्ष्मा का पता चल जावे तो वह साध्य होता है। रक्त सिरागत या धमनीगत कोई भी हो सकता है। सिरागत रक्त शीघ्र बन्द हो जाता है किन्तु धमनीगत शीघ्र बन्द नहीं होता। इसमें लाली भी अधिक रहती है।

स्वरभेद—यह स्वरयन्त्र की विकृति है। यह उत्तर काल में उत्पन्न होती है इसका कारण फुफ्फुसगत जीवाणु के द्वारा खांसते समय स्वरयन्त्र का उपसृष्ट हो जाना है। उपसर्ग के फलस्वरूप स्वरभंग उत्पन्न होता है। कासवेग और जीर्ण या तीव्र प्रतिश्याय के कारण एवं रक्तादि धातुओं के अधिक क्षय होने पर प्रकुपित वात के द्वारा भी होता है[1]।

राजयक्ष्मण एकादशरूपाण्याह—

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः॥ ६॥
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।
कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः॥ ७॥ (सु.उ.४१)

वात के कारण–स्वरभेद, कन्धे तथा पार्श्व में शूल एवं संकोच, पित्त के कारण-ज्वर, दाह, अतिसार तथा रक्ताष्ठीवन, कफ के कारण–सिर का भारीपन, भोजन में अरुचि, कास तथा कण्ठ में पीडा या उत्कासिका (धसका) इन लक्षणों की उत्पत्ति होती है॥ ६-७॥

राजयक्ष्मणस्त्रैदोषिकस्यैकादशरूपाणि विभज्य व्याधिप्रभावाज्जायन्ते, नतु सन्निपातज्वरलिङ्गवत्सर्वदोषैःसर्वाणीत्याह—स्वरभेदोऽनिलादित्यादि। शूलमंसपार्श्वयोरेव, अंसपार्श्वयोः संकोच एक एव गणनीयः। अभक्तच्छन्दो भक्तारुचिः। कण्ठस्योद्ध्वंसः कण्ठभेदः 'उत्कासिका' इति कार्तिकः॥ ६-७॥

विमर्श—उक्त श्लोक में प्रत्येक दोष के लक्षणों का वर्णन नामग्रहण-पूर्वक किया है। ये ग्यारह लक्षण त्रिदोषज न होकर पृथक् पृथक् तीनों दोषों के कारण उत्पन्न होते है। कुछ लक्षणों की उत्पत्ति के कारण पिछली पङ्क्तियों में वर्णित किये जा चुके हैं। ज्वर, दाह तथा अतिसार तीनों एक साथ आन्त्रिक क्षय (Intestinal T. B.) में पाये जाते है।

अंसपार्श्वयोः संकोचः—यह कृशता का सूचक है। कृशता सर्वप्रथम छाती पर होती है और उसमें भी इसका अधिक प्रभाव अक्षक (Clavicle) के पास दिखाई देता है। इसका कारण फुफ्फुस शिखर (Apex of the lung) का विवरीभवन (Cavitation) के कारण नत हो जाना है। विकृत पार्श्व

---

१. वातात्पित्तात् कफाद्रक्तात्कासवेगात् सपीनसात्। स्वरभेदो भवेत्। (च. चि. अ. ८)

का अक्षक विपरीत पार्श्व की अपेक्षा उन्नत रहता है और नीचे-ऊपर गड्ढे बन जाते हैं। पर्शुकान्तरीय धातु के सूख जाने से पसलियां भी अलग अलग प्रतीत होती है। फुफ्फुस का कुछ निपात होने से ये अन्दर की ओर धस जाती है जिसे पार्श्वसंकोच कहते है। फुफ्फुस-शिखर के नत हो जाने से कन्धे भी झुके हुए दिखाई पडते है। विष के परिणाम से पाचन एवं प्रचूषण ठीक नही होता तथा अल्प मात्रा में पाचित एव प्रचूषित पदार्थ को भी धातुयें सात्म्य करके काम में नही ला सकतीं अतः धातु पुष्टि न होने से कृशता तथा भार घटने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। वातिक प्रकार के पार्श्वशूल (Drv Pleurisv) में पीडा के कारण स्वल्प गति होने से भी पार्श्वसंकोच होता है।

इन लक्षणों के अतिरिक्त आधुनिकों ने कुछ अधिक लक्षण बताये हैं जो कि निम्न हैं—

१. **रात्रिस्वेद**— (Night sweats) –यह विष को निकालने के लिये आता है। विश्राम के समय अधिक आता है अतः इसकी रात्रि में प्रवृत्ति देखी जाती है। दिन में भी सोने पर यह आ सकता है अत इसे विश्रामस्वेद या निद्रास्वेद भी कह सकते हैं। यह रोग की प्रारम्भिक अवस्था में ही होता है।

२. **रक्तवह संस्थावन के लक्षण**—रक्तभार में कमी तथा नाडी मृदु किन्तु शीघ्र चलती है।

३. **मूत्र-प्रजनन-संस्थान के लक्षण**—मूत्र में कोई परिवर्तन नही होता। किन्तु प्रजनन सस्थान का इससे कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है। अतः विषय-तृष्णा का बढना इस रोग का निदर्शक है। इसके अतिरिक्त विषयभोग करने से शरीर की प्रतिकारकता भी अवश्य ही कम हो जाती है। प्राचीनों ने इसी को रिरंसा नाम से पूर्वरूप के लक्षणों में पढा है। स्त्रियों में राजक्ष्यमा हो जाने पर अनार्तत्व हो जाता है, किन्तु गर्भधारण पर इसका कोई प्रभाव नहीं पडता।

४. **फुफ्फुसजन्य अस्थिसन्धि-विकृति**—हाथ और पैरों की अस्थियों के अग्र स्थूल हो जाते हैं, किन्तु इसके लिये रोग का चिरकालीन होना अत्यन्त आवश्यक है।

पीछे बताये गये सभी लक्षणों में राजयक्ष्मा का निदान कराने की दृष्टि से निम्न लक्षण महत्व के हैं-

१. अकारण पुनः पुनः प्रतिश्याय का होना। २. नाडी की शीघ्रता और मृदुता।

३. विना परिश्रम बलक्षय। ४ मध्याह्न या अपराह्न में ज्वरांश की प्रतीति।

५. खाते पीते हुए भी भार का निरन्तर घटना।

राजयक्ष्मणोऽसाध्यलक्षणान्याह—

एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम्।
कासातीसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः ॥ ८ ॥
त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैः कासश्वासासृगामयैः।
जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविमलं यशः ॥ ९ ॥ सु. उ. ४१)
सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ १० ॥
महाशनं क्षीयमाणमतिसारनिपीडितम्।
शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥

---

१. 'ज्वरकासा' इति क।

शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् ।
कृच्छ्रेण बहु मेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥ १२ ॥

उपर्युक्त ग्यारह रूपों से अथवा कास, अतिसार, पार्श्वपीडा, स्वरभेद, अरुचि तथा ज्वर इन छ लक्षणों से अथवा कास, श्वास (पाठान्तर में –ज्वर, कास) तथा रक्तष्ठीवन इन तीन लक्षणों से युक्त राजयक्ष्मी की चिकित्सा यश चाहने वाला वैद्य न करे। उक्त ग्यारह रूप, षड्रूप या त्रिरूप से युक्त रोगी का बल तथा मांस यदि क्षीण हो गया हो तो उसकी चिकित्सा कदापि न करनी चाहिये। इसके विपरीत सब लक्षणों के रहने पर भी यदि बल और मांस का क्षय नहीं हुआ है तो उसकी चिकित्सा अवश्य करनी चाहिये। (बल-मांस-परिक्षय का सम्बन्ध पूर्वश्लोकों से भी करना चाहिये।) पर्याप्त भोजन करने पर भी निरन्तर क्षीण होने वाले अथवा अतिसार से पीडित या जिसके पेट और अण्डकोषों पर सूजन आ गई हो ऐसे रोगी की भी चिकित्सा न करनी चाहिये। जिसकी आंखें श्वेत हो, जो अन्न से घृणा करता हो, जिसको ऊर्ध्व श्वास हो तथा जो कष्ट से बहुत अधिक मूत्रत्याग करता है, ऐसे रोगी को राजयक्ष्मा मार डालता है ॥ ८–१२ ॥

असाध्यलक्षणमाह—एकादशभिरित्यादि। एकादशभिरेभिरिति स्वरभेदादिभिः कण्ठोद्ध्वंसान्तैः। षड्भिरिति सुश्रुतेन **षडरूपाणि पठितानि–'भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्। स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि'** (सु. उ. अ. ४१) **इति। 'कासातिसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः' इति तु कस्यचित्तन्त्रस्य षड्रूपाणि** माधवकरेण **लिखितानीति। एतानि चैकादश षड् वा त्रिरूपाणि वा प्रयोभावित्वादुक्तानि, अन्यतमरूपविरहात्, रूपान्तरयोगेऽप्येकादशत्वं षट्त्वं च स्यादेव' तथाहि** चरको **निदाने एकादशरूपाणि पठित्वा चिकित्सितेऽपि वेगरोधादिकारणचतुष्टयजे प्रतिकारणं चतुर्धा एकादशरूपाणि पठितवान्। यथा–'कासोऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा। छर्दनं रक्तकफयोः श्वासो [१]वर्चोग्रहोऽरुचिः॥ रूपाण्येकादशैतानि, यक्ष्मणि षडिमानि च। कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोग्रहोऽरुचिः'** (च. चि. अ. ८) **इति। एकादशवचनेनैवं बोधयति–संपूर्णे यक्ष्मण्येकादशैव रूपाणि भवन्तीति। जह्यादिति 'बलमांसक्षये सति' इति शेषः। तथा च** चरकः– **'वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी ब्रध्नी चिरज्वरी। गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः॥ अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात्। स्वल्पेष्वपि विकारेषु भिषगेतान् विवर्जयेत्** (च. इ. अ. ९) **इति। सर्वैरित्यादि। ननु, सर्वरूपाण्येकादश, एकादशानामर्धं [२]सार्धपञ्च भवन्ति, तत्र कतमस्य रूपस्यार्धत्वं किंभूतं वा भवति? उच्यते, एकस्य रूपस्यार्धत्वासंभवे षट्पञ्चरूपयोरर्धयोरुत्कृष्टत्वात् षड्रूप एवार्धोऽर्थो ग्राह्यः। लिङ्गैर्युक्त- इति संबन्धः। अतोऽन्यथेति बलमांसक्षयाभावे सति। महाशनं क्षीयमाणमित्येकमसाध्यलक्षणम् अरिष्टरूपत्वात्; अतीसारनिपीडितमिति द्वितीय, यक्ष्मिणो मलायत्तजीवितस्योक्तत्वात्; शूनमुष्कोदरमिति तृतीयं मुष्कशोथस्य विरेकसाध्यत्वेन विरुद्धोपक्रमत्वात्। शुक्लेत्यादि। शुक्लाक्षत्वादय एकैकशाऽसाध्यलक्षणानि ॥ ८–१२ ॥**

विमर्श—कुछ लोग त्रिरूप, षड्रूप एव एकादशरूप को क्रमशः प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अवस्था मानते है। किन्तु प्रकृत में त्रिरूप, षड्रूप या एकादशरूप मे से किसी की भी साध्यासाध्यता या आधुनिकोक्त प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय अवस्था की दृष्टि से महत्त्व नहीं है। जिस अवस्था में किसी लक्षण विशेष की आत्ययिकता से बल और मांस का क्षय होता है उसी को असाध्य

१. 'वर्चोमिदो' इति क.। २. 'अर्धोनानि षट्' इति क।

या तृतीय अवस्था कह सकते है। आधुनिकों ने भी राययक्ष्मा की असाध्यता का वर्णन कालानुरूप अवस्था (Stage) के आधार पर न करके रोग के लक्षणों की तीव्रता के आधार पर ही किया है। यदि राजयक्ष्मा के दण्डाणु का बिष अति तीव्र है तथा रोगी के शरीर की अवस्था अत्यन्त दुर्बल है और सहायककारणों का प्राचुर्य है तो वह प्रथम अवस्था के काल मे ही तीव्र लक्षणों को उत्पन्न करके असाध्यना का निदर्शक हो सकता है। इस प्रकार तृतीय अवस्था जिसे घातक कहा जाता है, वह प्रथम अवस्था में भी ही मकती है। अतः रोग की असाध्यता का निर्णय लक्षणों की तीव्रता के आधार पर हो करना चाहिये। ठीक वही सिद्धान्त यहां भी लागू है। लक्षणों की तीव्रता होने पर ही बल मांस का क्षय हो सकता है एव बल-मासक्षय होने पर असाध्यता भी हो सकती है। चरक ने इसी लिये कहा है-

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी ब्रध्नी चिरज्वरी। गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः॥
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात्। स्वल्पेष्वपि विकारेषु भिषगेतान् विवर्जयेत्॥
(च. इ ९)

यहाँ भी बल मांस-क्षीण होने पर राजयक्ष्मी की चिकित्सा का निषेध किया गया है।

महाशनं क्षीयमाणम्—भोजन करते हुए भी क्षीण होने से तात्पर्य है पोषक रस की उत्पत्ति का अभाव। रस ही अन्य सब धातुओं का पोषण करता है पर्याप्त तथा पुष्टिकर भोजन करने पर भी आहार का प्रसाद रूप रस बनना अवरुद्ध हो जाता है अपि तु वह सम्पूर्ण आहार मल रूप में ही परिणत होता है। राजयक्ष्मी के मल में ही बल होता है और वही जीवन का आधार भी है[1]। इस प्रकार रसाभाव से धातुपुष्टि नहीं हो पाती जिससे रोगी का वल और भार दिन-प्रतिदिन घटता जाता है एवं रोग की तीव्रता भी अधिकाधिक बढती जाती है और रोग असाध्य हो जाता है।

अतिसारनिपीडितम्

शुक्रायत्तं बलं पुंसां मलायत्तं तु जीवितम्। तस्मादतिप्रयत्नेन संरक्षेन्मलरेतसी॥

जैसे कि पूर्वपंक्तियों में स्पष्टीकरण दिया गया है, जीवन मलकी स्थिति पर निर्भर होता है। यदि राजयक्ष्मी को अतिसार हो जाय तो मल-नाश से उसके जीवन का नाश भी अवश्यम्भावी है। अत एव उसे असाध्य कहा गया है।

शूनमुष्कोदरम्—वृषणशोथ और जलोदर विरेचनसाध्य हैं, यक्ष्मी को विरेचन कराने से मल का नाश होगा, एवं मल-नाश होने से जीवन नाश। इस प्रकार विरुद्धोपक्रम होने से यह लक्षण होने पर भी असाध्यता हो जाती है।

शुक्लाक्षम्—आँख की कला का श्वेत होना रक्ताल्पता तथा रक्तोत्पत्ति की न्यूनता का निदर्शक है। साधारणतया राजयक्ष्मी में यह रहती है। इस प्रकार रक्त की अत्यधिक कमी होने से भी राजयक्ष्मा असाध्य होता है।

अन्नद्वेष्टारम्—'अन्नं वै प्राणाः' अन्न ही प्राण है, यदि राजयक्ष्मी अन्न से ही द्वेष करेगा तो पोषण का पूर्णतः अभाव होने से रोग की असाध्यता बढती है।

ऊर्ध्वश्वासनिपीडितम्—इसका यहाँ पर **'कृच्छ्रेण श्वसन्तम्'** ऐसा अर्थ करना चाहिये। यह लक्षण राजयक्ष्मा से फुफ्फुस के अत्यधिक आक्रान्त होने का निदर्शक है। वायु के सञ्चार का मार्ग अत्यल्प हो जाने से यह विकृति होती है।

कृच्छ्रेण बहु मेहन्तम्—बहुमूत्रता मधुमेह का निदर्शक है, अतः 'मधुमेह से उपद्रुत राजयक्ष्मा' ऐसा अर्थ करना उचित होगा। दोनों ही रोग जीवन के लिये घातक हैं। दोनों का एक साथ

१, तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठसंश्रितम्। मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किंचिदोजसे॥
तस्मात् पुरीष संरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः। सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम्॥

रहना परम असाध्यता का निदर्शक है। कभी कभी यक्ष्मा के उपसर्ग से अन्य अवयवों की भाँति वृक्क भी उपसृष्ट हो जाते हैं तब भी यह लक्षण उत्पन्न हो सकता है।

यक्ष्मणः साध्यलक्षणमवतारयति—

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम्॥ १३॥ (सु. उ. ४१)

जो रोगी ज्वर के अनुबन्ध से रहित (बीच-बीच में जिसे ज्वर टूट जाता हो), बलवान्, क्रियाओं को सहन करने वाला (ओषधियों की शक्ति तथा शोधन आदि क्रिया को सह सकने योग्य), संयमी, दीप्ताग्नि तथा अकृश (मांसक्षय रहित) हो उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् इन गुणों से युक्त रोगी का राजयक्ष्मा साध्य होता है॥ १३॥

चिकित्स्यत्वमाह—ज्वरेत्यादि। उपक्रमेत् चिकित्सेत्। अकृशमित्यनेन वयःस्थोऽपि प्रत्याख्यायोपक्रम्यत इति सूच्यते। यदुक्तमन्यत्र—'परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः। सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडित' इति॥ १३॥

विमर्श—इस प्रकार वयस्थ व्यक्ति की चिकित्सा का भी निर्देश अकृश शब्द में ही अन्तर्निहित समझना चाहिये। वृद्धावस्था में स्वभावतः धातुओं का क्षय होता है एवं रोगी स्वयं ही कृश रहता है अतः उसकी प्रत्याख्यानपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये। इसके विपरीत तरुण अवस्था वाला राजयक्ष्मी यदि एक हजार दिन तक जीवित रह जाय तो साध्य समझ कर उसकी भी चिकित्सा करना। वस्तुतः यक्ष्मारोग की आयु एक हजार दिन मानना ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षतः इससे अधिक दिन तक भी इस रोग से पीडित रोगी देखने को मिलते हैं। अतः 'स्वस्थ होने के लक्षण होने पर भी एक हजार दिन तक (तीन वर्ष तक) रोग के लक्षणों की पुनरावृत्ति न होने पर ही निःशङ्करूप से स्वस्थ मानना चाहिए।' यह अभिप्राय इस वचन का प्रतीत होता है।

प्रारम्भ में ही यदि चिकित्सा की जाय तो रोग साध्य हो जाता है। किन्तु अधिक दुर्बलता, लक्षणों की अत्यन्त उग्ररूप में उत्पत्ति तथा क्षीणता बढानेवाली मधुमेह, मदात्यय, कालाजार तथा जन्मजात हृदय की व्याधियों की उपस्थिति रोग को असाध्य बनाती है। इनके अतिरिक्त रोगावस्था में विवाह, गर्भाधान, अस्वास्थ्यकर व्यवसाय या वायुमण्डल भी इस रोग को असाध्य बनाते है। प्रारम्भ में ही निदान हो जाने पर व्याधि साध्य होती है; क्योंकि उस समय लक्षण अप्रगल्भ एवं शारीरिक शक्ति अक्षुण्ण न रहते हुए भी प्रतिक्रिया सहन करने योग्य रहती है। यदि व्यवसाय उत्तम या अल्पश्रमसाध्य तथा आर्थिक स्थिति अच्छी हो तो चिकित्सा के साधन एकत्रित करने की सुविधा के कारण रोगी साध्य होता है।

कारणानुसारं शोषभेदान् दर्शयति—

व्यवायशोकवार्धक्यव्यायामाध्वप्रशोषितान्।
व्रणोरःक्षतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु॥ १४॥ (सु. उ. ४१)

व्यवाय (मैथुन), शोक, वृद्धावस्था, व्यायाम तथा मार्ग चलने से शोष को प्राप्त हुये एवं व्रणशोषी और उरःक्षत जनित शोषी का वर्णन लक्षणों सहित करते हैं॥ १४॥

व्यवायादिजनितधातुशोषणमात्रेण राजयक्ष्मत्वं निरस्यन्नाह—व्यवायेत्यादि। यदुक्तं सुश्रुते—**'केषांचिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमागतः। न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम्॥ क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंक्षयात्'** (सु उ अ. ४१) **इति। 'वृद्धस्य भावो वार्धक्यमिति स्वार्थे क्य (ष्य) ञ्' इति** कार्तिकः॥ १४॥

विमर्शः—शोष—सामान्यतया रसादि धातुओं का शोषण करने की प्रवृत्ति के कारण शोष भी राजयक्ष्मा का पर्यायवाची माना जाता है। किन्तु कतिपय विशेषताओं के कारण राजयक्ष्मा को शोष से पृथक् मानना चाहिये। इसीलिये माधव ने शोष का पृथक् वर्णन किया है। राजयक्ष्मा में ज्वर की उपस्थिति तथा राजयक्ष्मा के दण्डाणु का उपसर्ग होना अनिवार्य है। शोष मे उपसर्गकारी दण्डाणु तथा तज्जन्यज्वर (जो कि त्रिरूप, षड्रूप तथा एकादशरूप तीनों में महत्व पूर्ण स्थान रखता है) का होना अनिवार्य एवं अपेक्षित नहीं होता। किन्तु शोष की अवस्था होने पर यदि राजयक्ष्मा के समान सम्प्राप्ति मिले तो उसे शोष (रोग विशेष) न कह कर अनुलोम या प्रतिलोमस्वरूप का राजयक्ष्मा ही कहा जायगा। पर्यायवाचीरूप में तो शोष का व्यवहार भी ऐसे स्थलों पर किया ही जा सकता है। ज्वर के अतिरिक्त राजयक्ष्मा के अन्य लक्षण भी शोष में उपलब्ध नहीं होते। उदाहरणार्थ शोकशोषी तथा जराशोषी में ये लक्षण नही होते। इनमें धातुक्षय मात्र ही मिलता है अतः तादृश सम्प्राप्ति के न होने से इसे राजयक्ष्मा नहीं कह सकते, अपितु शोष ही कहेंगे।

इस श्लोक में १–व्यवाय, २–शोक, ३–वार्धक्य, ४–व्यायाम, ५–अध्वा, ६–व्रण तथा ७–उरःक्षत इन सात को शोष का कारण बताया गया है एवं इन्ही के नाम पर विभिन्न शोषों के नाम पडे हैं। व्यवाय आदि प्रत्येक के साथ अति शब्द का प्रयोग करना चाहिये; क्योंकि इनकी साधारणता से शोष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। व्यवाय आदि कारणों से उत्पन्न धातुक्षय से ही जिस शोष की उत्पत्ति होती है उसमें राजयक्ष्मा के समान सम्प्राप्ति और त्रिदोष के लक्षण नहीं होते हैं। अतः उसे राजयक्ष्मा से पृथक् समझना चाहिये। इसी आशय से सुश्रुत ने कहा है—

केषांचिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमागतः। न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम्।
क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंक्षयात्॥ (सु. उ. त. ४१)

साधारणतः व्यवाय आदि कारणों की भिन्नता के कारण शोष के भी भेद माने जाते है। मैथुनादिजन्य शोष में सभी दोषों के लक्षणों की सत्ता नहीं रहती अतः केवल धातुक्षय के कारण उन्हें क्षय या शोष ही कहना चाहिये राजक्ष्यमा नही, क्योंकि राजयक्ष्मा को त्रिदोषज एवं त्रिलिंग कहा है।

सम्प्रति क्रमप्राप्तं व्यवायशोषिणो लक्षणमाह—

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रुतः।
पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः॥ १५॥ (सु उ. ४१)

व्यवायशोषी शुक्रक्षय के लक्षणों से युक्त तथा पाण्डु शरीर वाला होता है। इसकी पूर्व-पूर्ववर्ती धातुओं का क्रमशः क्षय होता जाता है॥ १५॥

व्यवायशोषिणो लक्षणमाह—व्यवायेत्यादि। शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरिति सुश्रुतोक्तैः। **तद्यथा–'शुक्रक्षये मेढ्वृषणवेदना, अशक्तिर्मैथुने, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्पं रक्तशुक्रदर्शनम्'** (सु. सू. अ. १५) **इति॥ १५॥**

विमर्श—यहाँ प्रतिलोमक्षय के कारण उत्पन्न शोष का वर्णन किया गया है। इसमे सुश्रुतानुसार शुक्रक्षय के निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—शिश्न तथा अण्डकोष में वेदना का होना, मैथुन में असमर्थता, बहुत देर तक मैथुन करने पर भी शुक्र का अल्पमात्रा में क्षरण तथा कदाचित् किञ्चिन्मात्रा में रक्त के साथ शुक्र का आना ये शुक्रक्षय के लक्षण हैं।

शोकशोषिणो लक्षणं निरूपयति—

प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः। (सु. उ. ४१)

बहुत अधिक सोचना तथा अङ्गों की शिथिलता ये शोकशोषी के लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त शुक्रक्षय के लक्षणों को छोडकर शुक्रशोषी के अन्य लक्षण भी शोकशोषी के लक्षण होते है।

शोकशोषिणो लक्षणमाह—प्रध्यानेत्यादिना। शोकशोष्यपि तादृश इति शुक्रस्य क्षय-लक्षणव्यतिरिक्तेन शुक्रशोषलिङ्गेन युक्तः, यदुक्तं सुश्रुते–**'विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरुप-लक्षितः'** (सु. उ. अ. ४१) **इति॥**

विमर्शः—शोकशोषी में शुक्रक्षय के लक्षण नहीं मिलते शेष लक्षण व्यवायशोषी के समान ही होते हैं। **विना 'शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरुपलक्षितः'** (सु. उ. अ. ४१)। धन तथा आत्मीयजनों के नाश से मनुष्य को शोक का ऐसा धक्का पहुँचता है कि यदि उससे मनुष्य कुछ दिन में अपने को न सम्भाले तो शोष रोग हो जाता है, क्योंकि चिन्ता और शोक से अन्तःस्रावी एवं बहिःस्रावी दोनों प्रकार की ग्रन्थियों का स्राव कम तथा विकृत हो जाने से भूख-प्यास नष्ट हो जाती है तथा यत्-किञ्चित् खाये हुए भोजन का पाचन और प्रचूषण भी नहीं होता। फलतः पोषण की कमी से शरीर सूखने लगता है, रक्त की कमी से पीला पड जाता है, कास-श्वास आदि लक्षणों से अभिभूत रहता है। इसमें धातुओं का क्रमिक क्षय होने से इसे अनुलोम क्षय ही कह सकते है।

जराशोषी कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेन्द्रियः ॥ १६ ॥
कम्पनोऽरुचिमान् भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः ।
ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवारतिपीडितः[1] ॥ १७ ॥
संप्रस्रुतास्यनासाक्षः शुष्करूक्षमलच्छविः । (सु. उ. ४१)

जराशोषी का शरीर कृश हो जाता है; उसकी बल, बुद्धि, वीर्य और इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, उसका शरीर काँपने लग जाता है, भोजन की रुचि नष्ट हो जाती है एवं फूटे हुए कांसी के पात्र के समान उसकी आवाज हो जाती है। श्लेष्मारहित सूखी खाँसी आती है। शरीर में भारीपन तथा अरति (कार्य करने की इच्छा का अभाव) रहती है। उसकी नासिका, मुख एवं आँखों से निरन्तर स्राव निकलता रहता है। उसका मल सूखा हुआ एवं मुख की कान्ति रूक्ष रहती है॥

वार्धक्यशोषिणो लक्षणमाह—जरेत्यादि। कम्पनः कम्पयुक्तः। भिन्नस्य स्फुटितस्य कांस्यपात्रस्य हतस्य दण्डादिनेव स्वरो यस्य स तथा। ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनमिति श्लेष्महरणाय यत्ने कृतेऽपि न श्लेष्मनिःसरणम्। शुष्करूक्षमलच्छविरिति शुष्करूक्षे यथाक्रमं मलच्छवी यस्य स तथा॥ १६–१७॥

विमर्श—वैसे तो जरा (बुढापा) एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस अवस्था में सभी धातुएँ क्रमशः क्षीण होने लगती हैं जिससे शरीर कृश होने लगता है और इन्द्रियाँ शिथिल होने लगती हैं आदि। इसीको जराशोष कहते हैं। इस श्लोक में जराशोष का स्वाभाविक चित्रण है इसकी प्रतिबन्धक या शामक चिकित्सा भी रसायन से ही हो सकती है। कुछ लोगों को असमय में ही बुढ़ापा आक्रान्त कर लेती है तथा शोष के लक्षण प्रकट होते हैं उसे भी जराशोष कह सकते हैं।

अध्वशोषिणं वर्णयति—

अध्वशोषी च स्रस्ताङ्गः संभृष्टपरुषच्छविः ॥ १८ ॥

---

१. 'गौरवारुचिपीडितः' इति क।

प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्कक्लोमगलाननः । (सु. उ. ४१)

अधिक पैदल सफर करने से जो शोष हो जाता है उसे 'अध्वशोष' कहते हैं। अध्वशोषी के अङ्ग शिथिल पड जाते हैं, मुख की कान्ति झुलसी हुई सी दिखाई पडती है, शरीरावयवों में प्रसुप्ति (स्पर्शज्ञान का अभाव) हो जाती है तथा क्लोम (कण्ठनाडी) गला एवं मुख सूख जाते हैं ॥ १८ ॥

अध्वशोषिणो लक्षणमाह—अध्वेत्यादि। भृष्टस्येव भर्जितस्येव परुषः छविः वर्णो यस्य स तथा। प्रसुप्तः स्पर्शानभिज्ञः। क्लोम पिपासास्थानं; क्लोमस्थाने तालिवति पाठान्तरम् ॥ १८ ॥

विमर्श—प्राचीनकाल में यातायात की सुविधा न होने के कारण इसके उदाहरण सर्वत्र मिलते थे। आजकल भी भारत जैसे गरीब और कृषिप्रधान देश में सुदूर ग्रामीण अञ्चलों के खेतों में भूखे या आधापेट खाकर चिलचिलाती धूप में भी मजदूरी करने वालों में इसके उदाहरण प्रचुरता से मिलते हैं। इनका इस श्लोक में सुन्दर चित्रण किया गया है।

व्यायामशोषिणं लक्षयति—

व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः ।
लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना ॥ १९ ॥ (सु. उ. ४१)

व्यायामशोषिणो लक्षणमाह—व्यायामेत्यादि। एभिरिति स्रस्ताङ्गतादिभिरध्वशोषलक्षणैः, अध्वनो व्यायाममात्रसामान्यात्[1]। भूयिष्ठम् अत्यर्थम्। अध्वशोषेऽल्पानि लक्षणानि व्यायामजे तु महान्तीत्यर्थः। तथा 'उरःक्षतकृतैर्लिङ्गैः संयुक्तः क्षतवर्जितैः' इति सुगम पाठः। गदाधरस्तु—'लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना' इति पठति, व्याचष्टे च—उरःक्षतेन व्यायामभाराध्ययनद्रुतयानादिहेतुना यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवाध्वशोषलिङ्गैर्भूयिष्ठं संयुक्तः, क्षतं क्षतकार्यं विना। क्षतकार्यं तु सुश्रुते यथा-'तस्योरसि क्षते रक्तं पूयः श्लेष्मा च गच्छति-' इत्यारभ्य 'भिन्नवर्णस्वरो नरः' (सु. उ. अ. ४१)—इत्यन्तमेतान्येव लक्षणानि क्षतेऽधिकानि, उरःक्षतकारणव्यायामभारादिकृतशोषस्य लक्षणमेव भूयिष्ठं यत्तदेवोरःक्षतकारणमात्रत्वादध्वनोऽपीत्यर्थः। अथवा क्षतं विना व्रणं विना, उरःक्षतनिमित्तभाराध्ययनादिनाऽतिमात्रेण यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवात्यर्थाध्वशोषलिङ्गैः समन्वित इति प्रकृतेन सम्बन्धः, सव्रणस्य तु वक्ष्यमाणमेव लक्षणमिति ॥ १९ ॥

विमर्श—अति व्यायाम तथा अतिभार आदि उरःक्षत के कारण है। देहबल तथा पौष्टिक आहार का बिना ध्यान किये हुए अति व्यायाम करने से फुफ्फुस में रक्त-भाराधिक्य होने से क्षत हुए बिना भी उर शूल, पार्श्वशूल, श्वास, शुष्क कास आदि ऊरःक्षत सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं। कदाचित् किञ्चित् मात्रा में मुख से रक्त निकलना आदि लक्षण भी हो सकते हैं।

व्रणशोषिणो लक्षणमाह—

रक्तक्षयाद् वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात् ।
व्रणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमो मतः ॥ २० ॥ (सु. उ. ४१)

रक्तक्षय, वेदना (व्रणवेदना) तथा नियन्त्रण के कारण भोजन की कमी से व्रणित को होने वाला शोष व्रणशोष कहलाता है। यह असाध्यतम होता है ॥ २० ॥

---

१. 'व्यायाममात्रसाम्यत्वात्' इति क।

कारणत्रयेण व्रणशोषिणमाह—रक्तक्षयादित्यादि । वेदना व्रणवेदनाः, ताभिर्भयशोकवन्मनःक्षोभाद्वातप्रकोपादेव शोषः । स चासाध्यतम इति स्वार्थिकस्तमप्, यथा–'युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्' इति । अत्रेष्ठनैवातिशायिकप्रत्ययेन प्रशस्ततमत्वस्य प्रतिपादितत्वात् अथवा याप्यापेक्षयाऽसाध्यतमशब्देन प्रत्याख्येय उच्यते, याप्यस्यासाध्यरूपत्वात् । ननु, एवं सति 'कृशानां व्रणशोषिणाम् । बृंहणीयो विधिः कार्यः' (सु. चि. अ. १)' इति सुश्रुतेनैवोक्तम् चिकित्सितस्थाने विरुध्यते ? उच्यते, प्रबलशोषे प्रत्याख्येयत्वं, नातिप्रबले तु चिकित्साविधानमिति समर्थनीयम् । चन्द्रिकाकारस्तु 'स चासाध्यतमः स्मृतः'–इत्यस्य स्थाने 'याप्यासाध्यतमस्तु स' इति पठति, चिकित्सायां बृंहणविधेरभिधानादिति ॥ २० ॥

विमर्श—व्रणरोपण के लिये रक्त की आवश्यकता होती है । इस अवस्था में यदि बाह्य या आन्तरिक किसी भी कारण से रक्त का क्षय अधिक हो जाय तो व्रण का रोपण न होगा, एवं वातप्रकोप से शोष की उत्पत्ति भी हो जायेगी । अत्यधिक वेदना से भी वातप्रकोपणपूर्वक शोष होता है ।

आहारयन्त्रणात्—व्रणितावस्था में यदि पोषक पदार्थ बाहर से न देंगे तब भी धातुक्षयजन्य वातप्रकोप से व्रणित को शोष उत्पन्न होता है एवं व्रण का रोपण भी नहीं होता । प्रमेहपिडिका (Carbuncle) भी व्रणशोष का एक उत्तम उदाहरण है । यहा भी व्रण के लिये आहार की कमी रहने से व्रणरोपण नही होना एवं शोष की उत्पत्ति हो जाती है । व्रणरोपणार्थ शर्करा की परम आवश्यकता रहती है, किन्तु मधुमेह होने के कारण उसका अधिकांश भाग मूत्र द्वारा ही उत्सृष्ट हो जाता है, अतः पर्याप्त मात्रा मे शर्करा न मिलने के कारण व्रण का रोपण नही होने पाता । इस अवस्था में मुख द्वारा अधिक शर्करा सेवन करने पर भी व्रण को आहार द्रव्य पर्याप्त मात्रा में नही मिलता; क्योंकि शर्करा जितना ही अधिक सेवन की जायगी वह उतनी ही अधिक मूत्र द्वारा उत्सृष्ट हो जाती है । इस प्रकार शर्करा रूप आहार की कमी शरीर में यथास्थित रहती है ।

सनिदानमुरःक्षतं निरूपयति—

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम ।
युध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः ॥ २१ ॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः ।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥ २२ ॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम् ।
महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ २३ ॥
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं चाऽपि प्रनृत्यतः ।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥ २४ ॥
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते ।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥ २५ ॥
उरो विभज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते ।
प्रपीड्येते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥ २६ ॥

क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि ॥ २७ ॥
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्तते ॥ २८ ॥
स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्। (च. चि. १६)

धनुष की प्रत्यञ्चा को अधिक खीचने से, शक्ति से अधिक भार उठाने से, अति बलवान् व्यक्तियों के साथ युद्ध करने से, निम्नोन्नत स्थान से गिरने से, दौड़ते हुए बैल, घोड़े तथा अन्य दमन करने योग्य ऊँट या हाथी आदि को रोकने से, अतिभारयुक्त शिला, काठ, पत्थर या निर्यात नामक अस्त्रविशेष को फेंकने से, बलवान् शत्रुओं से कुश्ती आदि लडने से, उच्च स्वर से पढने से, द्रुतगति से दूर तक जाने से, चौड़ी नदी को तैर कर पार करने से, घोड़ों आदि के साथ दौडने से, सहसा ऊँचा या लम्बा उछलने-से, जल्दी-जल्दी देर तक नाचने से तथा अन्य इसी प्रकार के क्रूर कर्म करने तथा दारुण आघात लगने से, वक्षःस्थल में क्षत हो जाने पर बलवान् उरःक्षत नाम की व्याधि उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार रूक्ष, अल्प एवं परिमित भोजन करते हुए या इसके बिना भी स्त्रियों के साथ अधिक सम्भोग करने से उरःस्थल विदीर्ण हो जाता है। इससे अत्यधिक पीडा होती है। पार्श्वों में भी पीड़ा होती है, क्रमशः शरीर सूखने तथा काँपने लगता है। इस प्रकार क्रमशः शक्ति, बल (मांसोपचय) वर्ण, रुचि एवं अग्नि की क्षीणता होने लगती है। ज्वर, व्यथा, मन की दीनता, अतिसार तथा अग्नि का विनाश हो जाता है। खाँसते समय दुष्ट, श्याववर्ण, दुर्गन्धियुक्त, पीला, गठीला तथा रक्तमिश्रित कफ निकलता है। उरःक्षत से युक्त रोगी क्षत के कारण तथा (अतिमैथुन से) शुक्र एवं ओज के क्षय के कारण अधिकाधिक क्षीण होता जाता है ॥ २१-२८ ॥

शोषनिदानेनैव साहसादिना उरःक्षतस्य संभवात् उरःक्षतेनापि शोषसंभवात्, शोषाधिकारे सनिदानमुरःक्षतमाह—धनुषेत्यादि। आयस्यत इति आयासं कुर्वतो 'नरस्य' इति शेषः, 'आयम्यतः' इति पाठान्तरे विस्तीर्यमाणहृदयस्य। दम्यं दमनार्हं वृषादिकमेव बलवन्तमित्यर्थः। अन्यं वा गजोष्ट्रादिकं, निगृह्णतः। शिला दीर्घशिला, अश्मा तदितरप्रस्तरखण्डः, निर्घातोऽस्त्रविशेषः, किंवा निर्घातः शिलादीनां प्रेरणविशेषोऽतिबलसंपादितः। निघ्नतः परान् शत्रून् ताडयतः। अधीयानस्य पठतः। महानदीस्तरत इति, 'बाहुभ्याम्' इति शेषः। तूर्णं शीघ्रम्। तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्मल्लयुद्धादिभिरभ्याहतस्य, क्रूरैरित्यत्र शूरैरिति शत्रुभिरित्यन्ये। एषां कारणानां मध्ये किंचिन्निखिलदेहस्यायासकरं, किंचिदुरस एवेति बोद्धव्यम्। व्याधिरिति उरःक्षतलक्षणः, अथवा व्याधिर्वायुः, 'दोषा अपिव्याधिशब्दं लभन्त' इत्यागमादिति जेज्जटः। **उरो विभज्यते भज्यत इव, भिद्यते विदार्यते द्विधा क्रियत इति पाठान्तरमसंगतं, कारणाभावात् टीकाकारैरव्याख्यातत्वाच्च। वीर्यं शक्ति बलं मांसोपचयः। 'विड्भेदोऽग्निवधादपी' ति पाठान्तरे अग्निवधाद्धेतोर्विड्भेदो भवतीत्यर्थः' अपिशब्दात् व्याधिमहिम्ना विनाऽप्यग्निवधाद्विड्भेदो भवतीत्याहुः। दुष्टो व्यापन्नः, तदेव विवृणोति—श्याव इत्यादि। 'विग्रथितो विशेषण ग्रन्थिलः' विबद्ध, इति** जेज्जटः। **स**

१. 'पर्वतादिप्रस्तरखण्डः' इति क।

पुरुषः, क्षती उरःक्षतवान्, क्षीयते धातुशोषमाप्नोति। न केवलं क्षतादेव क्षीयते, किं तर्हि स्त्रीसेवादिना शुक्रौजसोः क्षयादपीत्याह—तथेत्यादि ॥ २१-२८ ॥

विमर्श—उक्त कारण-समुदाय का अधिकांश भाग राजयक्ष्मा के हेतु साहस में समाविष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त अधिक स्त्री-प्रसङ्ग भी क्षय तथा परम्परया साहस का ही एक अङ्ग है। साहस के कारण उरःक्षत होकर राजयक्ष्मा या शोष में से कोई भी हो सकता है। यह तादृश सम्प्राप्ति पर ही निर्भर है। इन सभी कारणों में से कुछ सर्व शरीर पर एवं कुछ केवल वक्षःस्थल पर ही प्रभाव करते हैं। उरःक्षत के लक्षणों में ज्वर का भी पाठ किया गया है अतः इसके राजयक्ष्मा का ही एक प्रकार होने का भ्रम हो सकता है। यद्यपि उरःक्षत रोग में क्षतोत्पत्ति के बाद पूयोत्पत्ति और ज्वर भी हो सकता है तथा यक्ष्मा रोग से अत्यधिक सादृश्य होता है पर जब तक स्रोतोरोध और तज्जनित विभिन्न धातुओं का शोष न प्रारम्भ हो यह स्वतन्त्र रोग ही रहता है। आधुनिक दृष्टि से भी क्षयदण्डाणु के उपसर्ग के बिना भी अनेक अन्य कारणों जैसे फुफ्फुसीय विद्रधि, कोथ, अर्बुद, एवं श्वासनलिका-विस्तृति (Bronchiectasis) आदि रोगों में भी ज्वर, कास, रक्तपित्त आदि क्षय सदृश लक्षण होते हैं। परन्तु जब तक उसमें क्षय दण्डाणु का उपसर्ग नही होता—जिसके होने की अधिक सम्भावना एवं अनुकूल परिस्थिति रहती है—तब तक उसे यक्ष्मा नही कहते। अतः जब तक यक्ष्मा के समान सम्प्राप्ति एवं लक्षण नहीं होते उरःक्षत एक स्वतन्त्र रोग ही है। यक्ष्मा रोग को सम्प्राप्ति के वर्णन का संग्रह चरक ने इस प्रकार किया है—

'स्रोतसां सन्निरोधाच्च रक्तादानाञ्च संक्षयात्।
धातूष्मणाञ्चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥' (च. चि. ८)

व्यवायादि जनित शोषों एवं क्षत और क्षीण रोगों में राजयक्ष्मा रोग के उपसर्ग और उसकी उत्पत्ति एवं वृद्धि के परम अनुकूल परिस्थिति रहती है और प्रायः अन्त में यह सभी राजयक्ष्मा मे परिणत हो जाते है। किन्तु आरम्भ से हो यह यक्ष्मा या उसके ही एक रूप हैं यह मानना अनुचित है। महर्षि चरक ने स्पष्ट ही कहा है—

उपेक्षिते भवेत्तस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः।
प्रागेवागमनात्तस्य तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥ (च. चि. ११)
तथा च सुश्रुतः—क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंज्ञिताः। (सु. उ. ते. ४१)

शक्ति का कार्य करने में फुफ्फुस अत्यन्त महत्वपूर्ण भाग लेता है। शक्ति से अधिक भार या अन्य इसी प्रकार के दारुण कार्य करने से फुफ्फुस का अप्राकृत विस्फार होता है जिससे फुफ्फुस की कोषायें भग्न हो जाती हैं एवं वहाँ की रक्तवाहिनी के फट जाने से रक्तस्राव भी होने लगता है। आजकल यह रोग मोटर रोकने का प्रदर्शन करने वाले तथा अत्यधिक भार उठाने (weight lifting) का काम करने वाले व्यक्तियों में कभी-कभी पाया जाता है।

इन शोषों के अतिरिक्त आन्त्रशोष तथा अस्थिशोष आदि क्षय के अनेक प्रकार भी पाये जाते है। उनके लक्षण पाश्चात्य पुस्तकों में देखना चाहिये।

उरःक्षतस्य पूर्वरूपं वर्णयति—

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥ २९ ॥

उरःक्षत के लक्षणों की अव्यक्तता ही उसका पूर्वरूप है। ॥ २९ ॥

पूर्वरूप मान—अव्यक्तमित्यादि ॥ २९ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि उरःक्षत की रूपावस्था में पाये जाने वाले लक्षण ही पूर्वरूप की अवस्था में सूक्ष्म रूप से होते हैं।

क्षतक्षीणयोर्भेदनिरूपणम्—

उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते ।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटीग्रहः ॥३०॥ (च. चि. १६)

छाती में पीड़ा, रक्त को वमन तथा (दुष्ट श्यावादि गुणों से युक्त कफ के साथ) विशिष्ट रूप की खाँसी का होना क्षत का विशेष लक्षण है । तथा रक्त सहित मूत्रत्याग, पार्श्व, पृष्ठ तथा कटी-प्रदेशमें जकड़ाहट का होना क्षीण का विशिष्ट लक्षण है ॥ ३० ॥

क्षतक्षीणयोरसाधारणलक्षणमाह—उरोरुगित्यादि । वैशेषिको विशिष्टः कासः, स च विशेष उक्तो दुष्टश्यावादिकफसंयुक्तत्वेन किंवा वैशेषिक उद्भूतः । क्षत इति छेदः । क्षीण इति क्षय इत्यर्थः । सरक्तमूत्रत्वम् आलोहितमूत्रता ॥ ३० ॥

विमर्शः—उराक्षत रोग दो कारणों से उत्पन्न होता है एक **'धनुषायस्यतः'** आदि साहसिक कर्मों के द्वारा, दूसरा रूक्ष अल्प प्रमितभोजी अतिकामुक व्यक्तियों में शुक्र एवं ओज के क्षय के कारण। दोनों में ही अन्ततोगत्वा **'उरो विरुज्यतेऽत्यर्थम्'** आदि लक्षण उत्पन्न होते है किन्तु दोनों में जो थोड़ा सा अन्तर होता है उसी का उल्लेख इस श्लोक में किया गया है ।

साधारणसाध्यासाध्यलक्षणान्याह—

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः ।
परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥३१॥ (च. चि. १६)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानं समाप्तम् ।

जिस रोगी में उपरिलिखित लक्षण अल्प हों, अग्नि दीप्त हो तथा रोग नया हो और रोगी भी बलवान् हो तो वह 'साध्य' होता है । एक वर्ष व्यतीत हो जाने पर यही 'याप्य' है, जब रोगी सब लक्षणों से युक्त हो तो उसे पूर्णतया 'असाध्य' समझना चाहिये ॥ ३१ ॥

तयोः साध्यलक्षणमाह—अल्पेत्यादि ॥ ३१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानं समाप्तम् ॥१०॥

विमर्श—जब तक राजयक्ष्मा आदि के जीवाणुओं का उपसर्ग न होगा एवं रोगी का सामान्य स्वास्थ्य ठीक होगा तो लक्षणों की उत्पत्ति भी कम ही होगी । यदि स्वास्थ्य ठीक हो और विष भी साधारण हो तो रोग साध्य होता है एवं साधारण उपचार द्वारा ही वह ठीक भी हो जाता है । किन्तु जब पूयजनक या राजयक्ष्मा के जीवाणुओं का उपसर्ग हो जाता है एवं उनका विष तीव्र तथा रोगी अत्यन्त दुर्बल होता है उस अवस्था में लक्षण पूर्णप्रगल्भ एवं समग्र रूप मे प्रकट होते हैं । उक्त अवस्था में बल-मांस का पर्याप्त क्षय होने के कारण रोग असाध्य कोटि में चला जाता है ।

इति राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानं समाप्तम् ।



अथ कासनिदानम्

कासस्य हेतून् वर्णयति—

धूमोपघाताद्रसतस्तथैव व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च ।
विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव ॥ १ ॥

(मुख, नासिका तथा गले में) धूम के प्रवेश करने से, **'रजसः'** धूल, गर्द आदि के उक्त मार्गों में चले जाने से अथवा **'रसतः'** वायु द्वारा प्रेरित आमरस के मुख की ओर आने से, व्यायाम तथा रूक्षान्न सेवन करने से, भोजन के (श्वासनाली सदृश) विरुद्ध मार्ग में चले जाने से तथा मलादि एवं छींक के वेग को रोकने से कास की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

कासस्य संप्राप्तिमाह (सु. उ. ५२)—

प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः स भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः ।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः ॥ २ ॥

उपर्युक्त कारणों से दुष्ट प्राण वायु उदान वायु से मिलकर फूटे हुए काँसे के पात्र के ठोकने पर हुए शब्द के समान शब्दको करता हुआ दोष (कफ-पित्त आदि) सहित मुख से सहसा निकलता है, इस अवस्था विशेष को बुद्धिमान् **'कास'** कहते हैं ॥ २ ॥

क्षयरूपे कासपाठात् कासोपेक्षया च क्षयोत्पत्तेस्तदनन्तरं कासनिदानमाह—धूमोपघातादित्यादि । धूमेन मुखनासाप्रविष्टेनोपघातो धूमोपघातः । रसत इति वातेनोर्ध्वनीतादामरसात्, रजस इति पाठान्तरे मुखनासाप्रविष्टधूलेरित्यर्थः । विमार्गगत्वं च हि भोजनस्यातिद्रुताभ्यवहारादिना, च शब्दः समुच्चये- हि-पादपूरणे । वेगावरोधादिति पुरीषादेः, तेन हि वायुरूर्ध्वगः स्यात् । क्षवथोस्तथैवेति वेगावरोधादिति सम्बन्धः । प्राणो वायुरुदानेन दुष्टेनानुगतो वक्त्रान्निरेति । स वायुः, भिन्नकांस्यपात्रवत् हतस्वनः कास इति प्रदिष्टः । सदोषः सकफपित्तः, वातिकपैत्तिकादिभेदभिन्न इति वा । एतेनैव समानस्थाननिदानाभ्यां हिक्काश्वासाभ्यामस्य भेदः न हि तत्र वातिकपैत्तिकादिभेदेन व्यपदेश इति गदाधरः । **कसति शिरः कण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः, 'कस' गतौ इत्यस्मात्; 'कसनात् कासः'** (च. चि. अ. १८) **इति चरके पाठः, कासनं कास इति वा, 'भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव'** (सु. उ. २) **इति** सुश्रुतदर्शनात् **॥ १-२ ॥**

विमर्श—वस्तुतः कास (खाँसी) एक लक्षण ही है जो अनेक रोगों में पाया जाता है । किन्तु जहाँ इसकी वजह से ही अनेक लक्षण होते हैं इसे स्वतन्त्र रोग मानकर वहाँ इसकी विशेष चिकित्सा भी की जाती है । इसी से माधव ने भी इसको रोग विशेष मानकर निदानान्तर्गत पढ़ा है ।

कास प्रवृति के कारणों को बाह्य और आभ्यन्तर दो बडे विभागों में विभक्त किया जा सकता है । धूमोपघात तथा धूलि आदि बाह्य कारण तथा गलशोथ आदि आभ्यन्तर कारण हैं ।

प्रत्येक दोष से होने वाले कास के धूम आदि सामान्य कारणों का वर्णन चरक तथा वाग्भट में नहीं मिलता है । किन्तु चरक ने प्रत्येक कास के पृथक् पृथक् कारणों का उल्लेख किया है और सुश्रुत ने केवल सामान्य कारणों का ही वर्णन किया है ।

प्राणो ह्युदानानुगतः—शास्त्र में वायु के साधारणतया प्राण तथा अपान नामक दो मुख्य विभाग किये गये है । इनमें प्रापण करने वाली वायु को प्राण वायु नाम दिया गया है । तात्पर्य यह है कि शरीर के परिसरीय (Peripheral) भागों से केन्द्र तक सूचना आदि पहुँचाने वाली वायु को ही प्राण वायु कहते हैं । इससे भोजन को उदर तक पहुँचाने वाली, रस को धातुपोषण में प्रवृत्त

कराने वाली, विष्णुपदामृत (Oxygen) को फुफ्फुस मे पहुँचाने वाली तथा प्रान्तीय भागों से केन्द्र-पर्यन्त संज्ञा-सवहन करने वाली नाडी (Sensory nerve) गत वात को प्राणवायु कह सकते है। अपना वायु का कार्य इसके विपरीत है, वह केन्द्र से प्रान्त में अथवा शरीर से बाहर की ओर प्रवृत्ति कराती है। केन्द्र से प्रान्तीय भागों को आने वाली आज्ञावाहिनी नाडियों (Motor nerves) को तथा शरीर के लिये अनुपयोगी विष्ठा-मूत्र आदि मलों को बाहर निकालने के लिये प्रेरित करने वाली वायु को अपान वायु कहते हैं। इस प्रकार शरीरगत वायु के प्राण और अपान नामक दो भेद प्रधानतया होते हैं। वैदिकवाङ्मय में भी मुख्य रूप से दो वायुका ही वर्णन मिलता है यथा—**'य इमौ वातौ वातः आसिन्धोरापरावतः' (ऋ०)**। गीता में भी कहा है-**'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ'** इस प्रकार दो प्रकार की वायु का ही मुख्य रूप से वर्णन मिलता है। इस विषय का विस्तृत वर्णन 'वातव्याधिनिदान' में देखना चाहिये। अन्य सभी वायु इन्हीं दो के भेदमात्र हैं। उदान वायु अपान का ही भेद है; क्योंकि यह भी बाहर निकालने का कार्य करता है। इसका स्थान कण्ठ है तथा यह वाणी का प्रवर्तक है। प्राण एवं अपान में सामञ्जस्य स्थापित करने का कार्य समान वायु करती है और यह क्रिया उदर में सुस्पष्ट रूप से मिलने से उसका स्थान नाभि या शरीर का मध्य भाग माना गया है। इसे वैज्ञानिक की भाषा में सन्तुलन तन्तु (Coardination fibres) या उनमें रहने वाली शक्ति कहते हैं, सर्वशरीर में परिभ्रमण करने वाली वायु को व्यान या परिसरीय नाड़ी (Peripheral nerve) गत वायु कहना चाहिये।[1]

सुषुम्नाशीर्ष (Medulla oblongata) में कास का केन्द्र है। कास-प्रवृति में त्रिशाखा (Trigeminal), जिह्वाग्रसनिका (Glossopharyngeal), प्राणदा (Vagus) तथा अनुकोष्ठिका नाडियां (Phrenic nerves) कार्य करती है। ये ही प्राण और उदान वायु के अधिष्ठान हैं; क्योंकि इन्हीं के द्वारा क्षोभ अदि का ज्ञान एव ऊर्ध्वक्षेपण का कार्य सम्पन्न होता है। फुफ्फुस में विकार न होते हुए भी अम्लपित्त जैसे रोगों में शुष्क कास पाया जाता है, उसका कारण उपप्राचिर देश (Subphrenic region) में फैली हुई अनुकोष्ठिका (Phernic) नामक नाडी की शाखायें ही हैं। सम्प्रति कास के उत्पादक निदानों का क्रमशः वर्णन किया जाता है।

धूमोपघातात्—मुख, नासा तथा गले में धूम के सहसा प्रवेश से वहां फैली हुई वातनाडियों में क्षोभ होने से केन्द्र द्वारा उत्तेजना मिलने पर कास की उत्पत्ति होती है।

रजसः— नासा मुख आदि में धुल के प्रवेश से भी धूमोपघात के समान ही उत्तेजना होकर कास उत्पन्न होता है। कतिपय विद्वान् 'रजसः' के स्थान पर 'रसंतः' पाठ करते हैं। उनके मत में उदान वायु के द्वारा गले तक लाये गये आमरस के कारण ही उत्तेजना होकर खांसी आने लगती है।

---

१ शरीर के भीतर वायु, पित्त या कफ नामों से किसी एक ही धातु-उपधातु आदि को नहीं बताया गया है। इस शरीर में प्रत्येक सूक्ष्म या स्थूल अवयव चाहे वे धातु हों या उपधातु या और कुछ सभी पञ्चीकृत हैं अर्थात् पञ्चमहाभूत संयोग प्रत्येक में होता है। फिर भी जिस विशेषभूत की अधिकता होती है उसी के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाता है। इनमें आकाश और वायु भूयिष्ठ पदार्थ वात, अग्निबहुल पदार्थ पित्त और जल और पृथ्वी भूयिष्ठ पदार्थ कफ वर्ग में आते हैं। किसी एक भूत की अधिकता का ज्ञान उसके गुण-कर्म को देखकर ही किया जाता है। इस प्रकार स्थूल रूप से श्वासोच्छ्वासगत वायु एवं अन्न-पान परिणाम के अन्त में उत्पन्न वायवीय पदार्थ (गैसें) यह सब भी वायु ही है किन्तु शारीरिक धातुओं में नाडी तन्तु (Nerves tissue) में सुस्पष्ट वायु के गुण-कर्म प्राप्त होते हैं अतः उसको पञ्चीकृत होते हुए भी आश्रयाश्रयीभाव से वायु मानना अनुचित नहीं तथा उस एक ही वस्तु के उपाधि भेद से पांच भेद किए गए हैं वह भी शास्त्रसम्मत है।

तात्पर्य यह है कि जब श्वासपथ मे रसरक्त-सचार द्वारा आमरस का सचय होता है तब उससे आवृत वायु का क्षोभ होता है और कास की प्रवृत्ति होती है। अधिक व्यायाम से भी पूर्वोक्त रीति से श्वासोच्छ्वास का क्रम विपरीत हो जाता है अतः यह भी कास का उत्तेजक कारण माना गया है।

विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य—मुख द्वारा गृहीत भोजन अन्नप्रणाली द्वारा आमाशय में चला जाता है। यही भोजन के जाने का प्रकृत मार्ग है। अन्नप्रणाली के निकट सम्पर्क में ही श्वासनलिका का भी मार्ग होता है। इन दोनों के खुलने और बन्द होने के क्रम का नियमन उपजिह्विका (Epiglotis के द्वारा होता है। भोजन करते समय **'अजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीत'** के नियम को भूल कर बोलने या हँसने आदि कारणो से कदाचित् दोनों के क्रम में वैपरीत्य उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार भोजन अन्नप्रणाली में न जाकर कदाचित् श्वासनलिका में भी चला जा सकता है। असात्म्य होने के कारण वहा की कला मे क्षोभ होने से वायु उत्तेजित होती है और केन्द्रीयसूचना या साक्षात् प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा कास की उत्पत्ति होती है एवं वह असात्म्य पदार्थ बाहर निकल जाता है।

सदोषः—खासते समय वायु के साथ उत्तेजक पदार्थ-कफ या पित्त बाहर निकलता है। हिक्का, श्वास तथा कास के स्थान एवं निदान समान होते हुये भी कास को पूर्वोक्त दोनों से इसी आधार पर पृथक् किया जा सकता है कि उन दोनो के वेग के समय कोई पदार्थ बाहर नहीं निकलता जब कि इसमे कफ और पित्त निकलते है। तथा कास का वातादि भेद होता है किन्तु श्वास और हिक्का के वातिकादि भेद नहीं होते।

चरकोक्त सम्प्राप्ति भी यद्यपि सुश्रुतोक्त सम्प्राप्ति के ही समान है तथापि चरकोक्त सम्प्राप्ति के द्वारा कास में होने वाले सभी भावों का वर्णन समुचित रीति से किया गया है यथा—

अतः प्रतिहतो वायुरूर्ध्वस्रोतः समाश्रितः। उदानभावमापन्नः कण्ठे सक्तस्तथोरसि॥
आविश्य शिरसः खानि सर्वाणि प्रतिपूरयन्। आभञ्जन्नाक्षिपन् देहं हनुमन्ये तथाऽक्षिणी॥
नेत्रे पृष्ठमुरःपार्श्वे निर्भुज्य स्तम्भयंस्ततः। शुष्को वा सकफो वापि कसनात् कास उच्यते॥

वाग्भट ने भी इसी का अनुसरण किया है।

कास की निरुक्ति—'कसनात् कासः' 'कस् गतिशातनयोः' इस धातु से ऊर्ध्वगति अर्थ में कास सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त **'कसति शिरःकण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः'** इस क्रिया में वायु कण्ठ से ऊपर सिर की ओर जाती है अतः कास कहते हैं। **कासनं कासः'** इस विग्रह में **'कास्-कुशब्दे'** इस धातु से कास शब्द की सिद्धि होती है।

भेदानुसारं काससंख्यामाह—

पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः।
क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम्॥ ३॥ (अ. नि. ३)

वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, क्षतज तथा क्षयज भेद से कास पांच प्रकार का होता है। उपेक्षा करने पर पांचों क्षय में परिणत हो सकते हैं तथा वातिक से पैत्तिक और पैत्तिक से श्लैष्मिक उससे क्षतज तथा क्षतज से क्षयज इस प्रकार उत्तरोत्तर बलवान् होते है॥ ३॥

संख्यामाह—पञ्चेत्यादि। पञ्च कासा इति संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां पञ्चग्रहणं जराकासस्य दोषजेष्वन्तर्भूतस्याधिकत्वनिरासार्थं, पञ्चानामपि वा क्षयकारणत्वप्रतिपादनार्थमिति। क्षयाय धातुक्षयाय॥ ३॥

विमर्श—कास की सख्या, नामकरण तथा इनके अन्तिम परिणाम के विषय के विषय बृहत्त्रयी का एक मत है। कारण भेद से प्रत्येक कास की वेदना तथा स्वरूप में भिन्नता हो जाती है जैसा कि कहा भी है—

प्रतीघातविशेषेण तस्य वायोः सरंहसः। वेदनाशब्दवैशिष्ट्यं कासानामुपजायते॥(च. चि. १८)

कारणभेद से वेगवान् वायु के विशेष प्रकार के प्रतिघात होने (विभिन्न स्थानों पर टकराने) से वेदना तथा खांसने के शब्द में विशेषता हो जाती है।

यद्यपि वातिक आदि कास का नामतः पृथक् पृथक् उल्लेख करने से पाच प्रकार की खासी स्वयं सिद्ध थी पुनः पाच संख्या कहना अनावश्यक प्रतीत होता है तथापि जराकास का भी दोषज कास में अन्तर्भाव करने तथा पांचों को भी क्षय का कारण प्रतिपादित करने के हेतु पुनः 'पञ्च' कहा गया है।

काससामान्यस्य पूर्वरूपं विविनक्ति—

पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते॥ ४॥ (च. चि. २२)

सभी कासों के पूर्वरूप में मुख और गले मे शूक भर जाने के समान वेदना का होना, कण्ठ में खुजली तथा भोज्य पदार्थों का गले में अवरोध ये लक्षण पाये जाते हैं॥ ४॥

पूर्वरूपमाह—पूर्वेत्यादि। भोज्यानामवरोध इत्यरुचिरभ्यवहारासामर्थ्य वा॥ ४॥

विमर्श—शूकपूर्णगलास्यता—तालु एवं अन्ननलिका के उपरितन भाग (ग्रसनिका = Pharynx) में दोषों के प्रकोप से कण्टकवत् रचनाये (Granules) बन जाती है। इनकी उपस्थिति से शूक के समान वेदना का अनुभव होता है। कास की उत्पत्ति में कफ का भी अंश रहता है अतः उसकी उपस्थिति से कण्ठ में खुजली या खरास सी होती है। दोषों के प्रकोप से गलशुण्डिका (Uvula) तथा ग्रसनिका ग्रन्थि (Tonsils) मे शोथ हो जाने के कारण अन्नमार्ग पूर्वापेक्षया सकुचित हो जाता है, अत एव भोज्यपदार्थ को निगलने में कष्ट की प्रतीति होती है।

सुश्रुत में पूर्वरूप के लक्षण कुछ विशेष मिलते हैं यथा—

भविष्यतस्तस्य तु कण्ठकण्डूर्भोज्योपरोधो गलतालुलेपः।
स्वशब्दवैषम्यमरोचकोऽग्निसादश्च-लिङ्गानि भवन्त्यमूनि॥

इनके अनुसार तालु में भी अङ्कुर उत्पन्न हो जाते हैं। स्वरवैषम्य आदि सभी लक्षण कास की उत्पत्ति के पूर्व होते हैं यह सभी का अनुभव है। इनकी उत्पत्ति का प्रमुख कारण कफ की सत्ता है। प्रायः यह देखा जाता है कि कभी कभी प्रातःकाल सोकर उठने पर ये लक्षण होते हैं क्योंकि वही कफ का काल है। इनके होने पर सहज ही भावी कास का अनुमान हो जाता है। एक-दो दिन तक इस प्रकार के लक्षण प्रातःकाल होते हैं और फिर कास का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है।

वातिककासं विवृणोति—

हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः।
प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव॥ ५॥ (सु. उ. ५२)

वातिक कास से पीड़ित रोगी के हृदयप्रदेश, शङ्खप्रदेश (Temples), सिर, उदर तथा पार्श्व में शूल होता है, रोगी का मुख सूखा तथा कान्तिहीन दिखायी पड़ता है। शारीरिक बल, स्वर तथा ओज भी क्षीण हो जाते हैं। निरन्तर कास के वेग आते रहते हैं, खांसी सूखी ही होती है, कफ आदि प्रायः नही निकलते, आवाज फटी हुई सी हो जाती है या बैठ जाती है॥ ५॥

वातिककासस्वरूपमाह—हृदित्यादि। शङ्खो ललाटैकदेशः। क्षामाननः शुष्कमुखः, वातेन शोषणात्। प्रसक्तवेगः सततकासवेगः। शुष्कमिति श्लेष्मादिनिष्ठीवनरहितम्॥ ५॥

विमर्शः—चरक ने निदान सहित इसके लक्षणों का निम्न प्रकार से वर्णन किया है—'रूक्ष, शीत तथा कषाय रस प्रधान द्रव्य, अल्पाशन, अधिक स्त्रीसम्भोग, वेगविधारण एवं श्रम से कुपित वायु वातिक कास को उत्पन्न करती है। इसके कारण हृदयप्रदेश, पार्श्व, छाती तथा सिर में शूल एवं स्वरभेद होता है। रोगी का वक्ष कण्ठ एवं मुख सूखा रहता है। रोगी के रोंगटे खड़े रहते है तथा वह अपने को अन्धकार में प्रविष्ट हुआ सा समझता है (वस्तुतः खासी का तीव्र वेग होने पर कभी कभी रोगी को आकाश में तारे से दिखाई देते है व कभी कभी उसे कुछ भी दिखाई नहीं पडता)। इस प्रकार दुर्बलता, दीनता, क्षोभ एवं मोह को करने वाला तीव्र शब्द युक्त शुष्क कास होता है एवं यथाकथञ्चित् शुष्क (अत्यल्प) कफ को निकालने के पश्चात् कास का दौरा शान्त होता है[1]।

साधारणतया सभी कासों में वात की विद्यमानता परमावश्यक है। अन्य कासों में कोई दृश्य उत्तेजक अनावश्यक आभ्यन्तर पदार्थ कफ, पित्त या धूम आदि बाह्य कारण रहते हैं, किन्तु इसमें इन कारणों की सत्ता नहीं रहती, अपितु अन्तःस्थित किसी सूक्ष्म कारण से नाड्यग्रों पर निरन्तर क्षोभ होता रहता है, जिससे निरन्तर सूखी खासी का दौरा दीर्घकाल तक बना रहता है। अतः इस कास को वातनाड़ी-क्षोभजन्य अथवा केवल वातिक कास कहा जाता है। रूक्ष, शीत आदि प्रकोपक कारणों से वात का प्रकोप होता है और वातप्रकोप से वातनाड़ियों में क्षोभ होकर कास की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार शुष्क एव निरन्तर खांसने से हृदय आदि प्रदेशों मे शूल होता है, खाँसते खाँसते मुख सूख जाता है एवं रोगी की कान्ति क्षीणप्राय हो जाती है।

पित्तजकासमाह—

उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः ।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्स पाण्डुः परिदह्यमानः ॥ ६ ॥

(सु. उ. ५२)

पैत्तिक कास में रोगी छाती की जलन, ज्वर तथा मुखशोष से पीडित रहता है। मुख का स्वाद तिक्त (कडवा) रहता है एवं प्यास अधिक लगती है, पित्त के साथ पीले रङ्ग का वमन होता है, सारे शरीर में जलन तथा पाण्डुरोग के लक्षण दिखाई देते हैं ॥ ६ ॥

पैत्तिककासमाह—उर इत्यादि। अभ्यर्दितः पीडितः ॥ ६ ॥

विमर्श—चरक ने कटु, उष्ण, विदाही, अम्ल तथा क्षार का अतिसेवन करने से पैत्तिक कास की उत्पत्ति मानी है तथा इसका वर्णन कुछ विशिष्ट लक्षणों के साथ किया है[2]। वाग्भट ने सुश्रुत के समान इसमे ज्वर की भी सत्ता स्वीकार की है। वस्तुतः कास के सामान्य निदानों के साथ यदि पित्तज कारणों का भी अनुबन्ध हो जाता है तो कास पित्त के लक्षणों से भी युक्त हो जाता है। चरक ने भी ज्वर का वर्णन न करते हुए भी इसमे शारीरिक दाह का निर्देश किया है जो कि ज्वर का ही प्रतीक है। पैत्तिक कास पित्त या पित्तानुबन्धी ज्वर तथा अन्य पुराण ज्वरों (Chronic fevers) में मिलता है।

---

१. रूक्षशीतकषायाल्पप्रमितानशनं स्त्रियः। वेगधारणमायासो वातकासप्रवर्तकाः ॥
हृत्पार्श्वोरःशिरःशूलस्वरभेदकरो भृशम्। शुष्कोरःकण्ठवक्त्रस्य हृष्टलोम्नः प्रताम्यतः ॥
निर्घोषदैन्यस्तननदौर्बल्यक्षोभमोहकृत्। शुष्ककासः कफं शुष्कं कृच्छ्रान्मुक्त्वाऽल्पतां व्रजेत् ॥

२. कट्वोष्णविदाह्यम्लक्षाराणामतिसेवनम्। पित्तकासकरं क्रोधः सन्तापश्चाग्निसूर्यजः ॥
पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं तिक्तास्यत्व स्वरामयः। उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचिर्भ्रमः ॥
प्रततं कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति। श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ॥

उरोविदाहः—उर शब्द से यहाँ उर के सम्पर्क में रहने वाली अन्ननलिका (Oesophagus) का भी ग्रहण करना चाहिये। अतिमात्रा में उत्पन्न हुआ आमाशयिक स्राव का अम्ल (Hcl) वहाँ जलन उत्पन्न करता है। इस अवस्था को अम्लाधिक्य (Hyperacidty या Hyperchlorhydria) कह सकते है। यह कास अम्लपित्त में पाया जाता है एवं इसका विशेष सम्बन्ध फुफ्फुस से न होकर आमाशय या अन्ननलिका से होता है। इस कास में फुफ्फुस पूर्णतया अविकृत भी रह सकते है। जलन के कारण गले में क्षोभ होकर प्रतिक्रिया (Raflar) जन्य कास की प्रवृत्ति से अन्ततः वमन के रूप में पित्त बाहर निकल जाता है।

कफजं कासं लक्षयति—

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदञ् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः।
अभक्तरुग्गौरवकण्डुयुक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥ ७ ॥
(सु. उ. ५२)

कफज कास से पीडित रोगी का मुख कफ से लिप्त रहता है, वह शरीरशैथिल्य तथा शिरोवेदना से पीडित रहता है, शरीर कफ से भरा हुआ सा प्रतीत होता है। भोजन मे अरुचि, शरीर मे भारीपन तथा खुजली हो जाती है। ऐसे रोगी के खाँसने पर गाढ़ा कफ निकलना है ॥ ७ ॥

कफजकासमाह—प्रलिप्यमानेनेत्यादि। प्रलिप्यमानेन श्लेष्मलिप्तेन मुखेनोपलक्षितः, सीदन् अङ्गावसादयुक्तः। अभक्तरुगरुचिः ॥ ७ ॥

विमर्श—चरक ने मधुर, गुरु तथा अभिष्यन्दि आदि कफवर्द्धक पदार्थों के सेवन से वात का मार्ग अवरुद्ध होने पर कास की उत्पत्ति माना है, एवं मन्दाग्नित्व, अरुचि आदि लक्षणों का वर्णन किया है[1]। कफज कास को आधुनिक दृष्टि से श्वासनलिकाशोथ (Bronchitis) में मिलने वाला एक विशिष्ट लक्षण भी कहा जा सकता है। दोनों की चिकित्सा में भी साम्य है।

शिरोरुजार्तः—शिरोवेदना यद्यपि वातिक कास का ही विशिष्ट लक्षण है। प्रकृत में भी कफ के द्वारा प्रायः कपालादि गत अस्थिकोटरों में अवरुद्ध वात एवं शुष्क कफ के द्वारा ही पीडा उत्पन्न होती है अतः कोई दोष नही आता। कफ के द्वारा स्रोतोरोध होने के कारण गुरुता का अनुभव होता है अतः 'कफपूर्णदेह' का अर्थ भी शरीर-गौरव करना चाहिये।

ये तीनों कास क्रमशः एक दूसरे के उत्पादक होते है, अर्थात वातिक कास पैत्तिक में तथा पैत्तिक कास श्लैष्मिक में परिवर्तित हो जाता है। वस्तुतः श्वासपथ में क्षोभ मात्र (Irritatiou) से वातिक और शोथ (Inflamations) अर्थात उसकी आरम्भिक निःस्राव अवस्था में पैत्तिक और सास्राव (Exudations) अवस्था एवं कफज शोथ (Oedema) में कफज कास होता है और यह एक दूसरे के जनक होते हैं। उपेक्षा करने पर अन्ततोगत्वा इन सभी से क्षय या क्षयज कास की उत्पत्ति होती है। कहा भी है—**'प्रतिश्यायादथो कासः कासात् संजायते क्षयः'**

क्षतजकासलक्षणं निरूपयति—

अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः ।
रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् ॥ ८ ॥

१. गुर्वभिष्यन्दिमधुरस्निग्धस्वप्नाविचेष्टनैः। वृद्धः श्लेष्माऽनिलं रुद्ध्वा कफकासं करोति हि ॥
मन्दाग्नित्वारुचिच्छर्दिपीनसोत्क्लेशगौरवैः। लोमहर्षास्यमाधुर्यक्लेदसंसदनैर्युतम् ॥
बहुलं मधुरं स्निग्धं निष्ठीवति घनं कफम्। कासमानो ह्यरुग्वक्षःसम्पूर्णमिव मन्यते ॥
(च. चि. १८)

स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत्सशोणितम्।
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥ ९ ॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥ १० ॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः ।
पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥११॥ (सु. उ. ५२)

अत्यन्त मैथुन करने से, शक्ति से अधिक भार उठाने से, अधिक मार्ग चलने से, दौडते हुए हाथी-घोडों को रोकने से एवं बली मनुष्य के साथ युद्ध करने से रूक्षित मनुष्य की छाती में जब क्षत हो जाता है तो वायु उस क्षत स्थान में पहुँचकर खांसी को उत्पन्न करता है। रोगी को प्रथम सूखी खाँसी होती है और पीछे से खाँसी के साथ रक्त भी आने लगता है। इस अवस्था में गले में अत्यन्त पीडा तथा छाती में दर्द होता है। ऐसा मालूम होता है मानों छाती में सुइयाँ चुभ रही हों। छाती तथा पार्श्वों में स्पर्शासहता, भेद और दाहयुक्त शूल के दौरे उठते हैं। अंग-प्रत्यंग टूटता है, ज्वर, श्वास, तृष्णा तथा स्वर-भेद सदृश उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। क्षतज कास के वेग से कबूतर के समान घुर्घुराहट युक्त आवाज निकलती है ॥ ८-११ ॥

क्षतजकासमाह—अतिव्यवायेत्यादि। विग्रहो विधारणं युद्धस्योपात्तत्वात्; निग्रह इति पाठे स एवार्थः। ततः ष्ठीवेत् सशोणितमिति कासाभिघातेन हृदयस्य विदारणात्। कण्ठेनेत्युपलक्षणे तृतीया, एवमुरसेति। विरुग्णेनेव, भग्नेनेव, सूचीभिरिव तुद्यमानेन, शूलिना दुःखस्पर्शेन चोरसेति संबन्धः, दुःखस्पर्शत्वं स्पर्शासहत्वम्। शूलेनोपलक्षितः, तच्च पार्श्वादौ बोध्यम्। वाग्भटेनापि पठ्यते-'पार्श्वशूली' (वा. नि. अ. २) इति। भेदपीडाभितापिनेति शूलविशेषणम्। पारावत इव कूजन्, भवतीति शेषः ॥ ८-११ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने क्षतज कास का लक्षण अतिसंक्षेप में निम्न प्रकार से दिया है—

वक्षोऽतिमात्रं विहतन्तु यस्य व्यायामभाराध्ययनाभिघातैः।
विश्लिष्टवक्षाः स नरः सरक्तं ष्ठीवत्यभीक्ष्णं क्षतजं तमाहुः ॥

अर्थात् व्यायाम, भार जोर से बढना तथा लगुड आदि के प्रहार से हुए आघात से वक्षःस्थल विदार्ण हो जाता है एवं उस मनुष्य के थूक में रक्त आने लगता है। वाग्भट ने भी यद्यपि इसकी सम्प्राप्ति चरक के समान नहीं माना है किन्तु वात के साथ पित्त-प्रकोप को भी कारण माना है[1]।

स पूर्वं कासते शुष्कमिति—पहिले शुष्क कास होता है जो कि शुद्ध वातिक है। इसके सतत वेगों के आघात से श्वासनलिकागत या फुफ्फुसगत केशिकाओं के विदीर्ण हो जाने से रक्तष्ठीवन होने लगता है। प्रसंगतः यह समझ लेना भी आवश्यक है कि उरःक्षत का कारण यदि साधारण होगा तभी देर तक शुष्क कास के आवेगों से अधिक आघात होने पर रक्तष्ठीवन कुछ देर पश्चात् होता है। किन्तु यदि आघात पहिले से ही तीव्र स्वरूप का है तो रक्तष्ठीवन भी शीघ्र ही होने लगता है। तात्पर्य यह है कि पहिले प्रकार में रक्तष्ठीवन का साक्षात् एवं सन्निकृष्ट कारण कास है और दूसरे में उरःक्षत स्वयं कारण है। इसके अतिरिक्त इस अवस्था में उरःक्षतजन्य रक्त कास का प्रवर्तक भी होता है। यह कास यद्यपि उरःक्षत का ही एक विशिष्ट लक्षण है स्वतन्त्र रोग नहीं तथापि इस अवस्था में चिकित्सा करने के लिये कास की प्रवृत्ति को रोकना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि इसके

---

१. युद्धाद्यैः साहसैस्तैस्तैः सेवितैरयथाबलम्। उरस्यन्तः क्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली ॥
कुपितः कुरुते कासं कफं तेन सशोणितम् ॥ (वाग्भटः)

रहने पर आवेग के कारण केशिकाओं के पुनः विदीर्ण होने तथा उरःक्षत की आत्ययिकता के बढने का भय रहता है। अतः क्षतज कास का स्वतन्त्र रूप से वर्णन किया गया है।

उरःक्षत का कारण अति व्यायाम तथा अति भार के उठाने आदि रूप साहस के कार्यों को बताया गया है। इन सभी शक्ति के कार्यों को सम्पन्न करने के निमित्त श्वास को रोक कर फुफ्फुस में प्रकृत से अधिक वायु की मात्रा भरनी पडती है। अर्थात् कार्य की कठिनताके अनुपात से शक्ति तथा उसके संचय के लिये फुफ्फुस में वायु की मात्रा भरनी पड़ती है। फुफ्फुसीय कोषाओं की शक्ति भी सीमित है। एक सीमा तक वे इसको सफलतापूर्वक सह सकती हैं। किन्तु जिस अवस्था में वायु का भार फुफ्फुसीय कोषाओं की सीमा का अतिक्रमण कर जाता है तब कोषा और उसमें रहने वाली रक्तवाहिनी के विदीर्ण होने से रक्तस्राव होने लगता है। यही रक्त कास के वेग से मुख द्वारा बाहर निकलता है। जब आघात के साधारण रहने पर कोषा पूर्णतया विदीर्ण नहीं होती, उस अवस्था में देर तक शुष्ककास का वेग रहने के पश्चात् उसके पूर्णतया विदीर्ण होने पर रक्तष्ठीवन होता है।

उरःशब्द से कुछ लोग स्तन-मण्डल के मध्यवर्ती स्थान को ही लेते है और कुछ इसकी सीमा का निर्धारण निम्न प्रकार से करते है—

ऊपर जत्रु (कण्ठ-स्कन्धसन्धि या अक्षकास्थि Clavicles) नीचे क्रोड (उदर का ऊपरी भाग या Diaphagm) तथा दो ओर के पार्श्वों का मध्यवर्ती स्थान ही वक्ष है। इस प्रकार इसे थोरैक्स (Thorax) सज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः यह दूसरा पक्ष ही युक्तिसगत होने से माननीय है। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर पार्श्वशूल की सगति भी लग सकती है। पार्श्वशूल से फुफ्फुसगत तथा फुफ्फुसावरणगत (Pleural) शूल का ग्रहण होता है। पहली व्युत्पत्ति के आधार पर केवल हृदय का ही ग्रहण हो सकता है। हृदय का मुख से साक्षात् सम्बन्ध न होने से हृदय के विदीर्ण होने पर मुख द्वारा रक्त का निकलना असगत ही है। अतः पूर्व मत अमाननीय समझना चाहिये।

वात के कारण पर्वभेद तथा स्वरभेद होता है। रक्तष्ठीवन से रक्तनाश होने के कारण तथा उरःक्षतजन्य निपात (Shock) को दूर करने के निमित्त तृष्णा की स्वभावतः उत्पत्ति होती है। फुफ्फुसगत असंख्य कोषाओं के नष्ट हो जाने के कारण तथा फुफ्फुस में रक्तस्रावजन्य घनता के कारण प्रत्येक श्वास में वायु कम मात्रा में प्रवेश कर पाती है अतः उस कमी को पूर्ण करने के लिये श्वास की गति प्रतिमिनट साधारण से अधिक हो जाती है।

निदानसहितां क्षयजकाससम्प्राप्तिमाह—

विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ।
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥ १२ ॥

विषम तथा असात्म्य भोजन करने से, अति मैथुन करने से, मल-मूत्रादि के वेगों को रोकने से, अत्यन्त घृणा करने वाले तथा निरन्तर शोक-सागर में निमग्न मनुष्यों की अग्नि (देहाग्नि तथा जाठराग्नि) के विकृत हो जाने पर कुपित हुए तीनों दोष देह का विनाश करने वाले क्षयज कास को उत्पन्न करते हैं ॥ १२ ॥

क्षयजकासस्य लक्षणानि निरूपयति—

स गात्रशूलज्वरदाहमोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी ।
शुष्यन्विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् । (सु. उ. ५२)

तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ॥ १३ ॥

क्षयज कास से पीडित मनुष्य अङ्गों में शूल, ज्वर एव दाह से पीड़ित रहता है तथा अन्ततो गत्वा प्राणो पर भी सकट आ जाता है। रोगी धीरे-धीरे सूखता जाता है, उसका बल और मास क्षीण हो जाता है तथा खांसी के साथ पूययुक्त रक्त निकलता है। इस प्रकार सब लक्षणों से युक्त (त्रिदोष-लक्षणयुक्त) रोगी के असाध्य कास को चिकित्साशास्त्रपारङ्गत विद्वान् क्षयज कास कहते है। और यह असाध्य होता है ॥ १३ ॥

क्षयजकासमाह—विषमेत्यादि। घृणिनां शोचतां चाहारभावात्कुपितेन वायुनाऽग्नेरुपप्लवाद्दोषत्रयप्रकोप इति। क्षयजमिति शुक्रादिधातुक्षयज, न तु राजयक्ष्मजम्। त्रिदोषजेऽपि राजयक्ष्मणि कासः कफेनैव क्रियते। यदुक्तं—'कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः–' इति; क्षयजकासस्तु त्रिदोषज इति। ननु, कासादेव क्षयो जायते तत्कथं क्षयजः कास इति? उक्तं हि–'कासात्सञ्जायते क्षयः'–इति। उच्यते, दृष्टो हि परस्परं व्यक्तिभेदेन कार्यकारणभावो बहुशः, यथाऽतीसारार्शोऽग्निमान्द्यादाविति। स गात्रशूलेत्यादिश्लोकार्धस्य क्षयजकासमध्ये पाठोऽयुक्तः प्रतिभाति, सुश्रुते क्षतजकासे पठितत्वात्; क्षयकासश्चात्र चरकसुश्रुतवाक्ये मेलयित्वा माधवकरेण लिखितः; उच्यते, स गात्रशूलेत्याद्यनन्तरं क्षयकासः सुश्रुतेन पठितः; तेन स गात्रशूलेत्यादिश्लोकार्धस्य परेण सम्बन्धान् क्षयकासलिङ्गत्वमिति माधवकरस्याभिप्रायः; एतच्चान्ये नानुमन्यन्ते, यतः क्षतकासस्यावस्थायामसाध्यत्वख्यापनपरमेतद्व्याख्यातं जेज्जटेन, गयदासेनापि क्षतजकासरूपत्वेनेति ॥ १२–१३ ॥

विमर्श—घृणिनां शोचताम्—घृणा करने वाले तथा बन्धु-बान्धव आदि के विनाश से शोक-सन्तप्त व्यक्ति आहार-ग्रहण नही करते। भोजनाभाव से कुपित वायु अग्नि को विकृत कर देती है एव बाद में अग्नि-दुष्टि से कफ और पित्त भी दूषित हो जाते है। अत एव क्षयज कास में तीनों दोषों की विकृति का वर्णन किया गया है।

क्षयजं कासम्—प्रकृत में क्षयज से शुक्र आदि धातुओं के क्षय से उत्पन्न ऐसा अर्थ करना उचित है राजयक्ष्मज नहीं। क्योंकि यद्यपि राजयक्ष्मा त्रिदोषज होता है तथापि उसका कास लक्षण केवल कफ के द्वारा ही उत्पन्न होता है, जैसा कि कहा भी है—**'कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः'**। इसके विपरीत क्षयज कास त्रिदोषज होती है। तन्त्रान्तर में भी क्षयज कास राजयक्ष्मज कास का भेद प्रदर्शित करते हुए कहा गया है—

'क्षये कासादिकं लिङ्गमेकदोषकृतं मतम्। तदेव तत्कृते कासे सर्वदोषान्वितं बुधैः ॥'

इस प्रकार उक्त कास को शुक्रादिधातुक्षयजन्य ही कहा जायगा राजयक्ष्मज नहीं; क्योंकि राजयक्ष्मज कास कफारब्ध (एकदोषारब्ध) ही होता है यह पिछली पङ्क्तियों मे स्पष्ट किया जा चुका है। चरक ने क्षयज कास के लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

दुर्गन्धं हरितं रक्तं ष्ठीवेत् पूयोपमं कफम्। स्थानादुत्कासमानश्च हृदयं मन्यते च्युतम् ॥
अकस्मादुष्णशीतार्तो बह्वाशी दुर्बलः कृशः। स्निग्धाच्छमुखवर्णत्वक् श्रीमद्दर्शनलोचनः ॥
पाणिपादतले श्लक्ष्णैः सततासूयको घृणी। ज्वरो मिश्राकृतिस्तस्य पार्श्वरुक् पीनसोऽरुचिः ॥
भिन्नसंहतवर्चस्त्वं स्वरभेदोऽनिमित्ततः ॥ (च. चि १८)

वाग्भटोक्त क्षयज कास के लक्षण चरक के समान ही हैं।

अब यहा सन्देह होता है कि कास से ही क्षय की उत्पत्ति होती है, क्षय से कास की नहीं जैसा कि कहा भी है—**'कासात् संजायते क्षयः'** पुनः यहा पर कास को क्षयज क्यो कहा? इस पर कहते हैं कि व्यक्तिभेद से कार्यकारणभाव मे भी भेद कभी-कभी देखा जाता है, यथा अतिसार अग्निमान्द्य और अर्श को उत्पन्न करता है, अर्श, अतिसार और अग्निमान्द्य को तथा

अग्निमान्द्य भी अर्श और अतिसार को उत्पन्न करता है। यहां पर अतिसार जब अग्निमान्द्यादि को उत्पन्न करता है तब वह उनका कारण और जब इनके द्वारा अतिसार उत्पन्न होता है तो ये कारण और अतिसार कार्य हो जाता है। इसी प्रकार प्रकृत मे भी जब कास क्षय के द्वारा उत्पन्न होता है तो उसे क्षय का कार्य ही कहा जायगा किन्तु जब कास के कारण क्षय होता है तो कास कारण और क्षय कार्य होता है। इस सम्बन्ध को कार्यकारण सम्बन्ध कहते है। किसी व्यक्ति मे अग्निमान्द्य के पश्चात् अतिसार और किसी मे अतिसार के पश्चात् अग्निमान्द्य देखा जाता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति मे क्षय के पश्चात् कास और किसी में कास के पश्चात् क्षय होना है। इस प्रकार परिस्थितिभेद से दोनों के कार्य एव कारण होने से प्रकृत मे दोष की आशका नहीं रहती।

'सगात्रशूल' इत्यादि श्लोक का क्षयज कास के प्रकरण मे रखना अनुचित प्रतीत होता है क्योंकि सुश्रुत ने उसको क्षतज कास के प्रकरण में पढा है। माधव ने इसको चरक के श्लोकों के साथ जोड़ दिया है, इसको कुछ विद्वान् अनुचित समझते हैं। इस विषय मे कुछ विद्वानों की सम्मति है कि यद्यपि इसका पाठ क्षतज कास के साथ सुश्रुत ने किया है तथापि इसके बाद पठित क्षयज कास के साथ भी इसका सम्बन्ध होने से कोई दोष नही आता। माधव ने इसी अभिप्राय से उक्त श्लोक का पर से सम्बन्ध कर दिया है। इस मत को कतिपय विद्वान् स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं हैं, क्योंकि क्षतज कास की असाध्यता का सूचन करने के अभिप्राय से ही सुश्रुत ने इसको वहां पढ़ा है। 'गयदास' भी इसको क्षतज कास का ही रूप स्वीकार करते हैं।

क्षतज एवं क्षयज कास में कुछ लक्षण-साम्य होने पर भी कारणभेद से परस्पर विभेद समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त क्षतज या क्षयज कास में सक्रमण से पूर्व यक्ष्मा के जीवाणुओं की सत्ता नही पायी जाती। यक्ष्मज क्षय और कास में तो पूर्व से ही जीवाणु उपस्थित रहते हैं अर्थात् जीवाणु सक्रमण के पश्चात् ही इस प्रकार का क्षय प्रारम्भ होता है।

कासस्य साध्यासाध्यविचारः—

इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः।
साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः॥ १४॥
नवौ कदाचित्सिध्येतामपि पादगुणान्वितौ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः।
त्रीन् पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत्॥ १५॥ (सु. उ. ५२)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कासनिदानं समाप्तम्॥

यह क्षयज कास क्षीण व्यक्तियों के शरीर का तो नाश कर ही देता है। बलवान् रोगियों में यह कभी साध्य और कभी याप्य होता है। इसी प्रकार क्षतज कास भी क्षीणों मे असाध्य एवं बलवानों मे कभी साध्य और कभी याप्य होता है। नवोत्पन्न क्षयज या क्षतज कास वैद्य आदि चतुष्पाद की सम्पत्ति[1] होने पर कदाचित् साध्य भी हो जाते है। वृद्धों में होने वाला जरानिमित्तक (स्वभावतः धातुक्षयजन्य) सभी प्रकार का कास याप्य होता है। इनमे से पहिले तीन (वातिक, पैत्तिक तथा श्लैष्मिक) कासों की चिकित्सा करे याप्यों का पथ्यादि से यापन करे जिससे वह असाध्य न हो जाये॥ १४-१५॥

असाध्यत्वादिलक्षणमाह—इतीत्यादि। पादगुणान्विताविति वैद्यादिचतुष्पादसम्पन्नौ।

---

१. 'भिषग् द्रव्याण्युपस्थाता रोगी पादचतुष्टयम्'।

स्थविराणां वृद्धानां; स्थविराणामित्युक्तेऽपि जराशब्दोपादानं जरानिमित्तधातुक्षयज एव कासो याप्यः; अपचारजनितदोषजस्तु साध्य इति बोधनार्थम् ॥ १४-१५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कासनिदानं समाप्तम् ॥

विमर्शः—सुश्रुताचार्य ने सर्वलक्षणयुक्त क्षयज या क्षतज कास को असाध्य बताते हुए कहा है—**तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ।**

जराकास :—वृद्धावस्था में उत्पन्न कास से तात्पर्य है जरावस्थाजन्य धातुक्षय से होने वाला कास। यही कास वृद्धों में याप्य होता है। अन्य प्रकोपक कारणों से कुपित वात आदि दोष से सामान्यतः उत्पन्न कास तो साध्य या कृच्छ्रसाध्य हो सकता है। यद्यपि जरा-कास भी दोषवैषम्य से ही उत्पन्न होता है तथापि अन्य अवस्थाओं में होने वाले कास से इसमें भेद अवश्य होता है; क्योंकि इसका निदान भी भिन्न है।

कास के प्रकरण में कुक्कुर खाँसी (Whooping cough) का भी वर्णन करना अप्रासंगिक नहीं है अतः आगे किया जाता है। यह रोग आजकल विशेषतः बच्चों में पाया जाता है। इसके लक्षण वातिक कास से पूर्णतया मिलते हैं। इस रोग में संक्रमण का भी गुण है अतः यह एक से दूसरे व्यक्ति में सम्पर्क से सक्रान्त हो जाता है। इस रोग का प्रधान उत्पादक कारण बेसिलस पर्ट्यूसिस (Bacillus pertusis) नामक दण्डाणु है। यह स्वस्थ बालक में ७ से १५ दिन में रोग उत्पन्न कर सकता है। १० वर्ष से कम अवस्था वाले बच्चों में विशेषतः लड़कियों में यह रोग अधिक मिलता है। रोगी को प्रथम मन्द ज्वर होता है साथ में तीव्र कास रहता है। खाँसी सूखी होती है, कभी-कभी रोगी खाँसते-खाँसते वमन भी कर देता है। ७ से १४ दिन में रोग दूसरा रूप धारण करता है। ज्वर शान्त हो जाता है तथा खाँसी अधिक तीव्र हो जाती है। खाँसी के दौरे आते है। रात्रि में ये दौरे अधिक आते हैं। पहिले एक वार गम्भीर श्वास लेने के बाद बहुत जल्दी जल्दी खाँसी आने लगती है। एक के बाद दूसरी खाँसी इतनी शीघ्र आती है कि रोगी को श्वास लेने का भी अवसर नहीं मिल पाता। यहाँ तक कि फुफ्फुस में वायु का पूर्णतः अभाव होने लगता है जिसके परिणामस्वरूप बच्चा मुँह खोल देता है जिह्वा निकल पड़ती है, आँखें बाहर की ओर निकल आती हैं; मुख पर नीलिमा छा जाती है। इस प्रकार यकायक खाँसी रुक जाती है और वायु फुफ्फुस में जोर से प्रवेश करती है तथा कुछ गाढा कफ निकल जाता है और इसके साथ ही खाँसी का दौरा भी पूर्ण हो जाता है। कभी-कभी नासिका तथा श्वास-प्रश्वास के अन्य अङ्गों से उपद्रव स्वरूप रक्तस्राव होने लगता है।

साध्यासाध्यता—बडे बच्चों तथा अधिक आयु वाले रोगियों में सुसाध्य होती है।

इति कासनिदानं समाप्तम्

अथ हिक्का-श्वासनिदानम्

हिक्काश्वासयोः सामान्यमुत्पादकनिदानमाह—

विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः ।
शीतपानाशनस्थानरजोधूमातपानिलैः ॥ १ ॥
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः ।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥ २ ॥

(सु. उ. ५०)

मरिच या सर्षप जैसे विदाही[1] या जलन पैदा करने वाले, उड़द की दाल तथा शूकर-मांस सदृश गुण एवं पाक में गुरु, विष्टम्भि या कब्ज पैदा करने वाले[2] रूक्ष (जैसे चना) तथा दही, दूध और मछली जैसे अभिष्यन्दि[3] पदार्थों के अत्यधिक सेवन करने से, शीतल जल के पीने, शीत भोजन करने तथा शीतल (सीलन या नमी-युक्त) स्थान में रहने से, धूलि, धुवाँ, लू, तीव्र वायु, अधिक व्यायाम, शक्ति से अधिक कार्य करने अथवा अधिक बोझ उठाने से, पैदल अधिक यात्रा करने से, वेगों के रोकने से एवं उपवास व्रत आदि अधिक करने से मनुष्यों को हिक्का, श्वास और कास ये रोग हो जाया करते हैं ॥ १-२ ॥

समाननिदानत्वात्कासानन्तरं हिक्काश्वासौ । ननु, एतेषां प्रायस्तुल्यनिदानचिकित्सितत्वेनैकाधिकारे कथमनभिधानम् ? उच्यते; यद्यपि कासश्वासहिक्कानां निदानं समान, तथापि कासस्य दोषभेदाद्भेदः, यथा-वातिकः, पैत्तिकः, श्लैष्मिक इत्यादि; हिक्काश्वासौ तु कफवातात्मकावेव, यदाह दृढबलः-'कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ' (च. चि. अ. १७) इति । सुश्रुतोऽप्याह-'वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि' (सु. उ. अ. ५१) इति; भेदस्त्वनयोः सम्प्राप्तिभेदाद्वेगक्रियादिना च; न तु कासवद्दोषभेदेन; श्वासकासाभ्यां हिक्कायाः स्वनतोऽपि भेदः । पित्तस्थानसमुद्भवाविति विशेषणं सुश्रुतमते क्षुद्रां न प्राप्नोति, सा हि जत्रुमूलात्प्रधावितेति पठ्यते; चरकमते तु व्यपेतां न प्राप्नोति, साऽपि जत्रुमूलादसन्ततेति पठ्यते; तस्मात् 'पित्तस्थानसमुद्भवावि'ति विशेषणं छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन बोध्यम् । शीतशब्दः पानादिभिस्त्रिभिः संबध्यते । रजो धूलिः, सा च धूमवन्नासादिप्रवेशात् कारणम् । व्यायामकर्म धनुराकर्षणादिव्यापारः, वेगाघातो मलादिवेगविधारणम्, अपतर्पणमनशनादि । कासश्चोक्तोऽप्येकनिदानत्वप्रतिपादनार्थं पुनरभिहित इति ॥ १-२ ॥

विमर्शः—साधारण बोलचाल में हिक्का को हिचकी तथा श्वास को दमा कहते हैं । खाँसी के साथ श्वास का घनिष्ठ सम्बन्ध है । खाँसी पुरानी होकर श्वास को भी उत्पन्न करती है । इन दोनों का शास्त्रों में पाठ भी प्रायः एक ही जगह मिलता है **यथा-कासश्वासनिबर्हणः अथवा-कुडवार्धं च पिप्पल्याः स लेहः श्वासकासनुत् (हरीतकीलेहः)—मधुसर्पिर्युतं कासहिक्काश्वासं जयेल्लिहन्** । हिक्का, श्वास एवं कास तीनों का समान निदान होते हुए भी सम्प्राप्ति, वेग तथा क्रिया में भिन्नता होने के कारण कास का पाठ पृथक् किया गया । इसके अतिरिक्त वात आदि के आधार पर कास के वातिक, पैत्तिक आदि भेद होते हैं किन्तु हिक्का और श्वास के भेद उनके विशिष्ट स्वरूप एवं प्रभाव आदि के अनुसार वर्णित हैं । जैसे हिक्का के भेद अन्नजा, यमला, आदि तथा श्वास के भेद महा, ऊर्ध्व, छिन्न आदि । एवं कास में प्रधान विकृति वात की ही होती है यथा '**प्राणो ह्युदानानुगतः**, इसके विपरीत हिक्का और श्वास में कफ और वात की प्रधानता तथा पाचनसंस्थानगत विकृति का होना भी अनिवार्य है । जैसा कि 'दृढबल' ने कहा भी है—**कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ** ।' तथा '**वायुः कफेनानुगतः**

---

१. द्रव्यस्वभावादथ गौरवाद्वा चिरेण पाकं जठराग्नियोगात् ।
पित्तप्रकोपं विदहत्करोति तदन्नपानं कथितं विदाहि ॥

तथा-विदाहि द्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम् । हृदि दाहञ्च जनयेत् पाकं गच्छति नचिरात् ।

२. 'विष्टभ्य पाकं गच्छति यत्तद् विष्टम्भि' ।

३ 'दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदप्राप्तिजननम्' सुश्रुतः ।

तथा च—पैच्छिल्याद् गौरवाद् द्रव्यं रुद्ध्वा रसवहाः सिराः ।
धत्ते यद् गौरवं तत्स्यादभिष्यन्दि यथा दधि ॥ (शा० म०)

आभिमुख्येन स्यन्दितु शीलं येषां फाणितमत्स्यक्षीरमाषादीनां तानि अभिष्यन्दीनि'

इत्यातङ्कदर्पणकारः ।

पञ्च हिक्काः करोति हि' सुश्रुत का उक्त कथन भी हिक्का के वात-कफारब्ध होने में प्रमाण है। इसी प्रकार हिक्का और श्वास के भी सम्प्राप्ति, वेग, स्वर और लक्षणों में भिन्नता होने से इन दोनों में भी भेद समझना चाहिये। चरक ने भी निदान का वर्णन सुश्रुत के समान ही किया है। इसके अतिरिक्त वे कुछ रोगों के उपद्रव रूप में तथा कुछ विशिष्ट निदानों से हिक्का और श्वास की उत्पत्ति का वर्णन निम्न प्रकार से करते हैं—

अतिसारज्वरच्छर्दिप्रतिश्यायक्षतक्षयात् । रक्तपित्तादुदावर्ताद्विसूच्यलसकादपि ॥
पाण्डुरोगाद्विषाच्चैव प्रवर्तेते गदाविमौ । निष्पावमाषपिण्याकतिलतैलनिषेवणात् ॥
पिष्टशालूकविष्टम्भिविदाहिगुरुभोजनात् । जलजानूपपिशितदध्यामक्षीरसेवनात् ॥
अभिष्यन्द्युपचाराच्च श्लेष्मलानां च सेवनात् । कण्ठोरसः प्रतीघाताद्विबन्धैश्च पृथग्विधैः ॥

वाग्भट ने तो—'श्वासैकहेतुप्राग्रूपसंख्याप्रकृतिसंश्रयाः' इसके द्वारा हिक्का के निदान आदि विशेष का पृथक् रूप में वर्णन न करते हुये केवल श्वास के सदृश ही कहकर विराम ले लिया है।

हिक्कायाः स्वरूपं निरुक्तिञ्चाह—

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन् ।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयते बुधैः ॥ ३ ॥
(सु. उ. ५०)

(उदान सहित प्राणवायु प्रकुपित होने से) श्वासवायु यकृत, प्लीहा और आन्त्र को वेग से मुख द्वारा निकालता हुआ सा जब बार बार मुख की ओर आता है तो अचानक हिक् हिक् शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार के शब्द को करता हुआ चूंकि वह प्राणों को भी शीघ्र ही नष्ट कर सकता है अतः बुद्धिमान् इसे हिक्का नाम से पुकारते है ॥ ३ ॥

हिक्कानां स्वरूपं निरुक्तिं चाह—मुहुर्मुहुरित्यादि। वायुरत्र सोदानः प्राण इत्याहुः। उदेति ऊर्ध्वं गच्छति। सस्वन इति हिगितिशब्दवान् ऊर्ध्वगमनमेव विशिनष्टि—यकृदित्यादि। अत्र प्लिहेति ह्रस्वेकारश्छन्दोऽनुरोधात्। मुखादिति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी, तेन यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखमानीय, आक्षिपन् निःसारयन्निवेत्यर्थः। स इति वायुः। 'हिनस्त्यसून्' इति हिक्केति निरुक्तिः, पृषोदरादिना रूपसिद्धिः। 'हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते, इति हिक्का' इति शाब्दिकाः ॥ ३ ॥

विमर्शः—प्राणवायु और उदानवायु प्रकुपित होकर जब एक साथ क्रियाशील होते हैं तब श्वास द्वारा लिया हुआ वायु बीच में रुककर जोर से मुख की ओर बढता है और अचानक हिक् शब्द की उत्पत्ति हो जाती है। कुछ देर तक निरन्तर इसका दौरा रहने पर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों यकृत , प्लीहा और आन्त्र मुख द्वारा बाहर निकल जायेंगे।

'हिनस्त्यसून्' यह प्राणों को नष्ट कर देती है। 'हिनस्ति काय' इस विग्रह मे 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' इस पाणिनीय सूत्र के द्वारा हिक्का शब्द की सिद्धि होती है। वस्तुतः यह रोग प्राणों के लिये खतरनाक है इसी लिये तो इसकी भयकरता का वर्णन करते हुए चरक ने कहा है—

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा। यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु हि ॥

अथवा 'हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते' जिसके कारण रोगी हिक्-हिक् करने लगता है, इस विग्रह में हिक् पूर्वक् 'कै शब्दे' धातु से भी हिक्का शब्द की सिद्धि होती है।

हिक्कायाः सभेदां सम्प्राप्तिमाह—

अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा ।
वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥ ४ ॥ (सु. उ. ५०)

कफ से युक्त वायु अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा तथा महती नाम की पाँच हिक्काओं को उत्पन्न करता है ॥ ४ ॥

तासां भेदं संप्राप्तिं चाह—अन्नजामित्यादि । यमलैव चरके **व्यपेतेति नाम्ना पठिता, अन्नपाने व्यपेते परिणते जायत इत्यतो हेतोः; अस्यां चानुक्तमपि यमलवेगत्वं** सुश्रुतदर्शनाद्विज्ञेयम् । **अन्नजायाः साध्यत्वेन प्राशस्त्यात्पूर्वमभिधानम् ॥ ४ ॥**

विमर्श—चरक में यमला को ही व्यपेता नाम दिया गया है। यह अन्न-पान के जीर्ण हो जाने पर होती है अतएव इसका नाम व्यपेता है। यद्यपि चरक ने इसमें यमल (दो) वेगों का निर्देश नहीं किया है तथापि सुश्रुत के वर्णनानुसार उसका भी समावेश कर लेना चाहिये।

वायु और कफ मिलकर हिक्का को उत्पन्न करते हैं यह बात इस श्लोक से स्पष्ट है। इसके साथ 'मुहुर्मुहुः' इत्यादि श्लोक की उपरितन पङ्क्ति का सम्बन्ध कर देने पर ही सम्प्राप्ति पूर्ण हो सकती है। दोनों को मिलाने पर निम्न अन्वय होगा—**'कफेनानुगतः सोदानः प्राणवायुर्यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखमार्गाद् बहिः क्षिपन्निव स्वनं कुर्वंश्च मुहुर्मुहुरूर्ध्वं गच्छन् सन् हिगिति शब्दयुक्तां हिक्कां करोति'** इसका तात्पर्य है कि—कफ से युक्त उदानसहित प्राणवायु वेग से यकृत, प्लीहा और आन्त्र को मुख द्वारा बाहर निकालता हुआ सा पुनः पुनः हिक् शब्द को करता हुआ हिक्का रोग को उत्पन्न करता है। चरक ने हिक्का और श्वास की सम्प्राप्ति को समान बताते हुए कहा है—

मारुतः प्राणवाहीनि स्रोतांस्याविश्य कुप्यति । उरःस्थः कफमुद्धूय हिक्काश्वासान् करोति सः॥

अर्थात् वक्षःस्थल में स्थित वायु प्राणवाही स्रोतों में प्रविष्ट होकर प्रकोपक कारणों के संयोग से प्रकुपित हो जाती है, एवं हिक्का और श्वास को उत्पन्न करती है। वर्णनशैली की अपेक्षा न करके आधुनिकों द्वारा प्रतिपादित हिक्का की सम्प्राप्ति भी प्राचीनों के समान ही प्रतीत होती है। आधुनिक वैद्यक के अनुसार इसका नाम हिक्कफ (Hiccough) है। साधारणतया यह भी हिक्का का अपभ्रंश ही प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी हिक्+कफ (Hic+cough) या हिक् शब्द युक्त कास ही है। अर्थात् समानहेतुक खाँसी का वह रूप जिसमें फूटे हुए काँसी के बर्तन के समान शब्द न होकर हिक् हिक् रूप विशिष्ट शब्द की उत्पत्ति होती है।

हिक्का की उत्पत्ति का प्रधान कारण महाप्राचीरा पेशी का असामयिक सकोच (Clonic spasm of the Diaphragm) ही है[1]। साधारण अवस्था में इसका संकोच नियमित होता है। इसका संकोच होने पर उरोगुहा (thoracic cavity) में शून्यता (Vacuum) उत्पन्न होती है, और इसी समय उपजिह्विका (Epiglottis) खुलती है, जिससे वायु फुफ्फुस में प्रवेश कर जाती है महाप्राचीरा के अपनी पूर्व स्थिति में आने पर उसके दबाव से वायु फुफ्फुस से बाहर निकल जाती है। साधारणतया इसी क्रम से श्वास-प्रश्वास की क्रिया में भी विकार नही आता। इसके अतिरिक्त कदाचित् महाप्राचीरा के अनियमित या असामयिक संकोच होने पर महाप्राचीरा के संकोच और उपजिह्विकाद्वार के खुलने के समय में (जो कि स्वाभाविक अवस्था में एक ही होता है) अन्तर हो जाता है जिससे अन्तःश्वसित या बहिः-प्रेरित वायु उपजिह्विका द्वार बन्द होने के कारण रास्ते में ही अवरुद्ध हो जाती है और परिणाम स्वरूप हिक् हिक् शब्द की उत्पत्ति होती है। महाप्राचीरा के अनियमित सकोच के विविध कारण हैं। उन सबको पाचनसंस्थानीय (Alimentary) एवं वातसस्थानीय (Nervous) इन दो बडे विभागों मे विभक्त कर सकते है।

१. **पाचनसंस्थानीय**—पाचनसंस्थानगत विकृति में आमाशय एवं अन्नप्रणाली (Oesopha-

1. Clonic diaphragmatic spasm is called Hiccough (Price)

१. 'अन्नजादीनाम् इति क।

gus) का प्रत्यक्ष क्षोभ है जिसका कारण, मिर्च, अचार आदि तथा तीक्ष्ण स्वरूप के धूम आदि हो सकते हैं। तीक्ष्ण भोजन भी आमाशयिक क्षोभ का कारण है। इस प्रकार की हिका मे जल पीने से शान्ति मिलती है। आमाशयिक क्षोभ से उत्तेजित अनुकोष्ठिका नाड़ी (Phrenic nerve) महाप्राचीरा का असमय में संकोच करा देती है। इसी प्रकार आमाशयिक श्लैष्मिक कलाशोथ, आमाशय का विस्फार, आन्त्रिक कलाशोथ, आन्त्रावरोध तथा आनाह–आध्मान आदि कारणों से भी महाप्राचीरा का अनियमित संकोच होने से हिक्का की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद ने भी हिक्का को उत्पत्ति में पाचन संस्थान की विकृति को प्रमुखता प्रदान किया है इसमें निम्न उद्धरण प्रमाणभूत है—**'कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ'**। पित्त स्थान यावत् पाचनसंस्थान का ग्रहण किया है[1] इस प्रकार उदान और प्राण के अतिरिक्त समान वायु भी इस रोग का उत्पत्ति में भाग लेता है यह भी सिद्ध होता है।

२. वातनाडी-संस्थानीय— इसके अन्तर्गत योषापस्मार (Hysteria), मस्तिष्कार्बुद (Cerebral tumour), मस्तिष्कावरण-शोथ (Meningitis), जलशीर्ष (Hydrocephalus) तथा मदात्यय का समावेश कर सकते हैं। इस कारण-समूह को केन्द्रीय कारण कहते हैं[2]। इसके अतिरिक्त मध्यान्तरालगत (Mediastinal) अर्बुद, महाप्राचीरीय–फुफ्फुसावरण-शोथ आदि का ग्रहण कर सकते हैं। इन दो कारणों के अतिरिक्त पुराणवृक्क-शोथ (Chronic nephritis) तथा मूत्रविषमयता (Uraemia) के कारण भी हिक्का की उत्पत्ति होती है। हिक्का की कारण-सहित मीमांसा करते हुए शरीरक्रिया-विज्ञान के निष्णात हैलिबर्टन महोदय कहते हैं— Hiccough is an involuntary sudden contraction of the diaphragm, causing an inspiration which is suddenly arrested by the closure of the epiglottis, causing a characteristic sound. It usually arises from gastric irritation. अर्थात् महाप्राचीरा के अनैच्छिक आकस्मिक सङ्कोचों एवं उपजिह्विकाद्वार के बन्द होने के कारण ही हिक्का की उत्पत्ति होती है। हिक्का की उत्पत्ति में इन्होंने भी पाचनसंस्थानगत विकृति को प्रमुख स्थान दिया है।

हिक्कासामान्यस्य पूर्वरूपं निरूपयति—

कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता।
हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥ ५ ॥ (च. चि. २१)

गले और छाती का भारी होना, मुख में कसैलापन तथा उदर का फूला हुआ रहना हिक्का के पूर्वरूप हैं ॥ ५ ॥

पूर्वरूपमाह—कण्ठोरसोरित्यादि। वदनस्य कषायता वातात्, न तु कफान्माधुर्यं, व्याधिप्रभवात् ॥ ५ ॥

---

1. Alimentary–from irritation of the oesophagus or stomach by pungent or irritant substances such as peper, Prickles, or tobacco. It occurs also as a symptom in gastritis, dilatation, of the stomach, enteritis, intestinal obstruction tympanitis and peritonitis and in the late stages of debilitating diseases. (price)

2. Nervous—As in hysteria, cerebral tumour, meningitis, hydrocephalus, epilepsy and alcoholism. It may also result from peripheral nerve irritation in such conditions as mediastinal tumour, mediastinitis. enlarged thoracic glands, diephragmatic pleurisy or pericardial efusion. (Price).

विमर्शः—मुख का कसैलापन वात के प्रभाव से होता है, किन्तु व्याधिप्रभाव से कफ के कारण माधुर्य नहीं रहता। सुश्रुत ने भी पूर्वरूप में इन्हीं लक्षणों का उल्लेख किया है[1]। कुक्षि शब्द को पूरे उदर का उपलक्षण मानना चाहिये।

क्रमप्राप्तामन्नजां हिक्कामाह—

पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः।
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥ ६ ॥ (सु. उ. ५०)

अत्यधिक पेय तथा अन्न के सेवन करने से सहसा पीड़ित वायु ऊर्ध्वगामी होकर हिक्का को उत्पन्न करता है; इसको अन्नजा 'हिक्का' कहते हैं ॥ ६ ॥

अन्नजाया लक्षणमाह—पानान्नैरित्यादि। हिक्कयति हिक्कां करोति ॥ ६ ॥

विमर्शः—यद्यपि अन्नजा हिक्का की उत्पत्ति का भी कारण वायु ही है तथापि वह वायु अन्न से पीडित होकर ही हिक्का उत्पन्न करता है अतः इसे अन्नजा नाम दिया गया है। पाठान्तर में सुश्रुत ने अन्नजा का लक्षण निम्न दिया है—

त्वरमाणस्य चाहारं भुञ्जानस्याथवा घनम्। वायुरन्नैरवस्तीर्णः कटुकैरर्दितो भृशम् ॥
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥

चरक ने भी पेय, मद्य तथा भोज्य पदार्थ के अतिसेवन से पीडित वायु के द्वारा उत्पन्न हुई हिक्का को ही अन्नजा नाम दिया है। यह हिक्का खाने और जल पीने से शान्त हो जाती है।

अत्यधिक अन्न-पान के सेवन से आमाशय में भार एवं क्षोभ होकर प्रत्यावर्तन-क्रिया द्वारा महाप्राचीरा का अनियमित संकोच होकर पूर्ण-वर्णनानुसार हिक्का की उत्पत्ति होती है जिसका वर्णन मूल श्लोक में किया गया है। किन्तु भोजन से हिक्का की उत्पत्ति एक दूसरे प्रकार से भी होती है उसका भी ध्यान रखना चाहिये जिसका वर्णन सुश्रुत के **'त्वरमाणस्य चाहारम्'** इस वाक्य में किया गया है। अन्नप्रणाली और श्वासप्रणाली दोनों अतिसमीप हैं। जब हम अन्न-पान का सेवन करते हैं तब श्वासप्रणाली में उसे जाने से रोकने के लिये उपजिह्विका श्वासपथ को बन्द कर देती है। और अन्न के अन्नप्रणाली में चले जाने पर ही खुलती है। जल्दी-जल्दी या अतिरूक्ष या ठोस भोजन करते पर अन्नप्रणाली में बहुत सा अन्न एक साथ अवरुद्ध होने से क्षोभ होता है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उपजिह्विका द्वार बन्द ही रहता है और महाप्राचीरा के संकोच करने पर जब अन्तःश्वसन प्रारम्भ होता है तो श्वास वायु बीच में ही अवरुद्ध होकर पूर्ववत् हिक्का को उत्पन्न करती है। तात्पर्य यह है कि महाप्राचीरा के असमय में संकोच की ही भाँति उपजिह्विकाद्वार के असमय में बन्द होने पर भी हिक्का की उत्पत्ति होती है।

यमलां हिक्कां लक्षयति—

चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का सम्प्रवर्तते।
कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥ ७ ॥ (सु. उ. ५०)

जो हिक्का सिर और ग्रीवा को कँपाती हुई रुक-रुककर एक बार में दो वेगों के साथ (दोहरी आवाज से) होती है उसे यमला हिक्का कहते हैं ॥ ७ ॥

यमलामाह—चिरेणेत्यादि। कम्पयन्ती शिरोग्रीवमित्युपलक्षणं, तेन चरकोक्तप्रलाप-मूर्च्छावमितृष्णावैचित्यजृम्भाविप्लुताक्षत्वमुखशोषा बोध्या इति गयदासः ॥ ७ ॥

विमर्शः—सिर और ग्रीवा का कम्प यहाँ उपलक्षण मात्र है अतः चरकोक्त प्रलाप, मूर्च्छा, वमन,

---

१. मुखं कषायमरतिर्गौरवं कण्ठवक्षसोः। पूर्वरूपाणि हिक्कानामाटोपो जठरस्य च ॥

तृष्णा, बेचैनी, जम्भाई, आखों में पानी आना तथा मुखशोष आदि का भी इससे ग्रहण कर लेना चाहिये। चरक में यमला नाम की हिक्का नही मिलती। अन्य चार के अतिरिक्त पाचवी हिक्का का नाम 'व्यपेता' मिलता है। वस्तुतः चरकोक्त 'व्यपेता' एवं सुश्रुतोक्त 'यमला'[1] एक ही है। वाग्भट ने तो 'यमला' नाम का ही उल्लेख किया है। 'व्यपेता' का लक्षण चरक में निम्न प्रकार से मिलता है—

व्यपेता जायते हिक्का याऽन्नपाने चतुर्विधे। आहारपरिणामान्ते भूयश्च लभते बलम्। प्रलापवम्यतीसारतृष्णार्तस्य विचेतसः। जृम्भिणो विप्लुताक्षस्य शुष्कास्यस्य विनामिनः॥ पर्याध्मातस्य हिक्का या जत्रुमूलादसन्तता। सा व्यपेतेति विज्ञेया हिक्का प्राणोपरोधिनी॥

इस प्रकार चरक ने भोजन या पान से शान्त होने और परिणाम के बाद बढने वाली केवल जत्रु मूल से उत्पन्न हिक्का को व्यपेता कहा है। प्रलाप आदि उपद्रवों से युक्त होने पर व्यपेता को प्राणों के लिये अनिष्टकर बताया है। वस्तुतः दुहरे वेगों से आने के कारण यह कष्टप्रद होती है यह बात सुश्रुत के वचन द्वारा भी सिद्ध है। इसी आधार पर इन दोनों को एक ही माना गया है। यह महाप्रचीरा एवं उपजिह्विका दोनों के एककालिक क्रियाविपरिणामजन्य होती है, अतः अधिक खतरनाक होती है।

क्षुद्रहिक्काया लक्षणमाह—

प्रकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते।
क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात्प्रधाविता॥ ८॥ (सु. उ. ५०)

जो हिक्का कभी-कभी हो तथा जिसके वेग हलके हों और जत्रुमूल (कण्ठ-उरःस्थल सन्धि) से ही उठे उसे 'क्षुद्रिका' या 'क्षुद्रहिक्का' कहते हैं॥ ८॥

क्षुद्रामाह—प्रकृष्टेत्यादि। प्रकृष्टकालैश्चिरेण। जत्रु कण्ठोरसोः सन्धिरिति जेज्जटः; **जत्रु ग्रीवामूलं, तद्ग्रहणेनैव हृदयक्लोमकण्ठग्रहणमिति** गयदासः॥ ८॥

विमर्शः—चरक ने इसकी साध्यता का निर्देश करते हुए कहा है कि—**'वृद्धिमायस्यतो याति भुक्तमात्रे च मार्दवम्'** अर्थात् श्रम करने पर बढ़ती है और भोजन करने पर शान्त हो जाती है वस्तुतः इसमें वात की विशेषता रहती है यह बात भी इस कथन से स्पष्ट है।

गम्भीरां हिक्कां वर्णयति—

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी।
अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता॥९॥ (सु. उ. ५०)

जो हिचकी नाभि से उठकर घोर एवं गम्भीर शब्द को करती है एवं अनेक उपद्रवों से युक्त होती है उसे 'गम्भीरा' कहते हैं॥ ९॥

गम्भीरामाह—नाभीत्यादि। नाभिप्रवृत्तेति नाभितः प्रभृति सञ्जाता[2], अत एवास्या गम्भीरत्वम्। अनेकोपद्रववती तृष्णाज्वरादियुक्ता॥ ९॥

विमर्श—इसमें ज्वर, तृष्णा, प्रलाप तथा मूर्च्छा आदि यमला में कहे गये उपद्रव अधिक वेग से आ जाते हैं अतएव चरक ने लक्षणों का निर्देश करते हुए इसे असाध्य माना है—

हिक्कते यः प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नरः। जर्जरेणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनुनादयन्॥
संजृम्भन् संक्षिपंश्चैव तथाऽङ्गानि प्रसारयन्। पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन्स्तम्भरुगर्दितः॥
नाभेः पक्वाशयाद्वापि हिक्का चास्योपजायते। क्षोभयन्ति भृशं देह नामयन्तीव तारयतः॥
रुणद्ध्युच्छ्वासमार्गं च प्रनष्टबलचेतसः। गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता॥

१. यमलैव चरके व्यपेतेति पठ्यते। (डल्हणः)। २. 'प्रवृत्ता' इति क।

महाहिक्कामवतारयति—

मर्माण्युत्पीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते ।
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रविकम्पिनी ॥१०॥ (सु. उ. ५०)

मर्मों (बस्ति, हृदय, शिर) को पीडा पहुँचाती हुई तथा सम्पूर्ण शरीर को कंपाने वाली जो हिक्का बराबर बनी रहती है उसे 'महाहिक्का' कहते हैं ॥ १० ॥

महतीमाह—मर्माणीत्यादि । मर्माणीति प्रधानानि बस्तिहृदयशिरांसि ॥ १० ॥

विमर्श—चरक ने भी महाहिक्का-गत विकृति का वर्णन निम्न शब्दों में किया है—

संज्ञां मुष्णाति गात्राणां स्तम्भं सञ्जनयत्यपि । मार्गं चैवान्नपानानां रुणद्ध्युपहतस्मृते ॥
साश्रुविप्लुतनेत्रस्य स्तब्धशङ्खच्युतभ्रुवः । सक्तजल्पप्रलापस्य निर्वृतिं नाधिगच्छतः ॥
महामूला महावेगा महाशब्दा महाबला । महाहिक्केति सा नृणां सद्यः प्राणहरा मता ॥

अर्थात् इस हिक्का की प्रवृत्ति गम्भीर मूल से होती है एवं इसके वेग, शब्द और प्रवृत्ति का बल तीव्रतर स्वरूप के होते हैं अतः इसको असाध्य ही नहीं अपि तु सद्योमारक भी कह दिया है ।

हिक्काया असाध्यतां निरूपयति—

आयम्यते हिक्कतो यस्य देहो, दृष्टिश्चोर्ध्वं नाम्यते यस्य नित्यम् ।
क्षीणोऽन्नद्विट् क्षौति यश्चातिमात्रं, तौ द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥
(सु. उ. ५०)

अतिसञ्चितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥ १२ ॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् ।
यमिका च प्रलापार्तिमोहतृष्णासमन्विता ॥ १३ ॥
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः ।
तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥१४॥ (च. चि. २१)

हिचकी के कारण जिस रोगी का सारा शरीर फैल जाय जिसके नेत्र ऊपर को चढ जावें, या संकुचित हो जायें जिसको भोजन में अरुचि हो तथा जो क्षीण हो गया हो, एवं जिसको अत्यधिक छींके भी आती हों वह असाध्य होता है । इसके अतिरिक्त अन्त में पठित दो (महती तथा गम्भीरा नाम की) हिचकियाँ भी (स्वभावतः) असाध्य होती हैं ।

जिसके शरीर में दोषों का अतिमात्रा में संचय हो, जो अन्नादि-सेवन न करने से दुर्बल हो गया हो, अथवा दीर्घकालीन रोग के कारण जिसका शरीर दुर्बल हो चुका हो, रोगी वृद्ध हो या अति मैथुनशील हो उसको साध्य या असाध्य स्वरूप की पूर्वोक्त पाँचों हिक्काओं में से जो भी हो जायेगी वही जीवन का नाश कर सकती है । तात्पर्य यह है कि उपर्युत लक्षणों या कारणों से युक्त रोगी के लिये पाँचों हिक्कायें असाध्य हैं ।

प्रलाप, पीड़ा, मूर्च्छा और तृष्णायुक्त यमिका भी असाध्य होती है । बलवान् और सबल मन वाले रोगी जिसकी सभी धातुएँ और इन्द्रियाँ स्थिर हैं—उनमें ही यमिका साध्य होती

१. 'प्राधान्येन नाभिबस्तिहृदयशिरांसि' इति क ।

है इसके विपरीत दुर्बल शरीर और मन तथा धातुओं और इन्द्रियों के अस्थिर होने पर असाध्य होती है।

अवस्थायामसाध्यत्वमाह—आयम्यत इत्यादि। आयम्यते विस्तार्यत इव। दृष्टिश्चोर्ध्वं भवतीति शेषः। नाम्यते आकुञ्च्यते देह इति सम्बन्ध इति जेज्जटगयदासौ। ताम्यतीति पाठान्तरे मुह्यति हिक्की। क्षौति छिक्कति। तौ द्वाविति आयम्यत इत्यादिना नित्यमित्यन्तेनैकावस्थो हिक्की, क्षीणेत्यादिनाऽतिमात्रान्तेनापरः; साध्यानामपि मध्ये एवंविधौ वर्जयेदित्यर्थः। गम्भीरामहत्योः स्वभावादेवासाध्यत्वमिति तदुक्तौ हिक्कमानावन्त्यौ शेषपठितावसाध्यौ; पाठान्तराणि व्याख्याविशेषाश्च विस्तरभयान्न लिखिताः। आसां या सेति। आसां साध्यहिक्कानां मध्ये याऽतिसञ्चितदोषादेर्भवति सा हन्तीति योज्यम्, अथवा आसामिति पञ्चविधानामेव। तेन महतीप्रभृतीनां स्वरूपेण यदसाध्यत्वमुक्तं तत्प्रायिकम्। यदाह जतूकर्णः-'आद्या दुःसाध्या, यमिका मोहतृष्णावतः सद्यः प्राणहृत्-इति। यमिकेत्यादि। यमिका चेत्यनेन चकारात् क्षुद्रा अन्नजा वा या साध्यत्वेनोक्ता सा यमलैर्वेगैर्जायमाना हन्तीति योज्यम्। सैवाक्षीणादेः साध्या भवतीत्याह—अक्षीण इत्यादि। अक्षीणो बलवान्। अदीनः प्रसन्नमनाः। अन्ये तु अन्नजां यमलामित्यादिसुश्रुतग्रन्थपठितां यमलां यमिकाशब्देन व्याचक्षते। तन्न, 'यमिका च प्रलापार्ती'त्यादिश्लोकश्चरके पठितः, अत्र यमला यमिकानाम्ना न पठितैव हिक्केति। यमिकाशब्दे नैवार्थगत्या व्यपेतोच्यतेति चेत्; न, तर्हि 'व्यपेता च प्रलापार्ती'त्येवमभिदध्यात्॥ ११-१४॥

विमर्श—अन्तिम दोनों हिक्का उदरावरण शोथ, उण्डुकपुच्छ शोथ आदि तीव्र विकारों एवं विषमयता जनित होती हैं अतः प्रायः असाध्य होती हैं। बलवान् एवं दृढ़चित्त आदि व्यक्तियों में ही तथा प्रलापादि उपद्रवरहित यमला ही साध्य हैं। 'च' शब्द से अन्नजा और क्षुद्रा का भी ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् यह दोनों भी प्रलापादि लक्षण युक्त होने पर तथा दुर्बल रोगियों में असाध्य हो सकती हैं॥ ११-१४॥

सनामग्राहं श्वाससंख्यामाह—

महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः॥१५॥ (सु. उ. ५१)

श्वास नामक महाव्याधि स्वरूप से एक होते हुए भी [हेतु-लक्षण भेद से] महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास, छिन्नश्वास, तमकश्वास तथा क्षुद्रश्वास नाम से पाँच प्रकार की होती है॥ १५॥

तेषां हेतुभिन्नतां दर्शयति—

(वाताधिको भवेत् क्षुद्रस्तमकस्तु कफोद्भवः।
कफवाताधिकश्चैव संसृष्टश्छिन्नसंज्ञकः।
श्वासो मारुतसंसृष्टो महानूर्ध्वस्ततो मतः॥१२॥) (सु. उ. ५१)

क्षुद्रश्वास में वायु की प्रधानता रहती है, तमकश्वास में कफ प्रधान होता है। छिन्नश्वास में कफ और वायु का अधिक प्रकोप रहता है जब कि महान् और ऊर्ध्व में वायु का ही अधिक प्रकोप होता है। [साथ में दूसरे भी दोष अनुबन्ध स्वरूप रहते हैं]॥ १२॥

श्वासानाह—महोर्ध्वेत्यादि। एको विशेषत इति श्वासत्वेनैक एव सन् विशेषं हेतुलिङ्गभेदं प्राप्य पञ्चधा भिद्यते, पञ्चसु श्वासत्वं वेगवदूर्ध्ववातत्वं; यदुक्तमन्यैः—'श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मानसमवातोर्ध्वगामिता'-इति। संख्येयनिर्देशादेव पञ्चप्रकारत्वे सिद्धे पञ्चवचनं तमकभेदस्य प्रतमकस्य पृथक्त्वसंख्यानिरासार्थम्॥ १५॥

विमर्श—भाथी धौंकने के समान वायु श्वास रोग में निकलती है। संतमक और प्रतमक तमक के ही भेद हैं यह बताने के लिए 'पांच' सख्या का निर्देश किया है।

श्वाससामान्यस्य पूर्वरूपं निरूपयति—

प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च।
आनाहो वक्त्रवैरस्यं शङ्खनिस्तोद एव च॥ १६॥

हृदयप्रदेश या छाती में पीडा, पार्श्वशूल, आध्मान (वायु के द्वारा पेट का फूलना)[1] आनाह (आम या मल से अवरुद्ध वायु के द्वारा पेट का फूलना)[2] मुख की विरसता तथा शंख प्रदेश में सुई के चुभने जैसी पीडा का होना श्वास का पूर्वरूप है॥ १६॥

श्वासस्य सम्प्राप्तिमाह।

यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः॥१७॥ (सु. उ. ५१)

कफप्रकोप के कारण अवरुद्ध एवं विमार्गगामी वायु जब (प्राणवाही) स्रोतों को अवरुद्ध कर सब ओर (पूरे फुफ्फुस में) व्याप्त होता है तो श्वास को उत्पन्न करता है॥ १७॥

सम्प्राप्तिमाह—यदेत्यादि। स्रोतांसीति हिक्कानिर्दिष्टप्राणोदानवहानि[3]। कफः पूर्वं प्रधानं यस्य स तथा, तेनैव कफेन रुद्धो विमार्गगतिर्विमार्गगत्वेन, विष्वग्व्रजति विष्वग् व्रजतीति, विष्वक् सर्वत इत्यर्थः॥ १७॥

विमर्शः—स्रोत का अर्थ मुख्यतः प्राणवह स्रोत है। श्वास वायु वात रूप ही है तथा उसका संचालक शरीरगत सूक्ष्म वायु (प्राण व उदान) ही होती है। अतः उसमें वात की प्रधानता स्वीकार करना उचित ही प्रतीत होता है। साधारण अवस्था में वायु श्वासकष्ट को उत्पन्न नहीं करता। किन्तु जब वह कफ से अवरुद्ध होता है तो श्वास रोग को उत्पन्न कर देता है। सुश्रुत ने भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है:—

विहाय प्रकृतिं वायुः प्राणोऽथ कफसंयुतः। श्वासयत्यूर्ध्वगोभूत्वा तं श्वासं परिचक्षते॥
(सु. उ. तं. ५१॥)

यह सम्प्राप्ति आधुनिक दृष्टि से भी पूर्णतया सामञ्जस्य रखती है जो कि निम्न वर्णन से स्पष्ट है—

सामान्यतया वायुकोषों वा श्वासनलिकाओं में सदैव कुछ तरल पदार्थ का स्राव होता रहता है जो उच्छ्वसित वायु के साथ बाष्परूप में निकल जाता है। जब कभी फुफ्फुस या नलिकाओं में अधिरक्तता (Congestion), शोथ (Inflammation) या क्षोभ (Irritation) आदि कारणों से यह स्राव अधिक मात्रा में होने लगता है तब मात्रानुसार एवं कारण और सम्बन्ध के अनुरूप थोड़ा या अधिक, तरल, सान्द्र या घन कफ के रूप में कास के साथ निकलता है। फुफ्फुस और श्वास और नलिकाओं में कफ होने से क्षोभ और श्वासवायु के लिये स्थान की कमी से प्रतिक्रिया-स्वरूप प्राण और उदान वायु का प्रकोप होकर कास और शीघ्र श्वास लेने की क्रिया आरम्भ होती है। यदि वायु की विगुणता के कारण कास के साथ कफ का निष्कासन आसानी से नहीं होता तो श्वास की ही तीव्रता बढ़ती है। कफ या कफोत्पादक कारण की प्रबलता एवं आधिक्य, दौर्बल्य या विगुणवातकृत श्वासनलिका-

---

१. साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्। आध्मानमिति त विद्याद् घोरं वातनिरोधजम्॥

२. आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति॥

३. 'प्राणान्नोदवहानि' इति क।

संकोच (जैसे तामकश्वास में) आदि कारण कफ के सरलता से निकलने में बाधक होते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रथम कफ की दुष्टि होकर वात की दुष्टि होनी है और वह क्षुभित वायु समस्त फुफ्फुस में व्याप्त होकर श्वास को उत्पन्न करता है तथा श्वासकार्य में बाधा होने से विष्णुपदामृत (Oxygen) की कमी से प्रत्येक धात्वग्नि दूषित होती है, जिससे प्रत्येक धातु का पोषण ठीक नहीं होता। इससे कुपित वायु का सार्वदेहिक प्रभाव होकर श्वास के अतिरिक्त बेचैनी, विविध शूल, भ्रम, मोह आदि विकार भी उत्पन्न होते हैं। इसके विविध भेदों का वर्णन विमर्श में विस्तार से किया जायगा।

कफ की प्रधानता से युक्त वायु जब प्राणवाही स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके सर्वत्र घूमता है तो श्वास की उत्पत्ति होती है। आयुर्वेद-दृष्ट्या श्वास की यही सम्प्राप्ति है। प्राणवह स्रोत से यहाँ पर श्वासप्रणाली, नलिकाएँ और फुफ्फुस का ग्रहण करना चाहिये। फुफ्फुस वक्षःस्थल में हृदय के दोनों ओर रहने वाले दो थैले है। ये अत्यन्त लचकीले तन्तुओं के बने हुये असंख्य कोष्ठों के समूह हैं। इनके अन्दर एक झागदार पदार्थ भी रहता है। प्रत्येक कोष्ठ में रक्तवाहिनियाँ होती हैं। अन्तःश्वसन करने पर बाह्यवायु फुफ्फुसीय कोष्ठोंमें प्रवेश करती है एवं ये लचकीले होने के कारण फूल जाते हैं। श्वसितवायुस्वगत अमृतस्वरूप जारक (आक्सीजन) से प्रत्येक कोष्ठ में स्थित रक्तवाहिनीगत रक्त की शुद्धि करता है एवं उसकी अशुद्धि (Co2) को ग्रहण करके फुफ्फुस के संकोच होने पर पुनः बहिःश्वसन के द्वारा बाहर चली आती है। श्वास-प्रश्वास की यह क्रिया यावज्जीवन अनवरत चलती रहती है। इस प्रकार श्वास-प्रश्वास क्रिया की प्रकृतिस्थता फुफ्फुस के क्रियाशील कोष्ठों की पर्याप्त संख्या, उनका लचकीलापन, अवरोध का का अभाव तथा रक्त की पर्याप्त मात्रा पर निर्भर है।

श्वास प्रश्वास की यह क्रिया बड़ी सुन्दर रीति से संक्षेप में शार्ङ्गधर संहिता में वर्णित हैः—

नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठादूर्ध्वं बहिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्। पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः। प्रीणयन् सकलं देहं दीपयञ्जठरानलम्।

रोगविज्ञान में पठित श्वास शब्द का अर्थ श्वासकष्ट (Difficulty in breathing) या श्वासकृच्छ्र (Dyspnoea) किया जाता है। उपर्युक्त विवरण के अनुसार चूँकि श्वास-प्रश्वास का साक्षात् सम्बन्ध फुफ्फुस से ही है अतः श्वास रोग में विकृति का प्रधान केन्द्र भी फुफ्फुस ही रहता है यह निर्विवाद है। हृदय एवं वृक्कजन्य (Cardiac or renal) भी श्वास होते हैं किन्तु अन्ततोगत्वा वह भी फुफ्फुसीय ही हो जाते हैं। श्वास रोग में विकृति पूरे फुफ्फुस में रहती है। प्रथम कफ की विकृति होती है एवं पश्चात् अवरोध के कारण वात प्रकुपित होकर श्वास को उत्पन्न करता है। कहा भी है—**'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च'**। वस्तुतः साक्षात् वात या उसके अधिष्ठान वातनाडियों की विकृति ही श्वासोत्पत्ति में प्रधान हेतु है। प्राणदा (वागस) की क्रिया की कमी या सिम्पैथेटिक की क्रिया की अधिकता का ही फल श्वासाधिक्य है। इस प्रकार विकृति केवल फुफ्फुस में न रहकर वातनाडियों में भी रहती है। इस कथन से यह भी सिद्ध है कि जिन आहार-विहार या रोग-विशेष का प्रभाव इन नाडियों पर अवसादक या उत्तेजक स्वरूप का होता है वे सभी श्वास रोग के कारण माने जाते हैं। श्वास-निदान में निर्दिष्ट विदाही अन्न, व्यायाम तथा उपवास आदि कारण-रूक्षता से वात की वृद्धि करते हैं तथा उपवृक्क (Suprarenal gland) के अन्तःस्राव को बढ़ाकर सिम्पैथेटिक की क्रियाशीलता को बढ़ा देते हैं। विष्टम्भी, अभिष्यंदी या गुरुपदार्थ भी आमाशयिक क्षोभ द्वारा या कफ की वृद्धि से फुफ्फुस में अवरोध उत्पन्न करके सुषुम्नाशीर्षस्थ श्वासनियन्त्रक केन्द्र को उत्तेजित करके श्वास की उत्पत्ति करते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी अधिक भोजन कर लेने पर भी फुफ्फुस पर आमाशय द्वारा दबाव पड़ता है, जिससे फुफ्फुसगत वायुसंचार की सतह की कमी हो जाने से पुनः पुनः श्वास लेना पड़ता है। अधिक समय

तक उत्तेजित रहने पर श्वासकेन्द्र का घात हो जाता है, जिससे श्वासकष्ट निरन्तर नहीं रह पाता। यही कारण है कि इसके सामयिक आक्रमण (Paroxysmal attacks) होते हैं।

श्वासकष्ट (Dyspuoea) के भी अनेक भेद हो सकते हैं यथा—

१. **अन्तःश्वसनिक श्वासकष्टता** (Inspiratory dyspnoea)—इसमें अन्तःश्वसन के समय कष्ट होता है, बहिःश्वसन में कोई कठिनाई नहीं होती। इसका कारण श्वासनलिका के उपरितन भाग में किसी प्रकार के अवरोध का होना है। यह मुख्यतया स्वरयन्त्रीय रोहिणी (Laryngeal diptheria) में पाया जाता है।

२. **बहिःश्वसनिक श्वासकृष्ट** (Expiratory dispnoea)—इसमें बहिःश्वसन के समय विशेष कष्ट होता है, अन्तःश्वसन अपेक्षाकृत ठीक रहता है। बहिःश्वसन के समय औदरिक पेशियों की विशेष सहायता लेनी पड़ती है। इसके परिणामस्वरूप वक्षःस्थल परिपूर्ण रहता है। इसका कारण उरोवात (Emphysema) सदृश रोगों के फलस्वरूप फुफ्फुसीय कोषाओं का वायु से अत्यधिक फूला रहना है।

३. **उभयनिष्ठ-कृच्छ्रता**—केवल फुफ्फुसजन्य श्वास (Bronchial asthma) रोग इस का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त यह मूत्रविषमयता (Uraemia), जानपदिक शोफ (Epidemic dropsy) तथा मधुमेहजन्य संन्यास में भी पायी जाती है।

साधारणतया श्वास रोग के तीन मुख्य कारण हैं—

१. **श्वासकेन्द्र की विकृति**—यह निम्न कारणों से होती है—

(क) अधिरक्त हृदयातिपात (Congestive heart failure)

(ख) अत्यधिक रक्ताल्पता—इसमें प्राणवायु के संवहन में की कमी हो जाती है।

(ग) मधुमेहजन्य संन्यास (Diabetic coma)

(घ) जानपदिकशोफ (Epidemic dropsy)

उपर्युक्त कारणों से होने वाली श्वासकृच्छ्रता उभयनिष्ठ होती है।

२. श्वासमार्ग में किसी प्रकार का अवरोध एवं वायुसंचारार्थ फुफ्फुसीय सतह की कमी। इसके कारण श्वासकृच्छ्रता अन्तःश्वसनिक (Inspiratory) स्वरूप की होती है। तुण्डिकाशोथ, रोहिणी आदि अवरोध के कारण हैं। निमोनिया, राजयक्ष्मा जैसे रोग वायुसचरण के लिये फुफ्फुस की सतह को कम कर देते है।

३. श्वास में सहायक पेशियों के कार्य में बाधा होना। यह निम्न कारणों से होती है—

(क) **पीडा**—वक्षःस्थ या उदरस्थ किसी अङ्ग में शोथ होने पर।

(ख) **उरोवात** (Emphysema)-स्वाभाविक लचकीलापन कम हो जाने से फुफ्फुस निरन्तर वायु से भरा रहता है, और उसे पूर्णतया नहीं निकाल पाता।

(ग) **अनुकोष्ठिका** (Phrenic) तथा वक्ष की पेशियों की वातनाडी का घात। इससे महाप्राचीरा तथा वक्ष की पेशियाँ क्रिया नहीं कर पातीं जिससे श्वास में भी कष्ट होता है।

(घ) **आमाशय** या दूसरे उदरस्थ अंगों का फूला होना। इससे जलोदर का भी ग्रहण करना चाहिये। ये अवस्थाये भी श्वासपेशियों के कार्य में बाधा उपस्थित करती हैं। इसके अतिरिक्त ये फुफ्फुस पर दबाव डालकर भी श्वासकृच्छ्रता उत्पन्न करती हैं।

जब श्वास की मुख्य पेशियाँ कार्य नहीं करती तो उदरस्थ पेशियाँ तथा पार्श्वीय पेशियाँ जिन्हें श्वास की अतिरिक्त पेशियाँ (Extra muscles of respiration) भी कहते हैं— श्वास में सहायता करती हैं। इस अवस्था में जो विशेष प्रयत्न किया जाता है वह उदर की गति से रोगी में स्पष्ट दिखायी देता है।

महाश्वासलक्षणमाह—

उद्धूयमानवातो यः शब्दवद् दुःखितो नरः।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ १८ ॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः।
विवृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥ १९ ॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्।
महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते ॥ २० ॥ (च. चि, २१)

जो रोगी क्रुद्ध या थके हुए मस्त साँड के समान फुफकारने या हाँफने आदि जैसे शब्द युक्त श्वास को निरन्तर दुःख के साथ लेता है और जिसके ज्ञान एवं विज्ञान लुप्त हो जाते हैं अर्थात् वह अचेत सा हो जाता है, आँखें चंचल हो जाती हैं एवं मुख और नेत्र फैले हुए रहते हैं मल और मूत्र रुक जाते हैं, टूटे हुए शब्दों का कष्ट से उच्चारण करता हुआ दीन या अप्रसन्नचित्त रहता है, श्वास की आवाज या क्रिया दूर से ही प्रत्यक्ष हो जाती है; इस प्रकार के श्वास को महाश्वास कहते हैं और इसका रोगी शीघ्र ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है ॥ १८-२० ॥

महाश्वासलक्षणमाह—उद्धूयमानेत्यादि। उद्धूयमानवात इति उत् ऊर्ध्वं धूयमानो नीयमानो वातो यस्य स तथा। शब्दवत् सशब्दं यथा भवति, उच्चैर्दीर्घम्। संरुद्धो मत्तर्षभ इवेति स्वरविशेषज्ञापनार्थमयं दृष्टान्तः। ज्ञानं शास्त्रं विज्ञानं तदर्थनिश्चयः। विभ्रान्तलोचन-श्चञ्चलनेत्रः। विवृते स्तब्धे अक्ष्यानने यस्य स तथा, नेत्रस्य विभ्रान्तस्तब्धत्वे कालभेदा-दिति जेज्जटः। विशीर्णवाक् वक्तुमक्षमः, मन्दवचनो वा। दीनः क्लान्तमनाः; हीनमिति पाठान्तरमयुक्तं, 'दूराद्विज्ञायते भृशमित्य'नुपपत्तेरित्याहुः ॥ १८-२० ॥

विमर्श—सुश्रुत ने महाश्वास का लक्षण अति सक्षेप में किया है—

'निःसंज्ञः पार्श्वशूलार्तः शुष्ककण्ठोऽतिघोषवान्।
संरब्धनेत्रस्त्वायम्य यः श्वस्यात् स महान् स्मृतः ॥' (सु. उ. तं. ५१)

यहाँ 'दुःखित' शब्द से 'किसी अन्य रोग से पहिले से ही पीडित' अर्थ करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्योंकि यह श्वास कई रोगों के अन्त में मृत्यु की सूचना-सदृश उत्पन्न होता है। सामान्यतः अधिक परिश्रम आदि के बाद भी इस प्रकार के श्वास की उत्पत्ति होती है पर वह विश्राम करने मात्र से शान्त हो जाती है। ऐसे श्वास को 'क्षुद्रश्वास' की सज्ञा दी गई है तथा उसका वर्णन आगे किया जायगा। इसीलिये महाश्वास के लक्षण में 'अनिशम्' (निरन्तर) शब्द भी दिया गया है। आधुनिक दृष्ट्या इसे Biot's breathing कह सकते हैं। 'There is rhythmic increase and decrease in the depth and rapidity of respiration but without any Period of total apnoea in between' (Bedside medicine) अर्थात् इस अवस्था में श्वास की गम्भीरता एवं तीव्रता में क्रमबद्ध वृद्धि और ह्रास होता है किन्तु पूर्ण श्वासावरोध कदापि नहीं होता है। यह अवस्था अनेक प्रकार के हृदय, वृक्क एवं मस्तिष्क रोगों में उत्पन्न होती है।

ऊर्ध्वश्वासं लक्षयति—

ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥ २१ ॥

ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः ।
प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ॥ २२ ॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते ।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥ २३ ॥
(च. चि. २१)

जो रोगी ऊपर की ओर श्वास तो देर तक छोड़ता है पर नीचे (भीतर) की ओर (उतनी ही देर तक) नहीं खींचता, जिसके प्राणवह स्रोतों के मुख और मार्ग कफ से अवरुद्ध हो जाते हैं, वायु के प्रकोप से जो पीड़ित रहता है, जिसकी दृष्टि ऊपर को ही चढ़ी रहती है, और अनेक विकृतियों को देखता है, जिसकी आंखें इधर-उधर घूमती हैं, जो बार बार मूर्च्छित होता है एवं वेदना से पीडित रहता है, जिसका मुख श्वेत रहता है तथा जिसको अत्यन्त बेचैनी रहती है; इस प्रकार का रोगी ऊर्ध्वश्वास तो छोड़ता है किन्तु अधःश्वास रुक जाता है, इसी के कारण रोगी बार बार बेचैन होकर मूर्च्छित हो जाता है और अन्ततः यह 'ऊर्ध्व-श्वास' रोगी के प्राण को भी हर लेता है ॥ २१-२३ ॥

ऊर्ध्वश्वासलक्षणमाह—ऊर्ध्वमित्यादिना । ऊर्ध्वमिति विशेषपरं, सर्वश्वासानां तथाविधत्वात् । दीर्घमिति दीर्घकालम् । न च प्रत्याहरत्यध इति न श्वासमधःकरोति दीर्घकालमित्यर्थः । श्लेष्मावृतमुखस्रोता इति श्लेष्मणा आवृतानि मुखं स्रोतांसि च यस्य स तथा । क्रुद्धगन्धवहार्दितः कुपितवातपीडितः, समस्तपाठे तु श्लेष्मावृतमुखस्रोतस्त्वेन क्रुद्धो यो गन्धवहस्तेनार्दितः । विपश्यन् इतस्तत इति इतस्ततो विकृतिं पश्यन् । 'ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः' इति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—ऊर्ध्वश्वास इत्यादि । निरुध्यत इति हृदय एवातिस्तम्भितः स्यात्, अथवा श्वासो वातः सोऽधो न वर्तते; ऊर्ध्वं श्वास ऊर्ध्वश्वासः । ताम्यतो ग्लायतो मुह्यतश्चासून् प्राणान् हन्ति, नान्यथेति ॥ २१-२३ ॥

विमर्श—ऊर्ध्व श्वास का जो वर्णन किया है इसका तात्पर्य यह है कि मुख कण्ठ एवं प्राणवह स्रोत (समस्त श्वासनलिकाएँ आदि) कफपूर्ण होती हैं अतः रोगी बाहर की ओर तो श्वास वायु को देर तक छोड़ता है किन्तु भीतर की ओर कफपूर्ण होने से स्थानाभाव के कारण श्वास देर तक नहीं खीचता है। एक बार झटके से श्वास खींचता है फिर देर तक उस श्वास को बाहर फेंकता रहता है। प्राणवायु (Oxygen) की कमी से बड़ी घबड़ाहट, बेचैनी और मूर्च्छा आदि उत्पन्न होते हैं। इसी आशय का प्रतिपादन चक्रपाणि ने भी किया है—**'दीर्घं श्वसिति = श्वासस्य बहिर्निर्गमनं दीर्घकालं करोति न च प्रत्याहरत्यध इति श्वासमधो न नयति'**। तथा मूल पाठ में भी आगे स्पष्ट किया है—**'ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधः श्वासो निरुध्यते'**। इसका यह भी अभिप्राय है कि रोग और बढने पर अधःश्वास (श्वास का भीतर खीचना) पूर्णतया रुक जाता है और रोगी की मृत्यु हो जाती है। आधुनिकदृष्ट्या इस अवस्था को Stertorous breathing or failing respiration कह सकते है और यह अवस्था फुफ्फुस की अधिरक्तता (Congestiou), घनता (Consolidation) जैसे श्वसनक (Pneumonia), विद्रधि (Abscess) या कोथ (Gangrene), अन्तःस्फार (Infaret) तथा विभिन्न प्रकार की मूर्च्छाओं (Appoplexy and coma) में हो सकती है।

---

१. 'श्लेष्मावृतमुखानि स्रोतांसि' इति क।

छिन्नश्वासं निरूपयति—

यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः॥ २४॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिना।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः॥ २५॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून्॥ २६॥
(च. चि. २१)

जो रोगी अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर भी रुक रुक कर श्वास लेता है एवं जो हृदय आदि नर्मों की वेदना से पीड़ित होने के कारण दुःखी होकर श्वास नहीं ले पाता, जो आनाह, स्वेद और मूर्च्छा से पीडित है, जिसके बस्तिप्रदेश में दाह हो रहा है, जिसकी आँखें आँसुओं से परिपूर्ण हैं, जो क्षीण है तथा जिसकी एक आँख लाल है, जिसका चित्त उद्विग्न और मुख सूख गया है, जो कान्तिहीन है एवं प्रलाप करता है ऐसे रोगी को छिन्नश्वास से पीड़ित समझना चाहिये। यह रोगी भी शीघ्र ही प्राणों का त्याग करता है॥ २४-२६॥

छिन्नश्वासलक्षणमाह—यस्त्वित्यादि। विच्छिन्नं सविच्छेदम्। सर्वप्राणेन यावद्बलेन। न वा श्वसिति श्वासं न लभते। मर्मच्छेदरुगर्दित इति हृदयच्छेदवेदनयेव पीडितः। दह्यमानेन बस्तिनोपलक्षितः, एतेन वातस्य पित्तानुबन्धो दर्शितः। विप्लुताक्षश्चञ्चलनेत्रोऽश्रुपूर्णचक्षुर्वा। न वा श्वसिति न वा श्वासं लभते। रक्तैकलोचनत्वं व्याधिप्रभावात्, दोषात्तु द्वयोरपि स्यात्। विचेता उद्विग्नचित्तः। विच्छिन्नो विमोक्षितसन्धिः, पीडित इत्यन्ये, 'विहतः' इति पाठान्तरम्॥ २४-२६॥

विमर्श—यहाँ **'सर्वप्राणेन पीडितः'** इस वाक्यांश का सम्बन्ध प्राचीन टीकाकारों में कुछ ने केवल पूर्व[1] और कुछ ने केवल पर[2] से किया है किन्तु इसका सम्बन्ध 'देहलीदीपक' न्यायेन पूर्व और पर दोनों से करना उचित प्रतीत होता है और 'न वा' का भी द्विरध्याहार करना चाहिए। इस प्रकार संक्षेप में छिन्नश्वास का लक्षण निम्न होगा—छिन्नश्वास का रोगी रुक-रुक कर श्वास लेता है, कभी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर जोर से श्वास लेता है तो कभी- समस्त शक्ति से नहीं लेना अर्थात् धीरे-धीरे श्वास लेता है और कभी पूर्णतया (कुछ समय के लिये) श्वास रुक जाती है।

दह्यमानेन बस्तिना—दाह के वर्णन से इस श्वास मे पित्त का अनुबन्ध भी प्रतीत होता है, सुश्रुत ने (**उ. तं. अ. ५१**) भी इस तथ्य का वर्णन किया है—

आध्मातो दह्यमानेन बस्तिना सरुजं नरः। सर्वप्राणेन विच्छिन्नं श्वस्याच्छिन्नं तमादिशेत्॥

छिन्नश्वास में सब अङ्ग शिथिल हो जाते हैं। विवर्णता रक्तसञ्चार की कमी से होती है। छिन्नश्वास का स्वरूप आधुनिकों द्वारा प्रतिपादित Cheyne-stockes respiration से साम्य

१. 'यस्तु सर्वप्राणेन पीडितः सन् स्थित्वा स्थित्वा श्वसिति' गङ्गाधरः।
२. 'सर्वप्राणेन न वाश्वसिति' विजयरक्षितः।

रखता है। यह श्वास की वह अवस्था है जिसमें श्वास की क्रिया कभी कम और कभी अधिक होने लगती है और कभी कुछ काल के लिए रुक जाती है[1]।

सम्प्राप्तिपूर्वकं तमकश्वासलक्षणमाह—

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥ २७ ॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥ २८ ॥
प्रताम्यति स वेगेन तृष्यते सन्निरुध्यते।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥ २९ ॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥ ३० ॥
तथाऽस्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम्।
न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥ ३१ ॥
पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥ ३२ ॥

---

१. **छिन्नश्वास** (Cheyne-stockes respiration)—यह श्वास की एक विशिष्ट अवस्था है जिसमें श्वास की गति पहले कम और फिर अधिक हो जाती है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। यह क्रिया पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति मे भी अल्प मात्रा मे सुप्तावस्था में देखी जाती है।

कारण—हाँफने पर सञ्चित कार्बोनिक अम्ल शरीर के बाहर निकल जाता है, एवं परिणामस्वरूप रक्तगत कार्बोनिक अम्ल की मात्रा $\frac{1}{2}$–$\frac{1}{3}$ तक कम हो जाती हैं। कदाचित इससे भी कम हो सकती है। यह निश्चित है कि श्वासकेन्द्र का सर्वोत्तम उत्तेजक भी कार्बोनिक अम्ल ही है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि कार्बोनिक अम्ल की उपस्थिति में श्वासकेन्द्र का उत्तेजन एवं उसके अभाव में अवसाद होता है। श्वासकेन्द्र के अवसाद के कारण श्वास-क्रिया भी बन्द होने लगती है। इसी समय पुनः धमनीरक्तगत जारक (Oxygen) की कमी तथा प्राङ्गारिक अम्ल (Corbonic acid) की वृद्धि होती है। शरीर के लिये जारक एक अत्यावश्यक वस्तु है जिसके अभाव में कोषाओं का अन्तःश्वसन भी बन्द होने लगता है। अतएव पुनः जारक को प्राप्त करने के ध्येय से श्वासकेन्द्र का उत्तेजन होकर श्वास की गति भी तीव्र हो जाती है। वस्तुतः वहाँ एकत्रित हुआ प्राङ्गारिक अम्ल ही श्वास-केन्द्र को उत्तेजित करता है। इस प्रकार क्रिया का उक्त पर्याय क्रम निरन्तर चलता रहता है। अर्थात् पुनः पुनः श्वास का बन्द होना तथा पुनः पुनः श्वास क्रिया का अत्यधिक बढ़ना प्राङ्गारिक अम्ल की उपस्थिति एवं अनुपस्थिति के द्वारा अनवरत चलता रहता है। रोगी इससे क्लान्त हो जाता है एवं अन्ततोगत्वा प्राणत्याग भी कर देता है। इसी को प्राचीनों ने छिन्नश्वास नाम दिया है।

उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥ ३३ ॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते ।
स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥ ३४ ॥

(च. चि. २१)

विरुद्ध गति को प्राप्त हुआ वायु प्राणवह स्रोतों में पहुंच कर ग्रीवा एवं सिर को जकड़ता हुआ कफ को और भी उदीर्ण करके पीनस (प्रतिश्याय) रोग को उत्पन्न कर देता है। इस कफ से अवरुद्ध हुआ वायु घुर्घुर शब्द से युक्त, प्राणों के (आश्रय हृदय) को कष्ट देने वाले एवं अत्यन्त तीव्र वेगों से युक्त तमक श्वास को उत्पन्न करता है।

इस तमक श्वास से पीडित रोगी अपने को अन्धकार में प्रविष्ट हुआ मानता है (उसकी आंखों के आगे अँधेरा छा जाता है), प्यास से व्याकुल तथा निश्चेष्ट हो जाता है। बार-बार खासने से मूर्च्छित सा हो जाना है। खांसते-खांसते जब तक कफ न निकल जाये उसे बेचैनी रहनी है, किन्तु उसके निकल जाने पर कुछ क्षण के लिए सुख का अनुभव करता है। गला बैठ जाता है और प्रयत्न करने पर भी कठिनता से कुछ बोलनेमें समर्थ होता है। लेटने पर भी श्वास से पीडित होने के कारण निद्रालाभ नहीं कर पाता; क्योंकि सोने पर उसके पार्श्व में स्थित वायु पीडा को उत्पन्न करता है। बैठने पर कुछ आराम मिलता है। उष्ण स्वभाव की वस्तुयें उसके अनुकूल रहती हैं। आखों पर सूजन रहनी है, या आंखें चढी होती हैं, मस्तक पसीने से तर रहता है तथा कष्ट सर्वदा बना रहता है, मुख सूखा रहता है. बार बार श्वास लेता है एवं सारे शरीर को झकझोरते हुए पुनः पुनः फूत्कारों द्वारा श्वास को छोड़ता है। मेघ, शीतल जल, शीत ऋतु तथा पूर्वी वायु एवं कफवर्धक पदार्थों के सेवन से इसकी वृद्धि होती है। यह तमकश्वास याप्य होता है किन्तु नवीन होने पर साध्य भी होता है ॥ २७-३४ ॥

तमकश्वासलक्षणमाह—प्रतिलोममित्यादि। श्लेष्माणं समुदीर्य चेत्यनेन सामान्यसंप्राप्तिलब्धस्यापि श्लेष्मणः पुनरभिधानादिह विशेषेण कारणत्वं बोधयति। तेन रुद्धः कफेनावृतः। घुर्घुरकं कण्ठे घुर्घुरशब्दम्। प्राणप्रपीडकं प्राणाधिष्ठानहृदयस्य पीडकम्। प्रताम्यति तमसि प्रविशतीव। सन्निरुध्यते निश्चेष्टो भवतीति चक्रः, जेज्जटस्तु संनिरुध्यते 'श्वासः' इति शेषमाह। तस्यैवेति श्लेष्मणः। सुखं सुखमिव। उद्ध्वंसते कण्डूयते। पार्श्वे इति कर्मपदम्, अवगृह्णाति पीडयति। उष्णमभिनन्दति वातकफारब्धत्वात्। उच्छ्रिताक्ष उच्छूननेत्रः। ललाटेनेत्युपलक्षणे तृतीया। अवधम्यते गजारूढस्येव सर्वगात्रं चाल्यते ॥ २७-३४ ॥

विमर्श—सुश्रुत में भी संक्षेप में इसी प्रकार के लक्षणों का उल्लेख मिलता है किन्तु उन्होंने वमन का विशेष उल्लेख किया है :—

तृट्स्वेदवमथुप्रायः कण्ठघुर्घुरिकान्वितः। विशेषाद् दुर्दिने ताम्येच्छ्वासः स तमको मतः ॥
घोषेण महताविष्टः सकासः सकफोनरः।
यः श्वसित्यबलोऽन्नद्विट् सुप्तस्तमकपीडितः। स शाम्यति कफे हीने स्वपतश्च विवर्धते ॥

(सु. उ. तं. ५१)

यद्यपि श्वास सामान्य की सम्प्राप्ति में कफ और वायु की विकृति का वर्णन हो चुका है तथापि तमक श्वास को कफप्रधान होना प्रतिपादित करने के लिये पुनः 'प्रतिलोमं' से लेकर 'प्राणप्रपीडकम्' तक इसकी सम्प्राप्ति का विशेष रूप से वर्णन किया गया है।

श्वासं प्राणप्रपीडकम्—श्वास की गति बढ़ने के साथ हृदय की गति का बढना भी[1] स्वाभाविक है। अतः श्वास की तीव्रता से हृद्गति भी सर्वत्र (निमोनिया सदृश रोगों को छोडकर) स्वाभाविक १,४ के अनुपात से तीव्र हो जाती है एवं हृदय को अपेक्षाकृत अधिक कार्य करना पड़ता है, इसीलिये उसे अत्यन्त कष्ट का अनुभव होता है।

श्वास-नलिकाओं में संचित श्लेष्मा ही श्वास का कारण होता है अतः जब तक वह नहीं निकलता अवरोध बराबर बना रहता है एवं उसकी उत्तेजना के फलस्वरूप उसको निकालने के लिये कास की प्रवृत्ति भी निरन्तर होती रहती है। यह कफ अत्यन्त गाढा एवं चिपचिपा होता है और आसानी से नहीं निकल पाता। इसलिये खाँसी इतनी प्रबल हो जाती है कि रोगी बेहोश तक हो जाता है। किन्तु श्लेष्मा के निकल जाने पर श्वासनलिका तथा फुफ्फुसीय कोषागत अवरोध दूर हो जाता है एवं श्वासनलिकाओं के स्वच्छ हो जाने से वायु का संचरण या श्वास-प्रश्वास का कार्य पुनः सुचारु रूप से होने लगता है। उत्तेजक कारण के न रहने पर कास और श्वास का वेग भी नहीं रहता। कंठ में कफ का प्रलेप होने के कारण खुजली का अनुभव होता है। इसी से कंठ में कुछ अवरोध सा होने से रोगी को बोलने में भी कष्ट का अनुभव होता है।

न चापि लभते निद्राम्—तमक श्वास से पीडित रोगी का फुफ्फुस कफ से व्याप्त रहता है अतएव श्वास-प्रश्वास के समय कष्ट का अनुभव करना पड़ता है। इस क्रिया को जब वह सामान्य श्वास-पेशियों द्वारा सपन्न करने में असमर्थ रहता है तो श्वास की अतिरिक्त पेशियों (Extra muscles of respiration) से भी इस कार्य में सहायता लेने लगता है। इस अवस्था में रोगी यदि पार्श्व के बल लेटता है तो दबाव के कारण सहायक पेशियाँ कार्य नहीं कर पाती हैं तथा श्लेष्मा से अव्याप्त (जिनको श्लेष्मा ने अवरुद्ध नहीं कर रक्खा है) कुछ अवशिष्ट वायु-कोष भी दब जायेंगे एवं अवरुद्ध वात पीडा को उत्पन्न करता है और श्वासावरोध की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। अतः रोगी व्याकुल होकर पुनः बैठ जाता है और पूर्वापेक्षया कुछ अधिक आराम का अनुभव करता है। यदि रोगी सीधा कमर के बल लेटता है तव भी आराम नहीं मिलता, क्योंकि उस समय भी वह श्वास की अतिरिक्त पेशियों को काम में नहीं ला सकता। बैठने पर वह अतिरिक्त पेशियों से भली-भाँति काम ले सकता है एवं अपेक्षाकृत सुख का अनुभव भी करता है।

उष्णं चैवाभिनन्दति—तमकश्वास वात-कफारब्ध होता है अतः उष्णोपचार से इसमें उपशय या लाभ होता है एवं श्वास की गति अनुकूल होने लगती है अतएव रोगी की भी स्वतः प्रवृत्ति उष्णोपचार की ओर जाती है।

अवधम्यते—फूत्कारों से श्वास को छोडता है। यह तमकश्वास का विशिष्ट विभेदक लक्षण है। अथवा जोर-जोर से श्वास लेने के कारण सारा शरीर झटके के साथ हिलता रहता है।

मेघ, शीत तथा अन्य श्लेष्मल आहार भी कफवर्धक होने से तमक श्वास के प्रवर्तक है, अतः शीत या श्लेष्मल पदार्थों को अनुपशय (अपथ्य) समजना चाहिये। ये दोनों लक्षण चिकित्सा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व के हैं।

आधुनिक रोग-विज्ञान की दृष्टि से इस अवस्था को (Bronchial asthma) नाम दिया जा

---

१. साधारण अवस्थाओं में फुफ्फुस एवं हृदय की गतियों का अनुपात १,४ रहता है अर्थात् प्रकृत एवं प्रौढ़ व्यक्ति में प्रतिमिनट श्वास की गति १८ और हृदय की गति ७२ बार होती है। रोग होने पर इसी अनुपात से बढ़ जाती है। किन्तु निमोनियो में दोनों की गति बढ़ते हुए भी १.२ का अनुपात हो जाता है।

सकता है, क्योंकि इसमें भी तमकश्वास के समान ही लक्षणों की उपलब्धि होती है। इसके अतिरिक्त चिकित्सादृष्ट्या दोनों के उपशय और अनुपशयरूप आहार-विहार भी समान हैं।

पाश्चात्त्य रोगविज्ञान के आधार पर इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से की जाती है—श्वास-नाडी के संकोच के साथ बहिःश्वसनसंबंधी श्वासकृच्छ्रता के प्रावेगिक आक्रमण को तमक श्वास (Asthma) कहते हैं[1]। इसका कारण कफ की अधिकता के साथ साथ श्वासनलिकाओं का प्रावेगिक सकोच भी है। संकोच की अवस्था समाप्त होने पर श्लैष्मिक कला से स्राव होता है एवं संकोचक पेशियाँ शिथिल हो जाती हैं जिससे श्वास का आक्रमण भी दूर हो जाता है। पाश्चात्त्यों के आधार पर इसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं—

The attack usully begines at the early hours of the morning. There may be some .warnings as restlessness, mental exitation or depression, sneezing or coryza, or the patient suddenly wakes up with a sense of suffocation. Dyspnoea increases and he sits up in bed panting frequently, using the acce. ssory muscles of respiration also. There .is often irritable cough with whee-zing in the chest and cyanosis. As the expectoration becomes free the attack comes to an end. Some times the paroxysm continues for several hours or days.' (Bedside Medicine)

उक्त लक्षण भी प्राचीनोक्त तमकश्वास के समान ही हैं। यथा प्रातःकालीन आक्रमण, पीनस (प्रतिश्याय या Coryza), सोते समय विशेष कष्ट, छाती में कफ का घुर्घुर करना (Wheezing) श्लेष्मा के निकल जाने पर दौरे की शान्ति ये सभी लक्षण दोनों में समान हैं। इनके अतिरिक्त प्राइस के समान माधव ने भी इसमें स्वेदप्रवृत्ति (स्विद्यता) का उल्लेख किया है। इस अवस्था में छाती वायु से सदा परिपूर्ण रहने के कारण फूली हुई रहती है। आधुनिक दृष्टि से तमकश्वास (Asthma) वृक्कजन्य (Renal), हृद्विकारजन्य (Cardiac) तथा फुफ्फुसीय (Bronchial) भेद से तीन प्रकार का होता है किन्तु अन्ततोगत्वा सभी फुफ्फुसीय रूप धारण कर लेते हैं।

प्रतमकश्वासलक्षणमाह—

ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम् ।
उदावर्तरजोऽजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥ ३५ ॥

यदि तमकश्वास में ज्वर और मूर्च्छा का भी अनुबन्ध हो जाय तो उसे प्रतमकश्वास जानना चाहिये। यह उदावर्त (विभिन्न स्रोतसों में विपरीत गति), धूलि, अजीर्ण, क्लिन्नकाय (शरीर की आर्द्रता या वृद्धत्व)[2] तथा वेगविधारण से उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥

तमकस्यैव पित्तानुबन्धत्वाज्ज्वरादियोगेन प्रतमकसंज्ञामाह—ज्वरेत्यादि। ज्वरमूर्च्छाभ्यां परीतो ज्वरमूर्च्छापरीतः, ज्वरेण मूर्च्छा ज्वरमूर्च्छेति जेज्जटः। एतस्यैवापरकारणं लक्षणं चाह—उदावर्तेत्यादि। उदावर्तो रोगः, रजो धूलिः, अजीर्णमामादि, क्लिन्नं विदग्धं, काये वेगानां निरोधः कायनिरोधः अथवा क्लिन्नकायो वृद्धनर इत्याहुः, निरोधो वेगनिरोधः अथवा कुयोगिनां कुम्भकादिरूपवातनिरोध इति जेज्जटः ॥ ३५ ॥

1, 'Paroxysmal attacks of dyspnoea, chiefly expiratory in nature asaociated with bronchial spasm' (Beaumont's Medicine)

२. क्लिन्नकायनिरोधजः = 'क्लिन्नं भुक्तं, कायनिरोधः कायाग्निनिरोधः' इति गङ्गाधरः। कायनिरोधः—वेगाना निरोधः, किंवा—क्लिन्नकायो वृद्धः, निरोधः वेगनिरोधः इति चक्रपाणिः।

विमर्शः—तमक श्वास कफप्रधान होता है किन्तु जब इसी में पित्त का भी अनुबन्ध हो जाता है तो ज्वरयुक्त होने पर प्रतमक कहलाता है।

निरोधजः—वात, मूत्र, पुरीष आदि के वेग को रोकने से होता है, अथवा योगविद्या से अनभिज्ञ व्यक्ति द्वारा कुम्भक, पूरक तथा रेचक नामक प्राणायाम की विधियों के विपरीत प्रयोग करने से भी होने वाला प्रतमक श्वास वेगनिरोधज ही कहलाता है। सुश्रुत ने प्रतमक का लक्षण निम्न प्रकार से दिया है—

'मूर्च्छाज्वराभिभूतस्य ज्ञेयः प्रतमकस्तु सः'।

फुफ्फुसीय श्वास (Asthma) के श्वासनलिका शोथ (Bronchitis) से उपद्रुत होने पर यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है।

सन्तमकलक्षणं वर्णयति—

तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति।
मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्संतमकं तु तम् ॥ ३६ ॥ (च. चि. २१)

किन्तु जब यह श्वास अन्धकार या मानसिक दोषों से बढ़े एवं शीतोपचार से शान्त हो तथा रोगी जिसमें अपने को अन्धकार में डूबता हुआ सा समझे उसे सन्तमक समझना चाहिये ॥३६॥

तमसा अन्धकारेण, मानसदोषेण वा; अत्यर्थमिति इतरकारणापेक्षया विशेषेण; वातकफारब्धोऽपि पित्तसम्बन्धाच्छीतैरुपशाम्यतीत्याहुः। सन्तमकः प्रतमक एवेति। अन्ये तूदावर्तेत्यादिना प्रतमकस्योपसर्गमाहुरिति जेज्जटः ॥ ३६ ॥

विमर्शः—अन्य कारणों की अपेक्षा मानसिक दोष संतमक की उत्पत्ति में विशेष भाग लेते है। पित्त से युक्त होने के कारण यह शीतोपचार से शान्त होता है। विजयरक्षित ने इस श्लोकार्ध की व्याख्या प्रतमक के साथ की है। श्लोक के उत्तरार्धमात्र को सन्तमक माना है। किन्तु सन्तमक को प्रतमक का ही भेद सभी ने माना है। वस्तुतः इन दोनों श्लोकों में प्रथम श्लोक का आधा भाग मात्र प्रतमक का लक्षण तथा शेष १॥ श्लोक संतमक के निदान और लक्षण मानना अधिक सगत प्रतीत होता है। जिस तमक या प्रतमक में तमःप्रवेश आदि मूर्च्छा के लक्षण प्रधान हों और रोग की अत्युग्रावस्था में हृदय, बस्ति (वृक्क) और शिर (मस्तिक) इन तीनों प्रधान मर्मों की विकृति के कारण लक्षण बढ़ते जायें तो उसे सन्तमक कहना चाहिये। 'तमसा वर्धतेऽत्यर्थम्' अत्र तमःशब्देन तमोभवाः मूर्च्छादयः, तैः सह अत्यर्थं वर्द्धते इति सहार्थे तृतीयाऽवगन्तव्या।

क्षुद्रश्वासमाह—

रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन्।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥ ३७ ॥
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥ ३८ ॥
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्रुजम्।
स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥ ३९ ॥ (च.चि. २१)

रूक्ष पदार्थों के अधिक सेवन तथा अधिक व्यायाम से जो श्वास फूल जाता है उसे क्षुद्रश्वास

कहते हैं। इसके वेग हल्के होते हैं एवं यह शरीर के अंगों को अधिक कष्ट भी नहीं पहुँचाता। अन्य श्वासों के समान यह रोगी को दुःख नहीं पहुँचाता एवं प्राणों के लिये भी घातक नहीं है। इससे खाने-पीने में भी कोई रुकावट नहीं होती (उनकी उचित गति को नहीं रोकता), इन्द्रियों को भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता (उनकी ग्रहणशक्ति अक्षुण्ण रहती है), उपद्रव स्वरूप किसी दूसरे रोग को भी यह उत्पन्न नहीं करता। यह श्वास साध्य होता है। इसके अतिरिक्त अन्य चारों श्वास भी सबल रोगियों में अव्यक्त या आरम्भिक अवस्था में साध्य रहते हैं ॥३७-३८॥

सर्वेषां श्वासानां साध्यासाध्यतां निरूपयति—

क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥ ४० ॥ (सु. उ. ५१)

क्षुद्रश्वास साध्य माना गया है; तमक श्वास कृच्छ्रसाध्य तथा अन्य तीनों श्वास (समस्त लक्षण युक्त होने पर) असाध्य होते हैं। दुर्बल रोगी का तमक श्वास भी असाध्य होता है ॥ ४० ॥

क्षुद्रश्वासमाह—रूक्षेत्यादि। रूक्षमन्नपानम्। क्षुद्रोऽल्पनिदानलिङ्गः। उदीरयन् ऊर्ध्वं गच्छन्। इतरे ऊर्ध्वश्वासादयः। स साध्य उक्त इति च्छेदः। सर्वे महाश्वासादयोऽव्यक्तलक्षणाः सन्तः साध्या इति योज्यम्। त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति महोर्ध्वच्छिन्नाः सम्पूर्णलक्षणाः ॥ ३७-४० ॥

विमर्श—क्षुद्र श्वास साधारण होता है एवं व्यायाम आदि साधारण कारणों से ही उत्पन्न होता है अतः इसे आवस्थिक ही समझना चाहिये। यद्यपि इस प्रकार का श्वास रोग नहीं कहा जा सकता तथापि जिन व्यक्तियों को थोड़ा परिश्रम करने पर ही श्वासकृच्छ्रता हो जाती है उनमें यह रोग के ही रूप में रहता है क्योंकि यह दुर्बलता का निदर्शक है और दूध तथा बल्य चिकित्सा की अपेक्षा रखता है। इसका वर्णन करते हुए सुश्रुत ने कहा है—

किंचिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते। निषण्णस्यैति शान्तिञ्च स क्षुद्र इति संज्ञितः ॥

हिक्काश्वासयोर्भयङ्करता—

कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु च ॥४१॥ (च. चि.)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हिक्का-श्वासनिदानं समाप्तम् ॥ १२ ॥

प्राण को नष्ट करने वाले रोग यद्यपि बहुत हैं तथापि वे हिक्का और श्वास के समान प्राणों का नाश उतनी शीघ्रता से नहीं कर सकते ॥ ४१ ॥

उपद्देशेनासम्यगुपक्रमाभ्यां हिक्काश्वासयोः शीघ्रावश्यमारकत्वमाह—काममित्यादि। काममनुमतौ, प्राणहराः सन्निपातज्वरादयः। शेषं सुबोधमिति ॥ ४१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां हिक्का-श्वासनिदानं समाप्तम् ॥ १२ ॥

विमर्शः—कहावत है कि 'जबतक सांसा तबतक आशा'। हिक्का और श्वास में श्वासक्रिया कभी भी रुक कर मृत्यु में परिणत हो सकती है इसके अतिरिक्त इनमें मृत्यु के तीनों प्रधान कारणों की संभावना रहती है—

(१) श्वासावरोध (Asphyxia) (२) हृदय का घात (Syncope) (३) संन्यास (Coma) इसलिए इन दोनों रोगों को अत्यन्त घातक कहा गया है।

इति हिक्काश्वासनिदानं समाप्तम्।

अथ स्वरभेदनिदानम्

स्वरभेदस्य सहेतुकां सम्प्राप्तिमवतारयति—

अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघात-
सन्दूषणैः प्रकुपिता पवनादयस्तु ।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां
हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥१॥ (सु. उ. ५३)

बहुत ऊँचे स्वर से बोलना (व्याख्यान देना,) विषसेवन, अधिक उच्च स्वरसे अध्ययन तथा अभिघात सदृश प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुए बात आदि दोष स्वरवाही स्रोतों में अधिष्ठित होकर स्वर को नष्ट कर देते हैं, इसको स्वरभेद कहते हैं ए८ यह छः प्रकार का होता है ॥ १ ॥

प्राणोदानदुष्टिसाधर्म्यात् श्वासे च स्वरभेदो भवतीति श्वासानन्तरं स्वरभेदमाह— अत्युच्चभाषणेत्यादि । अध्ययनमुच्चैर्वेदादिपाठः, अभिघातः कण्ठादिदेशे लगुडादिभिराघातः, एतैः संदूषणैरन्यैश्च यथास्वं वातादिकोपनैः, विषं तु सर्वदोषप्रकोपणमेव । स्रोतःसु[1] स्वरवहेषु चतुर्षु, यदुक्तं सुश्रुते-'द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति' (सु. शा. अ. ९) इति, भाषणघोषणयोरल्पत्वमहत्त्वाभ्यां भेदः । प्रतिष्ठां स्थितिं वृद्धिं वा । स इति स्वरभेदः षड्विधो वातपित्तकफसंनिपातक्षयमेदोजभेदात् ॥ ६ ॥

सनामग्राहं स्वरभेदसंख्यामाह—

(वातादिभिः पृथक् सर्वैर्मेदसा च क्षयेण च ।)

वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, क्षयज तथा मेदोज भेद से स्वरभेद छः प्रकार का होता है।

विमर्श—आयुर्वेद के सिद्धान्त से स्वरवाही स्रोतस् चार हैं। इनमें दो के द्वारा भाषण तथा दो के द्वारा घोष होता है। सुश्रुत ने कहा भी है-द्वाभ्यां भाषेते, द्वाभ्यां घोषं करोति'। यदि दो प्रत्यावर्तनीस्वरयन्त्रगा (Recurrent laryngeal nerves) तथा दो ऊर्ध्वगा स्वरयन्त्रगा (Superior luryngeal nerves) को ये नाम दिये जाये तो कोई असगति न होगी।

बोलते समय शब्दोच्चारण में होने वाले विकारों को स्वरभेद कहते हैं। स्वर में विकार साधारणतया स्वरयन्त्र (Larynx) की स्थानिक विकृति तथा वाणी के मस्तिष्कस्थ केन्द्र की विकृति के कारण होता है। स्वर का आंशिक या पूर्णरूप में नष्ट होना इनकी विकृति के प्रमाण पर निर्भर है। यहाँ वर्णित स्वरभेद का तात्पर्य स्थानिक विकृतिजन्य विकार से ही है। स्थानिक कारणों से होने वाले स्वरभेद की विकृति की तीव्रता के अनुसार खरस्वरता (Hoarsness of voice) भाषणकृच्छ्रता (Dysphasia) तथा स्वरसाद (Aphonia) कहते हैं। यह अवस्था तीव्र स्वरयन्त्र शोथ (Aacute or catarrhal laryngitis), सशोफ स्वरयन्त्र शोथ (Oedematus laryngitis), रोहिणी-सदृश-रोगकृत स्वरयन्त्र-शोथ तथा पुराण स्वरयन्त्र-शोथ (Chronic iaryngitis) में पायी जाती है। मस्तिष्कगत वाणी के केन्द्र में किसी प्रकार की विकृति होने पर यदि स्वर का पूर्णतया विनाश हो जाये तो उसे पूर्ण स्वरनाश (Aphasia) कहते हैं। इसका कारण वाणी-केन्द्र की भयङ्कर विकृति है। जिस अवस्था में स्वर का अपूर्ण नाश होता है उसे

१. 'स्वरवहेषु स्रोतःसु शब्दवाहिनीषु' इति डल्हणः।

डिस्फेजिया (Dypshasia) कहते हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य अवस्था भी होती है जिसे गद्गदस्वरता (Dysarthria) कहते हैं। इसमें भी लक्षण वाक्कृच्छ्रता (Dysphasia) के समान ही होते हैं किन्तु यह अवस्था स्वर के साधनों (स्वरयन्त्र, ओष्ठ, जिह्वा तथा तालु) के घात (Paralysis) के कारण होती है। इसमें पेशी और नाडीतन्तु के मध्य का सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। इनके अतिरिक्त वाक्-केन्द्र में व्यापक विकृति होने पर लिखने-पढ़ने और सुनने में से किसी एक या अनेक क्रियाओं में भी विकृति होती है और उनके आधार पर भी स्वरसाद के अनेक भेदों का वर्णन आधुनिक पुस्तकों में मिलता है।

स्वरभेद में स्वरयन्त्र या शब्दोत्पादक अन्य अवयवों की विकृति का होना अवश्यम्भावी होता है अतः शब्दोत्पत्ति का साधारण क्रम समझ लेना भी परमावश्यक है। शब्दशास्त्र-निष्णात महर्षि पाणिनीय[1] के अनुसार शब्दोत्पत्ति निम्न प्रकार से होती है—

बुद्धि से संयुक्त आत्मा कुछ कहने की इच्छा से मन को इस कार्य के लिये नियुक्त करता है क्योंकि मन ही इन्द्रियों से साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करके बोलने की क्रिया का सम्पादन कर सकता है।[2] पुनः मन शरीराग्नि को प्रेरित करता है एवं शरीराग्नि वायु को। यह वायु उरःस्थल में घूमता हुआ ऊर्ध्व गति से मूर्धा स्थान में टकराकर मुख में आता है एवं वर्णोत्पत्ति के आठ स्थान उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ तथा तालु के संपर्क से वर्णों की उत्पत्ति करता है। अर्थात् शब्दोत्पत्ति या विशिष्ट स्वरोत्पत्ति के लिये इन सब या कुछ स्थानों से प्रयत्न किया जाता है। इन्हीं प्रयत्नों के बाह्य और आभ्यन्तर दो भेद होते हैं। कुछ वर्णों की उत्पत्ति में आभ्यन्तर प्रयत्न एवं कुछ की उत्पत्ति में बाह्य प्रयत्न सहायता करते हैं। पुनः इन प्रयत्नों के भी अनेकविध भेद होते हैं। विस्तार-भय से उनका पूर्ण विवरण करना अपेक्षित नहीं है। किन्तु यह निश्चित है कि इन आठ स्थानों एवं इनके द्वारा किये गये दो प्रयत्नों के फलस्वरूप असंख्य प्रकार की ध्वनियों की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार का प्रयत्न होगा एवं जो स्थान बोलने में कार्य करेगा वैसे ही विशिष्ट-ध्वनि युक्त शब्द की भी उत्पत्ति होगी।

महर्षि पतञ्जलि ने भी महाभाष्य के पस्पशाह्निक (प्रथम आह्निक) में शब्दोत्पत्ति का वर्णन आलंकारिक रूप में करते हुए वेदवाक्य का उद्धरण किया है—

चत्वारि शृङ्गाः त्रयो अस्य पादाः, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

यहाँ पर 'त्रिधाबद्ध' शब्द ही महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् उर, कण्ठ तथा शिर इन तीन स्थानों में शब्द बँधा हुआ है। इनके प्रयत्न के विना शब्दोत्पत्ति नहीं हो सकती। शिर शब्द से मूर्धा या आधुनिक दृष्टि से मस्तिष्कस्थित भाषणकेन्द्र का भी ग्रहण किया जा सकता है। शब्दोत्पत्ति के विषय में प्राचीन महर्षियों का यही सिद्धान्त है।

---

१. आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥ मारुतस्तूरसि चरन्मन्दं जनयति स्वरम् । सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ॥ अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा । जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकौष्ठौ च तालु च ॥
(पाणिनीय-शिक्षा)

२. शुद्ध भौतिक विज्ञान पर आधारित आधुनिक विज्ञान आत्मा और मन की सत्ता को स्वीकार न करके इस क्रिया को बुद्धि या वाणी के केन्द्र (Centre for speach) और जिह्वा तथा अन्य सहायक पेशियों का ही कार्य मानता है। प्राचीनों ने इस भौतिक विज्ञान के स्तर से कुछ अधिक विचार करके आत्मा और मन की सत्ता का भी निर्देश इस विषय में किया है।

आधुनिक वैज्ञानिक शरीर-रचना एवं शरीरक्रिया-विज्ञान के आधार पर शब्द की उत्पत्ति निम्न प्रकार से मानते हैं—बहिः श्वसन के समय फुफ्फुस से निकलने वाली वायुसे तरङ्गायित ध्वन्युत्पादक रज्जुकाओं (Vocal cords) के द्वारा ध्वन्युत्पत्ति होती है। ये रज्जुकायें संख्या में दो होती है एवं श्वसनलिका के उपरितन भाग में स्थित तरुणास्थि-घटित मजूषा में रखी रहती हैं। इस मंजूषा का नाम स्वरयन्त्र है। इस स्वरयन्त्र में वायु की तरङ्गों से तरङ्गायित ध्वन्युत्पादक रज्जुकाओं के द्वारा उत्पद्यमान शब्द जिह्वा, दन्त एवं ओष्ठों के प्रभाव से विभिन्न रूपों को धारण कर लेता है।[1]

इस प्रकार जब वायु ध्वन्युत्पादक रज्जुकाओं को स्पर्श करता हुआ ऊपर आता है तो मुख, नासा एवं अन्ननलिका (Pharynx) की भी विशिष्ट आकृति बन जाती है, इसी का दूसरा नाम प्रयत्न है। इसके ही परिणामस्वरूप विभिन्न स्वरों की उत्पत्ति होती है। इसके लिये बाँसुरी का उदाहरण पर्याप्त है। इस प्रकार शब्द या स्वर की भिन्नता वायु, उससे तरङ्गायित ध्वन्युत्पादक रज्जुका तथा जिह्वा आदि शब्द के स्थानों की प्रकृति पर निर्भर है। वायु जिस प्रकार के प्रयत्न से ध्वन्युत्पादक रज्जुकाओं में तरङ्ग उत्पन्न करेगी एव इन तरंगों का जिन स्थानों से सम्पर्क होगा उसी के अनुसार ध्वनि एवं शब्द में विशेषता पायी जायेगी।

इन स्वरोत्पादक अङ्गों के स्वस्थ रहने पर स्वर भी प्रकृत रहता है किन्तु किसी कारण से इनमें साक्षात् या परम्परया विकृति होने से स्वरभेद नामक रोग की उत्पत्ति होती है यह निर्विवाद है। विभिन्न निदान विभिन्न दोषों को प्रकुपित करते हैं अतः स्वरभेद भी विभिन्न दोषों के लक्षणों से युक्त होता है। इसी आधार पर वातिक आदि भेद किये गये हैं। विषप्रयोग से तो तीनों ही दोष प्रकुपित होकर स्वरभेद उत्पन्न करते हैं।

स्वरयन्त्र में विकृति होकर स्वरभेद होता है तथा इसके कारण स्वरयन्त्र के राजयक्ष्मा या अन्य कारणों से उत्पन्न तीव्र एवं पुराणशोथ होते हैं। इसका प्रतिपादन पिछली पंक्तियों में किया जा चुका है। फुफ्फुसजन्य विकारों से भी स्वरभेद हो सकता है। इसके अतिरिक्त फिरङ्ग के कारण स्थानीय एवं सार्वदैहिक प्रभाव होने के पश्चात् भी स्वरविकृति देखी गयी है।

वाग्भट[2] ने भी सुश्रुत के समान छः भेदों का ही निरूपण किया है। चरक ने स्वरभेद नामक रोग का स्वतन्त्र वर्णन न करके राजयक्ष्मा के एक लक्षण रूप में वर्णन करते हुए उसके विभिन्न भेदों का भी वर्णन किया है तथा उसके भेद सुश्रुत से कुछ भिन्न माने हैं। यथा—

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात्कासवेगात्सपीनसात्।

अर्थात् वात, पित्त, कफ, रक्त, कास के वेग तथा प्रतिश्याय से स्वरभेद की उत्पत्ति होती है।

वातिकस्वरभेदमाह—

वातेन कृष्णनयनाननमूत्रवर्चा भिन्नं शनैर्वदति गर्दभवत् खरं च।

(सु. उ. ५३)

वातिक स्वरभेद में मुख की छवि, आँख, मूत्र तथा मल काले पड़ जाते हैं, रोगी धीरे-धीरे एवं गधे के समान कठोर (भद्दी) आवाज करता है।

---

1. 'The fundamental tones of the voice are produced by the current of expired air causing the vibration of the vocal cords; two bands contained in a cartilaginous box placed at the top of the wind pipe or trachea. This box is called the laryrix. The sounds produced here are modified by other parts such as the tongue, teeth & lips,' (Halliburton's Physiology)

२. 'दो भेर्यस्तैः समस्तैश्च क्षयात् षष्ठश्च मेदसा' स्वरभेदो भवेत्.........(वाग्भट)।'

वातिकमाह—वातेनेत्यादि । कृष्णत्वं मूत्रादिषु स्वरभेदारम्भकदोषस्य सर्वाङ्गव्यापकत्वात्, अर्शोवत्। भिन्नं भिन्नस्वरं तदेवाह—गर्दभवत् खरमिति, खरं निष्ठुरम् उद्वेजकमिति यावत् ॥—

विमर्श—वाग्भट ने कहा है—'तत्र क्षामो रूक्षश्चलः स्वरः । शूकपूर्णाभकण्ठत्वं स्निग्धोष्णोपशयोऽनिलात् ।' अर्थात् स्वर क्षीण, रूक्ष और अस्थिर रहता है एवं रोगी के गले में काँटे से प्रतीत होते है तथा स्निग्ध और उष्ण पदार्थों के सेवन से इसमें लाभ होता है ।

पित्तजस्वरभेदं लक्षयति—

पित्तेन पीतनयनाननमूत्रवर्चा ब्रूयाद् गलेन स च दाहसमन्वितेन ॥२॥

(सु. उ. ५३)

पैत्तिक स्वरभेद में नेत्र, मुख, मूत्र तथा मल का वर्ण पीला हो जाता है, रोगी को बोलते समय गले मे जलन होती है ॥ २ ॥

पैत्तिकमाह—पित्तेनेत्यादि । गलेनेति विशेष्योपदर्शनं दाहसमन्वितेनेति विशेषणस्य विशेष्याधीनप्रतीतत्वात्, गलः सदाहो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

विमर्श—स्थानिक प्रदाह सदृश उत्तेजक कारण रहने पर यह अवस्था उत्पन्न हो सकती है चरक ने तो कहा है 'पित्तात्कृच्छ्रमसूयते' अर्थात् पित्तकृत स्वरभेद में कष्ट होता है ।

कफजस्वरभेदमाह—

ब्रूयात्कफेन सततं कफरुद्धकण्ठः स्वल्पं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषात् ।

(सु. उ. ५३)

कफज स्वरभेद से पीडित रोगी कफ से कण्ठ के सदा अवरुद्ध रहने से धीरे-धीरे बोलता है किन्तु दिन के समय अधिक सरलता से बोल सकता है ।

श्लैष्मिकमाह—ब्रूयादित्यादि । दिवा विशेषादिति दिने सूर्यरश्मिभिः कफस्य मन्दीभावाद्विशेषाद्विशिष्टं वदतीत्यर्थः । 'दिवा विशेषम्' इति पाठान्तरे स एवार्थः ॥—

विमर्श-दिन में सूर्य की रश्मियों से कफ ढीला हो जाने पर बोलने में आसानी हो जाती है ।

सान्निपातिकं स्वरभेदं विवृणोति—

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसंपत्तं चाप्यसाध्यमृषयः स्वरभेदमाहुः ॥३॥

(सु. उ. ५३)

सान्निपातिक स्वरभेद सब दोषों के लक्षणों से युक्त होता है एवं ऋषियों ने उसे असाध्य भी कहा है ॥ ३ ॥

सान्निपातिकमाह—सर्वात्मक इत्यादि । सर्वविकारसंपदिति उक्तवातादिस्वरभेदलिङ्गयोगः । तं चाप्यसाध्यमिति अपिशब्दो भिन्नक्रमे, असाध्यमपि, तेन 'सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्' (सु. उ. ५३) इति सुश्रुतवचनमुपपन्नं भवतीति ॥ ३ ॥

विमर्श—बहुलक्षण होने के कारण ही उसे असाध्य कहा गया है। यहाँ 'अपि' शब्द का प्रयोग भिन्नक्रम रूप में हुआ है जिससे क्षयज के समान त्रिदोषज प्रायः असाध्य भी होता है यह फलितार्थ होता है । अतएव सुश्रुत ने कहा है-सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम् ।' 'तं च असाध्यम् अपि वदन्ति' इति भिन्नक्रमः प्रत्याख्याय चिकित्स्य इत्यर्थः ।

क्षयजं स्वरभेदमवतारयति—

धूप्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च
वागेष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः । (सु. उ. ५३)

क्षयज स्वरभेद में ऐसा लगता है मानों मुख एवं नासिका से धुवां निकल रहा हो एवं क्षय के कारण [स्वरतन्तुओं के नष्ट हो जाने पर] बोलने की शक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार के (हतवाक) रोगी की चिकित्सा न करनी चाहिये।

क्षयजमाह—धूप्येतेत्यादि। धूप्येत वागिति सधूमेव निर्गच्छन्ती वेदनयाऽनुभूयते। क्षयकृत इति धातुक्षयकृते स्वरभेदे। क्षयमाप्नुयाच्च वागिति पदच्छेदः। एष च यदा हतवाग्भवति ओजःक्षयाद्वचनाक्षमस्तदा न साध्यः, अन्यथा तु साध्यः, तेन प्रत्याख्याय क्रियाकरणमुपपन्नं भवति। एषु चापीति पाठे वातादिस्वरभेदेषु मध्ये हतवागसाध्यः, किंत्वयं पाठष्टीकाकारैर्न व्याख्यातः।

विमर्श—इसको धातुक्षयज का यक्ष्मज स्वरयन्त्र-विकृतिजन्य स्वरभेद कह सकते हैं। क्षय से विशेषतः ओजःक्षय का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि उसके क्षय से ही रोगी असाध्य होता है। जिस किसी भी कारण से उत्पन्न स्वरभेद में पूर्ण वाक्क्षय (मूकता) उत्पन्न हो जाय उसे भी असाध्य ही समझना चाहिये—ऐसा भी कुछ लोगों का मत है।

मेदोजस्वरभेदं लक्षयति—

अन्तर्गतस्वरमलक्ष्यपदं चिरेण
मेदोऽन्वयाद्वदति दिग्धगलस्तृषार्त्तः ॥ ४ ॥ (सु. उ. ५३)

मेद से गले तथा स्वरतन्तुओं के आच्छादित रहने से रोगी गले के अन्दर ही बोल सकता है, जो कुछ बोलता है वह समझ में नहीं आता अर्थात् कुछ पद स्पष्ट होते हैं और कुछ नहीं। रोगी को प्यास बहुत लगती है ॥ ४ ॥

मेदोजलक्षणमाह—अन्तर्गतेत्यादिना। अन्तर्गतस्वरमिति क्रियाविशेषणम्, 'अन्तर्गतं स्वरम्' इति पाठे तु कण्ठस्यान्तर्गतं यथा भवति तथा स्वरं[2] वचनं वदतीति योज्यम्; 'अन्तर्गलम्' इति पाठान्तरे गलस्यान्तरिति अन्तर्गलं स्वरं वदतीत्यर्थः। दिग्धगल इति श्लेष्मणा मेदसा वा लिप्तगल इत्यर्थः। तृषार्तश्च मेदोरुद्धस्रोतस्त्वात् ॥ ४ ॥

विमर्श—मेद से स्रोतोरोध होने के कारण प्यास लगती है। इस अवस्था में वसाधिक्य से पेशियों के उपचित होने पर वायु का निष्क्रमण-मार्ग कम होने से रोगी स्पष्ट नहीं बोल पाता। अन्तर्गत स्वर से प्रतीत होता है कि गले में कोई विकृति नहीं रहती अपितु इसके ऊपर के भाग में ही विकृति का स्थान रहता है जिससे शब्द अन्दर तो होता है किन्तु बाहर नहीं आ पाता।

स्वरभेदस्यासाध्यतमाह—

क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥५॥

(सु. उ. ५३)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्वरभेदनिदानं समाप्तम्।

क्षीण (क्षीणमांस), वृद्ध तथा कृश (दुर्बल) को होने वाला, चिरकालीन, जन्मजात तथा मेदस्वी को होने वाला एवं सान्निपातिक स्वरभेद असाध्य होता है ॥ ५ ॥

उक्तवातादिजानामेवावस्थायामसाध्यत्वमाह-क्षीणस्येत्यादिना सहोपजात इत्यन्तेन। क्षीणस्य क्षीणमांसस्य। कृशस्य अबलस्य। सहोपजातो जन्मप्रभृतिबद्धः 'काकस्वर' इति लोके। 'सहोपजात' इत्यत्र 'मदोपजात' इति पाठान्तरं, मदो रोगविशेषः। मेदस्विनोऽ-

१. 'सर्वेषु' इति क। २. 'तद्गतम्' इति पा०।

तिस्थूलस्य मेदसाऽऽवृतस्रोतस्त्वेन यो जातः; अमेदस्विनस्तु मेदोदुष्ट्या यो जातः स साध्य पूर्वमुक्त इति न विरोधः । सर्वसमुद्भवश्चावगाढः सम्पूर्णलिङ्गो वाऽसाध्यो द्रष्टव्य इति ॥५

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्वरभेदनिदानं समाप्तम् ॥ १३ ॥

विमर्श—मेदरहित रोगी को मेदोदुष्टि से होने वाला स्वरभेद तो साध्य ही है । सहज कदापि साध्य नहीं होता; क्योंकि उसमें स्वरयन्त्रगत अवयव या भाषणकेन्द्र (Center of speach) का ही अभाव रहता है । सर्वसम्पूर्ण लक्षण त्रिदोषज भी असाध्य होता है ।

इति स्वरभेदनिदानं समाप्तम् ।

अथारोचकनिदानम्

अरोचकस्य हेतुमाह—

वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः ।
अरोचकाः स्युः—

वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात एवं शोक, भय, अति लोभ, क्रोध एवं मन के लिये अरुचिकर भोजन, रूप और गन्ध के सेवन आदि से पाच पकार के अरोचक रोग की उत्पत्ति होती है ॥

ऊर्ध्वगविकारसाधर्म्यादरोचकमाह—वातादिभिरित्यादि । एकैकशो वातादिभिस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, शोकादिना[1] गन्धान्तेनागन्तुरेक एव गणनीयः, यतः पञ्चानामेकं लक्षणं वक्ष्यति; सुश्रुते चोक्तं—'भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति–' (सु. उ. अ. ५७) इति । शोकादिजस्तु यद्यपि वातादिजः,[2] तथाऽपि हेतुप्रत्यनीकचिकित्साकरणार्थं पृथगुक्तः । अतिलोभोऽन्नाहितस्य सततोपयोगहेतुतया दोषप्रकोपक इति दर्शयति । अरोचकाः स्युरिति छेदः ॥—

विमर्शः—अरोचक में भूख तो लगती है किन्तु खाने की इच्छा बिलकुल नहीं होती । इस रोग के कारणों को मुख्यरूप से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१—शारीरिक ।   २—मानसिक—

वातादि सन्निपातान्त चार शारीरिक कारण है । शोक आदि सभी मानसिक या आगन्तुक कारण कहलाते हैं । सुश्रुत ने भी कहा है—**'भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति'** अर्थात् अरोचक पाच प्रकार का होता है ।

आधुनिक दृष्टि से इस रोग को (anorexia) कह सकते हैं । इसके शारीरिक एवं मानसिक भेद से दो प्रकार के कारणों का ही निरूपण किया गया है ।

१. शारीरिक कारण—अरोचक की उत्पत्ति का स्थान आमाशय है । उसके द्वारा ही क्षुधानाश एवं क्षुधाभिवृद्धि होती है । आमाशय में वातादि सन्निपातान्त दोषों का प्रकोप या आमाशयिक कलाशोथ (Gastritis), आमाशयिक कर्कटार्बुद (Gastric cancer), आमाशयिक उपाम्लता (Hypochlorhydria) तथा रक्ताल्पता (Anaemia) ये शारीरिक कारण हैं जिनसे भोजन के प्रति द्वेष उत्पन्न हो जाता है ।

२. मानसिक कारण इस अवस्था को (Anorexia Nervosa) कहते हैं । इस अवस्था में हर प्रकार के भोजन से घृणा हो जाती है एवं थोड़ा सा भी खा लेने पर उदर फूला हुआ सा

---

१. 'शोकादीनामागन्तुत्वेन' इति क ।   २. 'वाताजः' इति क ।

मालूम होता है। भोजन न करने पर मासक्षय होता है एव रोगी मानसिक और शारीरिक दोनों दृष्टियों से दुर्बल हो जाता है। माधव-प्रतिपादित शोक, भय आदि कारण भी इसी के अन्तर्गत समझने चाहिये। इनके कारण भी आमाशयिक स्राव कम होता है एव भूख नही लगनी।

यद्यपि शोकज और भयज भी वातज के समान ही हैं; क्योंकि **'कामशोकभयाद्वायुः'** इस उक्ति के अनुसार शोक और भय से भी वायु की ही उत्पत्ति होती है तथाति हेतु-प्रत्यनीक चिकित्सा करने की दृष्टि से इनका पाठ पृथक् किया गया है। केवल वातिक उपचार से इनमें किञ्चिन्मात्र भी लाभ न होगा।

वातजारोचकलक्षणान्याह—

—परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥ १ ॥

(च. चि. २६)

वातिक अरोचक में दातों में हर्ष या पानी लगता है तथा मुख का स्वाद कसैला होता है।

वातिकलक्षणमाह—परीत्यादि। परिहृष्टदन्त इति अम्लभक्षणेनेव ॥ १ ॥

पित्तजारोचकलक्षणान्माह—

कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्यात्—

(च. चि. २६)

पैत्तिक अरोचक में मुख तिक्त (कडवा), खट्टा, गर्म, विरस तथा दुर्गन्धियुक्त होता है ॥

पैत्तिकलक्षणमाह—कट्वित्यादि। कटुशब्दोऽत्र तिक्तवाची। यदाह विदेहः-'पित्तेन तिक्तास्यविदाहकृत् स्यात्, स्वाद्वास्यहृल्लासकरः कफेन'-इति।

विमर्श—पित्त के विदग्ध होने से छाती में जलन भी होती है। कटु का अर्थ यहाँ तिक्त किया गया है; क्योंकि विदेह ने कहा है—**'पित्तेन तिक्तास्यविदाहकृत् स्यात्।'**

कफजारोचकलक्षणयाह—

—लवणं च वक्त्रम्।

माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसंबद्धयुतं कफेन ॥ २ ॥

(च. चि. २६)

कफज अरोचक में रोगी का मुख नमकीन और मीठा होता है। उसके मुख में पिच्छिलता भारीपन, शीतता तथा जकडाहट रहती है ॥ २ ॥

श्लैष्मिकलक्षणमाह—लवणमित्यादि। लवणं वक्त्रमिति विदग्धस्य श्लेष्मणो लवणरसत्वात्, उक्तं हि सुश्रुते-'श्लेष्मा विदग्धो लवणः स्मृतः, पित्तं विदग्धमम्लम्'-(सु. सू. अ. ४०) इति। विबद्धसंबद्धयुतमिति विबद्धं च तत् संबद्धयुतं चेति विबद्धसंबद्धयुतम्। अत्र विबद्धं बद्धमिव, भक्षणाद्यसामर्थ्यात्, संबद्धयुतं 'कफस्य' इति शेषः, भावे क्तः, कफलिप्तमित्यर्थः। 'विदग्धसंबद्धयुतम्' इति पाठान्तरं सुगमम्। 'विबद्धसन्नद्धयुतम्' इति पाठे विबद्धः सन्नद्धः स च प्रकृतत्वात् कफस्य, सन्नद्धो बद्धः, 'णह' बन्धने इत्यस्माद्धातोः पूर्ववत् क्तादि। 'विबद्धसंस्तम्भयुतम्' इति काश्मीराः **॥ २ ॥**

विमर्शः—विदग्धश्लेष्मा का रस लवण होता है अतः मुख का स्वाद लवण और अविदग्ध से मधुर होता है। क्योंकि कहा भी है—**'श्लेष्मा विदग्धो लवणः स्मृतः,** (सु. सू. ४०)

आगन्तुजमरोचकं निरूपयति—

अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात्।

स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्च— (च. चि. २६)

शोक, भय, अतिलोभ, अतिक्रोध आदि से तथा मन के विपरीत पदार्थ अपवित्रता एवं दुर्गन्ध आदि से उत्पन्न अरोचक को आगन्तुज कहते है । इसमें मुख का स्वाद स्वाभाविक रहता है फिर भी अरुचि रहती है ।

आगन्तुजमाह—अरोचक इत्यादि । अहृद्यगन्धो घ्राणोद्वेजको[1] गन्धः । स्वाभाविकं चास्यमिति अविकृतमुखरसत्वं, न तु वातादिवत् कषायत्वादि ।

त्रिदोषजमाह—

—त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु ॥ ३ ॥ (च. चि. अ. २६)

त्रिदोषज अरोचक में वात आदि तीनों दोषों में बताये गये कषाय आदि अनेक रसों का अनुभव होता है ।

त्रिदोषजमाह—त्रिदोषज इत्यादि । त्रिदोषजे नैकरसमिति वातजाद्युक्तकषायाद्यनेकरसम् ॥

विशिष्टानि दोषरूपाण्याह—

हृच्छूलपीडनयुतं पवनेन, पित्तात्तृड्दाहचोषबहुलं, सकफप्रसेकम् । श्लेष्मात्मकं, बहुरुजं बहुभिश्च विद्याद्वैगुण्यमोहजडताभिरथापरं च ॥

(च. चि. अ. २६)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽरोचकनिदानं समाप्तम् ॥ १४ ॥

वात से होने वाले अरोचक में हृदय प्रदेश में शूल से पीडा होती है । पित्त से होने वाले में तृषा, दाह तथा चोष की विशेषता रहती है । कफज में श्लेष्मा का स्राव (लालास्राव) अधिक होता है । त्रिदोषज अरोचक में अनेक प्रकार की पीडा होती है । इसके अतिरिक्त शोक आदि से होने वाले अरोचक में मन की व्याकुलता, मूर्च्छा, हठ आदि लक्षण होते हैं ॥ ४ ॥

वातजादिभेदेन मुखविकृतिमभिधायान्यदेशविकृतिमाह—हृच्छूलेत्यादि । हृदि शूलेन पीडनं हृच्छूलपीडनम् । चोषश्चूषणवत् पीडा । बहुभिरिति त्रिदोषैः । वैगुण्यमोहजडताभिरथापरमित्युपलक्षणे तृतीया, वैगुण्यं मनसो व्याकुलत्वम् । अपरमिति दोषजादन्यमागन्तुजमित्यर्थः । सत्यामपि बुभुक्षायामभ्यवहारासामर्थ्यमरुचिः, अभिलषितमप्यन्नं दीयमानं नात्यवहरतीत्यन्नानभिनन्दनं अन्नस्य श्रवणस्मरणदर्शनगन्धस्पर्शनैर्यत्रोद्विजते स भक्तद्वेषः, एवं भाविधोऽपि रोग श्चरकसुश्रुताभ्यामरोचकशब्देन संगृहीतः । उक्तं हि वृद्धभोजेन-'प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः । अरोचकः स विज्ञेयो, भक्तद्वेषमतः शृणु ॥ चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि भोजनम् । द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते ॥ कुपितस्य भयार्तस्य अभिचारहतस्य च । यस्य नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते'-इति ॥ ४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामरोचकनिदानं समाप्तम् ॥ १४ ॥

विमर्श—वृद्धभोज आदि ने अरुचि के रूपान्तरों का भी वर्णन निम्न रीति से किया है :—

अरुचि—मुख में डालने पर सुस्वादु भोजन का भी स्वाद ठीक न लगना (न रुचना) अरुचि कहलाती है ।

अन्नानभिनन्दन—अभीप्सित आहार देने पर भी न खा सकना अन्नानभिनन्दन कहलाता है ।

भक्तद्वेष—अन्न के स्पर्शन, दर्शन, गन्ध, श्रवण तथा स्मरणमात्र से होने वाली उद्विग्नता को भक्तद्वेष कहते हैं ।

अभक्तच्छन्द—क्रोध, भय आदि मानस कारणों से भोजन की इच्छा न होने को कहते है ।

वस्तुतः इन सब की सम्मिलित अवस्था को ही चरक और सुश्रुत ने अरोचक नाम दिया है ।

इत्यरोचकनिदानं समाप्तम् ।

---

१. प्राणोद्वेजकः' इत्यानङ्कदर्पण पाठः ।

अथ छर्दिनिदानम् ।

छर्द्या भेदानाह—

दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्सालोचनादिभिः ।
छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते ॥ १ ॥

वात, पित्त, कफ, सन्निपात तथा गन्दी वस्तु के देखने आदि (आगन्तुक कारणों) से पाँच प्रकार की छर्दि उत्पन्न होती है । उनके लक्षणों का पृथक्-पृथक् वर्णन करेंगे ॥ १ ॥

छर्द्या निदानं व्याचष्टे—

अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति ।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥ २ ॥
श्रमाद्भयात्तथोद्वेगादजीर्णात् क्रिमिदोषतः ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥ ३ ॥
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैः—

द्रव-बहुल, अधिक स्निग्ध, मन के प्रतिकूल तथा नमकीन पदार्थों के अधिक सेवन करने से, अकाल भोजन, अतिभोजन तथा असात्म्य-भोजन करने से, श्रम, भय, उद्वेग, अजीर्ण से तथा पेट में क्रिमि हो जाने से छर्दि होती है । इसके अतिरिक्त गर्भवती स्त्री तथा अतिशीघ्र भोजन करनेवाले को तथा घृणा उत्पन्न करने वाले पदार्थों से भी वमन होता है ॥ २–३ ॥

छर्द्या निरुक्तं व्याकरोति—

—द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।
छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ।
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥ ४ ॥

(सु. उ. ४९)

(पूर्वोक्त कारणों से) अकस्मात् उत्क्लेश को प्राप्त होकर मुख को आच्छादित करके तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग को पीडित करता हुआ मुख द्वारा निकलने वाला प्रकुपित दोष छर्दि कहलाता है ॥ ४ ॥

छर्द्यामप्यरुचेर्भावात्तथाऽरोचकवत्पञ्चविधत्वादरोचकानन्तरं छर्दिः, तस्या निदानं निरुक्तिं चाह—दुष्टैरित्यादि । बीभत्सालोचनं विकृतिदर्शनं, आदिग्रहणेनानिष्टगन्धभक्षणादीनां ग्रहणम् । नार्याश्चापन्नसत्त्वाया इति गर्भिण्याः, तस्या गर्भोत्पीडनेन वातवैगुण्याच्छर्दिः । छादयन्नाननमिति वेगैर्मुखं छादयन् पूरयन्, अर्दयन् पीडयन्, अङ्गभञ्जनैरङ्गभेदैः । छादयति मुखम्, अर्दयति चाङ्गानीति छर्दिः; 'छद अपवारणे' 'अर्द हिंसायाम्' अनयोः पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धिः ॥ १–४ ॥

विमर्श—वातिक, पैत्तिक, कफज, सान्निपातिक तथा आगन्तुज भेद से छर्दि पाच प्रकार की होती है । यद्यपि **'रोगस्तु दोषवैषम्यम्'** दोषों की विकृति ही रोग है—इस सिद्धान्त के आधार पर आगन्तुज छर्दि भी किसी एक या अनेक दोषों के प्रकोप से ही उत्पन्न होती है अतः साधारणतया उसका पृथक् वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती तथापि **'संक्षेपतः क्रियायोगो**

निदानपरिवर्जनम्' सब रोगों में निदान का परित्याग ही चिकित्सा का मूल मन्त्र है' इस वचन के आधार पर विशिष्ट चिकित्सा करने के प्रयोजन से ही आगन्तुज को पृथक् माना गया है। घृणा के उत्पादक पदार्थों अथवा उनके दर्शन-स्पर्शनादि से उत्पन्न मानसिक संस्कारों को समूलोन्मूलित किये बिना केवल वात आदि दोषप्रत्यनीक उपचारों से किञ्चिन्मात्र भी लाभ की संभावना नहीं है, अपितु कदाचित् अज्ञान से वास्तविक निदान की उपेक्षा कर किए गए इस प्रकार के उपचार हानिकर भी हो सकते हैं।

अरुचिकर या घृणोत्पादक पदार्थ की इयत्ता का निर्धारण नहीं किया जा सकता, व्याधि भेद से इनमें भी भिन्नता पायी जाती है। किसी को कोई एक वस्तु अतिप्रिय है तो दूसरे के लिये वही घृणोत्पादक एवं अरुचिकर होने से वामक भी हो सकती है। कतिपय व्यक्तियों को दूध, घी तथा पिस्ता सदृश उत्तम पदार्थ भी वमन करा देते हैं। आजकल इसे एलर्जी (Allergy) या वस्तु-विशेष के प्रति शरीर या मन की स्वाभाविक अरुचि कह सकते हैं। प्राचीन दृष्टि से इस भेद का मुख्य और एकतम कारण सात्म्यासात्म्यभेद है। इसके अतिरिक्त मदनफल, लवणजल आदि कतिपय ऐसी वस्तुएँ भी हैं जो सर्वसामान्य को वमन करा सकती हैं। किन्तु इनको उक्त विभाग में नहीं रख सकते। इस विभाग में ऐसी वस्तुओं को ही रखना चाहिये जिनका स्वरूप अत्यन्त विकृत, दुर्गन्धियुक्त हो, जिनके देखने और सूँघने मात्र से ही वमन हो जाये। ऐसी वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुभव के अतिरिक्त कदाचित् श्रवण और मनन से भी वमन होने लगता है। इसका मुख्य कारण पूर्वानुभवजनित घृणात्मक संस्कार विशेष ही है। उक्त संस्कार के उदय होने पर व्यक्ति स्वयं को उसी वातावरण से ओत-प्रोत सा देखता है। इस प्रकार उक्त छर्दि का अन्तर्भाव आधुनिक सिद्धान्तानुसार केन्द्रीय छर्दि (Central vomiting) में किया जा सकता है।

चरक ने भी सुश्रुत के समान पाँच प्रकार की छर्दि का ही उल्लेख किया है—

'दोषैः पृथक् त्रिप्रभवाश्चतस्रो द्विष्टार्थयोगादपि पञ्चमी स्यात्।'

ये सभी निदान अगले पृष्ठ में वर्णनीय त्रिविध सम्प्राप्ति (प्रत्यावर्तन, केन्द्र क्षोभ तथा विष) के द्वारा छर्दि को उत्पन्न करते हैं। यथा—

अतिद्रव—आमाशय में अतिद्रव की उपस्थिति, वहाँ अत्यधिक तनाव (Over distention) उत्पन्न करके प्रत्यावर्तन द्वारा छर्दि को उत्पन्न करती है।

अतिस्निग्ध—अतिस्निग्ध भोजन दुष्पाच्य एवं कफवर्धक होता है, वह विकृत होकर स्रोतोरोध तथा आमाशयिक श्लैष्मिक कला में क्षोभ उत्पन्न करके वमन कराता है।

अहृद्य—खाने में अरुचिकर एवं आमाशय की श्लैष्मिक कला में संक्षोभ उत्पन्न करने वाले सभी पदार्थ अहृद्य कहलाते हैं। मुख द्वारा ग्रहण करने पर आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करके प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन करानेवाले वामक या अन्य असात्म्य पदार्थ इस वर्ग में आ जाते हैं।

अतिलवण—लवण श्लेष्मपित्तवर्धक होने से स्रोतोरोध एवं विदग्ध पित्त का आधिक्य उत्पन्न करके वमन कराता है। इसके अतिरिक्त लवण में आस्रुतीय पीडन (Osmotic pressure) बढ़ाकर अपनी ओर द्रवांश को खींच लेने की अद्भुत शक्ति होती है। इसी शक्ति के कारण वह आमाशयस्थ केशिकाओं की दीवारों से द्रवांश का स्राव अत्यधिक मात्रा में कराकर उदर को फुला देता है जिसके फलस्वरूप प्रत्यावर्तनक्रियाजन्य छर्दि की उत्पत्ति होती है। इसी दृष्टिकोण से लवण का सतृप्त घोल वमनार्थ प्रयुक्त होता है।

अकाल भोजन तथा अतिमात्र भोजन—भोजन तथा परिपाक करने के लिये निश्चित समय एवं निश्चित प्रमाण में पाचक रस का स्राव होता है। असमय में भोजन से आमाशयिक रस का स्राव न होने से भोजन का परिपाक नहीं होता, एवं वह विकृत होकर अनुकूल परिस्थिति पाकर

प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा छर्दि को उत्पन्न कर सकता है। ठीक यही परिणाम अधिक भोजन करने पर भी होता है।

असात्म्य भोजन—आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करने वाले सखिया सदृश विष तथा अन्य वामक और अनिष्ट पदार्थ असात्म्य कहलाते हैं। इनमे से कुछ केन्द्र पर साक्षात् प्रभाव द्वारा[1] एव कुछ प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा[2] और कुछ उभय विधि से वमन कराते है[3]।

श्रम, भय तथा उद्वेग—ये मानसिक कारण है, एव इनके द्वारा होने वाली छर्दि केन्द्रीय छर्दि (Central vomiting) कहलाती है। इसमे मिचली नही होती।

अजीर्ण—अजीर्ण के कारण आमाशयस्थ पदार्थ विकृत होकर आमविषोत्पत्ति तथा वायु की उत्पत्ति (Gas formation) के द्वारा प्रत्यावर्तन जन्य छर्दि को उत्पन्न करता है।

क्रिमिदोष—आमाशय में गण्डूपदक्रिमि की उपस्थिति से प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन होता है। इसके अतिरिक्त कभी कभी ये कुण्डलित होकर अन्त्रावरोध एव उदावर्त उत्पन्न करके भी वमन के प्रवर्तक होते है।

सगर्भावस्था—मधुकोष कार के अनुसार **'गर्भोत्पीडनेन वातवैगुण्याच्छर्दिः'** गर्भ के पीडन से उत्पन्न वायु की विकृति से छर्दि की उत्पत्ति होती है। गर्भ के प्रथम तीन मासों में प्रायः वमन होता है। इसका कारण प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) के अतिरिक्त कुछ नहीं है। चरक ने भी तृतीय मास मे होने वाले दौर्हृद तथा गर्भधारण के सामान्य लक्षणों का वर्णन करते हुए छर्दि का वर्णन किया है। तद्यथा—**आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषः, छर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण'** इत्यादि।

अतिशीघ्र भोजन करना—अतिशीघ्र भोजन करने से भी आमाशय के शीघ्र भरने एवं क्षोभ होने पर प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि होती है।

वीभत्स आदि हेतु भी मानसिक विभाग के अन्तर्गत ही समझने चाहिये, ये मस्तिष्कगत वामक केन्द्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पन्न करके वमन कराते हैं।

इन सब बाह्य कारणों के अतिरिक्त आमाशय के कुछ रोगों (आमाशयिक कलाशोथ, आमाशयव्रण तथा घातक अर्बुद, आमाशय का तीव्र विस्फार) में भी आमाशयिक क्षोभ तथा तज्जन्य प्रत्यावर्तन क्रिया के द्वारा भी छर्दि होती है। सक्षोभ द्वारा होनेवाले सभी वमन प्राणदा (Vagus) नाडी की सक्रियता पर निर्भर है।

दोष शब्द से प्रकृत में मुख्यतः विकृत उदान वायु से प्रेरित विदग्ध कफ और पित्त एवं दुष्ट आमाशयिक पदार्थ समझना चाहिये। इस प्रकार उदान वायु की विकृति से आमाशयिक पदार्थ के मुख द्वारा निकलने को छर्दि कहा जाता है। छर्दि शब्द छद् और अर्द के संयोग से बना है। छद्–का अर्थ ढकना या आवृत करना है और अर्द का अर्थ पीडित करना। आमाशय से निकलने वाला पदार्थ मुख को भर देता है एवं आमाशयादि अवयवों के साथ समस्त शरीर में अर्दन = व्यथा उत्पन्न होती है अतः इस रोग को छर्दि कहते है। छर्दि में अतिसार की अपेक्षा भी कष्ट अधिक होता है। इसीलिये आज कल वमन कराने का प्रचार लुप्तप्राय सा हो गया है। इस रोग में प्रधान विकृति उदान वायु की रहती है एव वह स्वप्रकोपक निदानों अथवा प्रवृद्ध विशेषतः विदग्ध कफ और पित्त के आवरण से प्रकुपित होकर आमाशयस्थ अपक्व पदार्थो को और कभी कभी आन्त्रस्थ पदार्थों को (आन्त्रावरोध में) भी मुख द्वारा बाहर निकाल देता है[4]। छर्दि (Vomiting) की आधुनिक परिभाषा भी इसके समान ही निम्न प्रकार से है—

१. एपोमार्फीन। २. गर्म पानी, नमक, ताम्र तथा जिंक सल्फेट।

३. इपीकाक तथा सञ्ज्ञाहर ओषधियाँ।

४. 'उदानो विकृतो दोषान् सर्वास्वप्यूर्ध्वमस्यति'। (वाग्भटः)

'Vomiting is forcible expulsion of the gastric contents through the oesophagus and mouth' अर्थात् अन्ननलिका एवं मुख द्वारा आमाशयिक पदार्थों के वेगपूर्वक निकालने की क्रिया को छर्दि कहते हैं।

पाश्चात्य वैद्यक के आधार पर छर्दि को तीन बड़े भागों में विभक्त किया जाता है—

१. केन्द्रीय छर्दि (Central vomiting)—वामक केन्द्र मस्तिष्क में प्राणगुहा-तल(Floor of the fourth ventricle) में अवस्थित है। किसी वस्तु के प्रति स्वाभाविक घृणा या भय आदि कारणों से वामक केन्द्र की उत्तेजना के फलस्वरूप होने वाली छर्दि केन्द्रीय छर्दि कहलाती है। इस प्रकार की छर्दि अधिकतर असहिष्णु (Neurotic) व्यक्तियों में पायी जाती है। जिन को भय, घृणा या भीड़ आदि कारणों से पहले कभी वमन हो चुका है उनकी स्मृति तथा अनुभव से भी पुनः वमन हो जाता है। इसके अतिरिक्त मस्तिष्कार्बुद (Ceribral tumour), एवं मस्तिष्कावरण शोथ (Maningitis) सदृश मस्तिष्क के रोगों में भी छर्दि होती हैं। इसका प्रधान कारण शीर्षान्तरीय निपीड (Intracranial pressure) की वृद्धि तथा वामक केन्द्र की उत्तेजना है। केन्द्रीय छर्दि की यह विशेषता है कि इसमें अन्य छर्दियों के समान छर्दि के पूर्व मिचली तथा उदरशूल या उदर के अन्य विकार नहीं पाये जाते किन्तु इसमें शिरोवेदना हो सकती है।

२. प्रत्यावर्तनक्रियाजन्य छर्दि (Reflex vomiting)—यह आमाशयस्थ विकृत खाद्य पदार्थ, तथा विभिन्न ऐन्द्रियिक एवं अनैन्द्रियिक विषों से आमाशयिक श्लैष्मिक कला के क्षोभ तथा भोजनादि से आमाशय के अधिक तन जाने से होती है। इसके अतिरिक्त किसी सांवेदनिक नाडी की पीडायुक्त उत्तेजना के फल स्वरूप भी प्रत्यावर्तित छर्दि हो सकती है।

३. विषजन्य छर्दि (Toxic vomiting)—एपोमार्फीन सदृश वामक पदार्थ वामक केन्द्र पर प्रत्यक्ष प्रभाव द्वारा वमन कराते है। इसके अतिरिक्त ताम्र तथा लवण-जल आमाशय में पहुँचकर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन कराते हैं। मूत्रविषमयता तथा परमावटुकग्रन्थिता (Hyperthyroidism) के द्वारा उत्पन्न विष केन्द्र पर साक्षात् प्रभाव करके छर्दि को उत्पन्न करते हैं। इस छर्दि में हृल्लास अधिक किन्तु वास्तविक वमन कम रहता है। केन्द्रीय तथा प्रत्यावर्तनजन्य छर्दि से पृथक् करने के लिये यह विशिष्ट लक्षण है।

साधारणतया छर्दि की उत्पत्ति में वामक केन्द्र का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उत्तेजित होना अनिवार्य है। आयुर्वेदोक्त छर्दि के उत्पादक सभी कारणों का इन तीनों में ही समावेश हो जाता है। वस्तुतः छर्दि के उत्पादक कारण तो अतिद्रव आदि पदार्थों के सेवन ही हैं, इन्हें तो निदान-सेवनजन्य सम्प्राप्ति-विशेष के अंश ही कह सकते हैं। मस्तिष्कार्बुद आदि स्थानीय कारणों से उत्पन्न होने वाली छर्दि इसका अपवाद है।

छर्द्याः पूर्वरूपं विवेचयति—

हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम्॥ ५॥ (सु. उ. ४९)

मिचली, डकारों का ठीक न आना, मुख से पतले तथा नमकीन स्राव का होना एवं अन्न पान में अरुचि ये वमन के पूर्वरूप हैं॥ ५॥

पूर्वरूपमाह—हृल्लासेत्यादि। उद्गाररोध उद्गाराप्रवृत्तिः। प्रसेको मुखप्रसेकः, तस्य लवणत्वं प्रभावात्, आमाशयोत्क्लेशभवत्वेन कफविदाहाद्वा; तनुरघनोऽल्पो वा॥

---

१. कविराज गणनाथ सेन ने इसी को ब्रह्महृदय कहा है।

विमर्श—छर्दि की पूर्वरूपावस्था में मुख का प्रसेक लवण रस का होता है। चूंकि लवण छर्दि का उत्पादक है अतः यदि यह लवण रस युक्त स्रुत लाला रस अतिमात्रा में आमाशय में पहुंच जाय तो तुरन्त छर्दि को उत्पन्न कर सकता है। इस विषय में शरीरक्रिया-विज्ञान के निष्णात श्री हैलिबर्टन महोदय की भी यही सम्मति है—'The act of vomiting is preceded by a feeling of nausia and swallowing of a large quantity of saliva' अर्थात् हृल्लास और स्रुत लालारस को अत्यधिक मात्रा में निगल लेने के उपरान्त वमन की क्रिया सम्पन्न होती है। मुख का नमकीन होना व्याधिप्रभावजन्य है। चरक ने भी **तासां हृदुत्क्लेशकफप्रसेकौ द्वेषोऽशने चैव हि पूर्वरूपम्**' के द्वारा पूर्वरूप का लक्षण कहा है। हृत्समीपीय आमाशयिक छिद्र (Cardiac opening of the stomach) के समीपस्थ भाग मे आमाशयस्थ पदार्थ को बाहर निकालने की विशेष प्रवृत्ति को ही हृदुत्क्लेश कहते हैं। वस्तुतः हृत्समीपीय आमाशयिक छिद्र के बिना खुले वमन की क्रिया कदापि सम्पन्न नहीं हो सकती। इस प्रकार हृदुत्क्लेश वमन क्रिया का प्राथमिक अंग या पूर्वरूप है। इस विषय में हैलिबर्टन महोदय कहते हैं—'Thus the diaphragm being unable to go up forms an unyielding surface against which the stomach can be pressed. At the same-time the cardiac sphinctor being relaxed and the orifice which it naturally guards being dilated, while the pylorus is closed and the stomach is also contracting, the action of the abdominal muscles expels the contents of the organ through the oesophagus, pharynx and mouth.' तात्पर्य यह कि महाप्राचीरा पेशी के कड़ी हो जाने से आमाशय पर दबाव पड़ता है तथा ग्रहणीच्छिद्र (Pylorus)बन्द रहना हैं साथ ही औदर्य पेशियां संकुचित होती हैं जिससे हृच्छिद्र की पेशियां स्वभावतः ढीली पड जाती हैं। इस प्रकार हृच्छिद्र के खुल जाने पर वेग के द्वारा आमाशयस्थ पदार्थ मुख द्वारा बाहर निकल जाता है।

द्वेषोऽन्नपाने—लक्षणोत्पत्ति से पूर्व ही आमाशय में विकृति की परम्परा निरन्तर चलती रहती है जिसके परिणाम-स्वरूप अरुचि या अन्न-पान-द्वेष नामक पूर्वरूप की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में गृहीत अन्नपान भी वेगपूर्वक वमन का प्रवर्तक होता है। इसके अतिरिक्त खाद्य के साथ लालारस भी आमाशय में अवश्य पहुँचेगा; जो कि वमन का उत्तेजक है, इसी भय से आमाशय प्राकृतिक नियम के अनुसार किसी भी बाह्य वस्तु को स्वीकार करने में असमर्थ रहता है।

वातजायाश्छर्द्याः स्वरूपं निरूपयति—

हृत्पार्श्वपीडामुखशोषशीर्षनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः।
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम्।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दुःखम्॥६॥

(च. चि. अ. २३)

वातिक छर्दि में हृदय प्रदेश तथा पसलियों में पीडा अधिक होती है, मुख सूख जाता है, सिर और नाभि प्रदेश में पीडा होती है, खासी, स्वरभेद (आवाज बैठना) तथा तोद (सारे शरीर में सुई के समान चुभाव) होता है। वमन प्रबल शब्द वाली डकार के साथ बडी कठिनता से झागदार, पतला, काले रंग के टुकड़ों से युक्त थोड़ी मात्रा में कषाय प्रधान और बड़े वेग के साथ होता है। इससे रोगी को अत्यन्त कष्ट होता है॥ ६॥

वातजाया लक्षणमाह—हृत्पार्श्वेत्यादि। शीर्षनाभ्यर्तिः मस्तके नाभौ च शूलं, तोदैरि-

त्यनन्तरं, 'युक्त' इति शेषः, उपलक्षणे वा तृतीया। आर्तो नरश्छर्दयतीति योऽयम्। किंभूत छर्दयतीत्याह—उद्गारेत्यादि। उद्गारशब्दाभ्यां प्रबलमुद्गारशब्दप्रबलम्। विच्छिन्नं सान्तरवेगमल्पद्रवं वा, वातस्य स्वतो द्रवत्वाभावात्। तनुकमघनम्। कषायं कषायरसं, कषायस्य वातकृतत्वात् ॥ ६ ॥

विमर्श—वातिक छर्दि में दो लक्षण विशेष हैं १-पीडा तथा २-वेग। 'वातादृते नास्ति रुजा' इस सिद्धान्त के अनुसार वातिक छर्दि में पीडा का होना स्वाभाविक ही है। इसके अतिरिक्त वायु का गुण गति है, उसके प्रबल होने पर गति भी वेगयुक्त हो जाती है एवं अन्ततोगत्वा इसका परिणाम भी पीडा ही होता है।

हृत्पार्श्वपीडा—सामान्यतः छर्दि के समय आमाशयोत्सेध के कारण हृदय या तत्समीपस्थ अंगों पर दबाव पड़ने से पीडा का अनुभव होता है। वमन के समय उदर की सभी पेशियां सामान्य कार्य करती है किन्तु वाताधिक्य के कारण उनकी क्रियाशीलता और भी अधिक बढ़ जाती है। वातिक छर्दि में आमाशय प्रायः रिक्त रहता है फिर भी क्षोभ मात्र के कारण वमन और उसके लिए सतत एवं उग्र प्रयास का प्रभाव विशेषतः हृदय, पार्श्व और शिर पर होने से अत्यधिक पीड़ा होती है।

उद्गारशब्द प्रबल—वमन के पूर्वरूप में उद्गार का अवरोध बताया गया है किन्तु रूपावस्था में मुख्यतः वातिक प्रकार से इसकी उपस्थिति ही नहीं अपितु प्रबलता भी हो जाती है। रिक्त आमाशय में क्षोभमात्र से वमन के प्रयास में रोगी पर्याप्त मात्रा में वायु घोंट जाता है और वही वायु उद्गार के रूप में उच्च शब्द के साथ निकलती है। यदा कदा स्वल्प मात्रा में विशेषतः आमयुक्त पदार्थ भी बाहर आता है। इस छर्दि को वातनाडीजन्य छर्दि कह सकते हैं क्योंकि चरक-प्रतिपादित इसके अधिकांश कारण (शोक, भय, तीक्ष्णौषध आदि) वातनाडी-संस्थान पर प्रभाव डालने वाले हैं।

पित्तजां छर्दिं लक्षयति—

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्तः ।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥ ७ ॥

(च. चि. २३)

पित्त-प्रकोपजन्य वमन में मूर्च्छा, प्यास की अधिकता, मुख का बार-बार सूखना, सिर, तालु तथा आखों में दाह, आंखों के आगे अंधेरा तथा भ्रम रोग हो जाता है। इससे पीडित रोगी अत्यन्त पीले, गर्म, हरे तथा कड़वापन लिये हुए धूम्रवर्ण का वमन करता है। वमन के समय शरीर और गले में विशेष दाह का अनुभव होता है ॥ ७ ॥

पित्तजामाह—मूर्च्छेत्यादि। तमोऽन्धकारदर्शनमिव। धूम्रं कृष्णलोहितवर्णम् ॥ ७ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने ज्वर लक्षण विशेष माना है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी लक्षण समान है वस्तुतः पित्तज विकार में शरीरान्तर्गत उष्णता के द्योतक ज्वर का होना अनिवार्य भी है। यद्यपि चरक और वाग्भट ने ज्वर का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया तथापि उनके सन्ताप और ताप शब्द से अभीष्ट अर्थ की उपलब्धि हो सकती है।

इन लक्षणों से युक्त छर्दि आमाशयिक एवं ग्रहणी कला शोथ (Peptic ulcer),[१] यकृच्छोफ, पित्ताशयगत शोथ एवं अश्मरी, कामला और आन्त्र पुच्छ शोथ (Appendicitis) आदि में विशेष रूप से मिलतो है। पीत या हरित वर्ण और तिक्तता ग्रहणी से उदावृत्त पित्त के कारण और धूम्रवर्ण थोड़ी मात्रा में रक्त के कारण होता है। इसे 'बिलियस वमिटिङ्ग (Bilious Vomiting) कहते हैं।

हृदय प्रदेश में दाह तथा खाने के कुछ देर पश्चात् अर्थात् पाचन के समय वमन होता है। पाचन के मध्य काल में वमन होना पित्ताधिक्य का द्योतक है।

कफजां छर्दिं व्याचष्टे—

तन्द्राऽऽस्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्राऽरुचिगौरवार्तः।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सरोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ॥ ८ ॥

(च. चि. २३)

कफप्रकोपजन्य वमन में तन्द्रा, मुख की मधुरता, मुख से कफ का स्राव, तृप्ति (खाने की इच्छा का अभाव), निद्रा, अरुचि तथा शरीर का भारीपन रहता है। इस रोग से पीड़ित रोगी चिकने, गाढ़े एवं मधुर रस से युक्त श्वेत वर्ण का वमन करता है और रोगी के रोंगटे खड़े हो जाते हैं एवं वह मामूली पीडा का अनुभव करता है ॥ ८ ॥

कफजामाह—तन्द्रेत्यादि। आस्यमाधुर्यं मुखस्य मधुररसत्वम्। सन्तोष इति सन्तोष इव सन्तोषः, अन्नानभिलाष इत्यर्थः; तृप्तो हि नान्नमभिलषति। अरुचिरभ्यवहारासामर्थ्यम्। स्वादु मधुरम्। विशुद्धमतिशुभ्रं, सुश्रुते; **'शुक्लं हिमं सान्द्रकफं कफेन'** (सु. उ. अ. ४९) **इति पाठात् ॥ ८ ॥**

विमर्श—सन्तोष का अर्थ तृप्ति है। **'तृप्तिः श्लेष्मविकारः'** तृप्ति श्लेष्मा का विकार है। **'अनन्नाभिलाषस्तृप्तिः'** भोजन न करने की इच्छा को भी तृप्ति कहते हैं। अरुचि अन्नद्वेष को कहते हैं। इन दोनों के लिए अरोचक शब्द का भी व्यवहार करते हैं।

निद्रा—शास्त्र में निद्रा के सात भेद वर्णित हैं यथा—

तमोभवा श्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसम्भवा च।
आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा ॥

प्रस्तुत निद्रा श्लेष्मसमुद्भवा है। इसे विकृतिजन्य निद्रा ही कह सकते हैं; क्योंकि कहा भी है—

रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्।
तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषं पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति ॥

रात्रिभवा एवं तमोभवा के अतिरिक्त शेष विभाग में श्लेष्मसमुद्भवा निद्रा ही समाविष्ट है। श्लेष्मा से स्रोतों में अवरोध हो जाने के कारण शरीर की क्रियाशीलता शिथिल हो जाती है। एक अवस्था ऐसी आती है जब कि यह निष्क्रियता निद्रा में परिवर्तित हो जाती है।

विशुद्धम्—सुश्रुत में **'शुक्लं हिमं सान्द्रकफानुविद्धम्'** ऐसा पाठ मिलता है अतः यहाँ भी विशुद्ध का अर्थ अतिशुभ्र या श्वेत किया गया है। कफ के शीतलता गुण के कारण रोमहर्ष उत्पन्न होता है। वेगों की मन्दता से पीडा भी कम होती है।

क्लोरोफार्म जैसे पदार्थ के सेवन से मुखमाधुर्य तथा कफप्रसेकपूर्वक वमन होता है। बारबिचुरेट समुदाय के द्रव्यों के सेवन से तन्द्रा, निद्रा तथा छर्दि होती है किन्तु इनका प्रभाव केन्द्र द्वारा ही होता है अतः यह वातिकच्छर्दि ही हैं। इनमें कफ का अनुबन्धमात्र रहता है।

त्रिदोषजायाश्छर्द्याः स्वरूपमाह—

शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम्।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥ ९ ॥

(च. चि. २३)

त्रिदोषज छर्दि में उदरशूल, भोजन का न पचना, अरुचि, शरीर में दाह, प्यास, श्वास एवं मूर्च्छा ये लक्षण होते हैं तथा नमकीन या खट्टा वमन होता है एवं यह रंग में नीला, गाढ़ा, गर्म और रक्तयुक्त होता है ॥ ९ ॥

त्रिदोषजामाह—शूलेत्यादि। शूलादिभिः प्रमोहान्तैः प्रबला शूलादिप्रबला। प्रसक्तम् निरन्तरम्। त्रिदोषादित्यत्र 'त्रिदोषा' इति पाठान्तरे त्रिदोषजेत्यर्थः॥ ९॥

विमर्श—त्रिदोषज छर्दि में तीनों दोषों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं। यथा—वायु के कारण शूल, कफ के कारण अपच, अरुचि तथा श्वास होता है। इसी प्रकार पित्त के कारण दाह, तृष्णा, मूर्च्छा तथा कभी कभी वमन में रक्त भी मिलता है। इस प्रकार की छर्दि विविध विषमयता यथा मूत्रविषमयता (Uraemia) एवं जीर्ण आमाशय शोथ, व्रण या कर्कटकार्बुद, पित्तरक्तता (Cholaemia) आदि विकारों में होती है।

असाध्यां छर्दिं वर्णयति—

विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात्॥ १०॥
विण्मूत्रयोस्तत्समगन्धवर्णं तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम्।
प्रच्छर्दयेद् दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति॥ ११॥

(च. चि. २३)

जब वायु विलोम होकर अत्यन्त प्रकुपित दोष वाले व्यक्ति के मल, मूत्र, स्वेद तथा जलवाही स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके दोषों को कोष्ठ से निकालकर ऊपर की ओर लाता है तो मल और मूत्र के समान गन्ध तथा वर्ण वाला वमन करता है (अतएव कुछ लोग इसे मुख द्वारा मल का बाहर निकलना भी कहते हैं)। रोगी प्यास, श्वास तथा हिचकी से बहुत पीड़ित रहता है। इस प्रकार के तीव्र वेग युक्त वमन से पीड़ित रोगी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होता है॥ १०-११॥

असाध्यामाह—विडित्यादि। उत्सन्नदोषस्य उद्गतदोषस्य। दोषमिति पित्तं कफं वा, स्वेदादिकान् वा तद्दुष्टान् धातुमलान्। तदिति यस्माद्विडादिवाहिस्रोतोदुष्टिस्ततो हेतोर्विण्मूत्रयोः समगन्धवर्णं छर्दयतीति योज्यम्। इयं तु छर्दिर्विकृतिविषमसमवायारब्धा त्रिदोषजेति केचित्, अन्ये त्वाहुः—सर्वा एव छर्दयः प्रबला एवंविधाः सत्योऽसाध्याः स्युरिति।

विमर्श—इस प्रकार की असाध्य छर्दि का सुश्रुत तथा वाग्भट में विशेष उल्लेख नहीं मिलता। दोष शब्द से यहाँ कफ एवं पित्त अथवा आम, दुष्टान्न आदि का ग्रहण करना चाहिये। कुछ विद्वान् इस छर्दि को विकृतिविषमसमवायजन्य त्रिदोषज मानते हैं और कोई ऐसा कहते हैं कि **'सर्वा एव छर्दयः प्रबला एवंविधाः सत्योऽसाध्या स्युः'** सभी प्रकार की छर्दियाँ इस प्रकार सम्पूर्ण लक्षण होने पर असाध्य होती हैं। वस्तुतः किसी प्रकार की छर्दि में यह लक्षण मिथ्योपचार या स्वतः दोषान्तरों के प्रकुपित होने से ही होते हैं अतः इसे त्रिदोषज ही मानना ठीक है। क्योंकि—**एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्।** निरन्तर तीव्र वमन होते रहने से शारीरिक जलीयांश की क्षीणता होती है और परिणामतः स्वेद और मूत्र का अभाव होता है तथा विभिन्न धातुओं एवं स्रोतों में मल संचय होकर आत्म विषमयता के कारण मृत्यु भी हो जाती है।

इस प्रकार की छर्दि को यदि उदावर्तजन्य या आन्त्रावरोध (Intestinal obstruction) जन्य छर्दि कहा जाय तो अनुचित न होगा। इसका विशद वर्णन बद्धगुदोदर के प्रकार में किया जायगा। आन्त्रावरोधजन्य वमन जीवन के लिये भयंकर घटना है, इससे अधिकांश व्यक्ति मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। अतः आचार्यों ने इसको असाध्य कोटि में रखा है।

आगन्तुजां छर्दिमाह—

बीभत्सजा दौहृदजाऽऽमजा च ह्यसात्म्यजा च क्रिमिजा च या हि।
सा पञ्चमी तां च विभावयेच्च दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥१२॥
(सु. उ. ४९)

गन्दी वस्तुओं के सम्पर्क से, स्त्रियों में सगर्भावस्था से, आमदोष या आमाजीर्ण से, असात्म्य भोजन आदि के सेवन से तथा आन्त्र में क्रिमियों की उपस्थिति से होनेवाली यह पाँचवीं छर्दि आगन्तुज कहलाती है। इस छर्दि का भी दोषानुसार ही विचार करना चाहिये ॥ १२ ॥

आगन्तुजामाह—बीभत्सजेत्यादि। दौहृदजा दौहृदालाभजा, आमजा अजीर्णजा, असात्म्यजा असात्म्यभक्षणादिसंभूता, क्रिमिजा कोष्ठक्रिमिसंभवा; बीभत्सजेत्यादिना क्रिमिजान्तेनैकत्वेनैव गणनीया, आगन्तुजत्वसामान्यात्; आगन्तुज्वरवत्। सा पञ्चमीति त्रिदोषजापेक्षया; यदि तु बीभत्सजापेक्षया क्रिमिजा पञ्चमीति गण्यते तदा तां च विभावयेद्दोषोच्छ्रयेणैवेत्यनेन क्रिमिजाया एव दोषसंबन्धः स्यात्, ततश्च बीभत्सजादीनां चिकित्सोपयोगी दोषसंबन्धो न लभ्यते। अन्ये तु तद्दोषपरिहारार्थं 'सा पञ्चमी ताश्च' इति बहुवचनान्तं पठन्ति, एवं सत्यन्तर्गणनया न प्रयोजनमित्यन्तर्गणनां नाद्रियन्ते। कथमत्र दोषोच्छ्रयो विभावनीय इत्याह—यथोक्तमादाविति। आदौ वातादिलक्षण इत्यर्थः ॥ १२ ॥

विमर्श—बीभत्सालोचनादि जन्य विभिन्न आगन्तु कारणों से उत्पन्न छर्दियों में भी कारणानुसार दोष प्रकोप होता है और तत्तत् दोषजन्य लक्षण भी मिलते हैं क्योंकि **'आगन्तुरन्वेति निजं विकारम्'** इस उक्ति के आधार पर आगन्तु भी स्वल्पकाल मे ही किसी न किसी दोष से अवश्य सम्बद्ध हो जाता है। अतः आगन्तुक कारण के साथ साथ वात आदि दोषों के अनुबन्ध का ज्ञान करना भी परमावश्यक है। इससे वातादि के विरुद्ध चिकित्सा करने से विशेष सफलता मिलती है।

'सा पञ्चमी' शब्द से केवल क्रिमिजा का ग्रहण न करके आगन्तु सामान्य का ग्रहण होता है, पृथग्दोषजा तीन और सन्निपातजा चौथी की अपेक्षा आगन्तुज पाँचवीं ही है।

बीभत्स पदार्थों से उनके दर्शन, स्पर्शन, आस्वादन तथा मनन सभी का ग्रहण होता है। ये पदार्थ, दौहृद[1] तथा क्रिमि प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा वमन कराते हैं यह कारण-विवेचन के समय भलीभाँति स्पष्ट किया जा चुका है। अजीर्ण में गैस से आमाशय के अधिक फूल जाने के कारण तथा असात्म्य भोजन से स्थानीय संक्षोभ के कारण प्रत्यावर्तनक्रियाजन्य छर्दि होती है। आम से विसूचिका सदृश वमन की भी उत्पत्ति होती है।

क्रिमिजां छर्दिं निरूपयति—

शूलहृल्लासबहुला क्रिमिजा च विशेषतः।
क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥ १३ ॥ (सु. उ. ४९)

क्रिमिज छर्दि में रोगी को उदरशूल तथा हृल्लास या मिचली ये लक्षण विशेष रूप से होते हैं इसके अतिरिक्त अन्य लक्षण क्रिमिज हृद्रोग के लक्षणों[2] के समान होते है ॥ १३ ॥

---

१. गर्भावस्थाजन्य वमनाधिक्य (Hyperemasis gravidarum) तथा सूतिकापस्मार (Eclampsia) उग्र दौहृदजन्य छर्दि के उदाहरण हैं।

२. उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः। अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत् ॥

क्रिमिजाया लक्षणमाह—शूलेत्यादि। क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन छर्दितेति क्रिमिहृद्रोगे क्रिमिलक्षणात् (णं) यत् पीडादिकं तदस्यां भवतीत्यर्थः॥ १३॥

विमर्श—क्रिमि रोग में उदरशूल विशेषतः हृत्प्रदेशीय शूल (Epigastric pain) होता है तथा मिचली विशेष रूप से आती है अतः क्रिमिदोषजन्य छर्दि में भी उक्त लक्षण पाये जाते हैं। छर्दि गण्डूपद क्रिमि (Round worm) का विशेष लक्षण है।

असाध्यायाश्छर्द्या लक्षणान्याह—

क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता।
सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्यां, साध्यां चिकित्सेन्निरुपद्रवां च॥१४॥
(च. चि. २३)

क्षीण रोगी को निरन्तर होनेवाली तथा रक्त, पूय एवं मयूरपिच्छवत् चन्द्रिकायुक्त तथा कास-श्वास आदि उपद्रवों से युक्त छर्दि असाध्य होती है। उपद्रवरहित को साध्य समझकर चिकित्सा करनी चाहिये॥ १४॥

असाध्यलक्षणमाह—क्षीणस्येत्यादि। सचन्द्रिकामिति। मेदःप्रभृतिधातूनां स्नेहः प्रवर्तमानो मयूरपिच्छचन्द्रिकावत् प्रतिभाति। निरुपद्रवामिति। कासाद्युपद्रवरहिताम्। तदुक्तं—'कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च। हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः' इति॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां छर्दिनिदानं समाप्तम्॥ १३॥

विमर्श—शोणितपूययुक्ता—रक्तयुक्त वमन, अन्ननलिका शोथ (Oesophagitis), आमाशयव्रण (Gastric Ulcer) या आमाशयान्तसंकोच (Pyloric obstruction) आदि की विकृतिजन्य छर्दि में होता है। अन्तर्विद्रधि में पूययुक्तता भी होती हैं।

सचन्द्रिकाम्—मेद और मज्जा आदि धातुओं का स्नेह ही वमन द्वारा निकलने पर मयूरपिच्छ की चन्द्रिकाओं के समान दीखता है। फास्फोरस खाने के पश्चात् भी होने वाले वमन में इस प्रकार की चन्द्रिकायें पायी जाती हैं। धातुगत फास्फोरस के इस अनवरत क्षय से क्षीण रोगी क्षीणतर होता जाता है एवं उसकी छर्दि असाध्य कोटि को प्राप्त हो जाती है। छर्दि की असाध्यता के सुश्रुतोक्त लक्षण भी इनके समान ही हैं।

छर्द्या उपद्रवान् दर्शयति—

(कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः॥ १५॥) (च. चि. २३)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने छर्दिनिदानं समाप्तम्॥ १५॥

(कास, श्वास, ज्वर, हिचकी, प्यास, बुद्धिविभ्रम, हृद्रोग तथा तमक श्वास ये छर्दि के उपद्रव हैं॥)

विमर्श—निरन्तर और उग्रस्वरूप की छर्दि में शारीरिक जलीयांश के अभाव एवं मलसंचय के कारण इन उपद्रवों की उत्पत्ति होती है जैसा—कि श्लोक १०-११ के विमर्श में विवेचित है।

इति छर्दिनिदानं समाप्तम्।



अथ तृष्णानिदानम्

तृष्णायाः सहेतुकं सम्प्राप्तिवर्णनम्—

भयश्रमाभ्यां बलसंक्षयाद्वा ह्यूर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च।
पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत्पिपासाम्।
स्रोतस्स्वपांवाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट् सम्भवतीह जन्तोः॥ १॥

भय, परिश्रम तथा बल के नाश से प्रकुपित वात तथा अपने (कटु, उष्ण, तीक्ष्ण, विदाही पदार्थ, मद्यपान एवं क्रोध आदि) प्रकोपक कारणों से प्रकुपित पित्त मिलकर उर्ध्वगमन के द्वारा तालु में पहुंच कर प्यास को उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त दोषों से जलवाही स्रोतों के दूषित हो जाने पर भी तृष्णा की उत्पत्ति होती है॥ १॥

तृष्णायाः पूर्वरूपाणि सामान्यलिङ्गानि चाह—

(ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशोषदाहसंतापमोहभ्रमविलापाः।
पूर्वाणि रूपाणि भवन्ति तासामुत्पत्तिकाले तु विशेषतो हि॥)

तृष्णा की उत्पत्ति के पूर्व तालु, ओष्ठ, कण्ठ और मुख सूखते हैं और उनमें दाह का अनुभव होता है साथ में सार्वदैहिक ताप, मोह, भ्रम एवं प्रलाप भी होने लगते हैं। रूपावस्था में यही लक्षण पबल हो जाते हैं।

तृष्णाया भेदनिरूपणम्—

तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात्तथा ह्यामसमुद्भवा च।
भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु॥ २॥
(सु. उ. ४८)

वातिक, पैत्तिक, कफज, क्षतज, क्षयज, आमज तथा अन्नज या भक्तज भेद से तृष्णा सात प्रकार की होती है, आगे क्रमशः उनके लक्षण कहे जाते हैं॥ २॥

छर्देस्तृष्णोपद्रवत्वाच्छर्द्यनन्तरं तृष्णानिदानं, तस्याः संप्राप्तिमाह—भयेत्यादि। पित्तविवर्धनैरिति। कट्वम्लोष्णादिभिः क्रोधोपवासादिभिश्च स्वस्थान एव संचितं कुपितं च पित्तं, वातश्च भयश्रमबलक्षयैः कुपितः, ऊर्ध्वं प्रसरत् पिपासां जनयति तात्विवत्युपलक्षणं, तेन क्लोमाद्यपि बोध्यं, तस्य पिपासास्थानत्वेनोक्तत्वात्। चरकेऽप्युक्तं-'रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः। संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृषमतिबलौ तौ तु' (च. चि. अ. २२) **इति। अन्नकफामजानां संप्राप्तिमाह—स्रोतःस्वित्यादि। ननु, अपांवाहिष्विति बहुवचनं विरुद्धं, 'द्वे उदकवहे'** (सु. शा. अ. ९) **इति सुश्रुतेनोक्तत्वात्। नैवं, तयोरेकानेकप्रतानयोगादिति। दोषैरिति। अन्नकफामैः, दुष्टिकर्तृत्वाद् दुष्टदोषसंबन्धाद्वाऽन्नामयोरपि दोषत्वमिति** गदाधरः[1] **। तिस्र इति। वातादिभिः प्रत्येकम्। क्षतजेति। क्षतनिमित्ता व्रणिनां या भवति। चतुर्थीत्यनेनोक्तानां चतसृणां सुखसाध्यत्वं बोधयति, अन्यासां तु कष्टसाध्यत्वम्॥ १-२॥**

विमर्श—प्यास की अधिकता (Polydipsia) या बार बार जल पीने पर भी जल की इच्छा का शान्त न होना ही तृष्णा है।

सततं यः पिबेद् वारि न तृप्तिमधिगच्छति।
पुनः काङ्क्षति तोयञ्च तं तृष्णार्दितमादिशेत्॥ (सु. उ. तं. ४८)

१. 'गयदासः' इति क।

यह तो निश्चित ही है कि शरीर मे ६५–७० प्रतिशत मात्रा जल की होती है। अस्थि जैसे धातु मे भी २०% जल होता है। आहार द्रव्य से उत्पन्न आवश्यक तत्त्वों को घोलकर रस रूप में शरीर के विभिन्न धातुओं को पोषण पहुंचाना और उनके त्याज्य द्रव्यों को मूत्र, स्वेद, श्वास, बाष्प और मल द्वारा क्वचित् अश्रु आदि द्वारा भी बाहर निकालना जल का ही काम है। इसलिए यह भी निश्चित है कि जब भी शरीर में रस सचार में बाधा उत्पन्न होगी या मलों की अधिक उत्पत्ति एव सञ्चय होगा अथवा किसी कारण से मूत्र, स्वेद आदि द्वारा अस्वाभाविक रूप में जल का अति निःसरण हो जायेगा अथवा आहार द्वारा ऐसे पदार्थ शरीर में पहुँच जायेंगे जो अनिष्ट हैं और उन्हे घोलकर निर्बल करना तथा बाहर निकालना होगा तो जल की अधिक मात्रा में आवश्यकता होगी। इस आवश्यकता की सूचना–स्वरूप मुख, जिह्वा तालु आदि अवयवों में जलीयांश की कमी के कारण शोष तथा अन्य सार्वदेहिक लक्षणों की उत्पत्ति होती है। इसी को तृष्णा कहते हैं किन्तु तृष्णा अनेक रोगों का विशिष्ट लक्षण है। उसकी ही प्रधानता होने पर यह रोग भी है। तृष्णा को आधुनिक शास्त्रकारों ने Thirst संज्ञा दी है। इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अभी तक कोई निश्चित मत नही स्थिर है। The mechanism of Production of thirst is not fully understood, but reference may be made to suggestive observations (Wright)। कारणों का विवेचन उपलक्षण मात्र है, अतः अन्य सभी सम्भव कारणों का समावेश इसमे कर लेना चाहिये। इन सभी कारणों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. शारीरिक कारण—वे सभी कारण जो शरीर की धातुओं पर प्रत्यक्ष प्रभाव करके तृष्णा को उत्पन्न करते है शारीरिक कारण कहलाते हैं। कटु, अम्ल, उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, क्षार, लवण तथा मद्यश्रेणी के पदार्थ एवं धातुक्षय, श्रम, वमन, अतिसार तथा अन्य इसी प्रकार के कारण शारीरिक कारण कहे जाते है।

२ मानसिक कारण—ये कारण मानसिक प्रभावपूर्वक शरीर पर प्रभाव करके तृष्णा की उत्पत्ति करते है। भय, क्षोभ तथा क्रोध इस श्रेणी में आ जाते है।

३. आगन्तुक कारण—सूर्यसन्ताप आदि तथा विविध आघात आगन्तुक कारण कहलाते हैं।

तृष्णा की उत्पत्ति के दो मूल कारण हैं—

(क) शरीर मे जल की कमी तथा (ख) वायव्य एवं आग्नेय या पैत्तिक गुण की वृद्धि। ये दोनों सापेक्ष है। शरीर मे जल या सोमगुण की कमी से वायव्य एव आग्नेय गुण की वृद्धि होती है[1]। इसी प्रकार कदाचित वात और पित्त वर्धक आहार–विहार के सेवन से भी वायव्य एवं आग्नेय गुणों की वृद्धि होने पर सोमगुण या जलीयांश का ह्रास भी होता है[2]। वायु और पित्त ही बढकर तृष्णा की उत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार जिन अवस्थाओं में वायु और पित्त की अधिकता तथा शरीरान्तर्गत जल की कमी होती है उन सब में तृष्णा की उत्पत्ति भी अनिवार्य रूप मे पायी जाती है।

साधारण अवस्था मे मूत्र, स्वेद, मल तथा कुछ अंश में बाष्प के रूप में शरीर से जल का ह्रास होना रहता है जिसकी पूर्ति जल के साधारण सेवन से विना किसी विकार के निरन्तर

१. 'तत्प्रकोपो हि सौम्यधातुप्रदूषणात्' वाग्भटः।

२. क्षोभाद् भयाच्छ्रमादपि शोकात्क्रोधाद्विलङ्घनान्मद्यात्।
क्षाराम्ललवणकटुकोष्णरूक्षशुष्कान्नसेवाभिः॥
धातुक्षयगदकर्षणवमनाद्यतियोगसूर्यसन्तापैः।
पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः॥ (चरक)

होती रहती है। किन्तु जिस अवस्था मे यह ह्रास सीमा का उल्लघन कर जाता है तो शरीरान्तर्गत जल की कमी की सूचना स्वरूप तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में बार-बार जल-ग्रहण करने पर भी प्यास बनी ही रहती है।

तृष्णा रोग है या लक्षण ? तृष्णा स्वतन्त्र रोग न होकर अनेक रोगों का विशिष्ट लक्षण है। अतएव चरक ने कहा है कि-**'घोरव्याधिकृशानां प्रभवत्युपसर्गभूता सा'** अर्थात विविध रोगों से कृश हुए रोगियों में यह उपद्रव रूप में पायी जाती है। फिर भी चरक आदि संहिताकारों तथा उनका अनुसरण करने वाले माधव ने इसको आत्ययिकता एव चिकित्सा-विशेष के कारण रोगसमूह मे पढा है। उदाहरणार्थं कतिपय रोगो या अवस्थाओं का उल्लेख किया जा रहा है:—

मधुमेहजन्य तृष्णा—मधुमेह के विशिष्ट लक्षणों में तृष्णा (Polydipsia) भी मुख्य लक्षण है। मधुमेह मे मूत्र द्वारा शर्करा का उत्सर्ग होता है। शर्करा एक घन पदार्थ है अतः उसको तरल बनाकर मूत्र द्वारा उत्सर्ग कराने के लिये जल की प्रचुर राशि अपेक्षित होती है। इस प्रकार इस रोग मे शरीरस्थ जल का अधिकाश भाग शर्करा को तरलतर बनाकर वृक्कमार्ग से मूत्र द्वारा उत्सृष्ट कराने मे व्यय हो जाता है। इससे शरीरस्थ जल की उपयुक्त मात्रा कम हो जाती है। इसी कमी को पूर्ण करने के लिये भौतिक परिणाम स्वरूप तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

रक्तस्रावजन्यतृष्णा—शरीर की प्रत्येक कोषा जल से परिपूर्ण एवं जलप्लावित रहती है। यह जल उसको रक्त के द्वारा ही उपलब्ध होता है। इस प्रकार शरीरस्थ जल का प्रधान स्रोत रक्त या रक्तरस ही है। किसी कारण से आभ्यन्तर (Internal) या बाह्य (External) स्वरूप का अत्यधिक रक्तस्राव होने पर सम्पूर्ण शरीर में जल की साधारण मात्रा कम हो जाती है, अत एव रोगी को प्यास की इच्छा बढ जाती है। सुश्रुत ने रसक्षय में साक्षात तथा रक्तक्षय में शीत-प्रार्थना के द्वारा तृष्णा की उत्पत्ति का उल्लेख किया है **'रसक्षये हृत्पीडाकम्पः शून्यता तृष्णा च,' शोणितक्षये त्वक्पारुष्यमम्लशीतप्रार्थना सिराशैथिल्यञ्च'** सुश्रुतः। शीतप्रार्थना की व्याख्या में डल्हणाचार्य कहते हैं—**'रक्तस्य द्रवत्वात् तत्क्षये तेजोवृद्धौ शीतप्रार्थनाऽपि'** अर्थात रक्तगत जल के अंश द्रव के नष्ट होने पर पित्त की वृद्धि होने से शीत के मुख्य आश्रय जल ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। रक्तस्रावजन्य मूर्च्छा की अवस्था में रोगी को प्यास का अनुभव न होते हुए भी यदि उसके मुख में पानी की कुछ बूँदे ही डाल दी जायें तो वह तुरन्त आँखें खोलकर सज्ञा-लाभ करता है। इसलिये तो **'जीवनं जीविनां जीवो जगत्सर्वं तु तन्मयम्'** इस पद्य में जल को जीवन सज्ञा दी गयी है तथा रक्त को भी जीव कहा है **'रक्तं जीव इति स्थितिः'**।

ग्रीष्मकालीन तृष्णा—यद्यपि यह रोग नहीं है तथापि वह शरीर की समान विकृति से ही उत्पन्न होती है यह व्यक्त करने के लिये ही इसका उल्लेख यहाँ किया गया है। इसका मूल कारण स्वेदातिप्रवृत्ति है। स्वेदाधिक्य से शरीरस्थ जल की कमी तथा उसको पूर्ण करने के लिये तृष्णा की उत्पत्ति स्वभावतः होती है।

तीव्र विरेचन या विसूचिका जैसे रोगों में शरीरस्थ जल की कमी से अन्य लक्षणों के अतिरिक्त तृष्णा की भी उत्पत्ति होती है। सिरा द्वारा जल प्रदान करने पर रोग की निवृत्ति होती है। तीव्र ज्वर आदि रोगों में विषमयता ऊष्माधिक्य एवं स्वेदाधिक्य आदि के कारण तृष्णा होती हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर सूत्ररूप में धातुगत जल की कमी को ही तृष्णा का एकतम कारण कहा जा सकता है। महर्षि चरक भी इससे सहमत हैं—

'अब्धातु देहस्थं कुपितः पवनो यदा विशोषयति तस्मिञ्छुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन्॥

इसके अतिरिक्त वाग्भट ने भी कहा है—**'तत्प्रकोपो हि सौम्यधातुप्रदूषणात्'** जलीय धातु की कमी से तृष्णा का प्रकोप होता है।

स्थान संश्रयः—इस रोग में दोषों की स्थिति जिस अवयव विशेष में होती है उसका उल्लेख करते हुए कहा है **तालुप्रपन्नम्**। तालु शब्द यहाँ उपलक्षण मात्र है, अतः इससे रसवाहिनी जिह्वामूल, गला तथा क्लोम का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि तृष्णा-सम्प्राप्ति मे इन अंगों की विकृति का वर्णन ग्रन्थान्तरों मे मिलता है—**'रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः'** (च. चि २२) तथा—**'जिह्वामूलगलक्लोमतालुतोयवहाः सिराः। संशोष्य तृष्णा जायन्ते'** (वाग्भटः)

तालु शब्द से भी केवल तालु (Palate) का ग्रहण न करके इसके ठीक ऊपर मस्तिष्कस्थित उपाज्ञापिण्ड (Hypothalamus) का ग्रहण भी यदि किया जाय तो उचित है, क्योंकि यही जलनियन्त्रक केन्द्र (Water regulating center) का भी अधिष्ठान है। वात, और पित्त प्रकुपित होकर तालु को शुष्क कर देते हैं, जिससे वहाँ फैले हुए वातनाडी के अग्रों द्वारा केन्द्र मे उत्तेजना पहुँचने के फलस्वरूप तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

स्रोतःस्वपांवाहिषु दूषितेषु—जलवाही स्रोतों के दूषित होने पर प्यास का अनुभव होता है जैसा कि कहा भी है—**'उदकवहे द्वे तयोर्मूलं तालु क्लोम, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च'** सुश्रुतः। अर्थात् उदकवाही दो स्रोत हैं-जिनका मूल तालु और क्लोम है-उनमें विकृति होने से प्यास एवं तात्कालिक मृत्यु भी हो सकती है। यद्यपि उदकवाही स्रोत दो ही हैं तथापि उनकी अनेक शाखा-प्रशाखाओं के कारण प्रकृत में बहुवचन का प्रयोग किया गया है।

रसवाही या लसवाही तथा रक्तवाही स्रोत ही उदकवाही स्रोत भी हैं। इनके अतिरिक्त विभिन्न धात्वन्तरीयावकाशों (Intercellular spaces) मे भी जल सञ्चित रहता है और वह लसीकान्तर्गत एवं धातुकोषाणुगत जल के विनिमय का आधार है अतः इसे भी उदकवाही स्रोतस् मानना उचित है। कुछ लोग गलस्थित जिह्वाधरिका सिरा Sublingual veins को ही उदकवाही स्रोत की संज्ञा देते है वह ठीक नही।

मधुकोशकार विजयरक्षित जी **'स्रोतःसु'** आदि को अन्न, कफ और आम से उत्पन्न तृष्णा की ही सम्प्राप्ति मानते है। **'अन्नकफामजानां सम्प्राप्तिमाह—स्रोतःस्वित्यादि'**। क्योंकि गदाधर जी **'दोषैः'** शब्द से आम, कफ और अन्न का ग्रहण करते हैं। **दोषैरिति अन्नकफामैः, दुष्टिकर्तृत्वाद् दुष्टदोषसम्बन्धाद्वाऽन्नामयोरपि दोषत्वम्'** स्रोतों की दुष्टि करने तथा दुष्ट दोष के सम्बन्ध से अन्न और आम भी दोष कहे जा सकते है। इस प्रकार अन्न, कफ और आम से उदकवाही स्रोतो के दुष्ट होने से अन्नज, आमज और कफज तृष्णा की उत्पत्ति होती है यह श्री विजयरक्षित का आशय है। किन्तु सभी प्रकार की तृष्णाओं में पित्त और वात की प्रधानता तथा जलवाही स्रोतों की दुष्टि अनिवार्य है अतः इसे विशिष्ट सम्प्राप्ति न मानकर सामान्य सम्प्राप्ति ही मानना ठीक है—**'पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः। रसवाहिनीश्च नाडीर्जिह्वामूलगलतालुक्लोम्नः। संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ'** (चरकः)। **'स्रोतांसि संदूषयतः समेतौ यान्यम्बुवाहीनि शरीरिणां हि। स्रोतःस्वपांवाहिषु दूषितेषु जायेत तृष्णाऽतिबला ततस्तु'** (सुश्रुतः)। **'वातपित्ते तु कारणम्। सर्वासु तत्प्रकोपो हि सौम्यधातुप्रदूषणात्। जिह्वामूलगलक्लोमतालुतोयवहाः सिराः। संशोष्य तृष्णा जायन्ते'** (वाग्भटः)। ये कथन सभी तृष्णाओं मे जलवाही स्रोतों की दुष्टि तथा वात-पित्त की प्रधानता के द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त चरक ने तो स्पष्ट कह दिया है कि—**'नाग्निं विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू। अब्धातोरतिवृद्धावपां क्षये तृष्यते नरो हि'** अग्नि और वायु के बिना प्यास नही लगती, क्योंकि वेही जलीय धातु का शोषण करने वाले हैं, इस प्रकार जल का क्षय होने पर ही तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

क्लोम—यह सन्दिग्ध अङ्ग है। क्लोम शब्द से अभिप्रेत अर्थ के विषय में विभिन्न विचारकों के मन्तव्य सक्षेप से नीचे दिये जाते है—

१. **पित्ताशय**—शार्ङ्गधर तथा अन्य मध्यकालीन संहिताओ मे क्लोम को तिल के आकार का

बताया गया है। इस आधार पर कुछ विद्वान् इस नाम से एक बड़े तिल की आकृतिवाले पित्ताशय (Gall bladder) का ग्रहण करते है। पित्ताशय के साथ भी तृष्णा का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

२. कविराज गणनाथ सेन जी गलनाडी (Trachea) को ही क्लोम मानते है। क्योंकि उसमें मण्डलसन्धि का होना बताया गया है।

३. कुछ लोग अन्ननलिका के आदि भाग (Pharynx) को ही क्लोम मानते है। क्योंकि प्यास लगने पर सूखने से वह पिपासा स्थान प्रतीत होता है।

४. कतिपय विद्वान् तालुसमीप मस्तिष्कमूल (Base of the brain) में रहने के कारण पीयूषग्रन्थि (Pituitary body) को ही क्लोम मानते है। इसकी क्रियावृद्धि से मेदोवृद्धि तथा परम्परया पिपासाधिक्य होता है।

५. क्लोम शब्द से कतिपय विद्वान् अग्न्याशय (Pancreas) का ग्रहण करते है। मधुमेह इसकी विकृति का ही परिणाम है। विकृति होने पर इसके अन्तःस्राव (Insulin) की भी कमी हो जाती है जिससे शर्करा का समवर्त (Metabolism) पूर्ण नही हो पाता, परिणामस्वरूप वह मूत्र द्वारा उत्सृष्ट होती है। शर्करा का उत्सर्ग कराने के लिये जल की प्रचुर राशि का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार शर्करा के उत्सर्ग में शरीरस्थ जल की बहुत अधिक राशि मूत्र द्वारा उत्सृष्ट हो जाती है जिससे शरीरगत जल की कमी की सूचना देने के लिये भौतिक परिणामरूप तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इससे यह सिद्ध है कि मधुमेहजन्य तृष्णा का मूल अग्न्याशय की विकृति है। अत एव क्लोम शब्द से प्रकरणात अग्न्याशय का ग्रहण करना उचित समझते है। किन्तु अग्न्याशय तो अग्नि या पित्त का स्थान है और क्लोम स्पष्टतः कफ का स्थान[1] माना गया है अतः यह मत भी माननीय नहीं है।

वस्तुतः प्रत्येक तृष्णा की उत्पत्ति में उदकवाही स्रोतों तथा वात पित्त की दुष्टि अनिवार्य है। किन्तु निदान–वैचित्र्य के कारण इनके क्रममें भेद है। कुछ रोगियों में स्वप्रकोपक कारणों से पहिले वात और पित्त की दुष्टि होती है तत्पश्चात् स्रोतों की दुष्टि होकर तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत कुछ रोगियों में साक्षात् उदकवाही स्रोतों की दुष्टि पहिले होती है तत्पश्चात् वात पित्त की दुष्टि होकर तृष्णा भी उत्पन्न हो जाती है। कटु, तीक्ष्ण, विदाही, भय तथा श्रम वातपित्त–प्रकोपणपूर्वक जलप्रवाही स्रोतों को दुष्ट करके तृष्णा को उत्पन्न करते हैं, तथा अन्न, कफ और आम प्रथम जलवाही स्रोतों को दुष्ट करते हैं तब वात-पित्त की दुष्टि करके प्यास को भी उत्पन्न कर देते हैं।

जलवाही स्रोतों की दुष्टि से उत्पन्न तृष्णा का सर्वोत्तम उदाहरण वृक्कविकृतिजन्य जलोदर है। यह बताया जा चुका है कि रक्तवाही स्रोत या लसवाही स्रोत ही उदकवाही स्रोत है। वृक्क की विकृति से इन स्रोतों में अवरोध होने पर जल उदरगुहा मे ही संचित होने लगता है एवं परिणामस्वरूप शारीरिक धातुओ में जलकी कमी हो जाती है और पिपासा की उत्पत्ति होती है। इसी आशय से चरक ने कहा है—**'स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः। वर्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ। तस्य रूपाणि अनन्नाकाङ्क्षा पिपासा'** (च. चि. १३)। उदकवाही स्रोतों के दूषित होने से इस अवस्था मे पिया हुआ पानी भी धातुओं में न जाकर उदरावरण में ही एकत्रित होता है, अत एव इसकी चिकित्सा मे जलका निषेध है। यकृत् और प्लीहा पित्त के स्थान है। इनको

१. उरः कण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः।
मेदोघ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः॥ अ. हृ. सू. १२

विकृति से होने वाले जलोदर में प्रथम पित्तदुष्टि तत्पश्चात् जलवाही स्रोतस् की दुष्टि होकर तृष्णा उत्पन्न होती है। रसक्षय या रक्तक्षय-जन्य तृष्णा मे प्रथम जलवाही स्रोतस् तथा पश्चात् पित्त की दुष्टि होती है। विभिन्न रोगों एवं विभिन्न रोगियों में इनकी दुष्टि का क्रम भी भिन्न ही होता है।

सुश्रुत तृष्णा के उपर्युक्त सात भेद मानते हैं। किन्तु चरक ने वातजा, पित्तजा, आमजा, तृष्णा तथा उपसर्गजा (ज्वर, मेह आदि रोगों के उपद्रवस्वरूप) भेद से पाँच प्रकार की तृष्णा का ही उल्लेख किया है। चरक ने सुश्रुतोक्त कफजा, क्षतजा तथा भक्तोद्भवा भेद नही माना है, इसके अतिरिक्त उन्होंने उपसर्गजा भेदविशेष स्वीकार किया है। आमजा तृष्णा के लक्षण तथा चिकित्सा कफ के समान ही है अतः आमजा शब्द से कफजा का भी ग्रहण कर लेना चाहिये[1]। अन्नजा या भक्तोद्भवा तृष्णा का अवस्था के अनुरूप वातिक आदि मे समावेश हो जाता हैं, यथा-पाक की पूर्वावस्था में कफजा या आमजा मे, पच्यमानावस्था में पित्तजा में तथा पाकोत्तर अवस्था मे वातजा तृष्णा मे इसका अन्तर्भाव हो जाता है। क्षतजा तृष्णा का उपसर्गजा में या क्षतजन्य वातप्रकोप होने से होने से वातजा में अन्तर्भाव होता है[2]। वाग्भट ने भी वातजा, पित्तजा, कफजा, सन्निपातजा, आमजा, क्षयजा तथा उपसर्गजा भेद से सात प्रकार की ही तृष्णा स्वीकार किया है[3]। सुश्रुत ने उपसर्गज को ही क्षतज नाम दिया है, वाग्भटोक्त सन्निपातज तृष्णा के स्थान पर सुश्रुत ने भक्तोद्भवा का उल्लेख किया है। वस्तुतः भोजन का परिपाक ठीक न होने से आम की उत्पत्ति तथा आम से त्रिदोष लक्षणों वाली तृष्णा उत्पन्न होती है। इस प्रकार वर्णनशैली के अतिरिक्त तीनों संहिताओं में तात्त्विक मतभेद प्रतीत नहीं होता।

वातजां तृष्णामाह—

क्षामास्यता मारुतसंभवायां तोदस्तथा शङ्खशिरःसु चापि ।
स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्त्रं शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति ॥ ३ ॥

(सु. उ. ४८)

वातजा तृष्णा में मुख सूख जाता है तथा फीका दिखाई पड़ता है, शंखप्रदेश (कनपटी) तथा सिर मे पीडा होती है, जलवाही स्रोतों में अवरोध हो जाता है, मुँह का स्वाद फीका रहता है, शीतल जल के पीने से इसकी वृद्धि होती है ॥ ३ ॥

वातजामाह—क्षामास्यतेत्यादि। क्षामास्यता शुष्कदीनमुखत्वम्। स्रोतोनिरोध इति। रसाम्बुवाहिधमनीनिरोधः। शीताभिरद्भिरित्यनेन वायोः शीतस्य शीताम्बुना वृद्धिरित्यनुपशयनिदर्शनम्। चकाराच्चरकोक्तनिद्रानाशस्य ग्रहणम्। यदाह चरकः—'निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कगलतालुः' (च. चि. अ. २२) इति ॥ ३ ॥

विमर्श—कुपित वायु जब शरीरस्थ जल को सुखा देता है तो तृष्णा की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः धातुक्षयोत्थ वातप्रकोप से इस प्रकार की तृष्णा उत्पन्न होती है अत एव इसमें समस्त शरीर का शोष होना चरक ने लिखा है[4]। साधारणतया तीनों संहिताओं में वातजा तृष्णा के समान

---

१. 'आमशब्देन चेह लक्षणया आमसमानचिकित्सित आमसमानलक्षणश्च कफोऽपि गृह्यते, तेनामभवाया व्युत्पादनेन कफजाऽपि सुश्रुतोक्ता गृहीतैवेह'। 'अन्नजा चामजायामेवान्तर्भावनीया' चक्रपाणिः (च० चि० अ० २२ श्लोक १७)।

२. 'क्षतजा चौपसर्गिकायामवरुद्धा' (चक्रपाणिः)।

३. वातात्पित्तात्कफात्तृष्णासन्निपाताद्रसक्षयात्। षष्ठी स्यादुपसर्गाच्च (वाग्भटः)।

४. अब्धातुं देहस्थं कुपितः पवनो यदा विशोषयति।
तस्मिञ्छुष्के शुष्यत्यबलस्तृष्यत्यथ विशुष्यन्॥ (चरकः)

लक्षण मिलते हैं। किन्तु चरक ने वातवृद्धि के सहज लक्षण निद्रानाश को भी इसका लक्षण माना है[1]। आचार्य वाग्भट ने इन लक्षणों के साथ गन्ध तथा शब्द के ग्रहण करने की शक्ति का भी विनाश इस रोग का लक्षण माना है[2]।

क्षामास्यता इत्यादि—यहाँ क्षामता मुख्यतः कृशता के लिए प्रयुक्त है। सभी तृष्णाओं में वात तथा पित्त का अनुबन्ध रहता है। वातिक तृष्णा में वात दोष की प्रमुखता रहती है अतएव उसके लक्षण भी अधिक होते हैं। वात का गुण रूक्षता एवं शोष उत्पन्न करना है अतः मुख मे रूक्षता एवं शुष्कता उत्पन्न हो जाती है। शरीर शोष का प्रभाव सर्वप्रथम चेहरे पर दिखायी पडता है जिससे शंख कपोल आदि पिचक जाते है और अस्थियाँ उभडी प्रतीत होती हैं। यह रूक्षता शरीरस्थ जल की कमी की निदर्शिका है। मुख में भी तालु ही विशेष रूप से शुष्क होता है एवं वही तृष्णा की अनुभूति का मुख्य केन्द्र है। वाताधिक्य के कारण ही नासा की श्लेष्मलकला शुष्क हो जाती है जिससे वहाँ पर फैले हुए वातनाडी के अग्र शुष्क होने के कारण गन्ध रूप संवेदना का वहन नही कर पाते। गन्धज्ञान के अभाव का यही प्रमुख कारण है। श्रवणशक्ति के ह्रास का भी कारण वायु की रूक्षता के कारण अन्तः कर्ण (Internal ear) की विकृति ही है। वातवृद्धि से वातनाडी-संस्थान क्षुभित रहता है जिससे निद्रा का प्रायः अभाव हो जाता है। शंखप्रदेश में पीडा की अनुभूति वातवृद्धि का ही लक्षण है।

स्रोतोनिरोधः—उदकवाही स्रोतों का अवरोध वस्तुतः तृष्णा का लक्षण न होकर वातवृद्धि का लक्षण तथा तृष्णा का उत्पादक कारण है। वातवृद्धि से उदकवाही स्रोतों में अवरोध होने से धातुगत जल की कमी होने पर तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

शीताभिरद्भिरित्यादि—अतिशीतल जल भी वात की वृद्धि करता है। वातजन्य तृष्णा में यदि शीतल जल का प्रयोग किया जाय तो वात अत्यधिक प्रकुपित संकोचन द्वारा स्रोतोरोध उत्पन्न करके तृष्णा को उत्पन्न करता है। इसके विपरीत उष्णजल वातनाशक एवं स्रोतःशोधक होने से ऐसी तृष्णा में उपशय होने से लाभ करता है। अतएव उष्ण जल को तृष्णाशामक भी कहा गया है। बर्फ से मिश्रित अतिशीतल जल के पीने से उदकवाही स्रोतों की दुष्टि (संकोच) होने से स्रोतोनिरोधवद् तृष्णा की उत्पत्ति होती है[3]। बर्फ का पानी पीने से प्यास अधिक लगती है इसका ज्ञान प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति को है अतः इसका विशेष वर्णन करने की आवश्यकता प्रतीत नही होती।

पित्तजां तृष्णां निरूपयति—

मूर्च्छाऽन्नविद्वेषविलापदाहा रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः।
शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिदूयनं च ॥ ४ ॥

(सु. उ. ४८)

पित्तजा तृष्णा में मूर्च्छा, अन्न मे अरुचि, प्रलाप, दाह, आखों में लाली, निरन्तर सूखना—अर्थात् तृष्णा की तीव्रता के कारण समस्त शारीरिक धातुओं का शोष एवं शीतल पदार्थों के प्रति अभिरुचि होती है, मुख कडवा रहता है तथा शरीर में बेचैनी या आग सी लगी रहती है ॥ ४ ॥

---

१. निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कविरसमुखता च।
स्रोतोऽवरोध इति च स्याल्लिङ्गं वाततृष्णायाः ॥ (चरकः)

२ मारुतात् क्षामता दैन्यं शङ्खतोदः शिरोभ्रमः।
गन्धाज्ञानास्यवैरस्यश्रुतिनिद्राबलक्षयाः ।
शीताम्बुपानाद् वृद्धिश्च······················ । (वाग्भटः)

३. पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि।

पित्तजामाह—मूर्च्छेत्यादिना । विलापोऽत्र प्रलापः । प्रततश्च शोषोऽतीव महती तृष्णा । शीताभिनन्दा शीतेच्छा, 'गुरोश्च हलः'-इत्यकारप्रत्ययः। परिदूयनमुपतापः, 'परिधूम(प)नम्' इति पाठेऽन्तः क्षोभणं, धूमनिर्गम इव वा । चकारात् पीतविण्मूत्रनेत्रत्वादयो ग्राह्याः ॥ ४ ॥

विमर्शः—पित्त की उल्बणता से धात्वग्नियों की वृद्धि धातुक्षय एवं मलाधिक्य के कारण शरीरस्थ जल का नाश अधिक मात्रा में होता है । परिणामस्वरूप मूर्च्छा होती है क्योंकि मूर्च्छा की उत्पत्ति मे पित्त का विशेष भाग रहता है । जैसा कि मूर्च्छानिदान में बताया जायगा—'षट्स्वप्येतासु पित्तं तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते' । शीतल जल के पान एवं परिषेक से मूर्च्छा के साथ तृष्णा की भी निवृत्ति हो जाती है अत एव इसमें 'शीताभिनन्दा' शीत से शान्त होने वाली कहा है । शरीरस्थ जल की कमी होने से आमाशयिक रस की भी न्यूनता हो जाती है जिससे पित्तजा तृष्णा से पीडित व्यक्ति को भोजन करने की इच्छा का अभाव रहता है । पित्तजा तृष्णा में धातुक्षयजन्य वात का अनुबन्ध भी पर्याप्त मात्रा मे रहता है अतः प्रलाप-सदृश वातिक लक्षण हो सकते हैं । त्वचागत पित्त में भी विशेष विकृति होने से पित्तावृत व्यान के कारण सर्व शरीर में दाह का अनुभव होता है । तृष्णा को दाह रोग का भी एक लक्षण माना गया है ।

रक्तेक्षणत्वम्—यद्यपि चरक ने 'पीताक्षिमूत्रवर्चस्त्वम्' के द्वारा नेत्र, मूत्र तथा मल का वर्ण पीला बताया है और सुश्रुत द्वारा रक्तनेत्रता कहने से विरोध सा प्रतीत होता है तथापि विरोध तात्विक न होने से कोई दोष नहीं आता । वस्तुतः रक्त और पीत दोनों ही पित्त के रंग हैं । एक रोगी में रक्त वर्ण की प्रतीति होती है तो दूसरे में पीत वर्ण की । इस प्रकार कोई दोष नही आता । हेतु-साम्य के कारण यद्यपि पीतिमा या रक्तिमा (लाली) सर्व शरीर में प्रकट होनी चाहिये तथापि नेत्रगत केशिकाओं के अधिक उत्तान (Superficial) होने से वहाँ पर ही उक्त वर्णो की प्रतीति विशेष रूप से होती है अन्यत्र अल्प मात्रा में या नही होती ।

कफजतृष्णां लक्षयति—

बाष्पावरोधात्कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेत्तथा तु । (सु. उ. ४८)
निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च तयाऽर्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥ ५ ॥

अपने कारणों से प्रकुपित कफ के द्वारा शरीराग्नि के आच्छादित हो जाने पर जलवाही स्रोतों में ऊष्मा का अवरोध होने से जो तृष्णा उत्पन्न होती है उसे कफजा कहते है । इस तृष्णा में नींद अधिक आती है, शरीर भारी रहता है, मुख मधुर रहता है तथा रोगी बहुत अधिक सूख जाता है ॥५॥

श्लेष्मजामाह—बाष्पेत्यादि । स्वकारणकुपितेन कफेनोपरिष्टादाच्छादितेऽन्तरग्नौ कफावरुद्धबाष्पेण पावकोष्मणाऽधोगतेनाम्बुवहस्रोतःशोषणात् कफजा तृष्णा भवति । ननु, कफजा तृष्णाऽनुपपन्ना ? कफस्य वृद्धस्य केवलद्रवस्य पिपासाकर्तृत्वायोगात्, वातपित्तयोरेव तृष्णाकर्तृत्वेनोक्तत्वात् । यदुक्तं—'पित्तं सवातं कुपितं नराणाम्' इत्यादि । चरकेऽप्युक्तं-'नाग्नेर्विना तर्षः पवनाद्वा, तौ हि शोषणे हेतू' (च. चि. अ. २२) इति । सुश्रुतेऽप्युक्तं-'मद्यस्याग्नेयवायव्यगुणावम्बुवहानि तु । स्रोतांसि शोषयेयातां ततस्तृष्णा प्रजायते' (सु. उ. अ. ४७) इति । अत आह—तथेति । उक्तप्रकारेण कफाग्नेर्बाष्पावरोधादिना, नतु स्वगुणेन; अत एव चरके कफजा तृष्णा न पठितैव, सुश्रुतेन तु चिकित्साभेदार्थं पठिता, हारीतेनापि सपित्तेनैव श्लेष्मणा तृष्णा पठिता न तु केवलेन । यदाह—'स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा । प्रपद्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णां संजनयेन्नृणाम् ॥ शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च । भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च ॥ एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात्तृष्णां कफसमुद्भवाम्' इति ॥

विमर्श—मधुर, अम्ल तथा लवण रस युक्त एवं स्निग्ध और शीत आदि द्रव्यों के सेवन के कफ की वृद्धि होती है। वृद्ध कफ जाठराग्नि को आवृत कर लेता है। आमाशय कफ का स्थान है, भोजन का प्रथम पाचन भी आमाशय मे ही होता हैं। कफ सौम्य है तथा आमाशयिक रस या पाचक पित्त आग्नेय है। इस प्रकार ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। कफ की अधिकता से पाचक रसों का कार्य ठीक न हो सकने के परिणाम-स्वरूप अजीर्ण की उत्पत्ति होती है इससे स्रोतों के आमावृत होने से रस और जल का शोषण नहीं होता है अत उदकवाही स्रोतो में जलाभाव होकर धातुगत जल की कमी के साथ तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

'बाष्पावरोध' का अर्थ 'स्वेदावरोध' भी कर सकते है। स्वेद रुकने से उसके साथ निकलने वाले त्याज्य मलों का रक्त मे सञ्चय होता है और उन्हे घोलकर मूत्र द्वारा निकालने के लिए अधिक जल की आवश्यकता के निदर्शनस्वरूप तृष्णा की उत्पत्ति ज्वर आदि में प्रत्यक्ष मिलती है।

मधुकोशकार कफ की तृष्णोत्पादकता का प्रतिपादन निम्न शङ्का-समाधान के द्वारा करते हैं। कफ सोमगुणभूयिष्ठ होने के कारण तृष्णा का उत्पादक नही हो सकता; क्योकि वात और पित्त को ही तृष्णा का उत्पादक कारण माना है-**पित्तं सवातं कुपितं नराणाम्'** तथा **'पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः'** अथवा **'नाग्नेर्विना हि तर्षः पवनाद्वा तौ हि शोषणे हेतू'** (चरकः) इनके अतिरिक्त सुश्रुत ने भी मद्य को आग्नेय तथा वायव्य गुण प्रधान मानकर जलवाही स्रोतों का शोषक तथा तृष्णा का उत्पादक स्वीकार किया है—**'मद्यस्याग्नेयवायव्यगुणावम्बुवहानि तु। स्रोतांसि शोषयेयातां ततस्तृष्णा प्रजायते'**। इन सभी उद्धरणो के आधार पर केवल वात और पित्त की ही तृष्णा के प्रति साक्षात्-कारणता है कफ की नही। वस्तुतः कफ की तृष्णा के प्रति साक्षात्-कारणता किसी को भी स्वीकार नही है। इसी आधार पर चरक ने कफज तृष्णा का उल्लेख न करके आमजा में ही उसका अन्तर्भाव कर लिया है। कुम्भकारपवन न्याय से कफ की प्रतिक्रिया से प्रवृद्ध पित्त ही तृष्णा को उत्पन्न करता है यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। सुश्रुत ने चिकित्सा-भेद के कारण इसका पृथक् उल्लेख किया है। हारीत भी कफजा तृष्णा को पित्तानुबन्धिनी ही स्वीकार करते है यथा—**स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा। प्रपद्याम्बुवहस्रोतस्तृष्णां संजनयेन्नृणाम्'। शिरसोगौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च। भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च। एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात्तृष्णां कफसमुद्भवाम्।**

क्षारमयता (Alkalaemia), अम्लमयता (Acidaemia) तथा परममधुमयता (Hyperglycaemia) मे होने वाली तृष्णा को त्रिदोषज होते हुए भी दोषों कीउल्बणता के अनुसार क्रमशः वातिक, पैत्तिक तथा कफजा तृष्णा कह सकते है।

शुष्यति—उदकवाही स्रोतो के अवरुद्ध हो जाने से शरीर की कोषाओ को पोषण नही मिलता अतः रोगी निरन्तर कृश होता जाता है

क्षयजतृष्णां व्याचष्टे—

क्षतस्य रुक्शोणितनिर्गमाभ्यां तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु। (सु.उ.४८)

किसी को क्षत हो जाने पर अत्यधिक रक्तस्राव एवं पीडा के कारण क्षतजा नाम की चौथी तृष्णा उत्पन्न होती है॥

क्षतजामाह—क्षतस्येत्यादि। शस्त्रादिक्षतयुक्तस्य।

विमर्श—इस तृष्णा को रक्तस्रावजन्य तृष्णा भी कह सकते है। पिछली पङ्क्तियों मे अनेकशः यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तृष्णा का सम्बन्ध रक्त या अन्य धातुगत जलीयाश से है। रक्तस्राव से जलीयाश कम हो जाता है जिससे तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इसी आशय से प्राइस महोदय ने भी कहा हैं—Haemorrhage external or internal is a commonest cause of a fall in the blood valume. But the blood valume may be reduced by loss of

plasma alone, in crushing injuries, burns, anaphylaxis and the dehydration assocted with alkalaemia, diabetic coma, cholera and sever infection, in acute anaemia from haemorrahage or blood destruction. There is external exhaustion, faintness or syncope, air hunger, sweating and thirst. अन्य लक्षणों के अतिरिक्त प्यास (thirst) होना मुख्य लक्षण है। क्योंकि चिकित्सा में केवल जल प्रदान करने से भी अन्य लक्षणों की कुछ शान्ति होती हैं। (पृ० ३२२ भी देखे)

क्षयजां तृष्णामाह—

रसक्षयाद्या क्षयसम्भवा सा तयाऽभिभूतश्च निशादिनेषु ॥ ६ ॥
पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः ।
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषग्व्यवस्येत् ॥ ७ ॥

(सु. उ. अ. ४८)

शरीरस्थ रस धातु के क्षय से होने वाली तृष्णा को क्षयजतृष्णा कहते हैं। इससे पीडित रोगी दिन रात बार बार पानी पीता है किन्तु फिर भी उसे आराम नहीं मिलता, इस तृष्णा को कुछ विद्वान् सन्निपातजा भी कहते हैं। इन लक्षणों के अतिरिक्त बुद्धिमान् वैद्य को (सुश्रुत आदि में बताये गये) रसक्षय के लक्षणों की कल्पना भी इसमें कर लेनी चाहिये ॥ ६–७ ॥

क्षयशब्दस्यानेकविषयत्वात् क्षयजां विशेषयन्नाह—रसक्षयादित्यादि । पेपीयते पुनः पुनः पिबति; एतच्च विशेषपरं, सर्वतृष्णासु तथाभूतत्वात् । यदाह सुश्रुतः–'सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति । पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णार्दितमादिशेत्'–(सु. उ. अ. ४८) इति । रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि सुश्रुतोक्तानि । तद्यथा—'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्यता तृष्णा च' (सु सू. अ. १५) इति । तस्यां क्षयजायाम्, अशेषेण कार्त्स्न्येन ॥ ६–७ ॥

विमर्श—आहार–रस से सम्पूर्ण धातुओं का पोषक धातुरूप रस उत्पन्न होता है। इसी धातु रस से शरीर का निर्माण तथा क्षतिपूर्ति भी होती है। अतएव चरक ने चतुर्विंशतितत्त्वात्मक पुरुषको रसज[1] भी कहा है। रस भी जलप्रधान धातु है अतः उसके क्षय से शरीरगत जल की कमी होती है और वह कमी तृष्णा के द्वारा व्यक्त होती है। रस के क्षय से उत्पन्न होने वाली तृष्णा को क्षयजा तृष्णा नाम दिया है। वस्तुतः रक्तवाही, रसवाही एवं जलवाही स्रोत प्रायः अभिन्न ही हैं अतः रसक्षय से रक्तक्षय का भी ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार क्षतजा का भी अन्तर्भाव इसमें ही किया जा सकता है। चरक ने इसी लिए क्षतजा का पृथक् उल्लेख नहीं किया। रस का क्षय होने पर तृष्णा के अतिरिक्त **'रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्यता तृष्णा च'** हृदय-प्रदेश में पीड़ा, कम्प, शोष, तृष्णा तथा शून्यता (चेतनाहीनता या खोखलापन) ये लक्षण भी मिलते हैं एवं उत्तरोत्तर धातुओं का शोष और क्षय भी होता है।

आमजां तृष्णां निरूपयति—

त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च हृच्छूलनिष्ठीवनसादकर्त्री ।

(सु. उ. ४८)

आमज तृष्णा मे तीनों दोषों के मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं। इससे हृदय में शूल, अधिक थूक का आना (मचली), शरीर का गिरा रहना ये विशेष लक्षण होते हैं।

---

१. **'रसजश्चायं गर्भः'** (चरकः)

आमजामाह—त्रिदोषेत्यादि। त्रिदोषलिङ्गा त्रिदोषलिङ्गयुक्ता। आमादजीर्णात्त्रिदोषकोपः स्यादिति ॥

विमर्श—आमजन्य विष से त्रिदोष का प्रकोप होने पर उत्पन्न होने वाली तृष्णा आमजा या सन्निपातजा तृष्णा कहलाती है। सभी तृष्णाओं में पित्त की उपस्थिति अनिवार्य है अत एव चरक ने आमजा तृष्णा का वर्णन करते हुए कहा है—

तृष्णा याऽऽमप्रभवा साप्याग्नेयाऽऽमपित्तजनितत्वात्।
लिङ्गं तस्याश्चारुचिराध्मान-कफप्रसेकौ च ॥ (च. चि. अ. २२)

चरक ने आम शब्द से कफ का भी ग्रहण करके कफजा तृष्णा का भी समावेश इसी में कर लिया है इसका विवेचन पहिले किया जा चुका है। वाग्भट इसको खाद्य पदार्थ के अवरोध से उत्पन्न तथा वातपित्तजनित मानते है[1]। इस प्रकार सुश्रुत ने जो इसे त्रिदोषलिङ्ग कहा है वह युक्तियुक्त ही है। इसके अतिरिक्त आमविष से भी त्रिदोष-प्रकोप होता है अतः त्रिदोष के लक्षणों का मिलना भी अनिवार्य है।

हृच्छूलेति—आमाशय अधिक फूल कर ऊपर हृदय पर दबाव डालता है तथा आम का प्रभाव सर्वप्रथम रस धातु पर होता है क्योकि रस का आश्रय हृदय है। अतः हृदयप्रदेश मे पीडा होती है।[2] आम मे कफ की प्रधानता होती है अतः कफ का स्वाभाविक लक्षण निष्ठीवन (लालाप्रसेक) भी इसमे होना है।

भक्तोद्भवां तृष्णामाह—

स्निग्धं तथाऽम्लं लवणं च भुक्तं गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति ॥ ८ ॥
(सु. उ. अ. ४८)

अधिक चिकने, खट्टे, नमकीन पदार्थों तथा गुरुपदार्थों के सेवन करने से जो तृष्णा होती है उसे 'भक्तोद्भवा या अन्नजा तृष्णा' कहते हैं ॥ ८ ॥

भक्तोद्भवामाह—स्निग्धमित्यादि। चकारात् कटु च, न तु तिक्तकषायमधुराणीत्यर्थः। गुरुशब्देन मात्रागुरु द्रव्यगुरु च गृह्येते। दृढबलेन तु पञ्च तृष्णाः पठिताः, **वातपित्तक्षयामोपसर्गजाः** (च. चि. अ. २२)इति; तत्र, कफजा आमजायामेवावरुद्धा; क्षतजा वातजायां **भक्तजा च वातजायां, भक्तावरणेन वातप्रकोपात्; पित्तजायां वा, विदाहेन पित्तप्रकोपात्। सुश्रुते चोपसर्गजा यथास्वं दोषजासु। ननु, मद्यजाऽपि** सुश्रुते **मदात्यये** (सु. उ. अ. ४७) **पठिता, तत् कथं सप्तेत्युच्यते? सत्यं, तस्या वातपित्तजायामवरोधः, एवं** दृढबलमतेऽपि ॥८॥

विमर्श—उदरगत भोजन की स्थिति के अनुसार इसका अन्तर्भाव विभिन्न तृष्णाओं मे किया जा सकता है, यथा—भोजन के तुरन्त पश्चात् की अवस्था में आमजन्या या कफजा में, पच्यमानावस्था में पित्तजा में तथा पाकोत्तर अवस्था में वातजा तृष्णा में इसका अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। भोजन की प्रचुर मात्रा से भी आमदोष की उत्पत्ति होती है अतः भोजनाधिक्य से होने वाली तृष्णा का अन्तर्भाव आमजा में ही कर लेना चाहिये। स्निग्ध आदि के साथ अति शब्द का प्रयोग करना चाहिये और उनके अनुसार भी दोष-भेद हो सकता है।

अम्ल रस आग्नेयगुणभूयिष्ठ होने के कारण पित्तवर्धक होता है। पित्तवृद्धि से आमाशय मे विदाह एवं सोमगुण का नाश होने पर पिपासा की उत्पत्ति होती है। अम्लरस-सेवन से अत्यधिक लालास्राव होने के कारण तालुशोष होने से भी तृष्णा की उत्पत्ति हो जाती है।

---

१. 'आमोद्भवा च भक्तस्य संरोधाद् वातपित्तजा'। (वाग्भटः)

२. दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः।
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ (सु. उ. तं. ४३)

लवण रस क्लेदक और मधुर-विपाकी होने से कफवर्धक होता है। कफ पिच्छिलता गुण के कारण स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके धातुगत जल की मात्रा को कम कर देता है जिससे प्यास लगती है। इसके अतिरिक्त लवण में आस्रतीय पीडन (Osmotic Pressure) बढ़ाने वाली अद्भुत शक्ति है। सेवन करने पर यह धातुगत जलीयांश को अपनी ओर खींचकर धातुगत जल की साधारण मात्रा को कम कर देता है। यह कमी लवण की न्यूनाधिक मात्रा पर निर्भर है। इस कमी की सूचना के रूप में तृष्णा की उत्पत्ति होती है।

गुर्वन्नं तृषां करोति—गुरु से मात्रागुरु एवं स्वभावगुरु दोनों का ग्रहण करना चाहिये। प्रकृति से लघु भोजन भी अधिक मात्रा में गुरु के समान प्रभावकारी होने से गुरु कहलाता है। उडद तथा सूअर का मास आदि स्वभाव से ही गुरु होते हैं। भोजन के पाचन में जल का भी बहुत बडा भाग रहता है अतः मात्रागुरु तथा स्वभावगुरु भोजन का परिपाक करने के लिये पुनः पुनः जल-ग्रहण करने की अभिलाषा होती है।

उपसर्गजां तृष्णां वर्णयति—

दीनस्वरः प्रताम्यन् दीनः संशुष्कवक्त्रगलतालुः।
भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा॥ ९॥ (च. चि. २४)

(रोगों के उपद्रव रूप में होनेवाली तृष्णा को उपसर्गजा तृष्णा कहते हैं।) इससे पीड़ित रोगी की आवाज बैठ जाती है, रोगी बार-बार मूर्च्छित होता है अपने को अत्यन्त दीन (क्लान्त) या असहाय समझता है, उसका मुख, गला और तालु सूख जाता है। यह रोगी को सुखा देती है तथा कृच्छ्रसाध्य है॥ ९॥

तत्रोपसर्गजामाह—दीनेत्यादि। दीनस्वरः क्षामवचनः, प्रताम्यन् मुह्यन्, दीनः क्लान्तः। उपसर्गादित्युपद्रवाद्रोगात्, उपद्रवशब्दश्च सामान्येन रोगमात्रेऽपि वर्तते, यथा—'निरूहोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्यामः' (सु. चि. अ. ३८) इत्यत्र। कष्टा कष्टसाध्या, व्याधिकर्षितदेहत्वात्॥ ९॥

विमर्श—विभिन्न निज या आगन्तुक रोगों में उत्पन्न मलांश या विष को निकालने के लिये जल के अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है। किन्तु सार्वदैहिक शक्ति के साथ अग्निबल भी क्षीण रहता है अतः आहाररूप में भी कम ही जल प्राप्त होता है। दुर्बलता के कारण रस और रक्त का संवहन भी उपयुक्त रूप में नहीं हो पाता है अतः घोर तृष्णा और उसका कष्टसाध्य होना भी स्वाभाविक ही है।

औपसर्गिकतृष्णायाः कारणान्याह—

ज्वरमोहक्षयकासश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम्। (च. चि, २४)

ज्वर, मूर्च्छा, क्षय, कास तथा श्वास आदि से पीड़ित व्यक्तियों में (उपसर्गजा तृष्णा होती है।)

तानेवोपसर्गानाह—ज्वरेत्यादि। आदिशब्देनातीसारादीनां ग्रहणम्॥—

विमर्श—आदि शब्द से अतिसार तथा वमन का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इस श्लोक-खण्ड का सम्बन्ध पूर्व श्लोक से कर इसका निम्न अर्थ करना उचित प्रतीत होता है—ज्वर आदि रोगों से युक्त मनुष्यों को जो धातु शोषणात्मिका तृष्णा होती है उसे उपसर्गजा कहते हैं एवं वह कृच्छ्रसाध्य होती है।

चरक ने 'मोह' के स्थान पर 'मेह' शब्द का प्रयोग किया है। जो अधिक उपयुक्त है। मधुमेह तथा मधुमेहजन्य सन्यास की अवस्था मे होनेवाली तृष्णा को ही मेहजा या मोहजा तृष्णा समझना चाहिये। क्षय एव कास से शरीर के पोषक रस का नाश होता है अतः इस तृष्णा को धातु-शोषणात्मिका कहा गया है।

असाध्यां तृष्णां वर्णयति—

सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रयुक्तानाम्।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥ १० ॥
(सु. उ. ४८)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने तृष्णानिदानं समाप्तम् ॥ १६ ॥

सभी तृष्णायें अत्यधिक प्रमाण में प्रायः निरन्तर होने से असाध्य समझनी चाहिये। रोगो से कृश तथा जिनको वमन होता हो ऐसे रोगियों में एवं भयकर उपद्रवो से युक्त तृष्णा भी मारक होती है ॥ १० ॥

असाध्यानां लक्षणमाह-सर्वास्त्वित्यादि। सर्वा वातजादयः, अतिप्रसक्ता अतिप्रवृद्धाः घोरोपद्रवयुक्ता मुखशोषादिभिर्बलवद्भिरुपद्रवैः समन्विता इति जेज्जटः ॥ १० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां तृष्णानिदानं समाप्तम् ॥ १६ ॥

विमर्श—वमन शब्द उपलक्षण है अतः इससे विरेचन के अतियोग का भी ग्रहण करना चाहिये। जल को जीवन कहा गया है। उसके अतिमात्रा में नाश से शरीर का भी नाश हो जाता है। जिस प्रकार विसूचिका आदि रोग में वमन और विरेचन द्वारा उभय मार्ग से जल का नाश होकर मुखशोष, अंगमर्द एव तोद जैसे उपद्रव उत्पन्न होते हैं एव रोगी की मृत्यु हो जाती है इसी प्रकार अत्यधिक रक्तस्राव द्वारा जलाश का नाश होकर मूत्राघात एव मूर्च्छा आदि उपद्रवों से युक्त तृष्णा भी रोगी को मार डालती है। अन्य सभी प्रकार की तृष्णाओं की अत्यधिकता होने पर भयंकर उपद्रव उत्पन्न होते हैं एवं उपद्रुता तृष्णा रोगी को मृत्युमुख की ओर जाने के लिये प्रेरित करती है।

दृढबलने तृष्णाके पूर्वरूप सामान्य लक्षण और शमन का वर्णन सक्षेप में निम्न प्रकार से किया है—

**प्राग्रूपं मुखशोषः, स्वलक्षणं सर्वदाऽम्बुकामित्वम्।
तृष्णानां सर्वासां लिङ्गानां लाघवमपायः ॥** (च. चि. २२)

समाप्तं चेदं तृष्णानिदानम्।



अथ मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासनिदानम्

मूर्च्छायाः सहेतुकां सम्प्राप्तिं वर्णयति—

क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः ।
वेगाघातादभीघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥ १ ॥
करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥ २ ॥
संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः ।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥ ३ ॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ।
मोहो मूर्च्छेति तामाहुः—

जो मनुष्य अत्यन्त क्षीण हो गया हो, जिसमें दोषों का प्रकोप अत्यधिक मात्रा में हो एवं जो विरुद्ध आहार का सेवन करने वाला हो उनमें तथा मल-मूत्र आदि के वेगों को धारण करने से, चोट लग जाने से, दुर्बल मनवाले या जिनमें सत्त्वगुण की कमी होती है, ऐसे मनुष्य के मन या इन्द्रियों के बाह्य आयतन (चक्षु, श्रोत्र आदि) तथा आभ्यन्तर आयतनों (मनोवह स्रोतों) में तीक्ष्णरूप से विकृत दोषों का प्रवेश हो जाने पर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है।

वात आदि दोषों से संज्ञावाही नाड़ियों के आच्छादित हो जाने पर आँखों के आगे सुख एवं दुःख के विवेक को नष्ट कर देने वाला तमोगुण या अन्धकार छा जाता है। सुख तथा दुःख का ज्ञान नष्ट हो जाने पर मनुष्य सूखे काष्ठ के समान गिर पड़ता है। इस अवस्था को मोह या मूर्च्छा कहते हैं॥

मूर्च्छाया भेदानाह—

—षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥ ४ ॥
वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च ।
षट्स्वप्येतासु पित्तं तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥ ५ ॥
(सु. उ. ४६)

वात, पित्त, कफ, रक्त, मद्य तथा विष से उत्पन्न होने के कारण यह ६ प्रकार की ही होती है, किन्तु इन सभी मूर्च्छाओं में पित्त की प्रधानता रहती है ॥ ४-५ ॥

तृष्णायां मोहो भवतीति तृष्णानन्तरं मूर्च्छा, उक्तं हि-'तृषितो मोहमायाति'-इति । निदानं सम्प्राप्तिं चाह—क्षीणस्येत्यादि । बहुदोषस्येति । विपुलदोषस्य न त्वनेकदोषस्य; तथा सत्येकदोषजायाः सम्प्राप्तिर्नोक्ता स्यात् । वेगाघातान्मलादिवेगधारणात् । अभीघाताल्लगुडादेः । हीनसत्त्वस्य हीनसत्त्वगुणस्य । करणं मनः, तस्यायतनानि बाह्यानि चक्षुरादीनि, आभ्यन्तराणि मनोवहानि स्रोतांसि, यैरागत्य मनश्चक्षुरादीन्यधितिष्ठति; अथवा बाह्यानि कर्मेन्द्रियाणि, आभ्यन्तराणि धीन्द्रियाणि; तेषु यदा उग्रा दोषा निविशन्ते तदा मूर्च्छन्तीति

योऽयम् । पुनः कया संप्राप्त्या ? इत्यत आह—संज्ञावहास्वित्यादि । संज्ञावहनाडीशब्देन सिराधमनीस्रोतसां ग्रहणमित्याहुः, यतस्तैर्मन इन्द्रियदेशं प्राप्नोति । पिहितासु आवृतासु । तमो मनोगुणोऽज्ञानहेतुः, अभ्युपैति वर्धते, सहसा झटिति । अन्येषु तमोबहुलेषु रोगेषु मदात्ययादिषु सत्त्वरजसी न तथा लीयेते, यथा मूर्च्छायामित्यत आह—सुखदुःखव्यपोहकृदिति । सुखदुःखयोरसंवित्तिकरम् । एतत्तु प्रायिकत्वेनोक्तं, (त्रिविधं ज्ञानं भवति हेयोपादेयोपेक्षणीयभेदात्) तेनोपेक्षणीयज्ञानाभावोऽपि ज्ञेयः । व्यवहारार्थं तत्पर्यायावाह—मोहो मूर्च्छेति । वातादिभिस्तिस्रः शोणितमद्यविषैश्च तिस्रः, एवं षट् । प्रभुत्वेनेति व्यापकत्वेन, वातजादिष्वपि ज्वरवद्रोगमहिम्नाऽवश्यं पित्तसंबन्धः, अत एव वक्ष्यति—'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया' इति; चिकित्सायां च शीतक्रियाविधानमिति ॥ १–५ ॥

विमर्श—'बहुदोष' शब्द का अर्थ 'बहुत बढा हुआ दोष' करना चाहिये, क्योंकि 'अनेक दोष' करने से यह सम्प्राप्ति एकदोषज मूर्च्छा की भी सम्प्राप्ति नही हो सकती । मछली और दूध जैसे पदार्थों का एक साथ सेवन करना विरुद्धाहार कहलाता है । इनके सेवन से भोजनजन्य विष को उत्पत्ति से मूर्च्छा उत्पन्न होती है । क्षीणता आदि उक्त सभी कारण सम्मिलित रूप मे तथा पृथक् पृथक् भी मूर्च्छा के उत्पादक होते हैं ।

प्राचीन सम्प्राप्ति के आधार पर मूर्च्छा का विशेष सम्बन्ध हृदय या सम्पूर्ण रक्तवह-संस्थान एवं मस्तिष्क की विकृति से प्रतीत होता है । अतः इसे सिनकोप (Syncope) और कोमा (Coma) की मिली हुई अवस्था कह सकते हैं । मूर्च्छा में चेतना शक्ति का ह्रास हो जाता है । प्राचीनों ने हृदय को ही चेतना का स्थान स्वीकार किया है-**हृदयं चेतनास्थानम्**' आधुनिक वैज्ञानिक चेतना का अधिष्ठान मस्तिष्क को ही मानते हैं । वस्तुतः गर्भविज्ञान की दृष्टि से प्राचीनों का हृदय-चेतनावाद ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । गर्भावस्था मे मस्तिष्क की उत्पत्ति से पूर्व ही हृदय का निर्माण हो जाता है एवं मस्तिष्क के अभाव में भी गर्भ में चेतना रहती है अत एव उसका स्पन्दन स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । गति चेतना की द्योतक है, चेतना के अभाव में गति का भी पूर्ण अभाव रहता है । यदि चेतना मस्तिष्क के ही अधीन है तो उसके अभाव में चेतना के अनुभावक लक्षण गति की भी सत्ता न होनी चाहिये । हृदय के निर्माण से पूर्व गति नहीं रहती । इस प्रकार हृदय के रहने पर चेतना, न रहने पर उसका अभाव इस अन्वयव्यतिरेक के बल पर हृदय को चेतना का स्थान कहना अनुपयुक्त नहीं[1] । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक मस्तिष्क के साथ न होने से उसे चेतना का मुख्य केन्द्र नहीं कहा जा सकता । बाद में हृदय का नियन्त्रण मस्तिष्क के द्वारा

---

१. प्राचीन आचार्यों ने चेतना का स्थान हृदय को ही माना है उसकी वास्तविकता के दो प्रमाण और भी हैं जिन पर आधुनिक विद्वान् आज भले ही विश्वास न करें किन्तु आयुर्वेद में उनका वर्णन है और समय पाकर ये प्रमाणित भी हो जायेंगे इसमें भी सन्देह नहीं ।

(१) योगिजनों द्वारा आत्माका शरीरान्तरसञ्चार होने पर उस शरीर मे स्थित मस्तिष्क के अनुभवों के स्थान पर प्रविष्ट आत्मा के अनुभवों की उपस्थिति होती है ।

(२) दक्ष एवं गणेश के शिरश्छेद के बाद क्रमशः बकरे और हाथी का शिर जोड़ देने पर उनके शरीर में बकरे या हाथी की बुद्धि के स्थान पर मूलभूत दैवी या मानवी बुद्धि ही रही है । अतः हृदय ही मूल चेतना का स्थान है । आधुनिकदृष्ट्या भी हृदयगति-नियन्त्रण केन्द्र दो होते हैं । (क) हृदयस्थ—यह सिरालिन्दग्रन्थि (Sinoauriculer node) है जो हृदयगति का उत्पादक एवं नियामक होता है । (ख) मस्तिष्कगत—जो हृदय की गति को तीव्र या मन्द करता है । (इस विषय का विवेचन मदात्यय प्रकरण (पृ. ३५५) में भी देखें)

ही होता है, इस प्रकार ये दोनो अन्योन्याश्रित भी है। इस प्रकार मूर्च्छा का सम्बन्ध हृदय और मस्तिष्क दोनों से है। शारीरिक यन्त्र का सचालन करने के लिये मस्तिष्क तथा शरीर की प्रत्येक धातु की पुष्टि के लिये विशुद्ध एव पर्याप्त रक्त की आवश्यकता होती है। इन दोनो गुणों की कमी मूर्च्छा का जनक है। जिस प्रकार के आहार-विहार एव हृदय तथा समस्त रक्तवहस्थान के रोग मस्तिष्क में रक्त की कमी या आधिक्य द्वारा अथवा अन्य किसी भी प्रकार मस्तिष्क को विकृत करने मे सहायक होते हैं उन सभी को मूर्च्छा का उत्पादक कारण समझना चाहिये। मूर्च्छा आदि विकार मस्तिष्क के ही विकृति होने से उत्पन्न होते है। हृदय या रक्त-संवहन आदि के विकार भी मस्तिष्क में विकृति उत्पन्न करके ही मूर्च्छा आदि को उत्पन्न करते हैं। शिरोऽभिघात आदि कतिपय कारणों से साक्षात् मस्तिष्क में ही विकार पैदा होते है। यह आगे के वर्णनों से सुस्पष्ट हो जायगा।

इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि मूर्च्छा का मुख्य कारण मस्तिष्क तथा अन्य धातुओं में रक्त-संवहन के विकार (Circulatory disturbances) ही है। यह दो प्रकार का होता है—१-हृदय सम्बन्धी (Cradiac) २-परिसरीय (Peripheral)। पहिले प्रकार में विकृति का केन्द्र हृदय ही होता है। रक्त की पर्याप्त मात्रा रहते हुए भी वह हार्दिक पेशीगत तथा हार्दिक कपाटगत विकृति के कारण मस्तिष्क तथा अन्य धातुओं में पोषण के लिये रक्त की पर्याप्त मात्रा पहुँचाने मे असमर्थ रहता है। इससे मस्तिष्क में रक्त की कमी तथा परिणामस्वरूप मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है। दूसरे प्रकार (परिसरीय रक्तसंवहनावरोध) में कुछ अंगों (विशेषतः औदर्य (Splanchnic arera) में केशिकाओं का विस्फार (Dilatation) होने के कारण हृदयगामी सिरागत रक्तप्रवाह स्वभावतः कम हो जाता है, परिणामस्वरूप हृदय में रक्त की कमी हो जाती है। हृदय मे रक्त की कमी होने से मस्तिष्क को सामान्यतया मिलने वाली रक्त की मात्रा भी कम हो जाती है। दोनों प्रकार से होने वाला रक्तसंवहनावरोध (Circulatory failure) मस्तिष्क मे रक्त की कमी तथा तज्जन्य मूर्च्छा का उत्पादक होता है। यद्यपि दोनों प्रकार के रक्तसंवहनावरोध मूर्च्छा के जनक हैं तथापि मूर्च्छा की उत्पत्ति में परिसरीय प्रकार विशेष महत्त्व का है। यह प्राइस महोदय के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—'It is important to note that giddiness, faintness or actual syncope is much more frequently due to peripheral circulatory failure. इन कारणों के अतिरिक्त निम्न कारण भी मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं—

१. मस्तिष्क के तीव्र आघात—इसके कारण कपाल की अस्थियां भग्न होकर मस्तिष्क के भीतरी भाग मे प्रविष्ट हो जाती हैं इससे मस्तिष्क की कोषाओं का नाश तथा रक्तस्राव होता है। इस स्थिति को अल्पविकार होने पर मस्तिष्क-संक्षोभ (Concussion) या अधिक भार होने पर संपीडन (Compression) कहते हैं।

२. किसी विष के प्रभाव से मस्तिष्क की बड़ी धमनी का फट जाना।

३. सामान्य सज्ञाहर ओषधियां जिनका वर्णन आगे विषजा एवं मद्यजा मूर्च्छा के प्रकरण में किया जायगा।

४. अतितीव्र उष्णता (Heat stroke) और अति तीव्र ज्वर।

५. हिस्टीरिया और अपस्मार सदृश रोग।

६. मादक द्रव्य जैसे अफीम और मद्य।

७. मूत्रविषमयता (Uraemia), अम्लोत्कर्ष (Acidosis), क्षारोत्कर्ष (Alkalosis)।

क्षीणस्य—विविध धातुक्षय ही क्षीणता का हेतु है अतः क्षीण व्यक्ति में रक्ताल्पता एवं मूर्च्छा का होना स्वाभाविक ही है।

अभीघातात्—इससे मूर्च्छा और सन्यास दोनों ही हो सकते हैं। शरीर के किसी अभिघात से अत्यधिक रक्तस्राव के कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से मूर्च्छा होती है। प्रत्यक्ष शिर मे आघात के कारण कपाल की अस्थियों के भग्न होने से मस्तिष्क की कोषायें नष्ट हो जाती है जिससे मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है।

हीनसत्त्वस्य—दुर्बल मन वाले व्यक्ति का वातनाडी-संस्थान भी दुर्बल होता है अतः उपर्युक्त कारण (भय आदि) उपस्थित होने पर परिसरीय धमनी-विस्फार के द्वारा मस्तिष्क मे रक्त की कमी कराकर तुरन्त ही मूर्च्छा को उत्पन्न करते हैं। यह स्थिति मनोघात (Shock) में भी पायी जाती है, अतः दुर्बल मन के कारण होने वाली मूर्च्छा को मनोघातजन्य मूर्च्छा भी कह सकते हैं।

संज्ञावहासु नाडीषु—उपर्युक्त कारणों से हृदय में रक्त की कमी होने पर मस्तिष्क तथा परिसरीय वातनाडियों (Peripheral nerves) को पोषण न मिलने से मस्तिष्कस्थित ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मन, बुद्धि और अहंकार के केन्द्रों एवं अधिष्ठानों (मनोवाही स्रोतसों) मे दोषों का प्रवेश हो जाता है। इसके बाद शरीर की अन्तः संज्ञावाही नाडियो में भी प्रकुपित दोषों के प्रभाव से विकृति आ जाने पर संज्ञावहन (Sensation) का कार्य बन्द हो जाता है एवं सत्त्व और रज के नाश होने पर अज्ञानोत्पादक तमोगुण का सहसा आधिक्य होने से रोगी को सुख एव दुःख का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं रहता (हेय, उपादेय और उपेक्ष्य तीनों ही प्रकार के ज्ञान नष्ट हो जाते हैं।) ऐसी अवस्था में मनुष्य का शारीरिक सन्तुलन स्थिर नहीं रह पाता और वह सूखे काष्ठ के समान अचेत होकर भूमि पर गिर पडता है। सुख और दुःख का ज्ञान न होना ही मूर्च्छा या मोह है। मधुकोशकार संज्ञावह नाडी शब्द से सिरा, धमनी तथा स्रोतस् का भी ग्रहण करते हैं,- क्योंकि मन उक्त मार्गों के द्वारा ही इन्द्रिय प्रदेश में पहुँचता है। इस प्रकार इनमे किसी प्रकार का अवरोध या क्रियाहीनता होने पर मन का गमन नहीं हो पाता। मन और इन्द्रियों का संयोग न होने से ज्ञानोत्पत्ति भी नहीं होती क्योंकि प्रत्येक ज्ञान की उत्पत्ति के लिये आत्मा, मन, इन्द्रिय तथा विषय का सम्पर्क होना अनिवार्य है[1]।

वातनाडियों को भी शक्तिप्रदान करने वाले सिरा, धमनी, स्रोतस् ही हैं। धमनी और स्रोतस् की विकृति के कारण वातनाडियाँ भी अपना संज्ञासवहन का कार्य नहीं कर पातीं; इस प्रकार प्रत्यक्षतया वातनाडियों के संज्ञासंवाहक होते हुए भी वातनाडीपोषक होने से परम्परया सिरा, धमनी, स्रोतस् को भी संज्ञावह कहना अनुचित नहीं है। इस प्रकार सिरा (Veins), धमनी (Arteries) स्रोतस् (Capillaris) की विकृति ही मूर्च्छा का मूल है यह सिद्धान्त आयुर्वेद-संमत है। आधुनिक विद्वान् भी रक्तसंवहनावरोध को ही मूर्च्छा का कारण मानते हैं। रक्तसंवहनावरोध का कारण भले ही कुछ हो किन्तु यह निश्चित है कि मूर्च्छा का कारण रक्तसंवहनावरोध ही है। इस प्रकार सिरा, धमनी, स्रोतस् की मूर्च्छा के प्रति साक्षात्-कारणता भी सिद्ध हो जाती है। वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थों में नाडी, सिरा, धमनी तथा स्रोतस् शब्दों का व्यवहार-सांकर्य देखने को मिलता है। ये सभी कहीं एक अर्थ के यथा 'नाडी तु धमनी सिरा' तथा कहीं स्वतन्त्र अर्थ के भी वाचक होते हैं यथा—

'तत्र केचिदाहुः, सिराधमनीस्रोतसामविभागः, सिराविकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः। कस्मात्? व्यञ्जनान्यत्वान्मूलसन्नियमात् कर्मवैशेष्यादागमाच्च, केवलन्तु परस्परसन्निकर्षात्

---

१. 'आत्मा मनसा युज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन ततो ज्ञानमुत्पद्यते'।

सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्म्मसु भवति' (सु० शा० अ० ९)।

मस्तिष्क ही सब अगों का नियन्त्रणकर्ता है। अनः उसमें रक्त की कमी होने से सर्वाङ्ग मे मूर्च्छा होती है। कभी कभी मस्तिष्क में रक्त की पर्याप्त मात्रा रहने पर भी विशिष्ट अंग मे रक्तसवहन न होने से उस अग की मूर्च्छा (सज्ञानाश) होती है। इसे स्थानीय (Local) मूर्च्छा भी कह सकते हैं।

मद, मूर्च्छा तथा सन्यास मे रसवाही, रक्तवाही एव संज्ञावाही स्रोतों मे अवरोध का होना अनिवार्य है। यह वाग्भट के निम्न उद्धरण से भी स्पष्ट है—

रजोमोहाहिताहारपरस्य स्युस्त्रयो गदाः। रसासृक्चेतनावाहिस्रोतोरोधसमुद्भवाः॥
मदमूर्च्छायसंन्यासा यथोत्तरबलोत्तराः। (अ हृ. नि. ६)

अर्थात् अहिताहार विहार का सेवन करने पर रजोगुण तथा तमोगुण की वृद्धि होने से रसवाही, रक्तवाही तथा चेतनावाही स्रोतों मे अवरोध होकर मद, मूर्च्छा तथा सन्यास रोग की उत्पत्ति होती है। मद से मूर्च्छा तथा मूर्च्छा से सन्यास आत्ययिक होता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि तीनो रोगो में तीनों स्रोतों मे अवरोध होना अनिवार्य है तथापि सन्यास मे प्रधानतया चेतनावाही स्रोतस् में और मूर्च्छा में प्रधानतया रक्तवाही एवं रसवाही स्रोतों में अवरोध होता है। रक्तवाही स्रोतस् ही रसवाही स्रोतस् है क्योंकि रक्त के आधार हृदय को ही रस का भी स्थान माना गया है **'रसस्य च हृदयं स्थानम्'**। मद मूर्च्छा की प्रथमावस्था है, इसमे पूर्णतः सज्ञानाश नहीं होता।

चरक ने भी मद, मूर्च्छा और सन्यास की उत्पत्ति मे रस, रक्त तथा चेतनावाही स्रोतों मे अवरोध को ही कारण माना है—

यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च। पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः।
मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः। प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा॥
मदमूर्च्छायसंन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः। यथोत्तरं बलाधिक्यम्। (च. सू २४)

चरक और वाग्भट ने मूर्च्छा को वातिक, पैत्तिक, कफज तथा सान्निपातिक भेद से चार प्रकार का ही माना है—**'चत्वारो मूर्च्छाया इत्यपस्मारैर्व्याख्याताः'** (च. सू १९) तथा मूर्च्छा की ही स्वल्पबल स्वरूप मद का भी अलग से उल्लेख किया है। मद्यज आदि अतिरिक्त मूर्च्छाओं का समावेश भी लक्षणानुसार वातादि जनित मूर्च्छा में कर लिया जाता है। चरक ने मद भी चार प्रकार के ही माने है[1], किन्तु वाग्भट ने इन्हे सात प्रकार का स्वीकार किया है–**'मदोऽत्र दोषैः सर्वैश्च रक्तमद्यविषैरपि।'** सभी मूर्च्छाओं में पित्त की प्रधानता रहती है क्योंकि **'मूर्च्छा पित्ततमःप्राया'** ऐसा कहा गया है तथा मूर्च्छा मे शीतोपचार का आश्रय लेना पड़ता है एवं उसी से लाभ भी होता है[2]।

---

१. यश्च मद्यमदः प्रोक्तो विषजो रौधिरश्च यः।
सर्व एव मदा नर्ते वातपित्तकफत्रयात्॥ (च. सू. अ २४)

२. सेकावगाहौ मणयः सहाराः शीताः प्रदेहा व्यजनानिलाश्च।
शीतानि पानानि च गन्धवन्ति सर्वासु मूर्च्छास्वनिवारितानि॥
द्राक्षासितादाडिमलाजवन्ति शीतानि नीलोत्पलपद्मवन्ति।
पिबेत् कषायाणि च गन्धवन्ति पित्तज्वरं यानि शमं नयन्ति॥ (सुश्रुतः)

मूर्च्छायाः पूर्वरूपमाह—

हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च ।
सर्वासां पूर्वरूपाणि, यथास्वं ता विभावयेत् ॥ ६ ॥
(सु. उ. ४६)

हृदय प्रदेश मे पीडा, जम्भाई अधिक आना, किसी कार्य को करने की इच्छा न होना तथा ज्ञानशक्ति का दुर्बल हो जाना ये सब प्रकार की मूर्च्छाओं के पूर्वरूप है । साथ मे मिलने वाले अन्य विभिन्न वातादि जनित लक्षणों के अनुसार वातजा आदि के पूर्वरूप समझना चाहिए । (अथवा रूपावस्था में लक्षणों के अनुसार वातज आदि भेद समझ लेने चाहिये) ॥ ६ ॥

तस्याः पूर्वरूपमाह—हृत्पीडेत्यादि । संज्ञादौर्बल्यमसम्यज्ज्ञानता । सर्वासां पूर्वरूपाणीति छेदः । यथास्वं विभावयेदिति । ता मूर्च्छा वातादिभेदेन जानीयात्; व्यक्तरूपावस्थायां, नतु पूर्वरूपावस्थायामिति जेज्जटः ॥ ६ ॥

विमर्श—मूर्छा हृद्विकारजन्य रोग है अतः उक्त प्रदेश में पीडा का अनुभव होना स्वाभाविक है । इसके अतिरिक्त संज्ञावाही नाडियों (Sensory nerves) या सिरा, धमनी, स्रोतस्) में तमोगुण के प्रवेश की प्रारम्भिक अवस्था में ज्ञान के अभाव का भी पूर्वाभास होने लगता है, इसको ही संज्ञादौर्बल्य कहते हैं । इस अवस्था में रोगी पूर्णतया चेतनाविहीन नही होता अपितु मद (नशा) के समान उसे अपनी क्रियाओं का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य रहता है । जेज्जट पूर्वरूपावस्था मे वातादि दोषजनित भेद सम्भावित नहीं मानते किन्तु विशिष्ट पूर्वरूपों का मिलना असम्भव नहीं है ।

क्रमप्राप्ताया वातिकमूर्च्छाया लक्षणानि निरूपयति—

नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम् ।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥ ७ ॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च ।
कार्श्यं श्यावाऽरुणाच्छाया मूर्च्छाये वातसंभवे ॥ ८ ॥

वातिक मूर्च्छा से आक्रान्त होते समय रोगी आकाश को नीला, काला अथवा लाल रङ्ग का देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है तथा शीघ्र ही होश में आ जाता है । इस अवस्था में रोगी का शरीर-कम्पन और अङ्गमर्द (अग टूटना) से पीडित रहता है, हृदय में पीड़ा होती है और चेहरे की छवि काली या गुलाबी हो जाती है रोगी शरीर से प्रायः कृश होता है ॥ ७–८ ॥

ता एवाह (वातजामाह)—नीलमित्यादि । नीलं स्निग्धकृष्णं कृष्णं रूक्षकृष्णम्, अरुणमीषल्लोहितम् । तमः प्रविशत्यन्धकारमिव प्रविशति मूर्च्छतीत्यर्थः । शीघ्रं च प्रतिबुध्यत इति वायोः शीघ्रकारित्वात् । कार्श्यं श्यावाऽरुणा च्छाया, 'गात्रे' इति शेषः । मूर्च्छायशब्दो मूर्च्छापर्यायः ॥ ७–८ ॥

विमर्श—वात का स्वय कोई वर्ण नही होता क्योंकि वह अव्यक्त कहा गया है-किन्तु उसके प्रभाव से शरीर आदि का वर्ण काला, नीला तथा अरुण माना गया है अतः वात की प्रधानता से उत्पन्न मूर्च्छा की पूर्वरूपावस्था में जब तक कि ज्ञान का कुछ लेश रहता है इन वर्णों की प्रतीति विशेष रूप से होती है । आकाश शब्द उपलक्षण मात्र है अतः दृश्यमान अन्य पदार्थ भी उक्त वर्णो के दिखायी पडते है । इसी को विशिष्ट पूर्वरूप भी कह सकते हैं ।

मूर्च्छा को पित्ततमोबहुल कहा गया है। साधारणतया तम की अधिकता के कारण संज्ञालाभ विलम्ब से होता है किन्तु वायु के चाञ्चल्य गुण के कारण चेतनाहीनता की निवृत्ति शीघ्र ही हो जाती है। तथा अङ्गमर्द सभी वातिक रोगों का प्रमुख लक्षण है।

प्रपीडा हृदयस्य च—यह सिद्ध है कि प्रत्येक मूर्च्छा की उत्पत्ति में साक्षात् या परम्परया हृदय की विकृति अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त यह भी ठीक है कि वायु के बिना पीडा नहीं होती **'वातादृते नास्ति रुजा'** अतः वायु का विशेष अनुबन्ध होने से मूर्च्छा के जनक हृदय मे पीडा का अनुभव रोगी को होता है। 'कार्श्य' मे धातुक्षय विशेषतः रक्तक्षय और हृदय की दुर्बलता का भी निदेश मिलता है उक्त अनुभूति सज्ञानाश को प्रारम्भिक अवस्था मे ही होती है यह स्मरणीय है, क्योंकि पूर्णतया सज्ञानाश होने पर रोगी कुछ भी अनुभव नही कर सकता। उस अवस्था में तो केवल कम्पन आदि चिह्नों को देखकर ही वैद्य को जीवन का अनुमान लगाना पडता है। वाग्भट ने भी इन्ही लक्षणों का पाठ किया है।

पित्तजां मूर्च्छामाह—

रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा।
पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥ ९ ॥
(संपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः।
जातमात्रे पतति च शीघ्रं च प्रतिबुध्यते।)
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसंभवे ॥ १० ॥

पित्तज मूर्च्छा में रोगी मूर्च्छित होते समय आकाश को लाल, हरे अथवा पीत वर्ण का देखता हुआ संज्ञाहीन हो जाता है। होश आते समय रोगी पसीने से तर रहता है। (इस अवस्था में रोगी को प्यास अधिक लगती है, शरीर में दाह होता है एवं आंखें लाल या पीली दिखायी देती है। इन लक्षणों के होते ही रोगी गिर जाता है तथा शीघ्र ही होश में आ जाता है।) मूर्च्छा की अवस्था में मलत्याग अनियन्त्रित रूप में होने लगता है एवं रोगी का चेहरा पीला पड जाता है ॥ ९-१० ॥

पित्तजमूर्च्छामाह—रक्तमित्यादि। वियदाकाशम्। अत्र 'सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः-इति क्वचिदधिकः पाठः ॥ ९-१० ॥

विमर्श—यहाँ भी आकाश शब्द उपलक्षण है अतः इससे दृश्यमान प्रत्येक वस्तु का ग्रहण कर लेना चाहिये। विजयरक्षित जी **'सपिपासः, से प्रतिबुध्यते'** तक के पाठ को प्रक्षिप्त मानते हैं, किन्तु वाग्भट ने भी प्यास तथा सन्ताप को पित्तज मूर्च्छा का लक्षण कहा है[1]।

सस्वेदश्च प्रबुध्यते—पित्त या आग्नेय गुण की वृद्धि से शारीरिक ताप स्वाभाविक से अधिक हो जाता है। उसके नाश के लिये स्वेदग्रन्थियों की क्रियाशीलता बढ जाती है, जिससे स्वेद की अत्यधिक उत्पत्ति होती है तथा स्वेद द्वारा शरीरगत पित्त का ह्रास होने से मूर्च्छा की निवृत्ति भी हो जाती है।

सपिपासः—पित्त की वृद्धि के कारण तालुशोष होने पर प्यास का अनुभव होना है[2]। अत्यधिक

---

१. पित्तेन रक्तं पीतं वा नभः पश्यन् विशेत्तमः।
विबुध्यते च सस्वेदो दाहतृट्तापपीडितः।
भिन्नविण्नीलपीताभो रक्तपीताकुलेक्षणः ॥

२. 'पित्ते सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत् पिपासाम्'।

स्वेदप्रवृत्ति होने से शरीरगत जलीयांश की कमी के कारण मूर्च्छा निवृत्तिकाल मे इस प्रकार के रोगी मे प्यास की अनुभूति विशेष रूप से पायी जाती है।

सम्भिन्नवर्चाः—पित्त का स्थान हृदय और नाभि के मध्य अर्थात् आन्त्र में माना गया है। मूर्च्छितावस्था में मस्तिष्क का नियन्त्रण न रहने से पित्त के स्थान आन्त्र के विशिष्ट विकार मलभेद एवं उसकी अधिक प्रवृत्ति इस अवस्था मे विशेष रूप में पायी जाती है। रक्तभाराधिक्य एवं तीव्र स्वरूप की कामला मे इसी प्रकार की मूर्च्छा होती है।

श्लैष्मिकीं मूर्च्छां लक्षयति—

मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः।
पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥ ११ ॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा।
सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छायें कफसंभवे ॥ १२ ॥

कफज मूर्च्छा मे रोगी मूर्च्छित होते समय आकाश को मेघो से आच्छन्न देखता हुआ मूर्च्छित हो जाता है। इस मूर्च्छा में होश देर में आता है। अङ्ग भारी वस्त्रों या गीले चमडे से आवृत प्रतीत होते है। रोगी को लालास्राव तथा मिचली अधिक होती हैं॥ ११-१२॥

कफजमूर्च्छायमाह—मेघेत्यादि। तमोघनैरिति। तमोभिर्घनैश्च; तमोऽन्धकारः, घनोऽत्र मेघवाची॥ ११-१२॥

विमर्श—कफ के तमोगुण प्रधान होने एवं दृष्टि के कफावृत होने से रोगी आकाश को मेघाच्छन्न-सा देखता है। तथा तमोगुण की अधिकता के कारण ही मूर्च्छा का वेग भी विलम्ब से शान्त होता है। कफ के सोम गुण प्रधान होने से शरीर का अङ्ग-प्रत्यङ्ग भीगा हुआ तथा तमोगुण के कारण गुरु प्रतीत होता है। इस अवस्था मे हृल्लास की अधिकता रहती है किन्तु कदाचित् उत्क्लेश अधिक होने से वमन भी हो सकता है। इस प्रकार की मूर्च्छा मूत्रविषमयता में पायी जाती है।

सान्निपातिकीं मूर्च्छामाह—

सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः।
स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥१३॥ (अ. हृ. नि. ६)

तीनों दोषो से होने वाली मूर्च्छा मे तीनों दोषों के लक्षण पाये जाते हैं। इसका आवेग (मुख मे फेनों का आना तथा दाँतों का रगडना आदि) बीभत्स चेष्टाओं को छोडकर अपस्मार के समान ही होता है इससे रोगी शीघ्र ही बेहोश हो जाता है॥ १३॥

सान्निपातिकीमाह—सर्वेत्यादि। ननु, सर्वाकृतिरिति विरुद्धम्, उद्देशे 'षड्विधः सा प्रकीर्तिता' इत्यभिहितत्वात्, सन्निपातजया च सह सप्त प्रसज्येरन्? उच्यते उद्देशः सुश्रुतग्रन्थेन, चरकग्रन्थेन च विवरणम्। चरके ह्येकजास्तिस्रस्त्रिदोषजा चैकेति चतस्रः पठ्यन्ते यदुक्तमष्टोदरीये,—'चत्वारो मूर्च्छाया इत्यपस्मारैर्व्याख्याताः' (च. सू. अ. १८) इति। रक्तमद्यविषजानां यथादोषमेतास्वन्तर्भावः; सुश्रुते चैता रक्तादिजा लक्षणचिकित्साभेदख्यापनार्थं साक्षात् पठिताः, त्रिदोषजाया दोषजास्वन्तर्भावः इत्यभिप्रायेण भेद आचार्ययोः;

१. एतस्याग्रे 'यथा चत्वारोऽपस्मारा—वातेन पित्तेन श्लेष्मणा सन्निपातेन, तद्वन्मूर्च्छा अपीत्यर्थः' इत्यधिकमातङ्कदर्पणे।

संग्रहे चात्र सर्वतन्त्रस्वीकारादुभयमपि लिखितमित्यदोषः। अपस्मार इवेति। यथाऽपस्मारी महताऽभिघातेन पतति चिरेण प्रतिबुध्यते। अपस्मारे फेनवामित्वदन्तघट्टनाक्षिवैकृतादिकमधिकमिति भेदः। बीभत्सचेष्टितैरिति। फेनवामित्वादिभिरेव ॥ १३ ॥

विमर्श—उक्त श्लोक के द्वारा सन्निपातज मूर्च्छा का वर्णन करना अयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि माधव ने पहिले मूर्च्छा के छ भेदों की ही प्रतिज्ञा की है। सन्निपातज मूर्च्छा स्वीकार करने पर मूर्च्छा के सात भेद हो जाते हैं। इसके लिये विजयरक्षित जी कहते है कि यह माधव का निजी मत नही है। चरक ने वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात भेद से मूर्च्छा के चार भेद मानकर सुश्रुतोक्त मद्यज आदि का समावेश भी वातिक आदि में ही कर लिया है। सुश्रुत ने सन्निपातज मूर्च्छा का प्रकृतिसमसमवायज होने से प्रत्येक दोष से होनेवाली मूर्च्छा में समावेश करके छ प्रकार की मूर्च्छा का उल्लेख किया है। माधव ने यद्यपि प्रतिज्ञा सुश्रुत के अनुसार किया है तथापि विवरण चरक के अनुसार ही दिया है। क्योंकि संग्रह-ग्रन्थों में सभी उपलब्ध प्रामाणिक शास्त्रों के मन्तव्यों का सम्मान बराबर किया जाना है, इस प्रकार प्रतिज्ञाहानिदोष का प्रश्न ही नही रह जाता

अपस्मार इवागतः—अपस्मार के समान सन्निपातज मूर्च्छा का भी आवेग सहसा आता है तथा दीर्घकाल तक बना रहता है। अपस्मार मे फेनवमन, दन्तघट्टन तथा नेत्रों की विकृति होती है, किन्तु सन्निपातज मूर्च्छा में ये लक्षण नही पाये जाते। इन दोनो का यही मुख्य विभेदक लक्षण है। तीनों दोषों के प्रकोप से होने के कारण यह मूर्च्छा स्वभावतः आकस्मिक और गम्भीर होती है।

रक्तजां मूर्च्छां व्याचष्टे—

पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः।
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥ १४ ॥
द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति।

(सु. उ. ४६)

पृथिवी और जल दोनों में ही तमोगुण की अधिकता रहती है, रक्त की गन्ध भी पृथिवी और जल से ही बनी होने से तमोगुण से युक्त होती है (तथा मूर्च्छा भी तमोगुण प्रधान होती है) अतएव कुछ लोग विशेषतः तमोगुणबहुल व्यक्ति रक्त की गन्ध से ही मूर्च्छित हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति रक्त के दर्शनमात्र से मूर्च्छित हो जाते हैं अतः कुछ आचार्य इसको रक्त का स्वाभाविक गुण कहते हैं ॥ १४ ॥

रक्तजमूर्च्छासंप्राप्तिमाह—पृथिव्याप इत्यादि। पृथिव्यापश्चैतद्द्वयं तमोरूपं तमोबहुलम्, उक्तं हि—'तमोबहुला पृथिवी, सत्त्वतमोबहुला आपः (सु. शा. अ. १)' इति। 'पृथव्यम्भः' इति पाठेऽयमेवार्थः। तदन्वयः पृथिव्यम्भोऽन्वयः, 'तन्मयः' इति पाठे पृथिवीजलमयः, प्रकृतिविकारभावे मयट्। तस्मादिति। यस्मात् पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तदन्वयः, मूर्च्छा च तमःप्राया, तस्मादित्यर्थः। भुवि मानवा इति। पाञ्चभौतिकत्वेऽपि शरीरस्योद्भूतभूमिगुणा ये ते भुवि मानवाः पार्थिवाः, तामसा इत्यर्थः; न तु राजसाः सात्त्विका वा। ननु चम्पकादिगन्धेनापि मूर्च्छा प्रसज्येत ? तत्रापि गन्धस्य पार्थिवत्वात्, पृथिव्याश्च तमोरूपत्वादित्यत आह—द्रव्यस्वभाव इत्यादि। रक्तस्यायं स्वभावः, तेन तद्गत एव गन्धो मूर्च्छयतीति। स्वभावमेव द्रढयति—दृष्ट्वा यदभिमुह्यतीति। 'यच्च दृष्ट्वाऽपि मुह्यति'—इति पाठान्तरम्। अन्ये तु गन्धासंबन्धेऽपि दर्शनमात्रान्मूर्च्छोपलम्भादनैकान्ति-

कत्वं गन्धस्य मन्यमानाः स्वभावमेव हेत्वन्तरमाहुः; एतेन गन्धस्य प्रायिकत्वमुक्तम्। अन्ये तु गन्धस्य हेतुत्वमपास्य दर्शनस्यैव हेतुत्वं मन्यन्ते; तत्र, यदाह भोजः¹-'स्तब्धाङ्ग-दृष्टिर्भवति गुणोच्छ्वासस्तथैव च। दर्शनादसृजस्तज्जाद्गन्धाच्चैव प्रमुह्यति' इति। 'पृथिव्या यत्तमोरूपम्' इति पाठान्तरं सुगमम्। 'पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धेन तत्त्रयम्' इति पाठान्तरस्य जेज्जटलिखितस्यायमर्थः-रक्तगन्धेन तु यदुक्तमव्यभिचरितं प्रकृतिविकारयो-स्तादर्थ्यात् किं तत्त्रयमित्यत उक्तं—पृथिव्यम्भस्तमोरूपमिति, पृथिव्यम्भस्तमसां रूपमि-त्यर्थः, शेषं पूर्ववत्। दृष्ट्वेति रक्तमिति ॥ १४ ॥

विमर्श—पित्त और तम की अधिकता तथा शरीर और मन की सम्मिलित विकृति का परिणाम मूर्च्छा है। साधारणतया सभी मूर्च्छाओं में पित्त और तम की विशेषता रहती है, किन्तु रक्तजा मूर्च्छा मे मानस दोष (तम) का आधिक्य प्रधान रूप में रहता है, यह बात उपर्युक्त श्लोक से ध्वनित होती है। सुश्रुत ने पृथिवी को तमोगुणप्रधान तथा जल को सत्त्व और तमोगुण से युक्त कहा है¹। इनसे उत्पन्न होने वाले रक्त तथा उसके गन्ध में भी सत्त्वगुण की हीनता तथा तमोगुण की प्रबलता पायी जाती है। रक्त के तमोगुणप्रधान गन्ध का वहन करने वाले परमाणु घ्राणेन्द्रियस्थ वातनाडी तन्तुओं (Branches of the olfactory nerve) का स्पर्श करके सज्ञावाही नाडी (मनोवह स्रोतस्) तथा मन के बाह्य एवं आभ्यन्तर अधिष्ठानों में तमोगुण की व्याप्ति से अवरोध उत्पन्न कर देते है। इससे रोगी को सुख एवं दुःख का विवेक नष्ट हो जाता है तथा वह संज्ञाहीन होकर गिर पड़ता है।

यद्यपि शरीर की अन्य धातुओं के समान रक्त भी पाञ्चभौतिक होता है तथापि उसमें पृथिवी और जल की विशेषता रहती है एवं उनके तमोगुण के मिल जाने से अग्निजन्य रजोगुण तथा अन्य भूतों के गुण अभिभूत हो जाते है। पञ्चीकृत पञ्चमहाभूत के सिद्धान्त से अनित्य या मूर्तजल में गन्ध की अव्यक्त सत्ता रहती है यह निर्विवाद है²। चूंकि गन्ध पृथिवी का आत्मगुण है और पृथिवी तमोगुणप्रधान है अतः भूत की अपेक्षा न करके गन्धमात्र को तमोगुणप्रधान माना जाता है। सांख्यकारिकाकार ने तम को आवरण या अवरोध करने वाला कहा है—**'गुरु वरणकमेव तमः'**। इस प्रकार रक्तज मूर्च्छा में तमोगुण की प्रधानता रहती है।

भुवि मानवाः—जो व्यक्ति पृथिवीगुणबहुल या तामस होते है उन्हीं को रक्तगन्धजन्य मूर्च्छा होती है सबको नहीं। वास्तव मे हीनसत्त्व या दुर्बल मनवाले तामस व्यक्तियों को स्वभावतः रक्त-दर्शन से भी साक्षात् केन्द्र पर प्रभाव होकर घात (Shock) द्वारा मूर्च्छा होती है³।

द्रव्यस्वभाव इत्येके—पृथिवीबहुल प्रत्येक पदार्थ तथा उसकी गन्ध तमोगुणधान होती है, अतः प्रत्येक वस्तु (चम्पा आदि) की गन्ध से भी मूर्च्छा होनी चाहिए। किन्तु अनुभव इसके नितान्त विपरीत है। सभी द्रव्यों की गन्ध मूर्च्छा उत्पन्न नही करती अपितु मानसिक आह्लाद भी देती है। इसी आधार पर भोज आदि कतिपय आचार्य केवल गन्ध को ही मूर्च्छा का कारण स्वीकार न

१. 'यदाह भेडः' इति क। २. 'पृथिव्यापस्तमोरूपा' इति क।

---

१. 'सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवी। (सु. शा. अ. १)

२. अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत्।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥ (सु. शा. अ. १)

३ 'मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः' इति—ये मानवाः पृथिवीगुणबहुलास्तामसा इत्यर्थः, ननु यदि रक्तगन्धो मूर्च्छाजनकस्तर्हि किमिति सर्वेषामपि मूर्च्छां नोत्पादयति? सत्यं, ये हीनसत्त्वास्तेषामेव मूर्च्छामुत्पादयति न तु सर्वेषाम्'। (डल्हणः सु. उ. तं. ४६)

करके द्रव्य विशेष के प्रभाव या स्वभाव विशेष को भी इसमें कारण मानते है। इस प्रकार रक्त नामक द्रव्य के प्रभाव से गन्ध के अतिरिक्त उसका रूप भी मूर्च्छा का जनक होता है। द्रव्य स्वभाव के अतिरिक्त तमोगुण का प्रभाव ही मूर्च्छा की सम्प्राप्ति कराता है।

चरक ने रक्तजा मूर्च्छा का प्रतिपादन नही किया क्योंकि इसका प्रधान कारण मानसिक विकार है अतः इसका समावेश वातिक में किया जा सकता है। सुश्रुत शल्यविद् थे, शल्यक्रिया में रक्त-स्राव के प्रसग बहुत आते हैं अतः उनका यह प्रत्यक्ष अनुभव था कि रक्त के गन्ध और दर्शन से भी कुछ व्यक्तियों में मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है अतः उन्होंने इसका पृथक् वर्णन किया है।

रक्त की गन्ध या रक्त के दर्शनमात्र से होने वाली मूर्च्छा को रक्तज मूर्च्छा कहते हैं। इसके अतिरिक्त रक्तवात या प्रवृद्ध रक्तचाप (High Blood pressure) से होने वाली मूर्च्छा को भी रक्तज मूर्च्छा कह सकते है। इसका सम्बन्ध प्रधानतया रक्तवह-संस्थान से होता है।

विषमद्यजे मूर्च्छे प्राह—

गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः ॥ १५ ॥
त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोहौ स्यातां यथेरितौ ।

(सु. उ ४६)

विष और मद्य में (लघु, रूक्ष आदि ओज के विपरीत दस) गुण साधारणतः तीक्ष्ण द्रव्यों की अपेक्षा तीव्र रूप में रहते हैं अतः इन्ही गुणों के कारण विषज एवं मद्यज मूर्च्छा उत्पन्न होती है ॥ १५ ॥

विषमद्यजे प्राह-गुणा इत्यादि। गुणा दश; यदुक्त दृढबलेन 'लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकासि सूक्ष्मं च। उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्त विष तज्ज्ञैः' (च. चि. अ. २३) **इति। ते तैलादौ व्यस्तास्तीव्राः सन्ति, विषमद्ययोस्तु तीव्रतराः, अतस्तैलादि भिर्न मोहः, किंतु विषमद्याभ्यामिति। त एवेति गुणा लघुत्वादयः यथेरिताविति। विषजो मोहो न स्वयं निवर्तते विषस्यापाकित्वात्, मद्यजस्तु मद्यपरिणामादेव शाम्यति, अयं च भेदो विषमद्ययोः प्रभावात्। उक्तं हि तन्त्रान्तरे-'ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपात· प्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः' इति ॥ १५ ॥**

विमर्श—विष और मद्य में समान गुण पाये जाते है; क्योंकि तन्त्रान्तर में कहा है—

ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपणाः। त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः ॥

अन्तर केवल इतना है कि ये गुण मद्य की अपेक्षा विष में अधिक तीव्र स्वरूप के होते है। चरक ने विष के लघु, रूक्ष, आशु, विशद, व्यवायि, तीक्ष्ण, विकासि सूक्ष्म, उष्ण तथा अनिर्देश्य रस ये दस गुण माने हैं। सुश्रुत ने भी विष के दस ही गुण माने हैं। अन्तर केवल इतना है कि इन्होंने अनिर्देश्य रस के स्थान पर अपाकि गुण माना है[1]। इस प्रकार दोनों में विशेष अन्तर नहीं है। वाग्भट ने भी मद्य के—तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायि, आशु, लघु, विकासि तथा विशद गुण माने हैं। इस प्रकार मद्य और विष के गुणों में सादृश्य है। दोनों में अन्तर केवल तीव्रता का ही है। मद्य का विशेष वर्णन मदात्यय-निदान में किया जायगा।

उक्त रूक्षादि दस गुणों में से केवल कुछ गुण तीव्र रूप से तैल आदि में भी रहते हैं, किन्तु मद्य और विषमें दसों गुण होते हैं तथा उनकी अपेक्षा मद्य में और मद्य की अपेक्षा विष में इन गुणों की तीव्रता अधिक पायी जाती है। यही कारण है कि तैल आदि के सेवन से मूर्च्छा नही होती

---

१. रूक्षमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्ममाशु व्यवायि च।
विकासि विशदं चैव लघ्वपाकि च तत्स्मृतम् ॥ (सु० क. २)

और इनके सेवन से हो जाती है। मद्य का कुछ काल मे पाक हो जाने से मद्यज मूर्च्छा स्वयमेव शान्त हो जाती है, किन्तु अपाकि गुण के कारण विष का परिपाक शरीर मे नही होता, अत एव किसी विरुद्ध-क्रियाकारी (Antidote) ओषधि के सेवन अथवा विष-निर्हरण के विना विषजन्य मूर्च्छा की शान्ति नही होती। भाग या अलकोहल सदृश-मादक द्रव्योका पाक कुछ काल में हो जाता है अतः इनसे उत्पन्न होने वाली मूर्च्छा भी कुछ काल तक ही रहती है। यही कारण है कि मद्य सदा मारक नहीं होता जब कि विष मारक है। दोनों के इसी अन्तर का प्रतिपादन तन्त्रान्तर मे **'ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः'** आदि वचन से किया है।

अलकोहल, क्लोरोफार्म, अफीम, ईथर, क्लोरल हाइड्रेट तथा ब्रोमाइड जैसे सार्वदैहिकसंज्ञाहर (General anaesthetics) और निद्राकर (Hypnotics) को इसी श्रेणी में समझा जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य सभी स्थावर और जगम विष भी सद्यः या कुछ कालान्तर में विषजन्य मूर्च्छा को उत्पन्न करते हैं। इनमें से कुछ द्रव्य साक्षात् मस्तिष्क पर, कुछ हृदय तथा रक्तवाहिनियों पर प्रभाव डालकर मूर्च्छा को उत्पन्न करने है। रक्त में यूरिया सदृश निज विषों की उपस्थिति भी मूर्च्छा की जनक है। इन्सुलीन के अधिक सेवन से उपमधुमयता होकर मूर्च्छा उत्पन्न होती है।

रक्तजमूर्च्छां लक्षयति—

स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः ॥ १६ ॥

रक्तज मूर्च्छा में अङ्ग जकडे रहते हैं तथा आखों की टकटकी बंधी रहती है, रोगी श्वास गहरा लेता है॥ १६ ॥

मद्यजमूर्च्छां लक्षयति—

मद्येन विलपञ्शेते नष्टविभ्रान्तमानसः ।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावन्न याति तत् ॥ १७ ॥

मद्यज मूर्च्छा में रोगी प्रलाप करता हुआ एवं संज्ञाहीन या विक्षिप्त चित्त होकर हाथ पैर आदि अंगों को फेकता हुआ तब तक मूर्च्छित पडा रहता है जब तक मद्य का परिपाक नहीं हो जाता है॥ १७ ॥

विषजन्यमूर्च्छामाह—

वेपथुस्वप्नतृष्णाः स्युस्तमश्च विषमूर्च्छिते ।
वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः ॥ १८ ॥

(सु. उ. ४६)

विषजन्य मूर्च्छा में कम्पन, निद्रा, प्यास तथा तम (आंखों के सामने अंधेरा छा जाना) ये लक्षण होते है। विशिष्ट विष के अनुसार लक्षण भी विशिष्ट तथा मृदु, तीव्र या तीव्रतर स्वरूप के होते हैं॥ १८ ॥

रक्तजादिमूर्च्छात्रयस्य रूपाण्याह—स्तब्धाङ्गेत्यादि मूर्च्छित इत्यन्तं रक्तजायाः। गूढोच्छ्वासश्चास्पष्टोच्छ्वासः। 'मूढ' इति पाठे संनिरुद्ध इत्यर्थ इति जेज्जटः। **मद्येनेत्यादि तदित्यन्तं मद्यजायाः। 'नष्टविभ्रान्तमानस' इत्यत्र 'निष्टनन् भ्रान्तमानसः' इति पाठान्तरे निष्टनन् शब्दं कुर्वन्। वेपथ्वादिना विषजायाः। यथास्व विषलक्षणैरिति विषस्य मूलपत्रक्षीरादिभेदेन प्रातिस्विकं यल्लक्षणमुक्तं** सौश्रुतकल्पस्थाने (सु. क. अ. २) **तल्लक्षणयुक्ता मूर्च्छा भवतीत्यर्थः ॥**

विमर्श—इन उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त रोगी की त्वचा पीली पड जाती है, आंखों के आगे अंधेरा छा जाता है। पसीना अधिक आता है (यह पैत्तिक मूर्च्छा का शिविष्ट लक्षण है) नाडी मन्द, कभी-कभी प्रतिमिनट तीस तक भी हो जाती है। प्राणदा नाडी (Vagus) की अतिक्रियाशीलता के कारण हृदय की गति मन्द हो जाती है एवं रक्तभार भी परिसरीय या औदरिक केशिकाओं के विस्फार के कारण घट जाता है।

प्रकृत में मद्यज तथा विषज मूर्च्छा के सामान्य रूपों का विवेचन किया गया है। विशिष्ट मद्य तथा विशिष्ट विषों के लक्षण पृथक् पृथक् होते हैं। विष के मूल पत्र आदि[1] या स्थावर-जंगम भेद से भी लक्षणों में वैशिष्ट्य पाया जाता है।

विशिष्ट मद्य और विष का निदान करने के लिये सामान्य लक्षणों के अतिरिक्त निम्न उपायों का भी अवलम्बन करना चाहिये। इनसे निदान में बहुत सहायता मिलती है।

१. लक्षणोत्पत्ति का इतिहास—यह जानना आवश्यक है कि लक्षण शिरःशूल से प्रारम्भ हुए या आक्षेप से अथवा अन्य किसी लक्षण से। यदि शरीर पर किसी आघात का चिह्न दिखाई पड़े तो उस पर भी ध्यान देना चाहिये। यदि हो सके तो समीप में खडे हुए लोगों से भी इस विषय में जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। रोगी के समीप की अन्य परिस्थिति (शराब आदि की बोतल या बिखरे हुए पदार्थ की गन्ध आदि) से भी निश्चित निदान तक पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिये। वृक्करोग, हृद्रोग तथा मधुमेह का इतिहास भी जानने की चेष्टा करनी चाहिये।

२. शारीरिक परीक्षा—चर्म के रंग की ओर ध्यान देना चाहिये। तापक्रम, नाडी की स्थिति, श्वासोच्छ्वास की गति तथा श्वास व मुख की गन्ध, एवं कनीनिका (Pupil) के आकार की ओर भी ध्यान देना अनिवार्य है। अफीम विष के सेवन करने से कनीनिका सूच्यग्रवत् संकुचित हो जाती है। इसके विपरीत धतूरा या बेलाडोना विष मे विस्तृत (Dilated) हो जाती है। रक्तस्राव के चिह्न तथा रक्तभार (Blood pressure) की ओर भी विशेष ध्यान देना चाहिये।

३. प्रयोगशाला में परीक्षा—वमन या विरेचन द्वारा निकले हुए पदार्थों की परीक्षा प्रयोगशाला में करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त मूत्रपरीक्षा (शर्करा के लिये) तथा मूत्र में यूरिया एवं एसिटोन का अनुपात जानने के लिये करनी चाहिये। फिरंग के लिये वाशरमैन प्रतिक्रिया, रक्त मे यूरिया, शर्करा तथा प्राङ्गार द्विजारेय (Co2) की मात्रा को जानने के लिये भी रक्त की परीक्षा करना आवश्यक है। इन परीक्षाओं के द्वारा मूर्च्छा के वास्तविक निदान का ज्ञान होने में बडी सहायता मिलती है एव आगे चिकित्सा का मार्ग भी प्रशस्त हो जाता है।

मूर्च्छाभ्रमतन्द्रानिद्राणां भेदमाह—

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः ।
तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥ १९ ॥

तमोगुणयुक्त पित्त से मूर्च्छा तथा रजोगुणयुक्त वात और पित्त से भ्रम की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार तमोगुणयुक्त वात और कफ से तन्द्रा तथा तमोगुणयुक्त श्लेष्मा से निद्रा की उत्पत्ति होती है ॥ १९ ॥

संज्ञानाशसाधर्म्येऽपि मूर्च्छादीनां को भेदः ? इत्याह—मूर्च्छा पित्ततमःप्रायेत्यादि । तमोवातकफादिति समाहारद्वन्द्वः । निद्रातन्द्रयोश्चैतानि कारणानि व्यस्तसमस्तानि,

---

१. मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च ।
निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः ॥ (सु. क. १)

तेन सुश्रुतेन **यदतिलङ्घितलक्षणे निद्रातन्द्रे पठिते ते[1] विनैव कफात्, अतिलङ्घनस्य श्लेष्मक्षयहेतुत्वात् ॥ १९ ॥**

विमर्श—न्यूनाधिक मात्रा में संज्ञानाश की दृष्टि से मूर्च्छा, भ्रम, तन्द्रा और निद्रा ये चारो अवस्थायें समान हैं। इन सभी में शरीर एव मन दोनों ही दोषों से आवृत रहते हैं। मूर्च्छा की उत्पत्ति में मानसिक दोष तम तथा शारीरिक दोष पित्त की उल्वणता का रहना अनिवार्य है। पित्त की प्रधानता रहने परभी शरीर के अन्य दोष भी इसकी उत्पत्ति में सहायक होते है। संज्ञावाही नाडी तथा मन के बाह्य एव आभ्यन्तर अधिष्ठानों में तमोगुण से अवरोध होने पर मूर्च्छा होती है। तम का दूसरा नाम अज्ञान भी है अतः इसके कारण उक्त अवस्था में सुख तथा दुःख का विवेक भी नष्ट हो जाता है। सांख्यकारिकाकार ने—**'गुरु वरणकमेव तमः'**के द्वारा तमको वरणक या सम्पूर्ण ज्ञान शक्ति को लुप्त कर देने वाला कहा है। मूर्च्छा में भी अनुभव शक्ति का पूर्णतया नाश हो जाता है। पित्त की विशेषता के कारण ही मूर्च्छा में शीतोपचार किये जाते है एवं उसी से लाभ भी होता है; क्योंकि—**'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः'** अथवा **'समानैः सर्वभावानां वृद्धिर्हानिर्विपर्ययात्'**। निद्रा, तन्द्रा और भ्रम में उत्तरोत्तर तम की अल्पता होनेसे अचेतनता भी उसी क्रम से अल्प होती है।

भ्रमरोगमाह—

(चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा ।
भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः ॥ १ ॥)

भ्रमरोग में रोगी का शरीर-मुख्यतः सिर घूमता है तथा वह चक्कर खाकर भूमि पर बार-बार गिरता है। इस रोग में रजोगुण तथा वात और पित्त का प्राधान्य रहता है ॥ १ ॥)

विमर्शः—इस रोग में मानसिक दोष रज तथा शारीरिक दोष वात और पित्त रहते हैं। इस अवस्था में तमोगुण की अल्पता से चेतना का नाश नहीं होता अतः रोगी शरीर एवं मस्तिष्क में होनेवाली चक्कर की क्रिया का अनुभव भलीभाँति करता है। रोगी को अपने शरीर के अतिरिक्त दृश्यमान जगत की प्रत्येक वस्तु भी घूमती हुई सी दिखायी देती है।

भ्रम रोग को पाश्चात्त्य ग्रन्थों में वर्टाइगो (Vertigo)कहा जाता है। सिर में चक्कर आना तथा शरीर और दृश्य वस्तुओं का घूमते हुए दीखना इसके प्रधान लक्षण हैं। यह रोग निम्नलिखित अवस्थाओं में पाया जाता है—

१. श्रुति नाडी की तुम्बिकाभिगा शाखागत विकृति (In the diseases of the vestibular nerve) इसका वर्णन करते हुए प्राइस ने कहा है—

The most prominent symptom which results from lesions of the vestibular nerve is vertigo. The word by derivation meens 'a turning' and with vertigo of labyrinthine and vestibular nerve origine there is always a sense of rotation, either of the surroundings or of the patient himself. तात्पर्य यह कि उक्त नाडी में विकृति होने से जो भ्रम होता है उसमें रोगी को अपना शरीर तथा सम्पूर्ण दृश्य वस्तुयें घूमती हुई सी दिखायी देती हैं।

२. लघुमस्तिष्कगत विकृति (Cerebellar apoplexy) अनुमस्तिष्कगा धमनी (Cerebellar artery) में अवरोध होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है।

३. मस्तिष्कगत अर्बुद के कारण भी भ्रम रोग होता है।

---

१. 'तेनैव कफात्' इति क।

इस प्रकार माधव तथा प्राइस के लक्षणों में बहुत साम्य है। प्राचीनों ने इसको स्वतन्त्र रोग भी माना है जब कि पाश्चात्त्य विद्वान् इसे अनेक रोगों का लक्षण मात्र ही मानते हैं।

तन्द्रालक्षणमाह—

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

इन्द्रियार्थों का उचित ज्ञान न होना, शरीर में भारीपन, जम्भाई तथा क्लम का होना तथा निद्रित के समान चेष्टा करना तन्द्रा के लक्षण है ॥ २० ॥

तन्द्रालक्षणमाह—इन्द्रियार्थेष्वित्यादि। निद्राभ्रमयोस्तु लक्षणं नोक्तमिह, अतिप्रसिद्धत्वात्। निद्रा हि विप्लुतमनसः सर्वेन्द्रियाणां स्वविषयनिवृत्तिः। यदाह चरकः—**'यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः। विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः'** (च. सू. अ. २१) **इति। अत्र कर्मात्मान इन्द्रियाणि; निरिन्द्रियप्रदेशे मनसोऽवस्थितिर्निद्रेति**[1] **मतेऽप्ययमेवार्थः। निद्रातन्द्रयोस्तूक्तकारणभेदाद्भेदः उद्भूतजृम्भादेश्चानुभवसिद्धत्वादिति; तथा निद्रायामिन्द्रियमनोमोहः, तन्द्रायामिन्द्रियमोहः। भ्रमलक्षणं तु चक्रस्थितस्येव भ्रमद्वस्तुदर्शनमिति ॥ २० ॥**

विमर्शः—निद्रा में मन और इन्द्रियाँ दोनों ही कार्य करना बन्द कर देती हैं, किन्तु तन्द्रामें मन कार्य करता रहता है, इन्द्रियाँ ही अपना कार्य शिथिल करती हैं। तन्द्रा तमोगुणयुक्त वात और कफ से होती है अतः तमोगुण और श्लेष्मा के कारण गौरव[2] तथा [3]ग्लानि और वात के कारण जम्भाई आती है। तन्द्रा को वस्तुतः अर्धसुषुप्तावस्था (Drowsiness) कह सकते हैं। यद्यपि तन्द्रा कोई रोग नहीं है तथापि कुछ व्यक्तियों में यह अस्वाभाविक रूप से पायी जाती है अतः माधव ने इसका भी रोगविज्ञान में पाठ कर दिया है।

निद्रालक्षणम्—यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः।
विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः॥'

अर्थात् मन और शरीर के थक जाने पर जब सम्पूर्ण इन्द्रिया शिथिल होकर अपना-अपना कार्य करना बन्द कर देती हैं उस समय मनुष्य सो जाता है।

मन की इन्द्रिय-व्यतिरिक्त प्रदेश में स्थिति का ही दूसरा नाम निद्रा है। जब तक इन्द्रिय और मन का सम्पर्क बना रहता है तब तक ज्ञान की परम्परा अबाधगति से चलती रहती है। यद्यपि आहार, स्वप्न और ब्रह्मचर्य इन तीन उपस्तम्भों में निद्रा को भी शरीर का पोषक होने से उपस्तम्भ माना गया है[4] तथापि निद्रा के कुछ प्रकार रोग-समूह में भी आते हैं अतः सामान्य रूप से निद्रा को प्रकृत में पढ़ा गया है। चरक तथा वाग्भट ने निद्रा सात प्रकार की माना है जो निम्न हैं—तमोभवा, श्लेष्मभवा, मनःश्रमभवा, शरीरश्रमभवा, आगन्तुकी, व्याधिजन्य तथा रात्रि-

---

१. योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः॥

२. आर्द्रचर्मावनद्धं वा यो गात्रमभिमन्यते। तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत ॥ (सु०)

३. वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनं भ्रमः।
न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानिं त य विनिर्दिशेत् ॥ (सु०)

४. त्रय उपस्तम्भाः, आहारः, स्वप्नो, ब्रह्मचर्यम्, एभिस्त्रिभिर्युक्तियुक्तैरुपस्तम्भैरुपस्तब्धं बलवर्णोपचयोपचितमनुवर्तते यावदायुः संस्कारमहितमनुपसेवमानस्य।

---

१. 'निद्राऽतिविद्रुतमनसः' इति क। २. 'तन्द्रायां मनोमोहः' इति क।

जन्य। इनमे रात्रिजन्य निद्रा को ही भूतधात्री या उपस्तम्भ स्वरूप माना गया है। शेष सब प्रकार की निद्रायें व्याधि के अन्तर्गत ही समझनी चाहिये[१]। माधव ने निद्रा को श्लेष्मतमोभवा कहा है अतः उसे रोगस्वरूप ही समझना चाहिये। सुश्रुत ने तामसी, वैकारिकी तथा स्वाभाविकी भेद से निद्रा के तीन भेद ही माना है। सुश्रुतोक्त तामसी निद्रा के लक्षण वाग्भटोक्त सन्यास से मिलते है। उसका वर्णन संन्यास प्रकरण में किया जायगा।

स्वाभाविकी निद्रा—निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्व-प्राणिनोऽभिस्पृशति' पोषण स्वभाव वाली होने से इसे वैष्णवी कहते हैं, वस्तुतः यही उपस्तम्भ-स्वरूप निद्रा है।

वैकारिकी निद्रा—'क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां च नैव सा वैकारिकी'। वस्तुतः यह निद्रा न होकर निद्रानाश का कारण मात्र है। अथवा इन प्राणियों में रात्रि में न होकर अन्य काल में होनेवाली निद्रा वैकारिकी कही जा सकती है।

मूर्च्छा से पृथक्करण तथा व्याध्यनुवर्तिनी निद्रा का स्मरण कराने के ध्येय से ही माधव ने निद्रा का सक्षेप में उल्लेख किया है।

संन्यासस्य मदमूर्च्छाभ्यां भेदं प्रदर्शयति—

दोषेषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम्।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥ २१ ॥

(अ. हृ. नि. ६)

मद तथा सब प्रकार की मूर्च्छायें दोषों का वेग शान्त होने पर औषध के विना स्वयमेव शान्त हो जाती है किन्तु सन्यास रोग उपयुक्त चिकित्सा के बिना ठीक नही हो सकता ॥ २१ ॥

संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदमाह—दोषेष्वित्यादि ॥ २१ ॥

विमर्शः—अल्पदोष या मस्तिष्क में आवस्थिक रक्त की कमी होने से मूर्च्छा होती है, यह कुछ समय तक रहती है एवं विना उपचार किये ही कारण के निवृत्त हो जाने पर स्वयमेव दूर हो जाती है। किन्तु प्रबल दोष के कारण उत्पन्न संन्यास औषधोपचार के विना शान्त नहीं होता है।

संन्यासस्य स्वरूपमाह—

वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः ॥ २२ ॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः।
प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥ २३ ॥

(अ. हृ. नि. ६)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूर्च्छाभ्रमनिद्रासंन्यासनिदानं समाप्तम्।

---

१. रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति निद्राम्।
तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषं पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति ॥

---

१. कृतवेगेष्विति वेग कृत्वा क्षीणबलेषु, वेगो हि दोषाणां बलक्षयकारणं भवति। यदुक्तं विषम-ज्वरे-'कृत्वा वेगं गतबलाः'-इत्यादि। हृतवेगेष्विति पाठान्तरम् ॥

दुर्बल मनुष्य के बहुत बढ़े हुए दोष जब प्राणायतन में पहुँचकर वाणी, शरीर तथा मन की क्रियाओं को अवरुद्ध कर देते हैं तो रोगी अचेतन हो जाता है इसे संन्यास कहते हैं। इस अवस्था में रोगी सूखे काष्ठ अथवा मुरदे के समान रहता है और यदि तत्काल लाभ पहुँचाने वाली चिकित्सा न की जाय तो रोगी शीघ्र ही मर जाता है॥ २२-२३॥

तल्लक्षणमाह—वागित्यादि। अतिबला इत्यनेन मूर्च्छायाः प्रारम्भकदोषेभ्योऽधिकत्वेन प्रवृद्धा दोषास्तमश्चेति बोधयति। संन्यस्यन्ति मोहयन्ति। स ना पुरुषः, संन्याससंन्यस्तः संन्यासपीडितः काष्ठीभूत इति अत्यन्तनिष्क्रियत्वेन अकाष्ठ एव काष्ठवद्भूतः। अत एव मृतोपम इति। मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियामिति सूचीव्यधनाञ्जनात्पीडशूकशिम्बीफलाव-घर्षणादिरूपा क्रिया यदि न क्रियते तदा प्राणैर्विमुच्यते, अन्यथा तु वतीति॥ २२-२३॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूर्च्छा भ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासनिदानं समाप्तम्।

विमर्श—संन्यास को गम्भीर मूर्च्छा भी कह सकते हैं। मूर्च्छा की अपेक्षा इसमें कारण तथा लक्षणों की प्रबलता रहती है[1]। सन्यास में दोषों के प्राबल्य से मन सहित दस इन्द्रिया, सम्पूर्ण शरीर एवं प्राणवाही स्रोतों की क्रियायें विलुप्त हो जाती हैं। प्राणवाही स्रोतों के भी आक्रान्त होने से मनुष्य की दशा बहुत बिगड़ जाती है एव वह मृतवत या काष्ठवत् प्रतीत होता है। सुश्रुतोक्त तामसी निद्रा के लक्षण भी चरकोक्त संन्यास के समान ही हैं। वस्तुतः निद्रा का सुश्रुतोक्त तामस भेद निद्रा न होकर मृत्युपूर्वकालीन सञ्ज्ञानाश की गम्भीर स्थिति है। सुश्रुत में भी पृथक् सन्यास का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—

प्रभूतदोषस्तमसोऽतिरेकात् सम्मूर्च्छितो नैव विबुध्यते यः।
संन्याससंज्ञो भृशदुश्चिकित्स्यो ज्ञेयस्तदा बुद्धिमता मनुष्यः॥

सुश्रुत दोषों तथा तम की अधिकता के परिणाम को ही सन्यास मानते है। दोष से यहाँ पर मुख्यतः कफ समझना चाहिये। तामसी निद्रा के लक्षणों से भी उक्त सम्प्राप्ति का ही ज्ञान होता है—**'तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते 'तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवबोधिनी सा प्रलयकाले'।** प्रलय का अर्थ मृत्यु है। अनवबोधिनी शब्द भी मृत्यु का ही सूचक है। इस प्रकार तमोगुणभूयिष्ठ श्लेष्मा जब मृत्यु से पूर्व संज्ञावाही स्रोतों मे प्रविष्ट होता है तो तामसी निद्रा या सन्यास की अवस्था उत्पन्न होती है।

संन्यास में भी हृदय एवं मस्तिष्क दोनों की विकृति होती है, किन्तु इसमें हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क की प्रधानता रहती है। पाश्चात्य ग्रन्थों में बताये गए कोमा (Coma) के लक्षण सन्यास से मिलते हैं—'Coma is a state of unnatural heavy deep and prolonged sleep often accompanied by slow stertorous or irregular breathing and frequently ending in death', (Index of differential diagnosis by Herbert french) अर्थात् कोमा वह असाधारण स्थिति है जिसमें मन्द एव अनियमित श्वास-प्रश्वास के साथ-साथ गम्भीर निद्रा की अवस्था रहती है। इसके होने पर रोगी की प्रायः मृत्यु हो जाती है।

संन्यास के दो मुख्य कारण हैं :—

१—मस्तिष्क में रक्त की अत्यधिक कमी।

२—रक्त में विषों की उपस्थिति।

उक्त दो अवस्थाओं में से कोई भी जिस रोग या जिस स्थिति में पायी जाती है उसमें संन्यास का होना भी अनिवार्य है।

---

१ यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु' (चरकः)

१. मस्तिष्क में रक्त की साधारण कमी से मूर्च्छा होती है, यही कमी जब सीमा को अतिक्रान्त कर जाती है तो संन्यास को उत्पन्न करती है पाण्डुरोग तथा अत्यधिक रक्तस्राव (Severe haemorrhage) के कारण मस्तिष्क में रक्ताल्पता होती है। इनके अतिरिक्त भय, शोक आदि मानसिक तथा अत्यधिक ताप आदि भौतिक कारणों से भी परिसरीय-केशिकाविस्फार के कारण मस्तिष्क में रक्ताल्पता होती है। मानसिक कारणों में घात (Shock) प्रधान है। इन कारणों से रक्ताल्पता होने पर मस्तिष्क के आज्ञावाहक व संज्ञावाहक क्षेत्र क्रिया करना पूर्णतया बन्द कर देते हैं। अंशुघात (Sun-stroke) में ताप की अधिकता के कारण मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों में रक्त जमने से मस्तिष्क की कोषायें भी नष्ट होने लगती हैं, परिणामस्वरूप ज्ञान का पूर्णतया लोप होने से संन्यास उत्पन्न होता है।

२. रक्त में विषों की उपस्थिति से भी मस्तिष्क पर प्रभाव होकर संन्यास उत्पन्न होता है। रक्त में विषोत्पत्तिपूर्वक संन्यास के उत्पादक निम्न रोग हैं—

(क) **मधुमेहजन्य संन्यास**—मधुमेह अग्न्याशय-सम्बन्धी रोग है। विकृत हो जाने पर अग्न्याशय से मधुनिषूदिनी (Insulin) का स्राव कम या बन्द हो जाता है। इसके अभाव से प्राङ्गोदीय (Carbohydrate) का समावर्त (Metabolism) ठीक नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप रक्तगत शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है एवं वृक्क देहली मर्यादा (Renal threshold) से अधिक होने पर मूत्रद्वारा भी उत्सृष्ट होने लगती है। रक्तगत शर्करा की साधारण मात्रा ०·०८ से ०·१ प्रतिशत तक रहती है। ०·१८ तक होने पर भी वृक्क द्वारा उत्सृष्ट नहीं होती। यह वृक्क देहली की अधिकतम मर्यादा है। इससे अधिक होने पर ही उसका उत्सर्ग मूत्र द्वारा होने लगता है। इस प्रकार अग्न्याशय की विकृति होने पर प्राङ्गोदीय (Carbohydrate) का समवर्त पूर्णतया नहीं होता, अतः शारीरिक यन्त्र शक्ति प्राप्त करने के निमित्त वसा का उपयोग अधिक मात्रा मे करने लगता है। वसा का अधिक उपयोग होनेसे रक्त में अम्लमय पदार्थों (ketone bodies) की वृद्धि होने लगती है, जिसका परिणाम भयंकर अम्लोत्कर्ष (Ketosis) है। मधुमेहजन्य सन्यास को उत्पन्न करने वाले ये अम्लमय पदार्थ ही हैं। जैसा कि हैलिबर्टन महोदय ने कहा भी है—

The ketone bodies are most important in the disease. Aceto-acetic acid is particulrlay toxic, it is thought because of enabolic form in which it may occur. It is a general nervous depressant, first causing unconciousness or coma and eventually death from paralysis of the respiratory center.

(ख) **उपमधुमयता** (Hypoglycaemia)-**जन्य संन्यास**—रक्तगत शर्करा की अत्यधिक कमी से भी संन्यास की उत्पत्ति होती है। कभी-कभी मधुमेह की चिकित्सा में मधुनिषूदिनी (Insulin) का अधिक मात्रा में प्रयोग कर देने पर भी संन्यास के लक्षण प्रकट होते हैं।

(ग) **मदात्यय** (Acute alcoholic poisoning) अत्यधिक मात्रा में मद्यपान करने से भी संन्यास के तीव्र लक्षण व्यक्त होते हैं। आमाशय की श्लेष्मकला में शोथ हो जाता है तथा हृदय का दक्षिण भाग कार्य करना बन्द कर देता है। वातनाडी संस्थान में सुषुम्नाजल (Cerebro-spinal fluid) की मात्रा बढ़ी हुई पायी जाती है। संन्यास का यही मुख्य उत्पादक हेतु है।

इन रोगों के अतिरिक्त प्राङ्गार एकजारेय विष (Carbon monoxide poisoning), मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis) तथा मस्तिष्क की रक्तवाहिनी में अवरोध होने से भी संन्यास की अवस्था उत्पन्न होती है। रक्त का अत्यधिक दाब (High B, P,) होने से भी संन्यास होता है। मूत्रविषमयता (Uraemia) भी संन्यास का उत्पादक है।

प्राणायतनमाश्रिताः—प्राणायतनका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मर्मसामान्य है, किन्तु **'सामान्याद्विशेषो गरीयान्'** इस न्याय के अनुसार चरक-प्रतिपादित दस प्राणायतनों[1] का ही ग्रहण करना पर्याप्त है। अन्य सबकी विकृति का परिणाम हृदय एव मस्तिष्क के द्वारा ही व्यक्त होता है अतः सन्दर्भानुसार प्राणायतन शब्दसे इन्हीं दोनों विशेषतः शिर या मस्तिष्क[2] का ग्रहण करना उचित है। इन दोनों के अविकृत रहने पर शरीर के सभी अग अविकृत रह सकते है। इनकी किञ्चिन्मात्र विकृति भी सबकी क्रियाओं को उच्छृङ्खल बना सकती है। प्राणायतनो में परिगणित मूर्धा एवं शंख शब्द से मस्तिष्क का ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि सिर पर तीव्र आघात के कारण ही संन्यास के लक्षण व्यक्त होते हैं। मस्तिष्क एवं हृदय के अतिरिक्त परिगणित आठ प्राणायतन गौण है। इन आठों की विकृति भी हृदय एवं मस्तिष्क पर प्रभाव डालकर ही संन्यास को उत्पन्न करती है। प्राणायतनों में परिगणित शुक्र शब्द से उसकी उत्पत्ति के स्थान वृषणग्रन्थि (Testes) का ग्रहण करना चाहिए। कतिपय विद्वान् पौरुषग्रन्थि (Prostate) को शुक्र का स्थान एव उससे निकलनेवाले स्राव को ही शुक्र मानते हैं। वस्तुतः वृषण ग्रन्थि से बनकर निकलने वाले पुरुष-बीज (Spermatozoon) एव उसके अन्तःस्राव (Internal secretion) को ही शुक्र संज्ञा देनी चाहिए।

वृषणग्रन्थि से निकलने वाले पुरुषबीज एवं अन्तःस्राव को शुक्र मानने मे हेतु—

१. शुक्र के द्वारा सन्तानोत्पत्ति मानी गयी है, यह पुरुषबीज के द्वारा ही होती है पौरुषग्रन्थि (Prostate) के स्राव से नहीं। वह तो केवल पुरुषबीज को गर्भाशय तक पहुँचाने का साधन मात्र है। अतः सन्तानोत्पादक होने से पुरुषबीज तथा उसके आश्रय वृषणग्रन्थि को ही शुक्र संज्ञा से ग्रहण करना चाहिए।

२. वृषणग्रन्थि से निकलने वाले अन्तःस्राव के द्वारा सम्पूर्ण शरीर की वृद्धि तथा पौरुष चिह्नों (वस्तिप्रदेश में बाल, दाढी तथा मूँछों के बाल, शब्द गाम्भीर्य आदि) की अभिव्यक्ति भी होती है। इसके अन्तःस्राव के अभाव में पौरुष चिह्नों की अभिव्यक्ति नहीं होती। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से वृषणग्रन्थि का शुक्रस्थान होना सिद्ध है। वृषणग्रन्थि ही सबका पोषण करती है। अतः यदि पुरुषबीज को उत्पादक वीर्य एवं अन्तःस्राव को सर्वशरीर-पोषक एवं व्यापक वीर्य कहा जाय तो उचित ही है। प्राचीन ग्रन्थों में पुरुषत्व की कमी को दूर करने के लिये विविध प्रकारके अण्डों (जो कि शुक्र के प्रतिनिधि स्वरूप ही होते हैं) का प्रयोग करने का उपदेश किया है। आधुनिक काल की हारमोन चिकित्सा (Harmone-therapy) भी इसका ही ज्वलन्त उदाहरण है। स्त्रियों में बीजग्रन्थि (Ovary) ही शुक्र का स्थान है तथा उससे निकलने वाले अन्तःस्राव (Hurmones) तथा स्त्री-बीज (Ovum) ही शुक्र है। स्त्रियों में इसका कार्य प्रायः वृषणग्रन्थि के समान ही होता है।

ओज—ओज नाम से ग्रहण की जानेवाली कोई एक ही वस्तु पाश्चात्त्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती। आयुर्वेद ने इसे सब धातुओं का सार माना है—**रसादिशुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत्खल्वोजस्तदेव च बलम्** ॥ सु० सू० १५। चरक ने भी कहा है—

---

१. 'दश प्राणायतनानि, तद्यथा—मूर्धा, कण्ठो, हृदयं, नाभिः, गुदं, वस्तिः, ओजः, शुक्रं, शोणितम्, मांसमिति'। (च० शा० ६)

तथा च—दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शंखौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥ (च० सू० २९)

२ प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥

येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वजन्तवः ।
यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते ॥

उक्त श्लोक के द्वारा कहा है कि इसके रहने पर पुष्टि तथा जीवन निर्भर है। इसके न रहने पर जीवन भी नही रह सकता। यही गर्भोत्पत्ति में भी कारण है, इसके बिना शुक्र और शोणित में जीव का प्रवेश नही हो सकता[1]। धमनियो में स्पन्दन की शक्ति प्रदान करने वाला भी ओज ही है[2]। चरक ने ओज का स्थान हृदय को माना है **'तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः'**। गर्भ में आठवे मास मे गर्भवती स्त्रियों के ओज का ह्रास होता है अतः उक्त काल में गर्भिणी को ओजस्य पदार्थों के सेवन का उपदेश शास्त्रो मे किया गया है। विष आदि से हृदयस्थ ओज का नाश होने से सन्यास उत्पन्न होता है। ओज का स्वरूप वर्णन करते हुए चरक ने कहा है-**हृदि तिष्ठति यच्छुद्धं रक्तमीषत्सपीतकम् । तथा-प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिन्दवो हृदयाश्रिताः ॥**

हृदयस्थ ओज का वर्ण रक्तपीत होता है। हृदय में इसकी मात्रा अष्टबिन्दु प्रमाण मानी है। यहाँ बिन्दु शब्द कर्ष का पर्यायवाची है। समस्त शरीर में व्याप्त ओज की राशि अर्धाञ्जलि प्रमाण मानी गयी है। अर्धाञ्जलि में भी आठ तोले ही होते हैं अतः दोनों मतों में कोई अन्तर नही है। कुछ लोग ओज के पर और अपर दो भेद मानते हैं और प्रथम की राशि आठ बिन्दु (बूँदे) और स्थान हृदय तथा द्वितीय की राशि अर्धाञ्जलि और स्थान समस्त शरीर मानते हैं। आधुनिक दृष्टि से ओज शब्द से किसे मानना चाहिए इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद हैं। इस सम्बन्ध का विवेचन स्वतन्त्र रूप से ही सम्भव है। सामान्य रूप से समस्त शरीर में व्याप्त विभिन्न कोषाणुवों (Cells) में निहित जीवद्रव्य (Protoplasm) को अथवा उसके केन्द्रक (Neuleolus) गत सारको ओज मान सकते हैं।

प्राचीन सिद्धान्त के अनुसार हृदय ही चेतना का भी स्थान है—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम् ।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनाम् ॥

आधुनिक विद्वान् मस्तिष्क को ही चेतना का स्थान मानते है। इस विषय पर पीछे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। उपनिषत्कारों ने भी हृदय को ही चेतना का स्थान माना है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः, तथा हृदि ह्येष आत्मा ।

मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम्—यदि इस रोग में सद्यः फलदायिनी क्रियायें न की जायें तो रोगी की मृत्यु हो सकती है। सुई चुभाना, तीक्ष्ण अंजन व अवपीड नस्य आदि सद्यः फलप्रद क्रियायें हैं। सुश्रुत ने भी कहा है—**तीक्ष्णाञ्जनाभ्यञ्जनधूमयोगैस्तथा नखाभ्यन्तरतोत्रपातैः, वादित्रगीतानुनयैरपूर्वैर्विघट्टनैर्गुप्तफलावघर्षैः ।** (सु. उ. त. अ. ४६)

इन सब क्रियाओं की प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) द्वारा मूर्च्छा को दूर किया जाता है। इसके अतिरिक्त रक्ताधिक्यजन्य संन्यास में चरक ने रक्तावसेचन का भी निर्देश किया है—

रक्तावसेकाच्छास्त्राणां सतां सत्त्ववतामपि ।
सेवनान्मदमूर्च्छायाः प्रशाम्यन्ति शरीरिणाम् ॥ (च. सू. २४)

समाप्तं चेदं मूर्च्छाभ्रमादिनिदानम् ।



---

१. यत्सारमादौ गर्भस्य यत्तद्गर्भरसाद्रसः। सवर्तमानं हृदयं समाविशति यत्पुरा । यस्य नाशात्तु नाशोऽस्ति धारि यद्हृदयाश्रितम् । यच्छरीररसस्नेहः प्राणा यत्र प्रतिष्ठिताः ॥ (च० सू० ३०)

२. 'तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीति महाफलाः' । (च० सू० ३०)

अथ पानात्ययपरमदपानाजीर्णपानविभ्रमनिदानम्

मदात्ययहेतुमाह—

ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः ।
तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः ॥ १ ॥

विष में जो गुण बताये गये हैं, वे मद्य में भी होते हैं। अतः मद्य का विधिविपरीत सेवन करने से उग्रस्वरूप का मदात्यय रोग होता है ॥ १ ॥

'मूर्च्छा मद्येन च विषेण च'–इति वचनान्मूर्च्छानन्तरं मद्यविकारान् मदात्ययादीनाह । ननु, कथं मद्यं मोहयतीत्याह–ये विषस्येत्यादि । ते च विषगुणा मूर्च्छाध्याये निदर्शिताः । मिथ्योपयुक्तेनेति अन्यथाविधिपीतेन, विधिश्चायं तद्यथा[1]–कुसुमितलतोपगूढैः प्ररूढनिरन्तरनवाङ्कुरनिकररोमाञ्चैर्मधुकरमधुरझङ्कारसीत्कारैर्मुक्तकण्ठकलकण्ठकूजितैर्दक्षिणसमीरणसमुल्लसितपल्लवकरप्रचारैस्तरुणतरुभिरुपक्रान्तरतिभिरतिशोभनेषु तुषारकरकिरणराजिपराजिताशेषतापदोषेषु[2] प्रदेशेषु शृङ्गाररससमुचितालङ्कृतिकमनीयकामिनीसेवितं ललितललनोपनीयमानं सुरभिरुचिररूपरसोपदेशं कं नाम परिमितं परार्ध्यमधुपानं न सुखयति ? चरके तु विस्तरेणैतदुक्तम् ॥ १ ॥

विमर्श—चरक तथा सुश्रुत के अनुसार विष के दस लक्षणों का वर्णन विषज तथा मद्यज मूर्च्छा के प्रकरण में किया जा चुका है। तमोगुण प्रधान होने से जो द्रव्य बुद्धि का नाश करके मद या नशे को उत्पन्न करता है इसे मद्य, मदकारी या मादक द्रव्य कहते हैं। जैसे विविध प्रकार की सुरा आदि–

'बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते ।
तमोगुणप्रधानं च यथा मद्यं सुरादिकम् ॥ (शा. सं. प्र. खं. अ. ४)

मद्य चरक के अनुसार लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, अम्ल, व्यवायि, आशुग, रूक्ष, विकासि तथा विशद इन दश गुणों से युक्त होता है[3]। सुश्रुत ने मद्य के आठ ही गुण माने हैं[4]। किन्तु

---

१. अस्याग्रे कपुस्तके–'शुद्धकायः पिबेत्प्रातः सोपदंशं पलद्वयम् । मध्याह्ने द्विगुणं तच्च स्निग्धाहारेण पाययेत् । प्रदोषेऽष्टपलं तद्वन्मात्रा मद्यरसायने ॥ वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं चाग्रे शृत्वा मरिचलवणैश्छागलं भृष्टमांसम् । वीणानादैः परभृतकृतैः काकलीगीतयुक्तैः सोऽयं धन्यः पिबति मदिरां भैरवो यस्य तुष्टः'–इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

२. 'प्रदोषेषु, इति क ।

३. लघूष्णतीक्ष्णसूक्ष्माम्लव्यवाय्याशुगमेव च ।
रूक्षं विकासि विशदं मद्यं दशगुणं स्मृतम् ॥ (चरक)

४. मद्यमुष्णं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च ।
रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकासि च ॥ (सुश्रुतः)

लघु—यह गुण गुरु से विपरीत है तथा शरीर को हल्का एवं कृश करना इसका कार्य है।

रूक्ष—यह गुण स्निग्ध के विरुद्ध कार्य करने वाला है। इसमें जल को शोषण करने की शक्ति निहित रहती है। मद्य भी आग्नेय गुण प्रधान होने के कारण जल के आकर्षण (Affinity for water) की शक्ति रखता है।

आशु—जो द्रव्य अपने शीघ्रत्व गुण के कारण शरीर में शीघ्रता से फैलकर क्रिया करता है उसे आशुग कहते है 'आशुकारि तथाऽऽशुत्वाद्धावत्यम्भसि तैलवत्' (सु. सू. ४६) मुखद्वारा ग्रहण

मद्य का अम्ल गुण दोनों संहिताओं मे स्वीकार किया गया है। एक स्थल में तो **'सर्वेषामम्लजातीनां मद्यं मूर्ध्नि व्यवस्थितम्'** के द्वारा मद्य को सर्वोत्कृष्ट अम्ल माना गया है। अम्ल गुण विष में नही होना इस तथ्य का स्पष्टीकरण चरक ने विष के लिये अनिर्देश्य रस कहकर कर किया है।

तेन मिथ्योपयुक्तेनेति—'विधिना मात्रया काले' आदि श्लोक के द्वारा आगे प्रतिपादित विधि के विपरीत मद्यपान करने से उक्तगुणों वाला मद्य हृदय में प्रविष्ट होकर अपने विपरीत ओज के गुरु, शीत, मृदु, श्लक्ष्ण, बहल, मधुर, स्थिर, प्रसन्न, पिच्छिल तथा स्निग्ध इन दस गुणों को नष्ट करके हृदय को विकृत कर देता है। तथा उसके आश्रित मन या मस्तिष्क को भी क्षुभित करके

किया हुआ मद्य बृहदन्त्र में पहुँचने से पूर्व ही २०% आमाशय तथा शेष क्षुद्रान्त्र के द्वारा प्रचूषित होकर पाँच मिनट में ही रक्त में मिल जाता है एवं शीघ्र ही शारीरिक अङ्गों पर अपना प्रभाव दिखाता है। मद्य का यही आशुगत्व है।

विशद—यह पिच्छिल से विपरीत होता है तथा इसमे भी शरीर के क्लेद का शोषण करने की शक्ति होती है—'विशदो विपरीतोऽस्मात् क्लेदाचूषणरोपणः'।

व्यवायि—जो द्रव्य पाक होने से पूर्व ही सर्वशरीर में फैलकर अपना प्रभाव दिखाने के पश्चात् पचता है उसे व्यवायी कहते हैं।

व्यवायि चाखिलं देह व्याप्य पाकाय कल्पते।

अथवा—पूर्वं व्याप्याखिलं काय ततः पाकं च गच्छति।
व्यवायि तद्यथा भङ्गा फेनं चाहिसमुद्भवम्॥ (शा. सं.)

भांग, अफीम या मद्य अपाचित अवस्था में ही प्रचूषित होकर रक्त द्वारा सर्वशरीर के तन्तुओं में प्रविष्ट होकर अपना मदकारी प्रभाव दिखाते हैं। पाक होने से पूर्व मेद की अवस्था बनी रहती है। पाक हो जाने पर वह निवृत्त हो जाती है।

तीक्ष्ण—यह गुण पित्त प्रधान होने से दाह, पाक तथा शरीर के सोमगुण का ह्रास करता है 'दाहपाककरस्तीक्ष्णः' (सु.)

विकासि—जो द्रव्य समस्त शरीर में अपक्वावस्था में ही फैलकर शरीर के सन्धि-बन्धनों को शिथिल करता है और धातुओं से ओज को विभक्त करके उनमें शैथिल्य उत्पन्न करता है उसे विकासि कहते हैं—

'विकासि विकसन्नेवं धातुबन्धान् विमोक्षयेत्' (सुश्रुत)

अथवा—सन्धिबन्धांस्तु शिथिलान् यत्करोति विकासि तत्।
विश्लेष्यौजश्च धातुभ्यो यथा क्रमुककोद्रवाः॥

सूक्ष्म—जो द्रव्य देह के सूक्ष्मातिसूक्ष्म छिद्रों में भी आसानी से प्रवेश कर सके उसे सूक्ष्म कहते हैं। यथा—

देहस्य सूक्ष्मच्छिद्रेषु विशेद् यत् सूक्ष्ममुच्यते।
तद्यथा सैन्धवं क्षौद्रं निम्बतैलं रुबूद्भवम्॥

इस गुण के कारण मद्य रक्त द्वारा प्रवाहित होता हुआ शरीर की प्रत्येक कोषा के अन्दर प्रवेश कर जाता है एवं कोषास्थित जीवद्रव्य (प्ररस = Protoplasm) का विनाश भी करता है।

उष्ण—यह शीत से विपरीत तथा मूर्च्छा, तृषा, दाह और स्वेद को उत्पन्न करने वाला होता है। मद्य भी आग्नेयगुणप्रधान होने से इन गुणों से युक्त रहता है।

इन गुणों के अतिरिक्त मद्य शरीर के प्रोभूजिन (Protiens) को जमा देता है तथा शरीर की कोषाओं में उत्तेजन करके उनका विनाश भी करता है।

मदात्यय रोग को उत्पन्न करता है । इस प्रकार ओजःक्षय ही मदात्यय का प्रधान हेतु है । रस-रक्त आदि सप्त धातुओं का उत्कृष्ट तेज ही ओज या बल कहलाता है—**'रसादिशुक्रान्तां धातूनां यत्परं तेजस्तत्खल्वोजस्तदेव च बलमित्युच्यते'** (सु.सू. १५) । ओज का महत्त्व मूर्च्छादिनिदान प्रकरण में कहा गया है । यद्यपि ओज, तेज और बल तीनों अन्योन्याश्रयी, परस्परोपकारक एवं सहज होने से पर्याय रूप में भी व्यवहृत होते हैं किन्तु तत्त्वतः यह नितान्त भिन्न हैं । यथा ओज सौम्य, तेज आग्नेय और बल वायव्य होता है । शरीर की स्वाभाविक स्थिति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये ओज का प्रकृत रहना अत्यन्त आवश्यक है । क्योंकि ओज के विकृत होने पर न केवल शरीर के उपचय में विकार आता है किन्तु तेज और बल भी प्रभावित होते हैं ।

मद्यपान करने से शरीर के विविध अंगों में विकृति होकर विविध रोगों की उत्पत्ति होती है जिनका कि आगे यथास्थान वर्णन किया जायगा । उन सब में मदात्यय प्रधान है । मदात्यय के लक्षणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका साक्षात् सम्बन्ध वातनाडी-संस्थान या मस्तिष्क से है । यह ठीक है कि मदात्ययी के हृदय आदि में भी विकृति हो सकती है फिर भी उसके लक्षण वातनाडीसस्थान के द्वारा ही व्यक्त होते हैं अतः इस रोग को मस्तिष्क सम्बन्धी ही कहा जाता है । चरक आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी **'चेतो नयति विक्रियाम्'** अर्थात् मद्य मन या मस्तिष्क को विकृत कर देता है, इन वाक्यों से मदात्यय की मस्तिष्कजन्यता स्पष्ट प्रतिपादित की गयी है । प्राचीन आचार्यों ने हृदय को ही चेतना और ओज का स्थान कहा है —

'रसवातादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् । प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥'

वस्तुतः **'अर्थे दशमहामूलीय'** नामक अध्याय (च.सू. ३०) में हृदय का जो महत्त्व वर्णन किया गया है उसका प्रतिवाद नहीं किया जा सकता । हृदय रक्त और रस का आधार है । इनके द्वारा वह सम्पूर्ण शरीर व मस्तिष्क का पोषण करता है । हृदयस्थ रक्त को कुछ विद्वान् अष्टबिन्द्वात्मक ओज भी कहने को तैयार है, इस प्रकार भी यह ओज का भी स्थान है । ओज सम्पूर्ण धातुओं का उत्कृष्ट सार है जो कि हृदय के साथ सर्वशरीर में व्याप्त रहता है । हृदयस्थ ओज के प्रकृत रहने पर सर्वशरीरगत ओज भी प्रकृत रहता है एवं सब धातुओं तथा अंग-प्रत्यगों का प्रीणन यथाविधि अनवरत होता रहता है । मुख द्वारा ग्रहण किया हुआ मद्य आमाशय एवं क्षुद्रान्त्र से प्रचूषित होकर रस–रक्तवाहिनियों द्वारा यकृत् में होता हुआ हृदय में पहुँचता है और रक्त को दूषित करता है, जिससे उसका स्वाभाविक उत्कृष्ट तेज क्षीण हो जाता है । यही मद्यभूयिष्ट तथा ओजोविहीन रक्त मस्तिष्क में भी पहुँचता है । वहाँ भी अपने दसगुणों से ओज के दसों गुणों को क्षुभित करके मदात्यय रोग को उत्पन्न करता है । इसलिए जहाँ भी हृदय को मन, बुद्धि या वातवह नाड़ियों का स्थान कहा गया है वहाँ सर्वत्र ही हृदय को पोष्य-पोषक भाव से ही आश्रयस्थान मानना चाहिये आधाराधेय भाव से नहीं गर्भ के विकासावस्था में हृदय की उत्पत्ति एवं कार्य मस्तिष्क की उत्पत्ति के पूर्व ही प्रारम्भ हो जाते हैं । किन्तु मस्तिष्क की उत्पत्ति के बाद हृदय का चेतनात्मक कार्य मस्तिष्क ही करने लगता है । चेतना का मूल स्रोत होते हुए भी हृदय केवल पोषण मात्र करता हुआ चेष्टा आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वयं भी मस्तिष्क के नियन्त्रण में चला जाता है; जिस प्रकार एक राजा अपने प्रतिनिधि या प्रधानमन्त्री को सारा कार्यभार देकर स्वयं भी उसके नियन्त्रण में रहता है । इसीलिए **'हृदयं चेतनास्थानम्'** के साथ ही **'प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि**

---

१. मद्य हृदयमाविश्य स्वगुणैरोजसो गुणान् । दशभिर्दश संक्षोभ्य चेतो नयति विक्रियाम् ॥
गुरु शीतं मृदु श्लक्ष्णं बहलं मधुरं स्थिरम् ।.प्रसन्नं पिच्छिलं स्निग्धमोजो दशगुणं स्मृतम् ॥
सत्त्वं तदाश्रयं चाशु संक्षोभ्य जनयेन्मदम् । (च. चि. २४)

च। यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधियते।' यह भी स्पष्ट ही कहा है। अतः विकासावस्था में हृदय ही चेतना-स्थान होता है। किन्तु जातोत्तर मस्तिष्क ही प्रधान चेतना-स्थान हो जाता है। साथ ही दोनों किसी न किसी रूप मे अन्योन्याश्रित भी होते है। इसी आधार पर स्व० कविराज गणनाथ-सेन जी ने भी चेतना-स्थान के रूप में मस्तिष्क मे स्थित चतुर्थकोष्ठ (4th Ventricle) को ब्रह्महृदय और रक्तवाहिनियों का मूलस्थान हृदय (Heart) माना है। इसलिए चेतना, बुद्धि या संज्ञा आदि के साथ हृदय-विकृति का जिन भी अवस्थाओं में उल्लेख है वहाँ हृदय शब्द से मुख्यतया मस्तिष्क ही ग्राह्य है।

अतिपीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत्। हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः॥

यहाँ तत्रस्था का तदाश्रिताः 'हृदयप्रदत्त पोषण पर आश्रित रहने वाले' ऐसा अर्थ करना चाहिये। इसी आशय से चक्रपाणि ने भी—**'सत्त्वस्य च ओज आश्रयः, ओज उपकार्यत्वात्'** मन को ओज तथा उसके भी आश्रय हृदय का उपकार्य या पोष्य कहा है। इसी प्रकार मस्तिष्क की विकृति भी मद की जननी है। शार्ङ्गधर ने तो स्पष्ट रूप से बुद्धि या उसके आश्रय मस्तिष्क की स्वाभाविक क्रिया का विनाश करने वाले तमोगुणप्रधान शराब जैसे द्रव्यों को मदकारी कहा है।

वस्तुतः मद्य वातनाडी तथा मस्तिष्क कोषाओं पर प्रत्यक्ष विनाशकारी प्रभाव करने वाला होने पर भी रक्त को दूषित करके ही मस्तिष्क को प्रभावित करता है। इसके अतिरिक्त आमाशय म शोथ उत्पन्न करके मस्तिष्क के पोषक तत्त्व जीवतिक्ति बी० आदि के शोषण में रुकावट डालकर भी मद्य यह कार्य करता है अतः हृदय और मस्तिष्क दोनों का ही महत्त्व समान है।

विषतुल्यस्यापि मद्यस्य युक्तियुक्तत्वेनामृतत्वप्रतिपादनपूर्वकं रसायनताप्रतिपादनम्—

किंतु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम्।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम्॥ २॥
प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या हिनस्त्यसून्।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्॥ ३॥ (च. चि. १२)

स्वभावतः मद्य को अन्न के समान माना गया है। विधिपूर्वक सेवन करने पर मद्य अमृत के समान गुणकारी होता है। इसके विपरीत मनमाने तौर पर सेवन करने से वही रोगों को भी उत्पन्न करता है। जैसे अन्न प्राणियों का प्राण है किन्तु विधिविपरीत सेवन करने पर वह भी प्राणों को नष्ट कर सकता है। इसी प्रकार विष का स्वाभाविक गुण प्राणनाश करना है किन्तु युक्तिपूर्वक सेवन करने पर वह भी रसायन के समान गुणकारी होता है॥ २-३॥

ननु, विषस्य ये गुणास्ते चेन्मद्येऽपि सन्ति, तर्हि विषवन्मद्यमनुपयोज्यं प्रसज्येत ? अत आह—किंत्वित्यादि। यथैवान्नमिति देहधारकस्वभावं तदेवायुक्तियुक्तमविधियुक्तं रोगाय; तस्मादहितमपि विशिष्टविधिनोपयुक्तं हितं, हितमप्यविधिनोपयुक्तमनर्थाय भवतीति। अत्रैव दृष्टान्तमाह—प्राणा इत्यादि। तदयुक्त्येति अतिमात्रत्वादिना विसूच्यादिकं कृत्वा मारयतीत्यर्थः। युक्तियुक्तमिति यथा चरकरसायनप्रयोगे उक्तं—'द्वौ यवावत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च (च. चि. अ. १)' इति। अत्र तिलमिति तिलप्रमाणम्॥ २-३॥

विमर्श—अन् प्राणने धातु से **'अनयति जीवयति यत् तदन्नम्'** इस विग्रह से अन्न शब्द सिद्ध होता है। यह शब्द रूढ होने से गोधूम आदि का तथा **'अद्यते खाद्यते यत्तदन्नं'** इस व्युत्पत्ति द्वारा

खाद्य सामान्य का भी बोधक होता है। जीवन के लिये उपयोगी खाद्यपदार्थों में प्राङ्गोदीय (Carbohydrate), प्रोभूजिन (Protien), वसा (Fat), तथा जीवतिक्ति (Vitamins) और खनिजों के अतिरिक्त मद्य (Alcohol) की भी उपस्थिति आवश्यक है। इस सिद्धान्त की मान्यता का स्रोत प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। आधुनिक विद्वान् भी इससे सहमत हैं। एव श्रीघोष ने 'मद्य की भोजन-समता (Food value of alcohol) नामक शीर्षक के अन्तर्गत इस तथ्य का विस्तारपूर्वक वर्णन अनुभव एव तर्क के आधार पर बहुत सुन्दर रीति से किया है।[1] उपयोगी होने से उसको निम्न पङ्क्तियों द्वारा अविकल रूप से अनूदित करके दिया जाता है—

'मद्य का भोजन से कुछ साम्य है या नही इस विषय पर अनेक बार विवाद हो चुके हैं। मद्य को प्रोभूजिन का नियामक या रक्षक समझा जाय या नही यह प्रश्न सब से अधिक महत्त्व का है। तन्तुओं का निर्माण तथा उनकी मरम्मत करना प्रोभूजिन (Ptotien) का मुख्य कार्य है। वसा एव प्राङ्गोदीय (Carbohydrate) शरीर को उष्णता तथा शक्ति प्रदान करते हैं। चूँकि मद्य (Alcohol) में भूयाति (Nitrogen) का अश किञ्चिन्मात्रा में भी नहीं रहता अत यह प्रोभूजिन के धातुनिर्माणात्मक कार्य को नहीं कर सकता। किन्तु पान किये हुए मद्य का ९० प्रतिशत भाग रासायनिक शक्ति के द्वारा मुक्त होकर जल एवं प्राङ्गार द्विजारेय (CO_2) में परिवर्तित होता है। यही क्रिया प्राङ्गोदीय तथा वसा के द्वारा भी होती है। इस प्रकार सेवित मद्य इन दोनों का कार्य कर सकता है। अत एव इसे अभूयात्य (Non-Nitrogenous) भोजन कह सकते हैं। अन्य भोज्य पदार्थों के साथ लिया गया मद्य प्राङ्गोदीय एवं वसा के साधारण व्यय को कम कर देता है जिससे वे दोनों तन्तुओं में एकत्रित होते रहते हैं। इसके साथ ही मद्य का पाचन-शोषण भी अन्य भोजन की अपेक्षा अधिक शक्ति के बिना भी अतिशीघ्र हो जाता है। इस दृष्टि से यह प्राङ्गोदीय एव वसा की अपेक्षा श्रेष्ठतर है।

यद्यपि यह सिद्ध हो चुका है कि मद्य प्रोभूजिन का कार्य नहीं करता तथापि कुछ अवस्थाओं में वसा के समान यह भी शरीर में प्रोभूजिन के व्यय को नियमित तथा कम करने में परम सहायक होता है। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि यदि भोजन से वसा की मात्रा कम कर दी जाय तो प्रोभूजिन ही वसा स्थान पर शक्ति प्रदान करने का कार्य करने लगता है। इस प्रकार प्रोभूजिन के भञ्जन से भूयाति (Nitiogen) का निष्क्रमण (Excretion) बढ़ जाता है। इस अवस्था में मद्य प्रदान करने से भूयाति का त्याग कम हो जाता है। इस उदाहरण से यह समझने में कठिनाई नहीं है कि मद्य भी वसा के समान प्रोभूजिन के व्यय को कम करता है तथा धातुओं के विनाश को भी रोकता है। इस प्रकार मद्य की अन्नतुल्यता केवल इसी दृष्टिकोण से है कि वह दूसरे भोज्य पदार्थों के साथ ग्रहण करने पर प्राङ्गोदीय एवं वसा के स्थान पर शक्तिदान तथा प्रोभूजिन की अल्पव्ययता एवं धातुओं की रक्षा रूप कार्य कर सकता है। किन्तु यह सब स्वल्पकालिक ही होता है। इसके अतिरिक्त मद्य के द्वारा प्राप्त होने वाली शक्ति निश्चित होती है, जो कि शरीर की आवश्यकता के अनुरूप कम या अधिक नही हो सकती। मद्य का संचय न होने से आपत्तिकाल में विशिष्ट शक्ति भी प्राप्त नही की जा सकती। प्राङ्गोदीय एव वसा का संचय होने से शरीर को समय पर आवश्यकतानुकूल शक्ति मिल जाती है। यही मद्य एवं भोज्य पदार्थों के इन दो प्रमुख अवयवों में मुख्य भेद है।

अयुक्तियुक्तमिति—भोजन और मद्य दोनों ही युक्तिपूर्वक सेवन करने पर लाभ किन्तु विधि-विरुद्ध सेवन करने पर हानि करते हैं। भोजन की युक्तियुक्तता का वर्णन चरक निम्न प्रकार से

1. Materia Medica by R. Ghosh.

करते हैं यथा—**उष्णं स्निग्धं मात्रावज्जीर्णे वीर्याविरुद्धमिष्टे देशे, इष्टसर्वोपकरणं नातिद्रुतं नातिविलम्बितमजल्पन्नहसंस्तन्मना भुञ्जीतात्मानमभिसमीक्ष्य सम्यक्**' (च. वि. १)। इसके विपरीत भोजन अयुक्तियुक्त कहलाता है। चरक ने उष्ण आदि प्रत्येक की स्वतन्त्र व्याख्या भी की है। यहाँ विस्तारभय से उनका वर्णन नहीं किया गया। युक्तियुक्त मद्य-पान की विधि व उसके शुभपरिणामों का वर्णन '**विधिना**' इत्यादि श्लोकों के द्वारा आगे किया जायगा।

आयु, बल, पुष्टि, तुष्टि तथा पराक्रम आदि सभी गुण उत्तम पाचन पर ही निर्भर है और उत्तम पाचन युक्तियुक्त मद्यपान पर निर्भर होता है इसका वर्णन श्री घोष ने इस प्रकार से किया है—'In moderate strengths and taken with food or after food it tends to promote digestion dy direct stimulation ot the fundus of the stomach causing an abundant secretion of gastric juice'.

अयुक्तियुक्त मद्य-सेवन मद का कारण होता है यह बात सुश्रुत के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है :—
तदेवानन्नमन्नेन सेव्यमानममात्रया। कायाग्निना ह्यग्निसमं समेत्य कुरुते मदम्॥ मदेन करणानान्तु भावान्यत्वे कृते सति। निगूढमपि सत्त्वं स्वं प्रकाशीकुरुतेऽवशः॥

'मद्य अग्निगुणप्रधान होता है अतः वह शरीरस्थ अग्नि से मिलकर सोमगुण ओज का नाश करके मदात्यय को उत्पन्न करता है। मद के कारण इन्द्रियाँ वश में नहीं रहतीं जिससे रोगी अपनी गोपनीय बातों को भी अज्ञान से व्यक्त कर देता है।' (सु. उ. तं. ४७)

विधि-विपरीत मद्य के अतिशय पान से मदात्यय के अतिरिक्त विविध व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। इसका विवेचन '**निर्भक्तम्**'-**इत्यादि तथा** '**क्रुद्धेन भीतेन**' इत्यादि श्लोकों के द्वारा आगे पृष्ठ ३६१-६२ में किया जायगा।

विषं प्राणहरं तच्चेति—साधारणतया विष को प्राणघाती माना जाता है किन्तु यदि उसका विधिवत् शोधनादि करके मात्रापूर्वक सेवन किया जाय तो वह रसायन[1] के समान गुणकारी होता है।

विधिनोपयुज्यमानस्य मद्यस्य गुणाः—

विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम्।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम्॥ ४॥ (च. चि. १२)
स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम्।
भवेदायुःप्रकर्षाय बलायोपचयाय च॥ ५॥
काम्यता मनसस्तुष्टिस्तेजो विक्रम एव च।
विधिवत्सेव्यमाने तु मद्ये संनिहिता गुणाः॥ ६॥ (सु. उ. ४७)

जो व्यक्ति विधिवत्, मात्रानुसार उचित काल में बल के अनुसार प्रसन्नतापूर्वक हितकारक खाद्यों के साथ मद्यपान करता है उसके लिये मद्य अमृत के तुल्य होता है। स्निग्ध खाद्य, मांस तथा अन्य भक्ष्य पदार्थों के साथ सेवन किया हुआ मद्य आयु, बल तथा शरीर की वृद्धि करता है। यदि मद्य यथाविधि सेवन किया जाय तो शरीर के सौन्दर्य, मन की प्रसन्नता, तेज तथा पराक्रम जैसे गुणों की वृद्धि होती है॥ ४-६॥

---

१. रसायनं च तज्ज्ञेयं यज्जराव्याधिनाशनम्। वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्। लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥ (च. चि. १)

विधिनोपयुक्तस्य फलमाह-विधिनेत्यादि। काल इति नित्यगे चावस्थिके च; तद्यथा-ग्रीष्मे शीतमधुरं माध्वीकादि, शीते उष्णतीक्ष्णं गौडिकपैष्टिकादि, तथा वातो स्निग्धादि एवं वयस्युदाहार्यम्। हितैरन्नैरिति। वक्ष्यमाणस्निग्धादिभिर्मद्यविपरीतगुणैः। स्निग्धैरित्युपलक्षणं, तेनान्यैरपि मद्यविपरीतगुणैरिति बोद्धव्यम्। यदुक्तं सुश्रुतेन—'मद्यमम्लं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च। रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकासि च—' (सु. उ. अ. ४७) इति। अम्लरसत्वं चास्योद्भूतरसत्वेनोक्तं; यदुक्तमन्यत्र—'सर्वेषामम्लजातीनां मद्यं मूर्ध्नि व्यवस्थितम्'-इति। मूर्ध्नि व्यवस्थितमुत्कृष्टम्। अन्येऽप्यत्र रसाः सन्ति। यदाह भोजः- 'मैरेयं मदिरा सीधु चतुर्थं मधु चोच्यते। एकैकं षड्रसं तत्र रसतो मद्यमीरितम्'—इति। अन्नभक्ष्यशब्दयोरुपादानेन प्रायो लेह्यं द्रवान्तरपानं च मद्यपानोचितं न भवतीति दर्शयति। अन्नभक्ष्याभ्यां लब्धेऽपि मांसे, मांसग्रहणं विशेषेण हितत्वोपदर्शनार्थम्। बलं शक्तिः, उपचयः स्थौल्यम्। अपरमपि विधिसेवागुणमाह—काम्यतेत्यादि। काम्यता कमनीयमूर्तिता, मनसस्तुष्टिः सन्तोषः। काम्यता मनस इति कमनीयवस्तुनि मनोवृत्तिः, तुष्टिश्च मनस एवेति योज्यम्। तेजः उत्साहः। विक्रमः पराभिभवार्थं बलवती शरीरचेष्टा॥

विमर्श—विधि का अर्थ युक्ति है। युक्ति का वर्णन करते हुए चरक ने कहा है—

अन्नपानवयोव्याधिबलकालत्रिकाणि षट्। त्रीन् दोषांस्त्रिविधं सत्त्वं ज्ञात्वा मद्यं पिबेत् सदा।
तेषां त्रिकाणामष्टानां योजना युक्तिरुच्यते॥

अन्न-पान आदि प्रत्येक के प्रवर, मध्य एवं अवर ये तीन तीन भेद होते हैं। उन भेदों को ध्यान में रखते हुए मद्यपान करने से मद्यज दोष उत्पन्न नहीं होते। वात, पित्त तथा कफ जनक भेद से अन्न-पान तीन प्रकार के होते हैं। वातकर अन्न-पान सेवन करने के पश्चात् वातहर मद्य का पान करना चाहिये। इसी प्रकार पित्तकर और कफकर के लिये भी समझ लेना चाहिये[1]। बाल्य, यौवन, वार्धक्य भेद से आयु भी तीन प्रकार की होती है। बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था में अल्पमात्रा में मद्यपान करना चाहिये। युवा पुरुष मद्य की पर्याप्त मात्रा को भी सहन कर सकता है। वातादि भेद तथा मृदु, मध्य और तीव्र भेद से व्याधि भी तीन प्रकार की होती है। इसी प्रकार मद्य के भी प्रवर, मध्य तथा अवर तीन भेद होते हैं। इनकी यथायोग्य योजना कर लेनी चाहिये। उत्तम, मध्यम, निकृष्ट भेद से बल के तीन भेद हैं। उत्तम बल वाला मनुष्य उत्तममात्रा में प्रवर मद्य ले सकता है। इसी प्रकार मध्य बलवाला मध्यम तथा निकृष्ट बलवाला व्यक्ति अवर मद्य का पान कर सकता है।

नित्यग तथा आवस्थिक भेद से काल दो प्रकार का होता है। नित्यग काल, शीत, उष्ण तथा वर्षाभेद से तीन प्रकार का होता है। हेमन्त में अतिरूक्ष मद्य का पान न करना चाहिये। उष्ण काल में अल्प तथा बहुजलमिश्रित मद्य का पान करें। वर्षाकाल में स्निग्ध एवं दीपन गुणयुक्त मद्य का पान करना चाहिये। आवस्थिक काल, व्याधि एवं आयु के अन्तर्गत आ जाता है अतः पृथक् वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। वात, पित्त तथा कफ भेद से दोष भी तीन हैं। अतः प्रकृति के विरुद्ध मद्यों का पान करना चाहिये। सत्त्व (मन) भी सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से तीन प्रकार का होता है। सात्त्विक या शुद्ध मनवाला व्यक्ति अधिक मद्य को भी सहन कर सकता है। राजस तथा तामस उससे कम सहन करते हैं। इस प्रकार इन आठों का त्रिविध विचार करके मद्यपान करना चाहिये, इसी को शास्त्र में मद्यपान की विधि या युक्ति कहा गया है।

१. वातिकेभ्यो हितं मद्यं प्रायः पैष्टिकगौडिकम्। कफपित्ताधिकेभ्यस्तु मार्द्वीकं माधवं च यत्॥

हितैरन्नैरिति—अन्नशब्द खाद्य सामान्यपरक है अतः आगे कहे जाने वाले मांस आदि पदार्थों का भी इससे ग्रहण करना चाहिये। मद्य आग्नेय-गुणभूयिष्ठ होता है अतः इसके इस गुण के कुप्रभाव को रोकने के लिये स्निग्धान्न-पान तथा मांस का उपयोग बताया गया है। इस प्रकार मद्य के दुर्गुणों का शरीर पर कोई प्रभाव नहीं होता अपितु उसमे रहने वाले गुण शरीर के लिये लाभप्रद सिद्ध होते हैं। १० सी० सी० (लगभग १ तोला) शुद्ध मद्य (Absolute alcohol) से उत्पन्न होनेवाली ऊष्मा एक पौंड मास के सेवन से उत्पन्न ऊष्मा के बराबर होती है। मद्यानुपान से मांस सेवन करने पर मांस सुरक्षित (Preserve) रहता है और मद्य ऊष्मा उत्पन्न करके शरीर को शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार मांस आदि मद्य के साथ सेवन करने पर शरीर को स्वस्थ तथा उपचित रखते है। स्वस्थ शरीर ही दीर्घजीवी हो सकता है, अत एव मद्य को आयु का वर्धक भी कहा गया है। खाली पेट या अनुपयुक्त खाद्य के साथ सेवित मद्य विविध विकारों का जनक होता है। इसका वर्णन **'निर्भक्तमित्यादि'** श्लोक की व्याख्या मे (पृ. ३६२) किया जायगा। मद्य सर्वशरीर का उत्तेजक (General stimulant) होने से बलवर्धक भी माना गया है।

काम्यता—काम्यता का अर्थ कमनीय-मूर्तिता या सौन्दर्य है। मद्य आग्नेय-गुणभूयिष्ठ होने के कारण अन्तःस्थित ऊष्मा को बढाकर उसका त्वचा के द्वारा विकिरण करता है। ताप की सत्ता विना रक्ताधिक्य के नही हो सकती अतः अर्थापत्त्या त्वचा मे रक्ताधिक्य का अनुमान सहज ही हो जाता है। रक्ताधिक्य भी परिसरीय केशिकाओं के विस्फार (Dilatation of the peripheral vessels) का ही फल है। इस प्रकार मद्यपानजनित ऊष्मा से धमनी-विस्तार के कारण रक्ताधिक्य होने पर त्वचा में सौन्दर्य की निदर्शक अद्भुत लालिमा हो जाती है। इसकी विशेष प्रतीति मुखमण्डल की त्वचा में होती है।

रक्तवाहिनी विस्फार कराने के कारण ही मद्य को सार्वदैहिक उत्तेजक (General stimulant) कहा जाता है। इसका वर्णन श्री घोष अपनी मैटिरिया मेडिका में निम्न प्रकार से करते हैं—'Since it causes dilatation of vessele specially of the skin and increases the functional activity of different organs, alcohol is regarded as a general stimulant.'

सार्वदैहिक उत्तेजक होने के कारण ही मद्य से पराक्रम की शक्ति बढती है। शरीर मे शक्ति तथा उत्तेजना होने पर ही तेज (कार्य करने मे उत्साह) की वृद्धि होती है।

मद्य के उपर्युक्त गुणों को देखकर यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि क्या मद्य भी अन्न के समान प्रतिदिन सेवन किया जा सकता है?

मद्य के इस गुणानुवाद से प्रत्येक व्यक्ति यह समझने को बाध्य है कि अल्प मात्रा में प्रतिदिन मद्यपान करना लाभप्रद है। किन्तु वस्तुतः अल्प मात्रा में भी मद्य का प्रतिदिन सेवन हानिप्रद ही होता है। इसके निरन्तर सेवन से शरीर के आन्तरिक अगों मे स्थायी विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह सत्य है कि मद्य बुद्धि, स्मृति, तुष्टि तथा स्फूर्ति को उत्पन्न करने वाला है, किन्तु सेवित मद्य का शरीर से त्याग अतिशीघ्र हो जाता है, उसका संचय नही होता, अत एव इसके द्वारा उत्पन्न होने वाले सभी गुण क्षणिक होते है। इस अद्भुत उत्तेजना के पश्चात् शरीर मे गौरव की उत्पत्ति होती है जिसके परिणामस्वरूप मनुष्य की कार्य करने मे रुचि नहीं रहती। मानसिक एवं शारीरिक अवसाद का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार यदि मद्यप द्वारा किये हुए कार्य की पूर्णमात्रा को देखा जाय तो वह अपेक्षाकृत कम ही रहती है किन्तु मद्यप का यही विश्वास रहता है कि मैंने बहुत कार्य कर डाला। शारीरिक एवं मानसिक अवसाद को दूर करने के लिये उत्तेजना के मूल मद्य के पुनः पुनः पान करने की इच्छा होती है। मद्य का व्यसन होने का यही

रहस्य है। इसके अतिरिक्त मद्यपान के विरोध में सबसे बड़ा हेतु एक और भी है—शरीर के प्रत्येक अङ्ग की शक्ति (परम तेज या ओज) की मात्रा निश्चित है। साधारण अवस्था में वह अपना कार्य नियमित विधि से करती है। मद्य उस निश्चित शक्ति को स्वाभाविक से अधिक उत्तेजित कर देता है जिससे उसका कार्य पूर्वापेक्षया अधिक वेग से होने लगता है। इस प्रकार मद्य स्वयं शक्ति प्रदान न करके अङ्गों की सुरक्षित शक्ति को काम में लाकर उसका ह्रास कर देता है। इसका फल यह होता है कि मद्य की जो निश्चित मात्रा जिस निश्चित शक्ति को उत्पन्न करने के लिये पहिले समर्थ थी उतनी मात्रा कालान्तर में भी उतनी शक्ति को उत्पन्न नहीं कर सकती है। प्रत्युत उतनी ही शक्ति प्राप्त करने के लिये पूर्व से अधिक मात्रा का सेवन करना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार मद्य की मात्रा के वर्धन तथा पुनः पुनः शक्ति प्राप्त करने का क्रमिक चक्र अनवरत चलता रहता है। अल्पमात्रा में मद्यपान करने वाले बलात् प्रचुर मात्रा अभ्यासी हो जाते हैं। अन्ततो गत्वा शरीर के अङ्गों का ह्रास भी होने लगता है।

शीतकाल में उष्णता प्राप्त करने के लिये भी कुछ व्यक्ति मद्यपान की सलाह देते हैं। किन्तु इसे उष्णतोत्पादक न कहकर उष्णतानाशक कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। साधारण अवस्था में शीत के कारण परिसरीय केशिकायें संकुचित होकर आन्तरिक ऊष्मा की रक्षा करती हैं। मद्यपान करने से ये विस्फारित होकर त्वचा द्वारा आन्तरिक ताप का निर्हरण कराने लगी हैं। तापनिर्हरण-काल में त्वचा में उष्णता के कारण शीत का अनुभव कम हो जाता है। किन्तु अन्य गुणों के समान शीतापनयन भी कृत्रिम व अल्पकाल तक ही स्थिर रहता है। मद्य की क्षणिक उत्तेजना से शरीरगत ताप का बहुत कुछ अंश इस शीतापनयन के व्याज से समाप्त हो जाता है जिससे मद्य का प्रभाव हटने पर पहिले से भी अधिक शीत का अनुभव होने लगता है।

यकृत् का कार्य विषनाशन (Detoxication) है। नित्य मद्यपान करने से यकृत् में विकृति उत्पन्न हो जाती है जिससे वह अपना प्रमुख कार्य करना भी बन्द कर देता है। मद्य द्वारा हुई यकृत् की विकृति का वर्णन घोष महाशय ने निम्न वाक्यों द्वारा किया है—

'After absorption alcohol passes directly to the liver through the portal circulation, where it effects the hepatic cells producing inflamations. It may disappear in a few days if no more alcohol is taken, but if long continued it produces permanant changes in the liver leading to cirrhosis or fatty degeneration or both.

यकृत् की विकृति के कारण ही मद्यपान करने वालों को अन्य औषधियाँ तथा औषध रूप में प्रयुक्त स्वयं मद्य भी रोगों में लाभप्रद नहीं होता।

शास्त्र में मद्य के जो गुण वर्णित हैं वे मद्य के स्वाभाविक गुण हैं, शरीर पर होने वाला उसका सद्यः प्रभाव है, किन्तु अन्य भोज्य पदार्थों के समान यह अन्तिम रूप में शरीर के लिए लाभप्रद सिद्ध नहीं होता। मद्य को भोजन का साम्य प्रदान करने का तात्पर्य सर्वांश में नहीं है। जिस प्रकार भोजन रूप औषध रोगरूप क्षुधा नाश करती है उसी प्रकार मद्य भी परिस्थिति-विशेष एवं काल-विशेष में लाभप्रद होता है प्रतिदिन पान करने पर नहीं। भोजन भी बुभुक्षा के अभाव में विष होता है, 'अजीर्णे भोजनं विषम्'। यही भोजन तथा मद्य की समता है।

मद्य का सांस्थानिक प्रभाव—मद्यपान करने से शरीर की कुछ धातुओं में शोथात्मक (Inflammatory), विनाशात्मक (Degenerative) या उभयात्मक विकृतियाँ होती हैं। यह विकृति साधारणतया प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रत्येक धातु में हो सकती है, किन्तु फिर भी

विकृति के प्रधान केन्द्र वातनाडी-संस्थान, हृदय, रक्तवाहिनी, आमाशय, यकृत् तथा वृक्क ही हैं। इनकी विकृति का परिणाम परम्परया अन्यान्य अंगों पर भी होता है। जिनका यथास्थान वर्णन किया जायगा। वातनाडी-संस्थान के अतिरिक्त अन्य संस्थान की विकृति के लक्षण चिरकालपर्यन्त मद्यपान के उपरान्त प्रकट होते हैं, किन्तु वातनाडी संस्थान पर मद्य का सद्यः प्रभाव होने से इसके लक्षण प्रथम बार मद्यपान करने पर भी व्यक्त हो जाते हैं अतः विकृति के सर्वप्रधान केन्द्र वातनाडी-संस्थान की विकृतियों का ही वर्णन सर्वप्रथम किया जायगा।

शास्त्रविहित विधि के विपरीत मद्यपान करने से त्रिविध या चतुर्विध मदात्यय की उत्पत्ति होती है, उनका क्रमशः आगे वर्णन किया जाता है।

तत्र प्रथमं मदमाह—

बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च।
संपाठगीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥ ७ ॥

प्रथम मद की अवस्था बुद्धि, स्मरणशक्ति, प्रसन्नता तथा सुखको उत्पन्न करती है। इससे खाने-पीने तथा निद्रा की इच्छा बढती है। पाठ करने, गाने तथा व्याख्यान आदि देने की शक्ति को बढ़ाता है अत एव प्रथम मद को अत्युत्तम माना जाता है ॥ ७ ॥

उक्तविधिविपर्ययेण सेव्यमानं मद्यं मदात्ययाय संपद्यते, स च त्रिविधो भवति—पूर्वो-मध्यमोऽन्तिश्चेति; तेषां क्रमेण लक्षणमाह—बुद्धीत्यादि। बुद्धिरनुभवः, स्मृतिरनुभूतार्था-नुसन्धानम्। पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्चेति। पानादिषु रतिरनुरागस्तद्वर्धनः। सपाठः सम्यक् पाठः। गयदासस्तु 'संपाठ्य'—इति पठित्वा गीतनृत्यवाद्यानि मिलितानि संपाठ्यमुच्यते गीतं तु केवलमेवेति व्याचष्टे। स्वरो ध्वनिः। प्रोक्तोऽतिरम्य इति। (ननु मनोविकारकारि-त्वात्कथमस्यातिरम्यता? उच्यते-) मनोविकारकारित्वेऽपि तदात्वेन दुःखोपहत्त्वात्, अत एव सुश्रुतेन मानसविकारेषु हर्षः पठितः ॥ ७ ॥

विमर्श—अल्पमात्रा से मद्यपान करने से ही उक्त गुण होते हैं। यद्यपि मद्य मानसिक विकार उत्पन्न करता है तथापि वह मानसिक विकार ही तात्कालिक दुःख का शमनकर्ता है अतः उसे अतिरम्य कहा गया है! सुश्रुत ने इसी आशय से हर्ष को भी मनोविकार ही माना है। मद्यपान का वस्तुतः अवसादक प्रभाव ही होता है अतएव प्रथमावस्था में चिन्ता आदि मानसिक भाव सकारण होते हुए भी अनुभूत नहीं होते अतः सुख की प्रतीतिमात्र होती है।

'बुद्धिरनुभवः' या **'बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्'** (न्यायदर्शन), अनुभव या ज्ञान को बुद्धि कहते हैं। प्रकृत में ज्ञान के केन्द्र बुद्धि के साथ-साथ ज्ञान के साधन ज्ञानेन्द्रियों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। अल्पमात्रा में मद्यपान करने से सार्वदैहिक उत्तेजना के फलस्वरूप प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियाँ तथा उनके मस्तिष्कगतकेन्द्र उत्तेजित होकर अधिक कार्य करने लगते हैं जिससे प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्रव्यक्त एवं शीघ्रता से होता है। स्मृतिः—**'अनुभूतार्थानुसंधानं स्मृतिः'** अनुभव किये गये विषय का कालान्तर में ज्ञान करना ही स्मृति है। इसके अतिरिक्त **'अनुभूतविषया-सम्प्रमोषः स्मृतिः'** अनुभूत विषय का ज्ञान नष्ट न होना यह भी योगदर्शन के अनुसार स्मृति का लक्षण है। मस्तिष्कगत स्मृति-केन्द्र की अधिक क्रियाशीलता के कारण ही स्मृति भी निर्मल एवं उत्तम हो जाती है। सुख और दुःख मन के स्वाभाविक गुण है। वस्तुतः मद्यपान करने से मानसिक अवसाद के कारण तत्काल दुःख का अनुभव कम होने से मद्यप सुख का अनुभव करता है।

पानान्नेत्यादि—मद्य अग्निगुण-भूयिष्ठ होने से अल्पमात्रा में सेवन करने पर स्वजातीय

जाठराग्नि की वृद्धि करके ग्रहण किये हुए अन्न-पान का अतिशीघ्र पाचन कर देता है, जिससे भूख एवं प्यास उत्तम रहती है। तमोगुण-प्रधान होने से निद्रा अधिक लाने का भी इसमें गुण है।

कफ का गुण स्वर को भारी करना है, किन्तु मद्य स्वभावतः अग्निगुण-प्रधान होने से कफ का नाश करता है एवं कण्ठ के स्वच्छ होने पर स्वर की शक्ति भी बढ़ जाती है। इस प्रकार प्रथम मद में वातनाडी संस्थान के प्रभावों के साथ साथ शरीर पर प्रभाव होकर भूख आदि शारीरिक भावों की भी वृद्धि होती है। अत एव प्रथम मद की उत्तेजना या ताजगी की अवस्था (Stimulation or refreshing stage) कहते हैं। श्रीघोष ने भी प्रथम मद (First stage of alcoholism) का वर्णन माधव के समान ही किया है—

In small doeses (about one ounce) it produces a feeling of mental and physical well-deing This is the first stage of intoxication. Imagination becomes brighter, feeling elevated, intellect clearer (highiest function of the brain). senses more acute. bodily activity more predominant and in some the appetite is sharpened. अर्थात् अल्पमात्रा में मद्यपान करने से शारीरिक एवं मानसिक आनन्द का अनुभव होता है। यह मद की प्रथमावस्था है। कल्पना तथा अनुभव की शक्ति बढ़ जाती है एवं मेधाशक्ति पूर्वापेक्षया स्वच्छतर हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपना कार्य अधिक शक्ति से करने लगती हैं। तात्पर्य यह कि शारीरिक एवं मानसिक क्रियाओं का विकास अधिक हो जाती है। जिस व्यक्ति को भूख न लगती हो उसकी भूख भी तीव्र हो जाती है।

द्वितीयं मदमाह—

अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः ।
आलस्यनिद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥ ८ ॥

मध्यमद या नशे की दूसरी अवथस्था से पीडित रोगी की बुद्धि, स्मृति, वाणी तथा अन्य चेष्टायें अस्त-व्यस्त होने लगती है। उसकी हरकत तथा आकृति पागल व्यक्ति के समान हो जाती है। रोगी अशान्त रहता है एवं आलस्य तथा निद्रा का शिकार बना रहता है॥ ८ ॥

द्वितीयमदमाह—अव्यक्तेत्यादि । विचेष्टो विरुद्धचेष्टः । उन्मत्तस्य लीलाकृतिर्यां सह वर्तत इति सोन्मत्तलीलाकृतिः, उन्मत्तप्राय इत्यर्थः । अप्रशान्तः प्रचण्डः ॥ ८ ॥

विमर्श—द्वितीय मद को घबराहट या व्याकुलता की अवस्था (Stage of excitement) कहते हैं। इसमें विवेक धीरे धीरे नष्ट होने लगता है। चरक तथा वाग्भट का भी द्वितीय या मध्यमद का वर्णन इसके समान ही है[१]। सुश्रुत ने भी मध्यमद का वर्णन निम्न प्रकार से किया है—

'प्रलापो मध्यमे हर्षो युक्तायुक्तक्रियास्तथा' उक्त सभी लक्षणों से स्पष्ट है कि मध्यमद में रोगी कर्तव्याकर्तव्य के विवेक से शून्य हो जाता है जिससे उसकी सम्पूर्ण क्रियायें ही असम्बद्ध होने लगती हैं।

---

१. मुहुः स्मृतिर्मुहुर्मोहोऽव्यक्ता सज्जति वाङ् मुहुः । युक्तायुक्तप्रलापश्च प्रचलायनमेव च ॥
स्थानपानान्नसांकथ्ययोजना सविपर्यया । लिङ्गान्येतानि जानीयादाविष्टे मध्यमे मदे ॥
(च० चि० २४)

······द्वितीये तु प्रमादायतने स्थितः । दुर्विकल्पहतो मूढः सुखमित्यधिमुच्यते ॥
(अ० हृ० नि० ६)

तृतीयमदमाह—

गच्छेदगम्यान्न गुरूंश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः ।
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ॥ ९ ॥

मद की तृतीय अवस्था में रोगी परतन्त्र या वस्तुतः पागल सा हो जाता है, अगम्यागामी हो जाता है (दुष्ट यान पर सवारी करता है या जिनसे मजाक न करनी चाहिये उनसे भी मजाक आदि करने लगता है आदि) गुरुजनों का मान नहीं करता तथा अभक्ष्य पदार्थों का भक्षण करने लगता है। इस प्रकार उसकी चेतना नष्ट हो जाती है एवं वह मद के वशीभूत होकर मन के गोपनीय रहस्यों को भी प्रकट कर देता है ॥ ९ ॥

तृतीयमदमाह—गच्छेदित्यादि । ननु चरके द्वितीयतृतीययोर्मध्ये मदान्तरं पठितं, यदाह—'मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम्। न किंचिदशुभं कुर्युर्नरा राजसतामसाः॥ को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् (च. चि. अ. २४)' इति; तत् कुतोऽत्र न पठितम् ? उच्यते—द्वितीयमदान्ते तृतीयमदस्य पूर्वावस्थैवातिनिन्दनीया, सुतरां तृतीयो मद इति प्रतिपादनार्थं तत्पठितं, न तु तयोः परमार्थतोऽन्तराले पृथङ्मदान्तरमस्ति,—यथा 'कुम्भमीनर्क्षयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमाः। नाहरेत्तृणकाष्ठानि न गच्छेद्दक्षिणां दिशम्'—इति। अत्र हि कुम्भस्य शेषांशो मीनस्य प्रथमांश एतद्द्वयं मध्यशब्देनोच्यत इत्याहुर्जेज्जटादयः, हरिचन्द्रव्याख्यानं तु विस्तरत्वान्न लिखितम् । अगम्यान् गुरुदारादीन् दुष्टयानादींश्च। नष्टसंज्ञ इति संज्ञा नामोल्लेखेन ज्ञानं, तन्नष्टं यस्य स तथा । गुह्यानि गोप्यानि । अस्वतन्त्रो मदपरवशः ॥ ९ ॥

विमर्श—चरक एवं वाग्भट ने द्वितीय एवं तृतीय मद के बीच में मदान्तर का पाठ किया है। यथा—

मध्यम मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम् । न किंचिन्नाशुभ कुर्युर्नरा राजसतामसाः ॥ (चरक)

तथा च—**मध्यमोत्तमयोः सन्धिं प्राप्य राजसतामसाः ।**
निरङ्कुश इव व्यालो न किञ्चिन्नाचरेज्जडः ॥

किन्तु माधव ने इस भेद का निरूपण नहीं किया। वस्तुतः द्वितीय मद के अन्त में तथा तृतीय के प्रारम्भ में होने वाली स्थिति ही यहाँ तृतीयावस्था कही गयी है अतः मदान्तर का पृथक् पाठ करने की आवश्यकता नहीं। चरक, सुश्रुत और वाग्भट ने जिसे पश्चिम, उत्तम या तृतीयावस्था कहा है लक्षण-साम्य की दृष्टि से माधव ने उसको ही चतुर्थ मद संज्ञा दी है।

तृतीयावस्था में नियन्त्रण शक्ति (Governing power) का नाश हो जाता है। अत एव रोगी न चाहते हुए भी अनेकों निन्दनीय कार्यों को करने के लिये भी प्रवृत्त हो जाता है। यह स्थिति दूसरों तक ही सीमित नहीं रहती प्रत्युत वह गोपनीय रहस्यों का भी उद्घाटन कर देता है बहुत से अर्वाचीन विद्वानों ने पूर्वोक्त द्वितीय एवं तृतीय अवस्थाओं को द्वितीय अवस्था ही कहा है। श्रीघोष इस अवस्था का वर्णन द्वितीयावस्था (Second stage) के शीर्षक के द्वारा निम्न प्रकार से करते हैं—'If the dose is increased, the second stage of intoxication is observed while a novice looses self-control.'

मद्य का अभ्यासी इस को सहन कर लेता है और इस प्रकार के लक्षण व्यक्त नहीं होते किन्तु यदि मद्य की मात्रा और भी बढ़ा दी जाय तो—

'If indulgence is continued further, symptoms of acute alcohol poisoning

appear, so that the mental balance is lost. The subject talks, laughs, sings or cries without restraint, but gradually he looses control over these functions also, तीव्र मदात्यय के लक्षण प्रकट होने लगते हैं और रोगी का मस्तिष्कसम्बन्धी नियन्त्रण पूर्णतया नष्ट हो जाता है एवं यह अकारण ही हँसना, गाना या चिल्लाना प्रारम्भ कर देता है ।

चतुर्थमदमाह—

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः ।
कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतः ॥ १० ॥
को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् ।
बहुदोषमिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती ॥ ११ ॥

मद की चतुर्थ अवस्था में रोगी टूटे हुए काष्ठ के समान निष्क्रिय होकर भूमि पर गिर पड़ता है । उसे अपने कर्तव्य या अकर्तव्य का भी ज्ञान नहीं रहता एवं वह मुर्दे से भी बुरा हो जाता है । कौन बुद्धिमान् एवं कुशल व्यक्ति पागल बना देने वाले इस भयानक दुःखदायी मद को प्राप्त करने की इच्छा कर सकता है ? ऐसा कौन व्यक्ति है जो सिंह आदि से व्याप्त वन में व्यर्थ ही प्रस्थान करेगा।

चतुर्थमदमाह—चतुर्थे इत्यादि । कार्याकार्यविभागज्ञः कार्यमकार्यमिति बुद्ध्या जानाति । 'कार्याकार्यविभागाज्ञः' इति पाठे कार्याकार्यविभागयोरज्ञ इत्यर्थः । मृतादप्यपरो मृत इति । मृतमपेक्ष्यापरोऽयं मृत इव, अत्यन्ताज्ञानसाधर्म्यात् । 'अवरः' इति पाठान्तरे मृतादप्यधम इत्यर्थः, तथाविधावस्थायाः स्वयं कृतत्वात् । क इत्यादि । कः कृती कुशलः, सुकृती वा, कृतकृत्यो वा; स्ववशोऽपराधीनः; तादृशमुक्तप्रकारेण निन्दितं मदं, गच्छेत् प्राप्नुयात् ; न कश्चिदेवंविधं प्राप्नुयादित्यर्थः । कमिवेत्याह—बहुदोषमिवामूढः कान्तारमिति । बहुदोषं हि स्रादियुक्तं, कान्तारं दूरशून्यमध्वानम् । यदुक्तं चरके-'गच्छेदध्वानमस्वन्तं बहुदोषमिवाध्वगः' (च. चि. अ. २४) इति, एवं विदेहेऽपि पठितमिति । अत्रास्वन्तमशोभमानमनिष्टफलत्वेन । ननु चरकविदेहवाग्भटादिभिश्चतुर्थो मदो न पठितस्तत्कथं सुश्रुते पठितः ? उच्यते, चरके या द्वितीयतृतीययोरन्तरालावस्था पठिता, सैव सुश्रुतेन तृतीयो मद इति कृत्वा पठितः, यस्तु चरके तृतीयः स च सुश्रुते चतुर्थः पठितः इत्यविरोधः । वस्तुगत्या तु त्रय एव मदा इत्युपपादितम् । ननु, किंकारणमेतत्त्रैविध्यमिति चेत् ? उच्यते, मद्यं हि वह्नितुल्यं, यथा ह्यग्निः सुवर्णानामुत्तममध्यमाधमानामभिव्यञ्जकस्तथा मद्यमपि प्राणिनां सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेणाभिव्यञ्जकमिति । तथाहि चरकः 'प्रधानाधममध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदर्शकः । यथाऽग्निरेवं सत्त्वानां मद्यं प्रकृतिदर्शकम्' इति (च. चि. अ. २४) । तस्मात् प्रथमद्वितीयतृतीयमदाः सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेण भवन्तीत्यर्थः ॥

विमर्श—चरक, सुश्रुत, वाग्भट तथा विदेह मद की तीन ही अवस्था मानते हैं । माधवोक्त यह चतुर्थ मद लक्षण साम्य के कारण उनके तृतीय मद में ही समाविष्ट हो जाता है ।[1] वस्तुतः मद के

---

१. तृतीयं तु मदं प्राप्य भग्नदार्विव निष्क्रियः । मदमोहावृतमना जीवन्नपि मृतैः समः ॥
(च० चि० २४)

विसंज्ञः पश्चिमे शेते नष्टकर्मक्रियागुणः । (सु० उ० नं० ४७)

निश्चेष्टः शववच्छेते तृतीये तु मदे स्थितः । मरणादपि पापात्मा गतः पापतरां दशाम् ॥
(वा० नि० ६)

तीन ही भेद हैं। क्योंकि मद्य को अग्नि गुण-प्रधान माना गया है। अग्नि जिस प्रकार सुवर्ण की उत्तम, मध्यम व अधम अवस्था का द्योतन होता है। इसी प्रकार मद्य भी मद्यप की सात्त्विक, राजस तथा तामस प्रकृति का द्योतक करता है। आधुनिक विद्वान भी प्रायः मद की तीन ही अवस्थायें मानते है। यदि मद्य की मात्रा पूर्वोक्त अवस्था से भी अधिक कर दी जाय तो मूर्च्छा या संन्यास के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। यथा—

'But if the dose is very large there is complete insensibility, narcosis, muscular relaxation with involuntary passage of urine and stool and subnormal temperature. The breathing becomes stertorous with cyanosis, Finally the patient dies from respiratory paralysis.' ये लक्षण माधवोक्त चतुर्थ अवस्था तथा चरकादि सम्मत तृतीय अवस्था से मिलते हैं। वस्तुतः यह मद्यपान-जनित संन्यास (Coma) की अवस्था है।

अविधिपीतस्य मद्यस्य विकारान्तरहेतुत्वमाह—

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम्।
आपादयेत्कष्टतमान्विकारानापादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥१२॥ (सु. उ. ४७)

भोजन के बिना अर्थात् खाली पेट अकेले एवं नित्य मद्यपान करने से मदात्यय आदि कष्टप्रद विविध व्याधियां उत्पन्न हो जाती हैं यहां तक कि शरीर नष्ट भी हो जाता है॥

अविधिमद्यपानस्य विकारान्तरहेतुत्वमाह—निर्भक्तमित्यादि। ननु, अयमर्थः स्निग्धैस्त-द्यन्नैरित्यादिना यदुक्तं तद्विपर्ययेणैव लब्धः, तत्कथं पुनरुच्यते? नैवं, पूर्वं मद्यपानगुणाभि-धानार्थमुक्तम्, इदं तु कृच्छ्रतमव्याधिकर्तृत्वाभिधानार्थमिति भेदः। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इत्यभिप्रायः। कष्टतमान्विकारानिति वक्ष्यमाणपानात्ययादीन्। भेदं विनाशं शरीरस्य॥

विमर्श—पीछे मद्यपान की विधि का वर्णन करते हुए यह बताया जा चुका है कि मद्य के साथ या पूर्ण स्निग्ध अन्न या मांस का सेवन करना चाहिये। इस प्रकार मद्य का उग्र प्रभाव शारीरिक अंगों पर अधिक दुष्प्रभाव नहीं दिखा सकता। आजकल भी लोग मद्यपान करने से पूर्व मांस, फल या पकोड़ी आदि का सेवन करते हैं। इस विधि की उपेक्षा करके यदि मद्यपान किया जाय तो शरीर के विविध अङ्गों पर बुरा एवं स्थायी प्रभाव पड़ता है। वातनाड़ीसंस्थान के प्रभावों का वर्णन बहुत कुछ हो चुका है, आगे भी किया जायगा। वातनाडीसंस्थान के अतिरिक्त आमाशय, यकृत, रक्तवहसंस्थान, त्वचा, वृक्क तथा श्वसन-संस्थान पर इसका विशेष प्रभाव होता है।

आमाशय पर प्रभाव—विधि-विपरीत या अधिक मात्रा में मद्यपान करने से आमाशयिक कला में क्षोभ तथा शोथ होने से पाचन का कार्य भलीभाँति नहीं होता तथा रोगी को निरन्तर भोजन में अरुचि रहती है। इसी का वर्णन श्रीघोष ने निम्न प्रकार से किया है—

'But in large and repeated doses or in concentrated solutions it irritates the mucous membrane and retards the secretion of gastric juice. If this process is continued over long periods, as in chronic alcoholics, gastric follicles atrophy and dyspepsia becomes permanant.'

इस प्रकार आमाशय की इस स्थायी विकृति के कारण विभिन्न धातुओं के पोषकतत्त्वों का उचित पाचन और शोषण नहीं होता है जिससे विविध विकार उत्पन्न होते हैं। जैसे मस्तिष्क के स्वाभाविक पोषक जीवतिक्ति बी (Vitamin B.) का शोषण न होने से वातनाड़ी-दौर्बल्य के लक्षण प्रकट

होते हैं। इसी प्रकार जीवतिक्ति ए का शोषण न होने से नेत्राभिष्यन्द (Conjunctivitis) की उपस्थिति के कारण रोगी की आँखें सदा लाल रहती है।

यकृत की विकृति का वर्णन पीछे हो चुका है। यकृत् की कोषाओं में शोथ होने से उसका निर्विषीकरण (Detoxication) सम्बन्धी मुख्य कार्य अवरुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त यकृत कोषाओं में शोथ के बाद सौत्रिक परिवर्तन या मद्यपानजन्य यकृद्दाल्युदर के कारण अर्श, कामला, जलोदर आदि भी हो सकते हैं।

रक्तवह संस्थान—साधारण मात्रा में मद्य ग्रहण करने से हृदय की क्रियाशीलता बढ जाती है। रक्तदाब तथा नाड़ी की गति भी बढ़ी रहती हैं। त्वचागत रक्तवाहिनियों के विस्फार के कारण तापक्रम भी बढ़ा हुआ मालूम होता है। किन्तु अधिक मात्रा में सेवन करने पर हृदय पर उत्तेजनात्मक प्रभाव न होकर अवसादक प्रभाव ही होता है। जिससे शीताङ्गता है।

त्वचा तथा वृक्क—मद्य परिसरीय-केशिकाओं का विस्फार तथा स्वेदग्रन्थियों पर प्रभाव डालकर स्वेद की उत्पत्ति कराता है। शीतकाल में वृक्क अधिक क्रियाशील रहते हैं अतः उस समय त्वचा के द्वारा स्वेदोत्पत्ति प्रायः नहीं होती। अत्यधिक मात्रा में मद्य सेवन करने से शारीरिक प्रोभूजिन मूत्र द्वारा अपरिवर्तित अवस्था में ही उत्सृष्ट होने लगते हैं। इस प्रकार-अधिक दिन तक मद्यपान करने से वृक्क की कोषाओं में परिवर्तन होकर पुराण वृक्कशोथ (Chronic nephritis) उत्पन्न हो जाता है।

श्वसन संस्थान—मद्य का अधिक मात्रा में सेवन करने पर प्रत्यावर्तन क्रिया द्वारा श्वसन-केन्द्र उत्तेजित होकर ऊर्ध्वश्वास (Stertorous breathing) को उत्पन्न करता है। अन्ततोगत्वा श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है।

मद्यविकारजनकान् हेत्वन्तरानाह—

क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन।
व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन वेगावरोधाभिहतेन चापि १३॥
अत्यम्बुभक्षावततोदरेण साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन।
उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्यं विविधान्विकारान्॥१४॥

(सु.उ. ४७)

क्रोध, भय, प्यास, भूख तथा शोक की अवस्था में, व्यायाम, भार तथा सफर की थकावट में वेगों के रोकने पर अति जल या भोजन से पेट के अधिक भरे रहने पर, अजीर्णावस्था में ही भोजन कर लेने पर, दुर्बल तथा गर्मी से सन्तप्त होने पर (अन्न आदि के साथ भी) सेवन किया गया मद्य अनेक प्रकार के रोगों को उत्पन्न करता है॥ १३-१४॥

अन्नसहितस्यापि मद्यस्य क्रुद्धत्वादिकारणसहितस्य विकारकारित्वप्रदर्शनार्थमाह—क्रुद्धेनेत्यादि। परिक्षतेन क्षीणेन। अवततं व्याप्तम्। विविधान् विकारान् पानात्ययादीनिति॥

विमर्श—उपर्युक्त कारणों को मानसिक व शारीरिक दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं। क्रोध, भय तथा शोक मानसिक एवं शेष सब शारीरिक कारण हैं। उपर्युक्त शारीरिक या मानसिक विकृतियां के रहने पर विधिपूर्वक किया गया मद्यपान भी अनेक रोगों का उत्पादक होता है।

क्रुद्धेनेति—क्रोध अग्निस्वरूप होता है और मद्य भी अग्निगुणभूयिष्ठ है। अतः क्रुद्धावस्था में किया गया मद्यपान **'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्'** इस सिद्धान्त के अनुसार

अग्निगुण की वृद्धि करता है जिससे उन्माद आदि विभिन्न रोगों की उत्पत्ति होती है। इसके अतिरिक्त क्रोध के कारण सभी ग्रन्थियों के स्राव विकृत हो जाते हैं, जिसका प्रभाव आमाशयिक रस के स्राव पर भी पडे बिना नहीं रहता। इसी प्रकार शोकाकुल व्यक्ति के भोजन का सम्यक् परिपाक नहीं होता—यह अग्निमान्द्यादि निदान में स्पष्ट किया चुका है। अतिमात्रा में सेवित मद्य भी आमाशयिक रस के स्राव को रोकता है। इस अवस्था में क्रोध और मद्य दोनों मिलकर पाचक रस का स्राव पूर्णतया बन्द कर देते हैं। जब पाचक रस ही न होंगे तो पाचन भी कैसे हो सकता है। इसी निमित्त से सुश्रुत ने भोजन कर लेने पर भी क्षुद्रावस्था में मद्यपान का निषेध किया हैं।

क्रोध से अधिवृक्क (Adrenal gland) की क्रियाशीलता बढ़ जाती है। इसकी प्रवृद्ध क्रियाशीलता स्वतन्त्र नाडीमण्डल (Sympethetic nervous system) को उत्तेजित करके हृदय की गति, रक्तदाब तथा नाडी की गति को बढ़ा देती है। मद्यपान भी प्रत्यावर्तन-क्रिया द्वारा तथा शोषित होकर साक्षात् इनकी गति को बढ़ा देता है। जिस प्रकार अत्यधिक मद्यपान से हृदय का अतिपात होता है वैसे ही क्रोध से बढी हुई गति में भी मद्य का प्रयोग आमाशय से प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) द्वारा तथा शोषण के उपरान्त स्वतः हृदयातिपात का जनक होता है। इस प्रकार मद्य की अतिमात्रा तथा क्रोधित भाव के साथ पान किये गये मद्य का हृदय पर एक समान प्रभाव होता है। श्रीघोष ने भी अपनी मैटीरिया मेडिका में हृदय पर अति मद्यपान का प्रभाव दिखाते हुए कहा है—'Large doses do not stimulate the heart at all. In fact the theart is paralysed both reflexly and after absorptions.' हृदय के अवसाद से मृत्यु न होने पर भी मूर्च्छा या सन्यास जैसी अवस्थायें अवश्य हो सकती हैं।

भय तथा शोक से वायु की वृद्धि होती है। इस अवस्था में मद्यपान करने पर मद्य के रूक्षादि गुण अधिक प्रबल होकर उन्माद जैसे रोगों को उत्पन्न करते हैं। यद्यपि शोक में प्रथममदयोग्य मद्यपान करने से शोक निवृत्ति होनी चाहिये तथापि मद्य का स्वभाव है कि जिस भावना से प्रेरित होकर मद्यपान किया जाता है उसी भाव की वृद्धि होती है। यदि शोकसन्तप्त व्यक्ति भी निश्चिन्त एवं प्रसन्न होकर सविधि मद्यपान करे तो उसके शोक की निवृत्ति निश्चित रूप से होगी।

मद्य के तीक्ष्णत्वादि गुणों से पित्त की वृद्धि होती है। यह प्रवृद्ध पित्त पिपासा की अतिप्रवृत्ति कराता है। पिपासा की अतिप्रवृत्ति से होने वाले सभी उपद्रव प्यास[1] की अवस्था में मद्यपान करने से हो सकते हैं।

खाली पेट मद्यपान करने से जाठराग्नि का नाश होता है। आमाशय की श्लेष्मल कला में स्थायी विकृति हो जाने से सर्वदा के लिये भूख लगना बन्द हो जाता है। आमाशयिक रस की कमी अजीर्ण की जननी हैं। अधिक मद्य भी आमाशयिक स्राव को कम करता है। ऐसी स्थिति में यदि मद्यपान किया जाय तो अजीर्ण की वृद्धि ही होगी।

मद्य शरीरान्तर्गत शक्ति का ही अभिव्यञ्जक या प्रेरक है उत्पादक नहीं; इस विषय पर पीछे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। क्षीण धातु या ओजक्षयी को देने पर इससे हानि होने की ही अधिक सम्भावना है लाभ की नहीं। उष्णता से सन्तप्त व्यक्ति भी यदि मद्य का पान करे तो संतापाधिक्य से उसे मूर्च्छा या संन्यास जैसे रोग हो सकते हैं।

---

१. ज्वरमोहक्षयकासश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम्। (तृष्णानिदान)।

अविधिप्रयुक्तमद्यजान् विकारान् दर्शयति—

पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि वा ।
पानविभ्रममुग्रं च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ (सु. उ. ४७)

(विधिरहित मद्यपान करने से) पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण तथा पानविभ्रम नाम की व्याधियाँ उत्पन्न होती है, आगे उनके लक्षण भी कहे जायेंगे ॥ १५ ॥

तानेव विवृणोति—पानात्ययमित्यादि । ननु, अयमर्थः 'आपादयेत्कष्टतमान्विकारान्-' इत्यनेनैवोक्तत्वात् कथं पुनरुक्तः ? उच्यते, पूर्वेण कष्टतमविकारित्वमुक्तम्, अनेन तु नानाविधविकारकारित्वमिति भेदः ॥ १५ ॥

सलक्षणान् वातादिभेदेन मदात्ययभेदानाह—

हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः ।
विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥ १६ ॥
तृष्णादाहज्वरस्वेदमोहातीसारविभ्रमैः ।
विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥ १७ ॥
छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः ।
विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम् ।
ज्ञेयस्त्रिदोषजश्चापि सर्वलिङ्गैर्मदात्ययः ॥ १८ ॥ (च. चि. १२)

हिचकी, श्वास, सिर में कम्पन, पसलियों में शूल, निद्रानाश तथा अत्यधिक प्रलाप से वातिक मदात्यय का अनुमान करना चाहिये । तृष्णा, दाह, ज्वर, स्वेदप्रवृत्ति, मूर्च्छा, अतिसार, चक्कर तथा शरीर के हरे-पीले रङ्ग से पैत्तिक मदात्यय का अनुमान करना चाहिये । वमन, अरुचि, मिचली, तन्द्रा, गौरव, गीले कपडे से आवृत होने तथा शीत अधिक लगने जैसी अनुभूति से कफज मदात्यय का अनुमान करना चाहिये । जिसमें सब दोषों के लक्षणों की सत्ता रहती है उसे त्रिदोषज मदात्यय समझना चाहिए ॥ १६-१८ ॥

तेषामुद्दिष्टानां लक्षणमाह—हिक्केत्यादि । प्रजागरो निद्राविच्छेदः । वातप्रायमित्यनेन सर्वे मदात्ययास्त्रिदोषजा उद्भूतत्वेन व्यपदेश इति चरके दर्शितम् । यदाह—'ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सर्वदोषप्रकोपणाः'—इत्यारभ्य, यावत् 'सर्वं मदात्ययं विद्यात्त्रिदोषजम्' (च. चि. अ. २४) इति । एवं चरकसंवादात्सुश्रुतेऽपि बोध्यम् । विभ्रमो भ्रमः । हरितवर्णस्येत्यनेन हरितवर्णताऽपि लक्षणम् ॥ १६-१८ ॥

विमर्श—यद्यपि **'ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपणाः । त एव मद्ये विज्ञेया विषे तु बलवत्तराः'** इस वचन से तथा वातप्रायमित्यादि में प्राय शब्द के पाठ से स्पष्ट है कि मदात्यय त्रिदोषज ही होता है तथापि दोषों की उल्बणता के अनुसार उक्त वातज आदि संज्ञायें भी अनुपयुक्त नहीं हैं ।

पित्तप्राय मदात्यय में ईषत्कामला तथा रक्त की कमी के कारण शरीर हरित वर्ण का प्रतीत होता है । यकृत की विकृति एवं आन्त्रिक क्षोभ के कारण अतिसार भी होता है ।

प्रत्यक्ष रोग विज्ञान की दृष्टि से पाश्चात्य विद्वान् सेविल ने मदात्यय (Alcoholism) को पाँच भागों में विभक्त किया है जो कि निम्न हैं—

१. **तीव्र मदात्यय** (Acute alcoholism)—मद्य का अत्यधिक मात्रा में पान करने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसमें मद्यप का मस्तिष्क अनियन्त्रित हो जाता है, बुद्धि तथा स्मृति का नाश हो जाता है। शारीरिक क्रियाओं पर भी कोई नियन्त्रण नहीं रहता। मात्रा की अत्यधिकता से मूर्च्छा भी उत्पन्न हो जाती है। माधवोक्त पानात्यय की द्वितीय तथा तृतीय अवस्थाओं के लक्षण इसके समान ही होते हैं। प्राइस ने भी इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से की है:— 'A person is said to suffer from acute alcoholism when as result of alcohol he is unable to do with safety to himself or others, that which he attempts.'

२. **चिरकालीन मदात्यय** (Chronic alcoholism) अल्प मात्रा में भी अधिक काल तक मद्य प्रयोग करने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। यह नाडीतन्तु, मांसधातु तथा संयोजक धातु (Connective tissues) पर विषवत् कार्य करके मेदोऽपक्रान्ति (Fatty degeneration) उत्पन्न कर देता है। इस स्थिति में रोगी मद्य की इतनी अधिक मात्रा का पान करता है जो कि साधारण अवस्था में तीव्र मदात्यय के लक्षणों को उत्पन्न कर सके। किन्तु अत्यधिक मद्यपान करने पर भी इस अवस्था में लक्षण नहीं प्रगट होते। रोगी साधारण सी बातों से उत्तेजित हो जाता है। आकृति उग्र रहती है तथा शरीर का शनैः शनैः ह्रास होने लगता है। मांस धातु तथा संयोजक धातु में विकृति होने से कतिपय अङ्गों (आमाशय, हृदय, वृक्क, रक्तवाहिनियां, यकृत् तथा वातनाडी संस्थान) की पहले जैसी रोग प्रतिरोधक्षमता का भी ह्रास हो जाता है जिससे निम्न रोगों की उत्पत्ति हो सकती है—

(क) चिरकालीन आमाशय शोथ (Chronic gastritis)—इस रोग के कारण होने वाले शरीर के अन्य विकारों का होना भी अनिवार्य है। यथा अरुचि, हृत्कण्ठदाह, उत्क्लेश आदि एवं जीवतिक्ति बी० का शोषण न होने से नाडीतन्तुओं का विनाश।

(ख) धमनी के विकार (Atheroma of the blood vessels and fibroid)—इसके कारण वातनाड़ी की कोषाओं का विनाश होता है।

(ग) हृदय में मेदोऽपक्रान्ति (Fatty degeneration of the heart)।

(घ) यकृतीय मेदोऽपक्रान्ति तथा यकृद्दाल्युदर (Fatty degeneration and cirrhosis of the liver)। इससे उपद्रवस्वरूप जलोदर जैसे विकार भी हो सकते हैं।

(ङ) चिरकालीन वृक्क शोथ (Chronic nephritis)।

मस्तिष्क संस्थान में मद्य के साक्षात् प्रभाव तथा तज्जन्य धमनी-दार्ढ्य के कारण रक्त प्रवाह की कमी से मानसिक या मस्तिष्कगत विकार उत्पन्न होते हैं। इसके कारण शीघ्र ही उत्तेजित हो जाना, प्रत्येक का अविश्वास, स्मृतिविभ्रंश, अनवस्थितचित्तता तथा कभी-कभी उन्माद की भी प्रवृत्ति पायी जाती है। चिरकालीन मदात्यय की परिभाषा प्राइस ने निम्न दिया है—'A patient is said to be a chronic alcoholic when he can not carry on his ordinary life without alcohol' अर्थात् चिरकालीन मदात्यय का रोगी मद्यपान के अभाव में अपना जीवन यापन नहीं कर सकता।

३. **मद्यपान की प्रबल इच्छा** (Dipsomania)-इस अवस्था में कुछ काल के पश्चात् रोगी को अत्यधिक मात्रा में मद्यपान करने की प्रबल इच्छा आवेगों के रूप में होती है। दो आवेगों के बीच में रोगी स्वस्थ रहता है एवं मद्यपान की इच्छा नहीं करता। इसके पश्चात् आवेग काल में

अवसाद की अवस्था उत्पन्न होती है और मद्यपान की ऐसी प्रबल इच्छा होती है कि रोगी उसे रोक नहीं सकता। इसी अवस्था को डिप्सोमेनिया (Dipsomania) कहते हैं। प्राइस ने इसकी परिभाषा अतिसंक्षेप में दी है—'An intermittent compulsion to get drunk.'

४. **सकम्प उन्माद** (Delirium tremens)—इस अवस्था में व्याकुलता, पूर्ण निद्रानाश, भ्रम—प्रधानतया कीड़े-मकोड़े तथा सर्प आदि का दिखाई पड़ना, प्रलाप, मन्दज्वर, मुखशोष तथा शिरःशूल जैसे लक्षण पाये जाते हैं। प्रथम आवेग पाँच दिन तक रहता है और दूसरा दो से तीन दिन तक रहता है। यह स्थिति यकायक मद्यपान के रोकने तथा मद्यप निमोनिया जैसे तीव्र रोग के संक्रमण के परिणाम स्वरूप हो जाती हैं।

५. **चित्तविभ्रम** (Korsakoff's Psychosis)—यह प्रधान रूप से स्त्रियों में पाया जाता है। रोगी अकारण ही विचित्र शब्दों का श्रवण करता है। स्थान, दिशा तथा समय का निरन्तर भ्रम बना रहता है। मस्तिष्क की शक्ति कम हो जाती है। रोग चिरकालीन स्वरूप का होता है अत एव प्राइस वर्णन चिरकालीन मदात्यय के अन्तर्गत ही किया है। इन पाँचों में तीव्र तथा चिरकालीन भेद ही महत्त्व के हैं। शेष तीन कम दृष्टिगोचर होते हैं।

परमदलक्षणं निरूपयति—

श्लेष्मोच्छ्रयोऽङ्गगुरुता विरसास्यता च,
विण्मूत्रसक्तिरथ तन्द्रिररोचकश्च।
लिङ्गं परस्य च मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-
स्तृष्णा रुजा शिरसि सन्धिषु चापि भेदः॥ १९॥

(सु. उ. ४७)

जिस मदात्यय में कफ का आधिक्य, अंगों में भारीपन, मुँह के स्वाद की विकृति, मल तथा मूत्र का अवरोध, तन्द्रा, अरुचि, प्यास, सिरदर्द व सन्धियों में पीड़ा का अनुभव हो उसे परमद समझना चाहिये॥ १९॥

परमदमाह—श्लेष्मोच्छ्रय इत्यादि। श्लेष्मोच्छ्रयश्चात्र नासास्रावादिना ज्ञेयः। सक्तिः सङ्गः अप्रवृत्तिरिति यावत्। तन्द्रिस्तन्द्रा। परस्य मदस्येति परमदस्य, छन्दोनुरोधादसमासनिर्देशः॥ १९॥

विमर्श—मद्यपान के पश्चात् मद्य का पाक हो जाने पर पाया जाने वाला यह लक्षण परमद कहलाता है। इसे खुमार या पश्चाद्भावी अवसाद (after effect of intoxication) कहते हैं। मद्यपान के प्रभाव से उत्तेजित विभिन्न अवयव उसके प्रभाव के शान्त होने पर श्रान्त और शिथिल हो जाते हैं जिससे परमदोक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं। कफाधिक्य का अनुमान नासिका तथा मुख से कफ का स्राव होने से होता है। मद्य विष के समान विकासी होने से सन्धियों को शिथिल करके उनमें पीड़ा कर देता है।

पानाजीर्णलक्षणमाह—

आध्मानमुग्रमथ चोद्गिरणं विदाहः
पानेऽजरां समुपगच्छति लक्षणानि। (सु. उ. ४७)

पानाजीर्ण में या मद्य के पाचन न होने से तीव्र अफारा, वमन तथा शरीर में जलन होती है।

पानाजीर्णमाह—आध्मानमित्यादि उद्गिरणं वान्तिः, उद्गारो वा। पाने मद्ये, अजीर्णमुपगच्छति अपक्वत्वमुपगच्छतीति पानाजीर्णविकार इत्यर्थः ॥

विमर्श—मद्य के पाचित न होने से किंचित्कालावस्थायी विकार (परिणाम = Sequelae) इस श्रेणी में आ जाते है। अतिमात्रा में पिया गया मद्य जाठराग्नि का विनाश करता है जिससे विदग्धाजीर्ण आदि उदर-सम्बन्धी रोग उत्पन्न होते है। मद्यपानजन्य परिसरीय वातनाडी विकार (Peripheral neuritis) के कारण सर्वशरीर में दाह का अनुभव होता है।

पानविभ्रममाह—

हृद्गात्रतोदकफसंस्रवकण्ठधूम
मूर्च्छावमिज्वरशिरोरुजनप्रदाहाः ॥ २० ॥
द्वेषः सुरान्नविकृतेष्वपि तेषु तेषु
तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः। (सु. उ. ४७)

पानविभ्रम नामक अवस्था में हृदय-तथा शरीर में सूई के चुभने जैसी पीडा होती है, नासा तथा मुख से कफ का स्राव व कण्ठ से धुंआ सा निकलता है। मूर्च्छा, वमन, ज्वर तथा सिर में दर्द होता है, शरीर में दाह एवं विभिन्न प्रकार की सुरा व भोजनों में अरुचि रहती है ॥ २० ॥

पानविभ्रमभाह—हृदित्यादि। कण्ठधूमः कण्ठाद्धूमनिर्गमवत्पीडा। शिरोरुजनं शिरःशूलम्। सुरान्नविकृतेष्विति। सुराविकृतेष्वन्नविकृतेषु च, भावे क्तः। तेषु तेष्विति। नानाविकारेषु सुरामैरेयपिष्टकलड्डुकादिषु। उशन्ति इच्छन्ति। एते च परमदादयस्त्रयो न चरके पठिताः, सन्निपातजेऽन्तर्भूतत्वात्; सुश्रुतेन तूक्तत्रिदोषजमदात्ययात्पृथगेते पठिताः, विकृत्या पूर्वलक्षणवैलक्षण्याभिधानार्थमित्याहुः ॥ २० ॥

विमर्श—चरक ने परमद, पानाजीर्ण तथा पानविभ्रम इन तीनों का पूर्वोक्त वातादि प्रधान मदात्ययों में ही अन्तर्भाव कर लिया है। किन्तु सुश्रुत ने इनके लक्षणों की विशिष्टता का वर्णन करने के हेतु पृथक् वर्णन किया है। हृदय और शरीर में पीडा का कारण वात है। इसी प्रकार कफस्राव का कफ एवं मूर्च्छा और दाह का कारण पित्त है। इस प्रकार इसमें तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं।

आधुनिक दृष्टि से पानात्यय को तीव्र मदात्यय (Acute alcoholism) तथा पानविभ्रम को चिरकालीन मदात्यय (Chronic alcoholism) कह सकते हैं। इसका वर्णन पूर्व पृष्ठ में किया जा चुका है। परमद और पानाजीर्ण मदात्यय की ही विशिष्ट अवस्थाएं अथवा उनके परिणाम हैं।

असाध्यलक्षणमवतारयति—

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं
तैलप्रभास्यमपि पानहतं त्यजेत्तु ॥ २१ ॥
जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं
पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे वा। (सु. उ. ४७)

जिस रोगी का ऊपर का ओष्ठ नीचे लटक गया हो, शरीर में बाहर शीत और अन्दर अति दाह प्रतीत हो, जिसके मुख पर तेल चुपड सा प्रतीत हो ऐसे मदात्ययी को असाध्य समझना

चाहिये । इसके अतिरिक्त जिसकी जिह्वा, ओष्ठ तथा दाँत काले या नीले पड गये हों, जिसकी आँखें पीली या रक्त के समान अत्यधिक सुर्ख हों उसको भी असाध्य ही समझना चाहिये ॥ २१ ॥

असाध्यलक्षणमाह—हीनेत्यादि । हीनोत्तरौष्ठं प्रलम्बमानोपरितनौष्ठम् । अतिशीत बहिः, असन्ददाहमभ्यन्तरे, तैलप्रभास्यं तैलाक्तमुखमिव ॥ २१ ॥

विमर्श—हीनोत्तरौष्ठम्—मद्यपानजन्य वातनाडी संस्थान के दौर्बल्य से ओष्ठ को बनानेवाली मांसपेशियाँ भी प्रकृत नहीं रहतीं जिससे ऊपर का ओष्ठ नीचे लटक जाता है । ओष्ठ का निर्माण करनेवाली सभी पेशियों का नाडी-प्रदाय (Nerve supply) सातवीं नाडी (Facial nerve) के द्वारा होता है । नाडी की शक्ति क्षीण होने से ओष्ठ को ऊपर स्थिर रखनेवाली पेशी (Leavator labii superioris) की क्रियाशक्ति भी नष्ट हो जाती है । हृदय पर अवसादक प्रभाव होने से शीताङ्गता तथा आमाशय, यकृत् आदि अवयवों के शोथ से अन्तर्दाह का अनुभव होता है । मुख पर स्नेह मिश्रित स्वेद के कारण ऐसा प्रतीत होता है जैसे तैल चुपड़ा हो ।

जिह्वौष्ठदन्तमसितम्—अत्यधिक एवं चिरकाल पर्यन्त मद्यपान करने से जिह्वा, ओष्ठ तथा नासिका की सिराओं का स्थायी रूप से विस्फार हो जाता है जिससे उनका रङ्ग काला या नीला दिखायी पडता है । यह वस्तुतः चिरकालीन मदात्यय (Chronic alcoholism) का विशिष्ट लक्षण है जैसा कि प्राइस ने कहा भी है—'The colour is most marked on the cheeks and nose. It's blue component is due to dilated small veins.' उक्त लक्षण श्यावता (Cyanosis) का भी द्योतक है ।

मद्यप में यकृत् विकार के कारण कामला हो जाने से नेत्र पीले दिखाई पडते हैं । मद्यपानजन्य चिरकालीन आमाशय शोथ (Chronic gastritis) के कारण जीवतिक्ति ए० का शोषण न होने से नेत्रकला शोथ (Conjunctivitis) होकर नेत्रों में अत्यधिक एवं स्थायी स्वरूप की लालिमा रहती है ।

उपर्युक्त सभी लक्षण चिरकालीन मदात्यय के द्योतक हैं एवं प्राइस के अनुसार इसकी साध्यासाध्यता (Prognosis) साधारणतया उच्चकोटि की चिकित्सा एवं रोगी के सहयोग के अभाव में अच्छी नहीं है । 'As regards cure this is aften bad In many cases, however, suitable management leads to a good all round improvement. Intercurrent diseases specially those of the respiratory system are poorly tolerated. Pneumonia and tuberculosis have a much worse prognosis in these patients than in normal people. Anaesthetics are taken badly and tnere is more likelihood of post anaesthetic complication.'

मद्यपानजन्यानुपद्रवानाह—

हिक्काज्वरौ वमथुवेपथुपार्श्वशूलाः
कासभ्रमावपि च पानहतं भजन्ते ॥ २२ ॥ (सु. उ. ४७)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पानात्ययपरमदपानाजीर्णपानविभ्रमनिदानं समाप्तम् ॥ १८ ॥

हिचकी, ज्वर, कम्प, वमन, पार्श्वशूल, खाँसी तथा चक्कर ये मदात्यय के उपद्रव है ॥ २२ ॥

उपद्रवानाह—हिक्केत्यादि । एतैः कृच्छ्रसाध्यं भवति न त्वसाध्यम्; असाध्यलक्षणेभ्यः पृथक्पाठादिति जेज्जटः । **ध्वंसकविक्षेपकाख्यौ मद्यविकारौ** चरके **पृथक् पठितौ; तद्यथा—**

'विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते। ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते॥ श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दसहिष्णुता। तन्द्रानिद्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम्॥ हृत्कण्ठरोधः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः। तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षेपलक्षणम्' (च. चि. अ. २४) इति; तौ च सुश्रुते 'विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते। तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः संभवन्ति हि' (सु. उ. अ. ४७) इत्यनेन संगृहीतौ बोद्धव्यौ। न वा चिकित्साभेदस्तयोरुक्तः, यतश्चरक एवोक्तवान् – 'तयोः कर्म चिकित्सा च वातिके यन्मदात्यये' (च. चि. अ. २४) इति ॥ २२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पानात्ययपरमदपानाजीर्णपानविभ्रमनिदानं समाप्तम् ॥ १८ ॥

विमर्श—इन उपद्रवों से युक्त रोग को कृच्छ्रसाध्य समझना चाहिये, असाध्य नहीं, क्योंकि सुश्रुत ने इनका पाठ असाध्य लक्षणों से पृथक् किया है। ये सब उपद्रव मद्य के अत्यधिक सेवन करने से ही होते हैं और इनकी उत्पत्ति पूर्व पृष्ठों में वर्णितप्राय है।

चरक तथा वाग्भट ने ध्वंसक तथा विक्षेपक नाम के दो अतिरिक्त मद्यविकारों का भी वर्णन किया है—

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते।
ध्वंसो विक्षेपकश्चैव रोगस्तस्योपजायते॥ (च. चि. २४)

अर्थात् मद्यपान के अभ्यास का कुछ समय त्याग के पश्चात् जब मनुष्य सहसा अत्यधिक का पान करता है तो ध्वंसक और विक्षेपक नाम के रोग हो जाते हैं। इन दोनों का लक्षण करते हुए चरक ने आगे कहा है—

श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता।
तन्द्रा निद्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम्॥

अर्थात् कफ का स्राव, कण्ठ और मुख की शुष्कता, शब्द को सहन कर सकने की शक्ति का अभाव, तन्द्रा तथा निद्रा इन लक्षणों से ध्वंसक विकार समझना चाहिये। इसी प्रकार—

हृत्कण्ठावरोधः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः। तृष्णा कासः शिरःशूलमेतद्विक्षेपलक्षणम्।

हृदय तथा कण्ठ में अवरोध की प्रतीति, मूर्च्छा, वमन, अङ्गपीडा, ज्वर, प्यास, खाँसी तथा शिरःशूल से विक्षेप नामक विकार समझना चाहिये।

सुश्रुत ने इनका पृथक् पाठ न करके एकत्र संगृहीत कर दिया है—

विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते।
तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः सम्भवन्ति हि॥

पीछे डिप्सोमैनिया को मदात्यय का एक भेद कहा है। इस अवस्था में मद्यपान करने की प्रबल इच्छा होती है जिससे रोगी अत्यधिक मात्रा में मद्यपान कर लेता है। इसके कारण होने वाले लक्षणों को ही चरक एवं वाग्भट ने ध्वसक और विक्षेपक नाम दिये हैं।

समाप्तं चेदं पानात्ययादिनिदानम्



दाहनिदानम्

मद्यजदाहं वर्णयति—

त्वचं प्राप्तः स पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः ।
दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥ १ ॥ (सु. उ. ४७)

विधि-विपरीत मद्यपान करने से उत्पन्न ऊष्मा पित्त और रक्त से मिलकर जब त्वचा में पहुँचता है तो भयङ्कर दाह को उत्पन्न करता है ॥ १ ॥

मदात्ययेऽपि दाहो भवत्यतः सप्तप्रकारं दाहमाह, तत्र मद्यजमाह—त्वचमित्यादि । पानोष्मा मद्यपानकुपितपित्तस्यौष्ण्यं; समानोष्मेति पाठान्तरमयुक्तं, सुश्रुते पानात्यये श्लोकस्यास्य पाठात् पित्तजोऽप्ययं हेतुभेदात्पृथक् पठितः ॥ १ ॥

विमर्श—बाह्य भौतिक अग्नि या तैजस पदार्थ का सम्पर्क हुए बिना ही शरीरान्तर्गत कारणों से रोगी को होने वाली जलन की विशेष अनुभूति ही दाह नाम से अभिप्रेत है। दाह शरीरान्तर्गत अग्नि स्वरूप पित्त का ही अन्यतम गुण है। इस प्रकार किसी भी कारण से शरीरगत सोमगुण या कफ का ह्रास तथा पित्त की वृद्धि होने पर ही दाह की अनुभूति होती है। कफ का ह्रास होने पर वायु की वृद्धि पित्त के साथ स्वाभाविक रूप में होती है।[1] इस प्रकार यद्यपि दाह का साक्षात् जनक पित्त ही है तथापि उसको अनुभूति का विषय बनाने वाला वायु ही होता है; क्योंकि चरक ने वातकलाकलीय मे वायु को **'सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा'** सम्पूर्ण इन्द्रियों के ग्राह्य विषयों को मस्तिष्क तक पहुँचा कर अनुभूति का रूप प्रदान करने वाला कहा है। इसके अतिरिक्त पित्त वायु के अभाव में शरीर में घूम कर अपने विशिष्ट गुण का प्रभाव भी नहीं दिखा सकता; क्योंकि इसका प्रेरक वायु ही है **'समीरणोऽग्नेः'** (च. सू. १२)

उक्त कथन से यह सिद्ध है कि दाह की उत्पत्ति तथा अनुभूति में पित्त और वायु दोनों ही कारण हैं। इस प्रकार यद्यपि दाह उभयात्मक है तथापि निदान की दृष्टि से इसके भी वातिक तथा पैत्तिक दो भेद किये जा सकते हैं। जिस अवस्था में पित्त अपने कारणों से प्रकुपित होकर वायु की सहायता से दाह की उत्पत्ति करता है तब वह दाह पैत्तिक और यदि वायु अपने कारणों से ही प्रकुपित हो कर पित्त को विकृत कर दाह उत्पन्न करता है तो वह दाह वातिक होता है। आगे कहा जाने वाला मद्यज, पित्तज, तृष्णानिरोधज तथा रक्तपूर्णकोष्ठज दाह पैत्तिक वर्ग में आते हैं। धातुक्षयज दाह वातिक वर्ग में समझना चाहिये। सम्प्रति उनका क्रमशः वर्णन किया जाता है।

मद्यजदाह पित्तवर्गीय है अत एव सुश्रुत ने इसकी चिकित्सा भी पित्तशामक ही बताई है— **'पित्तवत्तत्र भेषजम्'** मद्य के द्वारा धमनीविस्फारक केन्द्र (Vasidilator centers) के क्षोभ तथा परिसरीय वातनाडी-क्षोभ (Peripheral neuritis) होने से दाह की अनुभूति होती है। मद्यपानजन्य वातनाडी-क्षोभ का यह प्रधान लक्षण है।

रक्तजं दाहमाह—

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ध्रुवम् ।
स उष्यते तृष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः ॥ २ ॥
लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निनेवावकीर्यते । (सु. उ. ४७)

---

१. प्रकृतिस्थं यदा पित्तं मारुतः श्लेष्मणः क्षये । स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥
तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थितः । गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च ॥(च. सू. १७)

प्रकुपित रक्त सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होकर दाह को उत्पन्न करता है। इससे रोगी के शरीर में आगसी लगी रहती है, प्यास उग्र हो जाती है, रोगी का सारा शरीर लाल हो जाती है, आँखें भी लाल हो जाती हैं तथा उसके शरीर व मुख से लोहे के सदृश गन्ध आती है एवं वह अपने को अग्नि से व्याप्त सा मानता है ॥ २ ॥

रक्तजमाह—कृत्स्नेत्यादि। स उष्यते समीपस्थेनेव वह्निना तप्यते, संधूप्यत इति पाठान्तरे संधूपनवद्वेदनामनुभवति। ताम्राभ इति गात्रे। लोहगन्धाङ्गवदन इति लोहस्येव गन्धोऽङ्गे वदने च यस्य स तथा ॥ २ ॥

विमर्श=रक्त भी पित्तवर्गीय ही होता है। अतः यह दाह भी पैत्तिक ही समझना चाहिये। रक्त में लोह होने से शरीर तथा मुख का स्वाद भी लोह जैसा रहता है। लोह से धातु सामान्य का भी ग्रहण करना चाहिये। यह रक्तवात (High blood pressure) का भी लक्षण है। तीव्र ज्वर में भी यह विशिष्ट लक्षण होता है। मासिक धर्म की विकृति से हाथ पैरों में होनेवाला दाह भी इसके अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

पित्तजदाहलक्षणं ब्रूते—

पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिः स्मृतः ॥३॥ (सु. उ. ४७)

पित्तज दाह में पित्तज्वर के समान लक्षण होते हैं, एव उसी की चिकित्सा से लाभ भी होता है॥

पित्तजमाह—पित्तेत्यादि। पित्तज्वरसमः पित्तज्वरलिङ्गयुक्तः, पित्तज्वरे त्वामाशयदुष्ट्या-द्युयोऽधिका इति भेदः। स चाप्यस्य विधिरिति पित्तज्वरचिकित्सा ॥ ३ ॥

विमर्श—चूंकि सभी दाह पित्तज होते हैं अतः इसका पृथक् पाठ करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किन्तु इसमें मद्यज आदि के समान शरीर में अन्य स्थायी विकृतियाँ नहीं होतीं अतः इसका पृथक् पाठ किया है। पित्तज्वर में आमाशय की दुष्टि आदि भी होती है जो कि इसमें नहीं होती, यही पैत्तिकज्वर और दाह में अन्तर है।

तृष्णानिरोधजं दाहमाह—

तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्धतम्।
सबाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्दचेतसः ॥ ४ ॥
संशुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य वेपते।

तृष्णा के वेग को रोकने से जलीय धातु के क्षीण हो जाने पर बढा हुआ आग्नेय तेज (पित्त) शरीर के बाह्य एवं आभ्यन्तर अवयवों में दाह उत्पन्न कर देता है जिससे गला, तालु तथा ओष्ठ सूख जाते हैं एवं रोगी मूच्छित सा हो जाता है और वह जीभ बाहर निकाल कर कापने लगता है॥

तृष्णानिरोधजमाह—तृष्णेत्यादि। तेजः समुद्धतं पित्तोष्मा वृद्ध इत्यर्थः। निष्कृष्य निःसार्य ॥ ४ ॥

विमर्श—अन्य कारणों से जल की कमी (Dehydration) के कारण होने वाला दाह भी इसके अन्तर्गत समझना चाहिये। यह दाह प्रायः ग्रीष्मकाल में होता है।

रक्तपूर्णकोष्ठजदाहं निरूपयति

असृजा पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्यः स्यात्सुदुःसहः ॥ ५ ॥ (सु.उ.४७)

आभ्यन्तर रक्तस्राव के कारण होने वाला एक दूसरा दाह अत्यन्त कष्टप्रद होता है॥ ५ ॥

अवगाढशस्त्रप्रहारजनितरक्तपूर्णकोष्ठजमाह—असृज इत्यादि। न चोक्तरक्तजेनास्य

पौनरुक्त्यं, कृत्स्नदेहानुगमितिवचनात् कारणभेदाच्च। असृजः पूर्णकोष्ठस्येति 'पूरणगुण-सुहितार्थ—' इत्यादिना ज्ञापकेन कर्तरि षष्ठी, रक्तेन पूरितकोष्ठस्येत्यर्थः। कोष्ठशब्देन हृदयादयो गृह्यन्ते। यदाह—सुश्रुतः-'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते' (सु. चि. अ. २) इति ॥ ५ ॥

विमर्श—शस्त्र आदि के प्रहार से आन्तरिक रक्तस्राव होने पर शरीर के अन्य अंगों में रक्त और जलीय अंश की कमी होने एव परिसरीय-वातनाडी-क्षोभ (Peripheral neuritis) के कारण दाह होता है। इसके अतिरिक्त स्थानीय रक्ताधिक्य (Blood accumulation) के कारण क्षोभ होने पर कोष्ठ के भीतर रक्तसंचय स्थल में भी (Local) दाह होता है क्योंकि रक्त पित्त वर्ग का धातु है।

धातुक्षयजं दाहमाह—

धातुक्षयोत्थो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृडर्दितः।
क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद् भृशपीडितः ॥ ६ ॥ (सु. उ. ४७)

रस, रक्त आदि धातुओं का क्षय होने के कारण जो दाह होता है उसे धातुक्षयज दाह कहते हैं। इसमें मूर्च्छा, प्यास और स्वरसाद के साथ रोगी निश्चेष्ट हो जाता है तथा उसको महान् अवसाद और कष्ट होता है ॥ ६ ॥

धातुक्षयजमाह—धात्वित्यादि। धातवो रसादयः क्रियाहीनो निश्चेष्टः; किंवा भृशपीडितो दाहेन क्रियाहीनश्चिकित्साहीनो यदि भवेत्तदा सीदेन्म्रियेत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

विमर्श—'क्रियाहीन' का सामान्य अर्थ तो 'निश्चेष्ट' ही है किन्तु 'उचित चिकित्सा न होना' यह अर्थ भी हो सकता है। इस प्रकार के धातुक्षयज दाह से पीडित रोगी की उचित चिकित्सा नकी जाय तो स्वरसाद होता है और अन्ततः रोगी मर जाता है यह अर्थ भी इस श्लोकार्ध का होता है।

क्षतजं दाहमाह—

(क्षतजोऽनश्नतश्चान्नं शोचतो वाऽप्यनेकधा।
तेनान्तर्दह्यतेत्यर्थं तृष्णा मूर्च्छा प्रलापवान् ॥) (इति क.)

क्षत (व्रण) के कारण अन्न न खाने एवम् अनेक प्रकार का शोक करने से क्षतज दाह होता है। इसमें अन्तर्दाह, अत्यन्त प्यास, मूर्च्छा तथा प्रलाप होता है।

विमर्श—'**वायोर्धातुक्षयात् कोपः**' इसके अनुसार धातुक्षय से वायु की वृद्धि एवं वायु की वृद्धि से पित्त का स्थानापकर्ष होकर दाह की उत्पत्ति होती है।

अत्यधिक रक्तस्रावजन्य, रक्ताल्पताजन्य तथा राजयक्ष्मा के कारण होनेवाला दाह इस श्रेणी में आ जाता है। इनसे होने वाले दाह का कारण भी वातनाडी-सक्षोभ ही है।

मर्माभिघातजं दाहं वर्णयति—

मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः।
सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः ॥७॥ (सु. उ. ४७)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने दाहनिदानं समाप्तम् ॥ १९ ॥

हृदय, बस्ति तथा सिर आदि मर्मों के अभिघात से भी दाह होता है और वह असाध्य होता है। अन्तर्दाह के होते हुए भी शरीर बाहर से शीत रहने पर सभी दाह असाध्य होते हैं ॥

क्षतजमाह-क्षतज इत्यादि। मर्माभिघातजमाह-मर्मेत्यादि। मर्माणि शिरोहृदयबस्त्यादीनि। जेज्जटस्तु सप्तत्वमन्यथा गणयति—'त्वचं प्राप्त' इत्यादिना प्रथमः, 'कृत्स्नदेहानुगं

रक्तम्'—इत्यत्र रक्तस्थाने पित्तं पठित्वा एतदादिना 'स चाप्यस्य विधिः स्मृतः' इत्यन्तेन पैत्तिको द्वितीयः, तृष्णानिरोधजस्तृतीयः, 'असृजः पूर्णकोष्ठस्य' इति चतुर्थः, धातुक्षयजः पञ्चमः, षष्ठस्य तु क्षतजस्य लक्षणं पठति-'क्षतजोऽनश्नतश्चान्नं शोचतश्चाप्यनेकधा। तेनान्तर्दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णादाहप्रलापवान्' इति- मर्माभिघातजस्तु सप्तम इति ॥ ७ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां दाहनिदानं समाप्तम् ॥ १९ ॥

'तत्राभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ॥ (च. चि. ३)

विमर्श—अभिघात से भी वायु की ही वृद्धि होती है। किन्तु उससे प्रायः रक्तदुष्टि भी होती है जैसा कि अभिघातजज्वर के वणन से स्पष्ट है—

सभी प्रकार का अन्तर्दाह प्रायः असाध्य होता है। अन्तर्दाह को भी सुश्रुत ने गम्भीर ज्वर का लक्षण माना है **'गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया'** और चरक ने उक्त लक्षणों से युक्त गम्भीर ज्वर को असाध्य कहा है—

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः। असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः ॥

यहाँ मर्माभिघात से मुख्यतः शिर, हृदय और वस्ति का अभिघात अभीष्ट है और उनसे क्रमशः निखिल शरीर के क्रियावरोध, रस-रक्तसवहन मे बाधा एवं मूत्रावरोध तथा तज्जन्य मूत्रविषमयता से अन्तर्दाह और मृत्यु हो सकती है।

समाप्त चेदं दाहनिदाहम्।

अथोन्मादनिदानम्

उन्मादस्य निरुक्तिमाह—

मदयन्त्युद्धता दोषा यस्मादुन्मार्गमागताः[1] ।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः ॥ १ ॥ (सु. उ. ६२)

प्रवृद्ध दोष उन्मार्गगामी होकर मनोविभ्रम को उत्पन्न करते हैं अतः इस मानस रोग को उन्माद कहते हैं ॥ १ ॥

मदात्यये 'उन्मादमिव चापरम्'—इत्यनेनोन्मादसंकीर्तनमुन्मादसादृश्यं चोक्तं, तथा मदात्ययेऽपि दाहो भवतीति स्वल्पवक्तव्यतया दाहमभिधायोन्मादारम्भः, तस्य निरुक्तिमाह—मदयन्तीत्यादि। मदयन्ति मनोविभ्रमं कुर्वन्ति, उन्मार्गमागता विमार्गमागता मनोवहधमनीरनुप्राप्ताः। उद्धता वृद्धाः, अथवोर्ध्वं हृदयं गताः, एतेनोत्पूर्वेणैव[2] दोषाणां वृद्धत्वं विमार्गगत्वं च दर्शितम् ॥ १ ॥

विमर्श—उत्पादक कारण के अनुसार शास्त्र में रोगों के निज तथा आगन्तुक दो भेद स्वीकार किये गये हैं, **'निजागन्तुविभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः'**। निज व्याधियाँ प्रधानतया शरीरान्तर्गत कारणों से तथा आगन्तुक प्रधानतया बाह्य कारणों से होती हैं। आगन्तुक रोग निज तथा निज रोग आगन्तुक रूप में भी परिवर्तित हो जाते हैं। यथा—**आगन्तुरन्वेति निजं विकारं**

---

१. 'उन्मार्गमाश्रिताः' इति क। २. 'तेन ततःपूर्वेणैव' इति क।

निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः, अथवा—आगन्तुर्हि व्यथापूर्वं समुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यमापादयति, निजे तु वातपित्तश्लेष्माणः पर्व वैषम्यमापद्यन्ते जघन्यं व्यथामभिनिर्वर्त्तयन्ति । (च० सू० २०)

शरीर और मन रूप अधिष्ठान विशेष के भेद से भी रोगों को दो बडे वर्गों (शारीरिक तथा मानसिक) में विभक्त किया गया है। **'तेषां कायमनोभेदादधिष्ठानमपि द्विधा'** । प्राचीन आयुर्वेदीय चिकित्सा-ग्रन्थों में जितना बृहद् वर्णन शारीरिक रोगों का मिलता है उतना मानसिक रोगों का नहीं । मानस रोगों का वर्णन भूतविद्या के नाम से भी यत्र तत्र मिलता है । अथर्ववेद में इस विद्या का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है । शारीरिक रोग प्रधानतया शरीर को आक्रान्त करते हैं, इनके कारण शरीर में अंगीय विकृतियों का प्रत्यक्ष भी होता है । कुछ काल पश्चात इनका प्रभाव मन पर भी पड सकता है । इसके अतिरिक्त मनुष्यों में कुछ ऐसे रोग भी पाये जाते हैं, जिनके होने पर अङ्गों में किसी भी प्रकार की विकृति का प्रत्यक्ष नही होता । ऐसे अपस्मार तथा उन्माद सदृश रोग ही मानसरोग कहलाते है ।

जिस प्रकार शारीरिक रोगों के ज्ञान के लिये शरीर के विविध अङ्गों की प्राकृत रचना व उनके व्यापारों का ज्ञान करना आवश्यक है वैसे ही मानस रोगों का ज्ञान करने के लिए भी मन के प्राकृत स्वरूप को जानना भी अनिवार्य है। प्राकृत स्वरूप को बिना जाने विकृति का निर्दुष्ट ज्ञान करना नितान्त असम्भव है ।

मन व उसका स्वरूप—शरीर तथा इन्द्रियों से भिन्न रहकर भी उनकी सम्पूर्ण क्रियाओं का नियन्त्रणकर्ता एवं आत्मा का करण द्रव्य विशेष ही मन है । यह अपनी क्रियाओं का भी स्वयं ही नियन्त्रण करता है **'इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः'** । (च० शा० १)

आत्मा, इन्द्रिय तथा अर्थ का सान्निध्य होने पर भी ज्ञान की प्रवृत्ति या अप्रवृत्ति का नियमन मन की वहाँ उपस्थिति या अनुपस्थिति के द्वारा ही होता है। मन के उपस्थित रहने पर ज्ञान की उत्पत्ति तथा मन के अनुपस्थित रहने पर ज्ञान का पूर्णतया अभाव रहता है।[1] यह प्रति शरीर में भिन्न, एक शरीर में एक तथा अणु परिमाण का होता है।[2] यदि प्रतिशरीर में भिन्न मन न मानकर सब शरीरों में एक ही व्यापक मन की कल्पना की जाय तब तो एक व्यक्ति के द्वारा अनुभूत विषय का ज्ञान दूसरे को भी होना चाहिये। वस्तुतः ऐसा नहीं होता अतः मन को प्रतिशरीर में भिन्न ही माना गया है। एक शरीर में अनेक मन की कल्पना करना भी अव्यावहारिक है। अनेक मन की कल्पना करने पर एक काल में एक ही क्रिया की निष्पत्ति के नियम के खण्डित होने की आशंका है। वस्तुतः मन एक काल में एक ही क्रिया करता है अतः एक शरीर में एक ही मन की सत्ता स्वीकार करना सैद्धान्तिक होने के साथ व्यावहारिक भी है। महर्षि गौतम को भी ज्ञान के अयौगपद्य या एक समय एक ही ज्ञान की उत्पत्ति के नियम को देखकर ही **'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः'** ऐसा सूत्र बनाना पड़ा। मन की प्रतिशरीर में भिन्नता तथा एकत्व को स्वीकार कर लेने पर भी यदि मन को विभु या महत् परिमाण माना जाय तब भी व्यापक मन का एक ही क्षण मे अनेक इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होने से अनेक ज्ञानों की एक साथ उत्पत्ति होनी चाहिए। किन्तु यह निर्विवाद है कि मन एक काल में एक ही क्रिया करता है अतः मन को विभु न मानकर अणु ही स्वीकार किया गया है। गौतम ने भी इसी

१. लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च । सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न विद्यते । वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते ॥

२. अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ । (चरक शा. १)

आशय से **'यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु'** ज्ञानों के अयौगपद्य हेतु से ही मन को अणु भी माना है। इसके अतिरिक्त मन को अणु न माना जाय तो निद्रा की स्थिति उत्पन्न ही नही हो सकती। मन की इन्द्रियव्यतिरिक्त प्रदेश मे स्थिति का ही दूसरा नाम निद्रा है। परिच्छिन्न वस्तु ही सब जगह से हटकर एक स्थान पर रह सकती है; विभु नही। विभु मन का सब इन्द्रियों से सर्वदा सम्पर्क रहेगा अतः सब कालों में सभी ज्ञानों की उत्पत्ति भी होगी तथा सर्वदा इन्द्रिय-व्यापार रहने से निद्रा की स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती। अणुरूप एक मन के एक क्षण में अनेक इन्द्रियों से सयुक्त न होने के कारण अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति भी एक ही काल मे नही होती एवं परिच्छिन्न मन के इन्द्रिय-व्यतिरिक्त प्रदेश में चले जाने पर निद्रा भी उत्पन्न हो जाती है। एक काल में अनेक क्रियाओं या ज्ञानों की उत्पत्ति की प्रतीति से मन के विभुत्व या अनेकत्व की आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जिस प्रकार अतितीव्र गति से घूमते हुए चक्र का क्रम दिखाई नही पड़ता और जिस प्रकार चित्रपट में तीव्रतम गति से घुमती हुई रील के कारण एक सेकण्ड में अनेक चित्रों को क्रमशः देखते हुये दर्शक को उनका क्रम ज्ञात नही होता है, अपितु वह यही समझता है कि यह सब मै एक साथ ही देख रहा हूँ, उसी प्रकार क्रियाओं या ज्ञानों की शीघ्र प्रवृत्ति के कारण ही उनको क्रमिकता का भान नहीं होता; अपितु यह प्रतीति होती है कि हम एक साथ अनेक कार्य कर रहे हैं। वस्तुतः यह भ्रम है। शब्दार्थ ग्रहण तथा वाक्यार्थ-ग्रहण में भी ज्ञाता यद्यपि वाक्यों में उच्चरित प्रत्येक वर्ण का ज्ञान क्रमशः करने के पश्चात् पद का ज्ञान करता है, पद-ज्ञान की स्मृति के द्वारा पद-समूह के ज्ञान से वाक्य का ज्ञान भी इसी क्रमिक बुद्धि के आधार पर ही करता है तथापि चिरकाल से अभ्यस्त होने के कारण वह इस क्रम का अनुभव न कर सबको एक साथ होता समझता है।

आधुनिक भौतिकवादी भौतिक दृश्य पदार्थों के अतिरिक्त मन या आत्मा जैसे अदृश्यतत्त्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार एककोषीय प्राणी अपने को परिस्थिति के अनुकूल बनाकर विविध उत्तेजनाओं का प्रतिकार करने के लिये तैयार रहता है वैसे ही अनेक कोषाओं के समूह से बना हुआ मानव शरीर भी विविध उत्तेजनाओं का प्रतिकार करने की दृष्टि से अनेक शारीरिक व्यापार भी करता है। इस प्रकार इस शरीर में किसी मन जैसे अदृश्य तत्त्व की सत्ता की कल्पना करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी कथन है कि यदि किसी को मन स्वीकार करने का ही आग्रह है तो मस्तिष्क को ही मन मान लेने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये।

मस्तिष्क को ही मन मानने में हेतु—आधुनिक विज्ञान के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि प्रणालीविहीन ग्रन्थियों के अन्तःस्राव (Internal secretions of ductless glands) नाडीतन्त्र पर विविध प्रकार के प्रभाव उत्पन्न करके विविध भावों की उत्पत्ति कराते हैं। वृषण-ग्रन्थि के अन्तःस्राव को शरीर में प्रविष्ट करने से नाडीतन्त्र पर प्रभाव होकर जीर्णकाय वृद्धों में भी कामवासना की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। इसी प्रकार अधिवृक्क (Suprarenal gland) के अन्तःस्राव के प्रभाव स्वरूप क्रोध की उत्पत्ति होती है। मद्य भी नाडीतन्त्र को उत्तेजित करके विविध भावों को उत्पन्न करता है इसका वर्णन मदात्यय निदान में हो ही चुका है। मस्तिष्क की क्षमता ही बुद्धिमत्ता का भी निदर्शक है। जिसकी मस्तिष्कक्षमता जितनी ही अधिक होती है उसकी बुद्धि भी उतनी ही तीव्र तथा आशुग्राहिणी होती है। उपर्युक्त आधार पर भौतिकवादियों का यह निश्चित मत है कि शरीर के दृश्यमान अगों के अतिरिक्त मन जैसे अदृश्य पदार्थ की कल्पना करना निरर्थक है।

इसके विपरीत आत्मवादियों का कथन है कि मस्तिष्क के रहते हुए भी अतिरिक्त मन की कल्पना करना परमावश्यक है। वस्तुतः यदि मस्तिष्कातिरिक्त मन की सत्ता स्वीकार न की जाय तो एक ही घटना से विभिन्न व्यक्तियों में होने वाली विभिन्नभावोदयता के कारण का स्पष्ट उत्तर देना दुष्कर है। नाटक तथा चित्रपट के विभिन्न दृश्य भिन्न-भिन्न प्रेक्षकों में भिन्न-भिन्न भावों की उत्पत्ति क्यों करते है ? एक शृङ्गार रस से प्रसन्न होता है तो दूसरा उसी से घृणा करता है तथा वह वीररस या अन्य किसी रस से प्रसन्न भी होता है, किसी को नाटक में रुचि ही नहीं होती। इस भिन्न-रुचिता का क्या कारण है ? शुद्ध यन्त्रवाद की सहायता से ऐसे प्रश्नों का उत्तर देना कठिन है। यदि इसमें व्यक्तिगत भावना को कारण माना जाय तब उसका स्वरूप तथा अधिष्ठान भी बताना पडेगा। विविध भावों की उत्पत्ति के कारण प्रणालीविहीन ग्रन्थियों के अन्तःस्रावों को तथा मस्तिष्क को विविध व्यक्तिगत भावों का अधिष्ठान स्वीकार करना भी असंगत होगा। एक ही कारण विभिन्न व्यक्तियों में एक ही ग्रन्थि के स्राव में न्यूनाधिकता उत्पन्न करके कदाचित् एक ही भाव की उत्पत्ति में न्यूनाधिकता तो अवश्य उत्पन्न करा सकता है किन्तु वह नितान्त विपरीत ग्रन्थियों के अन्तःस्राव तथा तज्जन्य विपरीत भावों को कदापि उत्पन्न नहीं कर सकता। मस्तिष्क भी अन्य यन्त्रों के समान जड ही है अतः उसमें इस प्रकार की व्यक्तिगत भावना की कल्पना करना सर्वथा प्रतिकूल है। मस्तिष्क का भी प्रेरक तथा व्यक्तिगत भावना की उत्पत्ति का आधार कोई दूसरा अदृश्य तत्त्व ही है। उसी को प्राचीनों ने मन सञ्ज्ञा प्रदान की है।

भौतिकवादियों के मत का खण्डन करने के लिये नेत्रेन्द्रिय के व्यापार का उदाहरण भी सर्वोत्तम है। प्रकाशविद्या के नियम के अनुसार यह सिद्ध हो चुका है कि यद्यपि दृष्टिवितान (Retina) पर दृश्य पदार्थों का चित्र सदा उलटा ही पड़ता है तथापि हम मनुष्यों तथा दूसरी वस्तुओं को वैसा नही देखते। जडवादियों के कथनानुसार इसका कारण अभ्यास एवं अनुभव बताया जाता है। यदि यह अनुभव या अभ्यास का ही परिणाम है तो पुनः पूर्ववत् उसके भी अधिष्ठान किसी प्रतिसन्धाता या अनुभवों का सग्रह करने वाले को पृथक् स्वीकार करना ही पडेगा। इन अनुभवों का अधिष्ठान मन ही है। इसके अतिरिक्त स्मृति, जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति जैसे व्यापारों का मूल भी मन ही माना जाता है। मन की पूर्ण क्रियाशीलता का ही दूसरा नाम जाग्रत् अवस्था है। किन्तु जब वही परिश्रान्त होकर इन्द्रियव्यतिरिक्त प्रदेश पुरीतति नाडी में प्रविष्ट हो जाता है तो सुषुप्ति की अवस्था उत्पन्न होती है। जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्य की अवस्था ही स्वप्नावस्था है। इस अवस्था में मन का व्यापार अल्पमात्रा में चलता रहता है।

अब यह प्रश्न होना भी स्वाभाविक है कि जब मन ही सब कुछ है तो मस्तिष्क को किस श्रेणी में रखा जाय ? संज्ञाहर औषधियों का प्रयोग करने से मस्तिष्क या नाडीतन्त्र की क्रियाओं के साथ-साथ मन की भी क्रियायें अवरुद्ध हो जाती है अतः मन को भी मस्तिष्क मान लेने में क्या आपत्ति है ? वस्तुतः मस्तिष्क मन नहीं अपि तु मन का साधन या आश्रय है। मस्तिष्क और नाडीसूत्रों द्वारा ही मन के व्यापार होते हैं। ये नाडीसूत्र ही प्राचीनों के अनुसार मनोवाही स्रोत हैं। इस प्रकार मन कर्ता तथा मस्तिष्क और नाडीसूत्र उसके साधन हैं। अतः मस्तिष्क की उत्तमता पर मन की उत्तमता भी निर्भर है।

मन को यदि मस्तिष्क से पृथक् न माना जाय तो एकाग्र चित्त से कार्य करने पर भी अन्य सभी दृश्यमान वस्तुओं का भी ज्ञान होना चाहिये। ज्ञान का अयौगपद्य मन की सत्ता मस्तिष्क से पृथक् मानकर ही सिद्ध किया जा सकता है, मस्तिष्क को ही मन मान लेने से नहीं।

मन के गुण व दोष—प्रकृति के समान मन भी त्रिगुणात्मक ही होता है। प्राकृत अवस्था में इसमें सत्त्व गुण की ही विशेषता रहती है अतः इसका दूसरा नाम सत्त्व भी पड गया है। रज और तम मन के दो दोष हैं **'रजस्तमश्च मनसो द्वौ च दोषावुदाहृतौ'** (च. सू. १)। इन गुणों का प्राबल्य होने पर ही मानसिक व्याधियों की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है।

मन के कार्य व उसकी क्रिया की सम्पन्नता—कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार, तर्क, ध्यान, संकल्प, इन्द्रियों का नियमन तथा अपना भी नियमन आदि मन के कर्म है।[१] अनुभव (Feeling), विवेचन (Thinking) तथा क्रिया (Action) इनसे मानसिक क्रियायें सम्पन्न होती है। मन की ही अवस्थाविशेष का नाम बुद्धि और अहंकार है। इन्द्रियों द्वारा किया गया प्रत्यक्ष मन के पास पहुँचता है। मन उसका हेयोपादेय दृष्टि से विचार करके अहंकार को दे देता है। अहंकार भी 'यह मेरा है' समझकर उसका ग्रहण अथवा परित्याग करने के लिये बुद्धि को सौंप देता है। इस प्रकार वस्तु के ज्ञान में इन्द्रियाँ अप्रधान तथा मन आदि तीनों अन्तःकरण प्रधान माने गये हैं—

सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात्।
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥ (सां० का०)

ये सब क्रियायें मन के सत्त्वगुण की प्रकृतिस्थता पर ही निर्भर हैं। सत्त्वगुण की कमी तथा रज और तम की अधिकता से मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। मानसिक व्याधियों में उन्माद का महत्त्व सर्वाधिक है अतः प्रकृत में उसी का वर्णन किया जा रहा है।

वात आदि दोष विकृत होकर जब मनोवाही स्रोतस् (वातनाडी तन्त्र) में पहुँचते हैं तो उसके सत्त्वगुण का ह्रास एवं रज और तमोगुण की वृद्धि करके मनोविभ्रम या उन्माद रोग को उत्पन्न करते हैं। उन्माद किनको और क्यों होता है इसका विवेचन आगे यथास्थान किया ज यगा। सम्प्रति उन्माद की संक्षिप्त परिभाषा के विषय में यिचार करते हैं।

निष्प्रयोजन तथा उच्छृङ्खल प्रवृत्ति का ही दूसरा नाम उन्माद है। प्राकृत अवस्था में मनुष्य प्रत्येक कार्य किसी प्रयोजन से ही करता है, विना प्रयोजन अल्पबुद्धि व्यक्ति की भी प्रवृत्ति नहीं होती। **'नहि प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि प्रवर्तते'** इस उक्ति से सभी क्रियायें सप्रयोजन होती हैं। प्राचीनों ने प्राणैषणा (जीवित रहने की इच्छा), धनैषणा (प्राणों की रक्षा के साधन धन की इच्छा) तथा परलोकैषणा (परलोक में सुख की इच्छा=स्वर्ग और मोक्ष) इन तीनों को ही प्रवृत्ति का कारण या प्रयोजन माना है। इन तीनों में से किसी के रहने पर ही मनुष्य किसी वस्तु के ग्रहण या परित्याग की ओर प्रवृत्त होता है। कतिपय आधुनिक विद्वानों ने प्राणैषणा (Instinct of self preservation), कामैषणा (Sexual instinct) तथा वर्गैषणा (Herd instinct) को प्रवृत्ति का कारण माना है। वर्गैषणा का अन्तर्भाव परलोकैषणा या धर्मैषणा में किया जा सकता है। वस्तुतः मनुष्य अपने हित के साथ समाज के हित का भी ध्यान रखता है, इस प्रकार धर्म मनुष्य जाति का अनिवार्य अंग है। धार्मिक प्रवृत्तियों का मूल परलोकैषणा ही है। ये सभी एषणायें तथा प्रकृतियाँ प्रायः माता-पिता के गुणों के अनुसार सन्तान में आती हैं। वृत्त तथा सदाचार आदि गुण जातोत्तर काल में शिक्षण के अनुसार होते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त एषणाओं से रहित होकर कार्य करने की अव्यवस्थित प्रवृत्ति को ही उन्माद

---

१. चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च। यत् किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं, तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च ········ ········ ······· ॥
(च० शां० १)

कहते हैं। व्यर्थ ही तिनके तोडना व उनका चर्बण करना, भूमि कुरेदना आदि छोटे-छोटे कार्य भी निष्प्रयोजन कर्म की श्रेणी में आने से मानसरोग या उन्माद के द्योतक हैं। क्रोध, लोभ. आदि भी सामयिक पागलपन ही है। विचार करने से ज्ञात होगा कि स्वस्थ की परिभाषा के अनुसार[1] जिस प्रकार पूर्ण स्वस्थ शरीर वाले मनुष्य समाज में अत्यल्प हैं वैसे ही समाज का बहुत कम अंश ऐसा है जो मानस रोगों से पूर्णतः मुक्त है। शारीरिक रोगों की अपेक्षा मानस रोगों का अनुपात अधिक ही है। किन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि शास्त्रों में शारीरिक रोगों का विशद वर्णन होने से उनको पहिचानने में अधिक सौकर्य होता है। इसके विपरीत साधारण अवस्था में मानस रोग का ज्ञान नहीं होने पाता अपितु जब वह उग्ररूप धारण करता है तब हम उसको पागलपन की संज्ञा देते हैं। तात्त्विक दृष्टि से वह बहुत पूर्व ही प्रारम्भ हो जाता है। मानसिक रोग शारीरिक रोगों की अपेक्षा अधिक भयंकर एवं बद्धमूल हो जाने पर असाध्य भी अधिक होते हैं। इसके अतिरिक्त मानसिक व्याधियों में शारीरिक व्याधियों की अपेक्षा वंश-परम्परा में चलने की भी अधिक प्रवृत्ति रहती है।

उन्मादस्य भेदान् निरूपयति—

एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
मानसेन च दुःखेन स च पञ्चविधो मतः ॥ २ ॥
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम् ।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च ॥ ३ ॥ (सु. उ. ६२)

अति कुपित वात, पित्त और कफ अलग-अलग, मिलित तीनों दोष, मानसिक दुःख तथा विष से उत्पन्न होने के कारण छः प्रकार का उन्माद होता है। उन्माद की प्राथमिक (अस्पष्ट) अवस्था को मद भी कहते हैं ॥ २–३ ॥

प्रकारभेदमाह—एकैकश इत्यादि। मानसेन च दुःखेनेति शोकादिना। स चेति षड्विधोऽपि। अप्रवृद्धपदमुपादायापि तरुणपदप्रयोगं कुर्वता सुश्रुतेन **स्वतन्त्रोऽपि दोषजनितो मदो भवतीति दर्शितम्। अत एव** चरके **विधिशोणितकीयाध्याये** (च. सू. अ. २४) **उन्मादात्पृथगेव पठितः सनिदानचिकित्सित इति ॥ २–३ ॥**

विमर्श—यह कहा जा चुका है कि शारीरिक व्याधियाँ मानसिक तथा मानसिक व्याधियाँ शारीरिक रूप में भी परिवर्तित हो जाती हैं। इसी आधार पर उन्माद भी स्वतन्त्र या प्राथमिक (Primary) तथा उपद्रवस्वरूप या द्वितीयक (Secondary) दो प्रकार का होता है। वात आदि शारीरिक दोष तथा विष का मन पर प्रभाव पड़ने से जो उन्माद होता है उसे द्वितीयक उन्माद कहते हैं, किन्तु मानस दुःखजन्य उन्माद प्राथमिक ही कहलाता है। चरक ने मद को उन्माद की पूर्वकालीन ही अवस्था न मानकर विधिशोणितीय अध्याय में मद को स्वतन्त्र रोग भी मानकर चार प्रकार का बताया है[2]। इसके अतिरिक्त चरक ने विषजन्य तथा मानसिक दुःखजन्य उन्माद का आगन्तुक में अन्तर्भाव करके उन्माद के पाँच ही भेद माने हैं—**पञ्चोन्मादाः, वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्ताः** (च० सू० १९)

---

१. समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥
२. 'चत्वारो मदाः, वातपित्तकफसन्निपातनिमित्ताः'। (च० सू० १९)

उन्मादस्य सामान्यहेतुमाह—

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् ।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥ ४ ॥

(च. चि. १४)

विरुद्ध (संयोगादिविरुद्ध) दुष्ट तथा अपवित्र भोजन करने से, देवता, गुरु या माता-पिता आदि और ब्राह्मणों का अपमान करने से, तथा शरीर की विषमचेष्टाओं के कारण अत्यधिक भय या अत्यधिक हर्ष से प्रभावित मन पर आघात लगने से उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है ॥ ४ ॥

सामान्यहेतुमाह—विरुद्धेत्यादि । दुष्टं गरसहितमन्नादि । प्रधर्षणं 'धृष' प्रधर्षणे, इत्यस्मात् प्रधर्षणमभिभवः । भयहर्षपूर्वो मनोभिघात इति भयहर्षाभ्यां मनसोऽभिभवः, भयहर्षपूर्व इति भयं हर्षो द्वौ वा पूर्वं यस्य स तथा, पूर्वशब्दोऽत्र कारणवाची; चकारोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः, तेन कामक्रोधलोभादयोऽपि कारणमिति जेज्जटः । **अन्ये** त्वाहुः-**क्रोधादिभिरपि भयहर्षपूर्वक एव भवतीति, तेन तौ निर्दिष्टौ । विषमाश्च चेष्टा इति । विषमाङ्गन्यासबलवद्विग्रहादय उन्मादहेतव इति योज्यम्** ॥ ४ ॥

विमर्श—विरुद्ध आदि भोजनों से साक्षात् मन के सत्त्वगुण का ह्रास होने से उन्माद की उत्पत्ति होती है । तिरस्कृत हुए देवता तथा गुरुजन दुःखी होकर यदि इस प्रकार का शाप दे दें तब भी मनुष्य पागल हो सकता है; क्योंकि उनकी वाणी में इस प्रकार की शक्ति निहित रहती है यह भवभूति के निम्न कथन से सिद्ध है—

लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्त्तते । ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति ॥

कभी अधिक हर्ष और कभी अधिक दुःख से भी उन्माद रोग की उत्पत्ति देखी गयी है। भय और हर्ष से काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा शोक जैसे मानसिक भावों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये; क्योंकि इनकी अत्यधिकता भी उन्माद की जननी है। इनके अतिरिक्त स्वभाव या शिक्षणाभाव, भावप्रतिक्रिया (Emotional reflexes) तथा घटनाजन्य प्रतिक्रिया (Conditional reflexes) भी उन्माद के हेतु हैं। मन की स्वाभाविक दुर्बलता भी उन्माद का कारण है। कुछ शारीरिक रोगों से शरीर के दुर्बल हो जाने के पश्चात् मन भी दुर्बल हो जाता है एवं मानसिक रोगों की उत्पत्ति तथा शारीरिक रोगों को वृद्धि होती है। उपर्युक्त कारणों से मन हीनसत्त्व हो जाता है तथा मनुष्य की प्रवृत्तियों के उच्छृङ्खल एवं निष्प्रयोजन होने से उन्माद रोग उत्पन्न होता है। घटनाजन्य प्रतिक्रिया का एक ज्वलन्त उदाहरण भी है—एक स्त्री का पति युद्धक्षेत्र में मारा गया जिसकी सूचना उसे टेलीफोन के द्वारा दी गई। इसके बाद टेलीफोन की घण्टी बजने की आवाज से वह सदा मूर्च्छित हो जाती थी। इसी प्रकार उन्माद की भी उत्पत्ति हो सकती है।

उन्मादस्य सम्प्राप्तिमाह—

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥ ५ ॥

(च. चि. १४)

अपने अपने कारणों से प्रकुपित हुए वात आदि दोष सत्त्वगुण की कमी वाले अथवा दुर्बल मन

वाले मनुष्य के बुद्धि के निवास-स्थान हृदय को दूषित करके तथा मनोवाही स्रोतों में व्याप्त होकर मनुष्य के चित्त को भ्रान्तियुक्त या उन्मत्त कर देते हैं ॥ ५ ॥

संप्राप्तिमाह—तैरित्यादि । तैरुक्तहेतुभिः । अल्पसत्त्वस्य अल्पसत्त्वगुणस्येति चक्रः, जेज्जटस्त्वाह—**सत्त्वं मनः, तस्य चाल्पत्वं रजस्तमोभ्यामावृतत्वेनाल्पज्ञानजनकत्वात् । मला वातादयः । बुद्धेर्निवासं हृदयमित्यनेन हृदयस्याश्रयस्य दुष्ट्या तदाश्रितज्ञानस्यापि दुष्टिर्भवतीति दर्शयति । स्रोतांसि मनोवहानीति । हृदयाश्रिता दश धमन्यः; एतच्च विशेषेण बोध्यं, निखिलदेहस्रोतसामेव मनोऽधिष्ठानत्वेन चरके दर्शितत्वात् । अधिष्ठाय व्याप्येत्यर्थः ॥ ५ ॥**

विमर्श—हृदय शब्द से साधारणतया मांसपेशी के बने हुए वक्षःस्थ रक्त के थैले का ही ग्रहण होता है । किन्तु **'बुद्धेर्निवासम्'** इस विशेषण पद से यह स्पष्ट है कि प्रकृत में पेशीमय हृदय का ग्रहण न करके बुद्धि के निवास आज्ञाचक्रान्तराल में रहने वाले ब्रह्महृदय (Fourth ventricle of brain) का ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि यहाँ उन्माद का अधिष्ठान है । इस प्रकार यहाँ हृदय से मस्तिष्क का ही ग्रहण होता है । चरक तथा सुश्रुत ने जो मन तथा मनोवाही दस धमनियों का स्थान हृदय को कहा है वह भी मस्तिष्क ही है; क्योंकि उसी से मनोवाही धमनी के बारह जोडे (Twelve pairs of caranial nerves) निकलते हैं, मासपेशीमय हृदय से नहीं । इसके अतिरिक्त महर्षि भेल ने भी मस्तिष्क को ही मन का स्थान बताया है—

शिरस्तात्वन्तरगतं सर्वेन्द्रियपरं मनः । तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान् ।
समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावाँश्च नियच्छति । तन्मनः प्रभवं चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम् ॥
(भे० स० चि०)

योगीजन भी मस्तिष्क को ही मन का स्थान मानते हैं—**'एतत्पद्मान्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्'** । श्री कविराज गणनाथसेनजी भी मन का अधिष्ठान मस्तिष्क या ब्रह्म हृदय को ही मानते हैं—**'आज्ञाचक्रं नाम आज्ञाकन्दद्वयवेष्टितो ब्रह्मगुहांशः, तन्मनसोऽधिष्ठानमिति योगिनः'** (प्र० शा० तृ० ख० अ० १२) (इस विषय का विवेचन पीछे मूर्च्छादि-निदान में भी हो चुका है अतः वहाँ भी देखिए ।)

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि चूंकि उन्माद में प्रधान विकृति मन की होती है, और मन का अधिष्ठान मस्तिष्क है अतः बुद्धि के निवास हृदय से मस्तिष्क का ही ग्रहण करना चाहिये । चरक ने भी शिर या शिरःस्थ मस्तिष्क को सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिष्ठान तथा प्राणों का आश्रय भी स्वीकार किया है—

'प्राणाः प्राणभृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च । यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शिरस्तदभिधीयते ॥'

मनोवाही स्रोत शब्द से कुछ लोग संयोजक नाडीतन्तु (Association fibres) का ग्रहण करते हैं । वस्तुतः प्राच्य दृष्टिकोण से सम्पूर्ण नाडीतन्तु ही मनोवाही स्रोतस माना जाता है, क्योंकि चरक ने **'तद्वद्वतीन्द्रियाणां सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च'** के द्वारा सम्पूर्ण चेतन शरीर को ही मनोवह स्रोतस् का अधिष्ठान माना है । वस्तुतः मन का कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण शरीर है अतः मन का वहन करने वाले नाडीसूत्र भी शरीर के प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग में भी व्याप्त रहते हैं ।

मन और बुद्धि के आश्रय मस्तिष्क के दूषित होने से मस्तिष्क के आश्रित रहने वाली बुद्धि भी दूषित हो जाती है जिससे उन्माद रोग उत्पन्न होता है ।

उन्मादस्य सामान्यरूपं निरूपयति—

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ ६ ॥

(च. चि. ९)

बुद्धि मे भ्रम का होना, मन की चंचलता, आँखो को चुराना या व्यर्थ ही इतस्ततः देखना, धैर्य का अभाव, असम्बद्ध प्रलाप करना तथा हृदय की शून्यता या आत्मज्ञान का अभाव ये उन्माद रोग के सामान्य लक्षण है ॥ ६ ॥

सामान्यरूपमाह—धीविभ्रम इत्यादि । एतत् सामान्यं पूर्वरूपमिति जेज्जटः, **सामान्यरूपमिति** चक्रः । **धीविभ्रमो भ्रान्तज्ञानत्वम् । सत्त्वपरिप्लवो मनसश्चञ्चलत्वम् । अधीरता कातरत्वम् । अबद्धवाक्त्वमसंबद्धवचनत्वम् । लिङ्ग्यतेऽनेनेति लिङ्गं, तेन पूर्वरूपं रूपं चेति व्याख्यातम् ॥ ६ ॥**

विमर्श—कतिपय विद्वान् इसे उन्माद का पूर्वरूप मानते हैं वस्तुतः यह उन्माद का रूप ही है। उन्मादपीडित रोगी को बुद्धि तथा स्मृति-विभ्रम हो जाता है जिससे वह किसी निश्चित कार्य को न करके अस्थिर चित्त से निष्प्रयोजन परस्पर असम्बद्ध क्रियाये किया करता है। रोगी को अपने स्वरूप का समुचित ज्ञान नहीं रहता। वह कर्तव्य को अकर्त्तव्य तथा अकर्तव्य को कर्तव्य समझता है। हित एवं अहित में अन्तर नही कर सकता। रोगी को व्यर्थ ही अनेक प्रकार की शंकाये रहा करती हैं। उन्माद का रोगी आँखें भी चुराता है। उसे सुख, दुःख, आचार, धर्म आदि का भी ज्ञान नहीं रहता[१]।

ससम्प्राप्तिकं वातिकमुन्मादं लक्षयति—

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः ।
चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥ ७ ॥
अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि ।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥ ८ ॥

(च. चि. ९)

रूक्ष, अल्प तथा शीत अन्न के निरन्तर सेवन, विरेचन, धातुक्षय तथा उपवास से बढा हुआ वायु चिन्ता आदि मानसिक कारणों से पहिले से ही विकृत हृदय (मस्तिष्क) को और अधिक दूषित करके बुद्धि तथा स्मृति का भी विनाश कर देता है। इससे रोगी निष्प्रयोजन ही हँसता है, मुस्कुराता है, नाचने लगता है, गाना प्रारम्भ कर देता है, विना मतलब बकवास करता है तथा हाथ-पैर आदि को इतस्ततः चलाता है और कभी-कभी रोने भी लगता है। उसका शरीर रूक्ष तथा अरुण वर्ण का हो जाता है तथा भोजन का परिपाक हो जाने के पश्चात् इसका दौरा प्रबल रूप धारण करता है ॥ ७-८ ॥

वातजमाह—रूक्षेत्यादि । विरेकशब्देनात्र वान्तिरप्यभिधीयते, विरेचयति देहान्मलं पृथक्करोतीति व्युत्पत्त्या । अस्थानहासेत्यादि । अस्थानेऽविषये हासोऽस्थानहासः; एव-

१. स मूढचेता-न सुखं न दुःखं नाचारधर्मौ कुत एव शान्तिम् ।
विन्दत्यपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञो भ्रमत्ययं चेत इतस्ततश्च ॥ (च. चि. ०)

मस्थानशब्दः स्मितादिषु प्रयोज्यः । स्मितमीषद्धासः । अङ्गविक्षेपो विरुद्धचेष्टा । जीर्णे बलमिति । जीर्णे आहारे व्याधेर्बलं भवति ॥ ७-८ ॥

विमर्श—वातिक उन्माद के रोगी में हिंसा की प्रवृत्ति प्रायः नहीं पायी जाती । विरेक शब्द से वमन तथा अन्य सभी शोधनों के अतियोग का ग्रहण करना चाहिये । चिन्ता से वात की वृद्धि करने वाले शोक, भय तथा काम का भी बोध होता है । धातुओं के क्षीण होने से रोगी का वर्ण ईषत्पीत रक्त रहता है । सुश्रुत के अनुसार भी वातिक उन्माद के प्रायः ये ही लक्षण माने गये है—

रूक्षच्छविः परुषवाग् धमनीततो वा शोकातुरः कृशतनुः स्फुरिताङ्गसन्धिः ।
आस्फोटयत्यटति गायति नृत्यशीलो विक्रोशति भ्रमति चाप्यनिलप्रकोपात् ॥

पैत्तिकमुन्मादं वर्णयति—

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम् ।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥ ९ ॥
अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः सन्तर्जनातिद्रवणौष्ण्यरोषाः ।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥१०॥
(च. चि. ९)

अजीर्ण एवं चरपरे, खट्टे, विदाही तथा अति उष्ण पदार्थों के अधिक सेवन से बढा हुआ पित्त जब दुर्बल मन वाले व्यक्ति के मस्तिष्क में पहुँच कर चिन्ता तथा क्रोध जैसी मानसिक विकृतियों से युक्त मस्तिष्क को पूर्वापेक्षया अधिक दूषित करके बुद्धि और स्मृति को नष्ट कर देता है तब रोगी में असहिष्णुता तथा क्रोध की प्रवृति आ जाती है और वह अपने वस्त्र उतार कर नग्न हो जाता है तथा क्रुद्ध होकर लोगों को धमकाता है और उनके पीछे मारने को दौडता है। रोगी उष्णता से पीडित रहता है तथा छाया में बैठना व शीतल जल और भोजन की अभिलाषा प्रकट करता है, रोगी का रङ्ग पीला पड़ जाता है। उपर्युक्त लक्षणों से पैत्तिक उन्माद का ज्ञान होता है ॥ ९-१० ॥

पित्तजमाह-अजीर्णेत्यादि। अशीतैरिति उष्णैः। उन्मादमत्युग्रमिति । अत्युग्रं तीव्रवेगम्, 'उन्मादयत्युग्रम्' इति पाठान्तरे उग्रं यथा भवति तथोन्मादं जनयति । अनात्मकस्य अनात्मवतः । पूर्ववदिति । चिन्तादिदुष्टहृदयस्य बुद्ध्यादिकमुपहत्येत्यादिसंप्राप्त्या । कुर्यादिति । वक्ष्यमाणं लिङ्गमिति शेषः । अत्र पक्षे किं तल्लिङ्गमित्याह—अमर्षेत्यादि । अमर्षोऽसहिष्णुत्वं, न तु रोषः; तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । संरम्भ आरभटी; विनग्नभावो नग्नत्वम् । संतर्जनं परित्रासनम्, अतिद्रवणं पलायनम्, औष्ण्यं गात्रस्य; औष्ठ्यमिति पाठान्तरे विकृतौष्ठत्वम् । प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाष इति छायायां शीतयोरन्नजलयोश्चाभिलाषः ॥ ९-१० ॥

विमर्श—अत्यधिक उष्णता के कारण ही रोगी वस्त्र उतारकर नग्न हो जाता है। पित्तोन्माद के कारण रोगी में हिंसा की भी प्रवृत्ति रहती है। इस अवस्था को (Acute delirious mania) कहते हैं।

सुश्रुत ने दिन में तारादर्शन, निद्रानाश जैसे कुछ विशेष लक्षण माने हैं—

तृट्स्वेददाहबहुलो बहुभुग्विनिद्रश्छायाहिमानिलजलान्तविहारसेवी ।
तीक्ष्णो हिमाम्बुनिचयेऽपि स वह्निशङ्की-पित्ताद्दिवा नभसि पश्यति तारकाश्च ॥

कफजमुन्मादमाह—

संपूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि संप्रदुष्टः ।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन् संजनयेद्विकारम् ॥ ११ ॥
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा । (च. चि. ९)
छर्दिश्च लाला च बलं च भुक्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात् ॥

अत्यधिक सन्तर्पण (अति स्निग्ध आदि) भोजन करने वाले तथा पूर्णतया निष्क्रिय व्यक्ति का पित्तसहित विकृत कफ मस्तिष्क में स्थिर होकर बुद्धि और स्मृति को नष्ट करके मनोविभ्रमपूर्वक उन्माद रोग को उत्पन्न कर देता है। इसमें रोगी बहुत कम बोलता है तथा अन्य चेष्टायें भी कम करता है। भूख नहीं लगती, स्त्री के साथ अथवा एकान्त में बैठना पसन्द करता है। निद्रा भी बहुत आती है, लालास्राव तथा कभी-कभी वमन भी होता है। इसका वेग भोजन करते ही प्रबल होता है। रोगी का नख, नेत्र, मूत्र तथा सम्पूर्ण शरीर श्वेतवर्ण का हो जाता है ॥ ११–१२ ॥

कफजमाह—संपूरणैरित्यादि। मन्दविचेष्टितस्य आयासशून्यस्य। संपूरणैर्भोजनादिभिः, कफो दुष्ट इति संबन्धः। सोष्मा सपित्तः। कफेनापि क्रियमाण उन्मादोऽवश्यं सपित्तेन 'क्रियते व्याधिमहिम्ना, यथा मूर्च्छा। अन्ये त्वाहुः—केवलकफेनापि क्रियते, सोष्मपदेन तु द्वन्द्वजोऽपि भवतीति सूच्यते। अन्ये त्वाहुः—उष्मशब्देन शक्तिरुच्यते, तेनोत्कृष्टशक्तिकः कफ इत्यर्थः। मर्मणीति हृदये। विकारमुन्मादम्। वागित्यादि। नारीविविक्तप्रियतेति। नारीप्रियता विजनप्रियता च। बलं च भुक्ते इति। 'व्याधेः' इति शेषः। नखादीत्यादिशब्देन त्वङ्मूत्रनेत्रादीनां ग्रहणम् ॥ ११–१२ ॥

विमर्श—मेदोरोग के समान कफज उन्माद में कफ के साथ पित्त का भी प्रकोप रहता है। कतिपय आचार्यों का कथन है कि द्वन्द्वज उन्माद का निदर्शन कराने के लिये ही सोष्म शब्द का उपादन किया गया है। अथवा ऊष्मा शब्द शक्ति का द्योतक मानकर सबल कफ उन्माद को उत्पन्न करता है-यह अर्थ भी करते हैं। कफज उन्माद रोगी की मन्द चेष्टता आदि अवसाद के द्योतक हैं अतः इसे Melancholia कह सकते है।

सान्निपातिकमुन्मादं लक्षयति—

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात् ।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥ १३ ॥
(च. चि. ९)

त्रिदोषज उन्माद अत्यन्त भयङ्कर होता है। उसकी उत्पत्ति तीनों दोषों के अनेक उत्पादक हेतुओं से होती है। इसमें तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं। यह विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य होता है ॥ १३ ॥

सान्निपातिकमाह—य इत्यादि। सर्वैः समस्तैरिति कृत्वाऽपि यत् समस्तैरिति करोति तेनैवं बोधयति—वातादयोऽनेकैः स्वनिदानैः कुपिता उन्मादं जनयन्ति, नतु प्रत्येकमेकनिदानकुपिताः। विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्य इति। अयमभिसन्धिः-त्रिदोषजे प्रत्येकं वातादिप्रत्यनीका क्रिया कार्या, सा च परस्परविरोधिनी, त्रिदोषहरं च किंचिदेव द्रव्यमामलक्यादि, तत्तु नात्र यौगिकं, 'न हि सर्वाणि सर्वत्र यौगिकानि भवन्ति' इति वचनात्। ननु,

यद्येवं तदा सर्व एव हि त्रिदोषजविकारा असाध्या भवेयुरित्यत उक्तं—तादृगिति। कोऽप्ययं संप्राप्तिविशेषो रोगविशेषो वा, येनायं विरुद्धभैषज्यविधिर्न तु सर्व इत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः—सर्वैः समस्तैर्हेतुभिर्यः कृतः स एवासाध्यः, न त्वल्पहेतुकृत इति ॥ १३ ॥

विमर्श—प्रायः सभी त्रिदोषज व्याधियाँ कष्टसाध्य या असाध्य होती हैं, क्योंकि त्रिदोषज व्याधि में भी वात आदि के विरुद्ध ही चिकित्सा की जाती है एवं वह परस्पर विरुद्ध होती है। अर्थात् वातहर उपाय कफ-पित्तवर्द्धक तथा कफहर उपाय वातपित्तवर्द्धक होता है। एक की चिकित्सा से दूसरे की वृद्धि होती है। द्रव्यों की शक्ति भी परिमित है अतः आँवले जैसे बहुत कम द्रव्य हैं जो तीनों दोषों पर कार्य करते हैं। इसके अतिरिक्त दोष के साथ-साथ व्याधि का भी ध्यान रखना पडता है। सभी त्रिदोषशामक द्रव्य प्रत्येक त्रिदोषज व्याधि में कार्यकर नहीं होते। इस प्रकार विरुद्धोपक्रम तथा चिकित्सा के लिये उपयोगी द्रव्यों के अभाव से त्रिदोषज उन्माद असाध्य माना गया है। सम्पूर्ण हेतु तथा लक्षणों से युक्त तथा विरुद्धोपक्रम सभी व्याधियाँ असाध्य होती हैं। किन्तु जिन त्रिदोषज व्याधियों में सम्पूर्ण हेतु और लक्षण नहीं होते, एवं जिनके नाशक द्रव्यों की प्रचुरता है वे साध्य भी होती हैं।

शोकादिमानसिकभावजन्यमुन्मादं निरूपयति—

चोरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यैर्वित्रासितस्य धनबान्धवसंक्षयाद्वा ।
गाढं क्षतेमनसि च प्रियया रिरंसोर्जायेत चोत्कटतमो मनसो विकारः ॥
चित्रं ब्रवीति च मनोऽनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति चापि मूढः । (सु. उ. ६२)

चोरों, राजपुरुषों (पुलिस आदि), शत्रुओं तथा अन्य हिंसक जन्तुओं से भयभीत होने के कारण, धन तथा परिवार के नष्ट हो जाने से अथवा अपनी प्रिया के साथ रमण करने की अत्युत्कट इच्छा होने पर उसकी अप्राप्ति से मनमें गम्भीर आघात हो जाता है जिससे भयङ्कर उन्माद रोग की उत्पत्ति होती है। इससे पीडित रोगी विचित्र बातें करता हुआ कभी-कभी मन की छिपी हुई बातों को भी कह डालता है। रोगी कभी गाता है, कभी हँसता है तथा कभी रोता भी है ॥१४॥

शोकादिजमाह—चोरैरित्यादि। क्षते उपहते, प्रियया रिरंसोः कामुकस्य, अप्राप्तया प्रियया क्षते मनसीति संबन्धः। तस्य लक्षणमाह—चित्रमित्यादि। चित्रं विविधम्। मनोऽनुगतं गोप्यमपि। विसंज्ञो विपरीतज्ञानः, अत एव मूढः ॥ १४ ॥

विमर्श—आदि शब्द से शोक के साथ अत्यन्त भय तथा काम आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। कभी-कभी कोई अत्यधिक हर्ष से भी पागल हो जाते है अतः हर्ष भी इसी श्रेणी मे समाविष्ट हो जाता है। जिन लोगों का मन अत्यन्त दुर्बल होता है उन्हीं को उक्त कारणों से उन्माद होता है। जिस प्रकार के कारण से उन्माद की उत्पत्ति होती है रोगी प्रायः उसी के सम्बन्ध को बातें करता है।

विषजन्यमुन्मादमाह—

रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः
श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेद्विसंज्ञः ॥ १५ ॥

(धत्तूर आदि विष का सेवन अथवा मद्यपान करने से भी मनुष्य उन्मत्त हो जाता

इसमें रोगी की आँखें लाल रहती है, बल (ओज), इन्द्रियशक्ति तथा कान्ति क्षीण हो जाती है। वह दीन हो जाता है, चेहरे का रङ्ग नीला पड जाता है, रोगी बेहोश भी हो जाता है ॥ १५ ॥

विषजमाह—रक्तेक्षण इत्यादि। हतबलेन्द्रियभा इति। हतं बलमिन्द्रियाणि भाश्च यस्य स तथा। भा दीप्तिः ॥ १५ ॥

विमर्श—डल्हणाचार्य के अनुसार विष से दूषीविष[1] का ग्रहण करना चाहिये। वस्तुतः धत्तूर के फल खाने से कुछ काल में ही उन्माद के समान लक्षण होने लगते हैं। अतः धत्तूर को उन्मत्त तथा महामोही भी कहते है। सुल्फा तथा गाँजा भी अधिक पीने से उन्माद हो जाता है।

उन्मादस्यासाध्यलक्षणं निरूपयति—

अवाञ्ची[1] वाप्युदञ्ची वा क्षीणमांसबलो नरः।
जागरूको ह्यसंदेहमुन्मादेन विनश्यति ॥ १६ ॥ (सु. सू. ३४)

जिस रोगी का बल और मास क्षीण हो गया हो तथा जिसका मुख सदा नीचे या ऊपर की ओर ही रहे, जिसको निद्रा भी बिल्कुल न आये, ऐसा उन्मादका रोगी निश्चयपूर्वक मर जाता है ॥

असाध्यलक्षणमाह—अवाञ्चीत्यादि। अवाञ्ची अधोमुखः, उदञ्ची ऊर्ध्वमुखः, अत एवान्ये 'अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा' इति पठन्ति। जागरूकोऽनिद्रः ॥ १६ ॥

विमर्श—ऊर्ध्वमुखता तथा अधोमुखता सम्भवतः क्रमशः उत्तेजना तथा अवसाद के निदर्शक हैं और इनकी अतितीव्रता असाध्यता प्रगट करती है।

भूतोन्मादस्य सामान्यं लक्षणमाह—

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥ १७ ॥
(च. चि. ९)

जिस व्यक्ति की वाणी, पराक्रम, शक्ति एवं चेष्टायें मनुष्यों से अधिक एवं विचित्र हों, जो अमानव ज्ञान, विज्ञान तथा बल आदि से युक्त हो एवं उन्माद का वातज आदि के समान निश्चित समय न हो ऐसे रोगी के उन्माद को भूतोत्थ या भूतजन्य उन्माद कहते हैं ॥ १७ ॥

भौतिकोन्मादस्य सामान्यलक्षणमाह—अमर्त्यवागित्यादि। अमर्त्या अमनुष्या अनुचिता वा वागादयो यस्य स तथा। विक्रमः पराक्रमः, वीर्यं शक्तिः, चेष्टा शारीरिकी क्रिया। ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिरित्युपलक्षणे तृतीया। ज्ञानं तत्त्वज्ञानं, विज्ञानं शिल्पादि ज्ञानं; किंवा ज्ञानं शास्त्रज्ञानं विज्ञानं तदर्थनिश्चयः; आदिशब्देन स्मृत्यादीनां ग्रहणं, तेषां बलम्। अनियत इति न वातजादिवदाहारजीर्णादिकालवत् कालनियमः। नियत इति

---

१. यत्स्थावरं जङ्गमकृत्रिमं वा देहादशेषं यदनिर्गतं तत्।
जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा।
स्वभावतो वा गुणविप्रहीणं विषं हि दूषीविषतामुपैति।
वीर्याल्पभावान्न निपातयेत् तत् कफावृतं वर्षगणानुबन्धि ॥ सु० क०

---

१. 'अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा' इति पाठः।

पाठे तु वक्ष्यमाणनियततिथ्यादीनां ग्रहणं, देवग्रहाः पौर्णमास्यामित्यादि। भूतशब्देनात्र सर्व एव वक्ष्यमाणा देवादयोऽभिधीयन्ते ॥ १७ ॥

विमर्श—भूतोन्माद से चरकोक्त देवोन्माद, गन्धर्वोन्माद आदि सम्पूर्ण आगन्तुक उन्मादों का ग्रहण हो जाता है। आयुर्वेद ने शारीरिक रोगों का कारण वात, पित्त और कफ तथा मानसिक रोगों का कारण रज और तम को मानकर रोगोत्पत्ति तथा उसकी चिकित्सा की व्यवस्था का भी वर्णन किया है। जिन अवस्थाओं में विचित्र लक्षणों की उत्पत्ति दृष्टिगोचर होने से त्रिदोषवाद या रज और तम की उपपत्ति उपलब्ध नहीं हो सकती उन सभी अवस्थाओं का कारण उन्होंने भूत-पिशाच सदृश इन्द्रियातीत तत्त्वोंको स्वीकार किया है। भूत, पिशाच आदि की सत्ता का विषय आज भी विवादास्पद बना हुआ है। यदि इनकी सत्ता को स्वीकार भी कर लिया जाय तब भी उन्हीं को रोगोत्पत्ति का साक्षात् कारण तो नहीं माना जा सकता; क्योंकि महर्षि चरक ने स्पष्ट रूप से कहा है कि—देवता, गन्धर्व, राक्षस आदि किसी को भी जबतक कि कोई अनुचित कार्य कर वह अपने को इसका पात्र नहीं बना लेता अकारण पागल नहीं बना सकते। जैसे कोई किसी को गाली देता है तब दूसरा उसे मारता है। यहां गाली देने वाला मार खानेका पात्र होता है अतः वही दोषी है न कि मारने वाला। अतः रोगकी उत्पत्ति प्रज्ञापराध से ही होती है।

नैव देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः। न चान्ये स्वयमक्लिष्टमुपक्लिश्यन्ति मानवम्।
ये त्वेनमनुवर्तन्ते क्लिश्यमानं स्वकर्मणा। न स तद्धेतुकः क्लेशो न ह्यस्ति कृतकृत्यता ॥
(च० नि० ७)

इतना ही नहीं चरक ने यह भी कह दिया है कि कभी भी देवताओं, पितरों या राक्षसों को रोग का कारण न कहे अपितु सम्पूर्ण सुख-दुःख का कर्ता अपनी बुद्धि को ही समझे-एवं अच्छे कर्म करता हुआ सदा निर्भीक रहे।

प्रज्ञापराधात् सम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः। नाभिशंसेद् बुधो देवान्न पितॄन्नापि राक्षसान्।
आत्मानमेव मन्येत कर्तारं सुखदुःखयोः। तस्माच्छ्रेयस्करं मार्गं प्रतिपद्येत नो त्रसेत् ॥
(च० नि० ७)

कतिपय विद्वान् भूत, पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि नामों से विभिन्न रोगोत्पादक जीवाणुओं का भी ग्रहण करते हैं। वस्तुतः यह मन्तव्य भी युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि आयुर्वेद ने भूतोन्माद की चिकित्सा में मन्त्रोपचार के अतिरिक्त गुग्गुलु, राल, लोहवान आदि कृमिनाशक (Antiseptic) द्रव्यों के धूपन का भी उपदेश किया है। इसके अतिरिक्त शिरावेध द्वारा रक्तावसेचन, लेप, नस्य, अंजन तथा मुख द्वारा औषध सेवन करने का भी निर्देश मिलता है। इससे स्पष्ट है कि आयुर्वेद के निर्माताओं का मत आज के भूतविद्या के पण्डितों से कुछ भिन्न था।

देवजुष्टोन्मादलक्षणमाह—

संतुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो निस्तन्द्रीरवितथसंस्कृतप्रभाषी।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥१८॥

देवग्रह के कारण पागल मनुष्य सदा सन्तुष्ट रहता है; पवित्र रहता है एवं उसके शरीर से अकारण ही उत्तमोत्तम पुष्पों की गन्ध आती रहती है, उसे निद्रा या तन्द्रा भी नहीं आती, सत्य बोलता है तथा शुद्ध संस्कृत में धाराप्रवाह भाषण करता है। रोगी तेजस्वी होता है एवं

१. गुह्यानागतविज्ञानमनवस्था सहिष्णुता। क्रिया वाऽमानुषी यस्मिन् स ग्रहः परिकीर्त्यते ॥
(सुश्रुतः)

उसके नेत्र भी स्थिर रहते हैं। आसपास के लोगों को वरदान (आशीर्वाद) देता है और ब्राह्मणों की पूजा करता है ॥ १८ ॥

देवजुष्टमाह—संतुष्ट इत्यादि । अतिदिव्यमाल्यगन्ध इति । अतिमात्रो दिव्यमाल्यस्येव गन्धो यस्य स तथा । निस्तन्द्रोरनिद्रः । अवितथं सत्यम् । विदेहेऽपि–**'निःस्वप्नं सत्यसंस्कृतभाषिणम्' इति पठितम् । ब्रह्मण्यो ब्रह्मणानुरक्तः । देवजुष्टो देवग्रहपीडितः । देवग्रहणेन गणमातृकादयोऽपि ग्राह्याः ।** विदेहेऽपि **पठ्यते–'क्रोधनः स्रस्तसर्वाङ्गो लालाफेनाविलाननः निद्रालुः कम्पनो मूको गणमातृभिरर्दितः—' इति ॥ १८ ॥**

देवशत्रु (दानव) जुष्टोन्मादलक्षणमाह--

संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः ।
संतुष्टो न भवति चान्नपानजातैर्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः ॥१९॥

(सु. उ. ६०)

दानव ग्रह से उन्मत्त मनुष्य को पसीना बहुत आता है, वह ब्राह्मण, गुरु तथा देवताओं के दोषों का वर्णन करता है, आँखें तिरछी रहती हैं और वह किसी से नहीं डरता। ऐसे रोगी की प्रवृत्ति सदा कुमार्ग पर चलने की रहती है। बहुत खाने पर भी इसकी तृप्ति नहीं होती तथा यह दुष्ट प्रकृति का होता है ॥ १९ ॥

देवशत्रुजुष्टमाह—संस्वेदीत्यादि ॥ १९ ॥

गन्धर्वग्रहपीडितस्य लक्षणानि निरूपयति--

हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः ।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥२०॥

(सु. उ. ६०)

जो सदा प्रसन्न रहे, जिसको नदी के किनारे या उपवनों में घूमने में अत्यधिक आनन्द आता हो, जिसका आचरण शुद्ध हो, जिसको संगीत एवं गन्ध-मालाओं से अत्यधिक प्रेम हो एवं जो सुन्दरतम ढंग से नाचता हुआ मन्द-मन्द मुसकुराता तथा कम बोलता हो उसे गन्धर्व ग्रह से पीडित समझना चाहिये ॥

गन्धर्वाविष्टमाह—हृष्टेत्यादि । पुलिनं स्रोतोज्झितं तटम्, अन्तरं मध्यं विशेषो वा । स्वाचारोऽनिन्दिताचारः । प्रियेत्यादि । प्रियाणि परि सर्वतो गीतगन्धमाल्यानि यस्य स तथा । नृत्यन्नित्यादि । चारु (यथा भवति तथा) नृत्यन्नल्पशब्दं यथा भवति तथा प्रहसततीति योज्यम् ॥ २० ॥

यक्षाविष्टं लक्षयति--

ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः ।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥

(सु. उ. ६०)

जिस उन्मादी की आंखें लाल हों, जिसको सुन्दर, बारीक तथा लाल रङ्ग के वस्त्र धारण करने का शौक हो, जो गम्भीर एवं शीघ्रगामी हो, जो कम बोले तथा सहनशील हो, देखने से

तेजस्वी मालूम हो एवं जो सर्वत्र कहे कि 'किसको क्या दूं' ऐसे उन्मादी को यक्ष ग्रह से पीड़ित समझना चाहिये ॥ २१ ॥

यक्षाविष्टमाह—ताम्राक्ष इत्यादि । प्रियेत्यादि । प्रियं शोभनं, तनु सूक्ष्मं, रक्तं च वस्त्रं धर्तुं शीलं यस्य स तथा ॥ २१ ॥

पितृजुष्टमाह—

प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डाञ् शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः । मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकामस्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः ॥२२॥

(सु. उ. ६०)

पितृग्रह से पीडित उन्मत्त व्यक्ति शान्त रहता है एवं दक्षिण-कन्धे पर वस्त्र आदि डाल कर कुश आदि के बने आसन पर पितरों को पिण्डदान तथा जलदान का उपक्रम करता है तथा मांस, तिल, गुड और खीर जैसे पदार्थों में अधिक रुचि रखता है एवं पितरों का भक्त भी होता है ॥२२॥

पितृजुष्टमाह—प्रेतानामित्यादि । प्रेतानां मृतपितॄणां संबन्धमात्रविवक्षया न चतुर्थी । दिशति ददाति । संस्तरेषु कुशपत्रादिरचितास्तरणेषु । अपसव्यवस्त्रो वामोत्तरीयः । मांसेप्सुरित्यादि । एतदभिधानप्रयोजनं यस्मिन् यस्येच्छा भवति तस्य तेनैव बलिर्दातव्यः, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तद्भक्तः पितृभक्तः ॥ २२ ॥

विमर्श—साधारण अवस्था में यज्ञोपवीत या कन्धे का वस्त्र वाम कन्धे के उपर तथा दक्षिण कक्षा के नीचे रहता है । किन्तु पिण्डदान करते समय इसके विपरीत कर लेने का शास्त्रीय विधान है । पितृग्रह से पीडित उन्मत्त भी वैसा ही करता है । मांस आदि में रुचि होने से इन्हीं द्रव्यों की वलि भी रोगशान्त्यर्थ देनी चाहिए ।

सर्पग्रहजन्यमुन्मादमाह—

यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत्कदाचित् सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव । क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सुर्ज्ञातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥ २३ ॥

(सु. उ. ६०)

जो मनुष्य कभी-कभी साँप के समान भूमि पर पेट के बल लेटकर सरकता है तथा जिह्वा से होठों को चाटता-रहता है, अत्यन्त क्रोधी हो एवं जिसे गुड, शहद, दूध और खीर खाने की बहुत इच्छा रहती हो उसे सर्पग्रह से पीडित समझना चाहिये ॥ २३ ॥

नागाविष्टमाह—यस्त्वित्यादि । प्रसरति सर्पवदिति । उरसा गच्छति । सृक्कण्यौ ओष्ठप्रान्तौ । सृक्कणीशब्द ईकारान्तोऽप्यस्तीत्युन्नेयम् ॥ २३ ॥

राक्षसग्रहजन्यमुन्मादं लक्षयति—

मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सुर्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः । क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः ॥२४॥

(सु. उ. ६०)

राक्षस ग्रहजन्य उन्माद में रोगी मास, रक्त तथा अनेक प्रकार की शराबों को चाहता है, वह निर्लज्ज, अत्यन्त कठोर स्वभाव का व शूर होता है । ऐसे रोगी को क्रोध भी बहुत आता है एवं उसमे शक्ति भी बहुत होती है । वह रात्रि में घूमता है और पवित्रता से द्वेष करता है ॥ २४ ॥

राक्षसाविष्टमाह—मांसेत्यादि। निशाविहारी निशायामेव भ्रमणशीलः। राक्षसशब्देन ब्रह्मराक्षसादयोऽपि ग्राह्याः। तथा राक्षसानन्तरं विदेहोऽपि पठति,-'देवविप्रगुरुद्वेषी वेद-वेदाङ्गनिन्दकः। आत्मपीडाकरो हासी ब्रह्मराक्षससेवितः' इति ॥ २४ ॥

विमर्श—राक्षस से ब्रह्मराक्षस आदि का भी ग्रहण करलेना चाहिए। ब्रह्मराक्षसगृहीत में आत्महत्या की भावना प्रबल होती है; यह इसकी विशेषता है।

पिशाचग्रहजन्यमुन्मादं निरूपयति—

उद्धस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोलः।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥२५॥

(सु. उ. ६०)

'उद्धस्त' जो मनुष्य भुजायें ऊपर उठाये रहता हो अथवा 'उद्वस्त्रः' नग्न रहता हो जिसका मांस क्षीण हो गया हो, जिसका शरीर रूक्ष हो, रुक रुककर प्रलाप करता हो, जिसके शरीर से दुर्गन्धि आती हो, जो बहुत गन्दा रहता हो नथा अति लोभी हो, जो अत्यधिक भोजन करे एवं निर्जन वनों में घूमता फिरे, जो विरूद्ध चेष्टायें करता है एव रोता हुआ इतस्ततः घूमता है उसे पिशाच ग्रह से पीडित समझना चाहिये ॥ २५ ॥

पिशाचाविष्टमाह—उद्धस्त इत्यादि। उद्धस्त ऊर्ध्वबाहुः, उद्वस्त्र इति पाठान्तरं न्याय्यं, विदेऽहेपि दिगम्बरपाठात्; उद्वस्त्रो नग्नः। परुषो रूक्षः। लोलः सर्वस्मिन्नन्ने पाने च सतृष्णः। लोलुरिति पाठान्तरे स एवार्थः। व्याचेष्टन्निति। विरुद्धमाचेष्टन् ॥ २५ ॥

उन्मादस्यासाध्यतां वर्णयति—

स्थूलाक्षो द्रुतमटनः स फेनलेही निद्रालुः पतति च कम्पते च यो हि।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युः स्यात् सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे ॥

(सु. उ. ६०)

जिसकी आँखें बाहर को निकली रहें या जिसकी दृष्टि (Pupil) विस्फारित हो जो जल्दी जल्दी चलता हो, मुख से निकलते हुए लालास्राव को जो चाटता हो, जिसे निद्रा अधिक आये, जो अचानक गिर पड़ता हो या काँपता रहे एवं जो पर्वत, हाथी अथवा वृक्ष से गिरकर पागल हुआ हो वह असाध्य होता है। इसके अतिरिक्त तेरह वर्ष पुराना होने पर प्रत्येक उन्माद असाध्य होता है ॥

त्रिविधं हि हिंसाक्रीडापूजार्थं ग्रहा गृह्णन्ति। यदुक्तम्-'अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम्। हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि च' (सु. उ. अ. ६०) इति। तत्र हिंसार्थं गृहीतोऽसाध्यो भवति, तस्य श्लोकार्धद्वयेन लक्षणमाह—स्थूलाक्ष इत्यादि। स्थूलाक्षो विकृतनेत्र इति जेज्जटः, द्रुतमटनो द्रुतगतिः, अत एव त्वरितगतिरिति जेज्जटेन पठितम्। यश्चेत्यादि। पर्वतादिपतितः सन् यो गृह्यते सोऽप्यसाध्यः, नगो वृक्षः। स सर्व एवोन्मादी त्रयोदशेऽब्दे देवतागृहीतोऽप्यसाध्यः। विदेहेऽधिकमप्यसाध्यलक्षणं पठ्यते—'मेढ्रवृत्तः क्षतजः साश्रुस्रः स्रुतनासिकः। क्षतजिह्वः पूतिगर्भो हतवागतिदुर्बलः'इत्यादि॥

विमर्श—आयुर्वेद एवं भूतविद्या में देवादि ग्रहों के आवेश का कारण हिंसा, रति और पूजा पाने की इच्छा बताया गया है। अर्थात् किसी अपराध से क्रुद्ध होकर दण्ड देने की इच्छा से आवेश होना हिंसात्मक होता है और प्रायः असाध्य होता है। किसी सुन्दर या सुन्दरी के रूप, वेश,

गायन आदि से मुग्ध होकर आवेश होना रतिजन्य एवं बलि आदि की प्राप्ति मात्र की भावना से हुआ आवेश पूजार्थ आवेश कहलाता है। यह दोनों ही मन्त्र, होम, बलिप्रदान आदि उपचार से शान्त भी हो जाते हैं। इस श्लोक में वर्णित लक्षण हिंसार्थ आवेश के ही प्रतीत होते हैं और इसी लिये असाध्यता निदर्शक हैं।

विदेह ने मूत्र मार्ग से रक्त जाना, नेत्र अतिरक्त होना, नाक से अतिस्राव होना, जिह्वा रूक्ष या फटी होना, भीतर से (आभ्यन्तर अवयवों में सडन होने से?) दुर्गन्ध आना, वाक्शक्ति नष्ट हो जाना और अतिदुर्बलता इन अधिक लक्षणों का उल्लेख किया है।

देवादीनामाक्रमणकालमाह—

देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ॥ २७॥
पित्र्याः कृष्णक्षये हिंस्युः पञ्चम्यामपि चोरगाः।
रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि॥२८॥ (सु. उ. ६०)

देवग्रह पूर्णिमा के दिन आक्रमण करते हैं (अतः यदि किसी रोगी को पूर्णिमा के दिन दौरा आवे या रोग का आरम्भ हो तो देवग्रह समझना चाहिये।) यदि प्रातः या सायं दौरा आरम्भ हो तो असुर ग्रहका प्रकोप समझें, यदि अष्टमी के दिन दौरा आवे तो गन्धर्व ग्रह का और यदि प्रतिपदा को पागलपन का दौरा हो तो यक्षग्रह के प्रकोप का अनुमान करना चाहिए। अमावस्या को दौरा आने पर पितृग्रह तथा पञ्चमी को दौरा आने पर सर्पग्रह के आक्रमण का अनुमान करें। इसी प्रकार रात्रि में दौरा आने पर राक्षस ग्रह और चतुर्दशी को दौरा आने या रोग का आरम्भ होने पर पिशाच ग्रह का प्रकोप समझना चाहिये॥ २७-२८॥

देवादीनां ग्रहणकालमाह—देवग्रहा इत्यादि। पौर्णमास्यां पूर्णिमायाम्। कृष्णक्षयेऽमावास्यायाम्। प्रायोग्रहणादन्यत्रापि। तिथ्यभिधानप्रयोजनं लक्षणार्थं तत्तिथौ बलिदानार्थं॥ २७-२८॥

विमर्श—यह तिथियाँ और काल देवग्रहादि से यथाक्रम सम्बद्ध है अतः इन्हीं में उनकी प्रबलता से आवेश होता है तथा इन्हीं तिथियों और कालों में शान्त्यर्थ बलि आदि भी देना चाहिए।

ग्रहाणामावेशप्रकारं निरूपयति—

दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा।
स्वमणिं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक्।
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः॥२९॥ (सु. उ. ६०)

(कुछ लोगों का कहना है कि यदि ग्रहों का शरीर में प्रवेश होता है तो एक शरीर में दूसरे शरीर का प्रवेश किस प्रकार स्वीकार किया जाता है इसका उत्तर कहते हैं)—

जिस प्रकार दर्पण आदि चमकीली वस्तु में प्रतिबिम्ब चला जाता है, अथवा जिस प्रकार प्राणियों में अदृश्य शीतता एव उष्णता का प्रवेश हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्यकान्तमणि में और अदृश्य आत्मा जिस प्रकार शरीर में प्रविष्ट हो जाता है वैसे ही ग्रह भी मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं किन्तु इन चर्म-चक्षुओं से दिखाई नहीं पड़ते अर्थात् यह शरीर में प्रविष्ट नहीं होते किन्तु रोगी के शरीर और मन को अपने तेज से प्रभावित कर देते हैं॥ २९॥

ननु, यदि ग्रहाविष्टानां पुंसामुन्मादः स्यात्, तदा विशन्तो ग्रहाः कुतो न लक्ष्यन्ते? इत्यत आह—दर्पणादीनित्यादि। अस्मदादिदर्शनायोग्यत्वान्न दृश्यन्त इत्यर्थः। आदिशब्देन प्रकारवाचिना जलतैलादीनां ग्रहणम्। छाया प्रतिकृतिः, शीतोष्णमिति कर्तृपद, प्राणिन इति कर्मपदम्। स्वमणिमिति सूर्यकान्तम्। देहमगात्मा, मन इति जेज्जट। अनेकदृष्टान्तप्रयोजनं जेज्जटलिखितं तच्चात्रानुपयुक्तत्वेन विस्तरभयाच्च न लिखितम्। देवशब्देन चात्र देवस्यानुचरा देवसधर्माणो गृह्यन्ते, देवानां मनुष्यशरीरेणाशुचिनः संबन्धाभावात्। यदाह सुश्रुतः—'न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न ते मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति। ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपेताः (सु. उ. अ. ६०)' इति ॥ २९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुन्मादनिदानं समाप्तम् ॥ २० ॥

प्रकारान्तरेण दुष्टदेवादिग्रहाणमावेशप्रवेशप्रकारं निरूपयति—

प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम् ॥ ३० ॥

(तपांसि तीव्राणि तथैव दानं व्रतानि धर्मो नियमश्च सत्यम्।

गुणास्तथाऽष्टावपि तेषु नित्या व्यस्ताः समस्ताश्च यथाप्रभावम् ॥३१॥

न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति न वा मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति।

ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपोह्याः ॥ ३२ ॥

तेषां ग्रहाणां परिचारका ये कोटीसहस्रायुतपद्मसंख्याः।

असृग्वसामांसभुजः सुभीमा निशाविहाराश्च तथाऽऽविशन्ति ॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उन्मादनिदानं समाप्तम् ॥ २० ॥

दुष्ट ग्रह मनुष्यों के शरीर में (अदृश्यरूप से) प्रविष्ट होकर शीघ्र ही दुःसह पीडा उत्पन्न कर देते हैं ॥ ३० ॥

(अब यह सन्देह होता है कि क्या देव आदि ग्रह स्वयं ही उक्त प्रकार से मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट होते हैं? इस पर कहते हैं)—

देव आदि ग्रहों में तप, दान, व्रत, धर्म, नियम, सत्य तथा अष्टविध सिद्धियाँ[1] नित्य रहती हैं। उक्त गुण प्रभाव के अनुसार व्यस्त एवं समस्त रूप में रहते हैं। तात्पर्य यह कि असुर आदि ग्रहों में उक्त गुण कम एवं देवग्रहों में सम्पूर्ण रूप में रहते हैं। उत्कृष्ट गुण होने के कारण देवादि मनुष्यों के साथ नहीं बैठते और न तो वे मनुष्यों के शरीर में प्रविष्ट ही होते हैं। किन्तु जो लोग फिर भी अज्ञान से मानव शरीर में इनका प्रवेश मानते है उनको भूतविद्या से अनभिज्ञ ही समझना चाहिये। इस प्रकार ये स्वयं शरीर में प्रवेश नही करते अपितु इन ग्रहों के जो असंख्य अनुचर हैं एव जो रक्त और मांस पर ही निर्भर रहते है वे भयंकर तथा रात्रि मे भ्रमण करने वाले देव आदि के परिचारक ही मानव-देहों में प्रवेश करते है ॥ ३१-३३ ॥

इति उन्मादनिदानं समाप्तम्।

---

१. आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्। शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते॥
(च० शा० १)

अथापस्मारनिदानम्

अपस्मारस्य सम्प्राप्तिं सामान्य स्वरूपं चाह—

(चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः ।
कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥ १॥)
तमः प्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः ।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥ १ ॥

(चिन्ता शोक आदि कारणों से प्रकुपित हुए दोष हृदय (मस्तिष्क) के मनोवाहि स्रोतों में पहुँच कर स्मृति का विनाश करके अपस्मार रोग को उत्पन्न करते है ॥ १ ॥

दोषों के प्रकोप से बुद्धि उपहत होने पर आखों के आगे अंधेरा छा जाना है और रोगी अज्ञानरूप अन्धकार में प्रवेश करता है और विविध प्रकार की चेष्टाएँ करता है, जैसे नेत्र विकृत हो जाते है तथा रोगी हाथ-पैर भी फेकता है इस भयंकर व्याधि को अपस्मार कहते हैं और यह वातिक, पैत्तिक, कफज और त्रिदोषज इन चार प्रकारों की होती है ॥ १ ॥

मनोदुष्टिसाधर्म्यात् समान चिकित्स्यत्वादुन्मादानन्तरमपस्मारारम्भः । तस्य निरुक्तिः सुश्रुतेन **कृता—'स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जनम् । अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत् (सु. उ. अ ६१)' इति । स्मृतिश्च ज्ञानोपलक्षणं, तेनानुभवागमोऽपि बोध्यः। तस्य सामान्यलक्षणमाह—तमःप्रवेश इत्यादि । तमःप्रवेशोऽन्धकारप्रवेश इव ज्ञानाभाव इत्यर्थः । संरम्भो नेत्रविकृतिः, हस्तपादादिक्षेपणादिकं च ॥ १॥**

विमर्श – बीती हुई घटना के ज्ञान का ही दूसरा नाम स्मृति है, और इसके विनाश को ही अपस्मार कहते है—

स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जनम् । अपस्मार इति प्रोक्तः (सु० उ० त० ६१)

इसी प्रकार चरक ने भी **'स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः'** के द्वारा स्मृति के नाश को ही अपस्मार माना है। वस्तुतः स्मृति से ज्ञान सामान्य का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इस अवस्था में भूत एव वर्तमान सब प्रकार के ज्ञानों का लोप हो जाता है। इसी आशय से चरक ने भी अपस्मार की सामान्य परिभाषा करते हुए **'अपस्मारं पुनः स्मृतिबुद्धिसत्त्वसंप्लवाद् बीभत्सचेष्टमावस्थिकं तमः प्रवेशमाचक्षते'** के द्वारा कुछ काल के लिए स्मृति, बुद्धि तथा मन के कार्यनाश को ही अपस्मार सज्ञा प्रदान की है। मूर्च्छा आदि अवस्थाओं की सज्ञानाश की स्थिति अपस्मार से कुछ भिन्न होती है, इसका वर्णन आगे भेददर्शक कोष्ठक के द्वारा किया जायगा।

अपस्मार भी एक मानस रोग है, इसमें भी उन्माद के समान मस्तिष्कमें कोई प्रत्यक्ष विकृति दृष्टिगोचर नही होती। ज्ञान के विनाश की दृष्टि से यह उन्माद के सदृश ही है किन्तु उन्माद मे बुद्धि–विभ्रम हो जाता है जिससे रोगी देखता या सुनता हुआ भी उसके यथार्थ तत्व को ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। उन्मत्त व्यक्ति बातें करता है किन्तु सब असम्बद्ध। इसी प्रकार वह खाता भी है किन्तु उसके स्वाद का ज्ञान उसे प्रायः नही रहता। अपस्मार का रोगी एक दम बेहोश हो जाता है वह ज्ञान के अतिरिक्त किसी प्रकार की क्रिया भी नही कर सकता। इस प्रकार उन्माद में बुद्धिविभ्रम अपस्मार मे बुद्धिनाश होता है। अपस्मार का दौरा आवस्थिक

एवं किञ्चित्कालावस्थायी ही होता है इसके दौरे का समय भी प्रायः निश्चत होता है। यह बात उन्माद मे नही होगी, उन्माद का दौरा आवस्थिक न होकर प्राय. स्थायीस्वरूप का होता है।

यह रोग चिन्ता, काम, क्रोध शोक तथा उद्वेग जैसे मानसिक कारण एव शिरोभिघात अथवा मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis) मस्तिष्कगत-रक्तस्राव तथा मस्तिष्कार्बुद जैसे शारीरिक कारणों से सत्त्वगुण की हीनता एव रज और तम प्रबलता होने पर उत्पन्न होता है। स्वभावतः दुर्बल मन वाले मनुष्यों में यह अधिक पाया जाता है। उपर्युक्त कारणों से प्रकुपित हुए दोष मस्तिष्क, मस्तिष्कगत इन्द्रियाधिष्ठानों तथा वातनाडियों में आश्रित होकर अपस्मार को उत्पन्न करते हैं। चरक निदानस्थान में अपस्मार की सम्प्राप्ति का वर्णन करते हुए निश्चित समय व परिस्थिति में होने वाले दौरे का भी विवेचन किया है—'त एवंविधानां प्राणभृतां क्षिप्रमभिनिर्वर्तन्ते तद्यथा—रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामुद्भ्रान्तविषमबहुदोषाणां समलविकृतोपहितान्यशुचीन्यभ्यवहारजातानि वैषम्ययुक्तेनोपयोगविधिनोपयुञ्जानानां तन्त्रप्रयोगमपि च विषममाचरतामन्याश्च शरीरचेष्टा विषमाः समाचरतामत्युपक्षीणदेहानां वा दोषाः प्रकुपिता रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयमुपसृत्य उपरि तिष्ठन्ति तथेन्द्रियायतनानि च। तत्र तत्र चावस्थिताः सन्तो यदा हृदयमिन्द्रियायतनानि चेरिताः कामक्रोधलोभमोहहर्षशोकचिन्तोद्वेगादिभिः सहसाऽभिपूरयन्ति तदा जन्तुरपस्मरति' (च० नि० ८) विषमचेष्टा से मस्तिष्क में विकृति उत्पन्न करने वाली सम्पूर्ण शारीरिक क्रियाओं का ग्रहण करना चाहिये। यहाँ हृदयशब्द मस्तिष्कवाची है, क्योंकि वही मन तथा अन्य इन्द्रियों का अधिष्ठान है[१]। संचित एवं प्रकुपित दोषों को जब काम, क्रोध आदि किसी भी उत्तेजक कारण का आश्रय मिल जाता है तभी अपस्मार की अवस्था भी उत्पन्न हो जाती है।

आधुनिक दृष्टि से अपस्मार दो प्रकार का होता है—

१—लाक्षणिक (Symptomatic) यह आघात, हृदय, रक्तवाहिनी अथवा मस्तिष्क के रोग एवं विषमयता जैसे कारणों से होता है। कारण का ज्ञान होते हुए इसमें अंगीय विकृति भी स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

२—अनैमित्तिक या अज्ञातकारणजन्य अपस्मार (Idiopathic epilepsy) इसे शुद्ध मानसिक अपस्मार भी कहा जा सकता है। साधारणतया अपस्मार कहने से इसका ही बोध होता है। इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं दिखाई देता और न तो मस्तिष्क में किसी प्रकार की अंगीय विकृति ही दृष्टिगोचर होती है। अभी तक इसके निश्चित कारण का ज्ञान नहीं हो सका है। फिर भी कतिपय आधुनिक विद्वानों का मत है कि शरीर के समवर्त (Metabolism) की क्रिया से रोगी के रक्त में एक विशिष्ट प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है, जिसे कोलीन (Choline) कहते हैं। इस विष की उत्पत्ति कैसे होती है इसका ज्ञान अभी तक नहीं हो पाया है। किन्तु उनका यह निश्चित मत है कि इसी विष के कारण मस्तिष्क की उच्च क्रियाओं (सोचना, स्मरण आदि) के लोप के साथ साथ कतिपय क्रियाओं (हस्त-पादादिविक्षेप, फेनोद्गम आदि) का नियन्त्रण भी समाप्त हो जाता है। यह विकृति जितनी ही कम होगी, बेहोशी का समय भी उतना ही कम होगा। इसी प्रकार विकृति अधिक होने पर बेहोशी का समय भी अधिक होता है। पक्षाघात के सदृश अपस्मार में भी एक ओर के अंगों अथवा विशिष्ट पेशीसमूह में विशेष विकृति

---

१. विशेष विवेचन उन्माद, मूर्च्छा और मदात्यय निदान में देखिए।

पायी जाती है, इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि अपस्मार (Idiopathic epilepsy) में कोई अगीय विकृति उपलब्ध नही होती तथापि वह अदृश्य रूप में रहती अवश्य है । जिन अवस्थाओं में मस्तिष्क के सम्पूर्ण भाग मे विकृति न होकर उसका अल्पभाग ही आक्रान्त होता है उन अवस्थाओं में पूर्णतया सज्ञानाश भी नही होता अपितु विशिष्ट पेशीसमूहों पर ही प्रभाव होने से विशिष्ट अगों में ही विकृति (मुखवक्रता अथवा नेत्रवक्रता आदि) उत्पन्न होकर लक्षण निवृत्ति हो जाती है । अपस्मार की इस अवस्था को आजकल क्षुद्रापस्मार या पेटिट माल (Petit mal) कहते हैं । इसके अतिरिक्त जिन अवस्थाओं में मस्तिष्क का अधिकांश या सम्पूर्ण भाग आक्रान्त हो जाता है उनमें लक्षण भी तीव्र स्वरूप के प्रकट होते हैं एवं संज्ञानाश भी पूर्णतया हो जाता है । इसको तीव्रापस्मार या ग्राण्डमाल (Grand mal) कहते हैं ।

यह रोग प्रायः बाल्यकाल से ही पारम्भ हो जाता है । अन्य मानसिक रोगों के समान इस रोग में भी आनुवंशिक परम्परा की प्रवृत्ति कुछ अशों में पायी जाती है । योषापस्मार अथवा अन्य वातिक रोगों से पीडित माता-पिता के बालकों में प्रायः यह रोग बाल्यकाल से ही साधारण रूप में प्रारम्भ होता है और अवस्था के अनुसार आगे चलकर मस्तिष्क का अधिक भाग आक्रान्त हो जाने पर यह भी अपना वास्तविक रूप धारण कर लेता है । मस्तिष्क में कोई प्रत्यक्ष विकृति दृष्टिगोचर न होते हुए भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अपस्मार का शिरोऽभिघात से घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि गत प्रथम महायुद्ध में अपस्मार के रोगियों की परीक्षा करने के उपरान्त यह पता चला कि उनमें बहुतों को केवल सिर की चोट से ही अपस्मार प्रारम्भ हुआ था । इसके अतिरिक्त उनमें भी ५०% में अपस्मार का पैतृक इतिहास भी मिलता था उक्त आंकडों से यह सिद्ध है कि इस रोग में कुलज प्रवृत्ति भी पायी जाती है ।

लक्षणों की क्रमिकता के अनुसार तीव्र आक्रमण (Major attack or Grand mal) को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

उक्त चार अवस्थाओं के पूर्व कुछ पूर्वरूप (Premonitory signs) के लक्षण भी प्रकट होते हैं । इसमें बेचैनी, क्षुधानाश, शिरःशूल, बलहानि तथा निद्राधिक्य मुख्य हैं । दौरे की निम्न चार अवस्थायें होती हैं ।

१—प्रथम अवस्था—इसे पूर्वग्रह (Aura) भी कहते हैं । इसमें रोगी को चक्कर या भ्रम (Vertigo) प्रतीत होता है उसके बाद वह अकस्मात चेतनाहीन होकर भूमि पर गिर पड़ता है ।

२—द्वितीय अवस्था—इसे पेशीसंकोच (Tonic phase or muscular rigidity) की अवस्था भी कहते हैं । इसमें मुख, गले तथा आंखों की पेशियों के साथ सम्पूर्ण शरीर की पेशिया सकुचित हो जाती हैं जिससे रोगी की आंखें, मुख तथा गर्दन टेढ़ी हो जाती हैं । हाथों की मुट्ठिया बँध जाती हैं और हाथ अन्दर की ओर को मुड़ जाते हैं । टांगें सीधी और कड़ी हो जाती हैं । श्वासनलिका के संकोच से श्वासावरोध तथा श्यावता (Cyanosis) भी हो जाती है । दोनों जबड़ों के के बन्द हो जाने से कभी-कभी जिह्वा कट जाने का भी भय रहता है । यह अवस्था कुछ सेकण्ड तक रहती है ।

३—तृतीय अवस्था—इसे शिथिलता की अवस्था (Clonic Phase) भी कहते हैं । इसमें पेशिया शिथिल होने लगती हैं जिससे श्वास-प्रश्वास की गति पुनः पूर्ववत् प्रारम्भ हो जाती है, मुख से झाग निकलने लगते हैं एव रोगी अपने हाथ-पैरों को पटकना भी प्रारम्भ कर देता है । इस प्रकार के आक्षेप बार-बार आते हैं । कुछ क्षण में यह अवस्था भी समाप्त हो जाती है ।

४—विश्राम की अवस्था—इस अवस्था में आक्षेप की शान्ति हो जाती है और रोगी सो जाता है। सोकर उठने के पश्चात् रोगी को शिरोवेदना, वमन तथा थकावट का अनुभव होता है।

जिस अवस्था में एक के बाद दूसरा आक्रमण निरन्तर होता रहता रहता है और संज्ञानाश पूर्णतया नष्ट नहीं हो पाता उसे (Status epilepticus) कहते हैं। आजकल इस अवस्था को असाध्य माना जाता है। माधव ने भी इसे असाध्य ही माना है।

अपस्मारस्य पूर्वरूपमाह—

हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता।
निद्रानाशश्च तस्मिंश्च भविष्यति भवत्यथ ॥ २ ॥ (सु.उ.६१)

हृदय में कम्पन (Palpitation of heart) तथा शून्यता की प्रतीति, पसीना, चिन्ता, मन तथा इन्द्रियों की क्रिया-हानि और निद्रानाश ये अपस्मार के पूर्वरूप है ॥ २ ॥

पूर्वरूपमाह—हृत्कम्प इत्यादि। शून्यता हृदयस्यैव। ध्यानं जिह्मायनम्। अत्र मूर्च्छा मनोमोहः, प्रमूढता इन्द्रियमोहः ॥ २ ॥

वातिकमपस्मारं लक्षयति—

कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥ ३ ॥ (सु. उ. ६१)

वात प्रकोप से होने वाले अपस्मार में रोगी दौरे से पूर्व वस्तुओं को रूक्ष, अरुण व काले वर्ण का देखता है। बेहोश हो जाने पर उसका शरीर फडकने लगता है, दांत किटकिटाता है, मुखसे फेन निकालता है तथा श्वास भी जोर-जोर से लेता है ॥ ३ ॥

वातिकलक्षणमाह—कम्पत इत्यादि। श्वसिति खरश्वासो भवति। रूपाणीति। प्राणिनः, 'नीलो मामनुधावति'—इति सुश्रुतवचनात्, एवं पैत्तिके 'पीतो मामनुधावति'—इति, एवं श्लैष्मिके 'श्वेतो मामनुधावति'—इति ॥ ३ ॥

विमर्श—इस अवस्था में अर्वाचीन शास्त्रोक्त द्वितीय अवस्था के लक्षण मिलते है। दात किटकिटाने के अतिरिक्त कभी-कभी दोनों जबडों के अकस्मात् बन्द हो जाने से जिह्वा भी कट जाती है। पेशियों के शिथिल होने से फेनोद्गम तथा श्वास-प्रश्वास की गति बढ़ जाती है; यह लक्षण तृतीय अवस्था का सूचक है।

पैत्तिकमपस्मारं निरूपयति—

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शकः।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥ ४ ॥ (सु. उ. ६१)

पैत्तिक अपस्मार के रोगी को सब वस्तुयें पीली या लाल ही दीखती हैं, उसका शरीर, मुख, आंख तथा मुख से निकलने वाले झागों का रंग भी पीला ही होता है। रोगी को प्यास बहुत लगती है एव वह अत्यधिक गर्मी का अनुभव करता हुआ ससार की प्रत्येक वस्तु को जलती हुई सी देखता है ॥ ४ ॥

पैत्तिकलक्षणमाह—पीतेत्यादि। पीतासृग्रूपदर्शक इति। पीतलोहितवर्णसमस्तवस्तुदर्शी। सतृष्णेत्यादि। सतृष्णश्चासावुष्णश्चेति सतृष्णोष्णः, सतृष्णोष्णश्चासावनलव्याप्तलोकदर्शी चेति समासः ॥ ४ ॥

विमर्श—दोषवैशिष्ट्य के अनुसार रोगों में लक्षणवैशिष्ट्य भी पाया जाता है, किन्तु फेनोद्गम, जिह्वादशन, कम्पन तथा मुख आदि की वक्रता आदि लक्षण इसमें भी मिलेंगे। विशिष्ट वर्णों का दर्शन, एवं प्यास जैसे लक्षण रोगी में दौरे के पूर्व या पश्चात् प्रकट होते है, ऐसा समझना चाहिये; क्योंकि दौरे के समय तो वह पूर्णतः संज्ञानाश की स्थिति मे रहता है।

श्लैष्मिकमपस्मारं व्याचष्टे—

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः। (च. चि. १५)
पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥ ५ ॥

श्लैष्मिक अपस्मार में मुख से निकलने वाले झाग तथा मुख और आंखों का वर्ण श्वेत रहता है; रोगी का शरीर शीतल, रोमाञ्चित तथा भारी रहता है; वह सब वस्तुओं को सफेद ही देखता है। इसका दौरा देर से समाप्त होता है ॥ ५ ॥

श्लैष्मिकलक्षणमाह—शुक्लेत्यादि। हृष्टाङ्गजो हृष्टरोमा। चिरादित्यनेन वातपित्तयोरचिरेण वेगमोक्ष इति सूचयति ॥ ५ ॥

विमर्श—कफज अपस्मार में मस्तिष्क का बहुत अधिक भाग आक्रान्त रहता है अतः दौरा गम्भीर एवं चिरस्थायी होता है। इसमें अपस्मार के अन्य सामान्य लक्षण भी पाये जाते हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि वातिक तथा पैत्तिक अपस्मार के दौरे शीघ्र ही समाप्त हो जाते है। चरक ने इसीलिये **'अभीक्ष्णमपस्मरन्तं क्षणेन संज्ञां प्रतिलभमानम्'** यह लक्षण वातिक और पैत्तिक दोनों अपस्मारों में कहा है।

सान्निपातिकमपस्मारं तदसाध्यतां च लक्षयति—

सर्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः।
अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥ ६ ॥
प्रतिस्फुरन्तं[1] बहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम्।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥ ७ ॥ (च. चि. १५)

सान्निपातिक अपस्मार तीनों दोषों के प्रकोप व उनके लक्षणों से युक्त होता है। सान्निपातिक अपस्मार एवं दुर्बल रोगियों में तथा पुराने सभी अपस्मार असाध्य होते है। इसके अतिरिक्त जिस रोगी को बार-बार आक्षेप आते हों, जो अत्यन्त क्षीण हो, जिसकी भ्रुकुटियां ऊपर को चढ जायें एवं जिसकी आखें भी विकृत हो जायें उसका अपस्मार भी असाध्य ही होती है ॥ ६–७ ॥

सन्निपातिकलक्षणमाह—सर्वैरित्यादि। स चेति। ससान्निपातिकः। क्षीणस्यैकदोषजोऽप्यसाध्यः। एवमनवश्च बोध्यः। प्रस्फुरन्तं प्रकम्पन्तम्। नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमिति। नेत्राभ्यां विकृतिमासादयन्तम् ॥ ६–७ ॥

विमर्श—सान्निपातिक अपस्मार सर्वसम्पूर्ण लक्षण होने के कारण असाध्य होता है। बहुशः या बार-बार दौरा आना भी असाध्यता का द्योतक है। वस्तुतः यह (Status epilapticus) की ही अवस्था है जैसा कि पीछे बताया जा चुका है। पाश्चात्त्य विद्वानों ने भी उसे असाध्य कहा है।

१. 'प्रस्फुरन्तं सुबहुशः' इत्यपि पाठः।

सज्ञानाश की दृष्टि से अपस्मार (Epilepsy), योषापस्मार (Hysteria) तथा मूर्च्छा (Coma) एक ही श्रेणी के रोग हैं, किन्तु इनके उत्पादक कारण, आभ्यन्तर विकृति, विशिष्ट लक्षण तथा चिकित्सा में भेद पाया जाता है अतः अपस्मार का शेष दोनों से सापेक्ष निदान करने के लिए निम्न कोष्ठक दिया जाता है—

अपस्मार तथा योषापस्मार में भेद—

अपस्मार	योषापस्मार
१—इसका आक्रमण बडे वेग से होता है रोगी अपने को सभाल नहीं सकता।	१—इसका आक्रमण अधिक तीव्र वेग से नहीं होता।
२—यह सोते समय भी हो सकता है।	२—यह सोते समय कभी नही होता।
३—इसका आक्रमण एकान्त या समूह की अपेक्षा नहीं करता।	३—इसका आक्रमण एकान्त में कभी भी नहीं होता, अपितु कुछ सहायकों के पास रहने पर ही प्रारम्भ होता है।
४—इसका आक्रमण होने पर आंखें और गर्दन वक्र हो जाती हैं।	४—आखें और गर्दन वक्र नहीं होतीं।
५—रोगी यकायक भूमि पर बुरी तरह से गिर जाता है, जिससे उसे कहीं न कहीं चोट अवश्य लग जाती है।	५—रोगी सदा सावधानी से गिरता है जिससे उसे प्रायः कोई चोट नहीं आती।
६—कभी-कभी दांतों से जिह्वा भी कट जाती है।	६—जिह्वा कभी नहीं कटती।
७—मल और मूत्र का त्याग अनैच्छिक होने लगता है।	७—मल और मूत्र का अनैच्छिक त्याग कभी नहीं होता।
८—कण्डरा-प्रतिक्षेप तथा अन्य प्रत्यावर्तन क्रियायें लुप्त हो जाती हैं।	८—इनका लोप नहीं होता।
९—आक्रमण प्रायः निश्चित समय के बाद होता है।	९—इस प्रकार की नियमितता इसमें नहीं पायी जाती।
१०–गर्भाशय से सम्बन्ध नहीं होता।	१०–गर्भाशय से सम्बन्ध रहता है।
११–मूर्च्छा निद्रा में परिवर्तित हो जाती है।	११–जल्दी होश आ जाता है।

अपस्मार तथा मूर्च्छा में भेद—

अपस्मार	मूर्च्छा
१—आक्रमण अति शीघ्र प्रारम्भ होता है।	१—आक्रमण धीरे-धीरे होता है।
२—इसका पूर्व इतिहास मिलेगा।	२—पूर्व इतिहास मिलना आवश्यक नहीं।
३—इसमें आंखें फिरी हुई मिलेंगी।	३—आंखें फिरी हुई न होंगी।
४—मुख से फैन निकलते हैं।	४—मुख से फेन नहीं निकलते।
५—जिह्वा या शरीर के किसी अंग में चोट के चिह्न मिलेंगे।	५—चोट के चिह्न प्रायः नहीं मिलते।
६—शरीर गरम रहेगा।	६—शरीर ठण्डा होता है।
७—इसमें पूर्वग्रह (Aura) होता है।	७—पूर्वग्रह नहीं होता।
८—इसका कोई निश्चित कारण नहीं दिखाई देता।	८—कारण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।
९—हृल्लास अथवा आध्मान नहीं होता।	९— हृल्लास और आध्मान होते हैं।
१०—अंगों की गति होती है।	१०—अंगों की गति नहीं होती।

अपस्मारस्य प्रकोपकालमाह—

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः ।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥ ८ ॥
देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् ।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयाः ॥ ९ ॥ (सु. उ. ६१)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽपस्मारनिदानं समाप्तम् ॥ २१ ॥

जब कभी बारह दिन, पन्द्रह दिन, एक मास या दूसरे किसी निश्चित समय के बाद या पूर्व भी संचित दोष प्रकुपित होते हैं तभी अपस्मार रोग का दौरा भी हो जाता है। जिस प्रकार वर्षा काल में भूमि में पडे हुए भी (ऋतु विशेष में उगने वाले) बीज शरद् (आदि) काल में ही उत्पन्न होते हैं वैसे ही व्याधियों के बीज (कारण) भी निश्चित समय पर अपना प्रभाव दिखाते हैं ॥ ८–९ ॥

अपस्मारप्रकोपकालमाह—पक्षादित्यादि । पक्षात् पैत्तिकः, द्वादशाहाद्वातिकः, मासाच्छ्लैष्मिकः[1] द्वादशाहानन्तरं पक्षे वक्तव्ये तत्पूर्वं पक्षाभिधानं, तेनात्राऽधिककालेनापि वेगं करोतीत्याहुः । किंचिदथान्तरमिति । उक्तकालेभ्योऽर्वागपि दोषतारतम्यादिति । ननु, वेगं कृत्वाऽपस्मारारम्भको दोषोऽस्त्येव तत् कुतः सर्वदा वेगं न कुरुते ? द्वादशाहादिष्वेव कुरुत इत्याह—देवे वर्षतीत्यादि । अयमभिसन्धिः तेजोऽवनीपवनपयःसनाथं विद्यमानमपि बीजं कालविशेष एवाङ्कुरं जनयति, कालविशेषस्य सहकारित्वात्; तथा गतस्याप्यपस्मारस्य पुनरुद्भवः संभवति । शरदीति तत्कालोचितबीजाभिप्रायेण, तेन कानिचिद्वीजानि वर्षास्वपि भवन्तीति । अयं च न्यायश्चातुर्थिकज्वरादिष्वपि बोध्यः ॥ ८९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामपस्मारनिदानम् ॥ २१ ॥

विमर्श—दोषों का संचय जितनी जल्दी और जितना अधिक होता है दौरा भी उतनी ही जल्दी और उतनी ही अधिक तीव्रता से होता है कुछ का यह भी कहना है कि वातिक का बारह दिन बाद, पित्तज का पन्द्रह दिन बाद और कफज का एक मास पश्चात् दौरा होता है किन्तु यह काल सबके लिए समान नहीं होता। इससे कम और अधिक काल में भी दौरा हो सकता है। शरद् शब्द सभी ऋतुओं का उपलक्षण है अर्थात् जमीनमें पडा हुआ बीज अपने अनुकूल ऋतु में ही अंकुरित होता है। उसी प्रकार दोष भी अनुकूल समय में ही रोगों को उत्पन्न करते हैं। कुपित दोषों से त्रिदोष तथा आधुनिक दृष्टि से कोलीन नामक विष आदि का भी ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वह भी अपस्मार का उत्पादक कारण है। चूंकि दोषों का प्रकोप निश्चित अवधि के पश्चात् ही होता है अतः रोग का दौरा भी नियत अवधि की अपेक्षा करता है।

समाप्तं चेदमपस्मारनिदानम् ।



१. 'प्रथम' इति क ।

अथ वातव्याधिनिदानम्

वातव्याधीनां सामान्यनिदानपूर्वकं सम्प्राप्तिवर्णनम्—

रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः ।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादपि ॥ १ ॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामादिविचेष्टितैः ।
धातूनां—संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥ २ ॥
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात् ।
मर्माबाधाद्गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् ॥ ३ ॥
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥ ४ ॥
(च० चि० २८)

रूक्ष, शीत, अल्प तथा लघु भोजनके निरन्तर सेवन करते रहने से, अत्यधिक मैथुन व रात्रि में जागरण करने से, असमय में पंचकर्म या देश और कालके विरुद्ध असात्म्य आहार-विहार का सेवन करने से, वमन, विरेचन और बस्ति आदि के द्वारा दोष या मल एव रक्त के अत्यधिक निर्हरण से, अधिक उछलने-कूदने, तैरने, पैदल चलने व अधिक व्यायाम आदि विपरीत चेष्टाओं से, धातुओं का क्षय होने से, चिन्ता, शोक, रोगजनित दुर्बलता, तथा अधारणीय वेगों के धारण करने से, शरीर में आमरस की उपस्थिति, चोट, उपवास तथा मर्मस्थान की बाधा से तथा हाथी, ऊँट तथा घोडा आदि तीव्र सवारियों से गिर जाने के कारण शरीर में प्रकुपित हुआ वायु रिक्त (स्नेह, मृदुता, पिच्छिलता आदि गुणों से शून्य) स्रोतों को परिपूर्ण करके विविध प्रकार की एकांगिक (Local) व सर्वाङ्गिक (Geneɪal) व्याधियों को उत्पन्न करता है ॥ १-४ ॥

अपस्मारवद्वातविकाराणामप्याक्षेपकादीनां वेगकर्तृत्वादपस्मारानन्तरं वाताव्याध्यारम्भः । ननु, वातव्याधिरिति कोऽर्थः ? किं वात एव व्याधिर्वातव्याधिः, उत वातेन जनितो व्याधिर्वातव्याधि' ? आद्ये स्वस्थेष्वपि प्रसङ्गः, द्वितीये ज्वरादिषु । उच्यते, व्याधिपदसामानाधिकरण्याद्विकृतो दुःखकारी वातो वातव्याधिः । उक्तं हि सुश्रुते-'पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च' (सु. नि. अ. १) इति । वातजनितोऽसाधारणव्याधिर्वातव्याधिरिति विशेषणीयं तेनोभयत्राप्रसङ्गः । यच्चोक्तं-कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः । कुर्यादाक्षेपकम्' इत्यादि; तत्रारम्भको वायुरेव, पित्तकफौ त्वनुबन्धाविति न विरोधः स्यात् । चरके हि द्विविधा व्याधय उक्ताः सामान्यजा नानात्मजाश्चेति,[1] तत्र सामान्यजा ये वातादिभिः समस्तैर्व्यस्तैर्वा जन्यन्ते, यथा—ज्वरादयः, नानात्मजा ये नियतैकदोषजन्याः, यथा-आक्षेपकादयो ये वातेनैव जन्यन्ते, न स्वतन्त्रेण पित्तेन कफेन वा; तथौषचोषादयः पित्तेनैव, न वातेन कफेन च; तथा तृप्त्यादयः कफेनैव, न वातेन, न च पित्तेन एवं व्यव-

१. सामान्यजा इति वातादिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जन्यन्ते, नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासम्पृक्तैर्जन्यन्ते' चक्रः ।

स्थिते वातव्याधिवत् पित्तकफव्याधी कस्मान्नोक्तौ ? उच्यते—वायोरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात्तद्विकाराणां दुःसाध्यत्वादाश्वेवात्ययकरत्वाद्विशिष्टचिकित्सात्वाद्वातव्याध्यभिधानम्, न तु, कफपित्तव्याध्यभिधानम् । अत एव चरकसुश्रुतादिष्वपि वातरोगाध्याय एव निर्दिष्टो, न तु पित्तकफरोगाध्यायः । चन्द्रिकाकारस्त्वाह—पित्तकफयो रूपरसादियोगाद् दूष्यविशेषयोगाद्वा हरिद्राचूर्णसंयोगवदत्यन्तविसदृशा रसादिमन्तो विकाराः पृथङ्नामानो जायन्ते, वायोस्तु रूपरसाद्यभावाद् दूष्यनिरपेक्षा आक्षेपकादयो वातादनतिभिन्नरूपा नानात्मजाः, तेन वातविकाराः पृथगुच्यन्ते, न तु पित्तकफविकारा इति । एतत्तु बकुलकरप्रभृतयो नानुमन्यन्ते, चरक विरोधात् ! चरके हि पित्तकफयोरपि नानात्मजा उक्ताः, यथा—'अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः' (च. सू अ. २०) इति । सुश्रुतेन तु शल्याध्यायिना पित्तकफनानात्मजा न दर्शिताः, पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिरित्यभिप्रायेणेति । लङ्घनमुत्पतनं, उपवासस्यानशनशब्देन वमनादेश्च दोषस्रवणशब्देन वक्ष्यमाणत्वात् । प्लवनं बाहुभ्यां जलप्रतरणम् । आमादिति आमरसात्, तस्य कारणत्वं मार्गावरणद्वारेण न तु स्वरूपेण; आयासादिति पाठान्तरमयुक्तं, तस्य व्यायामशब्देनोक्तत्वात् । मर्माबाधान्मर्माभिघातात् । अपतंसनं, गजादिभ्यः शीघ्रयानेन पतनं, उच्छ्वासावरोधो वा; धातुकर्षणमिति खरनादः ॥ १–४ ॥

विमर्श—प्रश्न उपस्थित होता है कि वातव्याधि इस शब्द का क्या अर्थ है ? यदि **'वात एव व्याधिः'** वायु ही व्याधि है ऐसा विग्रह किया जाय तो स्वस्थों में भी वातव्याधि की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी; क्योंकि वायु की उपस्थिति उनमें भी सदा रहती है । इसके अतिरिक्त यदि **'वातेन जनितो व्याधिः'** वायु से उत्पन्न व्याधि ही वातव्याधि है, ऐसा विग्रह किया जाय तब ज्वर, अतिसार आदि रोगों में भी इसकी अतिव्याप्ति हो जायगी; क्योंकि वे वात से भी उत्पन्न होते हैं । अत. विकृत और असाधारण दो पदों का अध्याहार करके **'विकृतवातजनितोऽसाधारणो व्याधिर्वातव्याधिः'** विकृत वायु से उत्पन्न असाधारण व्याधि ही वातव्याधि है ऐसा अर्थ करना चाहिये । विकृत शब्द के देने पर स्वस्थों में अतिव्याप्ति नहीं होती । इसी प्रकार असाधारण शब्द देने से ज्वर आदि में भी अतिव्याप्ति नहीं होती; क्योंकि वे केवल वात से ही नहीं अपितु वात के समान पित्त और कफ से भी उत्पन्न होते हैं ।

चरक ने सामान्यज तथा नानात्मज भेद से दो प्रकार की व्याधियों का वर्णन किया है । जो व्याधियाँ वात आदि प्रत्येक दोष व दो या समस्त दोषों से भी होती है उन्हें सामान्यज कहते हैं । ज्वर, अतिसार, अर्श आदि व्याधियाँ इसके उदाहरण हैं । इसके विपरीत केवल निश्चित एक ही दोष से उत्पन्न होने वाली व्याधियाँ नानात्मज कहलाती हैं । यथा—आक्षेपक, पङ्गुत्व, गृध्रसी आदि रोग वायु से ही होते हैं पित्त और कफ से नहीं । इसी प्रकार दाह, ओष, चोष, पाक आदि पित्त से ही होते हैं वायु और कफ से नहीं । तृप्ति, तन्द्रा, निद्रा आदि रोग कफजन्य ही हैं वात पित्तजन्य नहीं । इस प्रकार शास्त्र में अस्सी वात नानात्मज, चालीस पित्त नानात्मज तथा बीस कफ नानात्मज विकारों का वर्णन किया गया है—**'अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः कफविकाराः'** (च० सू० २०) सुश्रुत ने जो **'कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः, कुर्यादाक्षेपकम्'** के द्वारा वातव्याधि में परिगणित आक्षेपक रोग को कफ पित्त जनित भी कहा है वह सम्बन्धमात्र की दृष्टि से कहा है । अर्थात् कफ और पित्त तो अनुबन्ध मात्र होते हैं आक्षेपक रोग तो वायु जनित ही होता है । इस प्रकार कोई विरोध नहीं आता । अब पुनः

यह सन्देह होता है कि चरक और सुश्रुत आदिने पित्त तथा कफ व्याधियों के अध्यायों का वर्णन न करके केवल वात व्याधियों का ही वर्णन क्यों किया ? इस पर कहते है कि पित्त और कफ पङ्गु है उनका प्रेरक भी वायु ही है, इस प्रकार वायु के सर्वप्रेरक. अतिबलवान् आशुकारी होनेसे तथा उसके विकारों के दुःसाध्य होने से प्रधानतया वातविकारो का ही विस्तार से वर्णन किया है; पित्त और कफविकारों का नहीं। चरक ने तो पित्त और कफजनित नानात्मज रोगों का भी परिगणन भी किया है।

'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम्' सामान्य वृद्धि का कारण होता है, आयुर्वेद के इस मौलिक सिद्धान्त के अनुसार रूक्ष आदि गुणों से समान गुण वाले वायु की वृद्धि होती है। रात्रि जागरण से भी रूक्षता होकर वात वृद्धि होतो है। अतिव्यवाय, रक्तस्रवण तथा अन्य धातुओं के क्षय से भी वायु की वृद्धि होनी है। आमरस स्रोतों में अवरोध उत्पन्न करके वायु की वृद्धि करता है, क्योंकि **'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च'।**

वातविचार-वात शब्द की सिद्धि **'वा गतिगन्धनयोः'** धातुसे होती है। गति का अर्थ हलचल और गन्धन का अर्थ सूचना है। इस प्रकार शरीर स्थित जो कोई तत्त्व संचालन करता है तथा वेदनाओं की सूचना देता है उसे वात कहते हैं। शरीर में सज्ञारूप (Sensory) तथा आज्ञारूप (Motor) दो प्रकार की सूचनाये होती है। इनके द्वारा ही शरीर के सम्पूर्ण व्यापार होते है। इससे स्थूल रूप में शरीरस्थ वात से सम्पूर्ण मोटर और सेन्सरी नाम की उभयविध नाडियों का ग्रहण कर लेना अनुचित न होगा। सर्व शरीरचारि वायु का प्रधान अधिष्ठान वातनाडी संस्थान (Nervous system) ही है। शरीर की प्रत्येक कोषा वातनाडी के सूत्रों से ओत-प्रोत रहती है। कोषा की प्रत्येक अनुभूति की सूचना नाडी तन्तुओं के द्वारा ही मस्तिष्क को जाती है और वहा से ही उचित कार्यवाही की सूचना भी आता है। ये दोनों कार्य भिन्न-भिन्न नाडियों के द्वारा होते हैं। पहिला कार्य करने वाली नाडियों को सज्ञावाही (Sensory) और दूसरा कार्य करने वाली नाडियों को आज्ञावाही (Moto.) नाडी कहते है।

साधारणतया वायु के प्राण और अपान दो ही भेद है। उदान, समान और व्यान इन्ही दो के विस्तार मात्र है। गीता में भी **'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ'** प्राण और अपान नाम के दो प्रकार के वात का ही वर्णन किया है। इस कथन से नासिका में दोनों प्रकार की वात की सत्ता स्वीकार की गयी है। कविराज गणनाथ सेन जी प्राण से ग्रैव्यनाडीचक्र (Cervical plexus) तथा अपान से त्रैकनाडीचक्र (Sacral plexus) का ग्रहण करते है। किन्तु उक्त अर्थ एकाङ्गवाची होने से अमाननीयहै। वस्तुतः प्राण और अपान दोनों ही सर्वशरीरव्यापी है, इसीलिये तो गीता में नासिका में दोनों की सत्ता स्वीकार की गयी है। उक्त नाडीचक्र पक्ष में इसकी सगति नही लगती।

'प्रकर्षेण अनयति जीवयति इति प्राणः, प्रकर्षेण आनयति वा प्राणः।' इससे प्रापण का कार्य कराने के कारण सज्ञावाही नाडियों (Sensory nerves) का ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि वे ही शरीर के सम्पूर्ण भागों को सूचनाओं को मस्तिष्क केन्द्र तक पहुचाती है। इसी प्रकार— **'अपआनयति दूरीकरोति इति अपानः'** केन्द्र से दूर कराने के कारण इसे अपान कहते है। इससे आज्ञावाही नाडियों (Motor nerves) का ग्रहण कर सकते हैं; क्योंकि वे भी केन्द्र से आज्ञा लेकर शरीर के दूरस्थ भागों में पहुँचाती हैं। इस प्रकार केन्द्र को सूचना पहुँचाने वाली तथा किसी वस्तु को शरीर के अन्दर पहुँचाने में सहायता करने वाली नाडियों को प्राण वायु का और केन्द्र मे सूचना लाने वाली व शरीर से किसी वस्तु को बाहर निकालने वाली नाडियों को

अपानवायु का अधिष्ठान समझना चाहिये। यद्यपि इन वायुओं के सर्व व्यापक होने से ये दोनों कार्य समस्त शरीर में अनवरत चलने-रहते हैं तथापि हृदय के समीपस्थ भाग में श्वास-प्रश्वास, भोजन का ग्रहण आदि आदान के कर्म अधिक होते है अतः बाहुल्य के कारण हृदय को प्राणवायु का स्थान मान लिया गया है—**'हृदि प्राणः'**। इसी प्रकार मलनिस्सारण का कार्य अधिक करने के कारण गुदा को अपान का प्रधान स्थान माना गया है। उदान वायु ऊर्ध्वक्षेपण का कार्य करता है इसका कार्य मुख्यतः कण्ठ देश में व्यक्त होने से कण्ठ इसका स्थान कहा गया है। कार्य साम्य से उसका अपान (Motor) में ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिये। समान वायु सज्ञावाही तथा आज्ञावाही नाडियों में सामञ्जस्य (Coardination) स्थापित करता है। अतः उन्हें समन्वयापादक नाडीसूत्र (Coardinating fibres) भी कह सकते हैं। इसके कार्य पाचन प्रणाली में सुव्यक्त रूप से मिलने से इसका मुख्य स्थान नाभि माना गया है। व्यान वायु सर्वशरीरव्यापी है अतः उसे परिसरीय वातनाडी (Peripheral nerves) कह सकते हैं।

विकृतवायु के गुण कार्य व उसके लक्षण आदि को जानने के पूर्व प्रकृत वायु के स्वरूप आदि का ज्ञान कर लेना भी परमावश्यक है। एक ही वायु शरीर में स्थान भेद तथा व्यापार-भेद से प्राण, उदान, समान, व्यान तथा अपान भेद से नानारूपों में वर्णित है। इनके अतिरिक्त नाग, कृकल, कूर्म, देवदत्त तथा धनंजय आदि भेद भी शास्त्र में मिलते हैं। किन्तु आयुर्वेद ने अत्युपयोगी होने से उपर्युक्त पाच भेदों का ही निरूपण किया है। वाग्भट ने भी कहा है—**'प्राणादिभेदात्पञ्चधा वायुः'**।

प्राणवायु—इसका मुख्य स्थान मूर्धा है। कोई लोग हृदय को भी इसका मुख्य स्थान मानते हैं—**'हृदि प्राणः'**। वस्तुतः मूर्धा और हृदय या उरः स्थल दोनों ही प्राणवायु के अधिष्ठान है। यह वाग्भट के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—**'प्राणोऽत्र मूर्धगः, उरः कण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक्। ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिःश्वासान्नप्रवेशकृत् ॥'** अर्थात् प्राणवायु का मुख्य केन्द्र मूर्धा या मस्तिष्क है, किन्तु इसका सचरण हृदय और कण्ठ में भी होता है, थूकना, छींकना, डकार लेना, श्वास-प्रश्वास की गति तथा अन्न का आन्त्र में पहुँचना इसी वायु का कार्य है। बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय एवं मन का भी यही नियामक है। इस वायु की प्रकृतिस्थता पर इनकी प्रकृतिस्थता भी निर्भर है।

उदानवायु—इसका प्रधान स्थान उर है, नाभि, गला तथा नासिका में इसका संचरण होता हैं। उदानवायु के प्रदेश में दोनों फुफ्फुस, हृदय, गला तथा श्वासप्रणाली सम्मिलित हैं। शार्ङ्गधर ने तो स्पष्ट रूप से फुफ्फुस को उदानवायु का आधार माना है **'उदानवायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः'**। बोलने, किसी वस्तु को ग्रहण करने, ओज, बल, वर्ण, स्मृति तथा श्वास-प्रश्वास की समुचित प्रवृत्ति का मूल यही उदानवायु है—

उरःस्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरन्। वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नौजोबलवर्णस्मृतिक्रियः ॥

इस प्रकार उदानवायु की प्रकृतिस्थता पर उक्त अंगों की क्रियाओं की प्रकृतिस्थता भी निर्भर रहती है।

समानवायु—

समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वतः। अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति नित्यशः ॥

कोष्ठ विशेषतः पूर्णउदर में व्याप्त आमाशय तथा क्षुद्रान्त्र के पाचक रसों का स्राव कराने वाला, भुक्तान्न का पाचन करके किट्ट और प्रसादरूप से विभाजन करने वाला वायु ही समानवायु है।

व्यानवायु—**व्यानो हृदि स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः। गत्यपक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकाः। प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन् प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ॥**

अर्थात् व्यान वायु का मुख्य स्थान हृदय है और और सम्पूर्ण शरीर इसका संचरण स्थान है। यह अत्यन्त वेगवान् होता है। गतिसम्बन्धी सम्पूर्ण कर्म (उठाना, फेंकना, आँखें खोलना, बन्द करना चलना, फैलाना तथा सिकोडना आदि) इसके ही द्वारा होते है। इसके अतिरिक्त हृत्स्पन्दन, धमनीप्रधमन तथा सम्पूर्ण शरीर में रक्त का अनवरत प्रवाह कराना भी इसी वायु का कार्य है।

अपानवायु—

अपानोऽपानगः श्रोणिबस्तिमेढ्रोरुगोचरः। शुक्रार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रमणक्रियः॥

अपानवायु का मुख्य स्थान गुदा है। इसके अतिरिक्त यह श्रोणिगुहा, बस्ति, मूत्रेन्द्रिय तथा जांघों मे सचार करती है। शुक्र, आर्तव, मूत्र, मल तथा गर्भ को बाहर निकालने का कार्य इसके द्वारा ही सम्पादित होता है।

क्या वायु से वातनाडी (Nerves) का ग्रहण करना चाहिये ?

वायु के गुणों का वर्णन करते हुए चरक ने कहा है—

वायुरायुर्बलं वायुर्वायुर्धाता शरीरिणाम्। वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः॥

यदुच्छ्वासोन्मेषनिमेषाकुञ्चनप्रसारणगमनप्रेरणधारणानि तद्वायवीयम्।' अर्थात् शरीर की प्रत्येक ऐच्छिक या अनैच्छिक तथा समन्वयापादक क्रियाओं का अधिष्ठाता एव इन क्रियाओं की प्रकृतिस्थता के द्वारा आयु और बल को स्थिर रखने वाला वायु ही है। उक्त कार्य वातनाडियों के द्वारा ही सम्पादित होते हैं अतः वायु से वातनाडियों का ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं है। वस्तुतः वायु नीरूप है जैसा कि कहा भी है-**रूपरहितः शब्दस्पर्शवान् वायुः'** अर्थात् वायुरूप रहित होता है और उसका ज्ञान शब्द और मुख्यतः स्पर्श के द्वारा किया जाता है। अतः मूर्तरूप नाडियों को ही वात न मानना चाहिये। अपितु जिस प्रकार बिजली के तारों में बिजली की सत्ता है वैसे ही इन नाडियों मे वात की सत्ता रहती है। नाडियाँ वात के अधिष्ठान तथा क्रिया सम्पादन के साधन है। वायु इन्हीं में आश्रित रहती है। अत एव आश्रय और आश्रयी में अभेद मानकर इन नाडियों को भी वायु के नाम से पुकारने में कोई आपत्ति नही। इस प्रकार प्रकृतिस्थ वायु या उसका आश्रय नाडीमण्डल ही शरीर और मन की सम्पूर्ण क्रियाओं का नियामक है, इसका विस्तृत वर्णन महर्षि चरक ने वातकलाकलीय अध्याय में अति सुन्दर ढंग से किया है—**'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः, प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, सन्धानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, दोषसंशोषणः, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः'** अर्थात् वायु ही सर्व शरीर में फैले हुए सिरा, धमनी आदि तन्त्र तथा हृदय, फुफ्फुस, यकृत् एव मस्तिष्क सदृश यन्त्रों को अपने-अपने कार्य करने की शक्ति प्रदान करता है। चेष्टावहनाडियों (Motor nerves) के द्वारा पेशियों में विविध प्रकार की गतियों को उत्पन्न करना भी इसी का कार्य है। मन का नियमन तथा मानसिक वृत्तियों का उत्पादक वायु ही है। इसकी ही शक्ति से चेष्टावहनाडियों (Motor nerves) तथा सज्ञावहनाडियों (Sensyory nerves) के द्वारा सकल कर्मेन्द्रिया एव ज्ञानेन्द्रियां अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होती है। गृहीत अर्थों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द) को तत्तद् अर्थ का वहन करनेवाली नाडी के द्वारा मस्तिष्कस्थितकेन्द्र तक पहुँचाने का कार्य भा वायु के द्वारा ही सम्पन्न होता है। यही शरीर की सम्पूर्ण धातुओं को यथास्थान रखता है। वाणी

का व्यापार वायु (उदान) के ही अधीन है। अग्नि को भी अपने कार्य में प्रवृत्त करना वायु का ही कार्य है।

पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत्॥

इसके द्वारा ही स्वेद, मूत्र, पुरीष आदि मलों का बहिःक्षेपण, गर्भ की आकृति निर्माण तथा दीर्घायु की प्राप्ति होती है। उक्त सब कार्य भी वातनाडियों के ही आधीन हैं अतः वायु से वातनाडी का भी ग्रहण करना चाहिये।

विकृत वायु विपरीत क्रियाकारी होने से विविध शारीरिक एवं मानसिक रोगों को उत्पन्न करता है तथा गर्भ को भी विकृत बना डालता है।

प्राण का मुख्य केन्द्र मूर्धा या शिर है-कण्ठ, हृदय तथा फुफ्फुस तक इसका विस्तार रहता है। इससे प्रधानतया उक्त स्थानों के नाडीचक्रों का भी ग्रहण करना चाहिये। प्राण वायु की विकृति से हृदय तथा फुफ्फुस के रोग होते हैं। उदानवायु का प्रधान स्थान कण्ठ तथा फुफ्फुस है। इससे फुफ्फुसीय—नाडीजाल (Pulmonary plexus) का भी ग्रहण कर सकते हैं। इसमें विकृति होने से स्वरभेद तथा श्वास-प्रश्वास-सम्बन्धी रोग होते है। व्यानवायु का प्रधान स्थान हृदय तथा सर्वशरीर बताया गया है। यही रक्तसंचार, अनैच्छिक मांसपेशियों की गति, हृत्स्पन्दन तथा धमनी-प्रधमन का कार्य करता है। इसमें विकृति होने से हृदय के रोग तथा सर्वशरीरगत वात-विकृति के लक्षण मिलते हैं। वस्तुतः वायु ही शरीर की जीवन शक्ति है। इसके विकृति या क्षीण होने पर शरीर भी क्षीण एवं दुर्बल हो जाता है। वातनाडियाँ भी शरीर का पोषण करती हैं इसका स्पष्टीकरण आधुनिकों के निम्न उद्धरण से हो जाता है—Nerves exercise atrophic or neutritive influence over the tissues & organs they supply.' उक्त वायु की विकृति से ही कृशता, दुर्बलता तथा शोष और मांसपेशीक्षय (muscular atrophy) जैसे रोग होते हैं। समान वायु का प्रधान केन्द्र पाचन संस्थान है। इससे अधिजठर-प्रदेशीय नाडीचक्र (Epigastric plexus) का ग्रहण हो सकता है। क्योंकि यह वायु उक्त नाडी चक्र में विशेषतया अवस्थित रहती हैं। इसकी विकृति से पाचन क्रिया में विकृति एव तज्जन्य मलबन्ध, आनाह, शूल, ग्रहणी, अतिसार आदि रोगों की उत्पत्ति होती है। अपान वायु का प्रधान स्थान गुदा या नाभि से अधोभाग है। इसके प्रकृत रहने पर मल-मूत्र आदि का त्याग यथासमय और उचित रीति से होता है। इसके विकृत होने पर मूत्राघात, अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, अर्श तथा गर्भ की असम्यक् प्रवृत्ति सदृश विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं। अपान की विकृति से ही मूढगर्भ आदि रोग होते हैं[१]।

इन पांचों वातों में प्राण और अपान मुख्य हैं; क्योंकि इन दोनों के रोग भयंकर होते हैं। तथा शेष भेद इन्हीं के उपभेद हैं। इन वायुवों का ध्यान रखकर चिकित्सा में प्रवृत्त होने वाला चिकित्सक सौकर्य एवं सफलता को प्राप्त करता है, किन्तु प्रमादवश या अज्ञान से इनका यथोचित उपचार न होने से चिकित्सक को अपयश का भाजन होना पड़ता है।

---

१. इस विषय का मनन करते समय तीन महत्त्व की बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए—

(क) वायु एक ही है उसके स्थान, कर्म आदि के भेद से भिन्न २ नाम दिये गये हैं यह मत प्राचीन आचार्यों एवं टीकाकारों को भी मान्य है। प्रमाण के लिए मधुकोश में दिए गये विदेह और ईशान के निम्न उद्धरण पर्याप्त हैं—'विदेहे चैक एव वायुः, स्थानकर्मभेदात् पञ्चैवोच्यते-

वातरोगाणां पूर्वरूपं रूपं चाह—

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम् ।
आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥ ५ ॥ (च. चि. १४)

वातविकारों के अव्यक्त लक्षण (ईषद् व्यक्तरूप) ही वातव्याधि के पूर्वरूप होते हैं। तथा व्यक्त (दोषादि भेद से सुस्पष्ट) लक्षण ही आत्मरूप (शास्त्रों में वर्णित विभिन्न वातव्याधियों के सुव्यक्त लक्षण ही उसके रूप) कहलाते हैं एवं लक्षणों की अस्थिरता और विकृत अवयव की लघुता (हल्कापन) भी वातव्याधियों के स्वरूप होते है । अथवा **'अपायो लघुता'** का अर्थ लक्षणों में कमी होना ही रोग के शमन का निर्देशक है ॥ ५ ॥

पूर्वरूपादिकमाह—अव्यक्तमित्यादि । अव्यक्तमिति वक्ष्यमाणानां वातविकाराणां रूपमेवाव्यक्तं पूर्वरूपं; न तु ज्वरादिवद्विशिष्टमन्यत् । आत्मरूपमित्यादि तदेव व्यक्तमात्मरूपं दोषादिभेदेन सम्यक् प्रकाशितं स्वलक्षणमित्यर्थः । अपाय इति वायोश्चलत्वेन स्तम्भसंकोचकम्पादीनां कदाचिदभावात् यदुक्तं—'गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वष्वाक्षेपकादिषु' इति । लघुतेति शरीरस्य, वायुना सर्वधातुशोषणात् । अथवा अपायो लघुता इति सर्ववातविकाराणामपायोऽभावः, किं तदित्याह—लघुतेति । वातलिङ्गानां लघुताऽल्पत्वेनावस्थानं, न तु निःशेषनिवृत्तिः, यथा—बहिरायामनिवृत्तावपि न रूक्षत्वादिनिवृत्तिरित्याहुः ॥ ५ ॥

इत्याहुः, संसर्गिद्रव्यत्वेनैकाश्रये जलवत्पृथगवस्थानानुपपत्तेः । ईशानोऽप्याह—यथैको देवदत्तः स्थानभेदाद् गृहस्थो वानप्रस्थः कर्मभेदात् कुम्भकारः मालाकार इत्युच्यते, तथा वायुरपि ।'

वैदिक साहित्य में भी प्रायः वायु के दो ही भेद (सम्भवतः प्राण और अपान) का ही उल्लेख मिलता है यथा—य इमौ वातौ वातः आसिन्धोरापरावतः । ऋ० (विशेष विवरण के लिए रसयोगसागर का उपोद्घात देखिये ।) बाद में आवश्यकतानुसार पांच भेद किए गये हैं ।

(ख) कर्मप्राधान्य से अर्वाचीन शारीर में वर्णित वातवह-संस्थान (Nervous System) से बहुत कुछ तुलना सम्भव होते हुए भी गुण-प्राधान्य से श्वासवायु, भोजन-परिपाकोत्तर उत्पन्न वायु (गैस) आदि एवं वातगुण-भूयिष्ठ अस्थि आदि धातुओं की भी वात वर्ग में उपेक्षा आयुर्वेद सम्मत नहीं है । हमारे पाञ्चभौतिक शरीर में प्रत्येक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवयव भी पाञ्चभौतिक हैं। इनमें जिस किसी में भी वायुतत्त्व का आधिक्य हो उसे वायुवर्ग में मानना ही चाहिये । जैसा कि भगवान् चरक ने—'वाय्वात्मकं-स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः' (च. शा. अ. ४) इस सूत्र में कुछ का निर्देश किया है ।

(ग) प्राचीन आचार्यों ने वायु का प्रधान स्थान नाभि के अधोभाग में तथा उसके प्राणादि भेदों का स्थान हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ और सर्व शरीर केवल 'अरुन्धती-दर्शन' न्याय से छात्रों की प्रवृत्ति के लिए वायु के स्थूल गुण और कर्म के आधार पर ही बताया है । वस्तुतः वात, पित्त और कफ समस्त शरीर में व्याप्त हैं । सुगमता मात्र के लिए गुण और कर्म तथा लक्षणों की न्यूनाधिकता के आधार पर इनके भिन्न भिन्न भेद, स्थान, वाहिनिया और स्रोतों आदि का वर्णन किया है । इसी को आचार्य सुश्रुत ने वात, पित्त, कफ और रक्तवाहिनियों का पृथक् पृथक् वर्णन कर पुनः 'नहि वातं सिराः काश्चित् न पित्तं केवलं तथा । श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः' इस श्लोक में स्पष्ट किया है । तथा वाग्भट ने भी 'ते व्यापिनोऽपि' ऐसा कहा है ।

विमर्श—अपाय शब्द का अर्थ अभाव है। कुछ लोग अपाय और लघुता को वातव्याधि का स्वरूप मानते हैं उनके मत से अपाय का अर्थ कुछ काल के लिए बीच-बीच में लक्षणों में कमी आ जाना ही है । कहा भी है **'गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु'** । एवं लघुता का अभिप्राय पीड़ित अवयव की लघुता या हलकापन है क्योंकि वायु के प्रकुपित होने से रूक्षता और धातुशोषण होने से हलकापन हो जाना स्वाभाविक है ।

दूसरे लोग **'अपायो लघुता'** का अर्थ रोग लक्षण में कमी आना ही वात रोगों के अभाव का निदर्शक मानते हैं क्योंकि वातव्याधियां प्रायः असाध्य होती है और शान्त होने पर भी कुछ न कुछ स्थायी विकार छोड जाती हैं रोग की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती है । अतएव कहा भी है—

'वातव्याधिरसाध्योऽयं दैवयोगात् प्रशाम्यति ! अनुमानेन कुर्वन्ति भेषजं न प्रतिज्ञया' ।

वातव्याधीनाम्प्रायो भाविलिङ्गान् वर्णयति—

संकोचः पर्वणां स्तम्भो भङ्गोऽस्थ्नां पर्वणामपि ।
रोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः ॥ ६ ॥
खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोथोऽङ्गानामनिद्रता ।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥ ७ ॥
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।
भेदस्तोदोऽर्तिराक्षेपो मुहुश्चायास एव च ॥ ८ ॥ (च. चि. २८)

वायु के प्रकोप से अंगुलियों के पर्व तथा हाथ पैर के जोड सिकुड़ जाते हैं या जकड़ जाते हैं । हड्डी टूट जाती है सन्धि विच्युति (Dislocation) भी हो जाती है, रोंगटे खडे हो जाते हैं और रोगी प्रलाप करने लगता है, हाथ, पैर, पीठ और सिर जकड़ जाते हैं, आदमी लंगड़ा, लूला व कुबडा हो जाता है, अङ्ग सूख जाते हैं और निद्रानाश हो जाता है । गर्भ, शुक्र और रज का नाश हो जाता है, अंगों में फडकन और कभी कभी अङ्गों में सुप्ति (स्पर्शाभाव या संज्ञानाश) भी हो जाती है । सिर की त्वचा फटने लगती है, नासिका, गर्दन और आंखें टेढ़ी हो जाती हैं, अंगों में भेदनवत् व सूचिकाव्यधनवत् पीडा होती है; बार बार आक्षेप होते हैं तथा थकावट आती है ॥६–८॥

करोति विविधान् व्याधीनिति यदुक्तं तद्व्याकरोति–संकोच इत्यादि । स्तम्भः पर्वणामेव । पाङ्गुल्यं पङ्गुता । शोथोऽङ्गानामिति बाहुमुखादीनाम् । अनिद्रतेत्यनेनाल्पनिद्रतेत्याहुः । गर्भशुक्ररजोनाश इति गर्भशय्याया वाताधिष्ठितत्वेन गर्भाग्रहणमिति जेज्जटः; **गर्भादिविकृतिरप्यत्र द्रष्टव्या । स्पन्दनं कम्पनम् । हुण्डनं शिरःप्रभृतीनामन्तःप्रवेशो वक्रत्वं वा, धातूनामनेकार्थत्वात् । अन्ये त्वाहुः—शिरोहुण्डनं केशभूमिस्फुटनं शङ्खललाटभेदश्च, नासाहुण्डनं घ्राणनाशः, अक्षिहुण्डनमक्षिव्युदासः, जत्रुहुण्डनं वक्षउपरोधः, ग्रीवाहुण्डनं ग्रीवास्तम्भः । भेद इति ओष्ठदन्तश्रोण्यादीनाम्**[1] **। तोदः शूलम् । अर्तिः पीडा, सा च पादपार्श्वश्रोत्राक्षिवङ्क्षणानामिति** जेज्जटः **। आक्षेपश्च आक्षेपकादिषु वक्ष्यमाणः । आयासः श्रमः ॥ ६–८ ॥**

विमर्श—**'शोथोऽङ्गानाम्'** इस पाठ में शोथ (सूजन) हो जाती है किन्तु शोथ के स्थान पर शोष पाठ अच्छा है; क्योंकि वायु के प्रकोप से अंग प्रायः सूख जाते है । गर्भ, शुक्र और रज से

१. 'श्रोत्रादीनाम्' इति क. ।

उनके आश्रयों (गर्भाशय, शुक्राशय तथा आर्तवाशय या बीजग्रन्थि का भी ग्रहण करना चाहिये। इससे तत्तद् अङ्ग की क्रिया का नाश या विकृति अभिप्रेत है। हुण्डन शब्द **'हुडि संघाते'** (भ्वादि आ० से०) धातु से बना है। सवात अनेक प्रकार का हो सकता है अतः शिर आदि अङ्गों की वक्रता, अन्तःप्रवेश आदि हो सकते है। किन्तु कुछ लोग विशेषतः शिरोहुण्डन का अर्थ शिर की त्वचा का फटना और शख एवं ललाट में पीड़ा होना; नासाहुण्डन = घ्राणनाश, अक्षिहुण्डन = नेत्रों की कुटिलता, जत्रुहुण्डन = वक्ष में अवरोध (श्वास आदि लेने और बोलने में कष्ट होना) और ग्रीवाहुण्डन = गर्दन में जकड़न होना मानते है।

निदानादिवैशिष्ट्यात् वातस्यानेकरोगजनकत्वं प्रतिपादयति—

एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः।
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत् ॥ ९ ॥(च. चि. २८)

कुपित हुआ वायु पूर्वोक्त लक्षण एवं उनके ही समान अनेक लक्षणों को उत्पन्न करता है तथा हेतु और स्थान की विशेषता से अनेक विशिष्ट रोगों को भी उत्पन्न करता है ॥ ९ ॥

हेत्वित्यादि। हेतुविशेष आवरणादिः, यथा—श्लेष्मावृतो मन्यास्तम्भकारी; स्थानविशेषः कोष्ठादिः, यथा—पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजमित्यादि ॥ ९ ॥

विमर्श—दूषित वायु जिस विशिष्ट कारण से उत्पन्न होती है एवं जिस धातु एवं अवयव में विकृत होकर अवस्थित होती है उसके अनुसार विचित्र लक्षणों को उत्पन्न करती है तथा विकृत अवयव एवं उत्पन्न लक्षणों के अनुसार रोगों की भिन्न-भिन्न संज्ञा होती है यथा—मन्यास्तम्भ, पक्षवध, हनुग्रह, कर्णशूल आदि।

तदेव विवृणोति—

तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शः पार्श्वशूलं च मारुते ॥ १० ॥
सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जनम्।
वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥ ११ ॥ (च.चि.२८)

कुपित वायु के कोष्ठाश्रित होने पर मल और मूत्र का अवरोध हो जाता है। इससे ब्रध्न (वंक्षणप्रदेशगत शोथ), हृद्रोग, गुल्म तथा अर्श रोग और पार्श्व शूल होते हैं। सर्वाङ्ग वात प्रकोप होने से विभिन्न अङ्गों में फड़कन तथा भञ्जनवत् पीडा होती है एवं तोद-भेद आदि पीडाओं से व्याप्त सन्धियाँ फटती हुई सी प्रतीत होती हैं ॥ १०–११ ॥

एतदेव विवृणोति (कोष्ठाश्रितवातलक्षणमाह) तत्रेत्यादि। कोष्ठशब्देनाविशेषात् सर्वे आमाशयादयो गृह्यन्ते, आमाशयादिगं तु पृथगपि वक्ष्यति। निग्रहोऽप्रवृत्तिः। ब्रध्नः कोशवङ्क्षणसन्धिः ॥ १०–११ ॥

विमर्श—कोष्ठ से वक्षोगुहा (Thorax), उदरगुहा (Abdomen), तथा श्रोणिगुहा (Pelvic cavity) तीनों का ग्रहण होता है। इस प्रकार श्रोणि या बस्तिगत वात प्रकुपित होने से मूत्रावरोध, मूत्रकृच्छ्र आदि रोग होते हैं। उदर या आन्त्रगत वायु के प्रकोप से आनाह, आध्मान तथा बद्धगुदोदर जैसे रोग हो जाते हैं। वक्षोगुहास्थित फुफ्फुस तथा श्वास प्रणाली मार्ग में वातप्रकोप से श्वासावरोध, पार्श्वशूल आदि रोग होते हैं।

गुदामाशयस्थितवातलक्षणमाह—

ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदे स्थिते ॥ १२ ॥
रुक् पार्श्वोदरहृन्नाभेस्तृष्णोद्गारविसूचिकाः । (च. चि. २८)
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ॥ १३ ॥

गुदा में प्रकुपित वात के स्थित होने पर मल, मूत्र तथा वायु का निस्सरण बन्द हो जाता है। शूल, आध्मान, अश्मरी तथा शर्करा रोग हो जाते हैं; जङ्घा, त्रिक, पर और पृष्ठ में पीडा व शोष हो जाता है।

आमाशय में वायु विकृत होने पर पार्श्व, उदर, हृदय तथा नाभि में पीडा, प्यास, डकार, विसूचिका, खांसी, गले और मुख का सूख जाना तथा श्वास ये रोग होते हैं ॥ १२-१३ ॥

गुदस्थितवातलक्षणमाह—ग्रह इत्यादि । अश्मा अश्मरी । रोगो रुजा । गुद इत्युत्तरगुदे पक्वाशय इत्यर्थः, नतु गुदमात्रे, तथा सत्यश्मरीकर्तृत्वानुपपत्तेः ॥ १२-१३ ॥

विमर्श—अश्म और शर्करा शब्द के उपादान से सिद्ध है कि गुद शब्द से प्रकृत में गुद के सम्मुख स्थित वस्ति का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त वातप्रकोप के कारण गुदा (Rectum) के फूलने से दबाव के कारण भी वस्तिगत लक्षणों की अभिव्यक्ति होती है । गुदा के समीपस्थ वातनाडी जालों की विकृति से उनके क्षेत्र जंघा आदि में पीडा अथवा शोष के लक्षण व्यक्त होने लगते हैं। आमाशयस्थ वात के कुपित होने से आमाशय फूल जाता है और पार्श्व आदि पर दबाव डालकर उनमे पीडा भी उत्पन्न करता है। ऊपर की ओर वायु फुफ्फुस पर विशेष दबाव डालकर श्वास की गति को भी बढ़ा देता है।

पक्वाशयस्थवातं निरूपयति—

पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥ १४ ॥

पक्वाशय स्थित विकृत वात आंतों में गुड़गुड़ा शब्द, शूल, अटोप[1] (अफारा), मल-मूत्र की रुकावट, आनाह एवं त्रिकप्रदेश (Sacral region) में पीडा को उत्पन्न करता है ॥ १४ ॥

पक्वाशयस्थवातलक्षणमाह—पक्वाशयस्थ इत्यादि । ननु पक्वाशयस्थ इति पुनरुक्तिः, गुदे स्थित इत्यनेनैवोक्तत्वात् । उच्यते, गुदे स्थित इति दृढबलस्य लक्षणं पक्वाशयस्थ इति सुश्रुतस्य उभयलिङ्गोपन्यासस्तु सकललिङ्गप्रदर्शनार्थमित्यविरोधः ॥ १४ ॥

श्रोत्रादिगतवातलक्षणमाह—

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद् दुष्टः समीरणः । (च. चि. २८)

---

१. आनाह—मलमूत्रावरोधयुक्त आध्मान को आनाह कहते हैं। आध्मान—केवल पेट का फूलना। आटोप—मलप्रवृत्ति के रहने पर भी पेट में गड़गड़ाहट का होना। इसमें आध्मान की उपस्थिति या अनुपस्थिति दोनों ही स्थितियाँ हो सकती हैं।

---

१. साम्प्रतं 'पक्वाशयस्थ' इत्यादि श्लोक उभयत्र (चरकसुश्रुतयोः) दृश्यते। (सं०)

श्रोत्र आदि इन्द्रियों में कुपित वात की सत्ता होने पर उनकी ज्ञान-शक्ति नष्ट हो जाती है।

विमर्श—वायु के प्रकोप से श्रुतिनाडी (Auditory nerve), दृष्टिनाडी (Optic nerve), घ्राणनाडी (Olfactory nerve), रसनेन्द्रियनाडी (Taste fibres of chorda tympani nerve) तथा शीत-उष्ण आदि अनुभवों का वहन करने वाली स्पर्शनाडी-सूत्रों की क्रिया शक्ति नष्ट हो जाती है जिससे तत्तद् अर्थ का ज्ञान भी नहीं होने पाता।

त्वग्गतवातलक्षणं वर्णयति—

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते। (च. चि. २८)
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वग्गतेऽनिले॥ १५॥

प्रकुपित वात के त्वचा में स्थित रहने पर त्वचा रूक्ष तथा फटी हुई रहती है, उसमें स्पर्श की शक्ति नहीं रहती वह कृश व कृष्णवर्ण की रहती है और सूचिका भेदनवत् पीडा होती है। कभी खिंचावट सी प्रतीति होती है और उसमें कहीं-कहीं लाल चकत्ते भी पड जाते हैं तथा पर्व या सन्धियों में पीड़ा होती है॥ १५॥

त्वग्गतवातलक्षणमाह—त्वगित्यादि। आतन्यते विस्तार्यत एव। त्वग्गत इति उपधातुरूपां त्वचं प्राप्ते; चन्द्रिकाकारस्तु **त्वक्शब्देन रसमाह, तेन रसगत इत्यर्थः। हृदयस्थस्य च रसस्यामाशयसामीप्यादामाशयगतवातलक्षणेनैव तदधिगते रसगतस्यानभिधानमिति** कार्तिकः॥ १५॥

विमर्श—त्वचा से त्वचागत रसवाहिनी का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। और उनके शोथ (Lymphangitis) में भी वैवर्ण्य, पीड़ा चुमचुमायन आदि त्वग्गतवात के लक्षण मिलते है। तथा समुच्चयार्थक 'च' के प्रयोग से अनुक्त विषमस्पर्शता, स्पर्शासहता आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। वात प्रकोप से रस का क्षय होने के कारण त्वचा में रूक्षता कृशता और कृष्णता आदि लक्षण मिलते हैं। उक्त लक्षण परिसरीय वातनाडी शोथ (Peripheral neuritis) में मिलते हैं। सुश्रुत ने इसके निम्न लक्षण दिये हैं—

'वैवर्ण्यं स्फुरणं रौक्ष्यं सुप्ति चुमचुमायनम्। त्वक्स्थो निस्तोदनं कुर्यात् त्वग्भेदं परिपोटनम्॥

कतिपय विद्वान् इसे स्पर्श वात भी कहते हैं और उसका निम्न लक्षण करते हैं—

अंगेषु तोदनं प्रायो ग्राहः स्पर्शे न विन्दति।
मण्डलानि च दृश्यन्ते स्पर्शवातस्य लक्षणम्॥ (यो० र०)

सुप्ति या स्पर्शज्ञान की शून्यता का लक्षण प्रधानतः कुष्ठ में मिलता है अतः उसे स्पर्शवात या त्वग्गत वात का परिणाम कह सकते हैं। त्वचा स्थित अन्य प्रकार के मण्डल और चिह्न भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः इसे परिसरीय नाडीशोथ (Peripheral neuritis) मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

रक्तगतवातलक्षणमाह—

रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले॥१६॥ (च. चि. २८)

रक्तगत वात होने पर शरीर में तीव्र पीडा व सन्ताप या उष्णता का अनुभव होता है। शरीर का रंग अस्वाभाविक हो जाता है, दुर्बलता तथा अरुचि होती है। शरीर में फुंसियाँ निकल आती हैं तथा भोजन के उपरान्त गात्रस्तम्भ हो जाता है॥ १६॥

असृग्गतवातलक्षणमाह—रुज इत्यादि । अरूंषि व्रणाः । भुक्तस्य स्तम्भो भुक्तवतो गात्रस्तम्भः, सन्तर्पणेन रक्तस्य वृद्धेः । अन्ये त्वसृग्गतवातलक्षणं न पठन्ति, वातरक्तेन सहाभेदात्, तन्न, अत्र, दुष्टो वायू रक्तेनावृतः कुप्यति, वातरक्ते तु स्वकारणादुभावपि हस्त्यादिगमनकुपितौ विशिष्टसंप्राप्त्या हस्तपादगतावेव वातरक्ताख्यं विकारं जनयत इति ॥

विमर्श—रक्तगत वात से प्रवृद्ध रक्तदाब (High Blood Pressure) का ग्रहण करना चाहिए । कतिपय विद्वान् **'रक्तञ्च वातश्च' इति रक्तवातः,** ऐसा विग्रह करते हैं । इस प्रकार कविराज गणनाथसेन जी आदि रक्तवात और वातरक्त मे कोई भेद नही मानते । वस्तुतः दोनों रोग भिन्न है । वातरक्त में वात और रक्त दोनों का अपने-अपने कारणों से विकृत होना अनिवार्य है जब कि रक्तवात मे दुष्ट वायु ही रक्तगत या रक्त से आवृत होकर विकार को उत्पन्न करता है । इस प्रकार वातरक्त से गाउट (Gout) तथा रक्तवात से प्रवृद्ध रक्तदाब (High B P) का ग्रहण करना चाहिए । इसके अतिरिक्त कुछ लोग हृद्रोग को ही रक्तवात मानते है वह भी ठीक नही, क्योंकि चरक और तदनुसारी माधव ने इन दोनों का पाठ पृथक्-पृथक् किया है । यद्यपि रक्त की विकृति से उसके आधार हृदय का भी सम्बन्ध कुछ न कुछ इस रोग के साथ रहता है तथापि हृद्रोग को ही रक्तवात (High B. P.) नहीं कह सकते, क्योंकि यह लक्षण केवल हृदय की विकृति से ही नहीं अपि तु वृक्क की विकृति से भी उत्पन्न होता है । इसके लिये श्री मजूमदार जी ने कहा भी है—

'Hypertension in children is the effect of chronic progressive nephritis, congenital malformation of the kidney, acute renal infection and coarctation of the aorta. In adult chronic nephritis, essential hypertension and certain acquired valvular lesions are responsible.'

रक्तदाब का नियमन हृदय के वाम निलय (Left ventricle) की क्रियाशीलता, धमनियों का स्थितिस्थापकत्व (Elastic condition of the arteries) तथा रक्त की मात्रा व उसकी पिच्छिलता (Viscosity) के द्वारा होता है । वयस्क व्यक्तियों में वाम निलय तथा रक्तवाही धमनियों के परमचय (Hypertrophy) से तथा कभी-कभी वृक्क विकार से भी यह रोग होता है । इसके अतिरिक्त प्रसवकालीन अत्यधिक पीडा, वृक्कशोथजन्य-विषमता (Toxaemia) अथवा जारकाभाव (Anoxaemia) के कारण भी धमनी संकोच हो जाने पर रक्त का दबाव बढ़ जाता है । प्रवृद्ध-रक्त-पिच्छिलता (Increased viscosity of blood) भी रक्तदाब की वृद्धि का हेतु हैं ।

त्वचा के नीचे (In Subcutaneous tissues) रक्तस्राव हो जाने से छोटे छोटे फुंसियाँ (Pitachi) भी हो जाती हैं । भोजन का शोषण होने के पश्चात् रक्त की वृद्धि होने पर रोग की वृद्धि होती है । भोजन करने के उपरान्त शरीर में भारीपन का भी अनुभव विशेष रूप से होता है । योगरत्नाकर में रक्तवात के निम्न लक्षण दिये गये हैं—

पादयोश्च भवेद्दाहस्त्वक्स्फोटः श्वयथुः क्लमः । रक्तस्रावः स्पन्दनं च रक्तवातस्य लक्षणम् ॥

चरक ने रक्तगतवात के अतिरिक्त रक्तावृतवातका भी वर्णन किया है किन्तु रक्तावृतवात के लक्षण भी इसके समान ही हैं—

रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजोऽभृशम् । भवेत् सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च[1] ॥

मांसमेदोऽस्थिमज्जगतवातलक्षणं लक्षयति—

गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा ।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥ १७ ॥
भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः । (च. चि. १८)
अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥ १८ ॥

मांस और मेद में वायु के स्थित होने पर शरीर भारी व निश्चल हो जाता है, ऐसी पीडा होती है मानों किसी ने डण्डे या मुष्टिका से प्रहार किया हो, शरीर पीडायुक्त एवं थका-सा रहता है ॥

कुपित वायु के मज्जा और अस्थि में स्थित होने पर अस्थि और पर्वों में भेदनवत् पीडा, ग्रन्थियों में शूल, मांस और बल का क्षय, निद्रानाश तथा स्थायी स्वरूप की पीडा को उत्पन्न करता है ॥ १७–१८ ॥

मांसमेदोगतवातलक्षणमाह—गुर्वित्यादि । श्रमितं श्रान्तं निःसहमित्यर्थः । मांसमेदोगतवायोरेकलिङ्गत्वम्, अदूरान्तरेण प्रत्यासत्तेराश्रयाभेदात्[1] । एवं मज्जास्थिकुपितेऽपि वाच्यम् ।

विमर्श—मिथ्या-परमपुष्ट-पेशीय-अपुष्टि (Pseudohypertrophic muscular atrophy) रोग भी मांसगत वायु का ही परिणाम है । साहचर्य के कारण मास और मेद गत वात के लक्षण समान होते हैं । सुश्रुत के अनुसार मांसगत वायु शूलयुक्त ग्रन्थि तथा मेदस्थित वायु कम पीडा वाली एवं अव्रण ग्रन्थियों को उत्पन्न करता है—

······ग्रन्थीन् सशूलान् मांससंश्रितः । तथा मेदःस्थितः कुर्याद् ग्रन्थीन् मन्दरुजोऽव्रणान् ॥

अधिक श्रम करने से कुछ काल मात्र के लिए वायु की वृद्धि तथा तज्जन्य थकावट की प्रतीति होती है, किन्तु इस अवस्था में वायु विकृत होकर निरन्तर उपस्थित रहती है । अतः रोगी को सदैव थकावट का अनुभव होता रहता है ।

साहचर्य के कारण अस्थि और मज्जागत वात के लक्षण भी समान ही होते हैं । उक्त लक्षण आधुनिक अस्थि-मज्जा-शोथ (Oesteomyelitis) की अवस्था से पूर्णतया मिलते हैं । उसमें भी अस्थि में तीव्र और स्थायी स्वरूप का शूल व निद्रानाश पाया जाता है । यद्यपि यह साक्षात् वातनाडी की विकृति नहीं है तथापि लक्षणों विशेषतः पीडा की अभिव्यक्ति वातनाडी के प्रभाव से ही होती है । इससे यह भी स्पष्ट है कि वात से सर्वत्र वातनाडी की ही अङ्गीय विकृति का ग्रहण नहीं किया जाता । सुश्रुत ने इन दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया है—

अस्थिशोषञ्च भेदञ्च कुर्याच्छूलञ्च तच्छ्रितः । तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित् प्रशाम्यति ॥

---

१. योगरत्नाकर में पूर्वोक्त लक्षण और रक्तवात संज्ञा के वर्णन के बाद चिकित्सा का वर्णन करते हुए रक्तवात का पर्य्याय नाम शिरापूरण दिया है । यह सुस्पष्टतया आधुनिक रक्तभाराधिक्य का निदर्शक है । इस चिकित्सा से इस रोग में निश्चित लाभ भी होता है । साथ ही उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि रक्तवाहिनियों का विकार भी रक्तभाराधिक्य का कारण होता है अतः वक्ष्यमाण सिरागत वात के लक्षणों के साथ रक्तवात के लक्षणों का मेलन करने पर तो रक्तभाराधिक्य के लक्षणों में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता ।

---

१. प्रत्यासत्तेराश्रयप्रभावात्' इति पाठान्तरम् ।

केवल अस्थि शोथ को आधुनिक विद्वान् Osteitis तथा उसके आवरणमात्र के शोथ को Periostitis कहते हैं। इन सब का भी समावेश अस्थिगत वात में ही हो जाता है।

शुक्रगतवातलक्षणमवतारयति—

क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः॥ १९॥(च. चि. २८)

शुक्रगत कुपित वायु के कारण शुक्र का कभी शीघ्र पात हो जाता है और कभी वह रुक भी जाता है। इसी प्रकार कभी गर्भ का शीघ्र पात और कभी देर से प्रसव होता है तथा शुक्र और गर्भ विकृत भी हो जाते है॥ १९॥

शुक्रस्थवातलक्षणमाह—क्षिप्रमित्यादि। गर्भमिति दुष्टशुक्रारब्धत्वाद्गर्भस्य। विकृतिमिति गर्भस्य शुक्रस्य च॥ २९॥

विमर्श—शुक्र में विकार होने पर उससे उत्पन्न हुए बच्चे में भी वातविकार के कारण अंगवैकल्य पाया जाता है। सुश्रुत ने भी इसी के समान लक्षणों का वर्णन किया है—**'अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिर्वा विकृतिः शुक्रगेऽनिले'**

सिरास्नायुगतं वातलक्षणमाह—

कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्। (सु. नि. १)
स बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौब्ज्यमथापि वा॥ २०॥
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् स्नायुगतोऽनिलः। (च. चि. २८)

सिरागत वायु से शूल, सिरासंकोच तथा सिरा की स्थूलता या पूर्णता होती है।

स्नायु में स्थित विकृत वायु के कारण बाह्यायाम, अन्तरायाम, खल्ली, कुब्जता (कुबडापन) तथा अन्य सार्वदेहिक (General) और स्थानीय (Local) व्याधियों की उत्पत्ति होती है॥ २२॥

सिरागतवातलक्षणमाह—कुर्यादित्यादि। आकुञ्चनं सङ्कोचः। पूरणं स्थूलत्वं, यदुक्तमन्यत्र—'सुप्तास्तन्व्यो बृहत्यो वा सिरा वाते सिरागते' इति। खल्लीं वक्ष्यमाणाम्॥ २०॥

विमर्श—सिरा से केवल अशुद्ध रक्तवाहिनी सिरा (Vein) का ग्रहण न करके धमनी आदि का भी ग्रहण करना चाहिये। सुश्रुत में रक्त, पित्त, कफ और वातवाहिनी भेद से चार प्रकार की सिराओं का वर्णन मिलता है और क्रमशः उनके नाम भी लोहिता, नीला, गौरी और अरुणा बताया है।

१. **लोहिता**—इससे धमनी (Artery) का ग्रहण करना चाहिये।

२. **नीला**—इससे सिरा (Vein) का ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि उसका वर्ण नीला होता है।

३. **गौरी**—इससे कुछ लोग वातनाडी (Nerve) का और कुछ लोग लसवाहिनी (Lymphatics) का ग्रहण करते हैं। वस्तुतः लसवाहिनी का ही ग्रहण करना उचित होगा; क्योंकि **'गौर्यः कफवहाः'** गौरी नाम की सिरा कफ का वहन करती है, इस वचन से कफ का वहन करने वाली लसवाहिनियों का ही ग्रहण करना चाहिये।

४. **अरुणा**—यह वातनाडी का वाचक है; क्योंकि वातनाडी का वर्ण आभ्यन्तर रक्त के कारण ईषद्रक्त या अरुण वर्ण का होता है।

सिरागतः शूलम्—पीडा का कारण वातनाडी ही है, अतः यहाँ सिरा से वातनाडी का ग्रहण करना चाहिये किन्तु सकोच और स्थूलता प्रायः रक्तवाहिनियों में होती है अतः उनका भी ग्रहण

करना चाहिये । कभी उनमे रक्ताधिक्य होने से सिरा में फुलाव और कभी रक्त कम होने से सकोच या रिक्तता की अवस्था हो जाती है । वाग्भट ने भी कहा है—**'सिरास्वाध्मानरिक्तते'** ।

स्नायु शब्द भी सन्दिग्ध है । कतिपय विद्वान् इससे वातनाडी का ग्रहण करते है जो कि युक्तियुक्त प्रतीत नही होता । कुपित या प्रकृत वायु का प्रधान अधिष्ठान वातनाडी ही है, उसी के द्वारा अन्य धातुओं एवं अगों मे भी वायु अपना प्रभाव दिखाता है, उसके लिये पुनरुक्ति करना अनुचित है । वस्तुतः स्नायु को सन्धि का बन्धन या स्थिर रखने वाला कहा गया है—

एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धय स्मृताः । स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥

(सु. शा. ५)

इससे स्पष्ट है कि स्नायु से लिगामेंट (Ligament) का ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि वे ही सन्धियों को स्थिर रखने का कार्य करते है । पाश्चात्य वैद्यक में भी कुछ समय पूर्व लिगामेंट के लिये साइन्यू (Sinew) शब्द का व्यवहार होता था जो कि स्नायु का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है । स्नायुगत बाह्यायाम आदि सभी रोग स्नायु (Ligament) या उनके स्थूल रूप कण्डरा (Tendons) और उनमें सम्पृक्त मांसपेशीगत वायु या वायु के अधिष्ठान वातनाडियों की विकृति से ही होते हैं, यह आगे स्पष्ट किया जायगा । कदाचित आघात आदि के कारण स्नायु की विकृति से भी आवरण-जनित वातविकृति होने पर ये रोग स्थायी स्वरूप धारण कर लेते है । सुश्रुत निश्चलता, कम्पन, आक्षेप तथा शूल को स्नायुगत वात का लक्षण कहते है—**'स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा ॥'** (सु. नि. १) वाग्भट गृध्रसी को भी स्नायुगत वात का ही परिणाम मानते है—**'स स्नावस्थितः कुर्याद् गृध्रस्यायामकुब्जताः'**(अ. हृ. नि. १५) इससे सन्देह होता है कि स्नायु से कही कही वातनाडी का भी ग्रहण करते हैं क्योंकि गृध्रसी वातनाडी का ही विकार है । किन्तु आवरण का विचार करने पर यह सन्देह भी निर्मूल हो जाता है ।

सन्धिगतवातलक्षणमाह—

हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलाटोपौ करोति च ॥ २१ ॥

सन्धि में स्थित विकृत वायु सन्धियों को नष्ट कर देता है तथा उनमें शूल और सूजन को उत्पन्न करता है ॥ २१ ॥

सन्धिगतवातलक्षणमाह—हन्तीत्यादि । हन्ति सन्धिगतः सन्धीनिति सन्धिविश्लेषं स्तम्भादिकं वा करोति ॥ २१ ॥

विमर्श—संधिगत कुपित वायु संधियों को नष्ट कर देता है । इसका यह अभिप्राय है कि उनकी स्वाभाविक क्रिया में विकार आ जाता है । कभी-कभी सधिविच्युति भी हो जाती है तो कभी केवल क्रियाहानि मात्र होती है । आम और अन्य दोषों के सम्पर्क से शोथ आदि विकार भी होते हैं । सन्धियों में एक विशेष प्रकार की लचक होती है, जिसके कारण उनमें आवश्यकतानुकूल सिकुड़ने और फैलने का गुण होता है । वायु की विकृति से उक्त गुण नष्ट हो जाता है और रोगी इच्छानुकूल विकृत सन्धि के प्रसारण और संकोचन में समर्थ नहीं होता एवं प्रयत्न करने पर पर उनमें तीव्र वेदना का अनुभव भी होता है, यह बात चरक के निम्न श्लोक से सुस्पष्ट है—

वातपूर्णदृतिस्पर्शः शोथः सन्धिगतेऽनिले । प्रसारणाकुञ्चनयोः प्रवृत्तिश्च सवेदना ॥

उक्त स्थिति आमवात में विशेषरूप से पायी जाती है । आधुनिक विद्वान् केवल संधिगत विकार को Arthritis (सधिवात) और साम विकार को Sinoarthritis (आमवात) कहते हैं ।

पित्तकफावृत्तानां प्राणादीनां लक्षणान्याह—

(प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥)
प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते ।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यं च कफावृते ॥ २२ ॥
उदाने पित्तयुक्ते तु दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः ।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतता च कफावृते ॥ २३ ॥
स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छाः स्युः समाने पित्तसंवृते ।
कफेन सक्ते विण्मूत्रे गात्रहर्षश्च जायते ॥ २३ ॥
अपाने पित्तयुक्ते तु दाहौष्ण्यं रक्तमूत्रता ।
अधः काये गुरुत्वं च शीतता च कफावृते ॥२२॥(सु. नि. १)
व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ।
स्तम्भनो दण्डकश्चापि शूलशोथौ कफावृते ॥ २६ ॥

प्राण, उदान, समान, व्यान तथा अपान ये पांचों वायु अपने-अपने स्थान पर प्राकृत रहते हुए शरीर का धारण-पोषण उचित रीति से करते-रहते हैं ।

पित्तावृत प्राण—प्राणवायु के पित्त से आवृत होने पर वमन तथा दाह होते हैं ।

कफावृत प्राण—प्राण के कफावृत होने पर दुर्बलता, सुस्ती, तन्द्रा तथा मुख की विरसता हो जाती है ।

पित्तावृत उदान—उदान वायु के पित्त से आवृत हो जाने पर दाह, मूर्च्छा, भ्रम तथा क्लम (अनायास श्रम) हो जाते हैं ।

कफावृत उदान—उदान के कफ से आवृत होने पर पसीना नहीं निकलता, रोमाञ्च हो जाता है, अग्नि मन्द हो जाती है तथा शीत का अनुभव होता है ।

पित्तावृत समान—समानवायु के पित्तावृत होने पर पसीने की अधिकता, दाह, गर्मी तथा मूर्च्छा होती है ।

कफावृत समान—समान वायु के कफावृत होने पर मल तथा मूत्र का अवरोध हो जाता है तथा शरीर रोमाञ्चित रहता है ।

पित्तावृत अपान—अपानवायु के पित्त से आवृत होने पर जलन और गर्मी के साथ-साथ मूत्र में रक्त भी आता है ।

कफावृत अपान—अपानवायु के कफावृत होने पर शरीर के अधोभाग में भारीपन व शीतता रहती है ।

पित्तावृत व्यान—व्यानवायु के पित्तावृत होने पर दाह तथा अंगविक्षेप (हाथ-पैरों का बेचैन होकर इतस्ततः फेंकना या झटके आना) तथा क्लम होते हैं ।

कफावृतव्यान—व्यानवायु के कफ से आवृत होने पर कुछ अंग या सारा शरीर जकड़ कर डण्डे के समान हो जाता है तथा शूल और शोथ भी होते है ॥ २२-२६ ॥

पित्तकफावृतानां प्राणादीनामर्धार्धश्लोकेन लिङ्गान्याह—प्राण इत्यादि । गात्रहर्षो रोमाञ्चः । दण्डको दण्डवत् स्तम्भः । परस्परं च प्राणादीनामावरणानि विंशतिर्भवन्ति । यदुक्त चरके—**मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणं श्रृणु**' (च चि. अ. २८) **इत्यादि । एषां च लक्षणं** चरक **एव द्रष्टव्यम् ।** विदेह **एक एव वायुः स्थानकर्मभेदात् पञ्चेत्याहुः, संसर्गिद्रव्यत्वेनैकाश्रये जलवत्पृथगवस्थानानुपपत्तेः ।** ईशानोऽप्याह–**यथैको देवदत्तः स्थानभेदाद् गृहस्थो वानप्रस्थः कर्मभेदात् कुम्भकारो मालाकार इत्युच्यते, तथा वायुरपीति ॥२२-२६॥**

विमर्श—कदाचित् वायु अपने कारणों से स्वतन्त्रतया विकृत होकर रोग उत्पन्न करता है और कभी-कभी वृद्ध कफ और पित्त आदि से आवृत होकर भी विकारों को उत्पन्न करता है; क्योंकि चरक ने कहा भी है **'वायोर्धातुक्षयात्कोपो मार्गस्यावरणेन च'** । वाग्भट ने भी **'वायोरावरणं चातो बहुभेदं प्रवक्ष्यते'** 'से लेकर' **इति द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं विदुः'** तक बाईस प्रकार के आवरणों का उल्लेख किया है, उनका यहाँ केवल नाम निर्देश ही किया जायगा विस्तृत वर्णन उक्त ग्रन्थों में ही देखें—

१. पित्तावृत वात
२. कफावृत वात
३ रक्तावृत वात
४. मांसावृत वात
५. मेदसावृत वात (आढ्यवात)
६. अस्थ्यावृत वात
७. मज्जावृत वात
८. शुक्रावृत वात
९. अन्नावृत वात
१०. मूत्रावृत वात
११. मलावृत वात
१२. सर्वधात्वावृत वात
१३. पित्तावृत प्राण
१४. पित्तावृत उदान
१५. पित्तावृत व्यान
१६. पित्तावृत समान
१७ पित्तावृत अपान
१८. कफावृत प्राण
१९. कफावृत उदान
२०. कफावृत व्यान
२१. कफावृत समान
२२. कफावृत अपान

इनके अतिरिक्त प्राण, उदान आदि भी परस्पर आवृति करते है, इस प्रकार इससे बीस भेद और होते है--

प्राणादयस्तथाऽन्योन्यमावृण्वन्ति यथाक्रमम् । सर्वेऽपि विंशतिविधं विद्यादावरणं च यत् ॥

१. उदानावृत प्राण
२. व्यानावृत प्राण
३. समानावृत प्राण
४. अपानावृत प्राण
५. प्राणावृत उदान
६. व्यानावृत उदान
७. समानावृत उदान
८. अपानावृत उदान
९. प्राणावृत व्यान
१०. उदानावृत व्यान
११. समानावृत व्यान
१२. अपानावृत व्यान
१३. प्राणावृत समान
१४. उदानावृत समान
१५ व्यानावृत समान
१६ अपानावृत समान
१७ प्राणावृत अपान
१८. समानावृत अपान
१९. उदानावृत अपान
२०. व्यानावृत अपान

प्राण आदि वातों के पित्तावृत होने पर तत्तद्वातस्थान में दाह, उष्णता आदि तथा मूर्च्छा जैसे सार्वदैहिक लक्षण होते हैं । इसी प्रकार कफ से आवृत होने पर शीतता, अरुचि, वैरस्य तथा मलविबन्ध सदृश लक्षण होते हैं । श्वसनिकाशोथ कफावृत उदान की विकृति का उदाहरण है। अपानवायु के पित्तावृत होने पर गुदा, बस्ति, गर्भाशय तथा योनि और मेढ़ की विकृति में पित्त के दाह आदि लक्षण मिलते हैं । गर्भाशय या बस्ति से रक्त की प्रवृत्ति भी पित्तावृत अपान का

ही उदाहरण है। समानवायु भोजन का परिपाक कराता है, किन्तु कफ से आवृत हो जाने पर वह उक्त कार्य नही कर पाता जिससे पाचन-सस्थान की विकृति के फलस्वरूप आम आदि दोषों की उत्पत्ति होती है।

आक्षेपकस्य सामान्यलक्षणं वर्णयति—

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ।
तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥ २७ ॥
मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेपक इति स्मृतः । (सु. नि. १)

जब विकृत वायु शरीर की सम्पूर्ण धमनियों (वातनाडियों) को बार बार आक्रान्त करता है तो सारे शरीर में पुनः पुनः आक्षेप (झटके) आते हैं। पुनः पुनः आक्षेप आने के कारण रोग को आक्षेपक कहते है ॥ २७ ॥

आक्षेपकस्य सामान्यलक्षणमाह—यदा त्वित्यादि। सर्वा इति। ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गाः। आक्षिपति देहं हस्त्यारूढपुरुषस्येव गात्रं चालयति। मुहुश्चर इति हेतुगर्भविशेषणम्। 'बहिश्चर' इति पाठान्तरे कोष्ठाद्बहिः शाखागतश्चरन्नाक्षेपकं करोतीत्यर्थः। चन्द्रिकाकारस्त्वे**तन्नानुमन्यते, स्थानगाम्भीर्यादाक्षेपकस्य तदारम्भकवायोर्बहिश्चरत्वायुक्तत्वात् ॥ २७ ॥**

विमर्श—'नाडी तु धमनी सिरा' इस उक्ति के अनुसार प्रकृत में प्रकरणवश धमनी शब्द से वातनाडी का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वातनाडियों की विकृति के कारण ही आक्षेप (Convulsion) की अवस्था उत्पन्न होती है। आक्षेप एक लक्षण है जो कि अनेक रोगों में लक्षणरूप में पाया जाता है। सर्वशरीरव्यापी व्यान वायु की विकृति का ही परिणाम आक्षेप है। इसके साथ मस्तिष्कगत वात की विकृति भी प्रधान रूप से रहती है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार शरीर की प्रावेगिक (Paroxysmal) तथा आकुञ्चनात्मक (Spasmodic) अनैच्छिक गतियाँ ही आक्षेपक (Convulsion) कही जाती हैं। इस अवस्था में कुछ समय के लिये निम्न चेष्टावह नाडियों पर शल्कीय (Cortical) नियमन समाप्त हो जाता है जिससे अनैच्छिक गतियाँ प्रारम्भ हो जाती हैं। यह अवस्था निम्न रोगों में विशेष रूप से पायी जाती हैं—

१. अपस्मार (Epilepsy)
२. मस्तिष्कगत विकृतियाँ। (क) मस्तिष्कार्बुद (Cerebral tumours)
(ख) जलशीर्ष (Hydro-cephalus) (ग) मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis)
३. विषमयता (Toxic conditions) (क) मूत्रविषमयता (Uraemia)
(ख) साक्षेप-सूतिका-सन्निपात (Eclampsia) (ग) जीर्ण मदात्यय (Chronic alcoholism) (घ) क्लोरोफार्म। (ङ) कुचला।

४. धनुर्वात (Tetanus), अपतानिका (Tetani), तथा अपतन्त्रक (Hysteria) में भी आक्षेप पाये जाते हैं। चिन्ता, शोक आदि तथा वातप्रकोपक अन्य कारणों से भी शरीर मे एक प्रकार का विष उत्पन्न हो जाता है जो निश्चित समय पर एकत्रित होकर रक्तप्रवाह द्वारा मस्तिष्क, सुषुम्ना तथा सर्व शरीर में व्याप्त व्यान वायु मे विकृति उत्पन्न करके उक्त रोग को उत्पन्न करता है।

आक्षेपकस्यैवावस्थाविशेषावपतन्त्रकापतानकौ निरूपयति—

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रवर्तते ॥ २८ ॥
पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन् ।
धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तदा ॥ २९ ॥
स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः ।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥ ३० ॥
दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति ।
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ॥ ३१ ॥
वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् । (च. सि. ९)

स्वप्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुआ वायु अपने स्थान (पक्वाशय आदि) से ऊपर उठकर सिर की ओर जाता है तो हृदय, शिर और शंख प्रदेश को पीडित करता हुआ अंगों को धनुष के समान झुका देता है और उनमें आक्षेप और मूर्च्छा उत्पन्न करता है। श्वास-प्रश्वास में बडी कठिनाई होती है, आंखें कभी खुली और कभी अधखुली रहती हैं, रोगी बेहोशी की अवस्था में कबूतर के समान घुरघुर का शब्द भी करता है। आक्षेपक की इस अवस्था को अपतन्त्रक कहते हैं।

जिस अवस्था में दृष्टि पूर्णतया आच्छादित (रूपग्रहण में असमर्थ) या पथरा सी जाती है, संज्ञानाश भी पूर्णतया हो जाता है और कण्ठकूजन होने लगता है, दौरे से मस्तिष्क के मुक्त हो जाने पर स्वस्थ और पुनः दौरा आ जाने पर मूर्च्छा हो जाती है तो वायुकृत इस भयङ्कर रोग को अपतानक कहते ॥ २८-३१ ॥

अस्यैवावस्थाविशेषावपतन्त्रकापतानकावाह-'क्रुद्ध' इत्यारभ्य 'एके तदपतानकमि'त्यन्तेन। 'स्वैः कोपनैरि' त्यनेन रूक्षादिकुपितः स्वतन्त्रो न त्वावरणकुपित इति ईशानः निमीलिताक्षः स्तब्धाक्षो वा भवतीत्यर्थः। आक्षेपकश्चतुर्विधो भवति, दण्डापतानकोऽभ्यन्तरायामो बहिरायामोऽभिघातजश्चेति। दृढबलेन यद्यप्याक्षेपकात् पूर्वमन्तरायामबहिरायामौ पठितौ, तथाऽप्याक्षेपकविशेषावेतौ मन्तव्यौ, सुश्रुतदर्शनात् ॥ २८-३१ ॥

विमर्श—अपतन्त्रक के कुछ लक्षण अपस्मार में भी मिलते है किन्तु उनमें फेनोद्गम होता है जो कि इसमें नही होता। इसे योषापस्मार (Hysteria) कह सकते हैं। धनुर्वन्नमन यद्यपि धनुर्वात मे भी होता है तथापि अपतन्त्रक को धनुर्वात (Tetanus) नहीं कह सकते, क्योंकि धनुर्वात में यह लक्षण स्थायी स्वरूप का होता है जब कि इसमें अल्पकालिक ही होता है। इसके अतिरिक्त आगे धनुर्वात को अपतानक का भेद भी कहा गया है। तन्त्रान्तर मे अपतन्त्रक का लक्षण निम्न प्रकार से कहा गया है—

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुरपानो नाभिसंश्रयः। संदूष्य हृदयस्थं च मनो व्याकुलयेत्ततः॥
पीडयन् हृदयं प्राप्य शिरःशंखौ च पीडयेत्। आक्षिप्य चाखिलं देहं मोहयेच्च पुनः पुनः॥
स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्वेदशैत्ययुतो बहिः। स निद्रां लभते नीरं प्राप्य चाशु प्रबुध्यते॥
त्रसते कम्पते भूयो निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः॥

अपतानक—इसे धनुर्वात (Tetanus) कह सकते हैं, क्योंकि इसके लक्षण कुछ न कुछ बने ही रहते है और आवेग जल्दी जल्दी आते हैं। इसके अतिरिक्त यह अपतन्त्रक से भयकर भी होता है, यह दारुण शब्द से स्पष्ट है। शिर से यहाँ मस्तिष्क का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि इस रोग की उत्पत्ति में मस्तिष्क व सम्पूर्ण नाडीसंस्थान साक्षात् रूप मे भाग लेता है। अपतानक चार प्रकार का होता है—

१ दण्डापतानक। २ धनुःस्तम्भसंज्ञक अन्तरायाम। ३. बाह्यायाम। ४ पार्श्वायाम।

मधुकोशकारने पार्श्वायाम के स्थान पर अभिघातज का उल्लेख किया है।

दण्डापतानकं व्याचष्टे—

कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥३२॥ (वा. नि. १५)

दण्डवत्स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानकः । (सु. नि. १)

यदि उन्ही (समस्त शरीर की) धमनियों (वातनाडियों) में कफयुक्त वायु का अवस्थान होता है तो शरीर डण्डे के समान सीधा और कडा हो जाता है उसे दण्डापतानक कहते हैं ॥ ३२ ॥

एषां लक्षणमाह—कफान्वित इत्यादि। भृशं कफान्वित इत्यनेन पित्तमपि न वार्यत इत्याहुः। चरके त्वस्यासाध्यत्वं केवलवातजत्वेन द्रष्टव्यम्। यदाह—'पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः। दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः' (च. चि. २८) **इति। तास्विति सर्वधमनीषु ॥ ३२ ॥**

विमर्श—इस अवस्था में शरीर की समस्त संकोचक (Flexors) तथा प्रसारक (Extensors) उभयविध पेशियों में कडापन आ जाने से दोनों प्रकार के कार्य (संकोच तथा प्रसार) नही होते। इससे शरीर सीधे दण्ड के समान कडा रहता है। चरक ने इसी को दण्डक नाम दिया है और उसे केवल वातजनित और असाध्य भी बताया है—

पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः। दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः ॥

धनुःस्तम्भं लक्षयति—

धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः ॥ ३३ ॥

प्रकुपित वायु यदि शरीर को धनुष के समान झुका दे तो उसे धनुःस्तम्भ कहते हैं ॥ ३३ ॥

अन्तरायामबहिरामयोः साधारणं रूपमाह—धनुस्तुल्यमित्यादि ॥ ३३ ॥

विमर्श—इस अवस्था में केवल संकोचक या केवल प्रसारक पेशियों में ही कड़ाई होती है। यही वस्तुतः धनुर्वात (Tetanus) का रूप है। यह भी अभ्यन्तरायाम तथा बाह्यायाम भेद से दो प्रकार का है। कदाचित् शरीरार्धमात्र में विकार होने पर पार्श्वायाम नामक तीसरा प्रकार भी होता है।

अभ्यन्तरायामं धनुःस्तम्भं निरूपयति—

अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः ।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥ ३४ ॥
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम् ॥ ३५ ॥
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ।

कुपित तथा वेगवान् वायु जब अंगुली, गुल्फ (टखना), पेट, हृदय तथा गले मे स्थित होकर वहां के स्नायुप्रतान (कण्डराओं और पेशियों) मे आक्षेप उत्पन्न करता है तब रोगी की आंखें स्थिर हो जाती है तथा जबडे-जकड जाते है, पसलियो में टूटने की सी पीडा होती है, रोगी कफ का वमन भी करता है। इस प्रकार रोगी भीतर (उदर) की ओर धनुष के समान झुक जाता है उसे अभ्यन्तरायाम (धनुःस्तम्भ) कहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

बाह्यायामं लक्षयति—

बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ॥ ३६ ॥

तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम् । (सु. नि. १)

बाह्य अर्थात् पृष्ठ भाग की स्नायुओ (कण्डराओं एवं पेशियों) में स्थित वायु कुपित होकर शरीर को जब बाहर (पीठ) की ओर झुका देता है तो उसे बाह्यायाम (धनुःस्तम्भ) कहते है। यह असाध्य होता है, क्योंकि इसमें छाती, कटि तथा ऊरु भाग के भग्न होने का भय रहता है ॥ ३६ ॥

विशेषलक्षणमाह—अङ्गुलीत्यादि । वक्षो बाहुद्वयान्तरम् । हृदयं तदभ्यन्तरं द्वयङ्गुलम् । स्नायुप्रतानं लतावदनेकप्ररोहं स्नायुरित्युपलक्षणं, तेन सिराकण्डरयोरपि ग्रहणम् । यदुक्तं तत्रान्तरे—**'महाहेतुर्बली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः । मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद्बहिः' इत्यादि । अभ्यन्तरायामं क्रोडे नतं, बाह्यायामं पृष्ठे नतम् । अन्तरायामबहिरायामाभ्यां तन्त्रान्तरोक्तकुब्जस्यावरोधः । यदुक्तं—'हृदयं यदि वा पृष्ठमुन्नतं क्रमशः सरुक् । क्रुद्धो वायुर्यदा कुर्यात्तदा तं कुब्जमादिशेत् ॥ ३४-३६ ॥**

विमर्श—यहां स्नायु शब्द उपलक्षणात्मक होने से उससे केवल बन्धन नही, अपितु कण्डराएँ, मांसपेशियां, सिराएँ आदि का भी ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ग्रन्थान्तरों में स्पष्ट ही कहा है—**'महाहेतुर्बली वायुः शिराः सस्नायुकण्डराः । मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद्बहिः ।'** वस्तुतः प्रकुपित वायु का प्रभाव वातवाहिनियों द्वारा मांसपेशियों और कण्डराओं में होता है। आक्षेप-क्रिया पेशियों के अनैच्छिक एवं अनियमित संकोच के कारण ही होती है। पेट (Ventral side) की ओर झुकने को अभ्यन्तरायाम (Emp osthotonos) तथा पीठ की ओर झुकने को बाह्यायाम (Opisthotonos) कहते हैं। कभी-कभी रोगी केवल पार्श्व की ओर झुक जाता है। यह भी बाह्यायाम का ही भेद है और इसे पार्श्वायाम (Pleurosthotonos) कहते हैं। आधुनिक ग्रन्थों में पार्श्वायाम का भी वर्णन मिलता है। चरक के अनुसार मन्याश्रित प्रकुपित वात अन्य वातनाडियों में भी विकृति उत्पन्न करके मन्यास्तम्भ तथा अन्तरायाम नामक धनुःस्तम्भ को उत्पन्न करता है। इसमें गर्दन पेट की ओर झुक जाती है, दांत आपस में मिल जाते हैं। इसे रोगी का विकट हास्य भी कहते हैं जो कि धनुर्वात का मुख्य लक्षण है। इसके अतिरिक्त लालास्राव होता है, जबडा जकड़ जाता है—

मन्ये संश्रित्य वातोऽन्तर्यदा नाडीः प्रपद्यते । मन्यास्तम्भं तदा कुर्यादन्तरायामसंज्ञितम् ॥ अन्तरायम्यते ग्रीवा मन्या च स्तभ्यते भृशम् । दन्तानां दंशनं लाला पृष्ठाक्षेपः शिरोग्रहः ॥ जृम्भावदनसंगश्चाप्यन्तरायामलक्षणम् ॥ (च. चि. २८)

इसी प्रकार पृष्ठ भाग का संचालन करने वाली नाडियों के शोषपूर्वक (पृष्ठ भाग की स्नायु कण्डरा, पेशियों आदि में विकार उत्पन्न कर) प्रकुपित वायु बहिरायाम-नामक धनुःस्तम्भ को उत्पन्न करता है। इसके कारण रोगी धनुष के समान झुक जाता है जिससे उसका सिर पीछे की ओर झुक कर भूमि पर लग जाता है। वक्षः स्थल उन्नत हो जाता है, गर्दन मे पीड़ा होती है, दाँत

परस्पर मिल जाते है, लालास्राव होता है, रोगी बोल नहीं पाता। इसका आक्रमण भयंकर होता है अतः इससे रोगी या तो मर जाता है या विकलाङ्गता (स्थायी शारीरिक विकृति) हो जाती है ।

**पृष्ठमन्याश्रिता बाह्याः शोषयित्वा सिरा बली। वायुः कुर्याद् धनुःस्तम्भं बहिरायामसंज्ञितम् ॥
चापवन्नाम्यमानस्य पृष्ठतो नीयते शिरः। उर उत्क्षिप्यते मन्या स्तब्धा ग्रीवाऽवमृद्यते ॥
दन्तानां दंशनं जृम्भा लालास्रावश्च वाग्ग्रहः। जातवेगो निहन्त्येष वैकल्यं वा प्रयच्छति ॥**
(च. चि. २८)

उक्त रोग में रोगी का सिर और पैर की एडियाँ ही भूमि या शय्या का स्पर्श करती हैं। शेष अङ्ग आक्षेप के कारण ऊपर को उठ जाते हैं। वाग्भट ने इन लक्षणों के अतिरिक्त स्वेद-प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया है जो कि वस्तुतः इस रोग का प्रधान लक्षण है। आधुनिक दृष्टि से उक्त रोग को धनुर्वात (Tetanus) नाम देना असन्दिग्ध है, क्योंकि ये सभी लक्षण धनुर्वात में भी इसी रूप में पाये जाते हैं।

कुब्जता का भी विजयरक्षित जी अन्तरायाम और बहिरायाम में ही अन्तर्भाव करते हैं किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि कुब्जता अस्थिविकृति-जन्य होती है सिरा या स्नायु-विकृतिजन्य नहीं। तथा यह अवस्था क्रमशः उत्पन्न होती है अकस्मात् नहीं जैसा कि वहीं कहा है—**'हृदयं यदि वा पृष्ठमुन्नतं क्रमशः सरुक् ।'**

धनुर्वात (Tetanus) का दूसरा नाम हनुस्तम्भ (Lockjaw) भी है। इसकी परिभाषा करते हुए प्राइस ने कहा—'An infectious diseases due to the toxins of the clostridium Tetani and showing itself by tonic spasm of the massetor and other muscles with paraxysmal exacerbation.'

आधुनिक अन्वेषणों के द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि धनुर्वात रोग भी संक्रामक है जो कि धनुर्वात के दण्डाणु (Clostridium Tetani) के द्वारा फैलता है। ये दण्डाणु प्रायः घोड़े की लीद से मिश्रित धूलि में रहते हैं। आघातजन्य त्वचा के व्रण द्वारा इनका शरीर में प्रवेश होता है और ये वहाँ रहकर एक अतितीक्ष्ण बहिर्विष (Exotoxin) का निर्माण करते हैं जो कि चेष्टा-वह नाडियों के अतिसूक्ष्म अग्रों के द्वारा प्रचूषित होकर केन्द्रीय वातनाडी-संस्थान की वातनाडी-कोषाओं में पहुँच कर उनको क्षुभित कर देता है। सांवेदनिक नाडियों पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं होता। इस रोग का सचयकाल २ दिन से १४ दिन तक का होता है। सर्वप्रथम मुख की पेशियों में संकोच प्रारम्भ होता है। मुख पूर्णतया नहीं खुल पाता, किसी वस्तु का निगलना व बोलना कठिन हो जाता है। इसके पश्चात् गले के पिछले भाग, मुख, उदर, पृष्ठवंश तथा ऊर्ध्व और अधः शाखा की पेशियों में आक्षेप होने लगते हैं, दोनों जबड़े बन्द हो जाते हैं, दांत भी आपस में मिल जाते हैं जो कि सरलता से पृथक् नहीं किये जा सकते। मुख को सभी पेशियों का संकोच हो जाता हैं। इन लक्षणों से युक्त रोगी पृष्ठ की ओर धनुष के समान मुड़ जाता है। इसको बाह्यायाम (Opisthotonos) कहते हैं। कभी-कभी यह मुड़ाव उदर की ओर होता है तो उसे अभ्यन्तरायाम (Emprosthotonos) कहते हैं। कुछ रोगियों में पार्श्व में मुड़ने की भी प्रवृत्ति पायी जाती है उसे पार्श्वायाम (Pleurosthotonos) कहते हैं। कुछ रोगियों में आगे और पीछे की पेशियों में एक साथ संकोच होने से सारा शरीर डण्डे के समान सीधा और कड़ा हो जाता है इसी को दण्डक या दण्डापतानक (Orthotonos) कहते हैं इन लक्षणों के अतिरिक्त रोगी को पसीना बहुत आता है। नाडी तथा श्वास के अनुपात पर प्रायः कोई प्रभाव नहीं होता।

आक्षेपकस्य कफपित्तानुबन्धकत्वं प्रतिपादयन्नाह—

कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ॥ ३७ ॥
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् । (सु. नि. १)

कफयुक्त या पित्तयुक्त वायु अथवा इनके अनुबन्ध से रहित केवल वायु ही प्रकुपित होकर आक्षेपक को उत्पन्न करता है तथा चोट लगने पर प्रकुपित वायु अभिघातज नाम के चौथे आक्षेपक को उत्पन्न करता है ॥ ३७ ॥

उक्तानामाक्षेपकप्रकाराणां कफपित्तानुबन्धमाह—कफपित्तान्वित इत्यादि। एतच्च दण्डापतानकलक्षणमेव जेज्जटेन व्याख्यातम् । पित्तकफानुबन्धश्चात्र शैत्यशोथगुरुत्वानीत्यादिनोक्तलक्षण एव बोध्यः । चतुर्थमभिघातजमिति दण्डापतानकादित्रितयापेक्षया चतुर्थत्वम् अभिघातजं दण्डाद्यभिघातकुपितवातजम्, अस्य च लक्षणं 'यदा तु धमनीः सर्वाः' इत्यादिनोक्तसामान्यलक्षणं द्रष्टव्यम् ॥ ३७ ॥

विमर्श—श्री जेज्जटाचार्य अभिघातज आक्षेप को दण्डापतानक आदि की अपेक्षा चौथा मानते हैं। उनके अनुसार आक्षेपक के निम्न चार भेद होते हैं—

१. दण्डापतानक । २. धनुःस्तम्भसंज्ञक अन्तरायाम ।
३. धनुःस्तम्भसंज्ञक बाह्यायाम । ४. अभिघातजन्य आक्षेपक ।

किन्तु कतिपय विद्वान् इस मत को न मानकर कारण की दृष्टि से निम्न चार भेद करते हैं—

१. कफान्वित वातजन्य आक्षेप। २. पित्तान्वित वातजन्य आक्षेप ।
३. केवल वातजन्य आक्षेप । ४. अभिघातज आक्षेप ।

आचार्य गयदास जी इन दोनों मतों का खण्डन करके आक्षेपक के निम्न चार भेद स्वीकार करते हैं—

१. **अपतानक**—दण्डापतानक, धनु स्तम्भसंज्ञक अन्तरायाम, बाह्यायाम तथा पाश्चात्यों द्वारा स्वीकृत पार्श्वायाम (Pluerosthotonos) इसके ही भेद हैं ।
२ **संसृष्टाक्षेपक**—कफान्वित वातजन्य तथा पित्तान्वित वातजन्य आक्षेपक का इसमें ही अन्तर्भाव हो जाता है ।
३. केवल वातजन्य आक्षेपक ।
४. **अभिघातज**—मर्मों विशेषतः शिर के अभिघात से होने वाला आक्षेपक या व्रणायाम इसके अन्तर्गत समझने चाहिये ।

वस्तुतः गयदासाचार्य का पक्ष ही अधिक परिष्कृत होने से माननीय है ।

अभिघात का अर्थ है चोट लगना । मर्मस्थान (बस्ति, हृदय, शिर) में चोट लगने से भी आक्षेप होते हैं, इसे अभिघातज आक्षेप कहते हैं । इन सब में शिरोऽभिघात (Cerebral concussiun या Compression) मुख्य है । वाग्भट ने इसका वर्णन व्रणायाम के नाम से किया है । उसमें भी आपादमस्तक आक्षेप आते है—

व्रणं मर्माश्रितं प्राप्य समीरणसमीरणात् । व्यायच्छन्ति तनुं दोषाः सर्वामापादमस्तकाम् ।

इसके अतिरिक्त आक्षेपकयुक्त धनुर्वात के सभी रोगियों में व्रण सहायक कारण के रूप में रहता है; क्योंकि धनुर्वात का दण्डाणु इसके द्वारा ही शरीर में प्रविष्ट होता है ।

अपतानकस्यासाध्यतां वर्णयति—

गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः ॥ ३८ ॥
अभिघातनिमित्तश्च न सिद्ध्यत्यपतानकः ।

गर्भ गिर जाने से, रक्त का अत्यधिक स्राव हो जाने से तथा (मर्मस्थान के) अभिघात से होने वाला अपतानक (आक्षेपक) असाध्य होता है ॥ ३८ ॥

असाध्यत्वमाह—गर्भपातेत्यादि । गदाधरस्त्वाह—**कफपित्तान्वित इत्यादिना निमित्तभेदेनाक्षेपकश्चतुर्धेति, तद्यथा—एकः कफान्वितेन वातेन, द्वितीयः पित्तान्वितेन, तृतीयः केवलेन, चतुर्थोऽभिघातेनेति । अत्र पक्षे गर्भपातशोणितातिस्रावजौ केवलवातेन ग्राह्यौ, एतेषां च मुहुर्मुहुराक्षेपणं बोध्यम्, आक्षेपकविशेषत्वात् ॥ ३८ ॥**

विमर्श—आक्षेप अधिक आने के कारण आक्षेप और अपतानक प्रायः पर्यायवाची रूप में भी प्रयुक्त होते है । प्रकृत में अपतानक शब्द उभयार्थक है। साक्षेप-सूतिका-सन्निपात (Post partem eclampsia) को ही गर्भपात-निमित्तज आक्षेप कहते हैं । धनुर्वात के दण्डाणु का संक्रमण होने पर यह वास्तविक धनुःस्तम्भ (Tetanus) का रूप भी धारण कर सकता है । आधुनिक चिकित्साशास्त्री भी इस अवस्था को असाध्य मानते हैं । अत्यधिक रक्तस्राव के कारण मस्तिष्कगत रक्ताल्पता (Cerebral anaemia) होने से भी आक्षेपक होता है । वाग्भट ने भी पाण्डुतायुक्त व्रणायाम को असाध्य माना है—

'तृष्यतः पाण्डुगात्रस्य व्रणायामः स वर्जितः ।'

शिरोभिघात या अन्य मर्मों के अभिघात से होने वाला आक्षेपक भी असाध्य होता है । धनुर्वात के आक्षेप दौरे के रूप में आते है जब कि अभिघात-निमित्तज आक्षेप स्थायी होते हैं ।

पक्षवधं निरूपयति—

गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च ॥ ३९ ॥
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान्विमोक्षयन् । (सु. नि. १)
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ॥ ४० ॥
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ।
सर्वाङ्गरोगस्तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले ॥ ४१ ॥ (वा. नि. १५)

अपने कारणों से कुपित हुआ वायु जब शरीर के आधे भाग में अधिष्ठित होकर सिराओं (वातादि वाहिनियों) तथा स्नायुओं को सुखाकर सन्धिबन्धनों को शिथिल करता हुआ मनुष्य के आधे शरीर की क्रिया एवं चेतना को नष्ट कर देना है तो उस अवस्था को कुछ लोग एकाङ्गरोग और कुछ लोग पक्षवध कहते हैं । इसी प्रकार प्रकुपित वायु के सर्वशरीरगत होने पर सर्वशरीर की क्रियाशीलता नष्ट हो जाती है उस अवस्था को सर्वाङ्ग रोग कहते है ॥ ३९–४१ ॥

पक्षवधमाह—गृहीत्वेत्यादि । अर्धमिति अर्धमर्यादयाऽर्धनारीश्वरवत् । पक्षं बाहुकक्षपार्श्वादिभागम्, अन्यतरमिति वामं दक्षिणं वा । सन्धिबन्धान् कफसहितस्नायुभिर्धृतान् मोक्षयन्निति गदाधरः; **अत एव सिराः स्नायूर्विशोष्येत्युक्तम् । अर्धकाय इत्युक्तेऽपि कृत्स्नग्रहणं युगपत् सर्वार्धाङ्गव्याप्त्यर्थम् । अकर्मण्य ईषच्चेष्टाक्षमः । विचेतनोऽल्पचेतनः, ईषत्स्पर्शादिज्ञानवानित्यर्थः । तद्वच्चेत्यनेन सिराः स्नायूर्विशोष्य चेत्यादिसंप्राप्तिं लक्षणं चातिदिशति ॥**

विमर्श—पक्षवध अंगघात (Paralysis) का ही एक ही भेद है । वाग्भट ने कहा है कि कतिपय विद्वान् इसे एकाङ्गघात कहते हैं किन्तु वह ठीक नहीं है यह वाग्भट के ही **'कृत्स्नोऽर्धकायः'** शब्द से स्पष्ट है । इसीलिये इसे अर्धाङ्गघात या पक्षवध (Hemiplegia) ही कहना चाहिये । चरक के अनुसार भी इसे पक्षवध ही मानना उचित होगा; क्योंकि **'हत्वैकम्'** इत्यादि श्लोक की टीका

करते हुए चरक-चतुरानन चक्रपाणि ने भी चरक के अनुसार पक्षाघात से पृथक् केवल एक हाथ या एक पैर में होनेवाले एकाङ्गघात का भी वर्णन किया है **'हत्वैकमित्यादि पक्षवधलक्षणम्, गृहीत्वार्धमित्यादि एकाङ्गलक्षणम्'** (चक्रपाणिः[1]) सुश्रुत भी उक्तप्रकार के अंगघात को पक्षाघात ही कहते हैं—

यदा प्रकुपितोऽत्यर्थं मातरिश्वा प्रपद्यते । तदान्यतरपक्षस्य सन्धिबन्धान् विमोक्षयन् ।
हन्ति पक्षं तमाहुर्हि पक्षाघातं भिषग्वराः ।

चेष्टावह संस्थान के विक्षत (Lesion) स्थल के अनुसार अंगघात (Paralysis) की विकृति को निम्न चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. एकांगघात (Monoplegia)—मस्तिष्क के शल्कीय भाग (Cerebral cortex) में विकृति होने से प्रायः एकांगघात होता है। इस स्थान पर नाडीतन्तु एक दूसरे से दूर रहते हैं अतः विकृति का प्रभाव प्रायः कम तन्तुओं पर होने से किसी एक अंग का ही घात होता है यह ऊर्ध्वचेष्टावह नाडीकन्दाणु अंगघात (Upper motor neurore paralysis) का ही एक प्रकार है। इसमें घातयुक्त अंग की पेशियाँ कड़ी नहीं अपितु शिथिल हो जाती हैं। अतः इसे शिथिल प्रकार (Flacid type) का अंगघात भी कहते हैं। यदि विकृति गम्भीर स्वरूप की होती है तो मुकुलमार्ग (Pyramidal tract) के अनेक तन्तुओं का विनाश हो जाने से स्तब्ध (Spastic) स्वरूप का अंगघात भी होता है। कभी कभी विकृति के अधिक व्यापक होने से पङ्गुता या अधरांगघात (Paraplegia) की अवस्था भी उत्पन्न हो सकती है। एकांगघात (Monoplegia) कभी-कभी मस्तिष्कसुषुम्नाज्वर (Cerebrospinal fever) में उपद्रवस्वरूप हो जाता है।

२. पक्षवध या अर्धाङ्गघात (Hemiplegia)—मस्तिष्क बाह्यक (Cerebral cortex) से उद्गम के पश्चात् नाडी तन्तुओं को अन्तःकूर्चवल्लिका (Internal capsule) में से होकर जाना पड़ता है। इस स्थान में नाडी तन्तु एक दूसरे के निकटतम सम्पर्क में रहते हैं, अतः यहाँ की विकृति से पक्षवध या अर्धाङ्गघात (Hemiplegia) हो जाता है। अर्थात् शरीर के दक्षिण या वामभाग के प्रत्येक अंग का घात होता है। यह अंगघात स्तम्भयुक्त (Spastic) होता है। इसका प्रभाव मुख पर नहीं होता, क्योंकि मुख की नाड़ियों के सूत्र इसके अगले भागों से प्रारम्भ होते हैं। अतः इसका प्रभाव केवल मुख से नीचे वाले भाग पर ही होता है। चूँकि ये तन्तु आगे चलकर सुषुम्नाशीर्ष (Medulla oblongata) में व्यन्यास (Decussate) करके विरुद्ध पार्श्व (दक्षिण तन्तु वामभाग में और वाम तन्तु दक्षिण भाग) में जाकर सुषुम्ना की पूर्वश्रृङ्ग कोषाओं (Anterior horn cells) में समाप्त हो जाते हैं और पुनः वहाँ से निकल कर उसी पार्श्व के अंगों में जाते हैं अतः अंगघात विक्षत (Lesion) के विरुद्ध पक्ष में ही होता है। अर्थात् मस्तिष्क में वामपार्श्व के तन्तुओं में विक्षत होने पर विकृति दक्षिण पार्श्व में और दक्षिण पार्श्व में विक्षत होने पर वाम पार्श्व में विकृति दृष्टिगोचर होती है। यह अंगघात भी ऊर्ध्व चेष्टावहनाडी कन्दाणु प्रकार (Upper motor neurone type) का होता है। वयस्कों में इसका प्रधान कारण रक्तवाहिनीगत घनास्रता (Thrombosis) होती है। इसके अतिरिक्त अन्तःशल्यता (Embolism) अथवा धमनीसंकोच (Angio-spasm) के कारण रक्तावरोध होने से भी तन्तुओं का विनाश होता है। मस्तिष्कावरण शोथ, मस्तिष्कार्बुद अथवा मस्तिष्कविद्रधि के दबाव से भी अन्तःकूर्चवल्लिकागत तन्तुओं के विनाश के फलस्वरूप अर्धांगघात की अवस्था उत्पन्न होती

---

१. हत्वैकं मारुतः पक्षं दक्षिणं वाममेव वा । कुर्याच्चेष्टानिवृत्तिं हि रुजं वाक्स्तम्भमेव च ॥
गृहीत्वार्धं शरीरस्य सिराः स्नायूर्विशोष्य च । पादं संकोचयत्येकं हस्तं वा तोदशूलकृत् ॥
एकाङ्गरोगं तं विद्यात् सर्वाङ्गं सर्वदेहजम् ।

है । छोटे बच्चों मे जन्मकालीन आघात अथवा रोमान्तिका, मसूरिका तथा आन्त्रिकज्वर के उपसर्ग से यह रोग उत्पन्न हो सकता है ।

मध्य मस्तिष्क (Midbrain) में विकृति होने से भी विरुद्ध पार्श्व के अर्धाङ्गघात की अवस्था उत्पन्न होती है, किन्तु साथ ही उसी पार्श्व की नेत्रचेष्टिनी (Oculomotor) नाडी का भी घात हो जाता है, इसे वेबर का चिह्न (Weber's syndrome) कहते हैं । उष्णीषक (Pons) की विकृति के फलस्वरूप भी उक्त प्रकार का विरुद्धपार्श्वीय अङ्गघात होता है । इसमें समपक्ष की सप्तम नाडी (Facial nerve) तथा छठी नाडी (Abducent nerve) का भी घात होता है ।

३. सर्वाङ्ग घात (Diplegia)—यह जन्मजात एवं कादाचित्क रोग । इसका प्रभाव में शरीर पर रहता है । इस अवस्था में मुकुल मार्ग (Pyramidal tract) या तो पूर्णतया लुप्त रहता है या केवल सुषुम्ना शीर्ष (Medulla) तक ही पहुँचता है । कभी-कभी यह ग्रीवा प्रदेश तक भी आ जाता है । प्रायः कुछ अङ्गों पर अधिक और कुछ पर स्वभावतः कम प्रभाव पड़ता है । किन्तु यह प्रभाव दोनों ओर के अङ्गों में समान रूप में पाया जाता है; क्योंकि दोनों मस्तिष्क गोलार्धों (Cerebral hemisphere) पर भी इसका प्रभाव समान ही होता है । यह भी स्तम्भयुक्त वात है अत एव इसका दूसरा नाम जन्मजात स्तम्भयुक्त अङ्गघात (Congenital spastic paralysis) भी है ।

४. अधराङ्गघात (Paraplegia)—यह सुषुम्ना की विकृति का परिणाम है सुषुम्ना से निकल कर दोनों अधःशाखा को प्रदाय (Supply) करने वाली नाडियों के घात से उक्त अवस्था उत्पन्न होती है । यदि एक ओर की नाडी का ही घात हो तो अङ्गघात भी एक ही शाखा का होगा तब उसे एकांगघात (Monoplegia) ही कहा जायगा । ऊर्ध्वचेष्टावह नाडी-कन्दाणु (Upper motor neurone) गत अधः शाखा के नाडी-तन्तुओं की विकृति से भी यह रोग होता है । इस प्रकार विक्षत स्थल के अनुसार इसमें अधः चेष्टावह नाडी का कन्दाणु (Lower-motor neurone) तथा ऊर्ध्वचेष्टावह नाडी कन्दाणु (Upper motor neurone) की विकृति के लक्षण भी प्रकट होते हैं । बच्चों और वयस्कों में यह समान रूप से पाया जाता है । बच्चों में मस्तिष्क शोथ (Encephalitis), मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), जलशीर्ष (Hydrocephalus) तथा जन्मकालीन आघात इन कारणों से उक्त अवस्था उत्पन्न होती है । ये कारण ऊर्ध्वचेष्टावह प्रकार के विक्षत के अन्तर्गत आते है । इसके अतिरिक्त शैशवीयाङ्गघात (Acute anterior poliomyelitis) के कारण भी अधराङ्गघात होता है । इसमें विक्षत (Lesion) का स्थान अधः चेष्टावह नाडी-कन्दाणु (Lower motor neurone) होता है । वयस्कों में सुषुम्ना-सम्पीडन (Compression), शैशवीयाङ्गघात (Anterior Poliomyelitis), श्रोणिगत अर्बुद का कटि तथा त्रिक प्रदेश की नाडियों पर दबाव अथवा फिरङ्गीय खञ्जता (Tabes dorsalis) के कारण अधराङ्गघात होता है । इस अवस्था में मल और मूत्र की स्वतः प्रवृत्ति होने लगती है । अस्थिगत विकृति से भी दोनों अधः शाखाओं का कार्य अवरुद्ध हो जाता है । किन्तु यहाँ केवल वातिक कारणों तथा लक्षणों का वर्णन करना ही अभिप्रेत है अतः नाडीविकार का ही वर्णन किया गया है । आगे कही जाने वाली पङ्गुता भी अधरांगघात (Paraplegia) का ही एक उदाहरण है ।

पक्षवधस्य पित्तकफानुबन्धित्वं निरूपयति—

दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ।
शैत्यशोथगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते ॥ ४२ ॥

पक्षवध में वायु के साथ पित्त का अनुबन्ध होने पर दाह, गर्मी तथा मूर्च्छा ये लक्षण भी होते हैं। इसी प्रकार कफ का अनुबन्ध होने पर शीतता, शोथ तथा भारीपन की प्रतीति होती है ॥ ४२ ॥

पक्षाघातस्य साध्यासाध्यतामाह—

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः।
साध्यमन्येन संयुक्तमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥ ४३ ॥ (सु. नि. १)

जो पक्षवध केवल वायु के ही दोष से होता है वह कृच्छ्रसाध्य किन्तु पित्त अथवा कफ के अनुबन्ध वाला पक्षाघात साध्य होता है तथा धातुक्षयजन्य पक्षाघात पूर्णतया असाध्य होता है ॥ ४३ ॥

तस्यैव साध्यासाध्यज्ञानार्थमाह–दाहेत्यादि। एतच्च लक्षणमन्यत्रापि वातरोगे द्रष्टव्यम्, अत एव सामान्येन वायाविति कृतवान्। शुद्धः केवलः। अन्येनेति कफेन पित्तेन वा। क्षयहेतुकमिति धातुक्षयकुपितशुद्धवातजमिति ॥ ४२–४३ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि पक्षवध के सामान्य वातिक लक्षणों के साथ-साथ पित्त या कफ के लक्षण मिलने पर तत्तद् दोष के अनुबन्ध की भी कल्पना कर लेनी चाहिये। यह चिकित्सा-सौकर्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पक्षवध के समान अन्य वात रोगों में भी इन्हीं लक्षणों के आधार पर दोषान्तर-सम्बन्ध का अनुमान करना चाहिये। इसीलिये मूल श्लोक में किसी रोग विशेष का नाम न देकर केवल 'वायौ' शब्द का प्रयोग किया गया है।

वातव्याधि स्वभावतः असाध्य होती है जैसा कि कहा भी है—

वातव्याधिरसाध्योऽयं दैवयोगेन सिध्यति। प्रत्याख्यानेन कुर्वन्ति चिकित्सां न प्रतिज्ञया ॥

पित्त अथवा कफ का अनुबन्ध होने पर वात-प्रकोप सौम्य स्वरूप का होता है अतः पित्त या कफानुबन्धी पक्षवध को साध्य माना गया है। आवरण दोष अथवा धातुक्षय से वायु का प्रकोप होता है। यदि नाडीतन्तु के विनाश या धातुक्षयजन्य शुद्ध वातारब्ध पक्षवध हो तो वह असाध्य होता है क्योंकि विनष्ट नाडीतन्तु की पुनरुत्पत्ति प्रायः नहीं होती है तथा धातुक्षय के कारण शरीर की स्वाभाविक शक्ति का अत्यधिक ह्रास हो जाता है। शरीर में निश्चित न्यूनतम परिमाण में शक्ति रहने पर ही औषधियां भी उसकी सहायता से कार्य करती हैं। इस सहायक शक्ति के नाश से औषधियाँ या अन्य उपचार भी अपना प्रभाव नहीं दिखा सकते अत एव धातुक्षयजन्य शुद्धवातज पक्षाघात को सुश्रुत ने असाध्य कोटि में माना है।

अन्यदसाध्यलक्षणं ब्रूते—

(गर्भिणी सूतिकाबालवृद्धक्षीणेष्वसृक्स्रुते।
पक्षाघातं परिहरेद् वेदनारहितो यदि ॥) (इति ख.)

गर्भवती अथवा सद्यःप्रसूता स्त्री, बालक, वृद्ध अथवा क्षीणों में तथा अत्यधिक रक्तस्राव होने पर यदि इस प्रकार का पक्षाघात हो जिससे सब प्रकार की वेदनायें (संज्ञायें) नष्ट हो जायें तो वह भी असाध्य होता है। (क्योंकि यह सम्पूर्ण नाडी के विनाश की द्योतिका अवस्था है।)

अर्दितरोगस्य निदानवर्णनपूर्वकं सम्प्राप्तिं स्वरूपञ्च व्याचष्टे—

उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा।
हसतो जृम्भतो वाऽपि भाराद्विषमशायिनः ॥ ४४ ॥
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः।

अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः ।
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥ ४५ ॥
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना ॥ ४६ ॥
(यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः ॥)
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविचक्षणाः । (सु. नि. १)

अत्यधिक उच्चस्वर से बोलने, अत्यधिक कठिन पदार्थों का भक्षण करने, अत्यधिक जोर से हंसने जम्भाई लेने या अधिक भार उठाने से तथा निम्नोन्नत भूमि पर शयन करने वाले मनुष्य के सिर, नासिका, ओष्ठ, हनु, ललाट तथा नेत्र की संधियों में व्याप्त होकर प्रकुपित वायु मुख को पीडित करता है जिससे अर्दित रोग की उत्पत्ति होती है। इस अवस्था में मुख का आधा भाग टेढा हो जाता है, गर्दन भी मुड़ जाती है, सिर कांपने लगता है, वाणी अवरुद्ध हो जाती है, नेत्र, नासिका ग्रीवा, हनु तथा दाँतों में भी विकृति आ जाती है और साथ ही विकृत पार्श्व में ग्रीवा-आदि में पीडा भी होती है। (जिसके पूर्वरूपावस्था में सारा शरीर रोमाचित एवं कम्पयुक्त होता है आखें मलीन रहती हैं, डकारें अधिक आती हैं, मुख की त्वचा सुन्न रहती है, तोद होता है, मन्या तथा हनु जकड जाते है) इस व्याधि को रोग-विज्ञानवेत्ताओं ने अर्दित कहा है ।

अर्दितमाह—उच्चैरित्यादि । अर्दयति पीडयति । अपवर्तते वक्रीभवति । चलति कम्पते । वाक्सङ्गोऽनिर्गमो वचनस्य । आदिशब्देन भ्रूगण्डादीनां ग्रहणम् । वैकृतं वेदनास्फुरणवक्रत्वादिकम् । ग्रीवेत्यादि, यस्मिन् पार्श्वेऽर्दितं तस्मिन् ग्रीवादीनां वेदनेति योज्यम् । तन्त्रान्तरे तु मुखार्धवच्छरीरार्धव्यापकोऽप्यर्दितः पठितः । यदाह दृढबलः—'अर्धे तस्मिन् मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम्' (च. चि. अ. २८) इति । ननु, यद्येवं तदाऽर्दितार्धाङ्गवातयोः को भेदः? उच्यते, वेगित्वेनार्दिते कदाचिद्वेदना भवति, अर्धाङ्गवाते तु सर्वदैवेति भेदः; अथवा यथोक्तः सर्वलिङ्गोऽर्दितस्तद्विपरीतस्त्वर्धाङ्गवात इत्याहुः । सुश्रुतेन तु मुखमात्र एवार्दितः पठितः, अर्धशरीरस्यार्धाङ्गवातेन लब्धत्वात् । स एवात्र माधवेन **लिखितः ॥ ४४-४६ ॥**

विमर्श—सुश्रुत के कथनानुसार यह रोग मुखमण्डल तक ही सीमित रहता है, जिसके कारण विकृत पार्श्व के आँख, नाक, कान मस्तक, ओष्ठ, हनु तथा दाँतों में विशेष विकृति होती है। किन्तु दृढबल मुख के साथ सम्पूर्ण अर्धाङ्ग को भी इस विकृति का अधिष्ठान मानते हैं यह बात उनके **'अर्धे तस्मिन् मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम्'** इस अर्दित के लक्षण से स्पष्ट है। वे केवल आधे मुख को विकृति तथा मुख के साथ अर्धाङ्ग की विकृति इन दोनों अवस्थाओं को सामान्य रूप से अर्दित कहते हैं। अर्दित का चरकोक्त लक्षण स्वीकार करने पर अर्दित और पक्षवध में कोई अन्तर न रहेगा, इस शङ्का का निराकरण श्री चक्रपाणि स्वय शङ्का करके निम्न प्रकार से करते हैं—**'ननु यदा देहार्धव्यापित्वमर्दितस्य तदार्दितस्यार्धाङ्गेन को भेदः? ब्रूमः- अर्दितो वेगितया न सर्वकालं भवति, अर्धाङ्गस्तु व्याप्तं भवति 'उक्तं हि—स्वस्थः स्यादर्दिताद्यानां मुहुर्वेगागमे गते' किं वा यथोक्तविशिष्टलक्षणोऽर्दितः, अर्धाङ्गे तु नैतानि सर्वाणि भवन्ति'**। अर्थात् अर्दित के दौरे होते है वह स्थायी स्वरूप का नही होता, किन्तु अर्धाङ्ग वात

निरन्तर रहता है। इसके अतिरिक्त अर्दित मे मुखमण्डलगत विकृतियां प्रधान रूप से रहती है जब कि अर्धाङ्गवात या पक्षवध (Hemiplegia) में नहीं रहती इसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। वाग्भट भी अर्दित का लक्षण चरक के समान ही करते है। इस प्रकार चरक के मत से अर्धाङ्गघात (Hemiplegia) दो प्रकार का होता है—

१. **सामान्य अर्धाङ्ग घात**—इसमें मुखमण्डल को विकृति नहीं होती। इसे अर्धाङ्गवात या पक्षवध कहते है।

२. **विशिष्ट अर्धाङ्ग घात**—इसमें अर्धाङ्ग के साथ मुखमण्डल भी सम्मिलित रहता है। इसे अर्दित भी कहते हैं। केवल मुखगत विकृति को चरक ने भी अर्दित ही कहा है।

पाश्चात्य रोग-विज्ञान की दृष्टि से मुखमात्र में विकृतिको (Facial paralysis) कह सकते हैं। यह सातवीं शीर्पण्य नाडी (Facial nerve) की विकृति का परिणाम है। इसका विकृतिक्षेत्र मुखमण्डल ही है। सुश्रुत ने भी मुखमण्डल में ही इसकी सीमा निर्धारित की है।

अर्दित (Facial paralysis) के प्रकार एवं लक्षणभिन्नता विक्षत (Lesion) स्थल की विभिन्नता पर निर्भर हैं। सातवीं नाडी शुद्ध चेष्टावह नाडी है। किन्तु आगे चलकर स्वाद के कुछ संज्ञावाही तन्तु भी इसमें सम्मिलित हो जाते हैं। यह नाडी केवल नेत्रोन्मीलनी (Leavator palpabreae superioris) को छोड़कर मुखमण्डल की सम्पूर्ण पेशियों, बाह्य-कर्ण (External ear), गलपार्श्वच्छदा (Platysma), द्विगुम्फिका का पश्चिम भाग (Posterior belly of digastric), शिफाकण्ठिका (Stylohyoid) और पर्याणिका कर्णान्तरिका (Stapedius) पेशियों को प्रदाय (Supply) करती है। इसकी न्यष्ठीला (Nucleus), उष्णीषक (Pons) के अधोभाग में छठीं नाडी की न्यष्ठीला के समीप ही स्थित रहती है। वहाँ से इसके तन्तु निकल कर आठवीं नाडी (Auditory nerve) के साथ-साथ चलकर कर्णान्तर्द्वार (Internal auditory meatus) मे प्रविष्ट हो जाते हैं। कर्णान्तर्द्वार के निम्न भाग में इस नाडी मे एक उभार पाया जाता है जिसे जानुक ग्रन्थि (Geniculate ganglion) कहते हैं। इसी स्थान पर पर्याणिका कर्णान्तरिका (Stapedius) पेशी तथा जिह्वा के अग्रिम $\frac{2}{3}$ भाग का प्रदाय करने वाली रसग्रहा कर्णान्तिका (Chorda tympani) की शाखायें निकलती हैं। इसके बाद यह नाडी शिफागोस्तनान्तरीय विवर (Stylomastoid foramen) के द्वारा बाहर निकल कर विभिन्न शाखाओं में विभक्त हो जाती है और मुखमण्डल की विभिन्न पेशियों का प्रदाय (Supply) करती है। विक्षत (Lesion) की दृष्टि से उक्त नाडी की विकृति को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. न्यष्ठीलकोर्ध्व (Supranuclear) विक्षत—उक्त नाडी की न्यष्ठीला उष्णीषक (Pons) में रहती है। इससे ऊपर के भाग अतःकूर्चवल्लिका (Internal capsule) मस्तिष्कीय शल्क (Cerebral cortex) अथवा मध्य मस्तिष्क (Middle brain)में रक्तस्राव, अथवा घनास्रता के कारण विकृति होने से मुख के विपरीत पार्श्व में विकृति दृष्टिगोचर होती है। क्योंकि दोनों ओर के नाडीतन्तु उष्णीषक में एक दूसरे का लंघन कर जाते हैं। इसके साथ कभी-कभी मुख के पार्श्व में ही अर्धाङ्ग घात (Hemiplegia) भी पाया जाता है। इस अवस्था को चरक के अनुसार मुख और शरीरार्ध व्याप्त अर्दित कह सकते हैं। इस अवस्था में मुख के निम्न भाग का ही घात होता है।

२. न्यष्ठीलकीय विघात (Nuclear lesion)—उष्णीषक में विक्षत होने से मुख के उसी पार्श्व में विकृति दृष्टिगोचर होती है। साथ में विपरीत पार्श्व का अर्धाङ्ग घात भी हो सकता है। इसे लंघित पक्षवध (Crossed paralysis) कहते हैं। इस अवस्था में छठी नाडी पर भी प्रभाव पड सकता है।

शीत सदृश सहायक कारणों की उपस्थिति होने पर लक्षण प्रारम्भ हो जाते हैं। अङ्गघात के वास्तविक लक्षण उत्पन्न होने से पूर्व कान के निम्न भाग में पीडा तथा स्पर्शासहता (Tenderness) होती है। इसके पश्चात् यकायक मुख के एक पार्श्व में घात प्रारम्भ हो जाता है। इसके कारण मुख भावहीन तथा चपटा हो जाता है और अविकृत पार्श्व की ओर खिंच जाता है। गर्दन भी दूसरी ओर को मुड जाती है[1]। रोगी देख नही सकता, आंखें बन्द भी नहीं होती, अधिक प्रयत्न करने पर अक्षिगोलक इधर उधर घूमने लगता है, आखों से प्रायः आसू बहते रहते हैं। आखें लाल रहती है, रोगी बोल नहीं पाता (वाक्सङ्ग), मुखकोण में भी घात का प्रभाव होने से रोगी पानी नहीं पी सकता, वह स्वतः मुखकोण से बाहर निकल जाता है। यदि विक्षत उष्णीषक से नाड़ीसूत्र निकलने के बाद ही हो तो श्रुतिनाडी (Auditory nerve) पर प्रभाव होने से बधिरता भी हो सकती है, किन्तु स्वादेन्द्रिय के कार्य में कोई अन्तर नही पड़ता। पटहपूरणिका (Auditory tube) में विक्षत होने से मुख की सम्पूर्ण पेशियों के घात के साथ-साथ रसनेन्द्रिय के अंश एवं पार्श्व की ज्ञानशक्ति का भी नाश हो जाता है। यदि नाड़ी विक्षत कपाल के बाहर हो तो रोग सौम्य स्वरूप का होता है और शीघ्र ही ठीक भी हो जाता है। इस अवस्था में श्रुतिनाडी तथा रसग्रहा कर्णान्तिका (Chorda tympani) पर भी प्रभाव नही पड़ता।

सुश्रुत ने जो कारण गिनाये हैं उनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव उक्त मौखिकी नाड़ी पर ही पड़ने से अर्दित रोग होता है। सुश्रुतोक्त नेत्र, ग्रीवा, वाणी, हनु तथा ओष्ठों की विकृति का वर्णन आधुनिकों के समान ही है।

अर्दितस्य साध्यासाध्यतां निरूपयति—

क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः ॥ ४७ ॥
न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च।

(सु. नि. १)

जो रोगी अत्यन्त क्षीण हो, जो आँखों के पलक न झपक सके, जो बिल्कुल न बोल सके अथवा जो अस्पष्ट बोले, अर्दित (लकवा) तीन वर्ष का पुराना हो अथवा जिसकी नाक, आँख और मुख से निरन्तर स्राव निकले तथा रोगी यदि कम्पवात (Tremors) से भी पीडित हो तो वह असाध्य होता है ॥ ४७ ॥

तस्यासाध्यलक्षणमाह—क्षीणस्येत्यादि। अनिमिषाक्षस्य निमेषासमर्थचक्षुषः। प्रसक्ताव्यक्तभाषिण इति प्रसक्तं प्रकर्षेण सक्तमप्रवृत्तम्, अव्यक्तं प्रपीडितवर्णपदं भाषितुं शीलं यस्य स तथा। अन्ये तु प्रसक्तं निरन्तरमाहुः; तन्न, चरके 'दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता काले सज्जति चास्य वाक्' (च. चि. अ. २८) इति वचनात्। त्रिवर्षमिति अतीतवर्षत्रयम्; अथवा त्रयाणां मुखनासाचक्षुषां वर्षः स्रवणं यत्र तत्तथेत्याहुः ॥ ४७ ॥

विमर्श—कतिपय विद्वान् प्रसक्त का अर्थ निरन्तर करते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं; क्योंकि चरक ने उक्त अवस्था में वाक्सङ्ग (Aphonia) का वर्णन किया है—**'दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता काले सज्जति चास्य वाक्'**। अन्तःकूर्चवल्लिका (Internal capsule) में रक्तस्राव होने पर यदि सातवीं नाड़ी की विकृति होती है तो वह अर्दित असाध्य होता है। साधारणतया कपालान्तर्गत विक्षत रहने पर भी अर्दित (Facial paralysis) असाध्य ही होता है। किन्तु कपाल के बाहर ठण्ड अधिक लगने से यदि अर्दित होता है तो वह साध्य होता है।

---

१. वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते।

आक्षेपकादीनां वेगित्वमाह—

गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु ॥ ४८ ॥

(वा. नि. १५)

आक्षेपक से लेकर अर्दित तक के रोगों में (प्रायः आवेग [दौरे] आया करतेहै, इस) आवेग के निवृत्त हो जाने पर रोगी कुछ स्वस्थता का अनुभव करता है ॥ ४८ ॥

आक्षेपकादीनामर्दितान्तानां वेगित्वमाह—गत इत्यादि। स्वास्थ्य पीडालाघवं, भारापगमे सुखित्वव्यपदेशवत् ॥ ४८ ॥

विमर्श—तात्पर्य यह है कि यद्यपि रोग की पूर्ण निवृत्ति नहीं होती तथापि **'भारापगमे सुखिनः सवृत्ताः स्मः'** सिर का भार उतर जाने पर जिस प्रकार अपेक्षाकृत सुख का अनुभव होता है वैसे ही उक्त अवस्था में भी आवेग समाप्त होने पर भावी आवेग के समय तक अपेक्षाकृत स्वस्थता अनुभव होती है।

हनुग्रहं वर्णयति—

जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनुम् ॥ ४९ ॥
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।
हनुग्रहः[1] स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ॥ ५० ॥

(वा. नि. १५)

दन्तधावन अथवा जिह्वा साफ करने के अन्य साधनों से-जिह्वा निर्लेखन करने (के लिए मुह अधिक खोलने) से, सूखी वस्तुओं को अधिक खाने तथा आघात से हनुमूल में रहने वाला वायु कुपित होकर हनुसन्धि का स्रंसन (Dislocation) करा देता है। जिसमे मुख पूर्णतया खुला ही रह जाता है या बिलकुल बन्द हो जाता है। इस रोग को हनुग्रह कहते है और इसके कारण चर्वण करने तथा बोलने में कठिनाई हो जाती है ॥ ४९–५० ॥

हनुग्रहमाह—जिह्वेत्यादि। हनुमूलस्थः कपोलमूलस्थः[2]। हनुं स्रंसयित्वाऽधः कृत्वा। विवृतास्यत्वमास्यविवृतिं, संवृतास्यतामास्यसंवृतिं; सा च वायोरनियतकारित्वात् ॥४९,५०॥

विमर्श—हनुमूल से शखहन्वीय सन्धि (Tempromandibular joint) का ग्रहण करना चाहिये। हन्वस्थि को गति का पूर्णतया अभाव ही हनुग्रह (Lock jaw or trismus) है। चबाने या बोलने में मुख को खोलने और बन्द करने का कार्य हन्वस्थि तथा उसकी सहायक पेशियों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। हनुग्रह में संवृतास्यता (मुख का बन्द होना) तथा विवृतास्यता (मुख का निरन्तर खुला रहना) ये दोनों अवस्थायें हो सकती हैं। दोनों का परिणाम हन्वस्थि की गति का अभाव ही है। संवृतास्यता धनुःस्तम्भ (Tetanus) का मुख्य लक्षण है। इसका कारण शुद्ध वात विकृति है। इसके अतिरिक्त हनुशंखीय सन्धि (Tempromandibular joint) या हनुमूल के विश्लेष (Dislocation) के परिणाम स्वरूप भी हनुग्रह की अवस्था उत्पन्न होती है। वाग्भट के वर्णन के आधार पर इसे उक्त सन्धि की विच्युति ही कह सकते हैं। निम्न उद्धरण से स्पष्ट है कि चरक भी प्रधानतया सन्धि-विच्युति को ही हनुस्तम्भ मानते हैं—

हनुमूले स्थितो बन्धात् स्रंसयत्यनिलो हनू। विवृतास्यत्वमथवा कुर्यात् स्तब्धमवेदनम् ॥'
हनुग्रहं च संस्तभ्य हनुसंवृतवक्त्रताम् ॥ (चरकः)

---

१ 'हनुस्तम्भः' इति पा०। २. 'कपोलेभ्य' इति पा०।

वस्तुतः सन्धिविश्लेष का प्रारम्भिक कारण भी वात दोष ही है अतः वाग्भट ने इसका भी वातव्याधि में परिगणन किया है। वात के प्रकृत रहने पर चर्वण करने तथा सन्धि को स्थिर रखने वाली पेशियाँ भी प्रकृत एवं स्थिर रहती हैं जिससे उक्त सन्धि भी स्थिर रहती है किन्तु जब मुख को फैलाकर जिह्वा साफ करने, पिछली दंष्ट्राओं से कड़ी वस्तु को तोड़ने या अन्य प्रकार के आघात से वायु (सन्धि को स्थिर रखने वाली विशिष्ट शक्ति) विकृत हो जाती है तो मांस-पेशियाँ स्थिर नहीं रह पातीं, परिणाम स्वरूप सन्धि-विश्लेष हो जाता है। शंखकास्थि की एक साधारण छिछली खात और हन्वस्थि (Mandible) के पश्चिमशृङ्ग (Posterior ramus) के अर्बुदीय भाग (Condyloid part) या हनुमुण्ड के मिलने से इस सन्धि का निर्माण होता हैं। स्वभावतः यहाँ के स्नायु Ligaments) अधिक दृढ नहीं होते, अतः साधारण कारणों से भी इसका विश्लेष हो जाता है। सन्धि-विच्युति की प्रकृति के अनुसार संवृतास्यता (मुख का बन्द होना) अथवा विवृतास्यता (मुख का पूर्णतया खुला होना) होती है। जिस अवस्था में हनुमुण्ड (Condyloid part) विच्युत होकर खात के पश्चात् भाग में चला जाता है तब मुख खुल नहीं सकता और पूर्णतया बन्द रहता है। इसे संवृतास्यता कहते हैं। किन्तु जिस अवस्था में यह विच्युति आगे की ओर (Anterior dislocation) होती है तो मुख पूर्णतया खुला रहता है और प्रयत्नपूर्वक भी उसे बन्द नहीं कर पाता, इसे विवृतास्यता कहते हैं। उक्त दोनों अवस्थाओं में रोगी की बोलने तथा चबाने की शक्ति समाप्तप्राय हो जाती है। यह सन्धि-विच्युति साधारणतया एक ही ओर की होती है, किन्तु कभी कभी दोनों ओर की सन्धियों का भी विश्लेष हो सकता है अत एव वाग्भट ने हनु के लिए द्विवचन का प्रयोग किया है—**स्रंस-यित्वाऽनिलो हनू'**। माधव ने 'हनुम्' यह एकवचन का ही प्रयोग किया है।

मन्यास्तम्भं लक्षयति—

दिवास्वप्नासमस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः ।
मन्यास्तम्भ प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥५१॥ (सु. नि. १)

दिन में अधिक सोनें से, निम्नोन्नत (विषम) स्थान में सोने एवं ऊपर की ओर अधिक देखने से श्लेष्मा से आवृत वायु मन्यास्तम्भ रोग को उत्पन्न करता है॥ ५१॥

मन्यास्तम्भमाह—दिवास्वप्नेत्यादि। स एवेति वातः ॥ ५१ ॥

विमर्श—'मन्या ग्रीवापश्चाद्भागः' ग्रीवा के पिछले भाग को मन्या कहते हैं। यह रोग ग्रीवा की पेशियों का उद्वेष्टन ही है जो कि स्वतन्त्र रोग होने के साथ-साथ मस्तिष्कावरण शोथ जैसे रोगों में लक्षण रूप में भी पाया जाता है। इसमें वायु और कफ की विशेषता रहती है। मन्यास्तम्भ के लिये आधुनिक पारिभाषिक शब्द Torticollis or Wry neck है। इसे ग्रीवा की अनाम्यता या कठोरता भी कह सकते हैं। शीतवायु का स्पर्श, अभिघात या किसी एक ही ओर को अधिक देखना तथा योषापस्मार (Hysteria) इस रोग के कारण हैं। रात्रि को सोते समय गर्दन के ऊँचे-नीचे स्थान पर पड़े रहने से भी यह अवस्था उत्पन्न हो जाती है। कदाचित् मस्तिष्कशोथीय-निद्रालसी (Encephalitis lethargica) के परिणामस्वरूप मन्यास्तम्भ (Torticollis) की स्थिति पायी जाती है। उक्त कारणों से उरःकर्णमूलिका (Sternomastoid), शिरोग्रीवाविधवर्तनी (splenius), पृष्ठच्छदा (Trapezius) तथा ग्रीवा की अन्य गम्भीर (Deep) पेशियों में कड़ापन आजाता हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मन्या से ग्रीवा के पश्चात् एवं पार्श्व की पेशियों और उनको प्रदाय करनेवाली वातवहा नाड़ियों का ही ग्रहण करना चाहिये। उक्त विकृति कभी एक ओर की और कभी दोनों ओर की पेशियों में भी होती है। एक ओर की मन्या (ग्रीवा-पेशियों) में विकृति होने पर सिर विपरीत दिशा की ओर घूम जाता है, मुख

ऊपर को हो जाता है, कन्धे भी अपेक्षाकृत ऊपर को उठे रहते है। उभयपार्श्वीय (Bilateral) विकृति में सिर पीछे की ओर को खिच जाता है, ग्रीवा की पार्श्वीय गति पूर्णतया अवरुद्ध हो जाती है और पीडा रहती है।

जिह्वास्तम्भमाह—

वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता ॥ ५२ ॥ (वा. नि. १५)

वाणी का वहन करने वाली नाडी में स्थित प्रकुपित वायु जब जिह्वा को स्तम्भित कर देता है तब इसे जिह्वास्तम्भ कहते हैं। इससे अन्न पान के ग्रहण तथा बोलने में असमर्थता हो जाती है ॥५२॥

जिह्वास्तम्भमाह—वागित्यादि। वाग्वाहिनीसिरासंस्थ इति। वाग्वाहिनी या सिरा तत्र संस्थ इति योज्यं, समस्तपक्षे 'पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु—'इत्यनेन पुंवद्भावप्राप्तेः। अन्नपानवाक्येष्वनीशतेति। अन्न-पानाभ्यवहारवचनेष्वसामर्थ्यम् ॥ ५२ ॥

विमर्श—इसमें वायु के साथ कफ का अनुबन्ध रहता है। इसे जिह्वाघात (Glossal palsy or tongue paralysis) भी कहते हैं। इसका मुख्य उत्पादक कारण बारहवीं अधोजिह्विका नाडी (Hypoglassal nerve) की विकृति है। सुषुम्नाशीर्ष के अधोभाग में स्थित बारहवीं नाडी की न्यष्ठीला से इस नाडी का प्रादुर्भाव होता है। इसमें शल्कीयतल (Cortical level) से भी तन्तु आते हैं। सुषुम्ना शीर्ष से निकल कर यह नाड़ी पश्चात् कपालास्थि के पुरःस्थ रन्ध्रमार्ग (Anterior condyloid foramen) के द्वारा कपाल से निकल कर जिह्वा की सम्पूर्ण बाह्य और आभ्यन्तर पेशियों में चेष्टा उत्पन्न करती है। इसका घात होने से जिह्वा का भी घात हो जाता है। इसी को जिह्वास्तम्भ कहते हैं विक्षत स्थल की विशेषता के अनुसार लक्षणों में भी विशेषता पायी जाती है—

१. ऊर्ध्वन्यष्ठीलकीयविक्षत (Supra nuclear lesion)—यह शल्क (Cortex) या अन्तः-कूर्चवल्लिका (Internal eapsule) में होता है। इसके साथ प्रायः अर्धांगघात (Hemiplegia)-भी रहता है। घातयुक्त (Paralysed) पार्श्व कड़ा रहता है। जिह्वा का भी एक ही पार्श्व घातयुक्त होता है और रोगी की बोलने आदि की क्रिया हीन हो जाती है।

२. न्यष्ठीलकीयविक्षत (Nuclear lesiou)—स्थानीय रक्तवाहिनी की विकृति (यथा घनास्रता = Thrombosis) अथवा अर्बुद के कारण यह विकृति उत्पन्न हो सकती है। इसमें प्रायः दोनों ओर की नाड़ियां विकृत होती हैं जिससे सम्पूर्ण जिह्वा का घात हो जाता है। जिह्वा गतिहीन एवं स्तम्भित हो जाती है। रोगी चर्वण और निगिरण (निगलना) की क्रिया नहीं कर पाता। इसके कुछ तन्तु सातवीं नाडी के द्वारा ओष्ठों में जाते हैं अतः मूल में विकृति होने से ही वाणी का व्याघात होता है। इन दोनों के घातयुक्त (Paralysal) हो जाने से बोलने की क्रिया भी विलुप्त हो जाती है।

३. अधोन्यष्ठीलकीय विक्षत (Infranuclear lesion)—मस्तिष्कावरणशोथ (Meningitis), मध्यम कर्णशोथ, गर्दन की चोट व लसग्रंथियों की वृद्धि से यह विकार होता है। घात प्रायः जिह्वा के एक ही पार्श्व में होता है। उक्त अवस्था में बोलने तथा निगलने की शक्ति पूर्णतया नष्ट नहीं होती। प्रकृत में वाग्वाहिनी सिरा से अधोजिह्विका(Hypoglossae)नाडी का ग्रहण किया जाता है।

सिराग्रहं निरूपयति—

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः सिराः। (वा. नि. १५)
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः ॥ ५३ ॥

प्रकुपित वायु रक्त में स्थित होकर ग्रीवा की सिराओं को रूक्ष, वेदनायुक्त तथा कृष्णवर्ण की कर देता है। इसे सिराग्रह कहते हैं और यह असाध्य होता है ॥ ५३ ॥

सिराग्रहमाह—रक्तमित्यादि। मूर्धधरा इति ग्रीवागताः, तासां रूक्षत्वं वेदनावत्त्वं कृष्णत्वं च कुर्यात्। सोऽसाध्य इति स्वरूपेणैव, काकणकुष्ठवत्। शिरोग्रह इति पाठान्तरे शिरोधारकसिरादुष्ट्या शिरोवेदनाकारित्वात् 'शिरोग्रह' इति व्यपदेशः, लक्षणं तु तदेव ॥५३॥

विमर्श—कोई लोग 'सिरा' के स्थान पर 'शिर' पाठ करके इसे शिरोग्रह मानते हैं और तीव्र वेदना इसका लक्षण बताते हैं। यह रोग सन्दिग्ध है, इसकी सम्प्राप्ति के समान आधुनिक विद्वान् भी एक रोग मानते हैं, उसे अधिभ्रुव मसूरी (Herpes supra-orbitalis) कहते हैं। किन्तु यह असाध्य नहीं होता। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें रक्तदोष के कारण त्रिशाखा (Trigeminal) नाडी की अधिभ्रुव शाखा-प्रतान के मार्ग में ललाट की त्वचा में अत्यन्त पीडा और दाहयुक्त पिटिकाएँ होती हैं जो रक्त और वातशामक उपचारों द्वारा कष्ट से शान्त होती हैं।

गृध्रसीलक्षणं व्याचष्टे—

स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥ ५४ ॥
वाताद्वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता ।

(च. चि. २८)

एक विशिष्ट प्रकार की पीडा जो स्फिक् प्रदेश से प्रारम्भ होकर क्रमशः कटि के पिछले भाग, ऊरु, जानु, पिण्डली तथा पैर तक जाती है उसे गृध्रसी कहते हैं। इसके कारण टांग में जकडाहट, पीडा, सुई के समान चुभान एवं फड़कन होती है। इसे शुद्ध वातिक गृध्रसी कहते हैं। किन्तु वातकफजन्य गृध्रसी में इन लक्षणों के अतिरिक्त तन्द्रा, भारीपन तथा अरोचक के लक्षण भी रहते हैं ॥ ५४ ॥

[वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता।
जानुकट्यूरुसंधीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम् ॥ ५५ ॥
वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं वह्निमार्दवम्।
तन्द्रा मुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च ॥ ५६ ॥

[वातिक गृध्रसी में सूई के समान चुभान होती है, शरीर टेढ़ा हो जाता है। घुटने, कटि तथा ऊरु की सन्धियों में फड़कन व जकड़ाहट रहती है। वातश्लेष्मज गृध्रसी का कारण अग्निमान्ध है तथा उसमें तन्द्रा, मुख से लालास्राव एवं भक्तद्वेष हो जाता है ॥ ५५–५६ ॥

गृध्रसीमाह—स्फिक्पूर्वेत्यादि। स्फिक्पूर्वा प्रथमतो ग्राह्या स्तम्भरुक्तोदैर्यस्याः सा स्फिक्पूर्वा; ईशानस्तु पूर्वा प्रथमा गृध्रसी वातादिति योजयति, एषा च व्याख्या स्फिकशब्दस्य नपुंसकत्वेन 'पूर्वा स्फिक्कटीपृष्ठ' इत्यादिपाठेन वोपपद्यते नान्यथा। 'स्फिक्पूर्वम्'इति पाठान्तरं जानुजङ्घापदमित्यनेन योज्यम्। क्रमादिति न युगपत्। वातादिति च्छेदः। वातकफारब्धा गृध्रसी, सोक्तवातलक्षणयुक्ताऽपि तन्द्रागौरवादियुक्ता भवतीति गृध्रसीद्वयमुक्तम् ॥

विमर्श—स्फिक् प्रदेश से प्रारम्भ होकर सक्थि के पृष्ठ भाग के सहारे क्रमशः पैर तक जाने वाली जकड़ाहट एवं तोदयुक्त तीव्र पीडा को ही गृध्रसी कहते हैं। उक्त पीडा गृध्रसी (Sciatic) नाडी के क्षेत्र में ही होती है। अतः आजकल इसे गृध्रसी नाडीशोथ (Sciatic neuritis) या

केवल गृध्रसी (Sciatica) भी कहते हैं। इसमें चरकोक्त गृध्रसी के सभी लक्षण मिलते हैं जैसा कि इसकी परिभाषा करते हुए प्राइस कहते है—

'The term sciatica is applied in a somewhat imprecise manner of canditions in which pain is experienced along the course and in the distribution of the Sciatic nerve. That is tosay in the buttock, back of the thigh, outer side and back of the leg and the outer border of the foot' (Medicine by price.)

गृध्रसीरोग प्रायः एक ओर ही होता है किन्तु कभी कभी उभय पार्श्व में भी हो सकता है। शीतल वायु का स्पर्श, सक्थि का मुड जाना, श्रोणिगत अर्बुद का दबाव एवं कसेरुकान्तरीय बिम्ब या चक्रिका (Intervertibral disc) के फट जाने से उक्त रोग की उत्पत्ति होती है। पीठ के बाह्य आघात एवं अधिक भार उठाने से कसेरुकान्तरीय चक्रिका फट जाती है। यद्यपि चक्रिका फटना सम्पूर्ण पृष्ठवंश में हो सकता है, तथापि इसका मुख्य स्थान कटि प्रदेश ही है। अधिकतर कटि-प्रदेश की पंचम कसेरुका एवं त्रिक प्रदेश की प्रथम कसेरुका के मध्य की चक्रिका (Disc) ही फटती है। कभी पाचवीं और चौथी कटिप्रदेशीय कसेरुका और कदाचित् तृतीय और चतुर्थ कटिप्रदेशीय कसेरुका के मध्य की चक्रिका फट जाती है। इनके फटने से सौषुम्न (Spiral) नाडियों पर दबाव पडता है। पंचम कटिप्रदेशीय और प्रथम त्रिकप्रदेशीय चक्रिका (Disc) के फटने से त्रिकप्रदेश की प्रथम सौषुम्न नाडी पर दबाव पड़ता है। इसी प्रकार पञ्चम और चतुर्थ के बीच की चक्रिका के फटने का प्रभाव पंचम कटिप्रदेशीय नाडी पर होता है। तात्पर्य यह कि विक्षत के नीचे वाली नाडी पर प्रभाव पडता है। पंचम कटिप्रदेशीय तथा प्रथम और द्वितीय त्रिकप्रदेशीय नाडी-मूलों के मिलने से गृध्रसी (Sciatic nerve) का निर्माण होता है। इन नाडीमूलो पर दबाव पड़ने का ही परिणाम गृध्रसी रोग (Sciatica)।

चूंकि यह नाडी ऊरु के पिछले भाग का ही प्रदाय (Sapply) करती अतः विकृति का परिणाम भी वहीं दृष्टिगोचर होता है। सक्थि के पृष्ठ भाग में तोदयुक्त (Lancinating) पीडा का होना इसका मुख्य लक्षण है। यह पीड़ा खाँसने, छीकने तथा रात्रि को सोते समय बढ जाती है। रोगी टाग को श्रोणिसन्धि पर पूर्णतया मोड़ने में पीड़ा का अनुभव करता है। चलते समय रोगी लंगडा कर चलता है और दूसरे पार्श्व की ओर कुछ झुका रहता है। माधव ने इसे ही शरीर की प्रवक्रता कहा है। नाड़ी के क्षेत्र (Course) मे स्पर्शासहता (Tenderness) भी रहती है। जानुसन्धि के पृष्ठ भाग तथा जंघापृष्ठ की पेशियों (Calf muscles) में स्पर्शासहता की अधिक प्रतीति होती है।

सुश्रुत पार्ष्णि (एड़ी) के समीप की कण्डरा या महास्नायु (Great sciatic nerve ?) के वातप्रकोप को ही गृध्रसी मानते हैं—

'पार्ष्णिं प्रत्यङ्गुलीनान्तु कण्डरा याऽनिलार्दिता।
सक्थ्नः क्षेपं निगृह्णीयाद् गृध्रसीति हि सा स्मृता॥' (सु. नि. १)

विश्वाचीरोगमाह—

तलं प्रत्यङ्गुलीनां याः कण्डरा बाहुपृष्ठतः॥ ५७॥
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाची चेति सोच्यते। (सु. नि. १)

बाहु के पृष्ठ भाग से आरम्भ होकर अङ्गुलियों के पृष्ठ भाग पर्यन्त तथा प्रकोष्ठ और हाथ के सामने वाले भाग की कण्डरा (नाडी) को दूषित करके बाहु के कर्म (Motor function) का

विश्वाचीमाह—तलमित्यादि । तलं हस्तस्योपरिभागः, तलशब्दोऽत्रोपरिवचनः, यथा- भूतलमिति गयदासः । **तेनायमर्थः—बाह्वोः पृष्ठं बाहुपृष्ठं, तत आरभ्य हस्ततलं लक्षीकृत्याङ्गुलीनां याः कण्डरास्ताः संदूष्य बाह्वोः कर्मक्षयकर्त्री या सा विश्वाची; बाह्वोः कर्म ग्रहणाकुञ्चनादि, द्वित्वं चात्र संभवपरं, तेनैकबाहावपि भवति वातरक्तवत् । विश्वाची चेति चकारेण गृध्रसीविश्वाच्योः खल्लीसंज्ञां दर्शयति, तयोरपि करमूलावमोटनकारित्वात्; यदुक्तं** हारीते— **'विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता' इति** गयदासः । चक्रस्त्वाह चरके—**'खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी'** (च. चि. अ. २८) **इत्यनेन विश्वाच्याः पृथगेव खल्ली पठिता, सुश्रुतेन तु खल्ली न पठितैव; नहि तेन तन्त्रान्तरोक्तसर्वविकाराः पठ्यन्ते, चरकोक्तपरस्परवातावरणलक्षणमेव न पठितं,** हारीतेन तु **तीव्ररुजायोगाद्गृध्रसीविश्वाच्योः खल्लीत्वं पठितं, भवति हि धर्मान्तरयोगात् कस्यचिद्विकारस्य रोगान्तरत्वं यथा—अष्ठीलैव प्रत्यष्ठीला, अश्मर्येव शर्करा, पाण्डुरोग एव कामलेत्यादि ॥ ५७ ॥**

विमर्श—'तलशब्दोऽयमुपरि वर्तते तेन करस्याभ्यन्तरकण्डरा गृहीताः, बाहुपृष्ठतः, इत्यनेन बाह्यकण्डरा गृहीताः' श्री डल्हणाचार्य के उक्त वाक्य से यह स्पष्ट है कि बाहु तथा हाथ के पृष्ठभागीय (Posterior) तथा प्रकोष्ठ और हाथ की पुरोभागीय (Anterior) कण्डराओं का ग्रहण करना चाहिये । प्रकृत में कण्डरा का अर्थ वातनाडी है । इस प्रकार उक्त श्लोक का अर्थ निम्न रीति से करना चाहिये—'बाहु' के पृष्ठ भाग (Posterior portion) से प्रारम्भ होकर हाथ और अंगुलियों के पृष्ठ भाग एवं प्रकोष्ठ, हाथ और अंगुलियों के पुरोभाग (Anterior portion) की पेशियों में सकोच-प्रसार आदि चेष्टाओं की शक्ति प्रदान करने वाली वातनाडियों में विकृति होने से विश्वाची रोग की उत्पत्ति होती है ।

वर्णन-सौकर्य की दृष्टि से बाहु एवं हाथ को पुरोभाग (Anterior portion) तथा पश्चात् भाग (Posterior portion) इन दो भागों में विभक्त किया जाता है । इन दो भागों में मुख्यतया दो प्रकार की पेशिया रहती है । सामने वाली पेशियों को आकुञ्चक पेशीसमूह (Flexor group of muscles) एवं पश्चाद्भागस्थित पेशियों को प्रसारक पेशीसमूह (Extensor group of muscles) कहते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य क्रियाओं (करोत्तानन, करविवर्त्तन, अन्तर्नयन एवं बहिर्नयन (Supination, Pronation, Adduction & Abduction) का सम्पादन करने वाली पेशियां भी यथास्थान स्थित रहती हैं । उक्त पेशियों का चेष्टाप्रदाय (Motor supply) बहिःप्रकोष्ठिका (Radial) तथा अन्तःप्रकोष्ठिका (Ulnar) इन दो नाड़ियों के द्वारा होता है । इनमें किसी प्रकार की विकृति होने से उक्त पेशियों की चेष्टा नष्ट हो जाती है और इसको ही विश्वाची कहते हैं । बाहु के पृष्ठभाग स्थित अथवा प्रसारक पेशीसमूह (Extensor group of muscle) की चेष्टा बहिःप्रकोष्ठिका नाडी (Radial nerve) के अधीन है । इसमें किसी प्रकार का शोथ अथवा घात (Radial neuritis or paralysis) होने से बाहु या हाथ के प्रसारण की शक्ति नष्ट हो जाती है और ऊर्ध्वशाखा (Upper limb) स्वयमेव आकुञ्चित हो जाती है । यह नाड़ी बाहु (भुजा = Upper arm) में त्रिशिरस्का पेशी को भी चेष्टा प्रदान करती हैं । कक्षा (Axilla) में किसी प्रकार का विक्षत होने से त्रिशिरस्का पेशी का घात हो जाने से कफोणि-सन्धि (Elbow Joint) की प्रसारक शक्ति लुप्त हो जाती है और वह आकुञ्चित स्थिति में रहती हैं । यदि विक्षत कुछ निम्न भाग में रहता है तो त्रिशिरस्का पेशी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किन्तु अन्य प्रसारक पेशियों का घात हो जाता है । परिणामस्वरूप मणिबन्ध-सन्धि (Wrist Joint) तथा अङ्गुलियों की सन्धियों में प्रसारण की शक्ति नहीं रहती और वे आकुञ्चित अवस्था में रहती हैं । इस प्रकार की स्थिति सीसविषमयता (Lead poisoning) की भी निदर्शक होती है । आकुञ्चक पेशीसमूह का प्रदाय (supply) अन्तः प्रकोष्ठिका नाडी (Ulnar nerve)

के द्वारा सम्पन्न होता है। इस नाडी मे किसी प्रकार का शोथ या घात होने से हाथ की आकुञ्चन-शक्ति समाप्त हो जाती है और वह प्रसारण की स्थिति में ही रहता है।

इस प्रकार विश्वाची कारण और लक्षणों की दृष्टि से तीन प्रकार की हो सकती है—

१. प्रसारकपेशी-कर्मक्षयकरी या बहिःप्रकोष्ठिका नाडीविकृतिजन्य विश्वाची (Radial neuritis or radial paralysis)

२. आकुञ्चकपेशी-कर्मक्षयकरी या अन्तःप्रकोष्ठिका नाडीविकृतिजन्य विश्वाची (Ulnar neuritis or ulnar paralysis)

३. उभयपेशी कर्मक्षयकरी या उभयनाडीविकृतिजन्य विश्वाची (Radio-ulnar neuritis or Radioulnar paralysis)

सुश्रुत ने 'बाह्वोः' यहाँ द्विवचन का पाठ किया है जो सम्भावनापरक है। साधारणतया गृध्रसी के समान यह भी एक ही बाहु में होती है किन्तु कदाचित् दोनों बाहु में भी हो सकती है।

'विश्वाची चेति' यहाँ चकार पाठ से प्रतीत होता है कि गृध्रसी और विश्वाची को 'खल्ली' भी कहते हैं; क्योंकि इन दोनों में भी खल्ली के समान हाथ या पैर में ऐंठन होती है। हारीत ने कहा भी है—**'विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता'**। यह गयदासजी का मत हैं। किन्तु चक्रपाणि ने **'खल्ली तु पादजंघोरुकरमूलावमोटनी'** इसके द्वारा खल्ली का गृध्रसी से पृथक् पाठ किया है। किसी लक्षणविशेष के सम्बन्ध से एक रोग की दूसरीसंज्ञा भी हो सकती है अतः तीव्र पीडा और ऐंठनयुक्त गृध्रसी या विश्वाची को खल्ली भी कह सकते हैं। अतः हारीत ने इन दोनों को खल्ली ही माना है।

क्रोष्टुकशीर्षं व्याचष्टे—

वातशोणितजः शोथो जानुमध्ये महारुजः ॥ ५८ ॥
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षस्तु स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत् । (सु. नि. १)

घुटने में वात और रक्त की विकृति से होने वाले जानुगत तीव्र पीडायुक्त शोथ जिससे जानुसंधि गीदड़ के सिर के समान स्थूल हो जाती है उसे क्रोष्टुकशीर्ष कहते हैं ॥ ५८ ॥

क्रोष्टुकशीर्षमाह —वातेत्यादि। वातशोणितज इति वातरक्ताख्यविकारजः, चिकित्सा-भेदार्थं पृथक् पठित इति गयदासः। **वातशोणिताभ्यां जात इति** जेज्जटः। **दृश्यते ह्ययं वात-रक्तव्यतिरेकेणापि, जानुदेशनियतत्वेन विशिष्टलक्षणत्वेन चेतरवातरक्तशोथाद्भेद इति। क्रोष्टुकशीर्षवत् शृगालमस्तकवत् स्थूलः ॥ ५८ ॥**

विमर्श—यद्यपि यह शुद्ध वात व्याधि नहीं है तथापि पीडाधिक्य के कारण सुश्रुत ने इसका भी वातव्याधि में वर्णन कर दिया है। सम्प्राप्ति की दृष्टि से इसे वातरक्त से भिन्न नहीं कहा जा सकता, फिर भी चिकित्सा भेद करने के लिये इसका पाठ पृथक् किया गया। इसके अतिरिक्त यह केवल जानुसन्धि में ही होता है, किन्तु वातरक्त अन्य सन्धियों में भी पाया जाता है इसलिये भी इसका पाठ पृथक् किया गया। आधुनिक दृष्टि से शोथयुक्त जानु (Inflamed knee) या (Sinoarthritis of the knee joint) में उक्त अवस्था मिलती है। प्रायः पूयमेह के बाद इसके होने से इसे पूयमेहज सन्धिशोथ (Gonorrhoeal arthitis) भी कह सकते हैं।

खञ्जपङ्गुत्वे निरूपयति—

वायुः कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ॥ ५९ ॥
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात् । (सु. नि. १)

यदि वायु कटिप्रदेश में आश्रित होकर एक टांग की कण्डरा में आक्षेप (कर्महीनता या विचेष्टता) उत्पन्न कर देता है तो व्यक्ति खञ्ज या लंगड़ा हो जाता है किन्तु जिस अवस्था में यह दोनों ओर की टांगों में अकर्मण्यता उत्पन्न करता है तो उसे पङ्गु कहते हैं ॥ ५९ ॥

खञ्जमाह—वायुरित्यादि। सक्थ्न ऊर्ध्वजङ्घायाः, कण्डरां महास्नायुम्, आक्षिपेत् ईषत् क्षिपेत्, किंचिद्गतिमत्त्वादिति गयदासः। सक्थ्नोरिति द्विवचनेनैव द्वित्वे लब्धे द्वयोरिति पदेन नियमयति—सक्थिद्वयस्यैव वधात् पङ्गुः, एकसक्थिवधात् खञ्ज इति; वधश्चात्र गमनादिक्रियानाशः ॥ ५९ ॥

विमर्श—स्थानीय अभिघात आदि के अभाव में केवल वात विकार-जनित लगड़ापन (Limping), एकांगघात (Monoplegia) का ही एक रूप है। यह मस्तिष्कबाह्यक (Cerebral cortex) की विकृति अथवा रुग्ण सक्थि का प्रदाय (Supply) करने वाली वातनाड़ियों के घात का ही परिणाम है। कभी-कभी मस्तिष्क सुषुम्नाज्वर (Cerebro–Spinal fever) के उपद्रव-स्वरूप भी एकांगघात की अवस्था उत्पन्न हो सकती है। जिस अवस्था में सम्पूर्ण अधराग का प्रदाय करने वाले नाडी-तन्तु रक्तस्राव अथवा घनास्रता (Thrombosis) आदि कारणों से मस्तिष्क प्रदेश में ही नष्ट हो जायें, अथवा किसी विकृति से इनका कटिप्रदेश में घात हो जाय तो दोनों सक्थियों की क्रिया शक्ति पूर्णतया नष्ट हो जाती है। इसे पङ्गुता या अधरांगघात (Paraplegia) कहते हैं। (पृ. ४२९ भी देखें)

कलायखञ्जमाह—

प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ॥ ६० ॥
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् । (सु. नि. १)

जो मनुष्य चलते हुए कापता तथा लंगड़ाता है, जिसके सन्धि-बन्धन शिथिल हो गये हैं उसे कलायखञ्ज नामक रोग से पीडित समझना चाहिये ॥ ६० ॥

खञ्जविशेषमाह—प्रक्रामन्नित्यादि। प्रक्रामन्निति गमनमारभमाणो वेपते। प्रशब्दोऽयमादिकर्मणि। खञ्जन्निव गच्छति विकलयन्निव गच्छति, गमनारम्भे वेपते तेन खञ्जादस्य भेदः। मुक्तसन्धिप्रबन्धनमिति शिथिलीकृतसन्धिबन्धनम्। कलायखञ्ज इति शास्त्रे रूढा संज्ञा; अयमेवान्यत्र खञ्जवात इत्युक्तः ॥ ६० ॥

विमर्श—'कलायसेवनात् खञ्जः कलायखञ्जः' काली मटर या खिसारी के खाने से जो लंगडापन होता है उसे कलायखञ्ज कहते हैं। कलाय या खिसारी वात के रूक्ष आदि सम्पूर्ण गुणों से युक्त होती है अत एव शास्त्र में इसे सर्वाधिक वातप्रकोपक माना है। अधिक दिन तक इसका सेवन करने से वातनाड़ियों में दौर्बल्य आने पर रोगी की दोनों सक्थियाँ क्रियाहीन हो जाती हैं, एवं वह प्रयत्नपूर्वक चलने पर काँपता हुआ चलता है।

आजकल भी इस रोग का कारण कलाय-भक्षण ही मानते हैं और इसे लेथीरिज्म (Lathyrism) कहते हैं। प्राइस इसकी परिभाषा करते हुए कहते हैं—'A disease of limited geographical distribution, characterised by spastic spinal paralysis, and caused by poisoning with peas of a vetch of the genus Lathyrus'

यह रोग उत्तरी विहार, दक्षिणी उत्तर प्रदेश, इटली, फ्रांस तथा कहीं कहीं अफ्रीका में भी पाया जाता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। यह अन्न-संकट के समय खिसारी पर निर्भर रहने वाले निम्नवर्ग के व्यक्तियों में जानपदिक रूप में भी पाया जाता है। इसके अतिरिक्त जीवतिक्ति 'ए०' की कमी भी इस रोग का कारण है।

इसके लक्षणों का प्रारम्भ कमर के दर्द से होता है। इसके बाद टांगों में जलन एवं दुर्बलता का अनुभव होता है। कभी-कभी दिन भर काम करने के पश्चात् इसका आक्रमण होता है। रात्रि को स्वस्थावस्था में सोया हुआ व्यक्ति प्रातःकाल अनुभव करता है कि उसकी टांगे जकड गई हैं और दुर्बल हो गई है। चलते हुए टांगे कांपने लगती है, कदम उठाने मे भार प्रतीत होता है। ये लक्षण अतिशीघ्र बढते जाते हैं और लगभग दस दिन में रोगी चलने मे पूर्णतया अशक्त हो जाता है। लाठी के सहारे किसी प्रकार चल पाता है। दोनों सक्थियों पर इसका सामान्य प्रभाव पड़ता है।

वातकण्टकलक्षणमाह—

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ॥ ६१ ॥
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् । (वा. नि. १५)

निम्नोन्नत भूमि पर अचानक पैर पड़ने (एवं मोच आ जाने से) अथवा अत्यधिक परिश्रम से प्रकुपित वात जब गुल्फसन्धि (Ankle joint) में पीडा उत्पन्न करता है तो उसे वातकण्टक कहते है।

वातकण्टकमाह—रुगित्यादि। यदा विषमपादन्यासकुपितः श्रमकुपितो वा वायुर्गुल्फे वेदनां जनयति, तं वातकण्टकमित्याहुः, अयमेवान्यत्र 'खुड्डकवात' इत्युक्तः ॥ ६१ ॥

विमर्श—साधारण बोलचाल में इसे मोच कहते हैं। इसके कारण गुल्फसन्धि सूज जाती है और रोगी चलने में अत्यन्त कष्ट का अनुभव करता है। यह अभ्यग एवं सेक से ठीक हो जाता है। किन्तु समीपवर्ती छोटी अस्थिसधियों में भी शोथ होने पर चिरकालीन कष्ट होता है। कभी कभी गुल्फसन्धि में फिरंगजनित एवं पूयमेहजनित स्थायी विकृति भी हो जाती है।

सुश्रुत भी इसका लक्षण वाग्भट के समान ही करते हैं—

न्यस्ते तु विषमे पादे रुजः कुर्यात् समीरणः। वातकण्टक इत्येष विज्ञेयः खुडकाश्रितः ॥

खुडक शब्द से छोटी अस्थियाँ और उनकी सन्धियाँ अभिप्रेत प्रतीत होती हैं।

पाददाहं वर्णयति—

पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ॥ ६२ ॥
विशेषतश्चङ्क्रमतः पाददाहं तमादिशेत् । (सु. नि. १)

प्रकुपित वायु पित्त और रक्त से मिलकर पैरों में दाह उत्पन्न करता है; चलते समय इसका विशेष अनुभव होता है। इसे पाददाह कहते हैं ॥ ६२ ॥

पाददाहमाह—पादयोरित्यादि। विशेषतश्चङ्क्रमत इत्यनेन स्थितस्य मन्दो दाह इति दर्शयति। वैवर्ण्यादेरभावाद्वातरक्तादस्य भेदः ॥ ६२ ॥

पादहर्षं वर्णयति—

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां चापि सुप्तकौ ॥ ६३ ॥
पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपतः । (सु. नि. १)

प्रकुपित वायु कफ के साथ मिलकर पैरों में हर्ष (झनझनाटहट) और कभी-कभी उनमें सुप्तता उत्पन्न कर देता है, इस अवस्था को पादहर्ष कहते हैं ॥ ६३ ॥

पादहर्षमाह—हृष्येते इत्यादि। हृष्येते हर्षयुक्तौ भवतः, हर्षश्च रोमाञ्चप्रायोऽन्तः-क्षीतो झिणिझिणिवद्वेदनाविशेष इत्याहुः, झिणिझिणि तु न चिरानुबन्धिनी केवलवातजेति भेदः ॥ ६३ ॥

विमर्श—पाददाह या पादहर्ष इन दोनों रोगों में वायु की प्रधानता रहती है। वात के साथ पित्त का सम्बन्ध होने पर दाह और कफ का सम्बन्ध होने पर झनझनाहट तथा सुप्तता होती है।

ये दोनों परिसरीय नाडियों (Peripheral nerves) की विकृति के कारण त्वचागत उत्तान संवेदनाओं (Superficial sensation की विकृत अनुभूति के ही परिणाम हैं। ये विकृतियां तीन प्रकार की होती हैं—

१. परमस्पर्शज्ञता (Hypersthesia)—यह वातनाडी संस्थान को अंगीय (Organic) अथवा गुणकर्मीय (Functional) विकृति का विशिष्ट लक्षण है। इसके कारण सर्वशरीर अथवा शरीर के किसी एक भाग में स्पर्शज्ञान की अतितीव्रता हो जाती है। अंग में चींटी सी चलना (Creeping of insects). शीत, ताप अथवा दाह का अनुभव होना, सुई सी चुभना ये सब परमस्पर्शज्ञता के ही लक्षण हैं। पैर की त्वचा का प्रदाय करनेवाली वातनाडी मे पित्तसंसर्गी विकृति होने पर पददाह होता है।

२. विषमस्पर्शता (Parasthesia)—इसमें किञ्चित् सुप्तता (Numbness) तथा भारीपन प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त रोगी को चलते हुए ऐसा प्रतीत होता है मानो वह रुई के ऊपर चल रहा है। इसको ही विषमस्पर्शता कहते हैं। कभी कभी किसी रोगी को पैरों में झनझनाहट (Tingling) का भी अनुभव होता है। इस अवस्था में रोगी के पैरों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इन दोनों अवस्थाओं को पादहर्ष कहते हैं। यह कफयुक्त वातविकार है।

३. संज्ञानाश (Anaesthesia) इसमें रोगी को किसी प्रकार के स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। इसका कारण भी वातनाडी की विकृति है किन्तु इसमें कफ की प्रबलता रहती है। ये सब परिसरीय वातनाडी शोथ (Peripheral neuritis) के ही लक्षण हैं। पैर में इन लक्षणों की विशेष रूप से प्रतीति होती है।

अंसशोषलक्षणमाह—

अंसदेशस्थितो वायुः शोषयेदंसबन्धनम् ॥ ६४ ॥ (सु. नि. १)

असप्रदेश में स्थित वायु प्रकुपित होकर अंस (कन्धे) के बन्धनकर्ता श्लेष्मा को सुखाकर अंसशोष रोग को उत्पन्न करता है ॥ ६४ ॥

अंसेत्यादि। अंसेत्यादिना श्लोकार्धेनांसशोषः केवलवातज उच्यते। अंसबन्धकारकः श्लेष्मा अंसबन्धनः; एतदनन्तरम् 'अंसशोषं जनयेत्' इति शेष इति कार्तिकः ॥ ६४ ॥

विमर्श—सामान्यतया बाहु के शिरोभाग को अंस कहते हैं किन्तु अंसदेश से बाहुशिर और ग्रीवा के मध्यवर्ती भाग सम्पूर्ण ऊर्ध्वाक्षकीय प्रदेश (Supra clavicular region) का ग्रहण हो जाता है[१]। अंससन्धि की विकृति तथा राजयक्ष्मा में अंसशोष का लक्षण मिलता है। आधुनिकदृष्ट्या निश्चित रूप से इसे कोई विशिष्ट नाम नहीं दिया जा सकता।

अवबाहुकलक्षणं व्याचष्टे—

सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयेदवबाहुकम्। (सु. नि. १)

यदि अंसप्रदेशस्थित वायु प्रकुपित होकर अंसप्रदेश में स्थित सिराओं (वातनाडियों) में संकोच अथवा विकार उत्पन्न कर देता है तो अवबाहुक रोग की उत्पत्ति होती है।

अवबाहुकमाह—सिराश्चेत्यादिना अवबाहुकम्। तत्रस्थोऽसदेशस्थः, सिरा आकुञ्च्याव-बाहुकं जनयेत्। अयं वातकफजः। अन्ये तु मिलित्वाऽवबाहुकलक्षणमाहुः तन्न, यतः सुश्रुतेनोक्तम्—'अंसशोषावबाहुकयोर्बाहुमध्ये सिराव्यधः (सु. शा. अ. ८) इति। एतदनन्तरं सुश्रुतेन बाधिर्यं पठितं-'यदा शब्दवहं वायुः' (सु. नि. अ. १) इत्यादिना, माधवेन **तु प्रकरणानुरोधंमन्यमानेन कर्णरोग एव तत् पठितं, किन्तु सुश्रुतेन वातव्याधौ बाधिर्यं पठित्वाऽपि बाधिर्यकर्णशूलौ** शालाक्येऽपि **पठितौ, पुनरुक्तमिति चेत्; न, संप्राप्तिभेदभिन्नत्वात्,**

---

१. बाहुमूर्द्धग्रावामध्येंऽसपीठस्कन्धनिबन्धनावंसौ नाम (मर्म) (सु. शा ६)।

वातव्याधौ शब्दवहमित्यनेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोदेश उक्तः, शालाक्ये च शब्दवहाः सिरा इत्युक्तम्। माधवेन नु कर्णरोगे शब्दाश्रवणत्वाविशेषादेतदेव तत्र पठितमित्यविरोधः॥

विमर्श—यहाँ सिरा शब्द नाडी (Nerve) का वाचक है। बहुवचन प्रयोग से नाडीसमूह या बाहवीय नाडी जाल (Brachial plexus) का बोध होता है। बाहवीय नाडीजाल के घात (Paralysis of the brachial plexus) को ही अवबाहुक कहते हैं। गर्दन की चोट, अंससन्धि के विश्लेष अथवा अक्षकास्थि (Clavicle) के भग्न होने से बाहवीय नाडीजाल पर आघात पहुँच सकता है। इसके अतिरिक्त कभी कभी स्थानीय अर्बुद के दबाव से उक्त नाडीजाल घातित हो सकता है। साधारणतया सम्पूर्ण नाड़ीसमूह में विकृति होने से सम्पूर्ण बाहु में विकृति पायी जाती है। किन्तु फिर भी विक्षत के अनुसार वह विशिष्ट पेशियों में सीमित भी होती है। विश्वाची रोग में बाहु के सामने या पीछे वाले किसी एक भाग में ही अधिकतर विकृति होती है। किन्तु उभय भाग की विकृति (Radioulnar neuritis or paralysis) में लक्षण समान मिलते हैं। यह अवस्था बहुत कम मिलती है। अथवा विश्वाची में नाड़ी-विकार अंगुलितल या पृष्ठ से अर्थात् हाथों के परिसरीय भाग से प्रारम्भ होता है अर्थात् इसमें नाडीविकार ऊर्ध्वगामी (Ascending) होता है तथा अग्र बाहु मात्र में प्रायः सीमित रहता है। किन्तु अवबाहुक में विकार ऊपर की ओर अंसदेश में प्रारम्भ होकर अधोगामी होता है और उसका प्रभाव पूरे बाहु या हाथ पर होता है। अवबाहुक रोग वातकफजन्य तथा विश्वाची केवल वातजन्य होता है।

मूकाद्यवस्थात्रयं प्राह—

आवृत्य वायुः सकफो धमनीः शब्दवाहिनीः॥ ६५॥
नरान्करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिनगद्गदान्। (सु. नि.)

कफयुक्त प्रकुपित वायु शब्दवाहिनी धमनी में अवरोध उत्पन्न करके मनुष्यों को बोलने की शक्ति से रहित बनाकर उन्हें मूक अथवा मिन्मिन अथवा गद्‌गदस्वरयुक्त बना देता है॥ ६५॥

मूकादींस्त्रीनाह—आवृत्येत्यादि। अक्रियकान् अवचनक्रियकान्; नञयमभावे ईषदर्थे च। आद्यो मूकोऽवचनः, द्वितीयो मिन्मिनः सानुनासिकसर्ववचनः, तृतीयो गद्गदो लुप्तपदव्यञ्जनाभिधायी। एषां च समानकारणाभिधानेऽपि दुष्टेरुत्कर्षादिभिरदृष्टवशाद्वा भेद इत्युन्नेयम्॥ ६५॥

विमर्श—शब्दवाहिनी धमनी से जिह्वा की चेष्टावहनाड़ी (Hypoglossal nerve) प्रत्यावृत्तस्वरयन्त्रीय नाडी (Recurrent laryngial nerve) तथा मस्तिष्कगत वाक्‌केन्द्र का ग्रहण करना चाहिये। मस्तिष्क के वाम शङ्खकीय खण्ड में वाणी का केन्द्र रहता है। उसी स्थल पर शब्दों को समझने सुनने तथा लिखने का भी केन्द्र है। इसमें विकृति होने पर मूकता आदि विकृतियाँ होती है। कदाचित् सुनने, बोलने, लिखने तथा समझने सभी में विकृति आ जाती है और कदाचित् किसी एक या दो में। साधारणतया इस अवस्था को वाक्लुप्तता (Aphasia) कहते हैं। जिस अवस्था में वाणीकेन्द्र (Centre for speech) पूर्णतया नष्ट हो जाता है तो बोलने की शक्ति भी पूर्णतया लुप्त हो जाती है, इसे मूकता (Aphonia) कहते हैं। प्रायः सम्पूर्ण केन्द्र विकृत नहीं होता अतः रोगी कष्ट के साथ बोल पाता है, इसको कष्टवाक्यता या हकलापन (Disphonia) कहते हैं। कभी-कभी बोलते समय रोगी कुछ शब्दों या अक्षरों को छोड़ देता है, उसे गद्‌गदवाक्यता (Disarthria) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कभी रोगी सभी अक्षरों या शब्दों को नासिका के स्वर से बोलता है, इसे मिन्मिनता या सानुनासिकवाक्यता (Rhinophonia) कहते हैं।

तूनीरोगमाह—

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता॥ ६६॥

भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः । (सु. नि. १)

जो पीडा मलाशय और मूत्राशय से प्रारम्भ होकर नीचे की ओर जाकर गुदा और मूत्रेन्द्रिय का भेदन सा करती हुई प्रतीत होती है उसे तूनी कहते हैं ॥ ६६ ॥

तूनीमाह—अध इत्यादि । अध इति गुदोपस्थम् । वेदना शूलम् । वर्चोमूत्राशयोत्थिता पक्वाशयमूत्राशयोत्थिता, पक्वाशयमूत्रपुटयोर्व्यस्तसमस्तयोर्जाता । उपस्थं स्त्रीपुंसयोर्गुह्यम् । नामतः प्रसिद्धितः ॥ ६६ ॥

विमर्श—इसको वृक्काश्मरीजनित शूल कह सकते हैं। वस्तुतः इसमें किसी विशिष्ट वातवहा नाड़ी की विकृति नहीं होती, अपितु शूल के कारण वात का प्राधान्य मानकर इसको भी वातव्याधि कह दिया है। वृक्काश्मरी जब वृक्क, गवीनी अथवा मूत्राशय में अटक जाती है उस अवस्था में ये लक्षण मिलते हैं। मूत्रेन्द्रिय में पीडा का संचरण होना अश्मरी का मुख्य लक्षण है।

प्रतितूनीं लक्षयति—

गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता ॥ ६७ ॥
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते । (सु. नि. १)

गुदा और उपस्थ से प्रारम्भ होकर ऊपर की ओर पक्वाशय की ओर आवेगों से जाने वाली पीड़ा को प्रतितूनी कहते हैं ॥ ६७ ॥

प्रतितूनीमाह—गुदेत्यादि । प्रतिलोममित्यूर्ध्वम् । वेगैर्वातकृतोद्भ्रमैः । सेत्यनेन भिन्दतीवेत्यतिदिश्यते ॥ ६७ ॥

विमर्श—जब अश्मरी वस्तिमुख या मूत्रप्रसेक (Urethra) में अटक जाती है तो पीडा का संचरण ऊपर की ओर होता है। कभी-कभी मलावरोध में भी ये लक्षण मिल सकते हैं किन्तु वे प्रायिक हैं। वस्तुतः तूनी तथा प्रतितूनी दोनों लक्षण ही हैं, स्वतन्त्र रोग नहीं।

आध्मानं प्रत्याध्मानं च लक्षयति—

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् ॥ ६८ ॥
आध्मानमिति तं विद्याद्घोरं वातनिरोधजम् ।
विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ॥ ६९ ॥
प्रत्याध्मानं विजानीयात्कफव्याकुलितानिलम् । (सु. नि. १)

आध्मान—वातनिरोधजन्य सम्पूर्ण उदर में आटोप, अत्यधिक पीडा एवं फुलाव को आध्मान कहते हैं। यह रोग भयंकर होता है।

प्रत्याध्मान—पार्श्व और हृदय प्रदेश को छोड़ कर ये ही लक्षण यदि केवल आमाशय में प्रकट – ६९ ॥

आध्मानमाह—साटोपमित्यादि । साटोपमिति आटोपश्चलचलनमिति गयदासः, गुडगुडाशब्द इति कार्तिकः । आध्मातं वातपूर्णचर्मपुटकस्थानीयम् । उदरमिति पक्वाशयः, प्रत्याध्मानस्यामाशयसंभवत्वात् । घोरमिति कष्टप्रदम् । आमाशयसमुत्थत्वेन प्रत्यासत्त्या पार्श्वहृदययोरपि वेदनाशङ्कानिरासार्थमाह—विमुक्तेत्यादि । तदेवेत्यनेन साटोपादित्वमतिदिशति । कफव्याकुलितानिलं कफावृतवातम् ॥ ६८–६९ ॥

विमर्श—रुजापूर्वक उदर के क्षोभ को आटोप कहते हैं। आध्मान में उदर के फुलाव के साथ-साथ रुजापूर्वक क्षोभ या गुडगुडा शब्द भी पाया जाता है। उदर से यहां पक्वाशय का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार आमाशय के अतिरिक्त सम्पूर्ण आन्त्र में वायु का अवरोध होने से आध्मान उत्पन्न होता है। इसको आजकल सामान्य टिम्पेनाइटिस (General tympanitis

कहते है। आटोप में मलप्रवृत्ति होते रहने पर भी उदर में वायु से गुडगुड़ाहट होती रहती है। यह लक्षण ग्रहणी में विशेषरूप से पाया जाता है। उदर का फूलना एक सामान्य लक्षण है, जब वह मलमूत्र के अवरोध से युक्त रहता है तो उसे आनाह कहते हैं। किन्तु जब उसमें मल-मूत्र की प्रवृति के रहने पर भी वायवीय पदार्थों (Gasses) की उत्पत्ति के कारण उदर में फुलाव; क्षोभ एवं गुड़गुड़ा शब्द होता है तो उसे आध्मान कहते हैं। आध्मान शुद्ध वातज रोग है।

प्रत्याध्मान रोग में भी ये ही लक्षण पाये जाते हैं किन्तु वे आमाशय तक ही सीमित रहते है। यह कफावृत वातजन्य रोग है। जठरान्त मुद्रिकाद्वार के सङ्कोच (Pyloric constriction) के कारण आमाशय में वायु की उत्पत्ति एवं आमाशयिक विस्तार (Dilatation of the stomach) होने का ही परिणाम प्रत्याध्मान है। इसे आमाशयिक आध्मान (Gastric tympanitis) भी कह सकते हैं।

अष्ठीलां प्रत्यष्ठीलां च वर्णयति—

नाभेरधस्तात्संजातः संचारी यदि वाऽचलः ॥ ७० ॥
अष्ठीलावद्धनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः।
वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्मार्गावरोधिनीम् ॥ ७१ ॥
एतामेव रुजोपेतां वातविण्मूत्ररोधिनीम्।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥ ७२ ॥ (सु. नि. १)

अष्ठीला—नाभि के नीचे वाले भाग में पत्थर के समान चल अथवा निश्चल ग्रन्थि जो कि ऊपर चौडी होती है—उभड़ आती है इसे वाताष्ठीला अथवा केवल अष्ठीला कहते है। इससे मल-मूत्र का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

प्रत्यष्ठीला—यही यदि उदर में तिरछी उठी रहे, पीडा को उत्पन्न करे और मल, मूत्र तथा वात का मार्ग अवरुद्ध कर दे तो इसको प्रत्यष्ठीला कहते हैं ॥ ७२ ॥

अष्ठीलामाह—नाभेरित्यादि। अष्ठीला उत्तरापथे वर्तुलः पाषाणविशेष इति जेज्जटमतानुवादी कार्तिकः, **कर्मकाराणां वर्तुला दीर्घा लौहभाण्डीति** गयदासः। **ऊर्ध्वमायत उपरिदीर्घः। उन्नतस्तिर्यगुन्नतः। वातकृता अष्ठीला वाताष्ठीलेति स्वरूपपरं; व्यावृत्त्यभावात्। बहिर्मार्गावरोधिनीं वातमूत्रपुरीषावरोधिनीम्। एतामित्यादि। सैव जठरे तिर्यगुत्थिता तिर्यगायता प्रत्यष्ठीलेति भेदः। वातविण्मूत्ररोधिनीमिति विशेषपरम् ॥ ७०-७२ ॥**

विमर्श—शिलापुत्र (सिल के बटने या लोढ़े) को ही अष्ठीला कहते हैं। उदरस्थित उसके आकार की गाँठ को भी अष्ठीला कहते हैं। उदर में उसकी स्थिति के अनुसार दो नाम दिये गये हैं। यदि वह शरीर की ऊर्ध्वाधः दिशा में (अनुप्रस्थ = Vertically) रहे तो उसे अष्ठीला कहते हैं। किन्तु यदि वह सीधी न रहकर तिरछी (Oblique) रहे तो उसे प्रत्यष्ठीला कहते हैं। शेष लक्षण समान ही हैं। कुछ लोग वाताष्ठीला से पौरुषग्रन्थि शोथ (Prostatitis मानते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं; क्योंकि पौरुषग्रन्थि सर्वदा निश्चल होती है। इसके अतिरिक्त मूत्राघात प्रकरण में इसे मूत्रग्रन्थि करके माना है। इसे गुदा के समीप का कोई अर्बुद या अवरुद्ध शुष्क-मलग्रन्थि (Scabula) माना जा सकता है। वस्तुतः इसके लिये भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं है। प्रत्यष्ठीला मल और मूत्र दोनों का अवरोध करती है अतः इसे बस्ति-गुदान्तरालीय अर्बुद (Recto-vesicar tumour) कहा जा सकता है। वस्तुतः वातवैगुण्य के कारण समय-समय पर द्वार का सङ्कोच हो जाता है, इसके निवृत्त हो जाने पर अन्य लक्षण भी निवृत्त हो जाते हैं अतः अर्बुद मानना ठीक नहीं है।

वातविकृतेर्मूत्रावरोधकत्वं व्याचष्टे—

मारुतेऽनुगुणे वस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते ।
विकारा विविधाश्चास्य प्रतिलोमे भवन्ति च ॥७३॥ (सु.नि. १)

बस्तिगत वायु के अनुलोम रहने पर मूत्रप्रवृत्ति निर्विकार होती है किन्तु जब यह वायु प्रतिलोम हो जाता है तो वस्तिगत विविध (मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी आदि) विकार उत्पन्न हो जाते हैं ॥ ७३ ॥

अष्ठीलाव्यतिरिक्तामपि वातविकृतिं मूत्ररोधिनीमाह—मारुत इत्यादि । अनुगुणेऽनुलोमे, प्रतिलोमे मारुत इति सम्बन्धः । विकारा अश्मरीमूत्रकृच्छ्रादयः ॥ ७३ ॥

कम्पवातं निर्दिशति—

सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः ।

सर्वाङ्ग कम्प अथवा केवल सिर के कम्पन को वेपथु या कम्पवात कहते हैं ।

वेपथुवातविकारमाह—सर्वेत्यादि । शिरसः कम्प इति सम्बन्धः, शिर इत्यवयवोपलक्षणं, तेन हस्तादेरपि कम्पो वेपथुरित्यर्थः ॥

विमर्श—शिर शब्द उपलक्षण मात्र है । अतः इससे विभिन्न अगों के कम्प (हस्तकम्प आदि) का भी ग्रहण कर लेना चाहिये । इस प्रकार कम्पवात के सर्वाङ्गकम्प और एकाङ्गकम्प ये दो भेद होते हैं । उक्त अवस्था में प्रकुपित वायु नाडीमण्डल की स्थिरता को नष्ट कर देता है । बिना शीत के भी शरीर निरन्तर काँपता रहता है । इसे आजकल वेपथुमत् अगवात (Paralysis agitans or shaking palsy) कहते हैं । यह रोग यकायक प्रारम्भ हो जाता है । इसमें पेशीदार्ढ्य तथा पेशीदौर्बल्य पाया जाता है । कम्पन क्रमबद्ध (Rhythmical) होता है । अत्यधिक श्रम, आघात अथवा तीव्र संक्रामक ज्वर के परिणामस्वरूप इस रोग की उत्पत्ति होती है । इसमें निम्न लक्षण पाये जाते हैं–

१. **अनाम्यता** (Rigidity) यह मुख, ग्रीवा, धड़ तथा शाखा के अग्रों में विशेष रूप से पायी जाती है । खड़े होने पर रोगी आकुञ्चन (Flexion) की स्थिति में रहता है । जिससे उसकी गर्दन, हाथ, टांगें सभी आकुञ्चित से रहते हैं ।

२. **पेशीक्रिया-हानि**—पेशियों की सम्पूर्ण क्रियायें मन्द हो जाती हैं । इससे रोगी रुकता सा चलता है और छोटे छोटे पग रखता है ।

३. **कम्प**(Tremors)-जिस अवस्था में अनाम्यता कम होती है तब ये अधिक स्पष्ट होते हैं ।

४. प्रारम्भ में प्रत्यावर्तन क्रियायें नष्ट नहीं होतीं । मलमूत्र-त्याग कराने वाली पेशिया भी प्राकृत रहती हैं ।

खल्लीमाह—

खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी ॥ ७४ ॥ (च. चि. २८)

पैर, जघा (पिण्डली), ऊरु तथा हाथ के मूल में ऐंठन उत्पन्न करने वाली व्याधि को खल्ली कहते हैं ॥ ७४ ॥

विमर्श—इसको पैर के मूल (Ankle joint), जंघामूल (Knee joint), ऊरुमूल (Hip joint) तथा हाथ के मूल (Wrist joint) का उद्वेष्टन (Cramp) कह सकते हैं । हारीत ने तीव्र रुजायुक्त विश्वाची और गृध्रसी को ही खल्ली माना है, वस्तुतः वह ठीक नहीं; क्योंकि चरक ने इसका पाठ पृथक् ही किया है । विस्तृत विवेचन विश्वाची के विमर्श (पृ० ४४०) में देखें ।

ऊर्ध्ववातं वर्णयति—

(अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वा ।

करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातः स उच्यते ॥ ७५ ॥)

कफ या आम से अथवा स्थानीय विगुण वायु से आवृत होनेसे प्रतिलोम हुई वायु अधिक डकारों को उत्पन्न करती है तो उस अवस्था को ऊर्ध्ववात कहते हैं ॥ ७५ ॥

खल्लीत्यादि। खल्ली सिरावमोट्टन[1] इति लोके। 'अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन च। करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातं प्रचक्षते' इत्यत्राधिकं केचित् पठन्ति ॥ ७४-७५ ॥

विमर्श—श्लेष्मस्थान, आमाशय अथवा वातस्थान पक्वाशय में किसी प्रकार का अवरोध होने से जब वायु का निष्क्रमण उसके प्रकृत मार्ग गुदा से नहीं होता तो वह मुख द्वारा डकार के रूप में बार-बार निकलने लगती है, इसको ही ऊर्ध्ववात कहते हैं।

अनुक्तान् वातरोगानाह—

स्थाननामानुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान्विनिर्दिशेत्।
सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥ ७६ ॥

विकृति के स्थान तथा नाम के अनुसार लक्षणों से शेष वातव्याधियों को भी जान लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त इन सब में वायु के साथ पित्त, कफ और आमसम्बन्ध की भी कल्पना लक्षणानुसार कर लेनी चाहिये ॥ ७६

अनुक्तवातरोगसंग्रहार्थमाह—स्थानेत्यादि। स्थानानुरूपैर्लिङ्गैर्यथा-कुक्षिशूलं नखभेद इत्यादि। नामानुरूपैर्लिङ्गैर्यथा—शूलमित्युक्ते कीलनिखातवद्वेदनाविशेष एव बोध्यते, तथा भेदतोदादिभिरपि पीडाविशेष एव गम्यते।

विमर्श—तात्पर्य यह कि लक्षण एवं अधिष्ठान-भेद से वातव्याधियां अनेक प्रकार की हो सकती हैं। उन सबका नामकरण बुद्धिमान् वैद्य को स्थान और लक्षणों के अनुसार ही कर लेना चाहिये। यथा कुक्षि के दर्द को कुक्षिशूल, सिर के दर्द को शिरःशूल कहते हैं। इसी प्रकार पर्वभेद, नखभेद, अङ्गमर्द, तालुशोष आदि को भी समझना चाहिये। साधारणतया सभी वात रोगों में वायु की ही विकृति रहती है, किन्तु उसके साथ कभी-कभी पित्त, कफ, आम आदि का भी सम्पर्क हो जाता है। उनके कारण लक्षणों में भी कुछ वैशिष्ट्य आ जाता है। यथा आमावृत वात से आमवात, कफानुबन्ध से गौरव, अरुचि आदि एवं पित्त से आवृत वात में दाह आदि होता है। इस प्रकार लक्षणों को देख कर वातव्याधि में पित्त आदि के अनुबन्ध की भी कल्पना कर लेनी चाहिये।

वातव्याधीनां साध्यासाध्यतां निरूपयति—

हनुस्तम्भार्दिताक्षेपपक्षाघातापतानकाः। (च. चि. ८२)
कालेन महता वाता[2] यत्नात्सिध्यन्ति वा न वा ॥ ७७ ॥
नरान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान्।

हनुस्तम्भ, अर्दित, आक्षेप, पक्षाघात तथा अपतानक रोग चिकित्सा के सभी साधनों की सुलभता होने पर तथा दीर्घ काल तक चिकित्सा करने पर भी कभी ठीक हो जाते हैं और कभी नहीं। यदि रोगी बलवान् हो और कोई उपद्रव न हो तो इन रोगों की चिकित्सा करे क्योंकि ये साध्य होते हैं ॥ ७७ ॥

विमर्श—वातव्याधि-सामान्य की प्रायिक असाध्यता का निर्देश करते हुए योगरत्नाकर में कहा गया है—

वातव्याधिरसाध्योऽयं दैवयोगेन सिध्यति। अनुमानेन कुर्वन्ति चिकित्सां न प्रतिज्ञया ॥

---

१. सिरामोड इति पाठान्तरम्। २. महताढ्यानामिति पाठान्तरम्।

अर्थात् साधारणतया वातव्याधि असाध्य ही होती है, कभी कभी दैवयोग से ठीक हो जाती है क्योंकि वैद्य अनुमान से ही इसकी चिकित्सा करते हैं।

वातस्योपद्रवानाह—

विसर्पदाहरुक्सङ्गमूर्च्छाऽरुच्यग्निमार्दवैः ॥ ७८ ॥
क्षीणमांसबलं वाता घ्नन्ति पक्षवधादयः।
शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम्। (सु. सू. ३३)
रुजार्तिमन्तं च नरं वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥ ७९ ॥

विसर्प, दाह, अत्यधिक पीडा, अंगों का सग (जुड़ना=Ankylosis) अथवा मल-मूत्रका अवरोध, मूर्च्छा, अरुचि तथा अग्निमान्द्य ये वातव्याधि के उपद्रव हैं। इन उपद्रवों से युक्त तथा मांस और बल से हीन रोगी को पक्षवध आदि वातविकार मार डालते है। इसके अतिरिक्त जिसका शरार सूज गया है, जिसको त्वचा में स्पर्शज्ञान की शक्ति नष्ट हो गयी है, जिसका अंग-भंग हो गया है एवं जो कम्पवात तथा आध्मान से पीडित है ऐसे तथा तीव्र पीडा से व्याकुल रोगी की भी व्यातव्याधि से मृत्यु हो जाती है ॥ ७८-७९ ॥

वातोपद्रवानाह—विसर्पेत्यादि। वाता इति वातविकाराः, कार्यकारणयोरभेदोपचारात्। वातादिति पाठे तु वातात् पक्षवधादय इति योज्यम्। शूनमित्यादि शूनं सशोथम्। सुप्तत्वचं स्पर्शानभिज्ञत्वगिन्द्रियम् ॥ ७८-७९ ॥

प्रकृतिस्थस्य वायोर्लक्षणमाह—

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतिस्थितः।
वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥ ८० ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वातव्याधिनिदानं समाप्तम् ॥ २२ ॥

जिस मनुष्य में वायु की गति शरीर में कहीं भी अवरुद्ध नहीं है, एवं जिसका प्राण, उदान, समान, व्यान, अपानात्मक पञ्चविध वायु अपने-अपने स्थान पर अपने प्रकृत कार्यों को करता है वह मनुष्य नीरोग रह कर सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है ॥ ८० ॥

इदानीं पञ्चविधस्यापि प्रकृतिस्थस्य वायोर्लिङ्गं कार्यं चाह—अव्याहतेत्यादि। यस्येति पुरुषस्य, अव्याहतगतिरनवरुद्धमार्गः, स्थानस्थः स्वाश्रयव्यवस्थितः, प्रकृतिस्थितोऽक्षीणश्चाप्रवृद्धः, एतद्विशेषणत्रयं हेतुहेतुमद्भावेन योज्यम्। वीतरोगो नीरोगः कफपित्तदुष्टेरपि प्रेरकवातेनान्तरीयकत्वात्। अधिकं समाः शतमिति पञ्च दिनाधिकं सविंशं वर्षशतम्। यदाह वराह आयुर्निरूपणे—'समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पञ्च च निशाः' इत्यादि ॥ ८० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वातव्याधिनिदानं समाप्तम् ॥ २२ ॥

विमर्श—वायु के पांचों भेदों के स्थान और कर्म का विवेचन अर्शोनिदान तथा इस अध्याय के प्रारम्भ में किया जा चुका है। कलियुग में मनुष्यों की परमायु वराह मिहिर के अनुसार १२० वर्ष और ५ दिन का होती है। रसायन सेवन से इससे भी अधिक हो सकती है।

समाप्तचेदं वातव्याधिनिदानम्



अथ वातरक्तनिदानम्

वातरक्तस्योत्पादकहेतुमाह—

लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्ण भोजनैः ।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥ १ ॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः ।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥ २ ॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः । (च. चि. २९)
प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् । (सु. चि. ५)
स्थूलानां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम् ॥ ३ ॥

नमकीन, खट्टे, चरपरे, खारे, चिकने तथा गरम पदार्थों के अधिक सेवन करने से, अजीर्णावस्था में भोजन करने से, सड़े-गले और सूखे मांस, जलजन्तु तथा आनूपदेशीय मांस, तिल की खली तथा मूलशाक (अर्वी, आलू आदि) या मूली के अधिक सेवन करने से, कुलथी, उडद, सेम का शाक, मांस, गन्ना, दही, काजी, सिरका, मट्ठा, शराब तथा आसवों के अधिक सेवन करने से, विरुद्धाशन, अध्यशन, क्रोध, दिवास्वाप तथा रात्रि-जागरण से मिथ्या आहार-विहार करने वाले प्रायशः सुकुमार प्रकृति के स्थूल और सुखी लोगों में वात और रक्त कुपित होकर वातरक्त रोग को उत्पन्न कर देते हैं ॥ १-३ ॥

वातव्याधिविशेषत्वात्तदनन्तरं वातरक्तमाह—ननु सुश्रुते **वातरोगाध्याय एव वातरक्तं पठितं तत् कुतोऽत्र संग्रहे पृथक् पाठः? उच्यते, सत्यपि वातरोगत्वे निदानवैशिष्ट्याद्विशिष्टदोषदूष्यख्यापनार्थं हस्तादिदेश एव संप्राप्तिकथनार्थं क्रियाविशेषख्यापनार्थं च पृथक्करणम् । अत एव** चरकेऽपि **वातव्याध्यनन्तरं पृथग्वातरक्ताधिकारः । ननु 'रुजस्तीव्राः ससंतापा' इत्यादिना रक्तगतस्य वातस्य लक्षणं वातव्याधावेवोक्तं, ततश्च, वातरक्ताभिधानं पुनरुक्तं स्यात्; नैवं, वातरक्तं हि दुष्टेन वातेन दुष्टेन रक्तेन च विशिष्टसम्प्राप्तिकं विकारान्तरमेव । उक्तं हि** चरके—**'वायुः प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि । क्रुद्धः संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्'** (च. चि. अ. २९) **इति । रक्तगतवाते तु वात एव दुष्टो रक्तमदुष्टमेव गच्छतीति भेदः । लवणाम्लेत्यादि । क्लिन्नशुष्कशब्दौ मांसेन संबध्येते । पिण्याकस्तिलकल्कः । निष्पावः शिम्बिः, पललं मांसम् । प्रायश इत्यादि । सुकुमारा मृदुदेहावयवाः, तेषामल्पचेष्टत्वाल्लवणादिभी रक्तं कटुतिक्तप्रजागरादिभिश्च वातः कुप्यति इति ईशानः ॥ १-३ ॥**

विमर्श—सुश्रुत ने इस रोग का वर्णन वातव्याधि-प्रकरण में ही किया है, अतः इसे वातव्याधि भी कह सकते हैं । चरक ने निदान रक्तसंमिश्रण तथा सम्प्राप्तिभेद एवं विशिष्ट चिकित्सा के कारण एवं विशेषतः हाथ और पैर में होने से इसका वर्णन पृथक् किया है । इसी प्रकार ऊरुस्तम्भ का वर्णन चरक में ही है सुश्रुत में नहीं । आमवात का चरक ने पृथक् वर्णन नहीं किया है अपितु **'मेदसावृतो वातः'** में ही उसका अन्तर्भाव कर उसे आढ्यवात कहा है । वातरक्त भी प्रायः धनिकों को होता है ।

---

१. वातरक्तं प्रकुप्यति इति ख ।

अतः इसे भी चरक ने आढ्यवात नाम दिया है । इसके अतिरिक्त खुडुवात तथा वातबलास भी इसके पर्यायवाची है—**'खुड्डं वातबलासाख्यमाढ्यवातं च नामभिः'** (च. चि. २९) खुड्ड का अर्थ सन्धि और क्षुद्र भी है । यह रोग सधियों में विशेषतः छोटी सधियों में होने से इसको खुड्ड वात एवं प्रायः धनियों को होने से आढ्यवात कहा जाता है । वात के आवृत हो जाने से रक्त अधिक दूषित होकर इस रोग को उत्पन्न करता है । अतः इसे वातबलास भी कहते है—**वातस्यावरणेन बलमस्त्यस्मिन् शोणित इति वातबलासः**[1] । सुकुमार प्रकृति के अधिक सुखी व्यक्तियों एवं केवल सुकुमार या सुखी व्यक्तियों को यह रोग अधिक होता है ।

यद्यपि वातव्याधि में **'रुजस्तीव्राः ससन्तापा'** इत्यादि श्लोक द्वारा समान रोग रक्तगतवात का वर्णन किया जा चुका है अतः वातरक्त नाम से यहा पुनः वर्णन करना असंगत प्रतीत होता है किन्तु दोनों रोग सम्प्राप्तिभेद से परस्पर भिन्न हैं अतः वर्णन करना परमावश्यक है । वातरक्त में वात और रक्त दोनों ही अपने-अपने कारणों से प्रकुपित होते है। जैसा कि चरक के निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

वायुः प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि । क्रुद्धः संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम् ॥

इसके विपरीत रक्तवात में केवल वायु ही प्रकुपित होकर अप्रकुपित रक्त के साथ मिलता है । पूर्वोक्त वातरक्त के उत्पादक कारणों में कुछ कारण वात को और कुछ रक्त को प्रकुपित करते है ।

कविराज गणनाथ सेन जी ने प्राचीन वातरक्त तथा अर्वाचीन गाउट (Gout) के लिए जो 'रक्तवात' संज्ञा का प्रयोग किया है वह उचित नहीं है क्योंकि वह स्वतन्त्र पृथक् रोग है । रक्तगत और रक्तावृतवात भेद से रक्तवात भी दो प्रकार का शास्त्रों में वर्णित है । प्रथम में केवल वात विकृत होकर शुद्ध रक्त के सचार में बाधा डालकर रक्तविकृति का भी लक्षण उत्पन्न करता है । दूसरे में प्रवृद्ध या दूषित रक्त के आवरण (भार ?) के कारण वायुविकार उत्पन्न होता है । किन्तु वातरक्त में आरम्भ से ही वायु और रक्त दोनों ही दूषित होते हैं और दोनों मिलकर विकृति उत्पन्न करते हैं ।

वातरक्तस्य सम्प्राप्तिं निरूपयति—

हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं स विदाहोऽशनस्य ।
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु । (सु. नि. १)
तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥ ४ ॥

हाथी, घोडे तथा ऊँट आदि की सवारी करते हुए विदाही अन्न का अधिक सेवन करने वाले मनुष्य के भोजन का विदग्ध परिपाक सम्पूर्ण रक्त को विदग्ध या दूषित कर देता है, वह दुष्ट रक्त खिसककर नीचे पैरों में इकट्ठा हो जाता है और अपने कारणों (सवारी के झटके आदि) से प्रकुपित वायु से मिलकर रोग उत्पन्न करता है । वायु की प्रबलता के कारण यह रोग वातरक्त कहलाता है ॥ ४ ॥

संप्राप्तिमाह—हस्त्यश्वेत्यादि । हस्त्यादिगमनं वातवृद्धौ विशेषेण रक्तस्य द्रवस्याधोगमनेऽपि हेतुः, विदाह्यन्नं च शोणितवृद्धौ । हस्त्यादिगमनं विशेषेण, पादेनापि गमनं हेतुरेव । तद्रक्तम् । संपृक्तं वायुना दूषितेन स्वहेतुवृद्धेन । तत्प्राबल्यादिति द्वयोर्दुष्टत्वेऽपि वातस्य प्राबल्याद्दोषत्वेन प्राधान्याद्वातरक्तव्यपदेशः, नतु रक्तवात इति ॥ ४ ॥

---

१. वातस्यावरणजन्यदोषेण प्रक्षिप्यते दूषितं शोणितं सर्वशरीरे यस्मिन् रोगे तद्वातशोणितम् अथवा—वातस्यावरणेन शोणिते बल दूषणमस्यते—प्रक्षिप्यते यस्मिन् रोगे स वातबलासः ।

विमर्श—ऐसो सवारियाँ जिनमें पैर नीचे लटकाने पडते हैं वे वातरक्त को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। हाथी पर बैठने वाले हस्तिपक (पीलवान) को इस रोग के होने की अधिक सम्भावना होती है; क्योंकि उसे निरन्तर पैर लटका कर बैठना पडता है। घोडे और ऊँट की सवारी में भी पैर लटका कर बैठना पडता है अतः वे भी इसके कारण कहे गये हैं। केवल इनकी सवारी से ही यह रोग नहीं होता अपि तु विदाही अन्न तथा वातरक्त के उत्पादक अन्य उपर्युक्त लवण, अम्ल, कटु आदि पदार्थों का सेवन भी अपेक्षित होता है। हाथी-ऊँट की सवारी से अधिक पैदल चलने का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। भोजनोत्तर तत्काल हाथी आदि पर चलने से भी वातरक्त हो सकता है। इससे यह सिद्ध है कि अलग-अलग भी वात और रक्त प्रकोपक कारणों का सेवन करने से वातरक्त हो सकता है, यदि दोनों ही एक साथ हो तब तो कहना ही क्या है।

नव्य वैद्यक के अनुसार इस रोग को गाउट (Gout) कह सकते है। यह रोग प्यूरिन (Purin) नामक विशिष्ट प्रोभूजिन (Protein) के समवर्त (Metabolism) की विकृति का ही परिणाम है। इस अवस्था मे रक्तगत मिहिक अम्ल (Uric acid) की वृद्धि हो जाती है और सन्धिशोथ तथा सन्धियों में सोडियम बाइयूरेट (Soidium biurate) के सचय के विशिष्ट लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। साधारण स्वस्थ पुरुष मे रक्तगत मिहिक अम्ल (Uric acid) की मात्रा सौ सी० सी० रक्त में एक से तीन मिलिग्राम तक (0.7 to 3 7 mg) रहती है। प्यूरिनमय पदार्थों के सेवन से शरीर में समवर्त के द्वारा मिहिक अम्ल का निर्माण होता है। स्वस्थावस्था में वह अपनी निश्चित मात्रा में रहता है और अनावश्यक भाग मूत्र द्वारा उत्सृष्ट हो जाता है। इस प्रकार रक्तगत मिहिक अम्ल की प्रकृत मात्रा का नियमन होता रहता है। किन्तु जिस अवस्था में आनूप, जलज (मछली आदि) एव भेड़ आदि जन्तुओं के प्यूरिन बहुल मांस, तथा सुरा (Beer and fermented strong wines as port or sherry), आसव तथा शुक्त पदार्थ अधिक सेवन किये जाते हैं रक्तगत मिहिक अम्ल की मात्रा प्रकृत से बहुत अधिक (नौ मिलीग्राम तक) हो जाती है एव वृक्क द्वारा उसका निर्हरण पूर्णतया नहीं हो पाता। यह रोग धनियों को अधिक होता है, जिनको उपर्युक्त पदार्थ अत्यधिक मात्रा में सेवन करने को मिलते हैं। अत एव चरक ने इसे आढ्यवात नाम दिया है। प्राइस का भी यही कहना है—'The strong wines like port and sherry and the red wines such as burgundy and claret are also probably responsible for much gout among the well-to-do classes' चरक ने भी सुरा को वातरक्त की उत्पत्ति में कारण माना है।

इन सबके सेवन से रक्त में मिहिक अम्ल की मात्रा प्रकृत से अधिक हो जाती है। इसे रक्त का दूषक भी कह सकते है। यह अनावश्यक एवं अधिक भाग शरीरस्थ अथवा आहार से उपलब्ध सोडियम के साथ मिलकर सन्धियों तथा तरुणास्थियों (Cartilages) में सोडियम बाइयूरेट के रूप में संचित होने लगता है। स्नायु (Ligaments) तथा कण्डराओं (Tendons) में भी इसका संचय होता है। बाह्यकर्ण की तरुणास्थि, वृक्क तथा धमनियों की दीवारों में भी यह संचित हो जाता है। धमनियों में संचित होने के परिणाम स्वरूप धमनी-दार्ढ्य (Arteriosclerosis) तथा रक्तदाब की वृद्धि (High B. P.) होते हैं।

वातरक्त (Gout) के निम्न लक्षण होते हैं—

रात्रि को रोगी स्वस्थ सोता है, लगभग अर्धरात्रि के समय प्रायः पैर के अंगूठे में अचानक अत्यधिक पीडा एवं ओष (Burning sensation) और चोष (Throbbing) का अनुभव होता

है। अंगूठा सूज जाता है और दबाने से उसमें गड्ढा होता है। कभी कभी यह रोग गुल्फसन्धि (Ankle joint) तथा मणिबन्ध सन्धि (Wrist joint) से प्रारम्भ होता है। रोगी का तापक्रम बढ जाता है, थोडी देर बाद पसीना देकर कम भी हो जाता है। आक्रान्त भाग लाल वर्ण का हो जाता है जो धीरे-धीरे ऊपर की सन्धियों (गुल्फ, जानु, हाथ की छोटी सन्धियाँ तथा मणिबन्ध) को क्रमशः आक्रान्त करता है। इसमे एक ओर की सन्धियों में ही पहले आक्रमण होता है जब कि आमवात में दोनों ओर की और प्रायः बडी सन्धियों में समान विकृति होती है। इस रोग का भी बार बार आक्रमण होता है। अनेक आक्रमण होने के पश्चात् सन्धियाँ पूर्णतया प्रकृत अवस्था में नहीं आती हैं। अम्ल के संचय से सन्धियों की आकृति विकृत हो जाती है और वे कभी-कभी गीदड़ के सिर के समान (क्रोष्टुशीर्षवत्) हो जाती है। बाह्यकर्ण की तरुणास्थि में सोडियम बाइयूरेट के सचित होने से वाताश्म (Tophi) का मिलना इस रोग का विशिष्ट लक्षण हैं। कभी कभी त्वचा विशेषतः पैरों और हाथों को त्वचा के नीचे भी इनका संचय होकर छोटी छोटी गांठें बन जाती हैं और आगे चलकर संचयस्थान को त्वचा में विदार हो जाते हैं और यह द्रव्य चूर्णमय पदार्थ के समान निकलने लगता है। त्वचा व्रणयुक्त हो जाती है और व्रणरोपण कठिनता से होता है। रोगी का स्वास्थ्य गिर जाता है और भूख में कमी तथा रक्तदाब में वृद्धि हो जाती है।

पूर्वरूपं व्याचष्टे—

स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक् ।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ॥ ५ ॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु ।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥ ६ ॥
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत् ।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ॥७॥(च. चि. २९)

शरीर में पसीने का अत्यधिक आना या बिलकुल न आना, शरीर का काला पड़ जाना, स्पर्श का अनुभव न होना अथवा विकृत स्थान पर या कहीं भी क्षत होने पर उसमें अत्यधिक पीड़ा का होना, सन्धि में शिथिलता, आलस्य, शरीर में अवसाद का अनुभव होना, शरीर में विशेषतः जानु, जंघा, ऊरु, कटि, अंस तथा हाथ-पैरों की सन्धियों में पिडकाओं की उत्पत्ति और इनमें तीव्र पीडा, फड़कन फटने जैसी पीडा, भारीपन, सुप्ति (संज्ञाशून्यता), और खुजली का होना तथा सन्धियों में विकृति या पीड़ा का बार-बार हो जाना और नष्ट हो जाना, त्वचा का विवर्ण हो जाना एवं उसमें चकत्ते पड जाना ये वातरक्त के पूर्वरूप हैं ॥ ५-७ ॥

पूर्वरूपमाह—स्वेदेत्यादि । स्वेदोऽत्यर्थं नवेति घर्मागमनमत्यर्थं भवति सर्वथा वा न भवति, एतच्च व्याधिमहिम्ना कुष्ठवत् । क्षतेऽतिरुगिति यदि कारणान्तरात् क्षतं स्यात्तदाऽतिशयं रुजा स्यात् , तद्देशस्य दुष्टत्वात् ॥ ५-७ ॥

विमर्श—उक्त सभी लक्षण वातरक्त के विशिष्ट पूर्वरूप हैं। इनकी प्रवर्धमानावस्था ही रूप कहलाती है। स्पर्शाज्ञत्व से सज्ञानाश (Anaesthesia) और अतिरुक् से परमस्पर्शज्ञना (Hyperesthesia) का बोध होना है। वस्तुतः इस व्याधि मे विकृत स्थान पर अत्यधिक पीडा होती है। पिडका से अस्थि, सन्धि तरुणास्थि तथा त्वचा के वाताश्म (Tophi) का ग्रहण करना चाहिये।

इस रोग के दौरे होते है। एक बार होकर ठीक हो जाता है और पुनः सन्धियों को आक्रान्त करता है। इस प्रकार बार-बार आक्रमण होने से सन्धियों में स्थायी विकृती भी हो जाती है। (इस रोग का अर्वाचीन विवेचन पूर्वश्लोक के विमर्श में देखें।)

दोषान्तरसंसर्गजन्यलक्षणान्याह—

वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूलस्फुरणभञ्जनम्।
शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावतावृद्धिहानयः॥ ८॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक्।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भवेपथुसुप्तयः॥ ९॥
रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदसमन्वितः॥ १०॥
पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्च्छा मदः संतृट्[1]। (च. चि. २९)
स्पर्शासहत्वं रुग्रागः शोथः पाको भृशोष्मता॥ ११॥
कफे स्तैमित्यगुरुतासुप्तिस्निग्धत्वशीतताः। (सु. नि. १)
कण्डूर्मन्दा च रुग्द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च संकरात्॥ १२॥

वायु की ही प्रधानता रहने पर शूल, फड़कन तथा अङ्गों में टूटने के समान पीड़ा अधिक होती है, शोथ में रूक्षता, कालापन तथा वातरक्त के लक्षणों की कभी वृद्धि और कभी हानि प्रतीत होती है, धमनी तथा अंगुलियों के जोड़ सिकुड़ जाते हैं, शरीर जकड़ जाता है और उसमें अत्यधिक पीड़ा होती है; रोगी शीत से द्वेष करता है एवं अनुपशयरूप शीत के कारण रोग की वृद्धि भी होती है। शरीर में स्तम्भ, कम्पन एवं सुप्ति (स्पर्शाज्ञान) की प्रवृत्ति हो जाती है।

यदि रक्तदुष्टि प्रबल हो तो शोथ अत्यधिक पीडायुक्त एवं लाल वर्ण का होता है। उसमें सुई के समान चुभान एवं चुनचुनाहट होती है। यहि शोथ स्निग्ध और रूक्ष दोनों प्रकार के पदार्थों से शान्त नहीं होता, इसमें खुजली तथा क्लेद (व्रणस्राव) अधिक होता है।

पित्त का अनुबन्ध होने पर जलन, इन्द्रियमोह, पसीना, मूर्च्छा (मनोमोह), मद, तृषाधिक्य, स्पर्शासहत्व (Tenderness), पीड़ा, विकृत स्थान पर लाली, सूजन, पाक तथा अत्यधिक उष्णता ये लक्षण पाये जाते हैं।

कफ की विशेषता रहने पर शरीर गीला तथा भारी सा रहता है, अंगों में सुप्ति, स्निग्धता एवं शीतता रहती है। अधिक खुजली और हलकी-हलकी पीडा होती है। यदि दो दोषों का सम्बन्ध हो तो दो दोषों के लक्षण और तीनों का सम्बन्ध रहने पर तीनों के मिश्रित लक्षण मिलते हैं॥ ८-१२॥

वातरक्तस्य दोषान्तरसंसर्गेण लक्षणमाह—वातेऽधिक इत्यादि। वृद्धिहानय इति वातरक्तलक्षणानाम्। रक्त इत्यादि। रक्त इत्यत्र 'अधिक' इत्यनुवर्तनीयम्, एवं वक्ष्यमाणपित्तादिषु। एतच्चारम्भकरक्तादन्यद्रक्तान्तरं बोध्यं, रक्तमपि रक्तान्तरदूषकं भवति। यदुक्तं दुष्ट-

१. मदस्तृषा-इत्यपि पाठः।

रक्तलक्षणे— 'पित्तवद्रक्तेनातिकृष्णम् (सु. सू. अ. १४) **इति । शम नैति शान्तिं न याति । कफ इत्यादि । द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च संकरादिति संकराद् द्विदोषत्रिदोषमेलकाद् द्वन्द्वलिङ्गं सर्वलिङ्गं च क्रमाद्वातरक्तं भवति ॥ -१२ ॥**

विमर्श—धमनियों की दीवार मे सोडियम बाइयूरेट के संचय से उनमें कडापन तथा सकोच हो जाना है, जिससे रक्तदाब की वृद्धि होती है। अगुलियों की तथा अन्य सन्धियों में भी इसका सचय होने से उनमें विकृति आ जाती है।

वातरक्तस्य प्रसारप्रकारं व्याचष्टे—

पादयोर्मूलमास्थाय कचाचिद्धस्तयोरपि ।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति ॥ (सु. नि. १)

यह रोग पैरों के मूल (अगूठा या गुल्फ) से प्रारम्भ होकर अथवा कदाचित् हाथों के मूल से प्रारम्भ होकर चूहे के विष के समान धीरे-धारे शरीर के अन्य अंगों मे भी पहुँच जाता है ॥ १३ ॥

पादयोर्जातमप्रतिक्रियमाणं देशान्तरं व्याप्नोति, पादवद्धस्तयोरपि भवतीति दर्शयन्नाह—पादयोरित्यादि। आखोविषमित्यनेन मन्दविसर्पितां दर्शितवान्; एतद्वातरक्तं चरकेण **द्विविधमुक्तम् । यदाह—'उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं वातशोणितम् । त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्'** (च. चि. अ. २०) **इति ।** सुश्रुतेन **तु कुष्ठवदुत्पत्तौ उत्तानस्योत्तरकालं गम्भीरत्वमुक्तमिति मतभेद एव ॥ १३ ॥**

विमर्श—अधिकतर यह रोग पैर के मूल (अंगूठे) से ही प्रारम्भ होता है और वहाँ से धीरे-धीरे ऊपर गुल्फ-सन्धि (Ankle joint) तथा जानुसन्धि (Knee joint) को भी आक्रान्त करता है। इसी प्रकार कदाचित् इसका प्रारम्भ हाथ की छोटी-छोटी सन्धियों से होकर ऊपर की सन्धियों में भी धीरे-धीरे फैलता है। जैसे चूहे का विष शरीर में बहुत मन्द गति से फैलता हैं वैसे ही यह भी एक सन्धि से दूसरी सन्धि में धीरे धीरे ही व्याप्त होता है।

चरक ने वातरक्त के उत्तान और गम्भीर दो भेद किये हैं। वातरक्त की प्रधान विकृति (सोडियम बाइयूरेट का सचय) जब त्वचा में ही होती है तो उसे उत्तान (Superficial) और जब वह विकृति सन्धिगत होती है तो उसे गम्भीर रहते हैं—

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं तत्प्रचक्षते । त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम् ॥

उत्तान वातरक्त में त्वचा में वाताश्म (छोटी-छोटी फुन्सियाँ Tophi) मिलती हैं और खुजली, दाह, पीडा, तोद, आकुञ्चन तथा त्वचा में लाली होती है—

कण्डूदाहरुगायासतोदस्फुरणभञ्जनैः । अन्विता श्यावरक्ता त्वग्बाह्ये ताम्रा तथेष्यते ॥

गम्भीर वातरक्त सन्धि में आश्रित होता है अतः शोथ, जकडाहट, आन्तरिक भयकर पीडा, शोथ में लाली, दाह, तोद, फडकन तथा पाक भी होता है। सन्धि-अस्थि-मज्जा में पहुँचकर वायु अगों को टेढा कर कभी लंगडापन और कभी पङ्गुता भी उत्पन्न कर देता है—

गम्भीरे श्वयथुः स्तब्धः कठिनोऽन्तर्भृशार्तिमान् । श्यावस्ताम्रोऽथवा दाहतोदस्फुरणपाकवान् ॥
रुग्विदाहान्वितोऽभीक्ष्णं वायुः सन्ध्यस्थिमज्जसु । छिन्दन्निव चरत्यन्तर्वक्रीकुर्वंश्च वेगवान् ॥
करोति खञ्जं पङ्गुं वा शरीरे सर्वतश्चरन् । सर्वैर्लिङ्गैश्च विज्ञेयं वातासृगुभयाश्रयम् ॥

कभी-कभी उत्तान और गम्भीर उभय स्वरूप का भी वातरक्त होता है। उत्तान ही आगे चलकर गम्भीर स्वरूप धारण कर लेता है और तब सभी गम्भीर धातुयें आक्रान्त हो जाती है।

त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं तत्पूर्वं जायते ततः । कालान्तरेण गम्भीरं सर्वान् धातूनभिद्रवेत् ॥

वातरक्तस्यासाध्यतां निरूपयन्नाह—

आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत् ।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः ॥ १४ ॥
वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् । (सु. नि. १)
अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः ॥ १५ ॥
संमूर्च्छामदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः ।
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः ॥ १६ ॥
अङ्गुलीवक्रतास्फोटदाहमर्मग्रहार्बुदाः ।
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत् ॥ १७ ॥
अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ।
एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् ।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥ १८ ॥ (च. चि. २९)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वातरक्तनिदानं समाप्तम् ॥ २३ ॥

जो वातरक्त अंगूठे से प्रारम्भ होकर जानु सन्धि तक पहुंच गया हो, तथा जिसमें त्वचा दलित हो गयी हो एवं त्वचा के विदीर्ण होने से अत्यधिक स्राव भी होने लगे, जो प्राण (बल) क्षय तथा मांसक्षय कराने वाले (तथा निद्रानाश, पूयोत्पत्ति, ज्वर एवं वृक्कविकार) आदि उपद्रवों से युक्त हो वह असाध्य होता है। एक वर्ष पुराना (उपद्रव रहित भी) वातरक्त याप्य होता है।

जिस वातरक्त में निद्रानाश, भोजन में अरुचि, श्वास (Dyspnoea), मांस में सडन, तीव्र शिरः-शूल, मूर्च्छा, मद, शरीर में पीडा, प्यास, ज्वर, मोह, कम्पवात, हिचकी, पङ्गुता, (लँगडापन), विसर्प, पाक, सुई के चुभने जैसी पीडा, भ्रम (चक्कर), क्लम, अङ्गुलियों का टेढा हो जाना, फोडे निकल आना, जलन, मर्म (सिर, हृदय, बस्ति) में विकार एवं अर्बुद इन उपद्रवों के रहने पर रोग असाध्य होता है। उपद्रव रूप में केवल मूर्च्छा रहने पर भी रोगी असाध्य होता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण उपद्रव न रहने पर (अल्प उपद्रव) रोगी याप्य होता है तथा उपद्रवों से पूर्णतया रहित रोगी साध्य होता है।

एकदोषज नवीन वातरक्त साध्य, द्विदोषज याप्य और त्रिदोषज तथा उपद्रव युक्त (कोई भी) वातरक्त असाध्य होता है ॥ १४–१८ ॥

असाध्यत्वादिकमाह—आजान्वित्यादि। आजानु जानुपर्यन्तं गतमसाध्यम्। तथा स्फुटितादिकं स्फुटितं दलितत्वक्, प्रभिन्नं विदीर्णत्वक्, उपद्रवैरित्यादौ आदिशब्देन वक्ष्यमाणानामस्वप्नादीनां ग्रहणम्। याप्यं संवत्सरोत्थितमित्यनेन संवत्सरादर्वाक् साध्यं, यदि स्फुटितत्वगादयो न भवेयुरित्याहुः। अस्वप्नेत्यादि। पाङ्गुल्यं पङ्गुता। मोहेनैकेनेति वचनात् पूर्वोक्तैः समस्तैर्द्वित्रादिभिश्चेति ज्ञापयतीति ॥ १४–१८ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वातरक्तनिदानं समाप्तम् ॥ २३ ॥

विमर्श—नवीन रोग साध्य होता है किन्तु पुराना (Chronic) विशेषतः उपद्रव युक्त हो जाने पर असाध्य हो जाता है । उपर्युक्त लक्षणों से यह व्यक्त है कि उपेक्षा करने से जब रोग बढ़कर ऊपर जानु तक पहुंच जाता है तथा उसमें अन्य उपद्रव भी हो जाते हैं तो वह असाध्य कोटि में चला जाता है । स्थायी क्षोभ होने से अर्बुद की उत्पत्ति हो जाती है । यह भी रोग की पुराणता का द्योतक है । हृदय, वस्ति (मूत्रवहस्रस्थ न) एवं शिर (मस्तिष्क) में विकार होने से मूर्च्छा होती है और यह असाध्यता दर्शक हैं ।

समाप्तं चेदं वातरक्तनिदानम् ।



अथोरुस्तम्भनिदानम्

ऊरुस्तम्भस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिं प्राह—

शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयाससंक्षोभस्वप्नजागरैः ॥ १ ॥
सश्लेष्ममेदःपवनः साममत्यर्थसंचितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥ २ ॥
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च ।
तदा स्तभ्नाति—

अत्यन्त शीत, उष्ण, द्रव, शुष्क, भारी तथा स्निग्धपदार्थों के सेवन करने से जीर्णाजीर्ण (भोजन की विदग्धावस्था) में ही भोजन कर लेने या कच्चा-पक्का खाने से, अत्यधिक परिश्रम, क्षोभ, दिवास्वाप तथा रात्रिजागरण से अत्यधिक सचित हुए आम, मेद और कफ से युक्त वायु पित्त को अभिभूत करके ऊरुमें आकर जब दोनों सक्थियों की अस्थियों को स्तिमित (जमे हुए गाढ़े) श्लेष्मा से परिपूर्ण कर देता है तब दोनों ऊरु जकड़ जाते हैं ॥ १–२ ॥

ऊरुस्तम्भस्य लक्षणानि निरूपयति—

—तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥ ३ ॥
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ॥ ४ ॥
संयुक्तौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥ ५ ॥ (वा. नि. १५)

इससे दोनों ऊरू (जाँघों) में जकड़ाहट, शीतता तथा अचेतनता आ जाती है; रोगी को अपने ऊरु पराये के समान भारी प्रतीत होते हैं तथा इनमें अत्यधिक पीड़ा होती है । रोगी चिन्ता, अङ्गमर्द, निश्चलता, तन्द्रा, वमन, अरुचि तथा ज्वर जैसे लक्षणों से युक्त रहता है । पैरों में अवसाद हो जाता है, रोगी टांगें बड़ी कठिनता से उठा सकता है तथा उनमें सुन्नता आ जाती है । उक्त लक्षणों से युक्त रोग को ऊरुस्तम्भ कहते हैं । कुछ लोग इसे आढ्यवात भी कहते हैं ॥ ३–५ ॥

वातव्याधिविशेषत्वादूरुस्तम्भमाह—शीतोष्णेत्यादि। शीतोष्णग्रहणमनुक्तपरस्परविरोधिद्वन्द्वोपलक्षणार्थं, तेन गुरुस्निग्धाभ्यां लघुरूक्षयोग्रहणं बोध्यमिति जेज्जटः। संशुष्कं कठिनं, द्रवविरोधित्वात्। जीर्णाजीर्णं इति प्रभूतं जीर्णं, स्तोकमजीर्णमित्याहुः, तस्मिन्; 'भोजने' इति शेषः। अत एव दृढबलेन—'जीर्णाजीर्णे समश्नतः' (च. चि. अ. २७) इति पठितम्। एते च यथासंभवं श्लेष्मादीनां हेतवः। सश्लेष्ममेदःपवन इति सश्लेष्ममेदश्चासौ पवनश्चेति सश्लेष्ममेदःपवन इति विग्रहः। इतरं दोषं पित्तम्। अस्यां संप्राप्तौ वातस्य प्राधान्यमुक्तम्, अत एव सुश्रुतेन महावातव्याधावयं रोगः पठितः। चरके तु कफस्य प्राधान्यमुक्तम्। यदाह—'ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु' (च. चि. अ. २७) इत्यादि। तत्र चरके आवरकस्य श्लेष्मणःप्राक्चिकित्स्यत्वेन प्राधान्यम्, आरम्भकत्वेन तु सुश्रुते पवनस्येति न विरोधः। परकीयाविवेत्यनेनोत्क्षेपणगमनादिष्वप्रभुत्वं दर्शयति। ध्यानादिभिर्ज्वरान्तैरुपलक्षितः 'पुरुष' इति शेषः॥ १-५॥

विमर्श—उक्त सम्प्राप्ति के अनुसार इस रोग में वात की प्रधानता रहती है। अतएव सुश्रुत ने इसका पाठ वातव्याधि में किया है। चरक मे कफ की प्रधानता बतायी गयी है—**ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु'**। यहाँ आवरक कफ को प्रधान चिकित्स्य मानकर ही कफ को प्रधानता दी गयी है।

आधुनिक दृष्टि से इस रोग का कोई निश्चित नाम देना कठिन है। कविराज गणनाथसेनजी का कथन है कि **'पुराणा विलयं यान्ति नवीनाः प्रादुरासते'** अर्थात् कुछ रोग जो प्राचीनकाल में होते थे आज वे दृष्टिगोचर नही होते इसके अतिरिक्त कुछ नवीन रोगों की उत्पत्ति भी हो जाती है। ऊरुस्तम्भ सम्भवतः प्राचीनकाल में विशेष रूप से पाया जाता हो किन्तु आज इसके रोगी देखने को नही मिलते। रहन-सहन तथा आहार-विहार की परिस्थिति के परिवर्तित हो जाने से आजकल अनेक नवीन रोग भी उत्पन्न हो गये हैं।[1]

---

१. ऊरुस्तम्भ को **'जाँघ भरना'** कह सकते हैं। प्राचीनकाल में व्यायाम विशेषतः दण्ड-बैठक अधिक करने की तथा पैदल चलने या घोडे आदि की सवारी की अधिक प्रणाली थी अतः प्राचीनकाल मे यह रोग अधिकता से पाया जाता था। अत्यधिक व्यायाम से और व्यायाम के बाद अकस्मात् शीत जल स्पर्श आदि करने से मासपेशियाँ कठिन, अकर्मण्य और पीड़ायुक्त हो जाती हैं। अर्वाचीन विद्वान् इसे मांसपेशी की श्रान्ति (Fatigue) कहते है। व्यायाम से मांसपेशियों में सारक्षीराम्ल (Sarco-lactic acid) की उत्पत्ति होता है। स्वाभाविक अवस्था में यह क्षीराम्ल (Lactic acid) और मधुजन (Glycogen) में परिणत हो जाता है किन्तु अति व्यायाम के कारण अधिक उत्पत्ति होने पर उसके घनकण (क्रिष्टल) बन जाते हैं और वे अधस्त्वग् मासपेशियों (Subcutaneous muscles) में सञ्चित होकर नाडीक्षोभ और पीडा को उत्पन्न करते हैं। नमक मिले पानी से धोने पर यह घुल जाते हैं और स्वस्थता उत्पन्न होती है। किन्तु जब पेशीसूत्रों का विनाश हो जाता है तब यह रोग असाध्य होता है। विशेष विवरण किसी अर्वाचीन शरीरक्रियाविज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थ में देखें।

श्रान्त अभ्यागतों या अतिथियों की टाँगों और पाँवों को नमक के पानी से मलकर धोने की प्रथा भारतीय ग्रामों में अबतक है। हलके हाथों मलने एवं धीरे २ टहलने आदि से भी लाभ होता है। आयुर्वेद में ऊरुस्तम्भ रोग की चिकित्सा में रेतीली या कँकडीली जमीन पर धीरे धीरे सम्हल कर टहलना और नदी या तालाब में तैरना विशेष महत्त्व का उपचार बतलाया गया है।

कुछ लोग इसे सन्धिकलाशोथ (Sinovitis) या नितम्बसन्धिरोग (Hipjoint disease) कहते है, किन्तु चिकित्साभेद के कारण इसमें भी सन्देह हो जाता है । इसको अधरांगघात (Paraplegia) भी नही कह सकते; क्योंकि आगे **'वातशङ्किभिः'** आदि श्लोक के द्वारा इस रोग मे तैलमर्दन को अनुपशय कहा गया है जब कि सर्वसामान्य वातव्याधियों के समान अधरांगघात मे भी स्नेहन कर्म उपशय माना गया है ।

इस रोग में दूषित वात और कफ के साथ मेद और आम का भी संसर्ग होता है तथा पित्त की क्रिया मन्द हो जाती है । अतः इसके वात आदि भेद से भेद नहीं होते । अतएव चरक ने **'एक एव ऊरुस्तम्भः'** ऊरुस्तम्भ को एक ही कहा है ।

ऊरुस्तम्भस्य पूर्वरूपमाह—

प्राग्रूपं तस्य निद्राऽतिध्यानं स्तिमितता ज्वरः ।
रोमहर्षोऽरुचिच्छर्दिर्जङ्घोर्वोः सदनं तथा ॥ ६ ॥

निद्रा, अत्यधिक चिन्ता, शरीर मे आर्द्र चर्म से आवृत होने की प्रतीति, ज्वर, रोंगटे खड़े होना, भोजन में अरुचि, वमन तथा जंघा (गुल्फ से जानुपर्यन्त भाग=Leg) तथा ऊरु (जाँघ–Thigh) में अवसाद का होना ये ऊरुस्तम्भ के पूर्वरूप है ॥ ६ ॥

ऊरुस्तम्भस्यानुपशयं रूपं साध्यासाध्यतां च निरूपयति—

वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः ।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥ ७ ॥
जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने ।
पादं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥ ८ ॥
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः ।
अन्यस्येव हि संभाग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥ ९ ॥
यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत् ।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम् ॥ १० ॥

(च. चि. २७)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ऊरुस्तम्भनिदानं समाप्तम् ॥ २४ ॥

(सुप्ति, संकोच तथा कम्प आदि वातसामान्य लक्षणों को देखकर) अज्ञान से वातव्याधि की शङ्का करके यदि इस रोग में स्नेहन कर्म किया जाय तो पैरों में अवसाद तथा सुप्ति बढ जाती है । पैर कठिनाई से उठाये जाते हैं, जंघा तथा ऊरु में भी अवसाद होता है, निरन्तर ईषद् दाह और वेदना होती है, कदम रखते हुए पैर में बहुत पीडा होती है एवं शीतस्पर्श का अनुभव नही होता । इस रोग से पीडित मनुष्य खडे होने, पैर से किसी वस्तु को दबाने, चलने तथा पैर को हिलाने में असमर्थ रहता है । रोगी को ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे के ऊरु लगे हुए हैं या अपने ही ऊरु भग्न है ।

नवीन एवं उपद्रवहीन ऊरुस्तम्भ साध्य होता है। किन्तु दाह, तीव्रपीडा, तोद तथा कंपन से युक्त रोगी का ऊरुस्तम्भ असाध्य होता है॥ ७-१०॥

अनुपशयमाह—वातेत्यादि। वातशङ्किभिरिति सुप्तिसंकोचकम्पादिवातरोगसदृशलिङ्गदर्शनात्तच्छङ्किभिः। अज्ञानादनिश्चयात्, मोहादि इति ईशानः। तत्रोपशयानुपशयज्ञानार्थं स्नेहनं, यदुक्तं चरके—'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत' (च.चि.अ. ४) **इति। ततः स्नेहनादनुपशयो भवतीत्याह—पादयोरित्यादि। उद्धरणम् ऊर्ध्वचालनम्। आदाहवेदने इति आङ् ईषदर्थे; अन्ये त्वीषदर्थ एव नञमाहुः; उद्भूतदाहस्यासाध्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। 'आनाहवेप(द)ने, इति पाठान्तरमयुक्तं, चरकटीकाकारैः सर्वैरव्याख्यातत्वात्। व्याधिस्वभावादयं चोरुस्तम्भ एक एव त्रिदोषारब्धः, नतु वातादिभेदादनेकविधः। उक्तं हि चरके व्याधिसंख्यायाम्—'एक एवोरुस्तम्भः'** (च. सू. अ. १९) **इति। संभग्नाविति संभग्नाविव संभग्नौ॥ ७-१०॥**

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामूरुस्तम्भनिदानं समाप्तम्॥ २४॥

विमर्श—वातव्याधि की आशका से अथवा **'गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत'** इस उक्ति के अनुसार वातव्याधि और ऊरुस्तम्भ की साक्षेप निश्चित के लिये स्नेहन कराया जाता है। उससे लाभ होने पर वातव्याधि और हानि होने पर ऊरुस्तम्भ का अनुमान किया जाता है। स्नेहन के समान पञ्चकर्म में से कोई भी क्रिया इसमें लाभप्रद सिद्ध नहीं होती; क्योंकि—

अग्निवेश के **दोषजोऽस्त्यामयः कश्चिद्यस्यैतानि भिषग्वर। न स्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः॥** अर्थात् क्या दोषज कोई रोग ऐसा भी है जिसमें ये पञ्चकर्म कुछ नहीं कर सकते, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि आत्रेय ने ऊरुस्तम्भ रोग का निर्देश किया **'अस्त्यूरुस्तम्भः'**, इन सबके न करने का हेतु भी बताया है—विस्तार-भय से यहाँ देना अपेक्षित नहीं।

समाप्तं चेदमूरुस्तम्भनिदानम्।



अथामवातनिदानम्

आमवातस्य निदानपूर्विकां सम्प्राप्तिमाह—

विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च।
स्निग्धं भुक्तवतो ह्यन्नं व्यायामं कुर्वतस्तथा॥ १॥
वायुना प्रेरितो ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधावति।
तेनात्यर्थं विदग्धोऽसौ धमनीः प्रतिपद्यते॥ २॥
वातपित्तकफैर्भूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः।
स्रोतांस्यभिष्यन्दयति नानावर्णोऽतिपिच्छिलः॥ ३॥
जनयत्याशु दौर्बल्यं गौरवं हृदयस्य च।
व्याधीनामाश्रयो ह्येष आमसंज्ञोऽतिदारुणः॥ ४॥

युगपत्कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ ।
स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते ॥ ५ ॥

विरुद्ध आहार-विहार करने वाले मन्दाग्नि और निश्चेष्ट अथवा स्निग्ध भोजन करने के उपरान्त तुरन्त व्यायाम करने वाले मनुष्य का आमरस प्रकुपित वायु से प्रेरित होकर श्लेष्मा के मुख्य स्थान आमाशय, सन्धि तथा उरः, सिर एव कण्ठ की ओर जाता है। अधिक विकृत या अर्धपक्व होने पर यह आमरस वायु द्वारा प्रेरित होकर धमनियों में पहुंचजाता है। धमनियों में स्थित तीनों दोषों से मिलकर और भी अधिक दूषित होकर यह विभिन्न वर्णोवाला पिच्छिलता-गुण-युक्त आमरस शरीर के विभिन्न स्रोतों में क्लेद उत्पन्न कर देता है। इससे दुर्बलता तथा हृदय में भारीपन हो जाता है। यह आमरस शरीर की अनेक व्याधियों का जनक होने से अत्यन्त भयंकर होता है। वात और आम एक साथ प्रकुपित होकर कोष्ठ, त्रिक प्रदेश तथा सन्धियों में प्रविष्ट हो जाते हैं और सारे शरीर को जकड देते हैं। यह रोग आमवात कहलाता है॥ १-५॥

ऊरुस्तम्भे वायुः साम इत्युक्तम्, अतस्तदनन्तरमामवातनिदानमाह—विरुद्धेत्यादि। विरुद्धाहारः संयोगादिविरुद्धः विरुद्धा च चेष्टा यथा-अजीर्णे व्यायामव्यवायजलप्रतरणादि। स्निग्धं भुक्तवतो व्यायामं कुर्वत इति मिलितो हेतुः, न पृथक्त्वेन। श्लेष्मस्थानमामाशय-सन्ध्यादि। तेन वातेन विदग्धो दूषितोऽसावामो 'धमनीः प्रतिपद्यते', 'धमनीभिः प्रपद्यत' इति पाठान्तरे श्लेष्मस्थानमिति योज्यम्। सोऽन्नजो रस इति आमः, अन्नरसस्यै-वापक्वस्य तन्त्रान्तरे आमव्यपदेशात्। यदुक्तम्-'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते' (वा. सू. स्था. अ. १३) इत्यादि। अन्यैरप्युक्तम्— 'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्याद्विपाचितः। आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः' इति। अपरे त्वाहुः-'अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम्। सदनं सर्वगात्राणामाम इत्य-भिधीयते' इति। अन्ये त्वाहुः—'आहारस्य रसः शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात्। स मूलं सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते' इति। तथा चापरे—आममन्नरसं केचित्, केचित्तु मल-संचयम्। प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते' इति। नानावर्ण इति वातादिदूषितत्वा-द्बहुवर्णः। युगपदित्यादि, वातकफौ युगपत्कुपितावन्तः कोष्ठे त्रिकसन्धिप्रवेशकौ भवतः, अथवा गात्रं स्तब्धं कुरुतः; त्रिकसन्धिषु प्रवेशस्तद्गतवेदनया बोध्यः॥ १-५॥

विमर्श—पहिले 'वातरक्त' रोग का कारण व्यायाम के साथ विदाही अन्न का सेवन बताया जा चुका है। व्यायाम के साथ स्निग्ध विशेषतः अभिस्यन्दी आहार का सेवन 'आमवात' का जनक होता है। कुछ लोग आमवात से आमवातज्वर (Rheumatic fever) का ग्रहण करते हैं। किन्तु उसका समावेश साम सान्निपातिक सन्धिगतज्वर में ही हो जाता है। आमवात से मुख्यतः सामाभ सन्धिवात (Rheumatoid arthritis) का ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि आमविष के लक्षणों में ज्वर को प्राधान्य नहीं दिया गया है।

कविराज गणनाथसेनजी सरस्वती इस अवस्था को रसवात भी कहते हैं—

शाखात्रिककटीपृष्ठग्रीवादिषु हि सन्धिषु। क्वचिच्छोफरुजाकारी सर्वगात्रप्रपीडनः॥
अविपाकारुचियुतोऽल्पज्वरो विज्वरोऽथवा। रसवातगदः सोऽयमामवातश्च कथ्यते॥

आमरस से दूषित वात को ही आमवात या रसवात कहते हैं। शुद्ध रस से विकारोत्पत्ति नहीं होती है और दूषित रस को ही आम कहते हैं। अतः प्राचीन और प्रचलित 'आमवात' शब्द के रहते हुए 'रसवात' शब्द की कल्पना व्यर्थ प्रतीत होती है। दूसरे सिद्धान्त-निदान में प्रतिपादित

रसवात से आधुनिक (Rheumatic Arthritis) का ही वर्णन किया गया है (Rheumatoid Arthritis) का नही।

आम के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन निम्नलिखित रूप में मिलता है—

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्। दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥

अथवा—**आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः।**
आद्य आहारधातुर्यः स आम इति कीर्तितः॥

अथवा—**आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसञ्चयम्।**
प्रथमां दोषदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते॥

'आम' का विवेचन अग्निमान्द्यप्रकरण मे भी देखिए।

विरुद्ध आहार-विहार अथवा स्निग्ध भोजन करने के तुरन्त पश्चात् व्यायाम करने से आहार का परिपाक सम्यक् रूप में नही होता एवं परिणामस्वरूप आमरस की उत्पत्ति होती है। यह आमरस प्रदूषित होकर रक्तवाहिनियों के द्वारा सर्व शरीर मे परिभ्रमण करता है और विभिन्न धातुओं के सम्पर्क में आने पर धात्वग्नियों से पाचित होने पर भी आम और मल की अधिक उत्पत्ति होती है। परिणामतः विभिन्न धातुओं और स्रोतसों में क्लेद तथा अवरोध हो जाता है जिससे विविध विकारों की उत्पत्ति होती है। जब यह आमदोष अपने सजातीय श्लेष्मा के अधिष्ठान सन्धियों में अवस्थित होकर वायु को आवृत कर लेता है तब आमवात रोग को उत्पन्न करता है। कविराज गणनाथसेनजी इसकी सम्प्राप्ति का वर्णन निम्न प्रकार से करते हैं—

सामो वायुः श्लेष्मणा सानुबन्धः सर्वाङ्गेषु स्वस्वलिङ्गैः प्रसर्पन्।
कटीपृष्ठत्रिकजान्वादिसन्धीन् रुजन्नुच्चैरामवातं विदध्यात्॥

यह रोग हाथ का मध्य अङ्गुलि से प्रारम्भ होता है, इसके पश्चात् दूसरी अङ्गुलियों में भी फैल जाता है। अन्ततो गत्वा मणिबन्ध, गुल्फ, कफोणि (Elbow), जानु, त्रिक तथा पृष्ठवंश की सन्धिओं में भी फैल जाता है। प्रायः शरीर के उभय पार्श्व में यह विकृति होती है। प्रारम्भ में इसके आक्रमणों के पश्चात् शरीर में कोई विकृति नही रहती। किन्तु आक्रमणों की अनेक पुनरावृतियों के फलस्वरूप स्नायु (Ligaments) पेशी तथा तरुणास्थिया सूखने लगती हैं। पीडा कम अनुभव होती है और सन्धिजाड्य (Ankylosis) हो जाता है। सन्धिक सन्निपात में भी सन्धि में उक्त विकृतियां पायी जाती हैं किन्तु उसमें ज्वर की विशेषता रहती है जब कि इसमें ज्वर की अनुपस्थिति भी रहती है। इसी प्रकार संधिकसन्निपात (Rhematic fever) में हृदय भी शीघ्र ही विकृत हो जाता है किन्तु इस रोग में वैसा नही होता।

आमवातस्य सामान्यलक्षणमवतारयति—

अङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा ह्यालस्यं गौरवं ज्वरः।
अपाकः शूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम्॥ ६॥

विभिन्न अंगों में पीडा होना, अरुचि, प्यास, आलस्य, शरीर का भारीपन, ज्वर, भोजन का परिपाक न होना तथा अंगों में सूजन का होना ये आमवात के (सामान्य) लक्षण हैं॥ ६॥

आमवातस्य सामान्यलक्षणमाह—अङ्गमर्द इत्यादि॥ ६॥

प्रवृद्धस्यामवातस्य लक्षणानि—

स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत्।
हस्तपादशिरोगुल्फत्रिकजानूरुसन्धिषु॥ ७॥

करोति सरुजं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते ।
स देशो रुज्यतेऽत्यर्थं व्याविद्ध इव वृश्चिकैः ॥ ८ ॥
जनयेत्सोऽग्निदौर्बल्यं प्रसेकारुचिगौरवम् ।
उत्साहहानिं वैरस्यं दाहं च बहुमूत्रताम् ॥ ९ ॥
कुक्षौ कठिनतां शूलं तथा निद्राविपर्ययम् ।
तृट्छर्दिभ्रममूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं विड्विबद्धताम् ।
जाड्यान्त्रकूजमानाहं कष्टांश्चान्यानुपद्रवान् ॥ १० ॥

आमवात की प्रवृद्ध अवस्था सब रोगों से कष्टसाध्य होती है, इससे हाथ, पैर, सिर, गुल्फ (Ankle), त्रिक (Sacrum), जानु (Knee) तथा ऊरु (Thigh) की सन्धियों में पीडायुक्त शोथ उत्पन्न होता है। इनके अतिरिक्त भी जिस स्थान पर आमदोष पहुँच जाता है वहाँ भी वृश्चिक-दश के समान वेदना का अनुभव होता है। इसमें अग्निमान्द्य, लालास्राव, अरुचि तथा गौरव होते हैं, उत्साहशक्ति नष्ट हो जाती है, मुख में विरसता तथा शरीर में जलन होती है, पेशाब की अधिकता तथा पेट में भारीपन और शूल होता है, निद्राविपर्यय (दिन में निद्रा आना, रात्रि को निद्रानाश), प्यास, वमन, भ्रम, मूर्च्छा, हृद्ग्रह (Precardial region मे स्तब्धता), एवं कोष्ठबद्धता हो जाती है। शरीर अकर्मण्य हो जाता है तथा पेट में गुडगुडाहट एवं अफारा रहता है। इनके अतिरिक्त कष्टप्रद अन्य अनेक उपद्रव भी हो सकते है ॥ ७-१० ॥

तस्यैवातिवृद्धस्य लक्षणमाह—स इत्यादि । वृश्चिकैः सविषकीटविशेषैः । स इति आमवातः । जाड्यमकर्मण्यत्वम् अन्यानुपद्रवान् संकोचखञ्जत्वादीन् ७-१० ॥

विमर्श—'यत्र दोषः प्रपद्यते' से यह स्पष्ट है कि यह रोग एक सन्धि से दूसरी सन्धि में फैलता है। इस व्याधि में तीव्र पीड़ा होती है तथा आम की अधिकता के कारण अग्निमान्द्य, अरुचि तथा गौरव जैसे लक्षण होते हैं। दाह लक्षण पित्तानुबन्ध का द्योतक है। रात्रि में स्वभावतः वायु की वृद्धि होने से (Due to hypersensitiveness of the nervous system) व्याधित को अधिक पीडा का अनुभव होता है अत एव उसे निद्रा नहीं आती। इसके परिणामस्वरूप रोगी दिन में सोता है।

आमवात और वातरक्त में भेद—

आमवात	वातरक्त
१—बडे जोडो में होता है।	१—छोटे जोड़ों में होता है।
२—भ्रमणशील पीड़ा।	२—भ्रमणशीलता प्रायः नही होती।
३—बाल्यावस्था में प्रारम्भ होता है।	३—४० वर्ष के लगभग ही प्रारम्भ होता है।
३—सैलिसिलेट या गुग्गुलु से विशेष लाभ होता है।	४—इससे बहुत कम लाभ होता है।

दोषानुबन्धेनाऽऽमवातस्य लक्षणान्याह—

पित्तात्सदाहरागं च सशूलं पवनानुगम् ।
स्तिमितं गुरुकण्डूं च कफदुष्टं तमादिशेत् ॥ ११ ॥

आमवात में पित्त का अनुबन्ध होने पर रुग्ण स्थान पर जलन और लाली होती है। यदि केवल वात ही रहे तो उसमें पीडा बहुत होती है। कफ का अनुबन्ध होने पर स्तिमितता (आर्द्रचर्मावनद्धवत् प्रतीति), भारीपन तथा खुजली ये लक्षण होते हैं ॥ ११ ॥

तस्य विशेषलक्षणान्याह—पित्तादित्यादि ॥ ११ ॥

आमवातस्य साध्यासाध्यतां निरूपयति—

एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते ।
सर्वदेहचरः शोथः सः कृच्छ्रः सान्निपातिकः ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने आमवातनिदानं समाप्तम् ॥ २५ ॥

एकदोषज आमवात साध्य, द्विदोषज याप्य तथा सर्वशरीरव्यापी शोथ से युक्त सान्निपातिक आमवात कृच्छ्रसाध्य होता है ॥ १२ ॥

तस्य साध्यत्वादिकमाह—एकेत्यादि ॥ १२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामामवातनिदानं समाप्तम् ॥ २५ ॥

विमर्श—सर्वदेहचर से शरीर की सम्पूर्ण सन्धियों का आक्रान्त होना द्योतित होता है। उपद्रव-स्वरूप हृदयविकार (Cardio-Volvular diseases) उत्पन्न होने पर सर्वांग शोफ भी होगा और यह प्रायः असाध्य ही होता हैं।

इत्यामवातनिदानं समाप्तम् ।



अथ शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलनिदानम्

शूलस्य भेदान् व्याचष्टे—

दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत् ।
सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥ १ ॥

वातज, पित्तज, कफज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज त्रिदोषज तथा आमज भेद से शूल आठ प्रकार का होता है। किन्तु इन सभी प्रकार के शूलों में वायु प्रधानरूप से रहता है ॥ १ ॥

आमवातेऽपि शूलं भवतीत्यतस्तदनन्तरं शूलनिदानम्। ज्वरादिवच्छूलस्यापि प्रागुत्पत्तिरस्ति। यदाह हारीतः—'अनङ्गनाशाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपान्मकरध्वजश्च। तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयार्दितो विष्णुतनुं प्रविष्टः॥ स विष्णुहुङ्कारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः स शूलः। स पञ्चभूतानुगतं शरीरं प्रदूषयत्यस्य हि पूर्वसृष्टिः' इति। एतेन शूल (लि)संभवत्वादस्य शूलमिति संज्ञा, शूलनिखातवद्वेदनाजनकत्वाच्च। तदाह वृद्धसुश्रुतः—'शङ्कुस्फोटनवत्तस्य यस्मात्तीव्रा हि वेदना। शूलासक्तस्य भवति तस्माच्छूलमिहोच्यते' (सु.उ.अ.४२) इति। कफपित्तादिशूलेष्ववश्यंभावी वायुरित्याह–सर्वेष्वित्यादि। प्रभुः कर्ता ॥

१. 'वायोः प्राधान्यम्' (आ० द०)।

विमर्श—ज्वर की भाँति शूल रोग की उत्पत्ति पर भी निम्न पौराणिक कथा हारीतसंहिता में वर्णित है। 'जब तपस्या करते समय अपनी समाधि भङ्ग में उद्यत कामदेव पर कुपित होकर शंकर जी ने त्रिशूल फेंका और उसके भय से त्रस्त कामदेव ने विष्णु के शरीर में छिप कर शरण लिया तब विष्णु के हुंकार द्वारा अपवारित होकर वह त्रिशूल पृथ्वी पर गिरा उसी से शूल रोग की उत्पत्ति हुई।' इस प्रकार त्रिशूलजनित होने के कारण इसे शूल रोग कहते हैं। अथवा शूल एक विशेष प्रकार की पीड़ा है। इसके कारण रोगी को शरीर में शंकु (खूंटे) को घसाने के समान तीव्र वेदना का अनुभव होता है। सुश्रुत इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से करते हैं—(सु. उ. तं. ४२)

शङ्कुस्फोटनवत् तस्य यस्मात् तीव्राश्च वेदनाः। शूलासक्तस्य लक्ष्यन्ते तस्माच्छूलमिहोच्यते ॥

साधारणतया शरीर के किसी भी भाग में उक्त प्रकार की वेदना का अनुभव हो सकता है, एवं उसके अनुसार उसको विभिन्न संज्ञायें भी दी जा सकती हैं यथा सिर का दर्द शिरःशूल, कान का दर्द कर्णशूल, वृक्कशूल तथा बस्तिशूल आदि। किन्तु केवल शूल से उदरशूल का बोध होता है क्योंकि गुल्म के समान इसके भी उदरगत पाच स्थान माने गये है। दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि तथा बस्ति ये गुल्म के पाच स्थान हैं—**'पञ्च गुल्माश्रया नृणां पार्श्वे हृन्नाभिबस्तयः'** (सुश्रुत) **तथा**—**'बस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोश्च गुल्मस्य स्थानानि भवन्ति पञ्च'** (च. चि. ५)।

सुश्रुत शूल को गुल्म का उपद्रव मानते हैं—**अथास्योपद्रवः शूलः कथञ्चिदुपजायते'**। **इसके** अतिरिक्त शूल एक स्वतन्त्र व्याधि भी मानते हैं जो विशेषतया गुल्म के समान पाँच स्थानों पर होती है—

विना गुल्मेन यच्छूलंगुल्मस्थानेषुजायते। निदानं तस्य वक्ष्यामि रूपं च सचिकित्सितम् ॥(सु०)

वात, मूत्र तथा मल के वेग को रोकना, अत्यधिक भोजन करना, अजीर्ण, अध्यशन, अधिक परिश्रम, विरुद्ध भोजन, पिष्टमय पदार्थ एवं सूखे मास का उपयोग तथा इसी प्रकार के अन्य पदार्थ शूल के सामान्य कारण है।[1]

सभी शूलों मे वायु को प्रधानता रहता है क्योंकि **'नर्तेऽनिलाद्रुक्'** वायु के विना पीडा सम्भव नहीं है। इसी का स्पष्टीकरण कविराज गणनाथसेनजी ने इस प्रकार किया है—

संज्ञावहानां नाडीनां प्रतानोद्वेजनोद्भवाः। सर्वेऽपि शूलास्तेनाहुः शूलानामनिलः प्रभुः।

किसी स्थल विशेष में संज्ञावाही नाडियों के सूत्रों में स्थानीय क्षोभ उत्पन्न होने से ही शूल का अनुभव होता है अत एव प्रत्येक शूल में वायु की प्रधानता रहती है।

इस शूलहेतु-नाडीतन्तुक्षोभ के कारणों का भी संग्रह निम्न प्रकार से किया है—

स्रोतोनिरोधोदावर्तौ व्रणशोथस्तथा क्षतम्। आघातः कार्यवैषम्यं दौर्बल्यं शूलभूमयः (सि.नि)

इस प्रकार केवल शूल शब्द का प्रयोग करने से उदरशूल एवं उसके साथ शूलस्थान का नाम जोड़ देने से शूल-विशेषों का ज्ञान होता है। सुश्रुत ने उदरशूल के वातिक आदि शूलों का वर्णन करने के साथ-साथ कतिपय विशिष्ट शूलों (हृच्छूल, पार्श्वशूल आदि) का भी निरूपण किया है। विस्तृत वर्णन अगले श्लोक के विमर्श में देखें।

वातिकशूलस्य निदानं स्वरूपञ्चाह—

व्यायामयानादतिमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात्।

---

१. वातमूत्रपुरीषाणां निग्रहादतिभोजनात्। अजीर्णाध्यशनायासविरुद्धान्नोपसेवनात्।
पिष्टान्नशुष्कमांसानामुपयोगात्तथैव च। एवंविधानां द्रव्याणामन्येषाञ्चोपसेवनात्॥
वायुः प्रकुपितः कोष्ठे शूलं सञ्जनयेद् भृशम्॥ (सुश्रुत उ. तं. ४२)

कलायमुद्गाढकिकोरदूषादत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात् ॥ २ ॥
कषायतिक्तातिविरूढजान्नविरुद्धवल्लूरकशुष्कशाकात् ।
विट्शुक्रमूत्रानिलवेगरोधाच्छोकोपवासादतिहास्यभाष्यात् ॥ ३ ॥
वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकबस्तिदेशे ।
जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम् ॥ ४ ॥
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपी विड्वातसंस्तम्भनतोदभेदैः ।
संस्वेदनाभ्यञ्जनमर्दनाद्यैः स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति ॥ ५ ॥

वातिकशूल अधिक व्यायाम, सवारी पर अधिक चढना, अत्यधिक मैथुन करना, रात्रिजागरण तथा अति शीतल जल का पान करना, मटर, मूग, अरहर, कादों तथा अन्य अत्यधिक रूक्ष पदार्थ खाना, अध्यशन करना तथा चोट लगना, कषाय तथा तिक्त रस प्रधान द्रव्यों का अधिक सेवन करना, अंकुरित चने आदि अन्न को खाना, विरुद्ध भोजन, शुष्क मास तथा शुष्क शाक खाना, मल, मूत्र, शुक्र तथा वायु का वेग धारण करना, शोक, उपवास, अत्यधिक हसना तथा बोलना आदि से प्रकुपित हुई वायु हृदय, दोनों पार्श्व, पीठ, त्रिक तथा बस्ति प्रदेश में शूल को उत्पन्न करती है। यह शूल भोजन के पच जाने पर, सायकाल के समय, वर्षा ऋतु तथा शीत के समय विशेष रूप से बढ जाता है। यह शूल बार-बार घटता-बढता रहता है, इसमें मल तथा वायु का अवरोध हो जाता है, सूई के समान चुभान तथा भेदनवत् पीडा होती है। स्वेदन, अभ्यग, मर्दन तथा स्निग्ध और उष्ण प्रकृति के भोज्य पदार्थों के सेवन से शान्त हो जाता है ॥ २–५ ॥

वातिकमाह—व्यायामेत्यादि। शीतजलातिपानाच्छीतलजलस्य प्रभूतपानात्। आढकी तुवरी, कोरदूषः कोद्रवः, विरूढजान्नमङ्कुरितधान्यकृतमन्नं, विरुद्धं क्षीरमत्स्यादिकं वल्लूरं शुष्कमांसम्। यद्यपि सर्वैरेव वातकोपनैर्वातशूलं स्यात्तथाऽपि व्यायामादिपाठेनैतद्दर्शयति, व्यायामादयो यथा वातहेतवस्तथा शूलहेतवोऽपीति; दोषव्याधिहेतव इत्यर्थः। एवं पित्त-शूलादिषु द्रष्टव्यम्। जीर्णे इत्याहारे। घनागमे वर्षासु मेघोदये च। मुहुर्मुहुरुपशमप्रकोपौ वायोश्चलत्वेन ॥ २–५ ॥

विमर्श—यद्यपि किसी भी वातप्रकोपक कारण से वातिक शूल हो सकता है फिर भी व्यायामादि का उल्लेख इस बात का निर्देश करता है कि इनसे वातप्रकोप के साथ शूल रोग भी प्रायः होता है, अर्थात् ये कारण दोष और व्याधि दोनों के उत्पादक होते है। यही वात पैत्तिक आदि शूलों के कथित कारणों के सम्बन्ध में भी लागू होगी। वातिक शूल का प्रभाव या प्रसार उदर के पांच खण्डों के अनुसार हृदय, पार्श्व, पृष्ठ, त्रिक तथा बस्ति प्रदेश में भी होता है किन्तु इन्हीं अगों में मुख्य रूप से शूल होने पर वे विशेष रोग भी कहे जाते हैं। यथा—

१. **हृदयशूल**—हृदयशूल या हृच्छूल को एन्जाइना पेक्टोरिस (Angina pectoris) कहते हैं। यह शूल उरःफलक (Sternum) के उपरितन एवं पृष्ठ भाग में प्रारम्भ होता है। परिश्रम करने से इसके आवेग आते हैं और यह शूल वक्ष से वाम बाहु के अभ्यन्तर भाग से होता हुआ अंगुल्यग्र तक पहुँच जाता है। कभी-कभी ग्रीवा के वामपार्श्व में भी इसके कारण वेदना का अनुभव होता है। प्रायः हृदय की रक्तवाहिनियों में एकत्र स्कन्न रक्त या अन्तःशल्यों (Thrombi or Infarct) के कारण अवरोध होने के पश्चात् प्राणवायु की कमी होने के फलस्वरूप यह अवस्था

उत्पन्न होती है। सुश्रुत भी इसका कारण कफ और पित्त से अवरुद्ध हृदयस्थित रसयुक्त वायु को मानते हैं—

कफपित्तावरुद्धस्तु मारुतो रसमूर्च्छितः। हृदिस्थः कुरुते शूलमुच्छ्वासारोधकं परम्।
स हृच्छूल इति ख्यातो रससमारुतसम्भवः॥

वस्तुतः हृच्छूल (Angina pectoris) हृदयगत रस या रक्तवाहिनियों के अवरोध (Coronary insufficiency) का ही परिणाम है। श्वासावरोध की प्रवृत्ति हृदयशूल का प्रधान लक्षण है इस विषय में प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों में पूर्ण ऐकमत्य है।

२. पार्श्वशूल—

रुणद्धि मारुतं श्लेष्मा कुक्षिपार्श्वव्यवस्थितः। स संरुद्धः करोत्याशु साध्मानं गुडगुडायनम्॥
सूचीभिरिव निस्तोदः कृच्छ्रोच्छ्वासी तदा नरः। नान्नं वाञ्छति नो निद्रामुपैत्यार्तिनिपीडितः॥
पार्श्वशूलः स विज्ञेयः कफानिलसमुद्भवः (सुश्रुतः उ. तं ४२)

यद्यपि पार्श्व शब्द वक्ष और उदर दोनों के पार्श्वों के लिए प्रयुक्त होता है किन्तु यहाँ पार्श्वशब्द मुख्यतः वक्षःपार्श्व के लिए ही प्रयुक्त समझना चाहिए। चरक आदि सभी आचार्यों ने राजयक्ष्मा के लक्षणों में पार्श्वशूल का भी उल्लेख किया है और तत्रत्य वर्णनों से स्पष्ट रूप में वक्षःपार्श्व का ही निर्देश मिलता है। किन्तु सुश्रुतोक्त सम्प्राप्ति में 'कुक्षिपार्श्वव्यवस्थितः' तथा लक्षण में 'साध्मानं गुड़गुड़ायनम्' से कुक्षि (उदर) पार्श्वगत शूल का भ्रम होता है। इस भ्रम के निराकरण के लिए 'कुक्षि' शब्द के अर्थ पर भी विचार करना पड़ेगा। कुक्षि (कोख) सामान्यतः उदर का वाचक होते हुए भी गर्भाशय तथा अन्य किसी गुहा के लिए भी प्रयुक्त होता है। अतः यहाँ कुक्षि शब्द वक्षोगुहा (Thorax) के लिए प्रयुक्त समझा जा सकता है। इसी प्रकार आध्मान वक्ष के आयाम और गुड़गुड़ायन पार्श्वशूल में होने वाली घर्षण ध्वनि के लिए प्रयुक्त समझना चाहिए। अथवा इस रोग के प्रभाव से प्रभावित उदरगत विकृति के कारण उदर में आध्मान और गुड़गुड़ाहट होना भी सम्भव है। यह रोग कफवातजन्य होता है। कफ की अधिकता में आयाम और वात की अधिकता में पार्श्वसंकोच होता है। जैसा कि चरक ने लिखा है—**'पार्श्वशूलं त्वनियतं संकोचायामलक्षणम्'** (च. चि. ८)।

अर्वाचीन दृष्टि से पार्श्वशूल फुफ्फुसावरणशोथ (Pleurisy) तथा इसके कफाधिक्य से आयामयुक्त एवं वाताधिक्य से संकोचयुक्त प्रकार क्रमशः आर्द्र (Pleurisy with effussion) तथा शुष्क (Dry pleurisy) प्रकारों के समान हैं। यह रोग बहुधा यक्ष्मा के लक्षण या उपद्रव स्वरूप में तथा कदाचित् अन्य कारणों से भी होता है।

यह रोग विकृति क्षेत्र के अनुसार कभी एक पार्श्व और कभी दोनों पार्श्वों में हो सकता है। तीव्र पार्श्वशूल शुष्क प्रकार का प्रधान लक्षण है। श्वास लेने तथा खांसने से शूल की वृद्धि होती है। वक्ष (विशेषतया विकृत पार्श्व) की गति कम होती है और श्वास के समय उदर की गति बढ़ जाती है। श्वास लेने में रोगी कष्ट का अनुभव करता है। इस अवस्था में रोगी को ज्वर भी रहता है। पार्श्ववेदना (Pleurodynia) तथा पर्शुकान्तरीय वातनाडीशूल (Intercastal neuralgia) जैसी ज्वरलक्षणविहीन अवस्थाओं का भी पार्श्वशूल में ही समावेश संभव है।

३. कुक्षिशूल—

प्रकुप्यति यदा कुक्षौ वह्निमाक्रम्य मारुतः। तदाऽस्य भोजनं भुक्तं सोपस्तम्भं न पच्यते।
उच्छ्वसित्यामशक्तता शूलेनाहन्यते मुहुः। नैवासने न शयने तिष्ठन् स लभते सुखम्॥
कुक्षिशूल इति ख्यातो वातादामसमुद्भवः। वमनं कारयेत्तत्र लङ्घयेद्वा यथाबलम्॥ (सुश्रुतः)।

इस प्रकार सुश्रुत ने ही पार्श्वशूल के बाद पृथक् कुक्षिशूल का भी वर्णन किया है। वायु द्वारा अग्निवैषम्य और उससे आमदोष, विष्टब्धाजीर्ण और मलावरोध उत्पन्न होता है जो उदर में तीव्रशूल को उत्पन्न करता है जिससे श्वास लेने में भी कठिनता होती है। रोगी बैठने लेटने और खडे होने आदि किसी भी स्थिति में आराम नही पाता है। लंघन और वमन इसकी चिकित्सा में विशेष रूप से उल्लिखित है। इससे स्पष्ट है कि यह शूल उदर विशेषतः आमाशय और पक्वाशयगत विकार है। इसे आधुनिक दृष्टि से आन्त्रिक शूल (Intestinal colic) कह सकते है।

४. **पृष्ठशूल**—इसे कमर का दर्द (Backache or lumbago) भी कहते है। यह कमर की पेशी, अस्थि तथा सन्धि की (आघात तथा अर्बुद आमवात आदि) विकृति के परिणामस्वरूप होता है। कभी कभी आमाशय-पक्वाशय व्रण (Gastro-duodenal ulcer), पित्ताशयाश्मरी (Gall stones) तथा स्त्रियों में गर्भाशय और बीजग्रन्थि (Ovary) के रोगों तथा मूत्राशयकलाशोथ (Cystitis) के कारण भी प्रचलित शूल (Referred pain) का पृष्ठ और पार्श्वों में अनुभव होता है।

५. **त्रिकशूल**—(Sacral pain)—यह भी पूर्वोक्त कारणों से ही केवल त्रिकप्रदेश में होता है।

६. **बस्तिशूल**—(Pain in urinary bladder) मूत्र तथा मल का वेग धारण करने से कुपित वायु बस्तिप्रदेश को व्याप्त करके बस्ति, नाभि तथा वंक्षणप्रदेश में शूल को उत्पन्न करता है। इसे बस्तिशूल कहते हैं। कारण भेद से यह दो प्रकार का होता है—

(क) मूत्राशयगत कारण (Causes in the urinary bladder) मूत्र का वेग धारण करने से प्रकुपित वायु बस्ति प्रदेश, मूत्रेन्द्रिय तथा वंक्षण प्रदेश में शूल उत्पन्न करता है। इसे **मूत्रशूल** भी कहते हैं[1]। इसके अतिरिक्त मूत्राशय-कलाशोथ (Cystitis) तथा मूत्राशयगत अश्मरी के कारण भी बस्तिप्रदेश में तथा सीवनी पर शूल का अनुभव होता है। इस अवस्था में रोगी को बार बार मूत्रत्याग की इच्छा होती है। मूत्रेन्द्रिय में प्रचलित शूल (Referred pain) का अनुभव होता है। (तूनी और प्रतितूनी रोगों का विमर्श भी वातव्याधि प्रकरण में देखें)

(ख) रूक्ष आहार करने से भी प्रकुपित वायु मल को शुष्क कर मलाशय तथा अपने सम्मुख स्थित बस्ति प्रदेश में भी शूल की उत्पत्ति करता है। इसे **विट्शूल** कहते है। यह शूल कुक्षिप्रदेश में भी अनुभूत होता है। (देखिए सुश्रुतसंहिता उत्तरतन्त्र अ० ४२)

बस्ति से प्राचीनों ने बहुधा वृक्क, गवीनी आदि सहित सम्पूर्ण मूत्रवह-संस्थान का भी ग्रहण किया है। अतः वृक्कशूल भी इसी बस्तिशूल में अन्तर्भूत समझना चाहिए। इसमें कुक्षि (उदर) पार्श्व में पीठ की ओर विशेष शूल होता है।

वातिक शूल का लक्षण करते हुए सुश्रुत कहते हैं—

निराहारस्य यस्यैव तीव्रं शूलमुदीर्यते। प्रस्तब्धगात्रो भवति कृच्छ्रेणोच्छ्वसितीव च।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण कुरुते नरः। एतैर्लिङ्गैर्विजानीयाच्छूलं वातसमुद्भवम्॥

पैत्तिकं शूलं लक्षयति—

क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैलनिष्पावपिण्याककुलत्थयूषैः ।
कट्वम्लसौवीरसुराविकारैः क्रोधानलायासरविप्रतापैः ॥ ६ ॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम् ।
तृण्मोहदाहार्तिकरं हि नाभ्यां संस्वेदमूर्च्छाभ्रमचोषयुक्तम् ॥ ७ ॥

---

१. नाभ्यां वंक्षणपार्श्वेषु कुक्षौ मेढ्रान्त्रमर्दकः। मूत्रमावृत्य गृह्णाति मूत्रशूलः स मारुतात्॥
(सु. उ. त. ४२)

मध्यन्दिने कुप्यति चार्धरात्रे विदाहकाले जलदात्यये च।
शीते च शीतैः समुपैति शान्तिं सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च ॥ ८ ॥

क्षार, अतितीक्ष्ण, उष्ण, विदाही पदार्थ, तेल, सेम या मटर, सरसों या तिल की खली तथा कुलथी का यूष आदि अधिक सेवन करने से, चरपरे, खट्टे पदार्थ, कांजी तथा मद्यों के सेवन करने से, क्रोध करने तथा अधिक अग्नि तापने से, अधिक परिश्रम करने से, धूप का अधिक सेवन करने एवं मैथुन की अधिकता आदि कारणों से भोजन विदग्ध हो जाता है और वह पित्त को प्रकुपित कर नाभि प्रदेश में शूल को उत्पन्न करता है। इस शूल में तृषा, दाह, मोह, पीडा, पसीना, मूर्च्छा तथा भ्रम होते है। मध्याह्न और अर्ध रात्रि में, भोजन पचते समय तथा शरद् ऋतु में इस शूल की वृद्धि होती है। शीत काल में, शीतल पदार्थों के सेवन करने से तथा मधुर व शीतल आहार से इसकी शान्ति होती है॥ ६-८ ॥

पैत्तिकमाह—क्षारेत्यादि। क्षारो यवक्षारादिः मुष्ककादिकृतक्षारद्रव्यं च, तीक्ष्णोष्णं मरिचराजिकादि, विदाहि वंशकरीरादि, तैलं तिलविकृतिः, निष्पावः शिम्बिः, पिण्याको निःस्नेहः सर्षपादिकल्कः, कुलत्थयूषोऽत्र कुलत्थान्नपानोपलक्षणः। सौवीरं सन्धानविशेषः। रविप्रतापो रौद्रः। ग्राम्यातियोगो मैथुनातिसेवा। विदाहीति पूर्वं पठित्वाऽपि अशनैर्विदग्धैरित्यनेनाविदाहिवस्तुनोऽपि दोषवशेन विदाहित्वं दर्शितम्। यदाह सुश्रुतः—'स्रोतस्यन्नवहे पित्तमग्नौ वा यस्य तिष्ठति। विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्नं विदह्यते' (सु. सू. अ. ४६) इति। विदाहकाल इत्याहारस्य। जलदात्यये शरदि ॥ ६-८ ॥

विमर्श—हृदय एवं नाभि के मध्य में पित्त का स्थान माना गया है। यह शूल प्रधानतया उक्त स्थान पर ही होता है। नाभि से उदर सामान्य एवं विशेषतया आन्त्रिक शूल का ग्रहण होता है। वाग्भट ने नाभि को पित्त का मुख्य स्थान माना है, 'नाभिरत्र विशेषतः' (अ. हृ. सू. १)। सभी आचार्यों ने नाभि का उल्लेख कोष्ठाङ्गों में किया है इस आधार पर कुछ विद्वान् नाभि से अग्न्याशय (Pancreas) का ग्रहण करते हैं। वस्तुतः यह अंग जाठराग्नि और धात्वग्नियों को भी बल प्रदान करने वाले उद्रेचनों का स्थान है। अतः इसे प्रधान पित्तस्थान-नाभि मानना उपयुक्त है।

नाभि प्रदेश में होने वाले सभी शूल पैत्तिक ही नहीं होते अपितु पित्तस्थानाश्रित अन्य प्रकुपित दोषों के कारण भी विविध विकार और शूल हो सकते हैं। लक्षण एवं सम्प्राप्ति के आधार पर उन्हें किसी विशिष्ट दोषजनित, द्विदोषज या त्रिदोषज समझना चाहिये। साथ ही **'एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्'** इस सिद्धान्त के अनुसार अत्युदीर्ण, दुश्चिकित्सित या उपेक्षित एकदोषज विकार द्विदोषज या त्रिदोषज रूप धारण कर लेता है; यह भी ध्यान में रखना चाहिए। इसी प्रकार कफस्थान आमाशय और वातस्थान नाभि से अधोदेश में भी विकृत होकर पहुंचे हुए पित्त के कारण शूल हो सकता है। पित्ताशय शूल (Biliary colic) और अम्लपित्तजनित शूल पैत्तिक शूल के प्रधान उदाहरण हैं। उदरावरणकला शोथ (Peritonitis) तथा आन्त्रपुच्छशोथ (Appendicitis) आदि जनित शूल प्रायः द्विदोषज या त्रिदोषज होते हैं। पित्ताशय का शूल दक्षिण अनुपार्श्विक प्रदेश (Right hypochondrium) तथा अधिजठर प्रदेश (Epigastrium) में होता है। इस अवस्था में रोगी को ज्वर भी रहता है। आन्त्रिक शूल, आन्त्र व्रण, किण्वीकरण (Fermentation) तथा आन्त्र की पुरःसरण गति की विलोमता के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। इसमें भी प्रायः वायु के साथ पैत्तिक लक्षणों की प्रधानता होतीहै। आन्त्रान्त्र-प्रदेश (Intussusception) तथा आन्त्रावरोध (Intestinal obsturction) के कारण उदर में तीव्र शूल होता है और यह प्रायः वातिक ही होता है। नाभि प्रदेश का शूल उदर में कृमियों की उपस्थिति का भी सूचक है।

सुश्रुत भी पैत्तिक शूल में तृष्णा, दाह आदि लक्षणों का वर्णन करते है—

तृष्णा दाहो मदो मूर्च्छा तीव्रं शूल तथैव च । शीताभिकामो भवति शीतेनैव प्रशाम्यति ॥

श्लैष्मिकं शूलं निरूपयति—

आनूपवारिजकिलाटपयोविकारैर्मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः ।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥
हृल्लासकाससदनारुचिसंप्रसेकैरामाशये स्तिमितकोष्ठशिरोगुरुत्वैः ।
भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥

आनूपदेशज तथा जलचर प्राणियों के मास को अधिक खाने से. खोवा या छेना तथा दूध के बने अन्य पदार्थों के सेवन से, मास अधिक खाने से, गन्ने का रस, उडद की पीठी, कृशरा, तिल कचौडी आदि तथा अन्य कफवर्धक कारणों से प्रकुपित हुआ श्लेष्मा प्रायः आमाशय में शूल उत्पन्न करता है। इसके साथ रोगी को मिचली, खाँसी, अंगसाद, अरुचि, कफप्रसेक होते हैं । अन्य भाग में स्थित-श्लेष्मा से उत्पन्न शूल के साथ कोष्ठबद्धता तथा शिर में भारीपन भी रहता है। यह शूल भोजन करने के तुरन्त बाद, प्रातःकाल, शिशिर तथा वसन्त ऋतु में विशेष रूप से होता है ॥ ९-१० ॥

श्लैष्मिकमाह—आनूपेत्यादि । आनूपवारिजं मांसादिकं, किलाटं तक्रकूर्चिका, कृशरा तिलतण्डुलमाषयवागूः । सूर्योदये प्रातः । कुसुमागमे वसन्ते ॥ ९-१० ॥

विमर्श—यह शूल प्रायः वाम पार्श्व में आमाशय प्रदेश में होता है। सभी शूलों में वायु की प्रधानता रहती है। इस प्रकार यहाँ भी वायु प्रधान है। किन्तु उसके साथ कफ की भी विशेषता रहती है । अधिष्ठान के अनुसार इसे कुक्षिशूल भी कह सकते हैं, क्योंकि कुक्षिशूल का आश्रय भी आमाशय ही है। सुश्रुत ने भी श्लैष्मिक शूल के उपर्युक्त लक्षण ही स्वीकार किये हैं। तृतीय पङ्क्ति का अर्थ यदि निम्नरीति से किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। आमाशयगत श्लेष्मा से हृल्लास आदि तथा अन्य अवयव पक्वाशयादि में स्थित श्लेष्मा से स्तिमितकाष्ठता आदि लक्षणों से युक्त शूल होता है।' इससे यह भी स्पष्ट होता है कि आमाशय से अतिरिक्त अवयवों में भी श्लैष्मिक शूल हो सकता है।

सन्निपातजशूलं वर्णयति—

सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं विद्याद्भिषक् सर्वभवं हि शूलम् ।
सुकष्टमेनं विषवज्रकल्पं विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ११ ॥

तीनों दोषों से होने वाले सन्निपातज शूल में सब दोषों के लक्षण पाये जाते है। यह शूल अत्यन्त कष्टप्रद होता है। विद्वान् लोग विष और वज्र के समान इस शूल को असाध्य मानते है ॥ ११ ॥ (उदाहरण के लिए पैत्तिक शूल का विमर्श देखें)

आमजशूलमाह—

आटोपहृल्लासवमीगुरुत्वस्तैमित्यकानाहकफप्रसेकैः ।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

आमजशूल के लक्षण कफजशूल के समान ही होते है। इसमे गुडगुड शब्द युक्त पेट का फूलना,

मिचली, वमन, शरीर का भारीपन, आर्द्रचर्म से आवृत होने के समान प्रतीति, आनाह तथा मुख से कफ (लाला) का स्राव ये लक्षण होते हैं ॥ १२ ॥

आमजशूलमाह—आटोपेत्यादि । कफस्य लिङ्गेन कफशूलोक्तलिङ्गेन ॥ १२ ॥

विमर्श—आमज शूल का अधिष्ठान भी मुख्यतः आमाशय ही है। अतः इसे श्लैष्मिक शूल के समान कुक्षिशूल भी कह सकते हैं। वस्तुतः आमावृत प्रकुपित वायु से उदर के किसी भी भाग में शूल की उत्पत्ति हो सकती है। विसूची तथा अलसक ये दो आमजन्य प्रमुख रोग हैं। इसमें उक्त लक्षण पाये जा सकते हैं। विसूची के लक्षणों में शूल का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अलसक रोग भी आमाशय से ही सम्बद्ध है, जैसा कि कहा भी है—

प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते । आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः ॥

किन्तु प्रवाहिका आदि में उदर के अन्य भागों में भी शूल होता है।

द्विदोषज शूलं व्याचष्टे—

बस्तौ हृत्पार्श्वपृष्ठेषु स शूलः कफवातिकः ।
कुक्षौ हृन्नाभिमध्येषु स शूलः कफपैत्तिकः ॥ १३ ॥
दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः ।

हृदय, पार्श्व तथा पृष्ठ का शूल प्रायः वातकफज होता है, कुक्षि तथा हृदय और नाभि के मध्य का शूल प्रायः कफपित्तज तथा बस्ति और नाभि में दाह और ज्वर से युक्त भयकर शूल प्रायः वातपित्तजन्य होता है ॥ १३ ॥

वातपैत्तिकश्चरकोक्तवातपैत्तिकशूलस्थाने द्रष्टव्यः । एवं सान्निपातिकोऽपि । उक्तदोषत्रयस्थाने । यदुक्तं—'वातात्मकं बस्तिगतं वदन्ति, पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम् । हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसंनिविष्टं. सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात्' इति ॥ १३ ॥

विमर्श—वातिक शूल का मुख्य स्थान बस्ति, पित्त का नाभि तथा कफज शूलका मुख्य स्थान हृदय, पार्श्व एवं कुक्षि हैं; क्योंकि ये तत्तद्दोष के मुख्य स्थान हैं। कहा भी है—

वातात्मकं बस्तिगतं वदन्ति पित्तात्मकं चापि वदन्ति नाभ्याम् ।
हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसंनिविष्टं सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात् ॥

किन्तु लक्षणों एवं सम्प्राप्ति-भेद का विवेचन कर इसमें अपवाद की भी कल्पना करनी चाहिए जैसा कि पैत्तिक शूल के विवेचन में वर्णित किया गया है।

साध्यासाध्यलक्षणमाह—

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥ १४ ॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

एकदोषज शूल साध्य, द्विदोषज याप्य तथा अनेक उपद्रवों (मधुकोशोक्त वेदना आदि) से युक्त भयानक त्रिदोषज शूल असाध्य होता है ॥ १४ ॥

साध्यत्वादिलक्षणमाह—एकेत्यादि । भूर्युपद्रव इति । उपद्रवास्तु वेदनादयः । यदुक्तं-'वेदना च तृषा मूर्च्छा ह्यानाहो गौरवारुची । कासः श्वासश्च हिक्का च शूलस्योपद्रवाः स्मृताः' इति ॥ १४ ॥

परिणामशूलं वर्णयति—

स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः संनिहितस्तदा ॥ १५ ॥
कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली ।
भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥ १६ ॥
तस्य लक्षणमप्येतत्समासेनाभिधीयते ।

रूक्ष आदि अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित वायु स्थान विशेष में स्थित होने से भोजन के परिणमन काल में प्रबल होकर कफ और पित्त को आवृत करके शूल को उत्पन्न करता है। यह शूल भोजन के परिपाक-काल में होता है अतः इसे परिणामशूल कहते है। सक्षेप मे यही (परिपाक काल में होना) उसका लक्षण है ॥ १५-१६ ॥

परिणामशूलमाह—स्वैरित्यादि। अस्य च त्रिदोषजस्यापि नियतपरिणामकालसंभवत्वेन पित्तोल्बणत्वं द्रष्टव्यम्; यदुक्तमन्यत्र—'बलासः प्रच्युतः स्थानात्पित्तेन सह मूर्च्छितः। वायुमादाय कुरुते शूलं जीर्यति भोजने। कुक्षौ जठरपार्श्वेषु नाभौ बस्तौ स्तनान्तरे। पृष्ठमूल' प्रदेशेषु सर्वेष्वेतेषु वा पुनः॥ भुक्तमात्रेऽथवा वान्ते जीर्णेऽन्ने च प्रशाम्यति। षष्टिकव्रीहिशालीनामोदनेन विवर्धते॥ तत्परिणामजं शूलं दुर्विज्ञेयं महागदम्। तमाहू रसवाहानां स्रोतसां दुष्टिहेतुकम्॥ केचिदन्नद्रवं प्राहुरन्ये तत्पक्तिदोषतः। पक्तिशूलं वदन्त्येके केचिदन्नविदाहजम्'—इति। भुक्ते जीर्यत्याहारे पच्यमाने॥ १५-१६॥

विमर्श—भोजन की पच्यमानावस्था या परिणमन काल में पित्त की विशेषता रहती है। पैत्तिक शूल भी प्रायः इसी काल में होता है। इस प्रकार यद्यपि पैत्तिक शूल और परिणाम शूल में कोई भेद प्रतीत नहीं होता तथापि परिणामशूल में पित्तज शूल के समान शूल के प्रकोप व शान्ति के साथ दिन, रात्रि तथा ऋतु का सम्बन्ध न होने से दोनों में भिन्नता है। इसके अतिरिक्त परिणाम शूल प्रायः त्रिदोषज होता है तथा उसमें वायु की प्रबलता रहती है और यह केवल भोजन के पच्यमानावस्था में ही होता है। पैत्तिक शूल अन्य अवस्थाओं में भी हो सकता है।

तन्त्रान्तर में परिणाम शूल की सम्प्राप्ति तथा लक्षण अधिक विस्तार से वर्णित हैं। 'स्वस्थान (आमाशय) से च्युत कफ जब (विकृत) पित्त से संयुक्त होकर वायु को भी क्षुब्ध कर भोजन के पच्यमानावस्था में कुक्षि, उदरपार्श्व, नाभि, बस्तिप्रदेश, मध्यवक्ष तथा पृष्ठमूल (कटि) प्रदेश में से किसी एक अथवा अनेक अथवा सभी प्रदेशों में जिस शूल को उत्पन्न करता है और जो भोजन करने से, वमन होने या अन्न का पूर्ण परिपाक होने पर शान्त हो जाता है; चावलों के खाने से बढता है उसे परिणामशूल नामक भयङ्कर रोग समझना चाहिए। यह रसवाही स्रोतसों की विकृति के कारण होता है। इसी को कुछ लोग अन्नद्रवशूल, पक्तिदोष, पक्तिशूल या अन्नविदाह शूल आदि नाम भी देते हैं।' (मूल श्लोक मधुकोष में देखें।)

पूर्वोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि परिणामशूल प्रायः तीनों दोषों की विकृति का परिणाम है। उदरगत वात विकृति के कारण ही बस्ति तथा पृष्ठ आदि प्रदेशों में भी शूल की अनुभूति होती है। चूंकि यह शूल पित्तस्थान में अन्न के पहुँचने पर उससे क्षुब्ध वायु के कारण होता है अतः परिपाक-काल तक ही सीमित रहता है और भोजन करने के तुरन्त पश्चात्, वमन करने तथा भोजन का पूर्णतया परिपाक हो जाने पर इस शूल की निवृत्ति हो जाती है। कतिपय विद्वान् इसे अन्नद्रव शूल भी कहते है किन्तु वह ठीक नही; क्योंकि लक्षणभिन्नता के कारण माधव ने उसका वर्णन पृथक् किया है। पाचन के दोष से होने के कारण कुछ लोग इसे पक्तिशूल भी कहते हैं।

परिणाम शूल का मुख्य उत्पादक कारण ग्रहणीव्रण (Duodenal ulcer) है । आमाशय में पाचन होने के पश्चात् जब अम्लीभूत अन्न ग्रहणी में प्रवेश करता है तब व्रणगत नाड्यग्रों में क्षोभ के कारण नाभि के निम्न भाग और दोनों पार्श्वों में शूल होता है । उदर में पीडनाक्षमता रहती है ।

परिणामशूलस्य वातादिभेदेन लक्षणान्याह—

आध्मानाटोपविण्मूत्रविबन्धारतिवेपनैः ॥ १७ ॥
स्निग्धोष्णोपशमप्रायं वातिकं तद्वदेद्भिषक् ।
तृष्णादाहारतिस्वेदं कट्वम्लुलवणोत्तरम् ॥ १८ ॥
शूलं शीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद् बुधः ।
छर्दिहृल्लासमंमोहं स्वल्परुग्दीर्घसन्तति ॥ १९ ॥
कटुतिक्तोपशान्तं च तच्च ज्ञेयं कफात्मकम् ।
संसृष्टलक्षणं बुद्ध्वा द्विदोषं परिकल्पयेत् ॥ २० ॥
त्रिदोषजमसाध्यं तु क्षीणमांसबलानलम् ।

उदर का फूलना (Tympanitis); गुडगुड करना, मल और मूत्र का अवरोध होना, किसी कार्य में मन न लगना और शरीर का काँपना ये वातिक परिणामशूल के लक्षण हैं । यह शूल स्निग्ध तथा उष्ण पदार्थों के सेवन से शान्त हो जाता है ।

प्यास, दाह, बेचैनी तथा अधिक पसीने का आना, कटु, अम्ल तथा लवण रस युक्त पदार्थों के सेवन से शूल की वृद्धि तथा शीतोपचार से शान्ति होना ये पैत्तिक परिणामशूल के लक्षण हैं ।

वमन, मिचली, मूर्च्छा, चिरकाल तक थोडी-थोडी पीडा का बना रहना तथा कटु और तिक्त पदार्थों से शूल शान्त होना कफज परिणामशूल के द्योतक हैं ।

दो दोषों के लक्षण मिलने पर द्विदोषज और तीनों दोषों के लक्षणों से युक्त होने पर त्रिदोषज परिणामशूल समझना चाहिये । त्रिदोषज परिणामशूल तथा जिस किसी भी परिणामशूल के रोगी के मांस- बल और अग्नि नष्ट हो जायें उसे भी असाध्य समझना चाहिये ॥ १७-२० ॥

तस्य वातादिभेदेन लक्षणान्याह—आध्मानेत्यादि । तृष्णादाहारतिस्वेदा यत्र सन्ति तत्तृष्णादाहारतिस्वेदम् । कट्वम्ललवणोत्तरं कट्वम्ललवणैरुद्धतम् । शीतशमप्रायं शीतलोपशम(य) बहुलम् । छर्दिहृल्लासमंमोहलिङ्गानि यस्मिन् सन्ति तच्छर्दिहृल्लाससंमोहम् दीर्घसन्ततीति चिरानुबन्धि ॥ १७-२० ॥

विमर्श—यद्यपि परिणामशूल सन्निपातज ही होता है तथापि चिकित्सा-सौकर्यार्थ दोषों के तारतम्य और विशिष्ट लक्षणों के अनुसार माधव ने वातिकादि भेदों की भी कल्पना कर लिया है ।

अन्नद्रवशूलं निरूपयति—

जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते ॥ २१ ॥
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ।
न शमं याति नियमात्सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥ २२ ॥

जो शूल भोजन के पच जाने पर, पचते हुए एवं पचने से पूर्व (खाने के बाद ही) अर्थात्

केसी भी काल में होता है तथा पथ्य और अपथ्य के प्रयोग से एवं भोजन करने या न करने पर भी नेयमपूर्वक शान्त नही होता उसे अन्नद्रवशूल कहते हैं ॥ २१-२२ ॥

(अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते ।
वान्तमात्रे जरत्पित्तं शूलमाशु व्यपोहति ॥ १ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलनिदानं समाप्तम् ॥२६॥

अन्नद्रव नामक शूल में निरन्तर शूल होता रहता है और रोगी को आराम नही मिलता। किन्तु कभी वमन के द्वारा दूषित पित्त निकल जाने पर शाघ्र ही शूल बन्द भी हो जाता है ॥ १ ॥

त्रिदोषविकृतिविशेषमन्नद्रवाख्यं शूलमाह—जीर्ण इत्यादि। जीर्णे 'आहारे' इति शेषः, एवं जीर्यत्यजीर्णे वेति सर्वदेत्यर्थः। न शमं याति नोपशेत इत्यर्थः, न स्वसाध्यं, चिकित्सा-विधानादिति ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शूलनिदानं समाप्तम् ॥ २६ ॥

विमर्श—आधुनिक दृष्टि से इस अवस्था को निश्चित रूप से कोई नाम नहीं दिया जा सकता है किन्तु फिर भी वमन से पित्त निकल जाने पर शूलशान्ति को देखकर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस शूल में विकृति का अधिष्ठान आमाशय ही होता है। शूल का काल नियत न होने से इसकी त्रिदोषजन्यता भी स्पष्ट है। इस शूल का मुख्य कारण जीर्ण आमाशय शोथ (Chronic gastritis) या आमाशयिकव्रण (Gastric ulcer) है। इसके कारण नाभि के उपरितन प्रदेश में पीडनाक्षमता होती है। अन्न जब तक आमाशय में रहता है, शूल शान्त नहीं होता। वमन द्वारा बाहर निकल जाने पर तथा ग्रहणी में चले जाने पर शूल कुछ काल के लिए शान्त हो जाता है। भोजन के आमाशय में पहुँचते ही जब पाचन के लिये आमाशयिक रस का स्राव होता है तो शूल प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार यह शूल आमाशयिक पाचन पर्यन्त रहता है और अन्न के ग्रहणी में चले जाने पर शान्त हो जाता है। आमाशयिक पाचन के समय अम्ल के प्रत्युद्गिरण (Regurgitation) के कारण रोगी को हृदयप्रदेश में जलन (Heart burn) का अनुभव होता है। क्षारयुक्त एवं द्रव पदार्थों के सेवन से अम्ल का प्रभाव नष्ट होने पर कदाचित् शूल की शान्ति होती है।

समाप्तं चेदं शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलनिदानम् ।



अथोदावर्त्तानाहनिदानम्

उदावर्तस्य हेतूनाह—

वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियैः ।
क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणां धृत्योदावर्तसंभवः ॥ १ ॥ (सु. उ. ५५)

अधोवायु, मल, मूत्र, जम्भाई, अश्रु, छींक, डकार, वमन, शुक्र, भूख, प्यास, श्वास तथा निद्रा के वेग को रोकने से उदावर्त रोग की उत्पत्ति होती है ॥ १ ॥

उदावर्तेऽपि शूलं भवतीति शूलानन्तरमुदावर्तमाह—वातेत्यादि। अस्रमश्रु, इन्द्रिय-शब्देनात्र शुक्रं, क्षुत् बुभुक्षा। धृत्या वेगविधारणेन। एते वातादयस्त्रयोदश नियमार्थाः, तेनान्येषां क्रोधादीनां वेगविधारणं न तद्धेतुः, स्वास्थ्यहेतुत्वात्। यदाह चरकः—'लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्' (च. सू. अ. ७) इत्यादि। सर्वोदावर्तेषु च वायुरेव

कारणम् । यदाह सुश्रुतः—'सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः । वायोः क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये' (सु. उ. अ. ५५) इत्यादि । उद्भूतेन वेगविधारणेनावृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः; अन्ये तु वायोरूर्ध्वमावर्तो गमनमित्युदावर्तमाहुः; तन्न, अश्रुस्रावादेरव्यापकत्वात्; छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन वा समर्थनीयम् ॥ १ ॥

विमर्श—साधारणतया वायु के ऊर्ध्वगमन को ही उदावर्त समझा जाता है—**वायोरूर्ध्वमावर्तो गमनमित्युदावर्तः'** किन्तु यह निरुक्ति ठीक नही; इस निरुक्ति के आधार पर अश्रुस्राव आदि के अवरोध मे उत्पन्न उदावर्त को उदावर्त नही कह सकते; क्योंकि इनमें वायु का ऊर्ध्वगमन नहीं होता । डल्हण अश्रुस्राव तथा जृम्भा आदि के वेग को धारण करने पर वायु के कोष्ठगत होने से अपानवायु का प्रकोप एवं उदावर्त की उत्पत्ति मानते है **'अश्रुजृम्भादिवेगरोधात् कोष्ठगतो वायुर्यदा भवति तदाऽपानप्रकोपादुदावर्तसम्भवः'** । वस्तुतः विजयरक्षितजी के अनुसार निम्न लक्षण करना ही उचित है—**'उद्भूतेन वेगविधारणेनाऽऽवृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः'** अर्थात् अधारणीय वेगों के धारण करने से आवृत वायु का विलोमगति से इतस्ततः घूमना ही उदावर्त कहलाता है । इस प्रकार का लक्षण करने से सुश्रुत द्वारा परिगणित उदावर्त के सभी भेदों में उक्त सम्प्राप्ति ठीक-ठीक घट जाती है ।

प्रकृत में इन्द्रिय शब्द से शुक्र का ग्रहण करना चाहिये । चरक ने 'न वेगान्धारणीय' अध्याय में उक्त सभी वेगों का धारण करना निषिद्ध माना है—

न वेगान्धारयेद्धीमाञ् जातान् मूत्रपुरीषयोः । न रेतसो न वातस्य न च्छर्द्याः क्षवथोर्न च ॥
नोद्गारस्य न जृम्भाया न वेगान् क्षुत्पिपासयोः । न बाष्पस्य न निद्राया निःश्वासस्य श्रमेण च ॥

इन तेरह वेगों के ही धारण करने से उदावर्त रोग की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार उदावर्त भी तेरह प्रकार का होता है । लोभ, शोक भय, क्रोध, मान, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अत्यासक्ति तथा दूसरे के धन को लेने की इच्छा ये धारणीय वेग हैं—

लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत् । नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ॥

इन वेगों के धारण करने से रोग उत्पन्न नही होते, अपितु इनके धारण करने से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है ।

वेग-विधारण से वायु का प्रकोप होता है, इस प्रकार सभी उदावर्तों में वायु की प्रधानता रहती है, एवं चिकित्सा में भी वायु के ही अनुलोमन का प्रयत्न किया जाता है—

सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः । वायोः क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये ॥ (सु.)

वातनिग्रहजमुदावर्तं लक्षयति—

वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा ।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥ २ ॥ (च. सू. ७)

अपान (मल) वायु का वेग रोकने से वायु, मूत्र तथा पुरीष अवरुद्ध हो जाते है, पेट फूल जाता है, शरीर में सुस्ती तथा पीडा होती है, इसके अतिरिक्त उदर में अन्य वातिक रोग भी हो जाते हैं ॥२॥

पुरीषजोदावर्तलक्षणमाह—

आटोपशूलौ परिकर्तिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः ।
पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ॥ ३ ॥(सु. उ.५५)

मल (पुरीष) का वेग धारण करने से उदर में आटोप (पीडायुक्त गुड-गुड शब्द), शूल, परिकर्तिका (गुदा, मेढ् और बस्ति प्रदेश में कर्तनवत् पीडा), मल की रुकावट, एव डकारों की अधिकता के साथ कभी कभी मुखमार्ग से मल भी निकलने लगता है ॥ ३ ॥

मूत्रोदावर्तं निरूपयति—

बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा।
विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे॥ ४॥ (च. सु. ७)

मूत्र का वेग रोकने से मूत्राशय तथा मेढ़ में शूल, मूत्रत्याग में कष्ट तथा सिर में दर्द होता है। शरीर आगे को झुक जाता है, वक्षण प्रदेश (बस्ति) में तनाव रहता है। ४॥

जृम्भानिरोधजमुदावर्तं व्याचष्टे—

मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा जृम्भोपघातात्पवनात्मकाः स्युः।
तथाऽक्षिनासावदनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह कर्णरोगैः॥ ५॥

जम्भाई के रोकने से मन्यास्तम्भ तथा ग्रीवास्तम्भ हो जाता है। इसके तिरिक्त वातजन्य शिरोरोग, अक्षिरोग, नासागत रोग और मुख तथा कर्ण के तीव्र रोग उत्पन्न होते हैं॥ ५॥

अश्रुजोदावर्तलक्षणमाह—

आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि।
शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन॥६॥(सु.उ.५५)

आनन्द और शोक दोनों ही से आसू निकलते हैं। इनमें से किसी भी प्रकार के आंसू के वेग को रोकने से सिर भारी हो जाता है, प्रतिश्याय एवं नेत्र के रोग हो जाते हैं॥ ६॥

छिक्कानिरोधजमुदावर्तं लक्षयति—

मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ।
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात्॥ ७॥ (च. सू. ७)

छींक के रोकने से मन्यास्तम्भ, सिर में दर्द, अर्दित, आधासीसी तथा इन्द्रियों में दुर्बलता हो जाती है॥ ७॥

उद्गारनिरोधजमुदावर्तं निरूपयति—

कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः कूजश्च वायोरथवाऽप्रवृत्तिः।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकाराः पवनप्रसूताः॥८॥(सु. उ.५५)

डकार का वेगधारण करने से गले और मुख में अवरोध की प्रतीति होती है, गले में सुई के समान चुभन तथा आन्त्र में गुडगुड होती है। श्वासावरोध तथा वातजन्य अन्य रोग भी हो सकते हैं॥

छर्दिनिग्रहजन्यमुदावर्तं प्राह—

कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः।
कुष्ठवीसर्पहृल्लासाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः॥ ९॥ (च. सू. ७)

वमन के वेग को रोकने से खुजली, चकत्ते, अरुचि, चेहरे पर काले धब्बे, शोथ, पाण्डुरोग, ज्वर, कुष्ठ, विसर्प तथा मिचली ये रोग होते हैं॥ ९॥

शुक्रनिरोधजोदावर्तं निरूपयति—

मूत्राशये वै गुदमुष्कयोश्च शोथो रुजा मूत्रविनिग्रहश्च।
शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेच्च ते ते विकारा विहते च शुक्रे॥१०॥

शुक्र का वेग धारण करने पर मूत्राशय, गुदा तथा अण्डकोषों मे सूजन तथा पीडा हो जाती है, मूत्र रुक जाता है, शुक्राश्मरी हो सकता है तथा कभी-कभी शुक्रस्राव भी होने लगता है, इसके अतिरिक्त (हृत्पीडा तथा अंगमर्द जैसे) शुक्रवेग-विघातज लक्षण भी होते हैं ॥ १० ॥

क्षुधानिरोधजमुदावर्तं व्याचष्टे—

तन्द्राऽङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्च क्षुधाभिघातात्कृशता च दृष्टेः ।

भूख का वेग धारण करने से तन्द्रा, अंगमर्द, अरुचि तथा थकावट हो जाती है और आंखों के आगे अंधेरा सा छा जाता है ॥

तृष्णावेगनिरोधजोदावर्तं लक्षयति—

कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णाविघाताद्धृदये व्यथा च ॥११॥

प्यास के रोकने से गला और मुख सूख जाते है, कानों मे बधिरता आ जाती है और हृदय में पीडा होती है ॥ ११ ॥

श्वासनिग्रहजन्यमुदावर्तं प्राह—

श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः ।

परिश्रम का कार्य करने से श्वास का वेग बढ जाता है । इस अवस्था में यदि श्वास के वेग को बलात् रोक दिया जाय तो हृद्रोग, मूर्च्छा तथा गुल्म रोग हो जाते है ॥

निद्रानिरोधजमुदावर्तमाह—

जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोऽतिजाड्यं निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा ॥

(सु. उ. ५५)

निद्रा को रोकने से जम्भाई, अंगमर्द, आंखों और सिर में भारीपन तथा तन्द्रा ये लक्षण होते हैं ॥

उक्तवाताद्युदावर्तानां क्रमेण लक्षणान्याह—वातेत्यादि । अन्ये इति तोदशूलादयः । मेहनं शेफः । विनाम आनाहपीडया (बन्धनवत्पीडया) नतगात्रत्वम् । वङ्क्षणयोरानाहो बन्धनवत्पीडा । नेत्रोदकमश्रु, प्राप्तमागतममुञ्चतो 'नरस्य' इति शेषः । चकारात्तन्त्रान्तरोक्तप्रतिश्यायहृद्रोगारुचिप्रभृतीनां ग्रहणम् । अर्धावभेदोऽर्धशिरःशूलम् । कूजोऽव्यक्तभाषणमिति कार्तिकः । **वायोरप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोधः । घोरा विकाराः पवनजा हिक्कादयः । मूत्राशये बस्तौ, 'मूत्रायन' इति पाठे स एवार्थः वैशब्दः पादपूरणे । तत्स्रवणं शुक्रस्य स्यन्दनम् । अतिजाड्यं गौरवम् । 'शिरोगात्राक्षिगौरवम्—' इति तन्त्रान्तरे पाठः ॥ २–१२ ॥**

विमर्श—समय समय पर मल-मूत्रादि के त्याग के लिए गुदा आदि अंगों में स्थित मलादिप्रवर्तक वायु या तदाश्रयभूत वातवाहिनियों में उत्तेजना स्वभावतः होती है और मल, मूत्र आदि का विसर्ग होता है । इसी प्रवर्तक उत्तेजना को 'वेग' एवं बलपूर्वक इसे रोकने को 'वेगावरोध' कहते हैं । इस वेगावरोध या अस्वाभाविक प्रयत्न के फलस्वरूप विभिन्न वेगों का परिचालन एवं नियन्त्रण करने वाली वायु या वातनाडियां विकृत हो जाती हैं जिससे वायु का प्रकोप एवं अधिष्ठान और कारण के अनुसार विभिन्न उदावर्तों की उत्पत्ति होती है ।

वातवेग—मलवायु (Flatus) का वेग धारण करने से इसकी प्रवर्तक वायु (गुदा एवं बस्तिप्रदेश में स्थित अपानवायु एवं उसकी आश्रयभूत वातनाडियां) विकृत हो जाती है । मूत्र और मल का यथासमय त्याग कराना भी इसी वायु या वातनाडी-मण्डल के आधीन है, अतः विकृति के परिणामस्वरूप इनकी भी रुकावट हो जाती है । इस प्रकार जब प्रवृद्ध मल वायु अपने प्रकृतमार्ग से नहीं निकल पाती है और मलाशय में स्थित मल की रुकावट से अधिक प्रकुपित होकर

ऊपर आन्त्र की ओर बढती है तो उसमें आध्मान उत्पन्न कर देती है। आध्मान के कारण रोगी को बस्तिप्रदेश तथा उदर में पीडा होती है। इन लक्षणों के अतिरिक्त उदर में शूल, आटोप, विषमाग्नि, विष्टब्धाजीर्ण जैसे वातजन्द रोगों की उत्पत्ति होती है। सुश्रुत वातनिरोधज उदावर्त से शिरःशूल, श्वास, कास, प्रतिश्याय की उत्पत्ति तथा मुख से पुरीष का निकलना भी मानते हैं—

आध्मानशूलौ हृदयोपरोधं शिरोरुजं श्वासमतीव हिक्काम्।
कासप्रतिश्यायगलग्रहांश्च बलासपित्तप्रसरञ्च घोरम्।
कुर्यादपानोऽभिहतः स्वमार्गे हन्यात् पुरीषं मुखतः क्षिपेद् वा॥

वस्तुतः मुख द्वारा साक्षात् मल नहीं निकलता अपितु वमन के द्वारा पुरीष के समान दुर्गन्धित पदार्थ ही निकल सकता है।

पुरीषवेग—पुरीष का प्रवर्तक अपानवायु ही है। उसका वेग प्रयत्नपूर्वक धारण करने से अपानवायु एवं उसका आश्रय स्थल नाडीचक्र विकृत हो जाता है, फलस्वरूप आन्त्र की प्रतिलोम-गति से मल पुनः बृहदन्त्र में चला जाता है और वहाँ बृहदन्त्र की कला द्वारा मलस्थित अवशिष्ट जलीयांश भी शोषित हो जाता है। इस प्रकार मल के पूर्णतया शुष्क हो जाने से उसके त्याग की प्रवृत्ति नहीं होती। मलाशय या आन्त्रस्थित मल से गैसों की उत्पत्ति होकर उदर में आटोप एवं शूल जैसे लक्षण उत्पन्न होते है। अधोमार्ग में पूर्णतया अवरोध होने के कारण मल-वायु प्रतिलोम गति से ऊर्ध्वमार्ग द्वारा डकारों के रूप में निकलती है। मलाशय के सामने की ओर मूत्राशय (Bladder) भी स्थित रहता है। अतः मलाशयगत प्रकुपित अपानवायु और मलग्रंथि के दबाव से मूत्राशय एवं उससे सम्बन्धित शिश्न में भी पीडा की अनुभूति होती है। वमन द्वारा निकला हुआ पदार्थ मल वायु से मिश्रित होने के कारण पुरीष के समान ही होता है, इसी आशय से मुख द्वारा पुरीष-वमन का निर्देश किया गया है।

चरक पुरीषनिरोधज उदावर्त के लक्षण निम्न प्रकार से करते हैं—

पक्वाशयशिरःशूलं वातवर्चोऽप्रवर्तनम्। पिण्डिकोद्वेष्टनाध्मानं पुरीषे स्याद्विधारिते॥

मूत्रवेग—मूत्रवेग को प्रयत्नपूर्वक रोकने से वायु प्रकुपित होकर मूत्राशय तथा शिश्न में शूल उत्पन्न कर देता है। मूत्र के वेग को रोकने से मूत्राशय विस्फारित हो जाता है जिससे उसके तनाव (Tension) की स्वाभाविक प्रतिक्रिया समाप्त हो जाती है। तनाव की प्रतिक्रिया न होने से मूत्रत्याग कराने वाली नाडियों पर भी उत्तेजक प्रभाव नहीं पड़ना। इससे मूत्र कठिनता से बूंद-बूंद करके बार-बार निकलता है। सीधे रहने से बस्तिप्रदेश में तनाव के कारण पीडा का अनुभव होता है अतः रोगी उस पीडा को कम करने के उद्देश्य से आगे की ओर को झुक कर वहाँ की पेशियों को ढीला रखने का प्रयत्न करता है। मूत्र से परिपूर्ण मूत्राशय के दबाव से वंक्षणप्रदेश में भी तनाव की अनुभूति होती है। मूत्राशय का गुदा (Rectum) पर दबाव पड़ने से उसमें भी पीडा होती है। अण्डकोष बस्ति के सामाने ही रहते हैं अतः तनाव के कारण उनमें भी पीडा का अनुभव होता है। यही सुश्रुत ने कहा है—

मूत्रस्य वेगेऽभिहते नरस्तु कृच्छ्रेण मूत्रं कुरुतेऽल्पमल्पम्।
मेढ्रे गुदे वङ्क्षणमुष्कयोश्च नाभिप्रदेशेष्वथवाऽपि मूर्ध्नि।
आनद्धबस्तिश्च भवन्ति तीव्राः शूलाश्च शूलैरिव भिन्नमुतः॥

जृम्भावेग—जम्भाई में ऊर्ध्वजत्रुगत अंगों का विशेष प्रयत्न रहता है अतः इसके स्वाभाविक वेग को रोकने से ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों के होने की सम्भावना रहती है।

अश्रु— आंसू-आँखों का स्वाभाविक स्रा व जोनिरन्तर अल्पाल्प मात्रा में निकलकर आंख की कला को आर्द्र एवं स्निग्ध रखता है। इसका निर्माण अश्रुग्रन्थि (Lacrymal gland) के

द्वारा होता है। यह ग्रन्थि अक्षिगुहा के बाह्य एवं उपरितन भाग में स्थित रहती है। इसके दो भाग होते हैं। ऊपर का भाग नीचे के भाग से अपेक्षाकृत बडा और छोटे बादाम के आकार का होता है। यह भाग अक्षिगुहा (Orbital cavity) का निर्माण करने वाले पुरःकपालास्थि (Frontal bone) की अश्रुग्रन्थि-खात (Lacrymal fossa) में अवस्थित रहता है। ग्रन्थि का निम्न भाग छोटा होता है और इसे सहायक अश्रुग्रन्थि (Accessary lacrymal gland) भी कहते है। इन दोनों ग्रन्थियों से निकलने वाले निःस्राव का वहन छोटी-छोटी लगभग बारह नलिकाओं के द्वारा होता है। ये नलिकायें अक्षिगुहा के उपरितन भाग के मध्य में पृथक् पृथक् छिद्रों के द्वारा खुलती हैं। इनसे निकले हुए अश्रु के द्वारा अक्षिकला (Conjunctiva) आर्द्र रहती है। इसके बाद अश्रु अश्रुप्रणाली (Canaliculi) के द्वारा अश्रुकुप्पिका (Lacrymal sac) में प्रवेश करते हैं जहाँ से वे एक नलिका (Naso-lacrymal duct) के द्वारा नासिका में चले जाते है।

अश्रुस्राव क्षारीय होता है एवं साधारण अवस्था में केवल अक्षिकला को आर्द्र रखने मात्र के लिये स्राव होता है और यह बाष्पीभवन के द्वारा नष्ट होता रहता है। किन्तु कदाचित शारीरिक (आँख या नाक) एवं मानसिक उत्तेजनाओं (अत्यधिक हर्ष या शोक) के फलस्वरूप अश्रुग्रन्थि प्रभावित होकर अश्रुस्राव का अधिक मात्रा में निर्माण करने लगती है। स्राव के निकल जाने पर आँखों तथा मन दोनों में ही हलकापन आ जाता है। किन्तु यदि इस वेग को हठात् रोक दिया जाय तो सिर में भारीपन, अश्रुग्रन्थि-सम्बन्धी एवं अन्य नेत्रकोप आदि नेत्र-रोग हो सकते हैं। सुश्रुत ने नेत्ररोगों की उत्पत्ति के सामान्य निदानों में बाष्पग्रह (अश्रुनिरोध) का भी पाठ किया है। चरक ने तो इसे हृद्रोग तथा भ्रम का भी कारण माना है—

प्रतिश्यायोऽक्षिरोगश्च हृद्रोगश्चारुचिर्भ्रमः। बाष्पनिग्रहणात्······॥ (चरकः)

क्षवथु-वेग—नासा द्वार से एकाएक तीव्रगति से तीव्रशब्द युक्त वायु को निकालना ही छींक है। गन्ध का वहन परमाणुओं के द्वारा होता है। तीक्ष्ण एवं असात्म्य पदार्थ के सूंघने से उसके गन्धवह परमाणु नासा कलागत नाड्यग्रों को प्रक्षुभित करके छींक को उत्पन्न करते हैं। छींक के विषय में चरक और सुश्रुत की भी यही सम्मति है—

'संस्पृश्य मर्माण्यनिलस्तु मूर्ध्नि विष्वक्पथस्थः क्षवथुं करोति। (चरकः)

घ्राणाश्रिते मर्मणि सम्प्रदुष्टे यस्यानिलो नासिकया निरेति।
कफानुयातो बहुशः सशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः॥ (सुश्रुतः)

घ्राणाश्रित मर्म से यहाँ घ्राणनाडी के अग्रों का ग्रहण होता है। नासागुहा के विवरों में अवस्थित असात्म्य पदार्थ या श्लेष्मा भी स्थानीय कलाको उत्तेजित करके छींक उत्पन्न करता है। छींक से उद्वेजक असात्म्य एवं बाह्य पदार्थ बाहर आ जाता है और दोष के बाहर निकल जाने से किसी प्रकार के रोग की आशंका नहीं रहती। इस प्रकार नासागुहा में अवस्थित दोष या असात्म्य बाह्य पदार्थ को बाहर निकालने का प्रयत्न ही छींक कहलाता है। प्रयत्नपूर्वक अथवा किसी अन्य कारण से छींक के रुक जाने पर असात्म्य पदार्थ अन्दर ही रह जाता है, और स्रोतों को अवरुद्ध करके अनेक रोगों को उत्पन्न कर सकता है। शिरःशूल इसका प्रधान लक्षण है। यदि इसके कारण सातवीं नाडी (Facial nerve) पर प्रभाव पड़ जाये तो अर्दित रोग भी हो सकता है। छींक न आने से शिरोभाग तथा साथ ही सम्पूर्ण शरीर में भारीपन प्रतीत होता है। छींक आ जाने से अवरोधक कारण हट जाता है अतः शिर और शरीर में हलकापन और स्वास्थ्य का अनुभव होता है। अन्य स्रोतों के समान इस

स्रोत का शुद्ध तथा अवरोधरहित रहना अनिवार्य है। इसीलिये सुश्रुत ने ज्वरमुक्त के लक्षण में छींक की प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया है—

स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च। क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥

छीक को रोकने से विकृति यथास्थान स्थित रह जाती है। यदि वह बढकर कान और आंख तक पहुँचे तो नासा रोग के साथ-साथ कान और आख के रोग भी उत्पन्न कर सकती है। साधारणतया इसका प्रभाव पाचों ज्ञानेन्द्रियों विशेषतया नासिका मे स्वाभाविक क्रिया को कम कर देता है। सुश्रुत इसका लक्षण निम्न प्रकार से करते हैं—

भवन्ति गाढं क्षवथोर्विघाताच्छिरोऽक्षिनासाश्रवणेषु रोगाः।

इस तरह छींक के रोकने का प्रभाव सर्वशरीर पर अत्यधिक मात्रा में होना है।

उद्गारवेग—डकार उदान वायु का कार्य है। उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति को रोकने से उदान वायु प्रकुपित होकर आन्त्रकूजन, श्वास तथा अन्य वातविकारों को उत्पन्न करती है। चरक डकार के रोकने से हिक्का, श्वास, अरुचि, कम्पन तथा हृदय और फुफ्फुस में अवरोध की उत्पत्ति मानते है—

हिक्का श्वासोऽरुचिः कम्पो विबन्धो हृदयोरसोः। उद्गारनिग्रहात्················ ॥

शुक्र—शुक्र एक गाढा, पिच्छिल एवं दूधिया रंग का तरल पदार्थ है। इसका मुख्य अवयव शुक्राणु या शुक्र कीट है। मैथुन के समय निकलने वाले शुक्र के सब अंशों का निर्माण वृषण ग्रन्थि (Testes) के द्वारा नहीं होना। इन ग्रन्थियों में शुक्र कीट बनते हैं, जो शुक्र इन ग्रन्थियों में बनता है वह इतना अधिक गाढा होता है कि शुक्र कीट इसमे भली भांति गति नही कर सकते। वृषणग्रन्थि अनेक कोष्ठों का एक समूह है। इन कोष्ठों में केशवत् असख्य नलिकायें होती हैं। इनमें ही शुक्र का निर्माण होता है। ये असख्य नलिकायें आगे चलकर परस्पर मिल जाती हे और लगभग २०-२५ बड़ी नलिकाओं का निर्माण करती है। ये नालियां बहुत मुडी रहती है, इस सामूहिक रचना को ही उपाण्ड (Epididymis) कहते है। इस उपाण्ड के शिखर में सब नलिकाओं के संयोग से एक बडी नलिका बन जाती है, इसे शुक्रप्रणाली (Vas deferens) कहते हैं। शुक्र इसके द्वारा शुक्राशय की ओर गमन करता है। शुक्रप्रणाली से निकलने वाले स्राव के द्वारा शुक्र कुछ तरल हो जाता है।

शुक्राशय—(Seminal veisicle)—ये दो छोटे कोष हैं जो मूत्राशय के पिछले भाग से लगे रहते है इनके अन्तः पार्श्व से शुक्रप्रणाली (Vas deferens) लगी रहती है। शुक्र प्रणाली का अन्त नोकीले सिरे से होता है और वह शुक्राशय से मिल जाती है। जहां शुक्रप्रणाली शुक्राशय से मिलती है वहीं से एक दूसरी नलिका का प्रारम्भ होता है। इसे शुक्रस्रोत (Ejaculatory duct) कहते हैं। शुक्रस्रोत पौरुषग्रन्थि (Prostate) में प्रवेश करके मूत्रमार्ग में खुल जाते है। इस मार्ग से गमन करते हुए शुक्र में शुक्राशय तथा पौरुष ग्रन्थि के भी स्राव मिश्रित हो जाते हैं जिससे शुक्र तरल हो जाना है और शुक्रकीट उसमें स्वतन्त्रतापूर्वक गति कर सकते है।

कामोत्तेजना के समय उक्त सभी अङ्ग अधिक क्रियाशील हो जाते है। उनमें स्राव अधिक उत्पन्न होने लगता है। मैथुन (गर्भाधान) ही इस स्राव का सदुपयोग है। यदि उत्तेजना होने पर भय अथवा अन्य कारणों से स्वस्थान से स्खलित शुक्र के वेग को रोक लिया जाय तो अवरोध के कारण वृषणग्रन्थि, शुक्रप्रणाली, शुक्राशय तथा पौरुष ग्रन्थि में सूजन एव पीडा होने लगती है। पौरुषग्रन्थि के सान्निध्य से गुदा में भी पीडा का अनुभव होता है। शुक्रस्राव के अवरोध के फलस्वरूप मूत्रकृच्छ्र भी हो जाता है। बार-बार इस प्रकार के अवरोध होने से प्रमेह की भी उत्पत्ति हो सकती है। अविवाहितों में प्रमेह होने का यह मुख्य हेतु है।

अन्न—'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः' अन्न ही प्राणियों का प्राण है। भूख लगने पर भोजन न मिलने से पाचकाग्नि धातुओं का परिपाक करने लगती है जिससे मनुष्य में दुर्बलता आ जाती है। रक्त की कमी से आँखों के आगे अन्धकार सा छा जाता है। विना परिश्रम के भी शरीर थका हुआ प्रतीत होता है। चरक इसका लक्षण निम्न प्रकार से करते हैं—

कार्श्यदौर्बल्यवैवर्ण्यमङ्गमर्दोऽरुचिर्भ्रमः। क्षुद्वेगनिग्रहात्…… ॥

श्वास—साधारण अवस्था में मनुष्य एक मिनट में चौदह से अठारह बार श्वास लेता है। इस अवस्था में हृदय भी अपना कार्य यथावत् करता रहता है। श्वास और हृदय की गति में १:४ का अनुपात रहता है अर्थात् जितनी देर में एक बार श्वास आता है हृदय उतनी ही देर में चार बार स्पन्दन करता है। हृदय और फुफ्फुस का यह क्रम स्वस्थावस्था पर्यन्त बना रहता है दौडने या अन्य इसी प्रकार का परिश्रम करने पर शरीर को अधिक रक्त एवं अधिक प्राण वायु (Oxygen) की आवश्यकता पडती है। अतः हृदय और फुफ्फुस की गति तीव्र हो जाती है इस अवस्था में मनुष्य हाँफने लगता है, इसको ही श्रम-श्वास कहते हैं। इस श्वास-वेग को बलात् रोकने का प्रयत्न करने से प्राण और उदान वायु प्रकुपित होकर हृदय के कपाटों तथा फुफ्फुस के रोगों को उत्पत्ति करते हैं। श्वासवेग के यकायक रुक जाने से कभी-कभी रोगी को मूर्च्छा भी आ जाती है।

निद्रा—निद्रा के कारणों का विवेचन मूर्च्छादिरोगों के साथ किया गया है। थके हुए नाडी तन्तुओं को विश्राम देने के लिए ही प्रधानतः निद्रा की उत्पत्ति होती है। उसके निरोध से वस्तुतः नाडीतन्तुओं से काम लेना थके घोडे को मार-मार कर दौडाने के समान ही है। अतः पूर्वोक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं।

रूक्षादिकुपितवातजमुदावर्तं निरूपयति—

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षकषायकटुतिक्तकैः।
भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्तं करोति हि ॥ १३ ॥
वातमूत्रपुरीषासृक्कफमेदोवहानि वै।
स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥ १४ ॥
ततो हृद्बस्तिशूलार्तो हृल्लासारतिपीडितः।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः ॥ १५ ॥
श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहतृपाज्वरान्।
वमिहिक्काशिरोरोगमनःश्रवणविभ्रमान्।
बहूनन्यांश्च लभते विकारान् वातकोपजान् ॥ १६ ॥ (सु. उ. ५५)

कोष्ठस्थित वायु रूक्ष, कषाय, कटु तथा तिक्त रस युक्त भोजनों से प्रकुपित हो कर उदावर्त्त को उत्पन्न करता है। इससे वात (अपान), मूत्र, रक्त, कफ तथा मेद का वहन करने वाले स्रोतों की गति प्रतिलोम हो जाती है। मल सूख जाता है। इससे रोगी के हृदय प्रदेश, एवं बस्ति प्रदेश में तीव्र पीडा तथा मिचली और अरुचि हो जाती है। इससे अपानवायु, मूत्र तथा मल का त्याग कठिनता से होता है। श्वास, कास, प्रतिश्याय, दाह, मोह, प्यास, ज्वर, वमन, हिचकी, सिर के रोग, मनोविभ्रम, श्रवणविभ्रम (कानों में भनं-भन शब्द की प्रतीति आदि) तथा वातप्रकोपजन्य अन्य अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं॥ १३-१६॥

वेगनिरोधजानुदावर्तानभिधाय रूक्षादिकुपितवातजमाह—वायुरित्यादि। उदावर्तय-स्यावृणोति। अतिवर्तयेच्छोषयेत् कृच्छ्रेण लभत इति कृष्टेन प्रवर्तयति। अत्र केचित् सुश्रुतोक्तमसाध्यलक्षणं पठन्ति-'तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरुपद्रुतम्। शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत्' (सु. उ. अ. ५५) इति॥ १३-१६॥

विमर्श—पूर्वोक्त 'वेगधारण' जनित वाताद्युदावर्त के अतिरिक्त अति रूक्ष कषाय, कटु, तिक्त आदि द्रव्यों के सेवन से भी कोष्ठ में रूक्षता एवं विष्टब्धता उत्पन्न होकर जीर्ण विबन्ध आदि विकारों की उत्पत्ति होती है और परिणाम स्वरूप वायु और भी कुपित होकर उदावर्त को उत्पन्न करता है। अर्थात् इस अवस्था का जनक वेगविधारण न होकर स्वाभाविक वेगविघात होता है और यह अवस्था प्रायः आनाह, वातोदर आदि विकारपूर्वक उत्पन्न होती है।

आनाहरोगं वर्णयति—

आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति॥ १७॥

जिस अवस्था में आम अथवा पुरीष आमाशय अथवा पक्वाशय मे क्रमशः सचित होता रहे एवं विगुण वात से और भी अवरुद्ध होकर अपने यथोचित मार्ग से न निकले इस विकार को आनाह कहते हैं॥ १७॥

आमजं पुरीषजञ्चानाहं व्याचष्टे—

तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च॥ १८॥
स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः।
श्वासश्च पक्वाशयजे भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि॥ १९॥
(सु. उ. ५६)

आमजन्य या आमाशयगत आनाह में प्यास, प्रतिश्याय, शिर में जलन, आमाशय में शूल तथा भारीपन, हृदय का जकडा हुआ रहना एवं डकार का न आना ये लक्षण होते हैं।

पुरीषज या पक्वाशयज आनाह में कटि और पृष्ठ अकड़ जाते हैं, मल तथा मूत्र बन्द हो जाते हैं, कटि और पृष्ठ में शूल होता है, रोगी मूर्च्छित हो जाता है और कभी-कभी पुरीष का वमन भी होता है। श्वास तथा अलसक रोग के लक्षण भी इसमें होते हैं॥ १८-१९॥

उदावर्तिनोऽसाध्यलक्षणमाह—

तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरभिद्रुतम्।
शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत्॥ २०॥ (सु. उ. ५५)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उदावर्तानाहनिदानं समाप्तम्॥ २७॥

भयङ्कर तृषा से पीडित, अधिक बेचैन, क्षीण, तीव्र शूल से युक्त और मल का वमन करने वाला उदावर्त का रोगी असाध्य होता है॥ २०॥

इदानीं विगुणानिलजत्वेन समानचिकित्स्यत्वेनानाहमाह—आममित्यादि। नेति पूर्वेण संबध्यते। छर्दिरित्येक एव छकारश्छन्दोऽनुरोधात्। स्तम्भशब्दः कट्यादेः स्तब्धतावाची, मूत्रपुरीषयोश्चाप्रवृत्तिवाची। अलसोक्तानीति आध्मानवातनिरोधादीनि॥ १७-२०॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुदावर्तानाहनिदानं समाप्तम्॥ २७॥

विमर्श—आङ् उपसर्गपूर्वक णह् बन्धने धातु से आनाह शब्द की सिद्धि होती है। इस प्रकार **'आ समन्तात् नह्यते बध्यते अवरुध्यते वा मलस्य वायोश्च मार्गो यस्मिन् रोगे स आनाहः'** अर्थात् जिस रोग में ऊर्ध्व और अधः उभयमार्ग से मल एवं वायु की प्रवृत्ति न हो, उदर में गुड-गुड शब्द भी न हो, उसे आनाह कहते हैं। इस अवस्था में पूर्णतया अवरोध रहता है। मल का निस्सरण सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। वायु का निर्गमन अपान वायु या डकार किसी भी रूप में नहीं होता। आध्मान में भी यद्यपि यही अवस्था होती है तथापि वह बिना मलसञ्चय के भी हो सकता है जब कि इसमें मलसचय होना अनिवार्य है। आध्मान में गुड गुड शब्द भी होता है।

मल का सञ्चय आमाशय एवं पक्वाशय दोनों में ही हो सकता है। आमाशय में आमरस ही मल है और पक्वाशय में पुरीष। इसके अनुसार आनाह भी आमजन्य एवं पुरीषजन्य दो प्रकार का होता है।

आमरस का स्थान आमाशय है अतः आमजन्य आनाह के लक्षण प्रधानतया आमाशय में ही प्रकट होते हैं। आधुनिक दृष्ट्या इसे Pyloric obstruction कह सकते हैं। पक्वाशय पुरीष का स्थान है अतः पुरीषज के लक्षण पक्वाशय में विशेष रूप से व्यक्त होते हैं। उग्रस्वरूप के पुरीषज आनाह में प्रायः आन्त्रावरोध (Intestinal obstruction) के कारण पुरीषोदावर्त के समान लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं अतः पुरीष या पुरीषसम वमन भी हो सकता है।

वस्तुतः यह 'तृष्णार्दिनम्' आदि असाध्य लक्षण पुरीषोदावर्त के ही हैं और आन्त्रावरोध भी हो गया है इसके निदर्शक हैं। रोग की अत्युग्रावस्था में ही यह लक्षण उत्पन्न होते हैं। उस समय रोगी शस्त्रचिकित्सा के लिए भी प्रायः अयोग्य हो गया रहता है। शस्त्रचिकित्सा से भी कदाचित् ही कोई रोगी बच पाता है।

समाप्तं चेदमुदावर्तानाहनिदानम् ।



अथ गुल्मनिदानम्

गुल्मस्य सम्प्राप्तिं तद्भेदांश्च निरूपयति—

दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः ।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ।
तस्य पञ्चविधं स्थानं पार्श्वहृन्नाभिवस्तयः ॥ १ ॥

मिथ्या आहार-विहार से प्रकुपित हुए वात आदि दोष कोष्ठ के अन्दर ग्रन्थि के समान पाँच प्रकार के गुल्म को उत्पन्न करते हैं। गुल्म दोनों पार्श्व, हृदय, नाभि तथा बस्ति इन पाँच स्थानों में होता है ॥ १ ॥

गुल्मेऽप्यानाहो भवतीत्यानाहानन्तरं गुल्ममाह—दुष्टा इत्यादि। पञ्चधेति। वातपित्तकफसन्निपातरक्तजाः। द्वन्द्वजास्तु प्रकृतिसमवेतत्वाच्च पृथग्गण्यन्ते, अर्शोरोगवत्। कोष्ठान्तरामाशयादिमध्ये, ग्रन्थिरूपिणं गुडकाकारम्। तस्येत्यादि। एतदेव विवृणोति—पार्श्वेत्यादि। पार्श्वे द्वे गणनीये, अन्यथा पञ्चत्वानुपपत्तिः' अत एव 'पार्श्वे' इति द्विवचनान्तमेव क्वचित् पठ्यते ॥ १ ॥

गुल्मसामान्यस्य लक्षणमाह—

हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः ।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः ॥२॥ (सु. उ. ४२)

हृदय और नाभि के बीच में चल या अचल, कभी घटने और कभी बढनेवाली गोल ग्रन्थि को गुल्म कहते है ॥ २ ॥

सामान्यगुल्मरूपमाह—हृदित्यादि । नाभिशब्देन वस्तिर्बोध्यः सामीप्यात्; यथा गङ्गायां घोष इत्याहुः, वस्तेरपि गुल्माश्रयत्वेनोक्तत्वात् । अत एव 'हृद्वस्त्योरन्तरे, इति पाठान्तरम् । अन्ये त्वाहुः—बस्तौ विद्रधिरेव स्यान्न तु गुल्म इति । तन्न, वस्तेरपि गुल्मस्थानत्वात्; तथा च चरके—'पञ्च स्थानानि गुल्मस्य पार्श्वहृन्नाभिवस्तयः' इति । एतत् पञ्चस्थानकथनं दोषजाभिप्रायेण, रक्तजस्य तु गर्भाशयः स्थानम्, अथवा पार्श्वस्थितत्वाद्गर्भाशयस्य पार्श्वग्रहणेनैव ग्रहणम् । वृत्तो वर्तुलः । चयापचयवानिति कदाचिदुपचीयते, कदाचिदपचीयते; एतच्च सामान्योक्तमपि वातिके व्यवतिष्ठते, तल्लक्षणे तदभिधानादिति जेज्जटः; गयदासस्तु (इति) सामान्यलक्षणमाह, सर्वगुल्मानां वातमूलत्वात् । 'चयोपचयवान्' इति पाठान्तरे दोषस्य चयेनोपचयवानिति वृद्धिमानित्यर्थः गुल्म इति लतादिपिहितसंस्थानविशेषादौ गुल्मव्यपदेशो लोके, तत्सादृश्यात् संचितपरिपिण्डतदोषेऽपि गुल्मसंज्ञेत्याहुः, वाप्यचन्द्रस्त्वाह—संपिण्डितदोषो गुडकेन मीयत इति निरुक्तिः ॥ २ ॥

विमर्श—गुल्म का अर्थ गुच्छा या गोलाकार पदार्थ होता है । उदरगत महास्रोत के भीतर वायु (भोजन के विपरिणाम में उत्पन्न वायवीय पदार्थ Gasses) पित्त (विभिन्न अम्ल या क्षारप्रधान पाचक रस एवं विदग्ध अन्न) और कफ (आम अथवा अन्य पिच्छिल एव सान्द्र पदार्थ Mucous आदि) का अनुचित रूप् से किसी स्थान पर सञ्चित होकर एक गोले के आकार में प्रतीत होना ही गुल्म है ।

सभी गुल्मों में वायु की विशेषता रहती है । पूर्वोक्त सञ्चित पदार्थों के कारण वायु क्षुभित होकर आन्त्र की स्वाभाविक गति मे अनियतता उत्पन्न कर देता है तथा सञ्चयस्थान के पास सङ्कोच उत्पन्न कर उस विशिष्ट पदार्थ को और भी अधिक मात्रा में सञ्चित होने में सहायक होता है । कभी कभी भाराधिक्य अथवा स्वेदनादि उपचार से सकोच निवृत्त होने पर वे सञ्चित पदार्थ मलादिमार्ग से बाहर निकल जाते हैं और लक्षण शांत हो जाते हैं । किन्तु कभी-कभी वे केवल स्थानान्तरित होकर नवीन स्थान में पूर्ववर्णित प्रक्रियानुसार पुनः लक्षण उत्पन्न करते हैं । कभी कभी वातप्रकृति के प्राणियों (Neurotics) में या किसी विशिष्ट आहार-विहारजनित सार्वदैहिक वात-प्रकोप होने तथा कोष्ठ में उसका विशेष प्रभाव होने पर भी आन्त्र की नियमित गति में बाधा उत्पन्न होकर पूर्वोक्त पदार्थों का सचय होता है तथा गोले की उत्पत्ति, शूल, दाह आदि स्थानीय लक्षण उत्पन्न होते है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रत्येक गुल्म में वायु की प्रधानता होती है । गुल्म का वास्तविक स्थान उदर है, इसलिए इसको औदरिक अर्बुद (Abdominal tumour) भी कहते हैं । किन्तु आचार्यों ने अर्बुद का वर्णन इससे पृथक् भी किया है, और वह इससे भिन्न है । अर्बुद मांस, अस्थि आदि धातुओं में होता और वह चल कदापि नही होता । किन्तु गुल्म सदा कोष्ठ में ही होता है और वह प्रायः चल होता है । गुल्म के पार्श्व आदि जिन स्थानों का निर्देश किया गया है वे सब उदर के विभिन्न भागों (Regions) के ही सूचक है । हृदय से उदर के हृत्समीपस्थ भाग का ग्रहण होता है । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये । बस्ति समीपस्थ

उदर का भाग तथा स्वयं बस्ति भी गुल्म का अधिष्ठान है। सुश्रुत के 'हृन्नाभ्योरन्तरे' आदि वचन से तो स्पष्ट है कि गुल्म का प्रधान अधिष्ठान उदर ही है। इसके अतिरिक्त आगे कहे जाने वाले पूर्वरूप एवं सामान्यरूप के लक्षणों से भी स्पष्ट है कि उदर ही गुल्म का स्थान है। पुरुषों में ये पाँच ही गुल्म के स्थान है किन्तु स्त्रियों का गर्भाशय भी गुल्म का अधिष्ठान है इसका ग्रहण सामीप्य के कारण बस्ति से ही हो जाता है। कतिपय विद्वानों का कथन है कि वस्ति में विद्रधि ही होती है गुल्म नहीं किन्तु वह ठीक नही, क्योंकि चरक ने बस्ति को गुल्म का भी अधिष्ठान कहा है—'पञ्च स्थानानि गुल्मस्य पार्श्वहृन्नाभिवस्तयः' (च. चि. ५)।

प्राचीन आचार्यों ने उदर के ऊर्ध्व, मध्य, अधः और दो पार्श्व यह पाँच विभाग कर उनकी क्रमशः हृदय, नाभि, बस्ति और पार्श्व (दक्षिण और वाम) संज्ञा स्थिर कर दिया है। किन्तु आधुनिक विद्वान् उदर मध्य मे ऊर्ध्व, मध्य और अधः भागों को अधिजठर (Epigastrium), नाभि (Umblical region) और उपजठर (Hypogastrium) और दोनों पार्श्वों मे ऊर्ध्व, मध्य और अधोभाग को क्रमशः (दक्षिण और वाम) अनुपार्श्विक (Hypochondrium), कटि (Lumber) और वंक्षणीय (Iliac) प्रदेशों के नाम से नव भागों मे विभक्त करते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण उदर गुल्म का स्थान है। चय और अपचय लक्षण को जैज्जट वातिक गुल्म का ही लक्षण मानते है, किन्तु गयदासजी सभी गुल्मों में वात की प्रधानता को दृष्टिगत रखते हुए इसे गुल्मसामान्य का लक्षण स्वीकार करते है।

गुल्मभेदान् व्याचष्टे—

स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः।
पुरुषाणां तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः॥ ३॥ (सु. उ. ४२)

वात, पित्त, कफ, सन्निपात तथा रक्त इन पाँच कारणों से पाँच प्रकार के गुल्म होते हैं। इनमें प्रथम चार स्त्री और पुरुष दोनों में होते हैं किन्तु रक्तज गुल्म केवल स्त्रियों में ही होता है॥ ३॥

पूर्वोक्तं पञ्चविधत्वं विवृणोति—स इत्यादि। व्यस्तैरित्यनेनैकजो द्वन्द्वजोऽपि ग्राह्यः। पञ्चधा गुल्म इत्यनेन विरोध इति चेत् न, न हि 'तत्रावधारणं कृतं, पञ्चधैवेति। अत एव सूत्रस्थाने चरकेण 'पञ्च गुल्माः (च. सू. अ. १९) इत्यभिधायापि 'संसृष्टलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्' (च. चि. अ. ५) इत्युक्तं, समानचिकित्स्यत्वेन तत्रान्तर्भावात्। रक्तेन चापर इति स्त्रीणामेव। वक्ष्यति हि–'स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मः' (च. चि. अ ५) इति। रक्तं चात्रार्तवं न धातुरूपं, धातुरूपरक्तजस्तु गुल्मो यद्यप्यन्योऽस्ति तथाऽपि नैतत्सम्प्राप्तिको भवतीति न पृथगुपदिश्यते। पृथग्ज्ञानानभिधानं तु पित्तगुल्मसमाननिदानचिकित्स्यत्वेन तत्रान्तर्भावात्, सुश्रुते रक्तातीसारवत्। विशेषलक्षणं च यदाह चरकः— 'तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवैः। गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत्' (च. चि. अ. ५) इति। धातुरूपरक्तजः स्त्रीणां पुंसां च भवतीति भट्टारहरिश्चन्द्रः। तथा च क्षारपाणिः—'स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते। अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते'। इति। वाप्यचन्द्रस्त्वाह—वातादिदोषजस्यैवापचाराद्रक्तं दुष्टं रक्तजव्यपदेशः, यथा चरके कफपित्तमेहानामतिकर्षणादुत्तरकालं वातसंसर्गे सति वातमेहत्वमुक्तम्। यदुक्तं—'या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा।

वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितेषु कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता (च. चि. अ. ६)" इति। क्षारपाणेरप्येवमेवाभिप्रायः। यदि तु पृथक् स्यात्तदा तमपि नवमं लिङ्गस्थानादिभिरभिधास्यत्, न चोक्तः। जेज्जटगयदासाभ्यां तु हरिश्चन्द्रमतमेवानुमतमिति। सर्वगुल्मेषु वातकारणत्वं ज्ञेयम्। यदुक्तं चरके—'गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या। मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्।' (च. चि. अ. ५) इति सुश्रुतेऽप्युक्तं—'कुपितानिलमूलत्वात्संचितत्वान्मलस्य च। तुल्यत्वाद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते'–(सु. उ. अ. ४२) इति। न चैतावता नानात्मजत्वप्रसङ्गः; वातस्यानुबन्धरूपत्वात्, ज्वरे पित्तवत्। ननु वाताव्यभिचाराद् द्विदोषजस्त्रिदोषजो वा गुल्मः स्यान्न केवलं कफजः पित्तजो वेति, ततश्च पञ्चधेति विरोधः। नैतत्, अनुबन्धरूपेण वातजव्यपदेशो, न त्वनुबन्ध्यरूपेणेति ॥ ३ ॥

विमर्श—चरक ने '**पञ्चगुल्माः**, ऐसा कहने के उपरान्त **संसृष्टलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्**' के द्वारा तीन द्वन्द्वज गुल्मों का भी निर्देश किया है। किन्तु प्रकृति-समसमवायजन्य एवं चिकित्सा में विशेष अन्तर न होने के कारण उनका पृथक् पाठ किसी ने भी नहीं किया। रक्तज गुल्म स्त्रियों को ही होता है, यह '**स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मः**' चरक के इस वाक्य से स्पष्ट है। रक्त से यहाँ आर्तव का ही ग्रहण किया जाना है धातुरूप रक्त का नहीं। धातुरूप रक्तज गुल्म भी यद्यपि होता है किन्तु उसकी सम्प्राप्ति इससे भिन्न होती है और निदान और चिकित्सा में समान होने से उसका अन्तर्भाव पित्तजगुल्म में ही हो जाता है। चरक ने इसका वहीं निर्देश भी किया है—

'तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवैः। गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥

धातुरूप रक्तजगुल्म स्त्री और पुरुष दोनों में ही होता है। क्षारपाणि ने भी कहा है—

स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते। अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते।

वाप्यचन्द्र जी का कथन है कि वातिक आदि गुल्मों में अपथ्य सेवन करने से रक्त के दुष्ट हो जाने पर उसको ही रक्तज कहते है, अतएव चरक में वास्तव मे सात दोषज और एक रक्तज इन आठ गुल्मों का ही वर्णन किया गया है। यदि धातुरूप रक्तज गुल्म भी चरक को स्वीकार होता तो अवश्य नवम गुल्म की भी सत्ता स्वीकार किया होता।

सभी गुल्मों में वात की कारणता अवश्य रहती है; क्योंकि चरक ने भी कहा है—

गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या।
मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात् ॥

सुश्रुत ने भी सब गुल्मों में वायु को ही मूल माना है—

कुपितानिलमूलत्वात् संचितत्वान्मलस्य च। तुल्यत्वाद्वा विशालत्वाद् गुल्म इत्यभिधीयते ॥

उक्त वचनों के आधार पर इसे केवल वातज (वातनानात्मज) भी नहीं कह सकते, क्योंकि सभी ज्वरों में पित्त के समान गुल्मों मे वात भी अनुबन्ध रूप से ही रहता है। इस प्रकार सभी गुल्मों में वात के नियमित रूप में रहने से सभी को द्वन्द्वज भी न समझना चाहिए क्योंकि सर्वत्र वायु अनुबन्ध रूप में ही रहता है अनुबन्ध्य रूप में नहीं।

---

१. 'तच्च नोक्तम्' इति पा०।

गुल्मस्य पूर्वरूपं विवेचयति—

उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि ।
आटोप आध्मानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥४॥

(वा. नि. ११)

डकारों का अधिक आना, कोष्ठबद्धता, भोजन में अरुचि, शक्ति का ह्रास, आंतों में गुडगुड़, पेट में पीडा एवं क्षोभ, पेट का फूलना तथा पाचनशक्ति का ह्रास ये गुल्म के पूर्वरूप हैं ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमाह—उद्गारेत्यादि । पुरीषबन्धो विड्बन्धः । तृप्तिरनन्नाभिलाषः । सुश्रुतेऽपि हि–'द्वेषोऽन्ने' (सु. उ. अ. ४२) इति पठितम् । अक्षमत्वमसामर्थ्यम् । आटोपोऽत्र रुजापूर्वकः क्षोभः, तनतनं वा; नतु गुडगुडाशब्दः, तस्यान्त्रकूजनेनैव गृहीतत्वात्; नाप्याध्मानं, तस्योपात्तत्वात् । अपक्तिशक्तिर्मन्दाग्निता; 'अपक्तृशक्तिः' इति पाठे स एवार्थः ॥ ४ ॥

गुल्मस्य साधारणं रूपमाह—

अरुचिः कृच्छ्रविण्मूत्रवातताऽन्त्रविकूजनम् ।
आनाहश्चोर्ध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥ ५ ॥

भोजन में अरुचि, मल, मूत्र तथा अपानवायु के निकलने मे कठिनता, आंतों में गुड़गुड़ाहट, आनाह तथा ऊर्ध्ववात (डकारों की अधिकता) ये लक्षण सभी गुल्मों में सामान्य रूप में पाये जाते हैं ॥ ५ ॥

गुल्मसाधारणरूपमाह—अरुचिरित्यादि ॥ ५ ॥

विमर्श—पूर्वरूप और रूप के उक्त लक्षणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुल्म प्रायः आन्त्र के ही आश्रित होते हैं; क्योंकि इन सभी लक्षणों का सम्बन्ध आन्त्र से ही है । इसके अतिरिक्त सब में वातमूलता भी स्पष्ट प्रतिभासित हो रही है ।

वातिकगुल्मस्य निदानपूर्वकं लक्षणान्याह—

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च ।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ६ ॥
यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम् ।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥ ७ ॥
करोति जीर्णे त्वधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च ।
वातात्स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥ ८ ॥

(च. चि. ५)

रूक्ष, विषम और अत्यधिक भोज्य एवं पेय, विरुद्धचेष्टा (बलवानों से युद्ध करना तथा नम्नोन्नत स्थान से कूदना आदि), वात, मूत्र आदि के वेगों को रोकना, अत्यधिक शोक, चोट, विरेचन आदि कर्मों से मल का अत्यधिक क्षय हो जाना तथा आहार का परित्याग ये सब वातिक गुल्म के हेतु हैं ।

वातिक गुल्म मे स्थान, संस्थान तथा रुजा का विकल्प होना है । (तात्पर्य यह कि गुल्म कभी नाभिप्रदेश में, कभी पार्श्व मे और कभी अन्यत्र प्रतीत होता है । इसे स्थानविकल्प कहते है ।

गुल्म की आकृति कभी गोल, कभी लम्बी, कभी छोटी और कभी बडी प्रतीत होती है, इसे संस्थान-विकल्प या आकृति विकल्प कहते है। पीडा भी कभी कम, कभी अधिक, कभी तोद रूप और कभी भेदन रूप की होती है, यह रुजाविकल्प है।) मल और वायु का अवरोध हो जाता है, कण्ठ और मुख सूख जाते है, शरीर का वर्ण सांवला या अरुण हो जाता है, शीत ज्वर रहता है, हृदय, कुक्षि (उदर पार्श्व), पार्श्व (वक्षः पार्श्व), कन्धों तथा सिर मे पीडा रहती है। भोजन का परिपाक हो जाने पर उक्त लक्षणों का प्रकोप और भोजन करने के तुरन्त बाद लक्षणों का शमन हो जाता है। वातिक गुल्म में रूक्ष, कषाय, कडवे तथा चरपरे पदार्थ अनुकूल नहीं पडते ॥ ६-८ ॥

वातिकमाह—रूक्षेत्यादि। विषमातिमात्रमित्यन्नपानविशेषणम्। विचेष्टनं विरुद्धचेष्टाः बलवद्विग्रहादि। अतिमलक्षयो विरेकादिना। निरन्नता निराहारता। विकल्पशब्दः स्थानादिभिः प्रत्येकं योज्यः। स्थानविकल्पो यथा-कदाचिन्नाभौ, कदाचित्पार्श्वयोः, कदाचिद्वस्ताविव्यादिस्थानान्तरगमनम्। संस्थानविकल्पो यथा-कदाचिदल्पः, कदाचिन्महान्, वृत्तो, दीर्घो वेति। रुजाविकल्पो यथा-कदाचिदल्पा, कदाचिन्महती, तोदरूपा, भेदरूपा, अनेकरूपा वेति। न च तत्रोपशेते न सुखयति ॥ ६-८ ॥

विमर्श—आधुनिक दृष्टि से इसको मिथ्या अर्बुद (False or Phantaom tumour) कह सकते है। यह उदरदण्डिकापेशी (Rectus abdominis muscle) एवं आन्त्र के अनियमित एवं अनैच्छिक संकोचों का परिणाम है। सार्वदेहिक संज्ञाहर औषधियों (General anaesthetics) के प्रयोग से अथवा स्वयं ही उदरदण्डिकापेशियों का संकोच निवृत्त हो जाने पर लुप्त भी हो जाता है। उस अर्बुद का कोई स्थान भी निश्चित नहीं होना।

पैत्तिकं गुल्मं निरूपयति—

कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा ।
आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥ ९ ॥
ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च ।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥१०॥
(च. चि. ५)

चरपरे, खट्टे, तीक्ष्ण, उष्ण, विदाही तथा रूक्ष पदार्थों का सेवन करना, अत्यधिक क्रोध, अतिमद्यपान, सूर्य तथा अग्नि के सम्पर्क में अधिक रहना, विदग्धाजीर्ण-जनित दुष्ट रस (आमरस) का प्रकोप तथा दुष्ट रक्त या पूर्वोक्त आमदोष और चोट लगने से रक्तदुष्टि होना ये पैत्तिक गुल्म के कारण है।

पैत्तिक गुल्म मे ज्वर, प्यास, मुख और शरीर का लाल होना, भोजन के परिपाककाल मे तीव्र उदर शूल, पसीना तथा विदाह होता है। गुल्म में व्रण के समान स्पर्शासहता (Tenderness) रहता है ॥ ९-१० ॥

पैत्तिकमाह—कट्वित्यादि। आमाभिघात इति। विदग्धाजीर्णजनितदुष्टरसेनाभिभवः; अन्ये तु—'आमाभिघातौ' इति पठन्ति, तत्राम उक्तरूपः; अभिघातो लगुडादे रक्तदूषको ज्ञेयः। जीर्यतीति सहम्यन्तम्। व्रणवत् स्पर्शासह इति योज्यम् ॥ ९-१० ॥

विमर्श—इस अवस्था मे दोषों का धातु से सम्पर्क हो जाने के कारण गुल्म भी विद्रधि का रूप धारण कर लेता है। इसी लिये इसमें ज्वर, विदाह तथा स्पर्शासहता जैसे विद्रधि के लक्षण

होते हैं । इस प्रकार पैत्तिक गुल्म औदरिक विद्रधि (Abdominal abcess) का रूप धारण कर सकता है । अर्थात् पैत्तिक गुल्म के कारणभूत अम्ल, उष्ण, विदाही आदि पदार्थ एवं पित्त चिरकाल सम्पर्क से आन्त्र कला में क्षोभ एव व्रणोत्पत्ति भी कर सकते हैं और मांस-शोणित-दुष्टि से उस क्षत में तथा समीपस्थ भागों मे व्रणशोथ या विद्रधि के लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं । इसीलिए चरक ने सुस्पष्टरूप में आम, पच्यमान, पक्व और पक्वभिन्न इन चार अवस्थाओं का उल्लेख पैत्तिक गुल्म में किया है एवं उसकी चिकित्सा भी प्रायः अन्तर्विद्रधि के समान ही वर्णित है ।

श्लैष्मिकं गुल्मं व्याचष्टे—

शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनं च संपूरणं प्रस्वपनं दिवा च ।
गुल्मस्य हेतुः कफसंभवस्य सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥ ११ ॥
स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि । (च. चि. ५)
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥ १२ ॥

अतिशीत, गुरु तथा स्निग्ध पदार्थों का सेवन, व्यायाम न करना, अत्यधिक भोजन करना तथा दिन में सोना ये कफज गुल्म के कारण है । तथा वात आदि तीनों गुल्मों के मिश्रित उत्पादक कारण सान्निपातिक गुल्म को उत्पन्न करते है । कफज गुल्म मे शरीर गीला सा रहता है, शीतज्वर, अंगों में शिथिलता, मिचली, खासी, अरुचि तथा शरीर में भारीपन रहता है; रोगी को सर्दी अनुभव होती है, पीडा कम रहती है, गुल्म कठोर एवं अधिक उभरा हुआ रहता है ॥ ११-१२ ॥

श्लैष्मिकमाह—शीतमित्यादि । संपूरणं तृप्तिभोजनम् । सर्व इति । वातजाद्युक्तः । निचयात्मकस्य सन्निपातजस्य । कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य ॥ ११-१२ ॥

विमर्श—कफ गुल्म में सचित पदार्थ चिरकाल तक एक स्थान पर रुकने से अधिक सान्द्र या कठोर तथा समीपस्थ अवयव से संसक्त होकर ग्रन्थि या अर्बुद का रूप ग्रहण कर सकते है और उस अवस्था में विम्लापन, अग्नि कर्म आदि द्वारा चिकित्सा करने का आदेश चरक ने किया है ।

द्वन्द्वजगुल्मानाह—

निमित्तरूपाण्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च । (च. चि. ५)
व्यामिश्रलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥ १३ ॥

द्विदोषज गुल्म में कारण, लक्षण तथा दोषों का बलाबल देखकर संसृष्ट लक्षण वाले अतिरिक्त तीन गुल्मों का भी विचार औषध योजना की दृष्टि से करना चाहिये ॥ १३ ॥

द्व्यात्मकेषु त्रिष्वेकजहेतुलक्षणातिदेशार्थमाह-निमित्तेत्यादि । निमित्तानि च रूपाणि चेति द्वन्द्वः । दोषबलाबलं चेत्यनेन समद्विदोषद्वन्द्वजत्रयेणैकोल्वणादिद्विदोषजोऽपि ग्राह्य इति दर्शयति, अन्यथा बहुत्वापत्तेः । औषधकल्पनार्थमित्येकदोषजाभिहितचिकित्सा-मेलकेन तांश्चिकित्सेदित्यर्थः ॥ १३ ॥

विमर्श—यद्यपि प्रकृतिसमसमवायारब्ध होने से द्विदोषज गुल्मों का प्रतिज्ञा काल मे परि-गणन नहीं किया गया है तथापि चिकित्सा-वैशिष्ट्य का निर्देश करने के ध्येय से चरक ने आगे चलकर द्विदोषज गुल्मों का भी पाठ कर दिया है ।

सान्निपातिकं गुल्मं वर्णयति—

महारुजं दाहपरीतमश्मवद्घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम् । (च. चि. ५)
मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥ १४ ॥

सान्निपातज गुल्म में पीडा और दाह अत्यधिक होती है, गुल्म पत्थर के समान कठोर एवं उभरा हुआ होता है। इसमें पाक शीघ्र और भयंकर स्वरूप का होता है, इससे मन, शरीर, पाचकाग्नि तथा बल का ह्रास हो जाता है। यह गुल्म असाध्य होता है ॥ १४ ॥

सान्निपातिकमाह—महारुजमित्यादि। अश्मवद्घनोन्नतं पाषाणवत् कठिनमुन्नतं च। मन इत्यादि। मनोऽपहारिणं मनोवैकल्यकारिणं शरीरापहारिणं कृशत्ववैवर्ण्यकरम्, अग्न्यपहारिणमग्निवैषम्यकरं, बलापहारिणमसामर्थ्यकरम्। ननु, असाध्यमिति विरुद्धं, 'सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः' (सु. उ. अ, ४२) इति सुश्रुतवचनात्। नैवम् अयं च विकृतिविषमसमवेतोऽसाध्यः, प्रकृतिसमसमवेतस्तु साध्य इत्याहुः। ननु, सोऽप्यसाध्यः, यदाह सुश्रुतः—'सर्वात्मके सर्वरुजोपपत्तिस्तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः' (सु. उ. अ. ४२) इति। उच्यते, तं चापीत्यपिशब्दादचिरोत्थितः साध्यो विश्वामित्रसंवादादिति गयदासः ॥ १४ ॥

विमर्श—सुश्रुत ने भी इसे असाध्य माना है—'सर्वात्मकः सर्वविकारयुक्तः सोऽसाध्य उक्तः'। त्रिदोषज गुल्म भी दो प्रकार का होता है। उनमें प्रकृतिसमसमवेत त्रिदोषारब्ध साध्य होता है उसी की चिकित्सा के लिये सुश्रुत ने कहा है—'सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः'। किन्तु विकृतिविषमसमवेत सदा असाध्य ही होता है।

रक्तगुल्मं व्याचष्टे—

नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा ।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम् ।
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणं चाप्यपरं निबोध ॥ १५ ॥
(सु. उ. ४२)

यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः ।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥१६॥
(च. चि. अ. ५)

नवीन प्रसव होने पर, गर्भस्राव या पात होने पर अथवा आर्तव-प्रवृत्तिकाल में जो स्त्री मिथ्या आहार-विहार का सेवन करती है उसका गर्भाशयगत प्रकुपित वायु रक्त को अवरुद्ध कर पीड़ा और दाह से युक्त गुल्म को उत्पन्न कर देता है। इसके लक्षण पैत्तिक गुल्म के समान होते हैं। इसके अतिरिक्त उसके निम्न लक्षण विशेष होते हैं।

जिस गुल्म में गर्भ के समान सभी लक्षण होते हैं किन्तु केवल एकपिण्डरूप में स्पन्दन करता है-उसमें हाथ-पैर आदि अंगों का स्पन्दन नहीं होता है तथा देर देर से और पीडायुक्त स्पन्दन

होता है उसे रक्तगुल्म कहते हैं। यह स्त्रियों में ही होता है। दसवां महीना बीतने पर ही इसकी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १५-१६ ॥

रक्तगुल्ममाह–नवेत्यादि। आमगर्भं विसृजेदिति। नवममासादर्वाक् प्रसूतेः, ऋतावार्तवप्रवृत्तिकाले, अहितभोजनेति संबंधः। एतच्चोपलक्षणार्थं, तेनाहाराचारादिकं ज्ञेयम्। यदाह चरकः—'ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविधारणैश्च। संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति' (च. चि. अ. ५) इति। पैत्तस्य पैत्तिकगुल्मस्य। विशेषणं पैत्तिकगुल्माद्विशेषलक्षणम्। पिण्डितः समुदितः एवकारोऽत्रावधारणे। एतदेव स्फुटयति–नाङ्गैर्नावयवैश्चिरात् स्पन्दत इति सम्बन्धः। समगर्भलिङ्ग इति। आर्तवादर्शनमुखस्रवणस्तनमुखकृष्णत्वदोहदादिगर्भलक्षणयुक्तः, एतच्च व्याधिप्रभावात्; यथा-क्षयार्शसोः क्षीरिरंसाकृष्णत्वङ्नखादयः। अन्ये तु समगर्भलिङ्गोऽविकृतगर्भलिङ्ग इत्याहुः। उक्तविशेषणैरेव स्त्रीभवत्वे लब्धे स्त्रीग्रहणेन कुमारीमतिवृद्धां च निषेधयति, अनुद्भूतक्षीणरजस्कत्वात्तयोः। व्यतीतेऽतिक्रान्ते। गर्भसमानलिङ्गत्वेन संशयः–गर्भो वा, रक्तगुल्मो वा इति; तच्छङ्कानिरासार्थं दशमे मासे व्यतीते इत्युक्तं; नवमदशमयोः प्रसवकालत्वादित्येके। तन्न, 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः' इत्यादिनैव विशेषदर्शनेन संशयस्य निवर्तितत्वात्। गर्भो हि निरन्तरं प्रत्यङ्गैर्निःशूलं स्पन्दते, गुल्मस्त्वेतद्विपरीतेन। किंच नवमे दशमे प्रसूत इत्युत्सर्गः, नतु नियमः, तदधिककालेऽपि प्रसवदर्शनात्, आगमाच्च। उक्तं हि चरके–'तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्' (च. शा. अ. २) इति; तस्मान्नेदं दशममासव्यतिक्रमे चिकित्साविधानस्य प्रयोजनं, किंतु व्याधिमहिम्ना तावतैव कालेन तस्य चिकित्सया सुखोच्छेदनमिति। यथा ज्वरे पुराण एव क्षीरपानविरेचने। उक्तं हि तन्त्रान्तरे–'रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्' पुराणता चास्य दशममासव्यतिक्रमेणैव भवति। जेज्जटेनाप्युक्तं–यच्चर्वाग्रक्तभेदनं क्रियते तथा गर्भशय्यां क्षिणोति, तल्लीनत्वाद्रक्तस्य; एकादशे मासे तु परिपिण्डितगुल्मे स्नेहादिनोपस्कृतदेहाया न गर्भशय्याया विकृतिमादधाति रक्तभेदनमिति ॥ १५-१६ ॥

विमर्श—प्रसव होने के पश्चात् चालीस या पैतालीस दिन का समय नव प्रसवकाल (Involution period) कहलाता है। उक्त अवधि में गर्भाशय अपनी प्रकृत अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इसलिये प्रसूता स्त्री की इतने दिन तक बहुत देखभाल करनी पड़ती है। पथ्य आहार-विहार का ही सेवन कराया जाता है। किंतु यदि गर्भाशय के अपनी प्रकृत अवस्था में आने से पूर्व ही प्रसूता अपथ्य सेवन करने लगे तो उसका गर्भाशयस्थित वायु प्रकुपित होकर गर्भाशय के मुख को बन्द कर देता है जिससे गर्भाशय भली भाँति स्वच्छ नहीं हो पाता और गर्भाशयिककला से स्रुत रक्त वहीं एकत्रित होकर पिण्डित होने लगता है। प्रतिमास उसकी वृद्धि होनी प्रारम्भ हो जाती है। डल्हणाचार्य के अनुसार ६ मासपर्यन्त का गर्भ आमगर्भ कहलाता है। तीन मास तक के गर्भ के गिरने को गर्भस्राव (Abortion) और तीसरे तथा सातवें महीने के मध्य में गिरने को गर्भपात (Miscarriage) कहते हैं। गर्भ की उक्त दोनों अवस्थायें आम ही हैं। गर्भाशय की दृष्टि से नव प्रसव, आमगर्भपात तथा आर्तव का निर्हरण इन तीनों अवस्थाओं में बहुत साम्य है। अतः इन तीनों अवस्थाओं में अपथ्य सेवन करने का परिणाम भी समान ही होता है। ऋतुकाल अथवा तत्सम शेष दोनों अवस्थाओं में अनशन, भय, रूक्ष पदार्थों का

सेवन, वेगविधारण तथा स्तम्भक पदार्थों के सेवन से वायु प्रकुपित हो जाता है और गर्भाशय की सफाई नहीं होने देता अपितु रक्त को पिण्डित कर देता है—

ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥ (च. चि. ५)

रक्त के पित्तवर्गीय होने से इनमें पित्त के समान लक्षण होते हैं। यह पिण्डित अवस्था में ही रहता है, इसमें हस्त-पादादि अंग नहीं होते। गर्भ के समान इसमें स्फुरण तथा गर्भ के अन्य-लक्षण भी होते हैं-'**आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषश्छर्दिररोचकोऽम्लकामता च, विशेषेण श्रद्धाप्रणयनञ्चोच्चावचेषु भावेषु, गुरुगात्रत्वम्, चक्षुषोर्ग्लानिः स्तनयोः स्तन्यम्, ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च काष्र्ण्यमत्यर्थम्, श्वयथुः पादयोरीषल्लोमराज्युद्गमो योन्याश्चाटालत्वमिति गर्भे पर्यागते लिङ्गानि भवन्ति।** (चरक शा० ४)

रक्त गुल्म का हस्तपादादि से हीन पिण्ड का देर देर से और शूल के साथ स्पन्दन होना यह लक्षण वास्तविक गर्भ से इसका भेद करता है। आधुनिक दृष्टि से इसको **आर्तवगुल्म** (Haemetometra)[1] कह सकते है।

रक्तगुल्म उद्भूतपुष्पा एवं अनष्टपुष्पा स्त्रियों (प्रथम रजोदर्शनकाल से लेकर रजोनाश (Menopause) की अवस्था तक) में ही होता है कुमारी तथा अतिवृद्धाओं में नहीं।

दशवें महीने तक इसकी उपेक्षा करनी चाहिये। दशवाँ महीना बीत जाने पर इसकी चिकित्सा करना उत्तम है। कतिपय विद्वानों का कथन है कि चूँकि प्रसव नवम या दशम मास में ही होता है अतः गर्भ को निवृत्त करने के लिये ही ग्यारहवें मास मे चिकित्सा का निर्देश किया है। वस्तुतः पिण्डित स्पन्दन और शूल की उपस्थिति से ही गर्भ की शका निर्मूल हो जाती है अतः पूर्व कथन की अयुक्तता सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त क्वचित् दसवें मास के पश्चात् भी प्रसव होता है यथा—**तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्।** वास्तव में दसवें मास के बाद रक्तगुल्म पूर्णतया पिण्डित होकर ग्रहण एवं आहरण के योग्य हो जाता है अतः उस समय उसकी सरलता से चिकित्सा की जा सकती है। अत एव कहा है—'**रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्**'।

गुल्मस्यासाध्यतां प्राह—

संचितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः।
कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोत्थितः ॥ १७ ॥

---

१. इस रोग में ऋतुकाल में गर्भाशयिक अन्तःकला के नीचे रजःसञ्चय होता है किन्तु कला दृढ़ एव कठोर होने के कारण उसका भेदन कर रज योनिमार्ग से बाहर नहीं आता (जैसा कि स्वस्थावस्था में होता है) और रजोनिरोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रतिमास रजःसञ्चय होकर गर्भाशय में वृद्धिशील पिण्ड बन जाता है और उसके साथ प्रायः गर्भ के अन्य लक्षण भी प्रादुर्भूत हो जाते हैं। किन्तु प्रायः ४–६ मास में ही सञ्चित रज के दबाव से गर्भाशयिक कला भिन्न होने पर इसके लक्षण निवृत्त हो जाते हैं। रक्त गुल्म वर्षों तक चल सकता है अतः बहुत से विद्वान् रक्तगुल्म को आधुनिक-दृष्ट्या गर्भाशये सौत्रिकार्बुद (Fibroid Tumour) मानते हैं। किन्तु इसका रक्तप्रदर एक प्रधान लक्षण है जिसका उल्लेख रक्तगुल्म के लक्षणों मे नहीं मिलता अतः यह भी विचारणीय है। पूर्वोक्त रोग में रुके हुए रज का ४–६ मास से अधिक काल तक भी रुकना और उसी का सौत्रिकतन्तुओं में परिवर्तन होना भी असम्भव नहीं है।

दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासच्छर्द्यरतिज्वरैः ।
तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते स न सिध्यति ॥ १८ ॥
गृहीत्वा सज्वरं श्वासच्छर्द्यतीसारपीडितम् ।
हृन्नाभिहस्तपादेषु शोथः कर्षति गुल्मिनम् ॥ १९ ॥ (च. चि. ५)
श्वासः शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमूढता ।
जायते दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै ॥ २० ॥ (सु. उ. ३२)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने गुल्मनिदानं समाप्तम् ॥ २८ ॥

जो गुल्म क्रमशः बढता जावे एवं सम्पूर्ण उदर को घेर ले, जिसने मूल पकड़ लिया हो, जिसमें सिराजाल दिखाई दे, जो कछुवे के समान उभरा हुआ हो तथा जिसमें रोगी दुर्बलता, अरुचि, मिचली, खाँसी, वमन, वेचैनी, ज्वर, प्यास, तन्द्रा तथा प्रतिश्याय से पीड़ित हो वह असाध्य होता है ।

जिस रोगी को ज्वर हो, जो श्वास, वमन तथा अतिसार से पीडित हो, जिसके हृदय प्रदेश, नाभिप्रदेश, हाथ तथा पैरों मे सूजन आ गयी हो वह गुल्म का रोगी भी असाध्य होता है ।

श्वास, उदर में शूल, प्यास, अन्न से अरुचि, गुल्म की ग्रन्थि का सहसा लुप्त हो जाना तथा अत्यधिक दुर्बलता इन लक्षणों के होने पर भी रोगी असाध्य हो जाता है ॥ १७–२० ॥

चिरजस्यावस्थायामसाध्यत्वमाह—संचित इत्यादि । महावास्तुपरिग्रहः सकलोदरव्यापी । कृतमूलो धात्वन्तरावगाही । सिरानद्धः सिराजालवान् । गृहीत्वेत्यादि । हृदयादौ गृहीत्वा शोथो गुल्मिनं कर्षति, 'मरणाय' इति शेषः । श्वासेत्यादि । ग्रन्थिमूढता ग्रन्थिरूपस्य गुल्मस्याकस्माद्विलयनमिति । ननु च, अन्तर्विद्रधिगुल्मयोः को भेदः'? समानस्थानसंभवत्वात् । उच्यते, विद्रधिः पच्यते गुल्मो न पच्यते, निराश्रयत्वात् । यदाह सुश्रुतः-'न निबन्धोऽस्ति गुल्मस्य विद्रधिः सनिबन्धनः । गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते ॥ विद्रधिः पच्यते तस्माद् गुल्मः क्वापि न पच्यते' (सु. नि. अ. ९) इति । ननु, गुल्मोऽपि पच्यत एव । यदाह चरकः-'विदाहमूलसंक्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः । विदह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत्' (च. चि. अ. ५) इति । उच्यते-गुल्मो न पच्यते निराश्रयत्वात्; यदा तु कारणवशादाश्रयं मांसादिकमासादयति, वातोपशमनार्थं कृतस्वेदादिभिर्वा रक्तदुष्टिर्भवति तदा पच्यमानो विदाहनिमित्तकं विद्रधित्वमाप्नोति उक्तं हि-'स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते' (च. सू. अ. १७) इति । न हि यस्मात् विकाराद्यदुत्पद्यते विकारान्तरं तत् स एव भवतीति; माभूत् प्लीहैवोदरम्, अश्मर्येव शर्करा, इत्यादि शास्त्रोक्तविरोधविस्तरः । तस्माद्विद्रधिः पच्यते, गुल्मो न पच्यत इति सिद्धान्तो निरपवादः । ये त्वन्तर्विद्रधिं न पठन्ति तेषामयमभिप्रायः-गुल्मे पक्वे विद्रधौ च पाटनशोधनरोपणादेः, अपक्वे च विरेकलेपविम्लापनादेश्चिकित्सितस्य प्रायो विशेषाभावादलं पृथग्विकारस्वीकारेणेति ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोषव्याख्यायां गुल्मनिदानं समाप्तम् ॥ २८ ॥

विमर्श—गुल्म चिरकालीन, अनुपचारित अथवा उपेक्षित होने पर विद्रधि, ग्रन्थि या अर्बुद में परिवर्तित हो जाता है तथा सांवेदनिक क्षोभ एवं शोथ के कारण औदरिक अवयवों में परस्पर संसक्ति (Adhession) एवं विविध उदर रोगों (जलोदर आदि) की उत्पत्ति भी उपद्रव रूप में हो सकती है। इस उपद्रुतावस्था में उपर्युक्त लक्षणों की उत्पत्ति एवं रोग की असाध्यता स्वाभाविक है।

कोष्ठ में गुल्म तथा विद्रधि दोनों ही व्याधियाँ होती है अतः अनपवाद लक्षण जानने के लिये दोनों में भेद करना अनिवार्य है अतः नीचे दोनों के भेदसूचक लक्षण दिये जाते हैं—

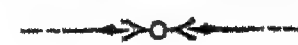
गुल्म	कोष्ठगतविद्रधि
१—गुल्म का मूल नहीं होता।	१—विद्रधि के रस-रक्त आदि मूल होते हैं
२—इसमें दोष ही स्वयं गुल्म होते हैं।	२—विद्रधि का आश्रय मांस और रक्त है।
३—गुल्म का पाक नहीं होता	३—विद्रधि का पाक होता है।

पूर्व वर्णन से स्पष्ट है कि वात, पित्त और कफ ही महास्रोत के किसी भाग में सञ्चित होकर गुल्म को उत्पन्न करते हैं अतः उनमें किसी भी मूल की सत्ता या पाक की सम्भावना नहीं रहती है किन्तु जब वे कालान्तर में उपेक्षा या अपचार के कारण समीपस्थ रक्त-मांसादि धातुओं को दूषित कर विद्रधि (Abcess) ग्रन्थि (Cyst) या अर्बुद (Tumour) रूप में परिणत हो जाते हैं तब उनमें मूल या निबन्धन की भी सत्ता उत्पन्न हो ही जाती है। अर्थात् उस समय केवल महास्रोतविवर में दोषसञ्चयमात्र न रहकर आन्त्रादि अवयवों की भित्ति और उसके समीपस्थ अवयवों में भी विकार उत्पन्न हो जाता है और सम्प्राप्ति-भेद से यह विद्रधि, ग्रन्थि या अर्बुद रूप में परिणत हो जाता है और तब गुल्म तात्कालिक संप्राप्ति एवं लक्षणानुसार तथा रोगी के बलाबल आदि के अनुसार कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है। इसी बात का स्पष्टीकरण सुश्रुत ने निम्न श्लोकों द्वारा किया है—

न निबन्धोऽस्ति गुल्मानां विद्रधिः सनिबन्धनः।
गुल्माकाराः स्वयं दोषा विद्रधिर्मांसशोणिते॥
विवरानुचरो ग्रन्थिरप्सु बुद्बुदको यथा।
एवंप्रकारो गुल्मस्तु तस्माद् पाकं न गच्छति।
मांसशोणितबाहुल्यात् पाकं गच्छति विद्रधिः॥

गुल्म की अवस्था में पाक नहीं होता किन्तु जब गुल्म का सम्बन्ध दुष्ट रक्त और दुष्ट मांस से हो जाता है तो उसमें भी पाक की प्रवृत्ति आ जाती है। उस अवस्था में इसे गुल्म न कहकर विद्रधि ही कहा जाता है। अतएव चरक ने कहा है-**'स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते।'**

समाप्तं चेदं गुल्मनिदानम्।



अथ हृद्रोगनिदानम्

हृद्रोगस्य कारणानि प्राह—

अत्युष्णगुर्वन्नकषायतिक्तश्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गैः ।
संचिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः ॥ १ ॥

निरन्तर अत्यधिक गरम व अधिक गुरु भोजन करने से, कषाय तथा कड़वे पदार्थों के सेवन से, श्रम, चोट, अध्यशन, अधिक चिन्तन तथा अधारणीय वेगों के धारण करने से पांच प्रकार का हृद्रोग उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

गुल्मस्य हृदयं स्थानमुक्तम्, अतो हृदयसंकीर्तनाद्हृद्रोगारम्भः । प्रसङ्गः सातत्येन सेवा, अत्युष्णादयो यथायोग्यं वातादीनां क्रिमेश्च निदानमिति बोध्यम् ॥ १ ॥

विमर्श—'पञ्चैव हृदयामयाः' चरक के इस वाक्य के अनुसार वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सान्निपातिक तथा कृमिज भेद से हृद्रोग ५ प्रकार के होते हैं। अत्युष्ण आदि कारणों की वातिक आदि हृद्रोगों के साथ यथायोग्य कारणता समझनी चाहिये। यथा—अत्यधिक उष्ण पदार्थों का सेवन पैत्तिक हृद्रोग के कारण हैं। गुरु अन्न तथा अध्यशन कफज हृद्रोग तथा शेष सभी कारण वातिक हृद्रोग के कारण हैं। त्रिदोषज के पूर्वोक्त कारण मिश्रितरूप में एवं क्रिमिज के क्रिमि और क्रिमिवर्धक अन्न तथा अध्यशन कारण हैं। अधिक चिन्ता करने वाले एवं सम्पन्न व्यक्तियों में चिन्तनजन्य हृदरोग बहुत पाया जाता है। आजकल के अधिकांश हृद्रोगियों में यही कारण प्रमुख होता है। बुद्धिजीवी वर्ग इस रोग से अधिक पीडित होता है। अधिकांश राजनैतिक नेता हृद्रोग से पीडित रहते हैं।

चरक संहिता में दृढबल ने हृद्रोग के कारणों का संक्षिप्त किन्तु व्यापक वर्णन निम्न श्लोक में किया है—

व्यायामतीक्ष्णातिविरेकबस्तिचिन्ताभयत्रासमदाभिचाराः ।
छर्द्यामसन्धारणकर्षणानि हृद्रोगकर्तॄणि तथाऽभिघातः ॥ (च. चि. अ. २६)

हृद्रोगस्य सम्प्राप्तिं सामान्यलक्षणं च लक्षयति—

दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः ।
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ २ ॥ (सु. उ. ४३)

अपने कारणों से प्रकुपित हुए वात आदि दोष रस को दूषित करके (उसके आधार) हृदय में अवस्थित होकर हृदय में भी विकार उत्पन्न कर देते हैं। इसको हृद्रोग कहते हैं ॥ २ ॥

तस्य संप्राप्तिं सामान्यलक्षणं चाह—दूषयित्वेत्यादि । दूषयित्वा रसमिति रसस्य हृदयाश्रयत्वात् । विगुणाः कुपिताः । हृद्रोगमिति वाच्ये यद्बाधाग्रहणं, तद्दोषभेदेन

बाधावैचित्र्यज्ञापनार्थं; बाधाशब्देन चात्र नानाविधा पीडेति जेज्जटः, भङ्गवत् पीडेति गयदासः। हृद्रोगमिति 'वा शोकष्यञ् रोगेषु—' इति रोगे परे हृदयस्य हृद्भावः, अथवा हृदो रोगो हृद्रोगः॥

विमर्श—रस और रक्त के आधार एवं उन का समस्त शरीर में परिचालन करने वाले यन्त्र विशेष को ही हृदय कहते है। यह अनैच्छिक पेशियों का बना हुआ एक पोला अग है और वक्ष-प्राचीर के अन्दर दोनों फुफ्फुसों के मध्य में अवस्थित रहता है। युवा पुरुष का हृदय लगभग ५$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बा ३$\frac{1}{2}$ इञ्च चौडा और २$\frac{1}{2}$ इञ्च मोटा तथा भार में लगभग पाँच छटाँक होता है। स्त्रियों मे इसका आकार तथा भार अपेक्षाकृत कुछ कम होता है। हृदय की आकृति ठीक बन्द की हुई मुट्ठी के समान होती है। हृदय का अधिकाश भाग वक्ष के वाम भाग में अवस्थित रहता हे। इसके दोनों ओर वाम और दक्षिण फुफ्फुस रहते हैं। वाम पार्श्व के फुफ्फुस में इसके अधिक सान्निध्य के कारण एक गर्त बना रहता है। इसे हार्दिक खात या गर्त (Cardiac notch) कहते है। इसके सामने उरःफलक तथा वाम पार्श्व की द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पञ्चम पर्शुकाओं की तरुणास्थियां (Costal cartilages) रहती हैं। उसके पृष्ठभाग में पञ्चम, षष्ठ, सप्तम तथा अष्टम कशेरुकाओं के गात्र तथा चक्रिकाये (Discs) रहती है। पीछे की ओर हृदय और कशेरुकाओं के बीच में बृहद्धमनी (Aorta) अवस्थित रहती है।

रचना की दृष्टि से हृदय एक कोष्ठ ही है। यह कोष्ठ अन्दर से एक मांस के पतले परदे से वाम और दक्षिण दो भागों में विभक्त रहता है। इन दोनों कोष्ठों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं रहता। प्रत्येक कोष्ठ दो भागों में विभक्त है। दक्षिणी ऊपर का भाग रक्त-परिभ्रमण से लौटे हुए अशुद्ध रक्त का ग्रहण करता है अतः उसे दक्षिण ग्राहक कोष्ठ या दक्षिण अलिन्द (Right auricle) कहते हैं। यहाँ से रक्त नीचे के भाग द्वारा फुफ्फुसीय धमनी में प्रेरित किया जाता है अतः इसे दक्षिण क्षेपक कोष्ठ या दक्षिण निलय (Right ventricle) कहते हैं। ऊपर और नीचे के दक्षिण कोष्ठ पतले त्रिपत्रक कपाटों (Auriculo ventricular or Tricuspid valves) के द्वारा परस्पर पृथक् रहते हैं। ये कपाट सौत्रिकतन्तु (Fibrous tissue) के बने होते हैं और सदा नीचे की ओर निलय में ही खुलते हैं। इस प्रकार रक्त एक ही दिशा में बहता है वह पीछे नहीं लौट पाता। वाम पार्श्व में भी इसी तरह दो कोष्ठ होते हैं। वाम ग्राहक कोष्ठ फुफ्फुसीय सिराओं (Pulmonary veins) द्वारा लौटे हुए शुद्ध रक्त का ग्रहण करता है और वह रक्त पुनः वाम अलिन्द निलय मध्यगत द्वार या द्विपत्रक द्वार (Mitral aperture) के द्वारा वाम निलय (Left ventricle) में चला आता है और वहाँ से वह रक्त हृदय संकोच के द्वारा बृहद् धमनी द्वार में से होकर बृहद् धमनी (Aorta) में प्रेरित किया जाता है। इन दोनों द्वारों में भी कपाट लगे रहते हैं। द्विपत्रक कपाट (Bicuspid valve) निलय की ओर तथा बृहद् धमनी कपाट बृहद् धमनी की ओर ही खुलते हैं। इस प्रकार इनके अविकृत रहने पर रक्त अपनी प्रकृत दिशा की ओर ही गमन करता है, विरुद्ध दिशा में नहीं लौट पाता। हृदय का सम्पूर्ण आन्तरिक भाग एक कला से आच्छादित रहता है इसे हृदन्तः कला (Endocardium) कहते हैं।

हृदय के उपर्युक्त अङ्गों के प्रकृत रहने पर हृदय तथा शरीर का कार्य भी प्रकृत रहता है। इनमें से किसी के भी विकृत हो जाने से हृदय का कार्य विकृत हो जाता है और इसको ही हृद्रोग कहते हैं। हृदय रस का स्थान है अतः दूषित रस के सम्पर्क से हृदय या उसके अवयव में विकृति

होने से हृदय के रोग प्रारम्भ हो जाते हैं। हृद्रोगों का वर्णन चरक ने सूत्रस्थान अध्याय १७ में सुश्रुत के समान ही किया है किन्तु चरक संहिता के चिकित्सा स्थान में त्रिमर्मीय चिकित्सा अध्याय में दृढबल ने इनका वर्णन अधिक व्यक्त रूप में किया है। यथा—

> वैवर्ण्यमूर्च्छाज्वरकासहिक्काश्वासास्यवैरस्यतृषाप्रमोहाः।
> छर्दिः कफोत्क्लेशरुजोऽरुचिश्च हृद्रोगजाः स्युर्विविधास्तथाऽन्ये॥

ये हृद्रोग के सामान्य लक्षण हैं। पाश्चात्य रोग विज्ञान में वर्णित विविध हृद्रोगों में ये लक्षण ठीक इसी रूप में पाये जाते हैं।

वैवर्ण्य (Discolouration)—इसमें पाण्डुता (Pallor), श्यावता (Cyanosis) तथा कपोलारुण्य (Malar flush) इन तीनों का समावेश होता है। पाण्डुता रक्ताल्पता की द्योतक है जो कि हृत्कपाटों की विकृति से होती है। शोणवर्तुलि (Hæmoglobin) की कमी से श्यावता आती है। इसकी प्रतीति विशेषतया ओष्ठ, नासाग्र तथा नख सदृश स्थानों में होती है, जहाँ केशिकायें उत्तान (Superficial) रहती है। इसका कारण सिरागत रक्तावरोध (Venous Stasis) है। कपोलारुण्य (Malar flush) का कारण द्विपत्रक संकोच (Mitral stenosis) है।

मूर्च्छा—यह हृदयजन्य श्वास (Cardiac asthma) का विशेष लक्षण।

ज्वर—आमवातजन्य या औपसर्गिक हृदन्तःकला शोथ (Rheumatic or Septic endocardiris) में यह लक्षण प्रधान रहता है।

कास, हिक्का तथा श्वास को अवरोधजन्य लक्षण (Pressure spmptoms) कहते हैं। ये द्विपत्रक प्रत्युद्गिरण (Mitral regurgitation) में तथा विशेषतया द्विपत्रक संकोच (Mitral Stenosis) में पाये जाते हैं। द्विपत्रक संकोच में रक्त का वमन भी होता है। हृदयवाहिनी की घनास्रता (Coronary thrombosis) में वमन, अरुचि तथा श्वासकृच्छ्रता के लक्षण मिलते हैं। इन्हीं व्याधियों में माधवोक्त वातिक आदि भेदों के विशेष लक्षणों का भी ज्ञान करके विकृति और दोषों के अनुसार चिकित्सा द्वारा सफलता प्राप्त किया जा सकता है।

वातिकहृद्रोगलक्षणमाह—

आयम्यते मारुतजे हृद्रोगं तुद्यते तथा।
निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ॥३॥ (सु. उ. ४३)

वातिक हृद्रोग में हृदय में खिचावट तथा सूचिकावेधनवत् पीडा होती है। रोगी को कभी-कभी प्रतीत होता है कि उसके हृदय को कोई डण्डे से मथ रहा है, दो टुकड़े कर रहा है, अथवा आरे या कुल्हाडी से चीर रहा है ॥ ३ ॥

वातिकहृद्रोगलक्षणमाह—आयम्यत इत्यादि। आयम्यते आकृष्यत इव। तुद्यते सूच्येव। निर्मथ्यते दण्डेनेव। दीर्यते द्विधेव क्रियते। स्फोट्यते आरयेव। पाट्यते कुठारेणेव॥ ३॥

विमर्श—वातिक हृद्रोग में पीडा की विशेषता रहती है। हृच्छूल (Angina pectoris) तथा हृदयवाहिनी की घनास्रता (Coronary thrombosis) का यह विशिष्ट लक्षण है। उक्त दोनों अवस्थाओं में शूल अनिवार्य रूप में रहता है किन्तु फिर भी दोनों के शूल की प्रकृति तथा अन्य लक्षणों में भिन्नता भी है। सुखस्मरणार्थ यह निम्न कोष्ठक से स्पष्ट किया गया है—

हृच्छूल (Angina)	हृदयवाहिनी-घनास्रता (Coronary thrombosis)
१—परिश्रम, भावावेश अथवा भोजनोपरान्त शूल का आक्रमण होता है।	१—रक्तप्रवाह के मन्द होने पर अर्थात् रात्रि को आराम के समय आक्रमण होता है।
२—रोगी निश्चल खडा रहता है, हिलने से डरता है, चेहरा पीला पड जाता है, पसीना आ जाता है और शीत का अनुभव होता है।	२—रोगी बेचैन रहता है जिससे इधर-उधर गतियां करता है, शरीर गरम रहता है, चेहरे पर श्यावता (Cyanosis) रहती है।
३—कुछ मिनट में आवेग समाप्त हो जाता है।	३—आवेग कुछ घण्टों तक भी रह सकता है।
४—शूल का प्रचलन अनिवार्यरूप से वाम बाहु या कभी-कभी दोनों बाहु की ओर होता है।	४—शूल का इस प्रकार प्रचलन नहीं होता। यह उरःफलक के पीछे और कुछ नीचे तक रहता है।
५—रक्तवाहिनी प्रसारक ओषधियों के प्रयोग से शूल शान्त होता है।	५—ऐसी ओषधियों के प्रयोग से शूल की वृद्धि होती है।
६—धमनीगत रक्त का दाब बढ जाता है।	६—धमनीगत रक्त का दाब कम रहता है और सिरागत दाब बढ़ जाता है।
७—ज्वर नहीं रहता।	७—ज्वर अल्प मात्रा में रहता है।
८—रक्तगत घनता साधारण रहती है।	८—रक्त की घनता बढ़ जाती है।
९—श्वेतकायाणूत्कर्ष (Leucocytosis) रहता है।	९—श्वेतकायाणूत्कर्ष नहीं होता।

चरक ने वातिक हृद्रोग में जकड़ाहट, मूर्च्छा, वेष्टन, लक्षण भी माने हैं—

शोकोपवासव्यायाम-रूक्षशुष्काल्पभोजनैः। वायुराविश्य हृदयं जनयत्युत्तमां रुजम्। वेपथुर्वेष्टनं स्तम्भः प्रमोहः शून्यता दरः॥ (च. सू. १७)

तथा—

हृच्छून्यभावद्रवशोषभेदस्तम्भाः समोहाः पवनाद्विशेषः। (च. चि. २६)

वातिक हृद्रोग में हृदय का कम्पन (Palpitation) एवं स्तम्भ (Irrythmias & Heart bloks) विशेष लक्षण है।

पैत्तिकं हृद्रोगं लक्षयति—

तृष्णोष्मादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः।
धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च ॥४॥ (सु. उ. ४३)

पैत्तिक हृद्रोग में प्यास, गर्मी, दाह, चोष, हृदय की व्याकुलता, धूम निकलने की प्रतीति, मूर्च्छा, पसीना तथा मुख का सूखना ये लक्षण होते हैं॥ ४॥

पैत्तिकमाह—तृष्णेत्यादि। उष्मा किंचिद्दाहः। हृदयक्लमो हृदयाकुलत्वं ग्लानिरिति यावत्॥ ४॥

विमर्श—यह लक्षण रस और रक्त में पित्ताधिक्य एवं हृदय या उसके अवयवों में व्रणशोथ (Inflamation) के कारण होते हैं।

श्लैष्मिकं हृद्रोगं निरूपयति—

गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम् ।
माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥ ५ ॥ (सु. उ. ४३)

हृदय के कुपित कफ से व्याप्त होने पर शरीर में भारीपन, लालाप्रसेक, अरुचि, हृदय में जकड़ाहट एवं अग्निमान्द्य होते हैं तथा मुख का स्वाद मधुर रहता है ॥ ५ ॥

श्लैष्मिकमाह—गौरवमित्यादि । बलासावतते कुपितकफव्याप्ते, 'दोषा दुष्टा दूषयितारो भवन्ति'-इत्यागमात् ॥ ५ ॥

विमर्श—यह सभी लक्षण मुख्यतः हृत्पेशी के अत्युपचय (Hypertrophy) मेदो वृद्धि तथा हृदयावरण में द्रवसंचय होने पर मिलते हैं ।

त्रिदोषजं क्रिमिजं च हृद्रोगं व्याचष्टे—

विद्यात्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गम्—

त्रिदोषज हृद्रोग में तीनों दोषों के लक्षण मिलते हैं ।

—तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम् । (च. चि. ४३)

उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः ।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत् ॥६॥ (सु. उ. ४३)

क्रिमिज हृद्रोग में खुजली, तीव्र पीड़ा, उत्क्लेद, बार-बार थूकने की प्रवृत्ति, तोदवत् पीडा, शूल, मिचली, आँखों के आगे अंधेरा, अरुचि, आँखों में मलिनता तथा शोथ ये लक्षण होते हैं ॥ ६ ॥

सान्निपातिकमाह—विद्यादित्यादि । सर्वलिङ्गमित्यनेन प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वमुक्तं, तेन चिकित्साऽप्यस्य प्रत्येकं वातादिजस्य या सा मिलितैव कार्या । अपचाराच्चेह ग्रन्थि-रूत्पद्यते ततः क्रिमिसंभवः । उक्तं हि चरकेण—'त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते । तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति । संक्ले-दात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः' (च. सू. अ. १७) इति । तस्यैवेदं लक्षणमाह—तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूमिति । उत्क्लेद इत्यादिना तमोऽन्तं त्रिदोषजहृद्रोगलक्षणं; तत्र तोदशूले वातात्, उत्क्लेदहृल्लासौ कफात्, तमः पित्तात्; ष्ठीवनं कफपित्तात् अरुचि-रित्यादिना क्रिमिजस्येति जेज्जटः । गयदासस्त्वाह—श्यावनेत्रत्वपर्यन्तेन त्रिदोषजलक्षण-मिति । स्यादेतत्, त्रिदोषजपद न तावदत्र सुश्रुतेन पठितम्; अतः सर्वमेवोत्क्लेदादि शोथान्तं क्रिमिजलक्षणं भविष्यति । नैवं, 'विद्यात्त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम्' (च. चि. अ. २६) इति दृढबलस्य वाक्यात् । उत्क्लेद इत्यादिस्त्वेक एव श्लोकः सुश्रुतेन पठितः, न तु पृथक् सन्निपातलक्षणं, ततस्त्रिदोषजस्यानभिधाने सुश्रुते न्यूनत्वं स्यात् । त्रिदोषाश्मरीवत्तस्यासंभव एवेति चेत् ? नैवं तन्त्रान्तरेषु पठितत्वात् । तथा च हारीतः—'सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात्त्रिरोत्थितं चापि वदन्त्यसाध्यम्' इति, चरकेऽप्युक्तं-'हेतुलक्षणसंसर्गादुच्यते सान्निपातिकः' (च. सू. अ. १७) इति; तथा, 'त्रिदोषजे द्रोगेहृतु

यो दुरात्मा निषेवते' (च. सू. अ. १७) इत्यादि । कण्ठरवेण तु त्रिदोषजपदं यन्न पठितं सुश्रुतेन, तत् क्रिमिजस्यापि त्रिदोषजत्वख्यापनार्थमित्याचक्षते । ननु, दोषजावान्तरावस्था-विशेषत्वात् क्रिमिजोऽपि दोषज एव, तत् कथं हृदामयः पञ्चविध इति ? नैवं, रोगजस्यापि रोगस्य पृथक्त्वदर्शनात् । यदुक्तं—'निदानार्थकर'—इत्यादि । द्विदोषजस्त्वनुक्तोऽपि प्रकृति-समवायत्वाद्बोध्यः ॥ ६ ॥

विमर्श—हृल्लास, आखों के आगे अंधेरा प्रतीत होना, अरुचि, नेत्रों की मलिनता तथा शोथ ये क्रिमिज हृद्रोग के प्रधान लक्षण है । अर्वाचीन विज्ञान में साक्षात् क्रिमियों से हृदय का आक्रान्त होना नहीं वर्णित किया है अतः अर्वाचीन शास्त्रों में वर्णित हृद्रोग के किसी भी प्रकार से प्राचीन क्रिमिज हृद्रोग की तुलना करना सम्भव नहीं है । किन्तु उदरगत क्रिमियों के द्वारा हृदय भी परम्परया विकृत होता है । यथा—अकुशमुखक्रिमि के उपसर्ग से रक्ताल्पता होने पर समस्त शरीर विशेषतया नेत्रों की कला में पाण्डुता की प्रतीति होती है । आँखों के आगे अंधेरा सा दिखाई देना भी रक्ताल्पता का ही कार्य है । हृदय विस्फारित हो जाता है और परिणामस्वरूप हार्दिक द्वार भी इतने विस्तृत हो जाते हैं कि हार्दिक कपाट उन्हे पूर्णतया बन्द नही कर पाते । इससे हृदय में प्रत्युद्गिरण (Regurgitation) का दोष हो जाता है । हृदय में रक्तज (Hæmic) मर्मर सुनाई पड़ती है । रक्तवाहिनी के अन्तःस्तर के अपजनन से रक्तवाहिनी की दीवार से निकल कर रस धातुओं में एकत्रित होने लगता है, अतएव शरीर मे सूजन आ जाती है । उदरगत क्रिमियों के कारण कोठ आदि त्वग्गत विकार होने से कण्डू भी होता है ।

चरक ने अपथ्य से त्रिदोषज हृद्रोग की प्रवर्धमानावस्था को ही क्रिमिज हृद्रोग माना है—

त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते । तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ।
मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति । संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः ॥
(च० सू० १७)

जेज्जट उत्क्लेद से तम पर्यन्त त्रिदोषज हृद्रोग का और अरुचि आदि को क्रिमिज हृद्रोग का लक्षण मानते है, गयदासजी श्यावनेत्र तक के लक्षणों को त्रिदोषज हृद्रोग का लक्षण स्वीकार करते है किन्तु यह ठीक नही । वस्तुतः ये सभी क्रिमिज हृद्रोग के ही लक्षण हैं यह स्पष्ट हो चुका है । इसके अतिरिक्त सुश्रुत ने इस श्लोक में त्रिदोष का नाम-ग्रहण भी नहीं किया है । प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से इसे त्रिदोषज हृद्रोग का लक्षण मानने का मधुकोषकार का आग्रह उचित नहीं प्रतीत होता । वस्तुतः **'विद्यात्त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गम्'** यही त्रिदोषज का लक्षण है । चिरकालीन त्रिदोषज हृद्रोग में अपथ्य सेवन से ग्रन्थि (Vegetations ?) की उत्पत्ति तथा क्रिमि का उपसर्ग (Septic Infection ?) होने पर तीव्रार्ति तोद आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं और वह हृद्रोग असाध्य हो जाता है ।

सर्वेषां हृद्रोगाणामुपद्रवानाह—

क्लमः सादो भ्रमः शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः ।
क्रिमिजे क्रिमिजातीनां श्लैष्मिकाणां च ये मताः ॥ ७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ॥ २९ ॥

हृद्रोग में क्लम (शरीर में बिना परिश्रम के थकावट की प्रतीति), अवसाद, भ्रम तथा शोथ ये उपद्रव होते है । श्लैष्मिक क्रिमियों के उपद्रव ही क्रिमिज हृद्रोग में भी होते हैं ॥ ७ ॥

सर्वेषामुपद्रवानाह—क्लम इत्यादि । श्लैष्मिकाणां कृमीणां ये उपद्रवास्ते क्रिमिजहृद्रोगेऽपि स्युः । ते च हृल्लासास्यस्रवणाविपाकादयः ॥ ७ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ॥ २९ ॥

विमर्श—वस्तुतः क्लम आदि उपद्रव न होकर हृद्रोग के लक्षण ही होते हैं। उपद्रव स्वरूप में चरकोक्त हृदयाभिघातजनित विकार ही हो सकते है । **यथा—हृदयेऽभिहते कासश्वासबलक्षयकण्ठशोषक्लोमापकर्षणजिह्वानिर्गममुखतालुशोषापस्मारोन्मादप्रलापचित्तनाशादयः स्युः** (च० सि० ९) । निजदोषजनित हृद्रोग में भी अन्ततो गत्वा अभिघात-सदृश प्रभाव पड़ता ही है ।

समाप्तं चेदं हृद्रोगनिदानम्



अथ मूत्रकृच्छ्रनिदानम्

मूत्रकृच्छ्रस्य हेतु-संख्या-सम्प्राप्तिनिरूपणम्—

व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् ।
आनूपमांसाध्यशनादजीर्णात्स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥ १ ॥
पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥ २ ॥
(च. चि. अ. २६)

अधिक व्यायाम, तीक्ष्ण औषध, रूक्ष पदार्थ, अत्यधिक मद्यपान के अभ्यास एवं तेज चलने वाले घोडे आदि पर नित्य सवारी करने से, आनूप जन्तुओं के मांससेवन करने से, अध्यशन से तथा अजीर्ण से मनुष्यों को (वातिक, पैत्तिक, कफज, सन्निपातज, शल्याभिघातज, पुरीषज, शुक्रज तथा अश्मरीजन्य भेद से) आठ प्रकार के मूत्रकृच्छ्र उत्पन्न हो जाते हैं । अपने अपने कारणों से प्रकुपित वातादि दोष पृथक् पृथक् या एक साथ जब बस्ति में पहुंच कर मूत्रमार्ग में सकोच दबाव या क्षोभ आदि उत्पन्न करते हैं तब मूत्रत्याग करते समय रोगी को कष्ट होता है । [और इसी को मूत्रकृच्छ्र कहते हैं ।] ॥ १-२ ॥

सप्तोत्तरे मर्मशते त्रीणि मर्माणि शिरोहृदयबस्तयः प्रधानानि । तत्र हृदयगतविकारानभिधाय बस्तिगतविकारानाह—व्यायामेत्यादि । मूत्रकृच्छ्राणीति, मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः । अष्टाविति । दोषैः पृथक् त्रीणि, सन्निपातेनैकं, शल्यजपुरीषजशुक्रजाश्मरीजानीत्येकैकानि । ननु, शर्कराजं मूत्रकृच्छ्रं सुश्रुतेन पठितं; तच्चात्र सङ्ग्रहेऽपि पठितम्, 'अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसंभवलक्षणे' इत्यादिना तत् कथमष्टौ ? नव प्राप्नुवन्ति । उच्यते, शर्करा अश्मरी एव । यदाह दृढबलः—**'एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात्**

चरन्ती' (च. चि. अ. २६) इति, अतोऽश्मरीजेनैव शर्कराजग्रहणमिति मन्यमानो दृढवलोऽष्टावित्यपठत् ॥ १-२ ॥

विमर्श—'मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः' मूत्र की कष्टप्रद प्रवृत्ति को मूत्रकृच्छ्र (Painful micturition or dysurea) कहते हैं। यह वस्तिसम्बन्धी रोग है। इस अवस्था में वस्ति मूत्र से परिपूर्ण रहती है एवं रोगी को मूत्रत्याग करने की इच्छा भी होती है। किन्तु मूत्र-मार्ग में किसी प्रकार का अवरोध या विकार होने से मूत्रत्याग कष्ट के साथ होता है। मूत्रकृच्छ्र के कारणों को साधारणतया तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. **मूत्राशयगत कारण**—इस श्रेणी में मूत्राशयगत अश्मरी, अर्बुद, तीव्र या जीर्ण मूत्राशय कलाशोथ (Acute or chronic cystitis), फिरंगी खञ्जता (Tabes dorsalis), योषापस्मार (Hysteria), प्राङ्गोदीय के समवर्त की विकृति से उत्पन्न मूत्र की परमाम्लता (Hyper acidity of urine) तथा सूत्रक्रिमियों (Thread worms) का उपसर्ग ये कारण आ जाते हैं।

२. **मूत्रप्रणालीगत कारण**—मूत्रप्रसेक शोथ (Urethritits), औपसर्गिक मेह (Gonorr-hoea) तथा शिश्नगत मूत्रमार्ग में उपसंकोच (Urethral stricture) इन कारणों से भी मूत्र-मार्ग में अवरोध हो जाता है।

३. **अन्य कारण**—पौरुष ग्रन्थि (Prostate) की वृद्धि तथा अर्श से भी मूत्रकृच्छ्र होता है।

मूत्राशय पर बुरा प्रभाव डालने वाले व्यायामों से मूत्रकृच्छ्र होता है। जिन तीक्ष्ण औषधों या खाद्य द्रव्यों का विसर्ग मूत्रमार्ग के द्वारा होता है वे सब मूत्रकृच्छ्र के कारण हैं। मूत्रमार्ग में जलन होने के कारण रोगी मूत्रत्याग नहीं करना चाहता। मद्य का गुण तीक्ष्ण है और उसका निर्हरण वृक्क के द्वारा भी होता है तथा निर्हरण काल में रोगी को मूत्रमार्ग में जलन और मूत्रकृच्छ्र होता है।

सुश्रुत ने यद्यपि शर्कराज मूत्रकृच्छ्र का भी पृथक् वर्णन किया है किन्तु **'एषाऽश्मरी मारुत-भिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती'** इसके अनुसार शर्करा अश्मरी का ही भेद है अतः उसको पृथक् स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं।

वातिक-पैत्तिक-कफज-सान्निपातिक-मूत्रकृच्छ्राण्याह—

तीव्रार्तिरुग्वङ्क्षणवस्तिमेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात्।
पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥ ३ ॥
वस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे।
सर्वाणि रूपाणि तु सान्निपाताद्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम् ॥ ४ ॥

(च. चि. अ. २६)

वातिक मूत्रकृच्छ्र[1] में वंक्षण, वस्ति तथा मूत्रेन्द्रिय में भयङ्कर पीडा होती है और बार बार थोडा-थोड़ा मूत्र आता है।

---

१. इसमें पीडा की विशेषता रहती है अतः इसे वातिक मूत्रकृच्छ्र (Nervus dysurea) कह सकते हैं।

पैत्तिक मूत्रकृच्छ्र में मूत्र पीला तथा कभी-कभी रक्तयुक्त होता है। मूत्रत्याग में पीडा तथा दाह का अनुभव होता है[1]।

कफज मूत्रकृच्छ्र में बस्ति तथा मूत्रेन्द्रिय में भारीपन व शोथ होजाता है, मूत्र कुछ पिच्छिल होता है[2]।

सन्निपातज मूत्रकृच्छ्र में सभी दोषों के लक्षण रहते हैं और यह अत्यन्त कष्टसाध्य होता है। (यह प्रकृतिसमसमवायारब्ध है अतः लक्षणों में वैचित्र्य नहीं मिलता) ॥ ३-४ ॥

शल्याभिघातजं मूत्रकृच्छ्रमाह—

मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु वा।
मूत्रकृच्छ्रं तदाघाताज्जायते भृशदारुणम् ॥ ५ ॥
वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत्।

मूत्रवाही स्रोतों में अभ्यन्तर शल्य से अथवा बाह्य आघात लगने से क्षत होने पर भयङ्कर मूत्रकृच्छ्र रोग उत्पन्न होता है। इसमें वातिक मूत्रकृच्छ्र के समान लक्षण होते हैं[3] ॥ ५ ॥

शकृद्विघातजं मूत्रकृच्छ्रं वर्णयति—

शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ॥ ६ ॥
आध्मानं वातशूलं च मूत्रसङ्गं करोति च।

मल के वेग को रोकने से वायु विलोम होकर उदर में आध्मान, वा शूल तथा मूत्रावरोध कर देता है ॥ ६ ॥

अश्मरीहेतुकं मूत्रकृच्छ्रमाह—

अश्मरीहेतु तत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत् ॥ ७ ॥

(सु. उ. ५९)

जिस मूत्रकृच्छ्र का कारण अश्मरी होती है उसे अश्मरीज मूत्रकृच्छ्र कहते हैं ॥ ७ ॥

---

१. इस प्रकार के लक्षण औपसर्गिक मेह तथा मूत्राशय कला या मूत्रप्रसेक के तीव्रशोथ (Acute cystitis or acute urethritis) में मिलते हैं।

२. इस प्रकार के लक्षण अनुतीव्र मूत्राशय कलाशोथ (Sub acute cystitis) तथा अनुतीव्र शिश्न कला मूत्रप्रसेक शोथ (Sub acute urethritis) में मिलते हैं।

३. यद्यपि लक्षण-साम्य से इसका ग्रहण भी वातिक मूत्रकृच्छ्र से ही हो जाता है तथापि विशिष्ट कारण एवं शल्यनिर्हरण रूप चिकित्सा-वैशिष्ट्य के कारण इसका पृथक् पाठ किया गया है। शरीर के अन्दर पीडा पहुँचाने वाली आभ्यन्तर या बाह्य वस्तु ही शल्य कहलाती है—

'अति प्रवृद्धं मलदोषजं वा शरीरिणां स्थावरजङ्गमानाम्।
यत् किञ्चिदाबाधकरं शरीरे तत्सर्वमेव प्रवदन्ति शल्यम् ॥ (डल्हणः)

शुक्रजं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरति—

शुक्रे दोषैरुपहते मूत्रमार्गं विधाविते ।
सशुक्रं मूत्रयेत्कृच्छ्राद् वस्तिमेहनशूलवान् ॥ ८ ॥

अपने स्थान से च्युत हुआ शुक्र जब जब दोषों के प्रकोप से अवरुद्ध होकर मूत्रमार्ग में रुक जाता है उस अवस्था में रोगी को शुक्र सहित मूत्रत्याग कष्ट के साथ होता है, बस्ति और मेढ्र में पीडा होती है ॥ ८ ॥

मूत्रकृच्छ्रस्य वातजादिभेदेन लक्षणान्याह-' तीव्रेत्यादि । सलिङ्गस्य समेढ्रस्य । सपिच्छं पिच्छिलम् । कृच्छ्रतमं कष्टसाध्यम् । कृच्छ्रं मूत्रकृच्छ्रम् । मूत्रवाहिष्विति मूत्रवहस्रोतःसु । अश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति अश्मरीहेत्विति लक्ष्यपदं, तत्पूर्वमिति लक्षणपदं, तत्पूर्वमश्मरी पूर्वकम् ॥ ३-८ ॥

अश्मरीशर्करयोर्भेदनिरूपणम्—

अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसंभवलक्षणे ।
विशेषणं शर्करायाः शृणु कीर्तयतो मम ॥ ९ ॥
पच्यमानाऽश्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना ।
विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता ॥ १० ॥
हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षावग्निश्च दुर्बलः ।
तया भवति मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम् ॥ ११ ॥

(सु. उ. ५९)

मूत्रवेगनिरस्ताभिः प्रशमं याति वेदना ।
यावदस्याः पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूत्रकृच्छ्रनिदानं समाप्तम् ॥ ३० ॥

अश्मरी और शर्करा के निदान तथा लक्षण समान है, किन्तु इन दोनों में यह विशेषता है कि—अश्मरी ही पित्त से परिपाचित और वायु से शुष्क हो जाने के कारण तथा कफ रूपी जोडने वाली वस्तु के नष्ट हो जाने पर (छोटे छोटे टुकडों में) बाहर निकलती है, इसको शर्करा कहते हैं। अश्मरी या शर्करा जनित मूत्रकृच्छ्र में हृदय प्रदेश में पीडा, कम्पन, कुक्षि मे शूल, अग्नि की दुर्बलता, मूर्च्छा तथा भयङ्कर मूत्रकृच्छ्र होता है। मूत्र के वेग के साथ शर्करा के निकल जाने पर वेदना तब तक शान्त रहती है जब तक अन्य शर्करा मूत्रवह स्रोत के मुख को फिर से अवरुद्ध न कर दे ॥ ९-१२ ॥

मूत्रकृच्छ्रहेतुत्वेनोक्तयोरश्मरीशर्करयोः समानतामवान्तरभेदं चाह—अश्मरीत्यादि। अश्मरी शर्करा चैवेत्यनन्तरम् 'एते' इत्यध्याहार्य तुल्यसंभवलक्षणे इत्यनेन द्विवचनान्तेन संबन्धनीयं, यथा—'तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी'—इत्यादिवत्। तुल्यः संभव उत्पत्तिकारणं लक्षणं च ययोस्ते तथा, 'तुल्ये संभवलक्षणैः' इति पाठान्तरे स

एवार्थः। विशेषणं विशेषः। तमेव विवृणोति—पच्यमानेत्यादि । कफसंधानं कफेनावयवसंश्लेषः, कफ एव वा संधानं कफसंधानं, संधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या । तेन पित्तपाकवातशोषौ संधानविमोक्षहेतुत्वेनोक्तौ । क्षरन्तीति वस्तितः चरके हि—'स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती' (च. चि. अ. २६) इत्येवं पठितम् । कुक्षौ शूलमिति संबन्धः। तया शर्करयेति ।

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्रकृच्छ्रनिदानं समाप्तम् ॥ ३० ॥

विमर्श—संश्लेषण कार्य श्लेष्मा का ही है । उसके क्षीण होने से सश्लेष नष्ट हो जाता है । और इसी लिये अश्मरी भिन्न (टुकडे टुकडे) हो जाती है । अश्मरी शर्करा का कारण प्रतीत होती है किन्तु वस्तुतः शर्करा (Gravels) के समूह से ही अश्मरी का निर्माण होता है । शर्करा रूप में अश्मरी के टुकडे मूत्र द्वारा निकल जाते हैं । इनके निकल जाने पर वेदना शान्त हो जाती है, किन्तु जब दूसरे टुकड़े मूत्रमार्ग में आ जाते हैं तो पुनः वेदना प्रारम्भ हो जाती है । शर्करा के भी टुकड़े सिकता कहलाते है । उनसे मूत्रकृच्छ्र न होकर सिकतामेह होता है ।

समाप्तं चेदं मूत्रकृच्छ्रनिदानम् ।



अथ मूत्राघातनिदानम्

मूत्राघातस्य संख्यामाह—

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश ।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादयः ॥ १ ॥

मल-मूत्र आदि के वेग को रोकने तथा रूक्षादि पदार्थों के सेवन आदि से कुपित हुए दोष (विशेषतया वात) वातकुण्डलिका आदि तेरह प्रकार के मूत्राघातों को उत्पन्न करते है ॥ १ ॥

मूत्रविकारसाधर्म्यान्मूत्राघातानाह—जायन्त इत्यादि । मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातयोश्चायं विशेषः—मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयितम्, ईषद्विबन्धः, मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान्, कृच्छ्रत्वमल्पमिति । मूत्रविघाताद्यैर्मूत्रवेगविधारणादिभिः, आद्यशब्देन पुरीषशुक्रवेगविघातादीनां रूक्षाशनादीनां च ग्रहणम् । वातकुण्डलिकादयस्त्रयोदशेति संबन्धः ॥ १ ॥

विमर्श—मूत्रकृच्छ्र मे मूत्रत्याग में अवरोध कम किन्तु पीडा या दाह आदि कष्ट अधिक होते हैं परन्तु मूत्राघात में मूत्र का अवरोध विशेषतया होता है, किन्तु साथ में मूत्रकृच्छ्र भी अल्प मात्रा में रहता हैं । आधुनिक दृष्टि से इस रोग को मूत्रप्रवृत्ति का अवरोध (Obstructed micturition) कहते हैं । इसके निम्न तेरह भेद हैं—

१. वातकुण्डलिका (Spasmodic stricture)
२. अष्ठीला ?
३. वातवस्ति (Retention of urine)
४. मूत्रातीत (Incontinence of urine.)

५. मूत्रजठर (Distended bladder.)
६. मूत्रोत्संग (Stricture of urethra)
७. मूत्रक्षय (Anurea or Suppression of urine.)
८. मूत्रग्रन्थि (Enlarged prostate or tumour of the bladder.)
९. मूत्रशुक्र ?
१०. उष्णवात (Cystitis or urethritis of Gonorrhoeal or other origin.)
११. मूत्रसाद (Scanty urination.)
१२. विड्विघात (Recto-vesical fistula.)
१३. बस्तिकुण्डल (Atonic condition of the bladder.)

क्रमप्राप्तां प्रथमं वातकुण्डलिकामाह—

रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुर्वस्तौ सवेदनः ।
मूत्रमाविश्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः ॥ २ ॥
मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं सम्प्रवर्तते ।
वातकुण्डलिकां तां तु व्याधिं विद्यात्सुदारुणाम् ॥ ३ ॥

(सु. उ. ५८)

रूक्ष पदार्थों के अधिक सेवन तथा वेग को रोकने से विगुण हुआ वस्तिगत वायु मूत्र को रोकते हुए कुण्डलाकार सचार करता है । इससे वस्ति में पीडा होती है, मूत्र-त्याग थोडी मात्रा में पीडा के साथ होता है । इस कष्टदायक व्याधि को वातकुण्डलिका कहते है ॥ २-३ ॥

वातकुण्डलिकामाह—रौक्ष्यादित्यादि । आविश्येत्यावृत्य; 'आविध्य' इति पाठान्तरे स एवार्थः । चरति गच्छति । विगुणः कुपितः । कुण्डलीकृत इति वात्यावद्भ्रमंस्तावेव भ्रमंस्तिष्ठतीति ॥ २-३ ॥

विमर्श—रूक्ष पदार्थों के सेवन से सार्वदैहिक वात-प्रकोप होता है । वेग-विघात स्थानिक वात-प्रकोप करता है । मूत्र से मूत्राशय का ग्रहण करना चाहिये । यह शुद्ध वातिक विकृति है; वातवैगुण्य के कारण वस्तिमुख-संकोचनी पेशी (Sphincters of the bladder) के बीच बीच मे सङ्कुचित हो जाने से मूत्रत्याग नही होने पाता । इससे बस्ति मे पीडा होती है, सकोच कुछ कम होने पर अल्पाल्प मात्रा में मूत्रत्याग होने लगता है । इस अवस्था को वातकुण्डलिका या उद्वेष्टनात्मक संकोच (Spasmodic stricture) कहते है ।

अष्ठीलां वर्णयति—

आध्मापयन्वस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम् ।
कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम् ॥ ४ ॥

वस्ति प्रदेश में कुपित वायु वस्ति तथा गुदा में आध्मान उत्पन्न करते हुए अष्ठीला के समान चल और उभरी हुई ग्रन्थि को पैदा कर देता है, इसे अष्ठीला कहते हैं । इससे मल और मूत्र के मार्ग में अवरोध तथा तीव्र पीडा होती है ॥ ४ ॥

अष्ठीलामाह—आध्मापयन्नित्यादि । रुद्ध्वेति वस्तिगुदमेव । अष्ठीलातुल्यत्वादष्ठीला, सा च वातव्याधावुक्ता ॥ ४ ॥

विमर्श—कतिपय विद्वान् अष्ठीला से प्रवृद्ध पौरुषग्रन्थि (Enlarged prostate) का ग्रहण करते हैं । वस्तुतः पौरुषग्रन्थि का ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह अचल होती है । इसके अतिरिक्त पौरुषग्रन्थि की वृद्धि में उन्नतता आगे की ओर दृष्टिगोचर नहीं होती, अपितु गुदपरीक्षा से ही इसका ज्ञान होता है । इसमें तीव्र पीड़ा भी नहीं होती अतः पौरुषग्रन्थि का ग्रहण नहीं किया जा सकता । अष्ठीला का वर्णन वातव्याधि में हुआ है । विस्तृत विवेचन वहीं देखें ।

वातवस्ति निरूपयति—

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः ।
निरुणद्धि मुखं तस्य वस्तेर्वस्तिगतोऽनिलः ॥ ५ ॥
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन वस्तिकुक्षिनिपीडितः ।
वातवस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः ॥ ६ ॥ (सु. उ. ५८)

यदि कोई अज्ञानी मनुष्य मूत्र के वेग को रोकता है तो बस्तिस्थित प्रकुपित वायु बस्ति के मुख में अवरोध उत्पन्न कर देता है । इससे मूत्रत्याग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है तथा बस्ति और कुक्षि प्रदेश में पीड़ा होती है । इस कृच्छ्रसाध्य व्याधि को वातवस्ति कहते है ॥ ५-६ ॥

वातवस्तिमाह—वेगमित्यादि । वस्तिकुक्षिनिपीडित इति वस्तौ कुक्षौ च निपीडितः संपिण्डितो वायुरिति संबन्धः, 'वस्तिकुक्षिं निपीडयन्' इति पाठान्तरे वस्तिकुक्ष्यो रुजाकर इति ॥ ५-६ ॥

विमर्श—इस अवस्था में कुछ काल के लिये मूत्रावरोध पूर्णतया हो जाता है अतः इसे पूर्ण मूत्रावरोध (Retentiore of urine) कह सकते हैं ।

मूत्रातीतमाह—

चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते ।
मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥ ७ ॥

अधिक समय तक मूत्र को रोकने से मूत्रत्याग करने पर मूत्र जल्दी नहीं उतरता, यदि उतरता भी है तो बहुत धीरे-धीरे; इस अवस्था को मूत्रातीत कहते है ॥ ७ ॥

मूत्रातीतमाह—चिरमित्यादि । त्वरया न प्रवर्तत इति मूत्रमित्यर्थः । मेहमानस्य मूत्रं त्यजतः । 'वहमानस्य' इति पाठान्तरं सुगमम् ॥ ७ ॥

विमर्श—आधुनिक दृष्टि से इस रोग को अपूर्ण मूत्रावरोध (Partial retention of urine or Incontinence of urine) कहते हैं ।

मूत्रजठरं प्राह—

मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः ।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद् भृशम् ॥ ८ ॥

नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम् ।
तन्मूत्रजठरं विद्यादधोवस्तिनिरोधनम् ॥ ९ ॥ (सु. उ. ५८)

मूत्र का वेग रोकने से मूत्रवेग-निरोधज उदावर्त के कारण मूत्रप्रवृत्ति कराने वाला, वस्तिस्थित अपान वायु प्रकुपित होकर पेट को फुला देता है और नाभि के निम्न प्रदेश में तीव्र वेदनायुक्त आध्मान को उत्पन्न कर देता है । वस्ति के अधोभाग (वस्तिमुख) में अवरोध उत्पन्न करने वाले इस रोग को मूत्रजठर कहते हैं ॥ ८-९ ॥

मूत्रजठरमाह—मूत्रस्य वेग इत्यादि । तदुदावर्तहेतुक इति मूत्रवेगधारणजनितोदावर्तनिमित्तः । अधोवस्तिनिरोधनमिति वस्तेरधोभागे विबन्धकारकम् ॥ ८-९ ॥

विमर्श—इस अवस्था में मूत्रपूर्ण वस्ति अधिक विस्तृत हो जाती है और पेडू में उभरी हुई प्रतीत होती है । अतः पेट फूल जाता है, मूत्रत्याग पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है । इसे चिह्न की दृष्टि से मूत्रजठर (Distended bladder) एवं लक्षण की दृष्टि से पूर्ण मूत्रावरोध (Complete retention of urine) कह सकते हैं । कभी-कभी मूत्रावरोध की चिकित्सा में शलाका प्रयोग में असावधानी से अथवा अभिघात या व्रण आदि कारणों से मूत्राशय में छेद हो जाता है । उस छिद्र के द्वारा मूत्र शिश्नमूल के समीप अधस्त्वग् देश में सञ्चित होने लगता है और उत्तरोत्तर ऊपर की ओर बढ़ते हुए कभी कभी उदरभित्ति में भी पहुँच सकता है । इसे मूत्र बहिःस्रवण (Extravasation of urine) कहते हैं । इसे भी मूत्रजठर में समाविष्ट किया जा सकता है ।

मूत्रोत्सङ्गं व्याचष्टे—

वस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः ।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥ १० ॥
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम् ।
विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः ॥ ११ ॥ (सु.उ.५८)

मूत्रत्याग करते हुए मनुष्य का मूत्र प्रवृत्त होकर भी वस्ति, शिश्ननाल या शिश्नमणि में रुक जाता है अथवा जोर लगाने पर रक्तयुक्त आता है या धीरे-धीरे अल्पाल्प मात्रा में पीडा या बिना पीडा के ही निकलता है, विगुण वायुजनित इस अवस्था को मूत्रोत्सङ्ग कहते हैं ॥ १०-११ ॥

मूत्रोत्सङ्गमाह—वस्तावित्यादि । नाले मेढ्रे मणौ मेढ्राग्रे । प्रवृत्तं सज्जेतेति संसक्तं सन्न प्रवर्तते । सरक्तं वा प्रवाहत इति प्रवाहणकुपितवायुना वस्त्यादिभेदजनितरक्तयुक्तं मूत्रं प्रवर्तते ॥ १०-११ ॥

विमर्श—आधुनिक दृष्टि से इसका एक नाम नहीं दिया जा सकता । शिश्न गत मूत्रनलिका (मूत्रप्रसेक = urethra) में औपसर्गिकमेह (Gonorrhoea) आदि के कारण उत्पन्न व्रण के रोहण के बाद व्रणवस्तु (Scar tissues) बन जाने पर मूत्र बाहर नहीं निकलता । मार्ग के पूर्ण अवरुद्ध हो जाने पर मूत्रावरोध भी पूरी तरह से हो जाता है । यदि मूत्रमार्ग पूर्णतया अवरुद्ध

नहीं हुआ है तो रुक रुक कर मूत्र की प्रवृत्ति होती है। जोर लगाने या मूत्रमार्ग मे किसी प्रकार का आघात लग जाने से मूत्र में रक्त की उपस्थिति के साथ अल्पमात्रा मे मूत्रप्रवृत्ति भी हो सकती है। इस अवस्था को अर्वाचीन ग्रंथों में स्ट्रिकचर (Stricture) कहा गया है।

मूत्रक्षयं निरूपयति—

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ ।
मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम् ॥१२॥ (सु. उ. ५८)

रूक्ष प्रकृति तथा रोगादि से क्षीण शरीर वाले व्यक्ति के वस्ति में पित्त और वायु प्रकुपित होकर मूत्र का क्षय तथा पीडा और दाह उत्पन्न कर देते है, इस रोग को मूत्रक्षय कहते हैं ॥ १२ ॥

तदाह्वयमिति मूत्रक्षयाख्यं, कारणे कार्योपचारात् ॥ १२ ॥

विमर्श—इस अवस्था में मूत्र बनना कम या बन्द हो जाता है, वस्ति रिक्त रहती है, मूत्रत्याग की इच्छा होती है किन्तु वस्ति में मूत्र न रहने से वह नहीं निकलता, रिक्त वस्ति मे दाह तथा पीडा होती है। आजकल इस अवस्था को मूत्रनाश या मूत्रक्षय (Anurea or Suppression of urine) कहते हैं। यह तीव्र वृक्कशोथ (Acute nephritis) तथा अशुघात (Sun stroke) आदि में विशेष रूप से होता है। ध्यान रहे कि आयुर्वेदाचार्यों ने वस्ति शब्द का प्रयोग सम्पूर्ण मूत्रवह संस्थान के लिए भी किया है।

मूत्रग्रन्थिमाह—

अन्तर्वस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत् ।
अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥ १३ ॥ (वा.नि.९)

वस्तिमुख के अन्दर अकस्मात् अश्मरी के समान पीडा देने वाली, गोल, स्थिर तथा छोटी ग्रन्थि हो जाती है (जो मूत्रत्याग में बाधक भी होती है) उसे मूत्रग्रन्थि कहते हैं ॥ १३ ॥

मूत्रग्रन्थिमाह—अन्तरित्यादि। अन्तर्वस्तिमुखे वस्तिमुखस्याभ्यन्तरे । ग्रन्थिर्गुडकाकारः। ननु, स्थानवेदनाकारणानामभिन्नत्वादश्मर्या सह को भेदः ? उच्यते, अश्मर्यां पित्तादिकं संहन्यते, अत्र तु रक्तमेव। उक्तं हि तन्त्रान्तरे,—'रक्तं वातकफाद् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम्। ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्रं तदावृतम्। अश्मरीसमशूलं तं रक्त (मूत्र) ग्रन्थिं प्रचक्षते' इति । विशेषज्ञानं तु कुत इति चेत् ? अश्मरीपूर्वरूपोक्तस्य मूत्रे बस्तसगन्धत्वादेर्भावाभावाभ्याम् ॥ १३ ॥

विमर्श—स्थान, वेदना तथा कारण की दृष्टि से मूत्रग्रन्थि तथा अश्मरी मे कुछ साम्य है। किन्तु अश्मरी में दोषों के साथ रक्त का सम्बन्ध नहीं होता जब कि तन्त्रान्तर से यह सिद्ध है कि मूत्रग्रन्थि की उत्पत्ति में वात और कफ के द्वारा प्रधानतः रक्त की दुष्टि होती है—

रक्तं वातकफाद् दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम्। अश्मरीसमशूलं तं मूत्रग्रन्थिं प्रचक्षते ॥
(च. सि. ९)

इन दोनों की सापेक्ष-निश्चित अश्मरी के पूर्वरूप में वर्णित मूत्र में बकरी के समान गन्ध की उपस्थिति या अनुपस्थिति से होती है। इस प्रकार की अवस्था पौरुषग्रन्थि की वृद्धि (Enlarged prostate) में मिलती है।

मूत्रशुक्रं व्याचष्टे—

मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम् ।
स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्त्तते ॥ १४ ॥ (वा.नि.९)
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते ।

मूत्र का वेग रहने पर स्त्री के साथ संभोग करने वाले पुरुष का वायु प्रकुपित हो जाना है। इससे अवरुद्ध किन्तु अपने स्थान से च्युत हुआ शुक्र मूत्रत्याग के पूर्व अथवा पश्चात् निकलना है जिससे मूत्र चूने के पानी के समान आता है, इसे मूत्रशुक्र कहते है ॥ १४ ॥

मूत्रशुक्रमाह—मूत्रितस्येत्यादि । मूत्रितस्य मूत्रवेगितस्य। स्थानाच्च्युतं स्वस्थानाद् भ्रष्टं शुक्रम् ॥ १४ ॥

विमर्श—शुक्रमेह में भी मूत्र शुक्रमिश्रित निकलता है किन्तु मूत्रत्याग में कोई कृच्छ्रता नहीं होती । इसमें शुक्र कुछ ग्रन्थिल हो जाता है अतः कृच्छ्रता (पीडा) हो सकती है ।

उष्णवातं निरूपयति—

व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलान्वितम् ॥ १५ ॥
वस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहेत्स्रावयेदधः ।
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा ॥ १६ ॥
कृच्छ्रात्पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवातं ब्रुवन्ति तम् ।
(सु. उ. ५७)

अधिक व्यायाम, पैदल यात्रा तथा धूप के सेवन से प्रकुपित हुआ वायु सहित पित्त वस्ति में स्थित होकर बस्ति, मेढ्र तथा गुदा में जलन पैदा करता है और हरिद्रावर्ण या रक्तमिश्रित मूत्र अथवा केवल रक्त का ही स्राव कराता है । इस प्रकार कठिनता से पुनः पुनः मूत्रत्याग होता है । इस अवस्था को उष्णवात कहते हैं ॥ १५-१६ ॥

उष्णवातमाह—व्यायामेत्यादि । व्यायामाद्विरोधिसौम्यधातुक्षयात्तेजोवृद्धया पित्तवृद्धिः। अनिलान्वितमनिलसंयुतम् । 'अनिलावृतम्' इति पाठान्तरं सुगमम् । सरक्तमीषल्लोहितम् ॥

विमर्श—यह अवस्था सामान्य मूत्राशय-कलाशोथ (Cystitis) या मूत्रप्रसेकशोथ (urethritis) के कारण होती है । यह शोथ पूयमेह के गोलाणु (Gonococci) या दूसरे उपसर्गों से हो सकता है। पूयमेहगोलाणु से ही यह शोथ प्रायः हुआ करता है अतः प्राचीन वैद्य इस औपसर्गिक पूयमेह (Gonorrhoea) का उष्णवात से ही ग्रहण करते है ।

मूत्रसादं प्राह—

पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ॥ १७ ॥
कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं सृजेत् ।
सदाहं रोचनाशङ्खचूर्णवर्णं भवेत्तु तत् ॥ १८ ॥

शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम् ।

(वा. नि. ९)

यदि पित्त और कफ पृथक्-पृथक् अथवा दोनों ही सम्मिलित रूप मे प्रकुपित वायु द्वारा गाढ़े हो जाते है तो रोगी कठिनता से पीत-रक्त या श्वेत और घन दाहयुक्त, गोरोचना तथा शंख चूर्ण के वर्ण के सदृश, शुष्क (अल्प जलयुक्त) तथा समस्त दोषों के वर्ण के समान मूत्रत्याग करता है उसे मूत्रसाद कहते हैं ॥ १७-१८ ॥

मूत्रसादमाह—पित्तमित्यादि । संहन्येते स्त्यानीक्रियेते । शुष्कमल्पं तन्मूत्रं पित्तेन रोचनाभं कफेन शङ्खचूर्णाभं, समस्तवर्णमुक्तसकलवर्णं सन्निपातात् ॥ १७-१८ ॥

विमर्श—पित्त की विशेषता होने पर मूत्रत्याग में विशेष दाह, मूत्र का रंग पीला, लाल अथवा गोरोचना के सदृश होता है। कफ की अधिकता में शङ्खचूर्ण के समान सफेद तथा घन होता है। त्रिदोषज होने पर सभी दोषों के वर्ण अत्यधिक मात्रा मे मिलते हैं। जल की कमी होने से मूत्र गाढ़ा रहता है और इसीलिये मूत्रत्याग में कष्ट होता है। आधुनिक दृष्टि से इसे सान्द्र एवं अल्पमूत्रता (Concentrated and scanty urination) कहते हैं। जल की मात्रा जितनी ही कम होगी मूत्र का रंग भी उतना ही गहरा होगा। मूत्राशयशोथ में मूत्रबहुलता रहती है अतः उसे मूत्रसाद नहीं कह सकते।

विड्विघातमाह—

रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा ॥ १९ ॥
मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः ।
विड्गन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

(वा. नि. ९)

रूक्ष अथवा दुर्बल मनुष्य का मल जब वायु से उदावृत्त (विलोम) होकर मूत्रमार्ग में पहुँच जाता है तो रोगी मल से युक्त अथवा मल की गन्ध वाले मूत्र का पीडा के साथ त्याग करता है, इस अवस्था को विड्विघात कहते हैं ॥ १९-२० ॥

विड्विघातमाह—रूक्षेत्यादि । अनुपद्येत प्राप्नुयात् । विड्गन्धमित्यत्र वाशब्दो द्रष्टव्यः ॥

विमर्श—गुदमूत्राशयिक भगन्दर (Recto-vesical Fistula) के होने पर कदाचित् मल का कुछ अंश मूत्राशय में जा सकता है, उस स्थिति में मूत्र में मल के अंश अथवा गन्ध मिलती है।

वस्तिकुण्डलं निरूपयति—

द्रुताध्वलङ्घनायासैरभिघातात्प्रपीडनात् ।
स्वस्थानाद्वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥ २१ ॥
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि ।
पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥ २२ ॥

वस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् ।
पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ॥ २३ ॥

जल्दी जल्दी चलने से, कूदने से, अधिक परिश्रम करने से तथा चोट लगने से या दबाव के कारण वस्ति अपने स्थान से उलटकर या ऊपर उठ कर गर्भ के समान स्थूल प्रतीत होता है। इस अवस्था में वस्ति में शूल, स्पन्दन (Fluctuation) तथा दाह होता है, मूत्र बूंद बूद करके निकलता है, किन्तु वस्ति को दबाने पर मूत्र की धारा निकल पड़ती है। शरीर जकड़ जाता है और ऐंठन सदृश पीडा होती है। इस व्याधि को वस्तिकुण्डल कहते हैं। यह व्याधि शस्त्र व विष अथवा विष में बुझे शस्त्र के समान बहुत भयंकर है। इसमें वायु की प्रबलता रहती है और साधारण बुद्धि का व्यक्ति इसकी चिकित्सा नहीं कर सकता ॥ २१-२३ ॥

वस्तिकुण्डलमाह—द्रुतेत्यादि। लङ्घनमुत्पतनम्। उद्वृत्तः स्वस्थानादूर्ध्वं गतः। गर्भवदिति गर्भिण्या उदरान्तर्गतापत्यवत्; एतेन वस्तिपुटस्य पार्श्वगमनं दर्शितम्। पीडित इति नाभेरधः। उद्वेष्टनार्तिरुद्वेष्टनरूपाऽऽर्तिः। शस्त्रविषोपमशस्त्रविषसदृशमिति विभिन्नार्थसूचनार्थं प्रसिद्धानुभवोपदर्शनार्थम् ॥ २१-२३ ॥

विमर्श—इस अवस्था को (Atonic condition of the badder) कह सकते हैं। मूत्र का बूद बूद करके तथा दबाने पर धार के साथ निकलना, इस लक्षण के आधार पर इसे वातकुण्डलिका से पृथक् समझना चाहिये।

दोषान्तरसम्बन्धस्य लक्षणमाह—

तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता ॥ २४ ॥
श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ।

यदि वातकुण्डल में पित्त का अनुबन्ध हो जाता है तो दाह, शूल तथामूत्र में विवर्णता आजाती है। कफ का अनुबन्ध होने पर शरीर में भारीपन व सूजन आजाती है तथा मूत्र चिकना गाढ़ा तथा सफेद होता है ॥ २४ ॥

वातस्यैव दोषान्तरानुबन्धिनो लक्षणमाह—तस्मिन्नित्यादि। श्लेष्मणा अन्विते तस्मिन्निति बोद्धव्यम् ॥ २४ ॥

वस्तिकुण्डलस्य साध्यासाध्यतामाह—

श्लेष्मरुद्धबिलो वस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति ।
अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ॥ २५ ॥

पित्त की प्रबलता होने तथा कफ के द्वारा मूत्रमार्ग में अवरोध होने पर यह रोग असाध्य होता है किन्तु मूत्रमार्ग बन्द न होने या कुण्डलीकृत (ऐंठन या संकोच के कारण बन्द होना) न होने पर साध्य होता है ॥ २५ ॥

तस्यैव साध्यत्वासाध्यत्वमाह—श्लेष्मरुद्धबिल इत्यादि। बिलं वस्तिमुखशुषिरम्। पित्तोदीर्णं उपचितपित्तः, स एवाविभ्रान्तबिलोऽनावृतबिलः। कफेन कुण्डलीकृतोऽसाध्य इति बोध्यम्। अकुण्डलीकृतस्तु साध्यत्वेनोक्तः ॥ २५ ॥

विमर्शः—पित्त की अधिकता से विदाह और पाक तथा कफानुबन्ध से पूयोत्पत्ति होती है और यह पूय सूखकर मूत्रद्वार को बन्द कर देता है तो शलाकाप्रवेश आदि शस्त्रचिकित्सा के बिना साध्यता सम्भव नहीं, तथा इस अवस्था के बार-बार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है अतः इसे असाध्य बताया गया है। किन्तु बिल (मूत्रद्वार) अवरुद्ध न हो तो साध्य होता है। सान्द्र कफ के द्वारा अवरोध के अभाव मे भी केवल वात-प्रकोप के कारण सकोच (Spasm) होकर भी कुण्डलीभाव या बिलावरोध हो सकता है और यह भी असाध्यता का निदर्शक होता है।

कुण्डलीभूतस्य लक्षणमाह—

स्याद्बस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः श्वास एव च ॥ २६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ॥ ३१ ॥

बस्ति के कुण्डलीभूत होने पर प्यास, मूर्च्छा तथा श्वास के लक्षण होते हैं ॥ २६ ॥

कुण्डलीभूतस्यैव लिङ्गमाह—स्यादित्यादि। एतौ विड्विघातवस्तिकुण्डलौ सुश्रुतेन न पठितौ, तेन हि मूत्रोदकसादमेव द्विधा पठित्वा द्वादश मूत्राघाता इत्युक्तं, सर्वानभिधानं तु पराधिकारत्वेनेति मन्तव्यम् ॥ २६ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ॥ ३१ ॥

विमर्शः—कुपित वातकृत संकोच या सान्द्र कफ या पूयजनित मूत्रद्वार के अवरोध होने पर मूत्रविषमयता (Uraemia) के निदर्शक तृष्णा, मूर्च्छा, श्वास आदि लक्षण प्रकट हो सकते हैं।

समाप्तं चेदं मूत्राघातनिदानम्।



अथाश्मरीनिदानम्

अश्मर्याः संख्यामाह—

वातपित्तकफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजाऽपरा ।
प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥ १ ॥

वातज, पित्तज, कफज तथा शुक्रज भेद से अश्मरी चार प्रकार की होती है। प्रायः सभी अश्मरियों में श्लेष्मा समवायिकारण रूप से रहती है। यदि इनकी चिकित्सा न की जाय तो यम के समान मारक होती है ॥ १ ॥

विमर्शः—घनता कफ के बिना नहीं होती अतः आगे कहा है—**'नैकदोषाश्रयाः सर्वाः'**।

अश्मर्याः सम्प्राप्तिमाह—

विशोषयेद्बस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा ।
यदा तदाश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥ २ ॥
नैकदोषाश्रयाः सर्वाः— (च. चि. २६)

जब वायु बस्तिगत शुक्र, मूत्र, पित्त अथवा कफ को दूषित करके सुखा देता है तो गौ के पित्ताशय में पित्त के सूखने से उत्पन्न रोचना के समान क्रमशः अश्मरी की उत्पत्ति होती है। सभी अश्मरी त्रिदोषज होती हैं (अधिकता के अनुसार वातिक आदि व्यवहार होता है।) ॥ २ ॥

मूत्ररोधित्वसाधर्म्यादश्मरीमाह-वातेत्यादि। श्लेष्माश्रया इति श्लेष्मसमवायिकारणाः, शुक्रजां विना; तत्र शुक्रस्यैव समवायिकारणत्वात्। तथा च दृढबल,—'विशोषयेद्बस्तिगतं सशुक्रम्' (च. चि. अ. २६) इत्यादि, एतच्च सामान्योक्तमपि विशेषेण संबध्यते ॥ यथा—हल्ङ्यादिसूत्रे 'दीर्घात्' इति विशेषणं ङ्याब्भ्यां संबध्यते, नतु हला। अत एवात्र प्रायोग्रहणं कृतवान्। अन्ये तु शुक्राश्मर्यामपि कफकारणत्वमिच्छन्त्येव, विरोधाभावात्। प्रायःशब्दश्चात्र विशेषार्थः। यमोपमा इति असति चिकित्सितेऽवश्यमेव मारकत्वात्। विशोषयेदित्यादि। पित्तेष्विवेति वातशोषितेषु। नैकदोषाश्रया इति त्रिदोषजाः, उद्धृतदोषेण व्यपदेशः ॥ १-२ ॥

विमर्शः—बस्ति शब्द उपलक्षण है। इससे पित्ताशय, वृक्क तथा गवीनी का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इस प्रकरण में प्रधानतया बस्तिगत अश्मरी का ही वर्णन किया जायगा, अतः बस्ति शब्द का ही उपादान किया गया है। इसके अतिरिक्त बस्ति से सम्पूर्ण मूत्रप्रणाली का भी ग्रहण करना चाहिये क्योंकि शरीर-रचनाशास्त्र की दृष्टि से शुक्रमार्ग का बस्ति से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, वह सीधा प्रोस्टेट में जाकर खुलता है। इस प्रकार शुक्राश्मरी की सत्ता बस्ति में स्वीकार नहीं की जा सकती। अतः बस्तिगत शब्द से मूत्रप्रणालीगत का भी ग्रहण करना चाहिये। शुक्राशय से निकले हुए शुक्र को रोकने से नवयुवकों को यह अश्मरी होती है। अश्मरी एवं गोरोचना का उपमानोपमेय भाव पूर्ण संगत है। मूत्र में तरलता की कमी एवं घनता की वृद्धि ही अश्मरी का प्रधान हेतु है। समवर्त की विकृति से मूत्र में मिहिक अम्ल (Uric acid) तथा फास्फेट जैसे पदार्थों की प्रचुरता होने पर उनके कण धीरे-धीरे एकत्रित होने लगते हैं जो अन्ततोगत्वा अश्मरी

(Calculus) का रूप धारण कर लेते हैं । मूत्र का वेग धारण करने से भी मूत्र की तरलता कम होती है अतः इसको भी अश्मरी का कारण माना है । पित्त लवणों के कण ही एकत्रित होकर पित्ताशयाश्मरी (Gall stone) की उत्पत्ति करते हैं ।

आधुनिक विद्वान् सघटक पदार्थों के आधार पर अश्मरी के भेद मानते हैं, वस्तुतः लक्षणों में साम्य है । आधुनिक वैद्यक में निम्न अश्मरियाँ मानी जाती हैं—

१. यूरिक एसिड
२. कार्बोनेट (कैल्शियम कार्बोनेट)
३. फास्फेट
४. सोडियमयूरेट
५. आक्जलेट

ये पाँच प्रकार की अश्मरियाँ अधिकतर होती है। इनके अतिरिक्त कभी-कभी निम्न अश्मरियाँ भी मिलती है—

१. कैल्शियम, मैगनेशियम तथा अमोनियम की मिली हुई अश्मरी
२. सिस्टीन
३. जेन्थीन
४. इण्डिकन

यूरिक एसिड, यूरेट तथा कार्बोनेट के लक्षण पैत्तिक अश्मरी से मिलते हैं । फास्फेट के लक्षण कफज से तथा आक्जलेट के लक्षण वातिक अश्मरी से साम्य रखते है ।

अश्मर्याः पूर्वरूपं विवेचयति—

—अथास्यां[1] पूर्वलक्षणम् ।

बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक् ॥ ३ ॥

मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः । (वा. नि. ९)

मूत्राशय का फूला रहना, उसमें तथा उसके समीपस्थ प्रदेश में तीव्र पीडा, मूत्र में बकरे के सदृश गन्ध आना, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर तथा अरुचि ये अश्मरी के पूर्वरूप हैं ॥ ३ ॥

पूर्वरूपमाह—अथेत्यादि । बस्तसगन्धत्वं बस्तसमानगन्धत्वम् ॥ ३ ॥

अश्मरीणां सामान्यलक्षणमाह—

सामान्यलिङ्गं रुङ्नाभिसेवनीबस्तिमूर्धसु ॥ ४ ॥

विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गे निरोधिते ।

तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ॥ ५ ॥

तत्संक्षोभात्क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत् । (वा. नि. ९)

नाभि, सेवनी या अण्डकोष एवं गुदा के मध्य (Perineal raphe) तथा बस्तिशिर (बस्ति का उपरितन भाग या पेडू) में पीडा होती है, अश्मरी के द्वारा मूत्रमार्ग अवरुद्ध हो जाने पर

१. 'अश्मर्याः' इति पा० ।

मूत्र कई धाराओं में निकलता है, मूत्रमार्ग से अश्मरी के हट जाने पर रोगी सरल स्वच्छ या गोमेद के समान कुछ रक्तवर्ण के मूत्र का त्याग सरलता पूर्वक करता है। यदि अश्मरी की रगड़ से बस्ति में क्षत हो जाय तो मूत्र में रक्त भी आने लगता है। मार्ग में अश्मरी रहने पर यदि प्रयत्नपूर्वक मूत्रत्याग किया जाय तो भयङ्कर पीड़ा होती है ॥ ४-५ ॥

तासां सामान्यलक्षणमाह—सामान्येत्यादि। रुक् शूलं, वस्तिमूर्धा नाभेरधोदेशः। विशीर्णधारं सविच्छेदधारम्। तया अश्मर्या। मार्गो मूत्रवाहि स्रोतः। तद्व्यपायाद्वायुना कदाचिदश्मरीकृतमार्गरोधव्यपगमात्। मेहेत् मूत्रयेत्। अच्छमनाविलम्। गोमेदकोपममिति। गोमेदको लोहितमणिस्तद्वर्णम्। तत्संक्षोभाद्विरुद्धमार्गमूत्रेण पीडनादश्मरीसंपाताद्वा क्षते जाते मूत्रवहादौ, सास्रं सरक्तं मूत्रं प्रवर्तते आयासात् प्रवाहणादिजनितक्लमात् ॥ ४-५ ॥

वातजामश्मरीमाह—

तत्र वाताद् भृशं चार्तो दन्तान् खादति वेपते ॥ ६ ॥
गृह्णाति मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन् ।
सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति बिन्दुशः ॥ ७ ॥
श्यावारुणाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव । (वा. नि. ९)

वातिक अश्मरी में इतनी अधिक पीड़ा होती है कि रोगी दाँतों से ओष्ठों को काटने लगता है और काँपता है। रोगी मूत्रेन्द्रिय को हाथ से बार-बार पकड़ता है और कराहता हुआ नाभि को दबाता है, अपानवायु के साथ मल का त्याग हो जाता है और बार-बार कठिनाई से बूँद-बूँद मूत्रत्याग करता है। इस अश्मरी का वर्ण धूसर होता है और यह काँटों के समान उभारों से व्याप्त रहती है ॥ ६-७ ॥

वातजामाह—तत्रेत्यादि। क्वणन् आर्तनादं सानिलं कुर्वन्। सशब्दं, मूत्रप्रवृत्त्यर्थं कृतातिकुन्थनात्। मेहति बिन्दुश इति बिन्दुं बिन्दुं मूत्रयति, 'बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्' इति अल्पार्थे शस्प्रत्ययः। श्यावेत्यादि। अश्मर्या आकारकथनम् एतच्चाकृष्टानां प्रत्यक्षसंवादेन शास्त्रप्रामाण्यख्यापनार्थमित्याहुः, आकृष्टासु दोषोचितचिकित्सार्थमित्यन्ये ॥

विमर्शः—चरक ने इस अश्मरी को ठीक कदम्बपुष्प की आकृति का कहा है—

कदम्बपुष्पाकृतिरश्मतुल्या श्लक्ष्णा त्रिपुट्यप्यथवाऽपि मृद्वी ।

अश्मरी की उक्त प्रकार की आकृति तथा वर्ण के आधार पर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि यह आक्जलेट है।

पैत्तिकाश्मरीं प्राह—

पित्तेन दह्यते वस्तिः पच्यमान इवोष्मवान् ॥ ८ ॥
भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्तपीताऽसिताश्मरी । (वा. नि. ९)

पैत्तिक अश्मरी के कारण वस्ति में जलन तथा पच्यमान व्रण के समान उष्णता रहती है। अश्मरी की आकृति भिलावे की गुठली के समान होती है और इसका वर्ण लाल-पीला अथवा काला होता है ॥ ८ ॥

पित्तजामाह—पित्तेनेत्यादि। पच्यमानः क्षारेणेव। ऊष्मवान् उष्णस्पर्शः। असिता कृष्णा।

विमर्शः—यूरिक एसिड तथा यूरेट की अश्मरी में भी पैत्तिक अश्मरी के समान ही लक्षण मिलते हैं।

कफजमाह—

वस्तिर्निस्तुद्यत इव श्लेष्मणा शीतलो गुरुः ॥ ९ ॥
अश्मरी महती श्लक्ष्णा मधुवर्णाऽथवा सिता। (वा. नि. ९)

कफज अश्मरी के कारण वस्ति में तोद (सुई के समान चुभान), शीतलता तथा भारीपन रहता है। यह अश्मरी अन्यों की अपेक्षा अधिक बड़ी तथा चिकनी होती है। इसका वर्ण शहद के समान अथवा सफेद होता है ॥ ९ ॥

श्लेष्मजामाह—वस्तिरित्यादि। श्लक्ष्णा मसृणा। मधुवर्णा ईषत् पिङ्गलशुक्ला ॥ ९ ॥

विमर्शः—आकृति के अनुसार इसे फास्फेट की अश्मरी कह सकते हैं।

एतासां साध्यत्वमाह—

एता भवन्ति बालानां तेषामेव च भूयसा ॥ १० ॥
आश्रयोपचयाल्पत्वाद् ग्रहणाहरणे सुखाः। (वा. नि. ९)

ये दोषज अश्मरियाँ प्रायः बालकों को ही होती हैं। आश्रय (वस्तिस्थान) तथा स्थूलता की कमी के कारण बच्चों में यह शल्यक्रिया द्वारा आसानी से निकाली जा सकती है ॥ १० ॥

एता इति त्रिदोषजा बालानां स्युः, तेषां तन्निदानाभ्यासात्। भूयसा प्रायेण, तेन महतामपि त्रिदोषजा भवन्ति। तेषामेव बालानां ग्रहणाहरणे सुखा इति सम्बन्धः। आश्रयोपचयाल्पत्वादिति आश्रयो बस्तिः, उपचयः स्थौल्यं, तयोरल्पत्वं; तच्च तद्देहाल्पत्वात्। आहरणं पाटनादिपूर्वकमाकर्षणं, ग्रहणं तदर्थमेवाङ्गुलिभ्यां धारणम्। उक्तं हि सुश्रुते। 'प्रायेणैतास्तिस्रोऽश्मर्यो दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धमधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण बालानां भवन्ति, तेषामेवाल्पबस्तिकायत्वादल्पमांसोपचयाच्च बस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति' (सु. नि. अ. ३) इति ॥ १० ॥

विमर्शः—पीछे कहा गया है कि अश्मरी श्लेष्माश्रया होती है और बच्चों में भी श्लेष्मा की ही प्रधानता रहती है अतः अश्मरी प्रायः बच्चों में हुआ करती है। किन्तु वयस्कों में भी हो सकती है। वस्तुतः बस्ति के पूर्णतया रिक्त न होने के कारण बच्चों में यह अधिक होती है। अश्मरी होने पर बच्चा अपने शिश्नाग्र को पकड कर बार बार खींचा करता है। सुश्रुत भी अश्मरी की उपस्थिति बच्चों में ही अधिक बताते हैं—प्रायेणैतास्तिस्रोऽश्मर्यो दिवास्वप्नसमशनाध्यशनशीतस्निग्धमधुराहारप्रियत्वाद्विशेषेण बालानां भवन्ति, तेषामेवाल्पबस्तिकायत्वादल्पमांसोपचयाच्च बस्तेः सुखग्रहणाहरणा भवन्ति'।

शुक्राश्मरीं लक्षयति—

शुक्राश्मरी तु महतां जायते शुक्रधारणात् ॥ ११ ॥
स्थानाच्च्युतममुक्तं हि मुष्कयोरन्तरेऽनिलः।
शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तच्छुक्रमश्मरी ॥ १२ ॥

वस्तिरुङ्मूत्रकृच्छ्रत्वमुष्कश्वयथुकारिणी ।
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते ॥ १३ ॥

(वा. नि. ९)

पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन्—

वयस्क पुरुषों को ही शुक्र का वेग धारण करने से शुक्राश्मरी होती है। कामवासना की इच्छा या मैथुन से शुक्र अपने स्थान से च्युत हो जाता है । इस अवस्था में वेग-धारण करने से वह दोनों अण्डकोषों के मध्य (मूत्रप्रणाली) में ठहर जाता है । इसको वायु सुखा देता है जिससे वह शुक्र अश्मरी के तुल्य हो जाता है। इस प्रकार वस्तिप्रदेश में पीडा, मूत्रकृच्छ्र तथा अण्डकोषों में शोथ हो जाता है। शुक्राश्मरी के उत्पन्न होते ही अश्मरी के स्थान में दबाने से ही अश्मरी विलीन हो जाती है और शुक्र मूत्रमार्ग से निकल जाता है ॥ ११-१३ ॥

शुक्राश्मरीमाह—शुक्रेत्यादि । तुशब्दोऽवधारणे; तेन महतामेव नतु बालानां तेषां वक्ष्यमाणसंप्राप्तेरभावात ; नतु शुक्राभावात् , अन्यथा षड्धातुकत्वं स्यात । शुक्रधारणादुपस्थितशुक्रवेगस्य मैथुनाकरणात् । मुष्कयोरन्तरे 'मेढ्रेण सह' इति शेषः । सुश्रुते हि 'मेढ्रवृषणयोरन्तरे' (सु. नि. अ. ३) इत्येवोक्तम् । मेढ्रवृषणमध्यगतवस्तिमुख इत्यर्थः, तत्रैव शुक्रवहस्रोतसो वस्तिमुखेन सह संबन्धात् । तथाभूतं शुक्रमेवाश्मरीति । बस्तिरुग्वस्तिशूलं, मुष्कश्वयथुकारिणी वृषणयोः शोथकारिणी तस्यां शुक्राश्मर्याम् । इति वर्तते । तुशब्दोऽवधारणे । अवकाशेऽस्मिन्निति मेढ्रवृषणयोरन्तरे । अस्मिन्नेव पीडिते सति विलीयते प्रविलयमापद्यत इत्यर्थः। अत एव सुश्रुतः—'पीडितमात्रे च तस्मिन्नेवावकाशे प्रविलयमापद्यते' (सु. नि. अ. ३) इति ॥ ११-१३ ॥

विमर्शः—शुक्राश्मरी युवा पुरुषों में ही पाई जाती है। यद्यपि बच्चों में भी शुक्र रहता है तथापि अनुद्भूत होने के कारण उनमें शुक्राश्मरी नहीं होती न कि उनमें शुक्र होता ही नहीं। क्योंकि बच्चों में भी रसादि-शुक्रान्त सातो धातुएं होती है। **'मुष्कयोरन्तरे'** से मेढ्र और वृषण के मध्य का स्थान समझना चाहिये; क्योंकि सुश्रुत ने—**'मेढ्रवृषणयोरन्तरे'** यह स्पष्ट रूप से कहा है। इस प्रकार शुक्राश्मरी का निश्चित स्थान शिश्नमूल या पश्चान्मूत्र मार्ग (Membranous urethra) समझना चाहिये। शुक्राश्मरी वस्तुतः अश्मरी नही होती अपितु शुक्र ग्रथित होकर मूत्रमार्ग में अवरोध उत्पन्न करके अश्मरी के सदृश लक्षण उत्पन्न कर देता है, अत एव उसे अश्मरी कहते हैं।

शर्करामाह—

—अश्मर्येव च शर्करा ।

(वा. नि. ८)

अश्मरी को ही शर्करा कहते है। च शब्द से सिकता का भी ग्रहण करना चाहिये।

सैवावस्थाभेदादश्मरी शर्करा, पञ्चमी न भवतीत्याह—अश्मर्येव चेति । चकारात् सिकताऽपि भवतीति मन्तव्यम् । अत एव 'शर्करा सिकतान्विता' इति वक्ष्यति । शर्करासिकतयोश्च महत्त्वाल्पत्वाभ्यां भेदः ॥

विमर्शः—अश्मरी के ही बड़े टुकडों को शर्करा और छोटे कणों को सिकता कहते हैं। इसका विवेचन अश्मरीजनित मूत्रकृच्छ्र वर्णन (पृ० ५०३) में किया गया है।

कथमश्मरीं शर्करा भवतीति निरूप्यते—

अणुशो वायुना भिन्ना सा तस्मिन्ननुलोमगे ॥ १४ ॥
निरेति सह मूत्रेण प्रतिलोमे निरुध्यते । (वा. नि. ८)

अश्मरी ही वायु के द्वारा टुकड़े-टुकडे होकर वायु के अनुलोम रहने पर मूत्र द्वारा बाहर निकलती है और वायु के प्रतिलोम होने पर रुक जाती है (उसे ही शर्करा कहते हैं) ॥ १४ ॥

तस्या मूत्रमार्गावरोधजानुपद्रवामाह—

मूत्रस्रोतः प्रवृत्ता सा सक्ता कुर्यादुपद्रवान् ॥ १५ ॥
दौर्बल्यं सदनं कार्श्यं कुक्षिशूलमथारुचिम् । (सु. नि. ३)
पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हृत्पीडनं वमिम् ॥ १६ ॥

वायु के प्रतिलोम होने पर शर्करा यदि मूत्रस्रोत में आकर अटक जाती है तो दुर्बलता, पीडा, कृशता, कुक्षिशूल, अरुचि, पाण्डु, उष्णवात, तृष्णा, हृत्प्रदेश में पीडा तथा वमन जैसे उपद्रवों को करती है ॥ १५-१६ ॥

कथमश्मरीं शर्करा भवतीत्याह—अणुश इत्यादि । अणुशोऽल्पशः । अत्रार्थे सुश्रुत—'पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पा विशेषतः । सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते' (सु. नि. अ. ६) **इति । मूत्रस्रोतःप्रवृत्ता सा सक्तेति मूत्रमार्गगा सती संलग्नेत्यर्थः ॥ १४-१६ ॥**

विमर्शः—सुश्रुत ने भी भस्म, सिकता और शर्करा को अश्मरी की ही विकृति माना है—**शर्करा सिकता मेहो भस्माख्योऽश्मरिवैकृतम् । अश्मर्याः शर्करा ज्ञेया तुल्या व्यञ्जनवेदना । पवनेऽनुगुणे सा तु निरेत्यल्पाविशेषतः । सा भिन्नमूर्तिर्वातेन शर्करेत्यभिधीयते ॥** श्लेष्मा के संघात के अभाव से रूक्षता आ जाती है और इस प्रकार वह भिन्न होकर शर्करा नाम से कही जाती है, वस्तुतः यह भी अश्मरी ही है। आधुनिक दृष्टि से इसे ग्रेविल (Gravel) कह सकते है। बहुत से शर्करा के टुकडों का सघात ही अश्मरी को उत्पन्न करता है। तथा शर्करा के ही रेत के समान टुकड़े 'सिकता' एवं धूलिकण के समान टुकड़े होने पर भस्म कहलाते हैं।

अश्मर्या असाध्यतामाह—

प्रशूननाभिवृषणं बद्धमूत्रं रुजातुरम् ।
अश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥ १७ ॥
(सु. सू. ३३)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽश्मरीनिदानं समाप्तम् ॥ ३२ ॥

जिस रोगी के अण्डकोष व नाभि में सूजन आ गई हो, मूत्र रुक गया हो, जिसको अत्यधिक पीडा होती हो एव जिसको अश्मरी के साथ साथ शर्करा तथा सिकता का भी अनुबन्ध हो उसे असाध्य समझना चाहिये ॥ १७ ॥

असाध्यलक्षणमाह—प्रशूनेत्यादि। रुजातुरं शूलपीडितमित्यर्थः॥ १७॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामश्मरीनिदानं समाप्तम्॥ ३२॥

विमर्शः—नाभि एवं वृषण शोथ युक्त अश्मरी शर्करा और सिकता असाध्य होती है। अश्मरी की रगड़ से मूत्रावरोध के कारण विस्तृत एवं दुर्बल बस्ति या मूत्रप्रणाली के विदीर्ण हो जाने पर मूत्र उत्तान पायूपस्थान्तरालीय स्थालीपुट (Superficial perineal pouch) में पहुँच कर सेवनी, वृषण और नाभिप्रदेश में शोथ उत्पन्न कर सकता है। इस अवस्था को आधुनिक विद्वान् Extravesation of urine कहते हैं (देखिये पृष्ठ ५०७)। यह कष्टसाध्य तथा उपसर्गयुक्त होने पर असाध्य होता है।

श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ 'सिकता और शर्करा के अनुबन्ध से युक्त' करने पर यह प्रतिभासित होता है कि सिकता या शर्करा सगठित होकर अश्मरी को पुनः पुनः उत्पन्न करती है, अतः इस अवस्था को भी असाध्य बताया गया है।

समाप्तं चेदमश्मरीनिदानम्।

